'कल्याण' के सम्मान्य सदस्यों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण' के ८०वें वर्ष—सन् २००६ का यह विशेषाङ्क 'संस्कार-अङ्क' आपलोगोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४७२ पृष्ठोंमें पाठ्य-सामग्री और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरंगे एवं रेखाचित्र भी दिये गये हैं। डाकसे सभी ग्राहकोंको विशेषाङ्क-प्रेषणमें लगभग एक माहका समय लग जाता है।

२-वार्षिक सदस्यता-शुल्क प्रेषित करनेपर भी किसी कारणवश यदि विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा आपके पास पहुँच गया हो तो उसे डाकघरसे प्राप्त कर लेना चाहिये एवं प्रेषित की गयी राशिका पूरा विवरण (मनीऑर्डर पावतीसहित) यहाँ भेज देना चाहिये। जिससे जाँचकर आपके सुविधानुसार राशिकी उचित व्यवस्था की जा सके। सम्भव हो तो वी०पी०पी० से किसी अन्य सज्जनको ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ नये सदस्यके पूरे पतेसहित देनी चाहिये। ऐसा करके आप 'कल्याण' को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ-साथ 'कल्याण' के पावन प्रचारमें सहयोगी भी हो सकेंगे।

३-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी सदस्य-संख्या एवं पता छपा है, उसे कृपया जाँच लें तथा अपनी सदस्य-संख्या सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री अथवा वी०पी०पी० का नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारमें सदस्य-संख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्रवाई नहीं कर पाते हैं। डाकद्वारा अङ्कोंके सुरक्षित वितरणमें सही पता एवं पिन-कोड आवश्यक है। अतः अपने लिफाफेपर छपा अपना पता जाँच लेना चाहिये।

४-*'कल्याण'* एवं *'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'* की व्यवस्था अलग-अलग है। अतः पत्र तथा मनीऑर्डर आदि सम्बन्धित विभागको अलग-अलग भेजना चाहिये।

'कल्याण' के उपलब्ध पुराने विशेषाङ्क

वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य(रु०)	वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य(रु०)	वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य(रु०)
६	श्रीकृष्णाङ्क	१००	२८	सं० नारदपुराण	१००	५३	सूर्याङ्क	६०
७	ईश्वराङ्क	९०	२९	संतवाणी-अङ्क	११०	५६	वामनपुराण	७५
८	शिवाङ्क	१००	३०	सत्कथा-अङ्क	१००	५९	श्रीमत्स्यमहापुराण	१५०
९	शक्ति-अङ्क	१२०	३१	तीर्थाङ्क	१००	६६	सं० भविष्यपुराण	९०
१०	योगाङ्क	९०	३४	सं० देवीभागवत (मोटा टाइप)	१३०	६७	शिवोपासनाङ्क	७५
१२	संत-अङ्क	१२५	३५	सं० योगवासिष्ठ अङ्क	९०	६८	रामभक्ति-अङ्क	६५
१५	साधनाङ्क	१२०	३६	सं० शिवपुराण (बड़ा टाइप)	११०	६९	गो-सेवा-अङ्क	७५
१८	सं० वाल्मीकीय		३७	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	१२०	७१	कूर्म-पुराण	८०
	रामायणाङ्क	६५	३९	श्रीभगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	९०	७२	भगवल्लीला-अङ्क	६५
१९	सं० पद्मपुराण	१४०	४३	परलोक और पुनर्जन्माङ्क	१००	७३	वेदकथाङ्क	८०
२१	सं० मार्कण्डेयपुराण	५५	४४-४५	गर्गसंहिता [भगवान्		७४	सं० गरुडपुराणाङ्क	९०
२१	सं० ब्रह्मपुराण	७०		श्रीराधाकृष्णकी दिव्य		७५	आरोग्य-अङ्क (संवर्धित सं०)	१२०
२२	नारी-अङ्क	१००		लीलाओंका वर्णन]	८०	७६	नीतिसार-अङ्क	८०
२३	उपनिषद्-अङ्क	११०	४४-४५	नरसिंहपुराण	६०	७७	भगवत्प्रेम-अङ्क	
२४	हिन्दू-संस्कृति-अङ्क	१२०	४४-४५	अग्निपुराण	१२०		(११ मासिक अङ्क उपहारस्वरूप)	१००
२५	सं० स्कन्दपुराणाङ्क	१५०	४८	श्रीगणेश-अङ्क	७५	७८	व्रतपर्वोत्सव-अङ्क	१००
२६	भक्त-चरिताङ्क	१२०	४९	श्रीहनुमान-अङ्क	७५	७९	देवीपुराण [महाभागवत]	
२७	बालक-अङ्क	११०	५१	सं० श्रीवराहपुराण	६०		शक्तिपीठाङ्क	८०

सभी अङ्कोंपर डाक-व्यय अतिरिक्त देय होगा। गीताप्रेस-पुस्तक-विक्री-विभागसे प्राप्य हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५. जनपद—गोरखपुर (उ०प्र०)

'संस्कार-अङ्क' की विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

विषय | पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

जीवनमें संस्कारोंकी उपादेयता

विषय	पृष्ठ-संख्या

सत्साहित्य, विविध धर्म एवं सम्प्रदायोंमें संस्कारोंका स्वरूप

संस्कारसम्पन्न महापुरुषोंके अनुकरणीय चरित

चित्र-सूची

(रंगीन-चित्र)

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या

(सादे-चित्र)

संस्कारोंकी अधिष्ठात्री

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या

(सादे-चित्र)

श्रीनन्दगृहमें तुलसी-पूजन

गुरुकुलमें शिक्षाके संस्कार
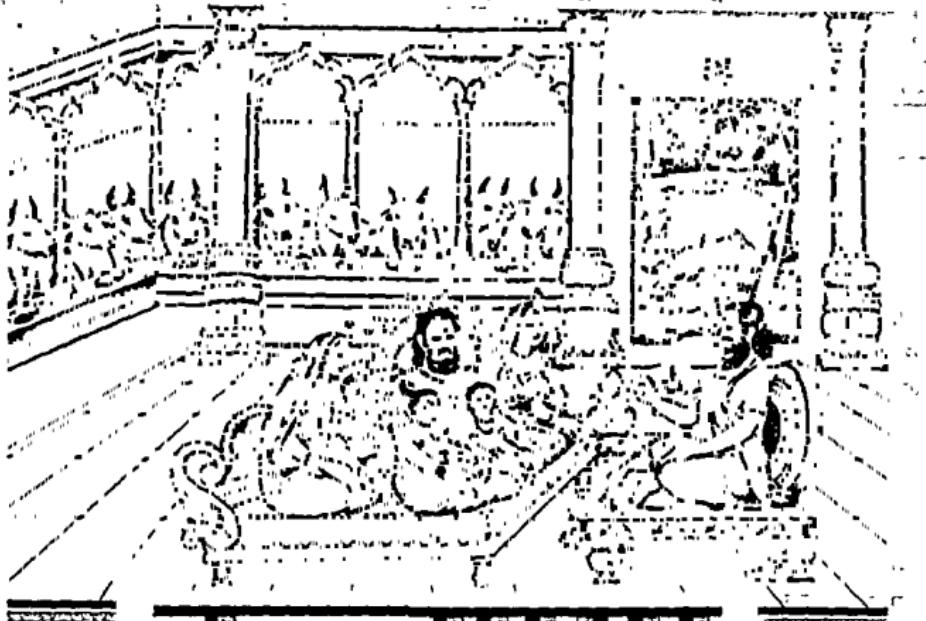
श्रीनन्दगृहमें तुलसी-पूजन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

वर्ष ८० | गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०६२, श्रीकृष्ण-सं० ५२३१, जनवरी २००६ ई० | संख्या १

पूर्ण संख्या ९५०

'हर गिरिजा कर भयउ बिबाहू'

जसि बिबाह कै बिधि श्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपीं जानि भवानी॥
पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हियँ हरषे तब सकल सुरेसा॥
बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं। जय जय जय संकर सुर करहीं॥
बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। सुमनबृष्टि नभ भै बिधि नाना॥
हर गिरिजा कर भयउ बिबाहू। सकल भुवन भरि रहा उछाहू॥
दासीं दास तुरग रथ नागा। धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा॥
अन्न कनकभाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना॥

दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो।
का देउँ पूरनकाम संकर चरन पंकज गहि रह्यो॥
सिवँ कृपासागर ससुर कर संतोषु सब भाँतिहिं कियो।
पुनि गहे पद पाथोज मयनाँ प्रेम परिपूरन हियो॥

[श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड]

श्रुतिका माङ्गलिक संदेश

ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो, (इसमें) आसक्त मत होओ; (क्योंकि) धन—भोग्य-पदार्थ किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है। (ईशावास्योपनिषद्)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

शास्त्रनियत कर्मोंको (ईश्वरपूजार्थ) करते हुए ही इस जगत्में सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार (त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये) किये जानेवाले कर्म, तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे, इससे (भिन्न) अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके)। (ईशावास्योपनिषद्)

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

यदि इस मनुष्यशरीरमें (परब्रह्मको) जान लिया तब तो बहुत कुशल है, यदि इस शरीरके रहते-रहते (उसे) नहीं जान पाया (तो) महान् विनाश है। (यही सोचकर) बुद्धिमान् पुरुष प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें परब्रह्म पुरुषोत्तमको) समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमर (परमेश्वरको प्राप्त) हो जाते हैं। (केनोपनिषद्)

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

पूर्णब्रह्म परमात्मन्! (आप) हम दोनों (गुरु-शिष्य)-की साथ-साथ रक्षा करें, हम दोनोंका साथ-साथ पालन करें, (हम दोनों) साथ-साथ ही शक्ति प्राप्त करें, हम दोनोंकी पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो, हम दोनों परस्पर द्वेष न करें। (कठोपनिषद्)

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्यके सामने आते हैं, बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनोंके स्वरूपपर भलीभाँति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है; (और) वह श्रेष्ठबुद्धिवाला मनुष्य परम कल्याणके साधनको ही भोग-साधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है; (परंतु) मन्दबुद्धिवाला मनुष्य लौकिक योगक्षेमकी इच्छासे भोगोंके साधनरूप प्रेयको अपनाता है। (कठोपनिषद्)

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता हो। मेरे कर्ममें माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो। (अथर्ववेद)

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्तियुक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो। (अथर्ववेद)

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन बहिनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें। (अथर्ववेद)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

तुम सबके संकल्प एक समान हों, तुम्हारे हृदय एक समान हों और मन एक समान हों, जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे संगठित हो। (ऋग्वेद)

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

मेरी दृष्टिको दृढ़ कीजिये; सभी प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें; मैं भी सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ; हम परस्पर एक-दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें। (यजुर्वेद)

संस्कारोंकी महिमा

ब्राह्मसंस्कारसंस्कृत: ऋषीणां समानतां सामान्यतां समानलोकतां सायोज्यतां गच्छति। दैवेनोत्तरेण संस्कारेणानुसंस्कृतो देवानां समानतां सामान्यतां समानलोकतां सायोज्यतां च गच्छति।

गर्भाधानादि ब्राह्म-संस्कारोंसे संस्कृत व्यक्ति ऋषियोंके समान पूज्य तथा ऋषितुल्य हो जाता है। वह ऋषिलोकमें निवास करता है तथा ऋषियोंके समान शरीर प्राप्त करता है और पुन: अग्निष्टोमादि दैवसंस्कारोंसे अनुसंस्कृत होकर वह देवताओंके समान पूज्य एवं देवतुल्य हो जाता है, वह देवलोकमें निवास करता है और देवताओंके समान शरीर प्राप्त करता है। (महर्षि हारीत)

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

गर्भशुद्धिकारक हवन, जातकर्म, चूडाकरण तथा मौञ्जीबन्धन (उपनयन) आदि संस्कारोंके द्वारा द्विजोंके बीज तथा गर्भसम्बन्धी दोष—पाप नष्ट हो जाते हैं। (मनुस्मृति)

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

वेदाध्ययनसे, मधु-मांसादिके त्यागरूप व्रत अर्थात् नियमसे, प्रात:-सायंकालीन हवनसे, त्रैविद्य नामक व्रतसे, ब्रह्मचर्यावस्थामें देव-ऋषि-पितृतर्पण आदि क्रियाओंसे, गृहस्थावस्थामें पुत्रोत्पादनसे, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि पञ्च महायज्ञोंसे और ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंसे यह शरीर ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाया जाता है। (मनुस्मृति)

गर्भहोमैर्जातकर्मनामचौलोपनायनैः।
स्वाध्यायैस्तद्व्रतैश्चैव विवाहस्नातकव्रतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

गर्भाधान-संस्कारमें किये जानेवाले हवनके द्वारा और जातकर्म, नामकरण, चूडाकरण, यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन, वेदोक्त व्रतोंके पालन, स्नातकके पालनेयोग्य व्रत, विवाह, पञ्च महायज्ञोंके अनुष्ठान तथा अन्यान्य यज्ञोंके द्वारा इस शरीरको परब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बनाया जाता है। (महाभारत)

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त सब संस्कार वेदोक्त पवित्र विधियों और मन्त्रोंके अनुसार कराना चाहिये; क्योंकि संस्कार इहलोक और परलोकमें भी पवित्र करनेवाला है। (महाभारत)

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च॥

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंपर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुषको इहलोक और परलोकमें कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती। (महाभारत)

चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

जिस प्रकार किसी चित्रमें विविध रङ्गोंके योगसे धीरे-धीरे निखार लाया जाता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कारोंके सम्पादनसे ब्रह्मण्यता प्राप्त होती है। (महर्षि अङ्गिरा)

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलौकिकः॥
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः।
नाकपृष्ठं यशो धर्मं त्रिरीजानस्त्रिविष्टपम्॥

गर्भाधान आदि प्रारम्भिक तथा अग्न्याधेय आदि उत्तरवर्ती संस्कारों और दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा—इन आठ आत्मसंस्कारोंसे नित्य सम्पन्न रहनेवाला द्विज ब्रह्मलोक प्राप्त करनेके योग्य हो जाता है। साथ ही पाकयज्ञों, हविर्यज्ञों और सोमयज्ञसंस्कारोंसे संस्कारसम्पन्न होकर वह यश एवं धर्मका अर्जन करके मेरुपृष्ठको प्राप्त होता है, उसे देवलोककी प्राप्ति होती है और वह पुन: सदाके लिये उस ब्राह्मपदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे उसका फिर पुनरागमन नहीं होता। (महर्षि शङ्ख-लिखित)

संस्कार-सुधानिधि

निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणः॥

पाप-कर्मसे दूर रहना, सदा पुण्यका संचय करते रहना, साधुपुरुषोंके वर्तावको अपनाना और उत्तम सदाचारका पालन करना—यह सर्वोत्तम श्रेयका साधन है। जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहमें डूब जाता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप है, वह कभी दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता। (नारदपुराण)

तपःसंचय एवेह विशिष्टो धनसंचयात्॥
त्यजतः संचयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवाः।
न हि संचयवान् कश्चित् सुखी भवति मानद॥

इस लोकमें धन-संचयकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है। जो सब प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं। मानद! संग्रह करनेवाला कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। (पद्मपुराण)

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा॥
एकं वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत्।
एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः॥

मोक्षके द्वारपर चार द्वारपाल कहे गये हैं—शम, विचार, संतोष और चौथा सत्सङ्ग। पहले तो इन चारोंका ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये। यदि चारोंके सेवनकी शक्ति न हो तो तीनका सेवन करना चाहिये; तीनका सेवन न हो सकनेपर दोका सेवन करना चाहिये। इनका भलीभाँति सेवन होनेपर ये मोक्षरूपी राजगृहमें मुमुक्षुका प्रवेश होनेके लिये द्वार खोलते हैं। यदि दोके सेवनकी भी शक्ति न हो तो सम्पूर्ण प्रयत्नसे प्राणोंकी बाजी लगाकर भी इनमेंसे एकका अवश्य ही आश्रयण करना चाहिये। यदि एक वशमें हो जाता है तो शेष तीन भी वशमें हो जाते हैं। (योगवासिष्ठ)

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति॥
अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोषशतावहा।
अधर्मबहुला चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

जब मनुष्यका शरीर जीर्ण होता है, तब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत भी टूट जाते हैं; किंतु धन और जीवनकी आशा बूढ़े होनेपर भी जीर्ण नहीं होती—वह सदा नयी ही बनी रहती है। तृष्णाका कहीं ओर-छोर नहीं है, उसका पेट भरना कठिन होता है, वह सैकड़ों दोषोंको ढोये फिरती है, उसके द्वारा बहुत-से अधर्म होते हैं; अतः तृष्णाका परित्याग कर दे। (पद्मपुराण)

मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम्॥
पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते।
हृदयस्य च शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः॥

मनःशुद्धि, क्रियाशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीरशुद्धि और वाक्-शुद्धि—इस तरह पाँच प्रकारकी शुद्धि बतायी गयी है। इन पाँचों शुद्धियोंमें हृदयकी शुद्धि सबसे बढ़कर है। हृदयकी ही शुद्धिसे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं। (महाभारत)

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः॥

यह तरुण अवस्था, यह रूप, यह जीवन, रत्नराशिका यह संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रियजनोंका सहवास—

सब कुछ अनित्य है, अतः विवेकी पुरुषको इसमें आसक्त नहीं होना चाहिये। (महाभारत)

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम्॥

जो धर्मके लिये धन पाना चाहता है, उस पुरुषके लिये धनकी ओरसे निरीह हो जाना ही उत्तम है; क्योंकि कीचड़को लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका स्पर्श ही न करना मनुष्योंके लिये श्रेयस्कर है। (महाभारत)

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥
पितरो यस्य तृप्यन्ति सेवया च गुणेन च।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते॥
सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥

पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे माता-पिता संतुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है; इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये। जो माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसके द्वारा सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। (पद्मपुराण)

गृहस्थानां परो धर्मो नान्योऽस्त्यतिथिपूजनात्।
अतिथेर्न च दोषोऽस्ति तस्यातिक्रमणेन च॥

गृहस्थोंके लिये अतिथि-सत्कारसे बढ़कर दूसरा कोई महान् धर्म नहीं है। अतिथिसे महान् कोई देवता नहीं है, अतिथिके उल्लङ्घनसे बड़ा भारी पाप होता है। (स्कन्दपुराण)

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य ना मर्मसु ते पतन्ति
तान्पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः॥

वचनरूपी बाण मुखसे निकलते हैं और वे दूसरोंके मर्मपर ही चोट पहुँचाते हैं, जिनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोकग्रस्त रहता है; अतः उनका प्रयोग विद्वान् पुरुष दूसरोंपर कदापि न करे। (महाभारत)

त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत्।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति॥

अपनेसे बड़ोंका नाम लेकर या 'तू' कहकर न पुकारे, जो अपनेसे छोटे या समवयस्क हों, उनके लिये वैसा करना दोषकी बात नहीं है। (महाभारत)

सव्येन सव्यं संगृह्य दक्षिणेन तु दक्षिणम्।
न कुर्यादेकहस्तेन गुरोः पादाभिवादनम्॥

अपने दाहिने हाथसे गुरु (तथा माता-पिता आदि अपनेसे बड़े एवं श्रेष्ठजनों)-का दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण पकड़कर प्रणाम करना चाहिये। कभी एक हाथसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। (महाभारत)

न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्।
वेदनिन्दां देवनिन्दां प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

अपनी प्रशंसा न करे तथा दूसरेकी निन्दाका त्याग कर दे। वेदनिन्दा और देवनिन्दाका यत्नपूर्वक त्याग करे। (पद्मपुराण)

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥

पहले शरीर, संतान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे। फिर भगवान्के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे। (श्रीमद्भागवत)

संस्कारसे समन्वित जीवनचर्या

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' जो जनमता है, उसे मरना भी पड़ता है और मरनेवालेका पुनर्जन्म होना भी प्रायः निश्चित है। अपने शास्त्र कहते हैं कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकता हुआ प्राणी भगवत्कृपासे तथा अपने पुण्यपुञ्जोंसे मनुष्ययोनि प्राप्त करता है। मनुष्यशरीर प्राप्त करनेपर उसके द्वारा जीवनपर्यन्त किये गये अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार पुण्य-पाप अर्थात् सुख-दुःख आगेके जन्मोंमें भोगने पड़ते हैं—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार ही विभिन्न योनियोंमें जन्म होता है, पापकर्म करनेवालोंका पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि तिर्यक् योनि तथा प्रेत-पिशाचादि योनियोंमें जन्म होता है, पुण्य-कर्म करनेवालेका मनुष्ययोनि, देवयोनि आदि उच्च योनियोंमें जन्म होता है। मानवयोनिके अतिरिक्त संसारकी जितनी भी योनियाँ हैं वे सब भोगयोनियाँ हैं, जिनमें अपने शुभ एवं अशुभ कर्मोंके अनुसार पुण्य-पाप अर्थात् सुख-दुःख भोगना पड़ता है। केवल मनुष्ययोनि ही है, जिसमें जीवको अपने विवेक-बुद्धिके अनुसार शुभ-अशुभ कर्म करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है।

अतः मनुष्य-जन्म लेकर प्राणीको अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है। कारण इस भवाटवीमें अनेक जन्मोंतक भटकनेके बाद अन्तमें यह मानव-जीवन प्राप्त होता है, जहाँ प्राणी चाहे तो सदा-सर्वदाके लिये अपना कल्याण कर सकता है अथवा भगवत्प्राप्ति कर सकता है अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे भी मुक्त हो सकता है, परंतु इसके लिये अपने सनातन शास्त्रोंद्वारा निर्दिष्ट-जीवन-प्रक्रिया चलानी पड़ेगी।

पुनर्जन्म और परलोक—हमें शास्त्रसे ही बोधित होते हैं, अतः जन्मसे पूर्व ही शास्त्र जीवको सावधान करता है और उसके कल्याणका मार्ग निर्देशित करता है। प्राणीके जन्मके पूर्व तथा जन्मके बाद जबतक वह अबोध रहता है, तबतक उसके माता-पिताका कर्तव्य होता है कि वे अपने संतानकी कल्याण-कामनासे शास्त्रोक्त विधिसे गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, शिक्षा तथा समावर्तन और विवाह आदि संस्कार यथासमय सम्पन्न करायें। बादमें जब व्यक्ति स्वयं प्रबुद्ध हो जाता है, तब उसे अपनी जीवनचर्या, दैनिक चर्या शास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न करनी चाहिये। हमारे शास्त्र वस्तुतः परमात्मप्रभुकी आज्ञा हैं तथा प्राणिमात्रके कल्याणके संविधान हैं। भगवान् कहते हैं कि जो मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है तथा वैष्णव होनेपर भी मेरा प्रिय नहीं है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी वैष्णवोऽपि न मे प्रियः॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनकी जिज्ञासापर कि कर्तव्यका निर्णय कैसे किया जाय? भगवान्ने कहा—कर्तव्य (क्या करना चाहिये) और अकर्तव्य (क्या नहीं करना चाहिये)-की व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, यह समझकर तुम्हें शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करना चाहिये—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न उसे सुख मिलता है और न उसे परम गति ही प्राप्त होती है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

कई लोग चौबीस घंटेमें एक-आध घंटा समय निकालकर भगवान्‌की पूजा-ध्यान, समाधि करते हैं तथा

कई लोग परोपकारकी भावनासे एक-दो घंटे समाजसेवा आदि कार्योंमें भी समय लगाते हैं, परंतु इसके अतिरिक्त समय बाईस घंटेमें वे क्या करते हैं? यदि काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद-मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेषके वशीभूत होकर अपने स्वार्थकी पूर्तिमें असत्यका आश्रय लेते हैं—झूठ बोलते हैं, बेईमानी करते हैं, शास्त्रकी आज्ञाके विपरीत कार्य करते हैं, अपने थोड़े लाभके लिये दूसरोंका बड़ा नुकसान करते हैं तो उन्हें एक-दो घंटेके पुण्यकर्मका भी फल मिलेगा तथा बाईस घंटे जो पापकर्म किया, उसका भी फल भोगना पड़ेगा। इस प्रकार वे स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख भोगते हुए संसारकी इस भवाटवीमें अनेक योनियोंमें जनमते-मरते रहेंगे, उनका पिण्ड छूटना सम्भव नहीं है। इसलिये चौबीस घंटेका समय भगवान्‌की पूजा बन जाय। हम खाते-पीते हैं, सोते हैं, नित्यक्रिया करते हैं—ये सब-के-सब भगवदाराधनके रूपमें परिणत हो जायँ। इसकी प्रक्रिया हमारे शास्त्र बताते हैं।

अतः कल्याणकामी व्यक्तिको संस्कारोंसे समन्वित जीवनचर्या (जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त) तथा दैनिक चर्या (प्रातः-जागरणसे लेकर रात्रि-शयनपर्यन्त) चलानी चाहिये। पूर्वजन्मके भी शुभ-अशुभ संस्कार सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीरके द्वारा अगले जन्ममें प्रारब्ध बनकर साथ रहते हैं, अतः पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है। इन सब दृष्टियोंको ध्यानमें रखकर शास्त्रोक्त संस्कारसे समन्वित जीवनचर्या और दैनिक चर्या पाठकोंके लाभके लिये यहाँ संक्षेपमें प्रस्तुत की जा रही है—

'आचारः परमो धर्मः'

दैनिक जीवनचर्यामें आचार-विचारकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। आचार-विचार संस्कारोंके मूल घटक हैं। वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें आचार-विचारकी अत्यधिक महिमा है। वे कहते हैं जो मनुष्य आचारवान् हैं, उन्हें दीर्घ आयु, धन, संतति, सुख और धर्मकी प्राप्ति होती है। संसारमें वे विद्वानोंसे भी मान्यताको प्राप्त करते हैं और उन्हें नित्य अविनाशी भगवान् विष्णुके लोककी प्राप्ति होती है—

आचारवन्तो मनुजा लभन्ते
आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम्।
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोक-
मत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च॥

सभी शास्त्रोंका यह निश्चित मत है कि आचार ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। आचारहीन पुरुष यदि पवित्रात्मा भी हो तो उसका परलोक और इहलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं—

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारी पवित्रात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति॥

यह भी कहा गया है कि 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' (विष्णुधर्मो० ३।२५१।५) अर्थात् जो व्यक्ति आचारहीन हैं, उन्हें वेद भी पवित्र नहीं करते। अपवित्र व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित धर्म निष्फल-सा होता है। इस सम्बन्धमें इतिहास-पुराणोंमें एक बड़ी रोचक कथा प्राप्त होती है। तदनुसार, वेदके एक शिष्य थे उत्तंक। उन्होंने कुछ खाकर खड़े-खड़े आचमन कर लिया, जिससे उन्हें राजा पौष्यकी पतिव्रता रानीका राजमहलमें दर्शनतक नहीं हुआ। जब पौष्यद्वारा उनकी उच्छिष्टता या अपवित्रताकी सम्भावना व्यक्त हुई और उत्तंकने भलीभाँति अपना हाथ, पैर, मुख धोकर पूर्वाभिमुख आसनपर बैठ, हृदयतक पहुँचने योग्य पवित्र जलसे तीन बार आचमन किया तथा अपने नेत्र, नासिका आदिका जलसिक्त अङ्गुलियोंद्वारा स्पर्शकर शुद्ध हो अन्तःपुरमें प्रवेश किया, तब उन्हें पतिव्रता रानीका दर्शन हुआ।

शास्त्रोंमें आचारपर बहुत सूक्ष्म विचार किये गये हैं, जिससे सामान्यजन परिचित न होनेके कारण पूर्ण लाभ नहीं उठा पाते। आचारके दो भेद माने गये हैं—एक सदाचार तथा दूसरा शौचाचार। मनुष्य-जीवनकी सफलताके लिये सदाचरणका होना अत्यन्त आवश्यक है। वि[illegible] और्व ऋषिने गृहस्थके सदाचारके विषयमें कहा

सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः।
मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता॥
(३।१२।४१)

'बुद्धिमान् गृहस्थ पुरुष सदाचारके पालन करनेसे ही संसारके बन्धनसे मुक्त होता है। सदाचारी विद्या और विनयसे युक्त रहता है तथा पापी पुरुषके प्रति भी पापमय, कष्टप्रद व्यवहार नहीं करता। वह सभीके साथ हित, प्रिय और मधुर भाषण करता है। सदाचारी पुरुष मैत्रीभावसे द्रवित अन्तःकरणवाले होते हैं, उनके लिये मुक्ति हस्तगत रहती है।'

सदाचारके अन्तर्गत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेष, झूठ, कपट, छल-छद्म, दम्भ आदि असत्-आचरणोंका त्याग तथा सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, क्षमा, धृति, इन्द्रियनिग्रह, अक्रोध आदि सत्-आचरणोंका ग्रहण मुख्य है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें कहा गया है कि 'सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी पुरुष यदि आचारसे रहित है तो उसे न विद्याकी प्राप्ति होती है और न अभीष्ट मनोरथोंकी ही। ऐसा व्यक्ति नरकका भागी बनता है।'[1]

इसके विपरीत जो सत्-आचारका पालन करता है, वह पुरुष स्वर्ग, कीर्ति, आयु, सम्मान तथा सभी लौकिक सुखोंका भोग करता है। *आचारवान्को ही स्वर्ग प्राप्त होता है*, वह रोगरहित रहता है, उसकी आयु लम्बी होती है और वह सभी ऐश्वर्योंका भोग करता है।[2]

अतः शास्त्रोंमें वर्णित सदाचरणोंका ही सर्वदा व्यवहार करना चाहिये। कल्याणका यह परम श्रेयस्कर मार्ग है।

शौचाचार

सदाचारकी भाँति शौचाचारका भी पुराणोंमें विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। शौचाचारसे प्रत्यक्षतः शरीरादिकी बाह्यशुद्धि होती है। प्रातःकाल उठनेसे लेकर *शयनपर्यन्त शौचाचारकी विधि शास्त्रोंमें वर्णित है*, यहाँ शौचाचारके कुछ सूत्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

प्रातःकाल उठनेके बाद भगवत्स्मरणके अनन्तर शौचकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—शौचके समय मृत्तिकाका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। एक बार मूत्रेन्द्रिय तथा तीन बार पायु (मलस्थान)-को मृत्तिका एवं जलसे प्रक्षालित करे। तदनन्तर दस बार बायाँ हाथ मिट्टीसे धोये तथा सात बार दोनों हाथ मिट्टीसे धोने चाहिये। तीन बार पाँवोंको मिट्टीसे धोये। इसके बाद आठ बार कुल्ला करना चाहिये तथा लघुशंकाके अनन्तर चार बार कुल्ला करना चाहिये।[3] उपर्युक्त विधान गृहस्थोंके लिये है। ब्रह्मचारियोंको इसका दुगुना, वानप्रस्थियोंको तिगुना तथा संन्यासियोंको चार गुना करना चाहिये।

दन्तधावन-विधि—शौचादि कृत्यके बाद दन्तधावन-विधि बतायी गयी है। मौन होकर दातौन अथवा मंजनसे दाँत साफ करने चाहिये। दातौनके लिये खैर, करंज, कदम्ब, बड़, इमली, बाँस, आम, नीम, चिचड़ा, बेल, आक, गूलर, बदरी, तिन्दुक आदिकी दातूनें अच्छी मानी जाती हैं।[4] लिसोढ़ा, पलाश, कपास, नील, धव, कुश, काश आदि वृक्षकी दातौन वर्जित हैं।

निषिद्धकाल—प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, जन्मदिन, विवाह,

---

१-सर्वलक्षणयुक्तोऽपि नरस्त्वाचारवर्जितः। न प्राप्नोति तथा विद्यां न च किंचिदभीप्सितम्।
आचारहीनः पुरुषो नरकं प्रतिपद्यते॥ (३।२५०।४)

२-आचारः स्वर्गजननः आचारः कीर्तिवर्धनः। आचारश्च तथायुष्यो धन्यो लोकसुखावहः॥
आचारयुक्तस्त्विदिवं प्रयाति आचारवानेव भवत्यरोगः। आचारवानेव चिरं तु जीवेदाचारवानेव भुनक्ति लक्ष्मीम्॥ (विष्णुधर्मो० २९१।१, ४)

३-पवित्रताके लिये कम-से-कम लघुशंकाके समय जलका प्रयोग तो अवश्य ही करना चाहिये। शौचविधि रात्रिमें तथा स्त्री और शूद्रके लिये आधी हो जाती है, मार्गमें चौथाई बतायी जाती है तथा रोगियोंके लिये उनकी शक्तिपर निर्भर करती है।

४-खदिरश्च करञ्जश्च कदम्बश्च वटस्तथा। तिन्तिडी वेणुपृष्ठं च आम्रनिम्बौ तथैव च॥
अपामार्गश्च बिल्वश्च अर्कश्चौदुम्बरस्तथा। बदरी तिन्दुकस्त्वेते प्रशस्ता दन्तधावने॥

व्रत, उपवास, रविवार और श्राद्धके अवसरपर दातौन नहीं करना चाहिये। रजस्वला तथा प्रसूतावस्थामें भी दातौन वर्जित है।

जिन-जिन अवसरोंपर दातौनका निषेध है, उन-उन अवसरोंपर तत्तद् वृक्षोंके पत्तों या सुगन्धित दन्तमंजनोंसे दाँत स्वच्छ कर लेना चाहिये।[1] निषिद्धकालमें जीभी करनेका निषेध नहीं है।

क्षौरकर्म—क्षौरकर्मके लिये बुधवार तथा शुक्रवारके दिन प्रशस्त हैं। शनि, मंगल तथा बृहस्पतिवार और चतुर्दशी आदि तिथियाँ निषिद्ध कही गयी हैं। व्रत और श्राद्धके दिन भी क्षौरकर्ममें वर्जित हैं।

तैलाभ्यङ्गविधि—रविवारको तेल लगानेसे ताप, सोमवारको शोभा, भौमवारको मृत्यु (अर्थात् आयुकी क्षीणता), बुधवारको धन, गुरुवारको हानि, शुक्रवारको दुःख और शनिवारको सुख होता है। यदि निषिद्ध दिनोंमें तेल लगाना हो तो रविवारको पुष्प, गुरुवारको दूर्वा, भौमवारको मिट्टी और शुक्रवारको गोबर तेलमें डालकर लगानेसे दोष नहीं होता है।[2] यह विधि केवल तिलके तेलके लिये है। सरसोंके तेल अथवा सुगन्धित तेलका निषेध नहीं है।

स्नान—शरीरकी पवित्रताके लिये नित्य स्नानकी आवश्यकता है। शास्त्रोंमें स्नानके कई प्रकार बतलाये गये हैं। सामान्यतः शुद्ध जलसे सम्पूर्ण शरीरके मल-प्रक्षालनको स्नान कहा जाता है। मत्स्यपुराणमें कहा गया है कि स्नानके बिना शरीरकी निर्मलता और भावशुद्धि नहीं प्राप्त होती। अतः मनकी विशुद्धिके लिये सर्वप्रथम स्नानका विधान है। कुएँ आदिके निकाले हुए अथवा बिना निकाले हुए नदी-तालाब आदिके जलसे स्नान करना चाहिये। मन्त्रवेत्ता विद्वान् पुरुषको **'ॐ नमो नारायणाय'** इस मूल मन्त्रके द्वारा उस जलमें तीर्थ-भावना करनी चाहिये।[3] स्नानके लिये गङ्गाका जल तथा तीर्थोंका जल सर्वाधिक पवित्र माना जाता है। फिर अन्य नदियों, सरोवरों, तड़ागों, कूपों आदिके जल पवित्र माने गये हैं। गङ्गा, तीर्थों तथा नदियोंमें स्नानका विशेष महत्त्व बताया गया है। अन्य स्नानकी विशेष विधियाँ भी पुराणोंमें वर्णित हैं। यथा—प्रायश्चित्तस्नान, अभिषेकस्नान, भस्मस्नान तथा मृत्तिकास्नान आदि। अशक्तावस्थामें कटिभागसे नीचेके अङ्गोंका प्रक्षालन तथा गलेसे ऊपरके अङ्गोंके प्रक्षालनसे भी स्नानकी विधि पूरी हो जाती है। विशेष अशक्यावस्था तथा आपत्तिकालमें निम्न मन्त्रोंद्वारा मार्जन-स्नानकी विधि बतायी गयी है। सामान्य अवस्थामें भी पूजा-पाठके पूर्व इस मन्त्रके द्वारा शरीरपर जल मार्जन करनेपर पवित्रता आती है—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

—इस मन्त्रके द्वारा शरीरपर जलसे मार्जन करे तथा—

'आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ तस्मा अरं गमाम वो०'—

इस मन्त्रके द्वारा भी शरीरपर जल छिड़कते हुए मार्जन-स्नान करना चाहिये। **'यस्य क्षयाय जिन्वथ'** कहकर नीचे जल छोड़े और **'आपो जनयथा च नः'** इससे पुनः मार्जन करे।

भोजनविधि—स्नानोपरान्त सन्ध्योपासन एवं पूजन आदिसे निवृत्त होनेके पश्चात् भोजनकी विधि है। भोजनके सम्बन्धमें दो बातें मुख्य हैं। एक तो उच्छिष्ट (जूठा) भोजन करना सर्वथा निषिद्ध है। भोजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व हाथ-पैरोंको शुद्ध जलसे प्रक्षालित करना चाहिये तथा जलद्वारा आचमन कर मौन होकर भोजन करना चाहिये। भोजनके

१-'तत्तत्पत्रैः सुगन्धैर्वा कारयेद् दन्तधावनम्।' (स्कन्दपु०, प्रभासखण्ड)

२-तैलाभ्यङ्गे रवौ तापः सोमे शोभा कुजे मृतिः। बुधे धनं गुरौ हानिः शुक्रे दुःखं शनौ सुखम्॥
रवौ पुष्पं गुरौ दूर्वा भौमवारे च मृत्तिका। गोमयं शुक्रवारे च तैलाभ्यङ्गे न दोषभाक्॥

३-नैर्मल्यं भावशुद्धिश्च विना स्नानं न विद्यते। तस्मान्मनोविशुद्ध्यर्थं स्नानमादौ विधीयते॥
अनुद्धृतैरुद्धृतैर्वा जलैः स्नानं समाचरेत्। तीर्थं प्रकल्पयेद् विद्वान् मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्। (मत्स्य० १०२।१-२)

अन्तमें भी आचमन करनेकी विधि है।

भोजनकी दूसरी मुख्य बात है द्रव्य-शुद्धि। सदाचारपूर्वक अर्जित द्रव्यका ही भोजन मनुष्यके लिये लाभदायी होता है तथा उसके अन्तःकरण और बुद्धिको पवित्र रखता है। अतः स्थूल दृष्टिसे भोजनमें शुद्धता, पवित्रता और सात्त्विकता होनी ही चाहिये, पर साथ ही सूक्ष्मरूपसे सत्यतासे अर्जित धनसे बना भोजन परम पवित्र होता है। बिना परिश्रम किये किसी पराये व्यक्तिके अन्नका भोजन करनेकी प्रवृत्ति भी नहीं रखनी चाहिये।[1]

आशौच—जीवनमें कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी आती हैं जब व्यक्ति आशौचावस्थामें रहता है। उस समय वह देवार्चन आदि कोई शुभ कार्य करनेका अधिकारी नहीं रहता।

जननाशौच-मरणाशौच—अपने परिवारमें नव-शिशुके जन्म होनेपर प्रायः तीन दिन तथा सगोत्रमें किसी व्यक्तिकी मृत्यु हो जानेपर दस रात्रिका आशौच माना गया है। आशौचावस्थामें देवकार्य, पितृकार्य, वेदाध्ययन तथा गुरुजनोंके अभिवादन आदि शुभकार्योंका निषेध किया गया है। यहाँतक कि देवमन्दिरमें प्रवेश तथा पूजन आदि करना भी वर्जित है।

स्त्रियोंके लिये प्रायः मासमें एक बार विशेष अवस्था आती है, जिसमें वे रजस्वला हो जाती हैं। इसमें तीन रात्रितक उनकी आशौचावस्था रहती है। इस अवधिमें स्त्रीको घरका कोई काम-काज नहीं करना चाहिये। यहाँतक कि किसी वस्तु या किसी व्यक्तिको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। इस अवस्थाके समाप्त होनेपर स्त्रीके लिये सचैल स्नानकी विधि है। तदनुसार उसके कपड़े तथा बर्तन आदि धोनेके बाद ही शुद्धता आती है।

आचमन—जिस प्रकार शरीरकी शुद्धि तथा पवित्रताके लिये स्नानादि कृत्योंका महत्त्व है, उसी प्रकार आभ्यन्तर एवं बाह्य पवित्रताके लिये शास्त्रोंमें आचमनका भी विशेष महत्त्व वर्णित है। प्रायः दैनिक कार्योंमें सामान्य शुद्धिके लिये प्रत्येक कार्यमें आचमनका विधान है। लघुशंका, शौच तथा स्नान आदिके अनन्तर आचमन करना आवश्यक है। अतः आचमनसे हम केवल अपनी ही शुद्धि नहीं करते, अपितु ब्रह्मासे लेकर तृणतकको तृप्त करते हैं।[2] कोई भी देवादि शुभ कार्य करनेके पूर्व तथा अनन्तर आचमन करना चाहिये।

आचमन-विधि—पूर्व, उत्तर या ईशान दिशाकी ओर मुख करके आसनपर बैठ जाय, शिखा बाँधकर हाथ घुटनोंके भीतर रखते हुए निम्न मन्त्रोंसे तीन बार आचमन करे—

'ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः।' आचमनके बाद अँगूठेके मूलभागसे होठोंको दो बार पोंछकर 'ॐ हृषीकेशाय नमः' उच्चारणकर हाथ धोवे। फिर अँगूठेसे आँख, नाक तथा कानका स्पर्श करे। अशक्त होनेपर तीन बार आचमन कर हाथोंको धोकर दाहिना कान छू ले। दक्षिण तथा पश्चिमकी ओर मुख कर आचमन नहीं करना चाहिये। चलते-फिरते अथवा खड़े होकर भी नहीं करना चाहिये।

मादक द्रव्योंका निषेध—संसारमें मदिरा, ताड़ी, चाय, कॉफी, कोको, भाँग, अफीम, चरस, गाँजा, तंबाकू, बीड़ी-सिगरेट तथा चुरुट आदि जितनी भी मादक वस्तुएँ हैं, वे सब मनुष्यमात्रके लिये अव्यवहार्य हैं। इनका उपयोग मनुष्यको भीषण गर्तमें डालनेवाला होता है। पद्मपुराणके अनुसार धूम्रपान करनेवाले ब्राह्मणको दानतक देनेवाला व्यक्ति नरकगामी होता है तथा धूम्रपान करनेवाला ब्राह्मण ग्राम-शूकर होता है—

धूम्रपानरते विप्रे दानं कुर्वन्ति ये नराः।
ते नरा नरकं यान्ति ब्राह्मणा ग्रामशूकराः॥

पद्मपुराणमें यह बात आयी है कि मादक द्रव्योंके सेवनसे व्यक्तिका आत्मिक पतन और उसकी शारीरिक हानि होती है। इसलिये किसी भी स्थितिमें इन वस्तुओंका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये।

१-अपने मित्र या सगे-सम्बन्धियोंके यहाँ विशेष आग्रह होनेपर विचारपूर्वक भोजन करनेमें दोष नहीं है।

२-(क) एवं स ब्राह्मणो नित्यमुपस्पर्शनमाचरेत्। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् स परितर्पयेत्॥ ([illegible])

(ख) यः क्रियां कुरुते मोहादनाचम्यैव नास्तिकः। भवन्ति हि वृथा तस्य क्रियाः सर्वा न संशयः॥ ([illegible])

भारतीय संस्कृति एवं सनातनधर्ममें आचार-विचारको सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया है। मनुष्य-जीवनकी सफलताके लिये, वास्तविक उन्नतिको प्राप्त करनेके निमित्त आचारका आश्रय आवश्यक है। इससे अन्तःकरणकी पवित्रताके साथ-साथ लौकिक और पारलौकिक लाभ भी प्राप्त होता है।

दैनिक चर्या

मनुष्य-जीवनमें प्रातःकाल जागरणसे लेकर रात्रिमें शयनपर्यन्त दैनिक कार्यक्रमोंका पर्याप्त महत्त्व है। शास्त्रोंमें यह प्रकरण दैनन्दिन सदाचारमें निर्दिष्ट है।

वास्तवमें सच्चा सुख नित्य, सनातन और एकरस शान्तिमें है। उसके आश्रय हैं मङ्गलमय भगवान्। प्रत्येक स्त्री-पुरुषका प्रयत्न उन्हीं परम-प्रभुको प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये। अतः इस भव-बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि चौबीस घंटेके सम्पूर्ण समयका कार्यक्रम भगवदाराधनके रूपमें हो। चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना आदि सब कुछ भगवान्की प्रीतिके लिये पूजारूपमें हो। पापाचरणके लिये कहीं भी अवकाश न हो, तभी स्वतः कल्याणका मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। अपनी दिनचर्या शास्त्र-पुराणोक्त वचनोंके अनुसार ही चलानी चाहिये, जिससे जीवन भगवत्पूजामय बन जाय। यहाँ संक्षेपमें इसका किञ्चित् दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया जाता है—

प्रातःजागरण—प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे प्रायः डेढ़ घंटासे तीन घंटा पूर्व उठ जाना चाहिये। ब्राह्ममुहूर्तकी बड़ी महिमा है। इस समय उठनेवालेका स्वास्थ्य, धन, विद्या, बल और तेज बढ़ता है। जो सूर्य उगनेके समय सोता है उसकी आयु और शक्ति घटती है तथा वह नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार होता है। आँख खुलते ही दोनों करतलोंको देखते हुए निम्न श्लोकका पाठ करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

'हथेलियोंके अग्रभागमें लक्ष्मी निवास करती हैं, मध्यभागमें सरस्वती और मूलमें ब्रह्माजी निवास करते हैं। अतः प्रातः हथेलियोंका दर्शन करना आवश्यक है, इससे धन तथा विद्याकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्तव्यकर्म करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। भगवान् वेदव्यासने करोपलब्धिको मानवका परम लाभ माना है। इस विधानका आशय यह भी है कि प्रातःकाल उठते ही सर्वप्रथम दृष्टि और कहीं न जाकर अपने करतलमें ही देव-दर्शन करे, जिससे वृत्तियाँ भगवच्चिन्तनकी ओर प्रवृत्त हों। यथासाध्य उस समय भगवान्का स्मरण और ध्यान भी करना चाहिये तथा भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि दिनभर मेरेमें सुबुद्धि बनी रहे। शरीर तथा मनसे शुद्ध सात्त्विक कार्य हों, भगवान्का चिन्तन कभी न छूटे। इसके लिये भगवान्से बल माँगे और आत्माद्वारा यह निश्चय करे कि आज दिनभर मैं कोई भी बुरा कार्य नहीं करूँगा। भगवान्को याद रखते हुए भले कार्योंको ही करूँगा।

भूमि-वन्दना—शय्यापर बैठकर पृथ्वीपर पैर रखनेसे पूर्व पृथ्वी माताका अभिवादन करना चाहिये और उनपर पैर रखनेकी विवशताके लिये उनसे क्षमा माँगते हुए निम्नलिखित श्लोकका पाठ करना चाहिये—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

(विश्वामित्रस्मृति ४५)

मङ्गल-दर्शन—तदनन्तर माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन और मूर्तिमान् भगवान् माता-पिता, गुरु एवं ईश्वरको नमस्कार करना चाहिये। फिर शौचादिसे निवृत्त होकर रातका कपड़ा बदलकर आचमन करना चाहिये। पुनः निम्नलिखित श्लोकोंको पढ़कर पुण्डरीकाक्ष भगवान्का स्मरण करते हुए अपने ऊपर जलसे मार्जन करना चाहिये। इससे मान्त्रिक स्नान हो जाता है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥
अतिनीलघनश्यामं नलिनायतलोचनम्।
स्मरामि पुण्डरीकाक्षं तेन स्नातो भवाम्यहम्॥

अन्तमें भी आचमन करनेकी विधि है।

भोजनकी दूसरी मुख्य बात है द्रव्य-शुद्धि। सदाचारपूर्वक अर्जित द्रव्यका ही भोजन मनुष्यके लिये लाभदायी होता है तथा उसके अन्तःकरण और बुद्धिको पवित्र रखता है। अतः स्थूल दृष्टिसे भोजनमें शुद्धता, पवित्रता और सात्त्विकता होनी ही चाहिये, पर साथ ही सूक्ष्मरूपसे सत्यतासे अर्जित धनसे बना भोजन परम पवित्र होता है। बिना परिश्रम किये किसी पराये व्यक्तिके अन्नका भोजन करनेकी प्रवृत्ति भी नहीं रखनी चाहिये।[1]

आशौच—जीवनमें कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी आती हैं जब व्यक्ति आशौचावस्थामें रहता है। उस समय वह देवार्चन आदि कोई शुभ कार्य करनेका अधिकारी नहीं रहता।

जननाशौच-मरणाशौच—अपने परिवारमें नव-शिशुके जन्म होनेपर प्रायः तीन दिन तथा सगोत्रमें किसी व्यक्तिकी मृत्यु हो जानेपर दस रात्रिका आशौच माना गया है। आशौचावस्थामें देवकार्य, पितृकार्य, वेदाध्ययन तथा गुरुजनोंके अभिवादन आदि शुभकार्योंका निषेध किया गया है। यहाँतक कि देवमन्दिरमें प्रवेश तथा पूजन आदि करना भी वर्जित है।

स्त्रियोंके लिये प्रायः मासमें एक बार विशेष अवस्था आती है, जिसमें वे रजस्वला हो जाती हैं। इसमें तीन रात्रितक उनकी आशौचावस्था रहती है। इस अवधिमें स्त्रीको घरका कोई काम-काज नहीं करना चाहिये। यहाँतक कि किसी वस्तु या किसी व्यक्तिको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। इस अवस्थाके समाप्त होनेपर स्त्रीके लिये सचैल स्नानकी विधि है। तदनुसार उसके कपड़े तथा बर्तन आदि धोनेके बाद ही शुद्धता आती है।

आचमन—जिस प्रकार शरीरकी शुद्धि तथा पवित्रताके लिये स्नानादि कृत्योंका महत्त्व है, उसी प्रकार आभ्यन्तर एवं बाह्य पवित्रताके लिये शास्त्रोंमें आचमनका भी विशेष महत्त्व वर्णित है। प्रायः दैनिक कार्योंमें सामान्य शुद्धिके लिये प्रत्येक कार्यमें आचमनका विधान है। लघुशंका, शौच तथा स्नान आदिके अनन्तर आचमन करना आवश्यक है। अतः आचमनसे हम केवल अपनी ही शुद्धि नहीं करते, अपितु ब्रह्मासे लेकर तृणतकको तृप्त करते हैं।[2] कोई भी देवादि शुभ कार्य करनेके पूर्व तथा अनन्तर आचमन करना चाहिये।

आचमन-विधि—पूर्व, उत्तर या ईशान दिशाकी ओर मुख करके आसनपर बैठ जाय, शिखा बाँधकर हाथ घुटनोंके भीतर रखते हुए निम्न मन्त्रोंसे तीन बार आचमन करे—

'ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः।' आचमनके बाद अँगूठेके मूलभागसे होंठोंको दो बार पोंछकर **'ॐ हृषीकेशाय नमः'** उच्चारणकर हाथ धोवे। फिर अँगूठेसे आँख, नाक तथा कानका स्पर्श करे। अशक्त होनेपर तीन बार आचमन कर हाथोंको धोकर दाहिना कान छू ले। दक्षिण तथा पश्चिमकी ओर मुख कर आचमन नहीं करना चाहिये। चलते-फिरते अथवा खड़े होकर भी नहीं करना चाहिये।

मादक द्रव्योंका निषेध—संसारमें मदिरा, ताड़ी, चाय, कॉफी, कोको, भाँग, अफीम, चरस, गाँजा, तंबाकू, बीड़ी-सिगरेट तथा चुरुट आदि जितनी भी मादक वस्तुएँ हैं, वे सब मनुष्यमात्रके लिये अव्यवहार्य हैं। इनका उपयोग मनुष्यको भीषण गर्तमें डालनेवाला होता है। पद्मपुराणके अनुसार धूम्रपान करनेवाले ब्राह्मणको दानतक देनेवाला व्यक्ति नरकगामी होता है तथा धूम्रपान करनेवाला ब्राह्मण ग्राम-शूकर होता है—

धूम्रपानरते विप्रे दानं कुर्वन्ति ये नराः।
ते नरा नरकं यान्ति ब्राह्मणा ग्रामशूकराः॥

पद्मपुराणमें यह बात आयी है कि मादक द्रव्योंके सेवनसे व्यक्तिका आत्मिक पतन और उसकी शारीरिक हानि होती है। इसलिये किसी भी स्थितिमें इन वस्तुओंका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये।

१-अपने मित्र या सगे-सम्बन्धियोंके यहाँ विशेष आग्रह होनेपर निमन्त्रणपूर्वक भोजन करनेमें दोष नहीं है।

२-(क) एवं स ब्राह्मणो नित्यमुपस्पर्शनमाचरेत्। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् स परितर्पयेत्॥ (कूर्मपुराण)

(ख) यः क्रियां कुरुते मोहादनाचम्यैव नास्तिकः। भवन्ति हि वृथा तस्य क्रियाः सर्वा न संशयः॥ ([illegible])

भारतीय संस्कृति एवं सनातनधर्ममें आचार-विचारको सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया है। मनुष्य-जीवनकी सफलताके लिये, वास्तविक उन्नतिको प्राप्त करनेके निमित्त आचारका आश्रय आवश्यक है। इससे अन्तःकरणकी पवित्रताके साथ-साथ लौकिक और पारलौकिक लाभ भी प्राप्त होता है।

दैनिक चर्या

मनुष्य-जीवनमें प्रातःकाल जागरणसे लेकर रात्रिमें शयनपर्यन्त दैनिक कार्यक्रमोंका पर्याप्त महत्त्व है। शास्त्रोंमें यह प्रकरण दैनन्दिन सदाचारमें निर्दिष्ट है।

वास्तवमें सच्चा सुख नित्य, सनातन और एकरस शान्तिमें है। उसके आश्रय हैं मङ्गलमय भगवान्। प्रत्येक स्त्री-पुरुषका प्रयत्न उन्हीं परम-प्रभुको प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये। अतः इस भव-बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि चौबीस घंटेके सम्पूर्ण समयका कार्यक्रम भगवदाराधनके रूपमें हो। चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना आदि सब कुछ भगवान्की प्रीतिके लिये पूजारूपमें हो। पापाचरणके लिये कहीं भी अवकाश न हो, तभी स्वतः कल्याणका मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। अपनी दिनचर्या शास्त्र-पुराणोक्त वचनोंके अनुसार ही चलानी चाहिये, जिससे जीवन भगवत्पूजामय बन जाय। यहाँ संक्षेपमें इसका किञ्चित् दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया जाता है—

प्रातःजागरण—प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे प्रायः डेढ़ घंटासे तीन घंटा पूर्व उठ जाना चाहिये। ब्राह्ममुहूर्तकी बड़ी महिमा है। इस समय उठनेवालेका स्वास्थ्य, धन, विद्या, बल और तेज बढ़ता है। जो सूर्य उगनेके समय सोता है उसकी आयु और शक्ति घटती है तथा वह नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार होता है। आँख खुलते ही दोनों करतलोंको देखते हुए निम्न श्लोकका पाठ करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

'हथेलियोंके अग्रभागमें लक्ष्मी निवास करती हैं, मध्यभागमें सरस्वती और मूलमें ब्रह्माजी निवास करते हैं। अतः प्रातः हथेलियोंका दर्शन करना आवश्यक है, इससे धन तथा विद्याकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्तव्यकर्म करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। भगवान् वेदव्यासने करोपलब्धिको मानवका परम लाभ माना है। इस विधानका आशय यह भी है कि प्रातःकाल उठते ही सर्वप्रथम दृष्टि और कहीं न जाकर अपने करतलमें ही देव-दर्शन करे, जिससे वृत्तियाँ भगवच्चिन्तनकी ओर प्रवृत्त हों। यथासाध्य उस समय भगवान्का स्मरण और ध्यान भी करना चाहिये तथा भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि दिनभर मेरेमें सुबुद्धि बनी रहे। शरीर तथा मनसे शुद्ध सात्त्विक कार्य हों, भगवान्का चिन्तन कभी न छूटे। इसके लिये भगवान्से बल माँगे और आत्माद्वारा यह निश्चय करे कि आज दिनभर मैं कोई भी बुरा कार्य नहीं करूँगा। भगवान्को याद रखते हुए भले कार्योंको ही करूँगा।

भूमि-वन्दना— शय्यापर बैठकर पृथ्वीपर पैर रखनेसे पूर्व पृथ्वी माताका अभिवादन करना चाहिये और उनपर पैर रखनेकी विवशताके लिये उनसे क्षमा माँगते हुए निम्नलिखित श्लोकका पाठ करना चाहिये—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

(विश्वामित्रस्मृति ४५)

मङ्गल-दर्शन—तदनन्तर माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन और मूर्तिमान् भगवान् माता-पिता, गुरु एवं ईश्वरको नमस्कार करना चाहिये। फिर शौचादिसे निवृत्त होकर रातका कपड़ा बदलकर आचमन करना चाहिये। पुनः निम्नलिखित श्लोकोंको पढ़कर पुण्डरीकाक्ष भगवान्का स्मरण करते हुए अपने ऊपर जलसे मार्जन करना चाहिये। इससे मान्त्रिक स्नान हो जाता है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥
अतिनीलघनश्यामं नलिनायतलोचनम्।
स्मरामि पुण्डरीकाक्षं तेन स्नातो भवाम्यहम्॥

पुनः उपासनामय कर्महेतु दैनन्दिन संसार-यात्राके लिये भगवत्प्रार्थना कर उनसे आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये—

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव
श्रीनाथ विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥

(मन्त्रमहोदधि २१।६)

अजपा-जप—इसके बाद अजपा-जपका सङ्कल्प करना चाहिये; क्योंकि शास्त्रोक्त सभी साधनोंमें यह 'अजपा-जप' विशेष सुगम है। स्वाभाविक 'हंसो-हंसो'-की जगह 'सोऽहं-सोऽहं' के जपका ध्यान करनेसे सोते-जागते सब स्थितियोंमें यह जप प्रचलित माना जाता है।

तदनन्तर भगवान्का ध्यान करते हुए नाम-कीर्तन करना चाहिये और प्रातःस्मरणीय श्लोकोंका पाठ करना चाहिये। तत्पश्चात् शौचादि कृत्योंसे निवृत्त होना चाहिये। शौचविधिमें शुद्धिके लिये जल और मृत्तिकाका प्रयोग बताया गया है,[1] जो परम आवश्यक है।

आभ्यन्तर शौच[2]—व्याघ्रपादके अनुसार मिट्टी और जलसे होनेवाला शौच बाह्यशौच कहा जाता है। इसकी अबाधित आवश्यकता है, शौचाचारविहीनकी की गयी सभी क्रियाएँ भी निष्फल ही होती हैं।[3] मनोभावको शुद्ध रखना आभ्यन्तरशौच माना गया है। किसीके प्रति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा आदिका न होना आभ्यन्तरशौच है। भगवान् सबमें विद्यमान हैं, इसलिये किसीसे द्वेष, क्रोधादि नहीं करना चाहिये। सबमें भगवान्का दर्शन करते हुए, सभी परिस्थितियोंको भगवान्का वरदान समझते हुए सबमें मैत्रीभाव रखना चाहिये, साथ ही प्रतिक्षण भगवान्का स्मरण करते हुए उनकी आज्ञा समझकर शास्त्रविहित कार्य करते रहना चाहिये।

गङ्गास्नानकी विधि—उषाकी लालीसे पूर्व ही स्नान करना उत्तम है। इससे प्राजापत्य-व्रतका फल प्राप्त होता है।[4] तेल लगाकर तथा देहको मल-मलकर गङ्गादिमें स्नान करना मना है। वहाँ बाहर तटपर ही देह-हाथ मलकर नहा लेना चाहिये। इसके बाद नदीमें गोता लगावे। शास्त्रोंने इसे 'मलापकर्षण' स्नान कहा है। यह अमन्त्रक होता है। स्वास्थ्य और शुचिता—दोनोंके लिये यह स्नान भी आवश्यक है। निवीती होकर गमछेमे जनेऊको भी स्वच्छ कर ले।[5] इसके बाद शिखा बाँधकर आचमन और प्राणायाम कर दाहिने हाथमें जल लेकर सङ्कल्पपूर्वक स्नान करना चाहिये।

स्नानसे पूर्व समस्त अङ्गोंमें निम्न मन्त्रसे मिट्टी लगानी चाहिये—

अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥

तत्पश्चात् गङ्गाजीके द्वादशनामोंका कीर्तन करे, जिसमें उन्होंने स्नानकालमें वहाँ अपने उपस्थित होनेका निर्देश दिया है—मन्त्र इस प्रकार है—

नन्दिनी नलिनी सीता मालती च मलापहा।
विष्णुपादाब्जसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी॥
भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी।
द्वादशैतानि नामानि यत्र यत्र जलाशये॥
स्नानोद्यतः पठेज्जातु तत्र तत्र वसाम्यहम्॥[6]

इसके बाद नाभिपर्यन्त जलमें जाकर जलकी ऊपरी सतह हटाकर, कान और नाक बंदकर प्रवाह या सूर्यकी ओर मुख करके स्नान करे। शिखा खोलकर तीन, पाँच, सात या बारह गोते लगाये। गङ्गाके जलमें वस्त्रको नहीं

१-शौचकी विधि 'आचार-प्रकरण' में देखनी चाहिये।

२-शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥ (आह्निक०, व्याघ्रपाद)

३-शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः। शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥ (दक्ष)

४-उषस्युषसि यत् स्नानं नित्यमेवारुणोदये। प्राजापत्येन तत् तुल्यं महापातकनाशनम्॥ (दक्ष)

५-यज्ञोपवीतं कण्ठे कृत्वा नि.प्रक्षाल्य। (आचाररत्न)

६-आचमन कृत्य, मानसी आदिके क्रममें गङ्गाजीका यह आवाहन ही आवश्यक है ही, अन्य पवित्र नदियोंके जलमें भी यह आवश्यक माना गया है।

निचोड़ना चाहिये। शौचकालका वस्त्र पहनकर तीर्थमें स्नान करना तथा थूकना निषिद्ध है।

घरमें स्नान—घरमें स्नान करना हो तो स्नानसे पूर्व गङ्गा आदि पवित्र नदियोंका निम्न मन्त्रसे जलमें आवाहन करना चाहिये—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥

तदनन्तर स्नान करे। स्नानके अनन्तर जलसे प्रक्षालित शुद्ध वस्त्र धारण कर देवार्चन करना चाहिये। ऊनी तथा कौशेय वस्त्र विना धोये भी शुद्ध मान्य हैं। दूसरेका पहना हुआ कपड़ा नहीं पहनना चाहिये। लुँगी (विना लाँगका वस्त्र) नहीं पहनना चाहिये—'**मुक्तकक्षो महाधमः।**' बल्कि धोती धारणकर सन्ध्या-पूजन आदि कर्म करने चाहिये।

तिलक-धारण—कुशा अथवा ऊनके आसनपर बैठकर सन्ध्या-पूजा, दान, होम, तर्पण आदि कर्मोंके पहले तिलक अवश्य धारण करना चाहिये। बिना तिलक इन कर्मोंको निष्फल बताया गया है।

शिखा-बन्धन—जहाँ शिखा रखी जाती है, वहाँ मेरुदण्डके भीतर स्थित ज्ञान तथा क्रियाशक्तिका आधार सुषुम्णा नाडी समाप्त होती है। यह स्थान शरीरका सर्वाधिक मर्मस्थान है। इस स्थानपर चोटी रखनेसे मर्मस्थान, क्रिया-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति सुरक्षित रहती है, जिससे भजन-ध्यान, दानादि शुभकर्म सुचारुरूपसे सम्पन्न होते हैं। इसीलिये कहा गया है—

ध्याने दाने जपे होमे संध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

जपादि करनेके पूर्व आसनपर बैठकर तिलक धारण तथा शिखा-बन्धन करनेके पश्चात् सङ्कल्पपूर्वक संध्यावन्दन करना चाहिये। साथ ही कम-से-कम एक माला या उससे अधिक गायत्रीमन्त्रका जप करना चाहिये।

पञ्च महायज्ञ—संध्योपासनके अनन्तर पञ्च महायज्ञका विधान है। वे हैं—ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव) और मनुष्ययज्ञ।[1] वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं संध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्ध-तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। देवयज्ञसे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है।

पितृतर्पणमें देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है। देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि तथा वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है।[2] भूतयज्ञको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, इसमें अग्नि, सोम, इन्द्र, वरुण, मरुत् तथा विश्वेदेवोंके निमित्त आहुतियाँ एवं अन्नग्रासकी बलि दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है।[3] यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो बैठनेके लिये स्थान, आसन, जल प्रदान कर मीठे वचनोंद्वारा उसका स्वागत तो अवश्य ही करना चाहिये।[4]

स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये।[5] इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार

१-अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु० ३।७०)
२-अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनु० ३।७६)
३-सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ (मनु० ३।९९)
४-तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (मनु० ३।१०१)
५-स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि। पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ (मनु० ३।८१)

पुनः उपासनामय कर्महेतु दैनन्दिन संसार-यात्राके लिये भगवत्प्रार्थना कर उनसे आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये—

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव
श्रीनाथ विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥

(मन्त्रमहोदधि २१।६)

अजपा-जप—इसके बाद अजपा-जपका सङ्कल्प करना चाहिये; क्योंकि शास्त्रोक्त सभी साधनोंमें यह 'अजपा-जप' विशेष सुगम है। स्वाभाविक **'हंसो-हंसो'**-की जगह **'सोऽहं-सोऽहं'** के जपका ध्यान करनेसे सोते-जागते सब स्थितियोंमें यह जप प्रचलित माना जाता है।

तदनन्तर भगवान्‌का ध्यान करते हुए नाम-कीर्तन करना चाहिये और प्रातःस्मरणीय श्लोकोंका पाठ करना चाहिये। तत्पश्चात् शौचादि कृत्योंसे निवृत्त होना चाहिये। शौचविधिमें शुद्धिके लिये जल और मृत्तिकाका प्रयोग बताया गया है,[1] जो परम आवश्यक है।

आभ्यन्तर शौच[2]—व्याघ्रपादके अनुसार मिट्टी और जलसे होनेवाला शौच वाह्यशौच कहा जाता है। इसकी अवाधित आवश्यकता है, शौचाचारविहीनकी की गयी सभी क्रियाएँ भी निष्फल ही होती हैं।[3] मनोभावको शुद्ध रखना आभ्यन्तरशौच माना गया है। किसीके प्रति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा आदिका न होना आभ्यन्तरशौच है। भगवान् सबमें विद्यमान हैं, इसलिये किसीसे द्वेष, क्रोधादि नहीं करना चाहिये। सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए, सभी परिस्थितियोंको भगवान्‌का वरदान समझते हुए सबमें मैत्रीभाव रखना चाहिये, साथ ही प्रतिक्षण भगवान्‌का स्मरण करते हुए उनकी आज्ञा समझकर शास्त्रविहित कार्य करते रहना चाहिये।

गङ्गास्नानकी विधि—उषाकी लालीसे पूर्व ही स्नान करना उत्तम है। इससे प्राजापत्य-व्रतका फल प्राप्त होता है।[4] तेल लगाकर तथा देहको मल-मलकर गङ्गादिमें स्नान करना मना है। वहाँ बाहर तटपर ही देह-हाथ मलकर नहा लेना चाहिये। इसके बाद नदीमें गोता लगावे। शास्त्रोंने इसे 'मलापकर्षण' स्नान कहा है। यह अमन्त्रक होता है। स्वास्थ्य और शुचिता—दोनोंके लिये यह स्नान भी आवश्यक है। निवीती होकर गमछेसे जनेऊको भी स्वच्छ कर ले।[5] इसके बाद शिखा बाँधकर आचमन और प्राणायाम कर दाहिने हाथमें जल लेकर सङ्कल्पपूर्वक स्नान करना चाहिये।

स्नानसे पूर्व समस्त अङ्गोंमें निम्न मन्त्रसे मिट्टी लगानी चाहिये—

अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥

तत्पश्चात् गङ्गाजीके द्वादशनामोंका कीर्तन करे, जिसमें उन्होंने स्नानकालमें वहाँ अपने उपस्थित होनेका निर्देश दिया है—मन्त्र इस प्रकार है—

नन्दिनी नलिनी सीता मालती च मलापहा।
विष्णुपादाब्जसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी॥
भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी।
द्वादशैतानि नामानि यत्र यत्र जलाशये॥
स्नानोद्यतः पठेज्जातु तत्र तत्र वसाम्यहम्॥[6]

इसके बाद नाभिपर्यन्त जलमें जाकर जलकी ऊपरी सतह हटाकर, कान और नाक बंदकर प्रवाह या सूर्यकी ओर मुख करके स्नान करे। *शिखा खोलकर तीन, पाँच,* सात या बारह गोते लगावे। गङ्गाके जलमें वस्त्रको नहीं

१-शौचकी विधि 'आचार-प्रकरण' में देखनी चाहिये।

२-शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥ *(आह्निक०, व्याघ्रपाद)*

३-शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः। शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥ (दक्ष)

४-उषस्युषसि यत् स्नानं नित्यमेवारुणोदये। प्राजापत्येन तत् तुल्यं महापातकनाशनम्॥ (दक्ष)

५-यज्ञोपवीतं कण्ठे कृत्वा त्रि·प्रक्षाल्य। (आचाररत्न)

६-साधारण कूप, बावली आदिके जलमें गङ्गाजीका यह आवाहन तो आवश्यक है ही, अन्य पवित्र नदियोंके जलमें भी यह आवश्यक माना गया है।

निचोड़ना चाहिये। शौचकालका वस्त्र पहनकर तीर्थोंमें स्नान करना तथा थूकना निषिद्ध है।

घरमें स्नान—घरमें स्नान करना हो तो स्नानसे पूर्व गङ्गा आदि पवित्र नदियोंका निम्न मन्त्रसे जलमें आवाहन करना चाहिये—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥

तदनन्तर स्नान करे। स्नानके अनन्तर जलसे प्रक्षालित शुद्ध वस्त्र धारण कर देवार्चन करना चाहिये। ऊनी तथा कौशेय वस्त्र बिना धोये भी शुद्ध मान्य हैं। दूसरेका पहना हुआ कपड़ा नहीं पहनना चाहिये। लुँगी (बिना लाँगका वस्त्र) नहीं पहनना चाहिये—'**मुक्तकक्षो महाधमः**।' बल्कि धोती धारणकर सन्ध्या-पूजन आदि कर्म करने चाहिये।

तिलक-धारण—कुशा अथवा ऊनके आसनपर बैठकर सन्ध्या-पूजा, दान, होम, तर्पण आदि कर्मोंके पहले तिलक अवश्य धारण करना चाहिये। बिना तिलक इन कर्मोंको निष्फल बताया गया है।

शिखा-बन्धन—जहाँ शिखा रखी जाती है, वहाँ मेरुदण्डके भीतर स्थित ज्ञान तथा क्रियाशक्तिका आधार सुषुम्णा नाडी समाप्त होती है। यह स्थान शरीरका सर्वाधिक मर्मस्थान है। इस स्थानपर चोटी रखनेसे मर्मस्थान, क्रिया-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति सुरक्षित रहती है, जिससे भजन-ध्यान, दानादि शुभकर्म सुचारुरूपसे सम्पन्न होते हैं। इसीलिये कहा गया है—

ध्याने दाने जपे होमे संध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

जपादि करनेके पूर्व आसनपर बैठकर तिलक धारण तथा शिखा-बन्धन करनेके पश्चात् सङ्कल्पपूर्वक संध्यावन्दन करना चाहिये। साथ ही कम-से-कम एक माला या उससे अधिक गायत्रीमन्त्रका जप करना चाहिये।

पञ्च महायज्ञ—संध्योपासनके अनन्तर पञ्च महायज्ञका विधान है। वे हैं—ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव) और मनुष्ययज्ञ।[1] वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं संध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्ध-तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। देवयज्ञसे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है।

पितृतर्पणमें देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है। देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि तथा वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है।[2] भूतयज्ञको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, इसमें अग्नि, सोम, इन्द्र, वरुण, मरुत् तथा विश्वेदेवोंके निमित्त आहुतियाँ एवं अन्नग्रासकी बलि दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है।[3] यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो बैठनेके लिये स्थान, आसन, जल प्रदान कर मीठे वचनोंद्वारा उसका स्वागत तो अवश्य ही करना चाहिये।[4]

स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये।[5] इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार

१-अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु० ३।७०)

२-अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनु० ३।७६)

३-सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ (मनु० ३।९९)

४-तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (मनु० ३।१०१)

५-स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि। पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ (मनु० ३।८१)

करता है, वह तेजोमय मूर्ति धारण कर सीधे अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है।[१] सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके तुल्य है, इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खानेयोग्य कहा गया है।[२] भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी प्रायः ऐसी ही बात कही है।[३]

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना है। इनमें स्वार्थ-त्यागकी बात तो पद-पदमें बतलायी गयी है।

आहार (भोजनविधि)—प्राणीके नेत्र, श्रोत्र, मुख आदिद्वारा आहरणीय रूप, शब्द, रस आदि विषयरूप आहार-शुद्धिसे मनकी शुद्धि होती है। मन शुद्ध होनेपर परमतत्त्वकी निश्चल स्मृति होती है। निश्चल स्मृतिसे ग्रन्थिमोक्ष होता है।[४] बलिवैश्वदेवके अनन्तर गौ, श्वान, काक, अतिथि तथा कीट-पतङ्गके निमित्त पञ्चबलि निकालनेका विधान है, जो भोजनके पूर्व तत्तद् जीवोंको देना चाहिये। अपने इष्टदेवको नैवेद्य निवेदित कर अर्थात् भगवान्‌को भोग लगाकर ही प्रसादरूपमें भोजन करनेका विधान है। भोजनके प्रारम्भमें '**ॐ भूपतये स्वाहा, ॐ भुवनपतये स्वाहा, ॐ भूतानां पतये स्वाहा**'—इन मन्त्रोंसे तीन ग्रास निकालनेकी विधि है। इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण पृथ्वीके स्वामी एवं चतुर्दश भुवनोंके स्वामीको तथा चराचर जगत्‌के सम्पूर्ण प्राणियोंको मैं यह अन्न प्रदान करता हूँ। तदनन्तर '**ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा और ॐ समानाय स्वाहा**'—इन पाँच मन्त्रोंसे लवणरहित पाँच ग्रास आत्मारूप ब्रह्मके लिये पञ्च आहुतिके रूपमें लेना चाहिये। तत्पश्चात् '**अमृतोपस्तरणमसि**' इस मन्त्रसे आचमन करे। इसका अर्थ है—'मैं अमृतमय अन्नदेवको आसन प्रदान करता हूँ।' फिर मौन होकर भोजन करना चाहिये। भोजनके अन्तमें '**अमृतापिधानमसि**' इस मन्त्रसे पुनः आचमन करना चाहिये। इसका अर्थ है—'मैं अमृतरूप अन्नदेवताको आच्छादित करता हूँ।' आहारकी पवित्रताके लिये यह आवश्यक है कि आहार उच्छिष्ट न हो और सत्यतासे अर्जित धनसे ही निर्मित किया गया हो।[५]

शयन-विधि—जैसे मनुष्य सोकर उठनेपर शान्त चित्तसे जिसका चिन्तन करता है, उसका प्रभाव गहरा पड़ता है, उसी प्रकार सोनेसे पूर्व जिसका चिन्तन करता हुआ सोता है, उसका भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः शयनसे पूर्व पुराणोंकी सात्त्विक कथा या भक्तगाथा आदि श्रवण करते हुए शयन करना चाहिये। भविष्यपुराणमें कहा गया है—जो हाथ-पैर धोकर पवित्र हुआ मनुष्य पुराणोंकी सात्त्विक कथा सुनता है, वह ब्रह्महत्यादि पापोंसे मुक्त हो जाता है।[६] पर यह भोजनसे पूर्व नियमित कथा-श्रवणकी विधि प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त, शयनसे पूर्व दिनभरके कार्योंका सम्यक् अवलोकन करना चाहिये तथा इस सम्बन्धमें यह चिन्तन करना चाहिये कि कोई गलत कार्य तो नहीं किया। यदि कोई गलत कार्य हो गया हो तो उसके लिये पश्चात्तापपूर्वक भगवान्‌से क्षमा-याचना करनी चाहिये और भविष्यमें फिर इस प्रकारकी गलतीकी पुनरावृत्ति न हो—ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए शयन करना चाहिये। इससे जीवनको निर्दोष बनानेमें विशेष सहायता मिलती है। विष्णुपुराणमें कहा गया है कि हाथ-पैर धोकर मनुष्य सायंकालीन भोजन करनेके पश्चात् जो जीर्ण न हो, बहुत बड़ी न हो, संकुचित न हो, ऊँची न हो, मैली न हो, जन्तुयुक्त न हो एवं जिसपर कुछ बिछावन बिछाया हो, उस

१-एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना॥ (मनु० ३।९३)
२-अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ (मनु० ३।११८)
३-यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (गीता ३।१३)
४-आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥ (छान्दोग्य० ७।२६।२)
५-भोजनकी विशेष बातें 'आचार-प्रकरण'में देखनी चाहिये।
६-मुच्यते सर्वपापेभ्यो ब्रह्महत्यादिभिर्विभो। पुराणं सात्त्विकं रात्रौ शुचिर्भूत्वा शृणोति यः॥

शय्यापर शयन करना चाहिये। पूर्व और दक्षिणकी ओर सिर करके शयन करना उत्तम बतलाया गया है। उत्तर एवं पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेका निषेध है।

संतान-प्राप्ति—स्त्री-सहवासका मुख्य उद्देश्य है पुत्रोत्पादनद्वारा वंशकी रक्षा तथा पितृ-ऋणसे मुक्त होना। शास्त्रमर्यादानुसार संतानोत्पत्तिकी प्रक्रियाको भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें गिना है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः।'

पुत्रार्थी अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी, व्रतोपवास तथा श्राद्ध आदि पर्वकालोंको छोड़कर ऋतुकालमें स्व-स्त्रीके पास जाय। रजोदर्शनकालमें अर्थात् स्त्रीके रजस्वला होनेपर भूलकर भी स्त्री-सहवास न करे, न उसके साथ एक शय्यापर सोये। रजस्वलागामी पुरुषकी प्रज्ञा, तेज, बल, चक्षु और आयु नष्ट हो जाती है—

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह॥
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥

कर्मक्षेत्र (गृहस्थाश्रमका पालन)—गृहस्थमात्रको घरके कामोंमें मन लगाना चाहिये। गृहस्थ-आश्रम सभी आश्रमोंका आधार कहा गया है। यह बात सबको स्मरण रखना चाहिये कि हम जो कुछ भी करें, वह सब प्रभु-प्रीत्यर्थ ही करें। कर्म करके उसका सम्पूर्ण फल भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित कर देना चाहिये। ऐसा करनेपर मनुष्यको कर्म-बन्धनमें बँधना नहीं पड़ेगा और उसके समस्त कर्म भगवदाराधनमें परिणत हो जायँगे। शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'शरीरका निर्वाह हो जाय' यही लक्ष्य रखकर शरीरको कोई क्लेश पहुँचाये बिना, वर्णविहित, निन्दारहित कार्यके द्वारा धनका संचय करना चाहिये—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्॥

अतः गृहस्थ व्यक्तिको अपने कल्याणके लिये शास्त्र-मर्यादाका पालन करना चाहिये। वास्तवमें मनुष्यका शरीर खान-पान, भोग-विलासके लिये नहीं, प्रत्युत शास्त्र-मर्यादाका पालन करके भगवत्प्राप्ति करनेके लिये मिला है, जो प्रधान लक्ष्य है। इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। शब्द, रूप आदिका श्रवण और दर्शन आदि करते समय अनुकूल तथा प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद' होता है। उस 'प्रसाद' या 'प्रशम' से सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। परंतु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते तथा भोगोंमें वैराग्य नहीं होता, तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रतिकूलके सेवनसे द्वेष और दुःख होता है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक तथा वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा समभावसे ग्रहण करना चाहिये। दर्शन, श्रवण, भोजनादि कार्य रसबुद्धिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्प्राप्तिके लिये करने चाहिये। पदार्थोंमें भोग-विलास-भावना, स्वाद-सुख या रमणीयता-बुद्धि ही मनुष्यके मनमें विकार उत्पन्न कर उसका पतन कराती है। अतः आसक्तिरहित होकर विवेक-वैराग्यपूर्वक धर्मयुक्त बुद्धिके द्वारा विहित विषय-सेवन करना उचित है। इससे हवनके लिये अग्निमें डाले हुए ईंधनकी तरह विषयवासना अपने-आप ही भस्म हो जाती है। फिर उसका कोई अस्तित्व या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार संस्कारयुक्त होनेसे परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है तथा उनकी प्राप्ति हो जाती है।

देवोपासना

जीवनमें उपासनाका विशेष महत्त्व है। जब मनुष्य अपने जीवनका वास्तविक लक्ष्य निर्धारित कर लेता है, तब वह तन-मन-धनसे अपने उस लक्ष्यकी प्राप्तिमें संलग्न हो जाता है। मानवका वास्तविक लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये उसे यथासाध्य संसारकी विषय-वासनाओं और भोगोंसे दूर रहकर भगवदाराधन एवं अभीष्टदेवकी उपासनामें संलग्न होनेकी आवश्यकता

है। जिस प्रकार गङ्गाका अविच्छिन्न प्रवाह समुद्रोन्मुखी होता है, उसी प्रकार भगवद्-गुण-श्रवणके द्वारा द्रवीभूत निर्मल, निष्कलङ्क, परम पवित्र अन्तःकरणका भगवदुन्मुख हो जाना वास्तविक उपासना है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

इसके लिये आवश्यक है कि चित्त संसार और तद्विषयक राग-द्वेषादिसे विमुक्त हो जाय। शास्त्रों और पुराणोंकी उक्ति है—'**देवो भूत्वा यजेद् देवान् नादेवो देवमर्चयेत्।**' देव-पूजाका अधिकारी वही है, जिसमें देवत्व हो। जिसमें देवत्व नहीं, वास्तवमें उसे देवार्चनसे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। अतः उपासकको भगवदुपासनाके लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अभिमान आदि दुर्गुणोंका त्याग कर अपनी आन्तरिक शुद्धि करनी चाहिये। साथ ही शास्त्रोक्त आचार-धर्मको स्वीकार कर बाह्य-शुद्धि कर लेनी चाहिये, जिससे उपासकके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा अन्तरात्माकी भौतिकता एवं लौकिकताका समूल उन्मूलन हो सके और उनमें रसात्मकता तथा पूर्ण-दिव्यताका आविर्भाव हो जाय। ऐसा जब हो सकेगा, तभी वह उपासनाके द्वारा निखिल-रसामृतमूर्ति सच्चिदानन्दघन भगवत्स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेगा।

यहाँ शास्त्रोंमें वर्णित देवोपासनाकी कुछ विधियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

नित्योपासनामें दो प्रकारकी पूजा बतायी गयी है—(१) मानसपूजा और (२) बाह्यपूजा। साधकको दोनों प्रकारकी पूजा करनी चाहिये, तभी पूजाकी पूर्णता है। अपनी सामर्थ्य और शक्तिके अनुसार बाह्यपूजाके उपकरण अपने आराध्यके प्रति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निवेदन करना चाहिये। शास्त्रोंमें लिखा है कि '**वित्तशाठ्यं न समाचरेत्**' अर्थात् देव-पूजनादि कार्योंमें कंजूसी नहीं करनी चाहिये। सामान्यतः जो वस्तु हम अपने उपयोगमें लेते हैं, उससे हल्की वस्तु अपने आराध्यको अर्पण करना उचित नहीं है। वास्तवमें भगवान्को वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे तो भावके भूखे हैं। वे उपचारोंको तभी स्वीकार करते हैं, जब निष्कपटभावसे व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा और भक्तिसे निवेदन करता है।

बाह्यपूजाके विविध विधान हैं, यथा—राजोपचार, सहस्रोपचार, चतुःषष्ट्युपचार, षोडशोपचार और पञ्चोपचार-पूजन आदि। यद्यपि सम्प्रदाय-भेदसे पूजनादिमें किञ्चित् भेद भी हो जाते हैं, परंतु सामान्यतः सभी देवोंके पूजनकी विधि समान है। गृहस्थ प्रायः स्मार्त होते हैं, जो पञ्चदेवोंकी पूजा करते हैं। पञ्चदेवोंमें १. गणेश, २. दुर्गा, ३. शिव, ४. विष्णु और ५. सूर्य हैं। ये पाँचों देव स्वयंमें पूर्ण ब्रह्म-स्वरूप हैं। साधक इन पञ्चदेवोंमें एकको अपना इष्ट मान लेता है, जिन्हें वह सिंहासनपर मध्यमें स्थापित करता है। फिर यथालब्धोपचार-विधिसे उनका पूजन करता है।

भगवत्पूजा अतीव सरल है, जिसमें उपचारोंका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। महत्त्व भावनाका है। समयपर जो भी उपचार उपलब्ध हो जाय, उन्हें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निश्छल दैन्यभावसे भगवदर्पण कर दिया जाय तो उस पूजाको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं।

विशिष्ट उपासना—विशेष अवसरोंपर जो देवाराधन किया जाता है, जैसे—नवरात्रके अवसरपर दुर्गापूजा, सप्तशतीका पाठ, रामायण आदिके नवाह-पाठ, श्रावण आदि पवित्र महीनोंमें लक्ष-पार्थिवार्चन, महारुद्राभिषेक, श्रीमद्भागवतसप्ताह आदि विशेष प्रकारके अनुष्ठान विशिष्ट उपासनाएँ हैं। आरोग्यता एवं दीर्घजीवन-प्राप्तिके निमित्त महामृत्युञ्जयका जप एवं धन, संतान तथा अन्य कामनाओंके निमित्त किये जानेवाले अनुष्ठान भी इन्हींमें आते हैं, परंतु भगवत्-प्रीतिके निमित्त किये गये अनुष्ठानका अनन्त फल शास्त्रोंमें बताया गया है, जो भी अनुष्ठान-साधन-भजन किया जाय, वह अनात्म (संसारकी) वस्तुओंकी प्राप्तिके निमित्त नहीं, अपितु भगवान्की प्रसन्नता-प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये।

मानस-पूजा

बाह्यपूजाके साथ-साथ मानस-पूजाका भी अत्यधिक महत्त्व है। पूजाकी पूर्णता मानसपूजनमें ही हो जाती है। भगवान्‌को किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, वे तो भावके भूखे हैं। संसारमें ऐसे दिव्य पदार्थ उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे परमेश्वरकी पूजा की जा सके। इसलिये शास्त्रोंमें मानस-पूजाका विशेष महत्त्व माना गया है। मानस-पूजामें भक्त अपने इष्टदेवको मुक्तामणियोंसे मण्डितकर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान करता है। स्वर्गलोककी मन्दाकिनी गङ्गाके जलसे अपने आराध्यको स्नान कराता है, कामधेनु गौके दुग्धसे पञ्चामृतका निर्माण करता है। वस्त्राभूषण भी दिव्य अलौकिक होते हैं। पृथ्वीरूपी गन्धका अनुलेपन करता है। अपने आराध्यके लिये कुबेरकी पुष्पवाटिकासे स्वर्णकमल-पुष्पोंका चयन करता है। भावनासे वायुरूपी धूप, अग्निरूपी दीपक तथा अमृतरूपी नैवेद्य भगवान्‌को अर्पण करनेकी विधि है। इसके साथ ही त्रिलोककी सम्पूर्ण वस्तु, सभी उपचार सच्चिदानन्दघन परमात्मप्रभुके चरणोंमें भावनासे भक्त अर्पण करता है। यह है मानस-पूजाका स्वरूप। इसकी एक संक्षिप्त विधि भी पुराणोंमें वर्णित है। जो नीचे लिखी जा रही है—

१-ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं पृथिवीरूप गन्ध (चन्दन) आपको अर्पित करता हूँ।)

२-ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं आकाशरूप पुष्प आपको अर्पित करता हूँ।)

३-ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं वायुदेवके रूपमें धूप आपको प्रदान करता हूँ।)

४-ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं दर्शयामि।

(प्रभो! मैं अग्निदेवके रूपमें दीपक आपको प्रदान करता हूँ।)

५-ॐ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि।

(प्रभो! मैं अमृतके समान नैवेद्य आपको निवेदन करता हूँ।)

६-ॐ सौं सर्वात्मकं सर्वोपचारं समर्पयामि।

(प्रभो! मैं सर्वात्माके रूपमें संसारके सभी उपचारोंको आपके चरणोंमें समर्पित करता हूँ।)—इन मन्त्रोंसे भावनापूर्वक मानस-पूजा की जा सकती है।

आहार-शुद्धि

भोजनके रससे ही शरीर, प्राण और मनका निर्माण होता है। म्लान चित्तमें देवता और मन्त्रके प्रसादका उदय नहीं होता। अशुद्ध भोजनसे रोग, क्षोभ और ग्लानि होती है। शुद्ध भोजनसे मन पवित्र होता है। अन्याय, बेईमानी, चोरी, डकैती आदिसे उपार्जित दूषित अन्नद्वारा शुद्ध चित्तका निर्माण होना असम्भवप्राय है। इसी प्रकार अशुद्ध स्थानमें रखे दूध, दही आदि या कुत्ते आदिसे स्पृष्ट पदार्थ भी त्याज्य हैं।

गौके दूध, दही, घी, श्वेत तिल, मूँग, कन्द, केला, आम, नारियल, नारंगी, आँवला, साठी चावल, जौ, जीरा आदि हविष्यान्न व्रतोंमें उपादेय हैं। मधु, खारा नमक, तेल, लहसुन, प्याज, गाजर, उड़द, मसूर, कोदो, चना, बासी तथा परान्न त्याज्य हैं। जिन्हें भिक्षा लेनेका अधिकार है, उन संन्यासी आदिकोंके लिये भिक्षा परान्न नहीं है, पर भिक्षा सदाचारी एवं पवित्र गृहस्थोंसे ही लेनी चाहिये।

मन्त्रजप

मन्त्रानुष्ठानमें ब्रह्मचर्य एवं पवित्रतापूर्वक भू-शयन आदि आवश्यक हैं। अनुष्ठानकालमें कुटिल व्यवहार, क्षौर-कर्म, तैलाभ्यङ्ग तथा बिना भोग लगाये भोजन नहीं करना चाहिये। साधकको यथासम्भव पवित्र नदियों, देवखातों, तीर्थ, सरोवर, पुष्करिणी आदिमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्नान करना चाहिये। यथाशक्ति तीनों समय संध्या और इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। शिखा खोलकर, निर्वस्त्र होकर, एक वस्त्र पहनकर, सिरपर पगड़ी बाँधकर, अपवित्र होकर या चलते-फिरते जप करना निषिद्ध है। जपके समय माला पूरी हुए बिना बातचीत नहीं करनी चाहिये। जप समाप्त करने और प्रारम्भ करनेके पूर्व आचमन कर लेना चाहिये।

मलिन वस्त्र पहनकर, केश बिखेरकर और उच्चस्वरसे जप करना शास्त्रविरुद्ध है। जप करते समय इतने कर्म निषिद्ध हैं—आलस्य, जँभाई, नींद, छींकना, थूकना, डरना, अपवित्र अङ्गोंका स्पर्श और क्रोध। जापकको स्त्री, शूद्र, पतित, व्रात्य, नास्तिक आदिके साथ सम्भाषण, उच्छिष्ट मुखसे वार्तालाप, असत्य और कुटिल भाषण छोड़ देना चाहिये। अपने आसन, शय्या, वस्त्र आदिको शुद्ध एवं स्वच्छ रखना चाहिये। उबटन, इत्र, फूलमालाका उपयोग और गरम जलसे स्नान नहीं करना चाहिये। सोकर, बिना आसनके, चलते और खाते समय तथा बिना माला ढँके जो जप किया जाता है, उसकी गणना अनुष्ठानके जपमें नहीं होती। जिसके चित्तमें व्याकुलता, क्षोभ, भ्रान्ति हो, भूख लगी हो, शरीरमें पीड़ा हो, उसे और जहाँ स्थान अशुद्ध एवं अन्धकाराच्छन्न हो, वहाँ जप नहीं करना चाहिये। जूता पहने हुए अथवा पैर फैलाकर जप करना निषिद्ध है और भी बहुत-से नियम हैं, उन्हें जानकर यथाशक्ति उनका पालन करना चाहिये। ये सब नियम मानस-जपके लिये नहीं हैं।

शास्त्रोंमें जप-यज्ञको सब यज्ञोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है। पद्म एवं नारदपुराणमें कहा गया है कि समस्त यज्ञ वाचिक जपकी तुलनामें सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं। उपांशु-जपका फल वाचिक जपसे सौ गुना और मानस-जपका सहस्रगुना होता है। मानस-जप वह है, जिसमें अर्थका चिन्तन करते हुए मनमें ही मन्त्रके वर्ण, स्वर और पदोंकी आवृत्ति की जाती है। उपांशु-जपमें कुछ-कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानोंतक ही उनकी ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई नहीं सुन सकता। वाचिक जपका वाणीके द्वारा उच्चारण किया जाता है। तीनों ही प्रकारके जपोंमें मनके द्वारा इष्टका चिन्तन होना चाहिये। मानसिक स्तोत्र-पाठ और उच्चस्वरसे उच्चारणपूर्वक मन्त्र-जप—ये दोनों निष्फल हैं।

जपमें मालाका प्रयोग—साधकोंके लिये माला भगवान्‌के स्मरण और नाम-जपकी संख्या-गणनार्थ बड़ी ही सहायक होती है। इससे उतनी संख्या पूर्ण करनेके लिये सब समय प्रेरणा प्राप्त होती रहती है एवं उत्साह तथा लगनमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आती। जो लोग बिना संख्याके जप करते हैं, उन्हें इस बातका अनुभव होगा कि जब कभी जप करते-करते मन अन्यत्र चला जाता है, तब मालूम ही नहीं होता कि जप हो रहा था अथवा नहीं या कितने समयतक जप बंद रहा। यह प्रमाद हाथमें माला रहनेपर या संख्यासे जप करनेपर नहीं होता। यदि मन कभी कहीं चला भी जाता है तो मालाका चलना बंद हो जाता है, संख्या आगे नहीं बढ़ती और यदि माला चलती रही तो जीभ भी अवश्य चलती ही रहेगी। कुछ ही समयमें ये दोनों मनको आकृष्ट करनेमें समर्थ हो सकेंगी।

देवतातत्त्व

देवता मुख्यतया तैंतीस माने गये हैं। उनकी गणना इस प्रकार है—प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह रुद्र। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है, वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे कामरूप होते हैं। वेदान्त-दर्शनमें कहा गया है कि देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। शास्त्रोंमें देवताओंके ध्यानकी सुस्पष्ट विधि निर्दिष्ट है। उसी रूपमें उनका ध्यान एवं उपासना की जानी चाहिये।

सभी साधना एवं उपासनाओंका अन्तिम फल भगवत्प्राप्ति या सायुज्य मुक्ति है। देवतालोग अपनी उपासनासे प्रसन्न होकर सांसारिक पुरुषार्थोंकी उपलब्धिके साथ भगवत्प्राप्तिमें भी सहायक होते हैं। ऊपर देवोपासनाकी संक्षिप्त विधि निर्दिष्ट है। विशेष जानकारीके लिये उनके उपासनापरक पुराण, आगमादि ग्रन्थ देखने चाहिये।

यज्ञ

भारतीय संस्कृति और वेद-पुराणोंमें यज्ञोंकी अपार महिमा निरूपित है। यज्ञोंके द्वारा विश्वात्मा प्रभुको संतृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है। अतः जो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें यज्ञ-यागादि शुभ कर्म अवश्य करने चाहिये। वेद, जो परमात्माके निःश्वासभूत हैं,

उनकी मुख्य प्रवृत्ति यज्ञोंके अनुष्ठान-विधानमें है। यज्ञोंद्वारा समुद्भूत पर्जन्य—वृष्टि आदिसे संसारका पालन करते हैं। इस प्रकार परमात्मा यज्ञोंके सहारे ही विश्वका संरक्षण करते हैं। यज्ञकर्ताको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायके १० से १५ तकके श्लोकोंमें यज्ञपर ही संसारको आधृत कहा है और इसमें वेद और परमात्माकी प्रतिष्ठा कही है।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
(३।१०)

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंकी सृष्टिकर उनसे कहा—'तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो।' गीतामें तो भगवान्ने यहाँतक कहा है कि यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३।१३)

इसलिये भगवान्ने कहा—'**तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**' (गीता ३।१५)। सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं। शरीर और अन्तःकरणकी शुद्धि तथा जीवनमें दिव्यताके आधानके लिये भी यज्ञकी आवश्यकता है—'**महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः**।' ये यज्ञ सकाम भी किये जाते हैं और निष्काम भी।

अनेक राजाओं आदिके चरित्र-वर्णनमें विविध यज्ञानुष्ठानोंके सुन्दर आख्यान-उपाख्यान भी पुराणोंमें उपलब्ध होते हैं। इन यज्ञोंसे परमपुरुष नारायणकी ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत (४।१४।१८-१९)-में स्पष्ट वर्णित है—

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥

जिसके राज्य अथवा नगरमें वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्म-पालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, हे महाभाग! भगवान् अपनी वेद-शास्त्ररूपी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे प्रसन्न रहते हैं; क्योंकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके रक्षक हैं। पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड (३।१२४)-में स्पष्ट कहा गया है कि—यज्ञसे देवताओंका आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्योंका पालन होता है, इस प्रकार संसारका पालन-पोषण करनेके कारण ही यज्ञ कल्याणके हेतु कहे गये हैं—

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः॥

सभी पुराणोंने यज्ञोंके यथासम्भव सम्पादनपर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञोंका फल केवल इहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठानसे देवों, ऋषियों, दैत्यों, नागों, किन्नरों, मनुष्यों तथा सभीको अपने अभीष्ट कामनाओंकी प्राप्ति ही नहीं हुई है, प्रत्युत उनका सर्वाङ्गीण अभ्युदय भी हुआ है। अतः इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है।

व्रतोपवास

शास्त्रोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये यज्ञ, तपस्या, तीर्थसेवन, दान आदि अनेक साधन बताये गये हैं। उनमेंसे एक साधन व्रतोपवास भी है। इसकी बड़ी महिमा है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये व्रतोपवास आवश्यक हैं। इससे बुद्धि, विचार और ज्ञान-तन्तु विकसित होते हैं। शरीरके अन्तस्तलमें परमात्माके प्रति भक्ति, श्रद्धा और तल्लीनताका संचार होता है। पारमार्थिक लाभके साथ-साथ व्रतोपवाससे लौकिक लाभ भी होते हैं। व्यापार, व्यवसाय, कला-कौशल, शास्त्रानुसंधान और उत्साहपूर्वक व्यवहार-कुशलताका सफल सम्पादन किये जानेमें मन निगृहीत रहता है, जिससे सुखमय दीर्घजीवनके आरोग्य-साधनोंका स्वतः संचय हो जाता है।

यद्यपि रोग भी पाप हैं और ऐसे पाप व्रतोंसे दूर होते ही हैं तथापि *कायिक, वाचिक, मानसिक* और *सांसर्गिक* पाप, उपपाप, महापापादि भी व्रतोपवाससे दूर होते हैं। उनके समूल नाशका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि व्रतारम्भके पूर्व पापयुक्त प्राणियोंका मुख हतप्रभ रहता है और व्रतकी समाप्ति होते ही वह सूर्योदयके कमलकी भाँति खिल उठता है। पुण्य-प्राप्तिके लिये किसी पुण्यतिथिमें उपवास करने या किसी उपवासके कर्मानुष्ठानद्वारा पुण्य संचय करनेके सङ्कल्पको व्रत कहा जाता है। यम-नियम और शम-दम आदिका पालन, भोजन आदिका परित्याग अथवा जल-फल आदिपर रहना तथा समस्त भोगोंका त्याग करना—ये सब व्रतके अन्तर्गत समाहित होते हैं। शास्त्रोक्त नियम ही व्रत कहे जाते हैं। व्रतीको शारीरिक संताप सहन करना पड़ता है; इसीलिये इसे तप भी कहा जाता है। इन्द्रिय-निग्रहको दम और मनोनिग्रहको शम कहा गया है। व्रतमें इन्द्रियोंका नियमन (संयम) करना होता है; इसलिये इसे नियम भी कहते हैं। क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रिय-संयम, देवपूजा, हवन, संतोष और चोरीका अभाव—इन दस नियमोंका पालन सामान्यतः सभी व्रतोंमें आवश्यक माना गया है—

क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहरणं संतोषोऽस्तेयमेव च॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः।
(अग्नि० १७५। १०-११)

सभी पापोंसे उपावृत (निवृत्त) होकर सब प्रकारके भोगोंका त्याग करते हुए सद्गुणोंके साथ वास करना ही उपवास कहलाता है। उपवास करनेवाले व्रतीको स्नान आदि क्रियासे शुद्ध होकर देव, गुरु, ब्राह्मण, साधु, गौकी पूजा, सत्सङ्ग-सेवन, भगवत्कथा-श्रवण तथा दान-पुण्य आदिके कार्य अवश्य करने चाहिये।

जल, फल, मूल, दधि, हवि, ब्राह्मणकी इच्छा, ओषधि और गुरु (पूज्यजनों)-के वचन—इन आठसे व्रत नहीं बिगड़ते। होमावशिष्ट खीर, भिक्षान्न, सत्तू, कण (गौरैड़ या तृणपुष्प), यावक (जौ), शाक, गोदुग्ध, दही, घी, मूल, *आम, अनार, नारंगी* और कदलीफल आदि खानेयोग्य हविष्य हैं।

व्रतीको तामसी वस्तुओंका सेवन, स्त्री-सम्पर्क तथा अलङ्करण एवं शृङ्गारके साधनोंसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। बार-बार जल पीने, दिनमें शयन करने तथा मैथुनादि-सहवाससे व्रत दूषित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे भी हो पवित्र रहते हुए अपने सङ्कल्पित व्रतका अनुष्ठान करता रहे, इसीमें परम कल्याण है।

यथाविधि व्रत करके उसके पूर्ण हो जानेपर उद्यापन करना चाहिये। व्रतीको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि व्रतारम्भके बाद यदि क्रोध, लोभ, मोह या आलस्यवश उसे अधूरा छोड़ दे तो तीन दिन अन्नका त्याग कर पुनः व्रतारम्भ करे।* व्रतमें तथा तीर्थयात्रा और श्राद्धमें दूसरेका अन्न लेनेसे जिसका अन्न होता है, उसीको उसका पुण्य प्राप्त हो जाता है।

आपत्तिमें अथवा अशक्यताकी स्थितिमें व्रतादि धर्मकार्य स्वयं न कर सके तो पति, पत्नी, पुत्र, पुरोहित, भाई या मित्रसे प्रतिनिधिके रूपमें कराया जा सकता है। उपर्युक्त प्रतिनिधि प्राप्त न हों तो यह कार्य ब्राह्मणद्वारा भी सम्पन्न हो सकता है।

यहाँपर प्रत्येक मासमें किये जानेवाले प्रधान-प्रधान व्रतोंकी एक तालिका दी जा रही है। व्रतोंकी पूर्ण विधिके ज्ञानादिके लिये व्रतग्रन्थों तथा पुराणों और पूजापद्धतियोंको देखना चाहिये—

१-चैत्र—संवत्सरप्रतिपदाव्रत, अरुन्धतीव्रत, सूर्यषष्ठी, रामनवमी, हनुमज्जयन्ती, अशून्यशयनव्रत, भर्तृद्वादशी।

२-वैशाख—अक्षयतृतीया, निम्बसप्तमी, गङ्गासप्तमी, परशुरामजयन्ती।

३-ज्येष्ठ—वटसावित्री, निर्जला एकादशी, गङ्गादशहरा।

४-आषाढ़—हरिशयनी एकादशी, स्कन्दषष्ठी, सूर्यसप्तमी, व्यासपूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा)।

५-श्रावण—नागपञ्चमी, दूर्वाष्टमी, श्रावणी पूर्णिमा।

---

* क्रोधात्प्रमादाल्लोभाद्वा व्रतभङ्गो भवेद्यदि। दिनत्रयं न भुञ्जीत शिरसो मुण्डनं भवेत्॥ (ग० पु० आ० १२८। १९)

६-भाद्रपद—हरितालिका, गणेशचतुर्थी, ऋषि-पञ्चमी, मुक्ताभरणसप्तमी, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, वामनद्वादशी, अनन्तचतुर्दशी, अगस्त्यव्रत।

७-आश्विन—उपाङ्गललिता, महालय, देवीनवरात्र, विजयादशमी, शरत्पूर्णिमा।

८-कार्तिक—करवाचौथ (कर्कचतुर्थी), धनत्रयोदशी, नरकचतुर्दशी, दीपावली, गोवर्द्धन (अन्नकूट), यमद्वितीया, भीष्मपञ्चक-व्रत, हरिबोधिनी, वैकुण्ठचतुर्दशी, कार्त्तिकी पूर्णिमा, मनोरथपूर्णिमा।

९-मार्गशीर्ष—कालभैरवाष्टमी, दत्तजयन्ती।

१०-पौष—भद्राष्टमी, मकरसंक्रान्ति।

११-माघ—वसन्तपञ्चमी, अचलासप्तमी, भीष्माष्टमी।

१२-फाल्गुन—महाशिवरात्रि, होलिका आदि।

इन सभी व्रतोपवासोंमें व्यक्तिको सात्त्विकताका आश्रयण कर अपने त्रिविध तापोंको दूर करनेके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, विशेषत: भगवत्प्रीतिके लिये ही इनका अनुष्ठान करना चाहिये। इनके अनुष्ठानसे परम कल्याण होता है, बुद्धि निर्मल हो जाती है, विचारोंमें सत्त्वगुणका उद्रेक होता है तथा विवेकशक्ति प्राप्त होती है। सत्-असत्का निर्णय स्वत: होने लगता है और अन्तमें सन्मार्गमें प्रवृत्त होते हुए कर्ता या अनुष्ठाता लौकिक तथा पारलौकिक सुखोंको प्राप्त करता है। इसीलिये व्रतोपवासकी महिमा बताते हुए कहा गया है कि व्रतोपवासके अनुष्ठानसे पापोंका प्रशमन होता है, ईप्सित फलोंकी प्राप्ति होती है, देवताओंका आश्रयण प्राप्त होता है। व्रतीपर देवता अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और वे अपने अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त करते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। जो व्यक्ति निर्दिष्ट विधिसे व्रतोपवासका अनुष्ठान करते हैं, वे संसारमें सभी दु:खोंसे रहित होते हैं और स्वर्गलोकमें ऐश्वर्यका भोग करते हुए देवताओंद्वारा सम्मान प्राप्त करते हैं।

दान

मनुष्यके जीवनमें दानका अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है, यह एक प्रकारका नित्यकर्म है। मनुष्यको प्रतिदिन कुछ दान अवश्य करना चाहिये—

'श्रद्धया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्'

दान चाहे श्रद्धासे दे अथवा लज्जासे दे या भयसे दे, परंतु दान किसी भी प्रकार अवश्य देना चाहिये। मानवजातिके लिये दान परम आवश्यक है। दानके बिना मानवकी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। इस प्रसङ्गमें एक कथा आती है—एक बार देवता, मनुष्य और असुर तीनोंकी उन्नति अवरुद्ध हो गयी। अत: वे सब प्रजापति पितामह ब्रह्माजीके पास गये और अपना दु:ख दूर करनेके लिये उनसे प्रार्थना करने लगे। प्रजापति ब्रह्माने तीनोंको मात्र एक अक्षरका उपदेश दिया—'द'। स्वर्गमें भोगोंके बाहुल्यसे भोग ही देवलोकका सुख माना गया है, अत: देवगण कभी वृद्ध न होकर सदा इन्द्रिय-भोग भोगनेमें लगे रहते हैं। उनकी इस अवस्थापर विचारकर प्रजापतिने देवताओंको 'द' के द्वारा 'दमन'—इन्द्रिय-दमनका उपदेश दिया। ब्रह्माजीके इस उपदेशसे देवगण अपनेको कृतकृत्य मानकर उन्हें प्रणाम कर वहाँसे चले गये।

असुर स्वभावसे ही हिंसा-वृत्तिवाले होते हैं, क्रोध और हिंसा उनका नित्यका व्यापार है, अतएव प्रजापतिने उन्हें इस दुष्कर्मसे छुड़ानेके लिये 'द' के द्वारा जीवमात्रपर 'दया' करनेका उपदेश दिया। असुरगण ब्रह्माकी इस आज्ञाको शिरोधार्यकर वहाँसे चले गये।

मनुष्य, कर्मयोनि होनेके कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थसंग्रहमें ही लगे रहते हैं। इसलिये प्रजापतिने लोभी मनुष्योंको 'द' के द्वारा उनके कल्याणके लिये 'दान' करनेका उपदेश किया। मनुष्यगण भी प्रजापतिकी आज्ञाको स्वीकारकर सफल-मनोरथ होकर, उन्हें प्रणाम कर वहाँसे चले गये। अत: मानवको अपने अभ्युदयके लिये दान अवश्य करना चाहिये।

'विभवो दानशक्तिश्च महतां तपसां फलम्।'

विभव और दान देनेकी सामर्थ्य अर्थात् मानसिक उदारता—ये दोनों महान् तपके ही फल हैं। विभव होना तो सामान्य बात है। यह तो कहीं भी हो सकता है, पर उस विभवको दूसरोंके लिये देना यह मनकी उदारतापर ही निर्भर करता है, जो जन्म-जन्मान्तरके पुण्य-पुञ्जसे (श० पे०)

महाराज युधिष्ठिरके समयकी एक घटना है—किन्हीं ब्राह्मण देवताके पिताका देहान्त हो गया। उनके मनमें यह भाव आया कि मैं अपने पिताका दाह-संस्कार चन्दनकी चितापर करूँ, पर उनके पास चन्दनकी लकड़ीका सर्वथा अभाव था। वे राजा युधिष्ठिरके पास गये और उन्होंने उनसे सारा वृत्तान्त बताकर पिताके दाह-संस्कारके निमित्त चन्दन-काष्ठकी याचना की। महाराज युधिष्ठिरके पास चन्दन-काष्ठकी कोई कमी नहीं थी तथा ऐसे समय वे उन ब्राह्मणको देना भी चाहते थे, परंतु उस समय अनवरत वर्षा होनेके कारण सम्पूर्ण काष्ठ भीग चुके थे। गीली लकड़ीसे दाह-संस्कार नहीं हो सकता था, अतः उन्हें वहाँसे निराश लौटना पड़ा। इसके अनन्तर वे इसी कार्यके निमित्त राजा कर्णके पास पहुँचे। राजा कर्णके सामने भी ठीक वही परिस्थिति थी। अनवरत वर्षाके कारण सम्पूर्ण काष्ठ गीले हो चुके थे, परंतु ब्राह्मणको पितृ-दाहके लिये चन्दनकी सूखी लकड़ीकी आवश्यकता थी। कर्णने यह निर्णय लिया कि उनका राज्यसिंहासन चन्दनकी लकड़ीसे बना हुआ है, जो एकदम सूखा है। अतः उन्होंने कारीगरोंको बुलाकर सिंहासनसे काष्ठ निकालनेका तत्काल आदेश दे दिया। इस प्रकार उन ब्राह्मणके पिताका दाह-संस्कार चन्दनकी चितापर सम्पन्न हो सका। चन्दनके काष्ठका सिंहासन महाराज युधिष्ठिरके पास भी था, पर यह सामयिक ज्ञान और मनकी उदारता उन्हें प्राप्त न थी, जिसके कारण वे इस दानसे वञ्चित रह गये और यह श्रेय कर्णको ही प्राप्त हो सका। इसीलिये कर्णको दानवीरकी उपाधि भी प्राप्त हुई।

शास्त्रोंमें दानके लिये स्थान, काल और पात्रका विस्तृत विचार किया गया है। दान किसी शुभ स्थानपर अर्थात् तीर्थ आदिमें शुभकालमें, अच्छे मुहूर्तमें सत्पात्रको देना चाहिये। यद्यपि यह विचार सर्वथा उचित है, परंतु अनवसरमें भी यदि अवसर प्राप्त हो जाय तो भी दानका अपना एक वैशिष्ट्य है—जिस पात्रको आवश्यकता है, जिस स्थानपर आवश्यकता है और जिस कालमें आवश्यकता है, उसी क्षण दान देनेका एक अपना विशेष महत्त्व है। विशेष आपत्तिकालमें तत्क्षण पीड़ित समुदायको अन्न, आवास, भूमि आदिकी जो सहायता प्रदान की जाती है, वह इसी कोटिका दान है। यह दान व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकारसे होता है। शास्त्रों तथा पुराणोंमें दानके विभिन्न स्वरूप वर्णित हैं—

(१) दैनिक जीवनमें जिस प्रकार व्यक्तिके द्वारा और सत्कर्म सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दान भी नित्य-नियमपूर्वक करना चाहिये। इस प्रकारके दानमें अन्न-दानका विशेष महत्त्व बताया गया है।

(२) विभिन्न पर्वोंपर तथा विशेष अवसरोंपर जो दान दिये जाते हैं, उन्हें नैमित्तिक दान कहते हैं, शास्त्र-पुराणोंमें इसकी विस्तारपूर्वक व्यवस्था बतायी गयी है। जैसे सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहणके समय ताम्र अथवा रजतपात्रमें काले तिल, स्वर्ण तथा द्रव्यादिका दान। एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति तथा व्यतीपात आदि पुण्यकालमें विशेषरूपसे दानका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इनमें अन्नदान, द्रव्यदान, स्वर्णदान, भूमिदान तथा गोदान आदिका विशेष महत्त्व है।

(३) वेद-पुराणोंमें कुछ ऐसे दानोंका भी वर्णन है, जो मनुष्यकी कामनाओंकी पूर्तिके लिये किये जाते हैं, जिनमें तुलादान, गोदान, भूमिदान, स्वर्णदान, घटदान आदि अष्ट, दश तथा षोडश महादान परिगणित हैं—ये सभी प्रकारके दान काम्य होते हुए भी यदि निःस्वार्थ-भावसे भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके निमित्त भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जायँ तो वे ब्रह्मसमाधिमें परिणत होकर भगवत्प्राप्ति करानेमें विशेष सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

(४) कुछ दान बहुजनहिताय, बहुजनसुखायकी भावनासे सर्वसाधारणके हितमें करनेकी परम्परा है। देवालय, विद्यालय, औषधालय, भोजनालय (अन्नक्षेत्र), अनाथालय, गोशाला, धर्मशाला, कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि सर्वजनोपयोगी स्थानोंका निर्माण आदि कार्य यदि न्यायोपार्जित द्रव्यसे बिना यशकी कामनासे भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ तो परमकल्याणकारी सिद्ध होंगे।

सामान्यतः न्यायपूर्वक अर्जित किये हुए धनका दशमांश बुद्धिमान् मनुष्यको दान-कार्यमें ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये लगाना चाहिये—

न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमता।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईशप्रीत्यर्थमेव च॥

(स्कन्दपुराण, केदारखण्ड १२। ३५)

अन्यायपूर्वक अर्जित धनका दान करनेसे कोई पुण्य नहीं होता। यह बात '**न्यायोपार्जितवित्तस्य**' इस वचनसे स्पष्ट होती है। दान देनेका अभिमान तथा लेनेवालेपर किसी प्रकारके उपकारका भाव न उत्पन्न हो, इसके लिये इस श्लोकमें '**कर्तव्यः**' पदका प्रयोग हुआ है, अर्थात् 'धनका इतना हिस्सा दान करना' यह मनुष्यका कर्तव्य है। मानवका मुख्य लक्ष्य है—ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त करना। अतः दानरूप कर्तव्यका पालन करते हुए भगवत्प्रीतिको बनाये रखना भी आवश्यक है। इसीलिये '**कर्तव्यो विनियोगश्च ईशप्रीत्यर्थमेव च**' इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है। यदि किसी व्यक्तिके पास एक हजार रुपये हों, उसमेंसे यदि उसने एक सौ रुपये दान कर दिये तो बचे हुए ९०० रुपयोंमें ही उसका ममत्व और आसक्ति रहेगी। इस प्रकार दान ममता या आसक्तिको कम करके अन्तःकरणकी शुद्धिरूप प्रत्यक्ष (दृष्ट) फल प्रदान करता है और शास्त्र-प्रमाणानुसार वैकुण्ठलोककी प्राप्तिरूप अप्रत्यक्ष (अदृष्ट) फल भी प्रदान करता है।

उपार्जित धनके दशमांशका दान करनेका यह विधान सामान्य कोटिके मानवोंके लिये किया गया है, पर जो व्यक्ति वैभवशाली, धनी और उदारचेता हैं, उन्हें तो अपने उपार्जित धनको पाँच भागोंमें विभक्त करना चाहिये—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

(१) धर्म, (२) यश, (३) अर्थ (व्यापार आदि आजीविका), (४) काम (जीवनके उपयोगी भोग), (५) स्वजन (परिवार)-के लिये। इस प्रकार पाँच प्रकारसे धनका विभाग करनेवाला इस लोकमें और परलोकमें भी आनन्दको प्राप्त करता है।

यहाँ व्यापार आदि आजीविकाके लिये धनका विभाग इसलिये किया गया है कि जिससे जीविकाके साधनोंका विनाश न हो; क्योंकि भागवतमें यह स्पष्ट कहा गया है कि जिस सर्वस्व-दानसे जीविका भी नष्ट हो जाती हो, बुद्धिमान् पुरुष उस दानकी प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि जीविकाका साधन बने रहनेपर ही मनुष्य दान, यज्ञ, तप आदि शुभकर्म करनेमें समर्थ होता है—

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः॥

जो मनुष्य अत्यन्त निर्धन हैं, अनावश्यक एक पैसा भी खर्च नहीं करते तथा अत्यन्त कठिनाईपूर्वक अपने परिवारका भरण-पोषण कर पाते हैं, ऐसे लोगोंके लिये दान करनेका विधान शास्त्र नहीं करते। इतना ही नहीं, यदि पुण्यके लोभसे अवश्य पालनीय वृद्ध माता-पिताका तथा साध्वी पत्नी और छोटे बच्चोंका पालन न करके उनका पेट काटकर जो दान करते हैं, उन्हें पुण्य नहीं प्रत्युत पापकी ही प्राप्ति होती है—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः॥

जो धनी व्यक्ति अपने स्वजन—परिवारके लोगोंके दुःखपूर्वक जीवित रहनेपर उनका पालन करनेमें समर्थ होनेपर भी पालन न कर दूसरोंको दान देता है, वह दान मधुमिश्रित विष-सा स्वादप्रद है और धर्मके रूपमें अधर्म है।

शास्त्रोंमें दानके सम्बन्धमें तो यहाँतक कहा गया है कि जितनेमें पेट भर जाता है, उतनेमें ही मनुष्यका अधिकार है; उससे अधिकमें जो अधिकार मानता है, वह चोर है, दण्डका भागी है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

तीर्थ

भगवान्‌के अवतारोंके प्राकट्य-स्थल, ब्रह्मा आदि विशिष्ट देवताओंकी यज्ञ-भूमियाँ और क्षेत्र, विशिष्ट नदियोंके

सङ्गम एवं पवित्र वन, पर्वत, देवखात, झील, झरने तथा प्रभावशाली संत, भक्त, ऋषि-मुनि-महात्माओंकी तप:स्थलियाँ और साधनाके क्षेत्र आदि तीर्थ कहे जाते हैं। तीर्थोंमें जानेसे सत्सङ्गके साथ-साथ वहाँके पूर्वोक्त सभी तत्त्वोंके सूक्ष्म तेजस्वी संस्कार उपलब्ध होते हैं। इससे पाप नष्ट होकर पुण्योंका संचय होता है—

प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

'श्रद्धा-विश्वाससे तीर्थका फल बढ़ता है। तीर्थमें जाने तथा रहनेवालेको प्रतिग्रह, काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, परनिन्दा और ईर्ष्या-द्वेषसे बचना चाहिये। तीर्थोंमें पाप करनेसे पापकी वृद्धि होती है। अतः पापसे सर्वथा दूर रहना चाहिये।'

भारतके चारों धाम और सातों पुरियोंकी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके जन्म एवं आवास-स्थल होनेसे तथा बदरिकाश्रम, रामेश्वरम् आदि धामोंकी नर-नारायणके तपस्या करने तथा भगवान् श्रीराम आदिद्वारा देव-स्थापन करनेसे अत्यन्त महत्ता है। गङ्गा आदि नदियाँ नाम लेनेसे ही साधकको तार देती हैं। इसी प्रकार पुष्कर, मानसरोवर आदि ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हुए हैं और उनके द्वारा यज्ञ आदि करनेके कारण वे महान् तीर्थ हैं। जिसका शरीर और मन संयत होता है, उसे तीर्थोंका विशेष फल मिलता है। अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा यज्ञ करने, कुरुके द्वारा तप करने तथा भगवान् श्रीकृष्णके गीतोपदेशसे कुरुक्षेत्रकी विशेषता हुई है।

गणपति आदि देवता एवं ऋषि-मुनि, पितर, संत, ब्राह्मणोंका स्मरण-पूजन करके तीर्थयात्राका शुभारम्भ करना चाहिये और यान आदिका आश्रय छोड़कर शुद्धभावसे धर्माचरणको बढ़ाते हुए तीर्थोंमें निवास करना चाहिये।

नदीरूप तीर्थ—देवनदी गङ्गा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, सरयू, गोमती, शिप्रा, रामगङ्गा, सिन्धु, कावेरी, पयोष्णी, गण्डकी, तमसा, कृतमाला, साबरमती, चन्द्रभागा, इरावती आदि पुण्यसलिला नदियाँ तीर्थरूप हैं। शास्त्रोंमें इनकी विशेष महिमा बतायी गयी है। यथाशक्ति यथाविधि इन तीर्थोंमें स्नान-मार्जन आदि करके पुण्यार्जन करना चाहिये। नित्य दैनिक चर्याके साथ ही संस्कारोंकी सुसम्पन्नताके लिये नदीरूप तीर्थोंकी विशेष महिमा है।

भारतके पवित्र कुल-पर्वत—पुराणोंके अनुसार नदियोंकी तरह पर्वतोंको भी पूज्य एवं आदरणीय बताया गया है। दक्षिण भारतके वेंकटगिरि और श्रीशैलको साक्षात् नारायणरूप माना गया है। स्कन्दपुराणमें नारायणगिरि, शालग्रामपर्वत, अरुणाचल, सिंहाचल, सुमेरु, मन्दर, हिमवान्, विन्ध्याचल, चित्रकूट, पारिजात, अञ्जनगिरि आदि सभीको भगवान्का रूप निरूपित किया गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें पर्वतोंकी पूजा-विषयक सम्पूर्ण सामग्री दी गयी है। स्कन्दपुराणमें अरुणाचल पर्वतको साक्षात् शिवका रूप कहा गया है—

'तत्र देवः स्वयं शम्भुः पर्वताकारतां गतः।'

(स्कन्द०अरु०मा०उत्त० ४।१२)

व्रजमें गिरिराज पर्वतकी महत्ता भी सर्वविदित है, जिनकी पूजा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने व्रजवासियोंके साथ की थी तथा स्वयं गिरिराजरूप धारण किया था। आज भी सहस्रों नर-नारी गिरिराज पर्वतको साक्षात् भगवद्रूप मानकर परिक्रमा और पूजन करते हैं।

इस प्रकार पर्वतोंका देवता-रूप या भगवान्का स्वरूप होना सिद्ध होता है। उनकी पूजाकी परम्परा भी सृष्टिके आरम्भसे ही चली आयी है। हिमालय, विन्ध्याचल, पारिजात, मलयगिरि, महेन्द्राचल, शुक्तिमान्, चित्रकूट, ऋक्षवान्, सह्याचल, ऋष्यमूक, श्रीशैल, अरुणाचल, कामगिरि, गोवर्धन आदि यहाँके मुख्य पर्वत हैं, जिनकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा बतायी गयी है।

इन पर्वतोंके अतिरिक्त भारतमें अन्य भी मङ्गल-प्रस्थ, ऋषभगिरि, कूटगिरि, कोलाचल, वारिधार, ककुद्गिरि, नीलगिरि आदि सहस्रों पर्वत हैं, जो पवित्र एवं स्मरणीय हैं।

मोक्षदायिनी पुरियाँ—शास्त्रोंमें मुक्तिके पाँच मुख्य कारण बतलाये गये हैं। इनमें ब्रह्मज्ञान प्रथम हेतु है। द्वितीय है भक्तिद्वारा भगवत्कृपाकी प्राप्ति। तृतीय है अपने पुत्र-

पौत्रादिकों, गोत्रजों, कुटुम्बियों तथा अन्य व्यक्तियोंद्वारा गया आदि तीर्थोंमें सम्पादित श्राद्ध-कर्म। चौथा है धर्मयुद्ध तथा गोरक्षा आदिमें हुई मृत्यु। पाँचवाँ है कुरुक्षेत्र आदि प्रधान तीर्थों और सात प्रधान मोक्षदायिनी पुरियोंमें निवासपूर्वक शरीर-त्याग। शास्त्रोंमें तीर्थोंके माहात्म्यको विस्तारसे बतलाया गया है। यद्यपि सभी तीर्थ उत्तम फलोंके देनेवाले एवं सेव्य हैं तथापि अपने वैशिष्ट्यके कारण ये पुरियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्तिका, द्वारावती—ये सात पुरियाँ मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं। इसीलिये गरुडपुराण (२।४९।११४)-में कहा गया है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

चार धाम—भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें चार धाम अवस्थित हैं। उत्तरमें बदरीनाथ, दक्षिणमें रामेश्वरम्, पूर्वमें जगन्नाथपुरी तथा पश्चिममें द्वारकापुरी—इन चारों धामोंकी यात्रा हो जानेपर तीर्थयात्रा पूर्ण मानी जाती है।

मानस-तीर्थका महत्त्व

एक बार अगस्त्यजीने लोपामुद्रासे कहा—निष्पापे! मैं उन मानस-तीर्थोंका वर्णन करता हूँ जिन तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है, उसे सुनो। सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-संयम, सब प्राणियोंके प्रति दया, सरलता, दान, मनका दमन, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धृति और तपस्या—ये प्रत्येक एक-एक तीर्थ हैं। इनमें ब्रह्मचर्य परमतीर्थ है। मनकी परमविशुद्धि तीर्थोंका भी तीर्थ है। जलमें डुबकी मारनेका नाम ही स्नान नहीं है, जिसने इन्द्रिय-संयमरूप स्नान किया है, वही स्नात है और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही पवित्र है।

जो लोभी, चुगलखोर, निर्दय, दम्भी और विषयोंमें आसक्त है, वह सारे तीर्थोंमें भलीभाँति स्नान कर लेनेपर भी पापी और मलिन ही है। शरीरका मैल उतारनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता, मनके मलको निकाल देनेपर ही भीतरसे सुनिर्मल होता है। जल-जन्तु जलमें ही पैदा होते हैं और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनके मनका मल नहीं धुलता। विषयोंमें अत्यन्त राग ही मनका मल है और विषयोंसे वैराग्य ही निर्मलता है। चित्त अन्तरकी वस्तु है, उसके दूषित रहनेपर केवल तीर्थ-स्नानसे शुद्धि नहीं होती। जैसे सुराभाण्डको चाहे सौ बार जलसे धोया जाय, वह अपवित्र ही है, वैसे ही जबतक मनका भाव शुद्ध नहीं है, तबतक उसके लिये दान, यज्ञ, शौच, तप, तीर्थसेवन और स्वाध्याय—सभी अतीर्थ ही हैं। जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं, वह मनुष्य जहाँ रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ विद्यमान हैं। ध्यानसे विशुद्ध हुए, राग-द्वेषरूपी मलका नाश करनेवाले ज्ञानजलमें जो स्नान करता है, वही परमगतिको प्राप्त करता है।*

संस्कार

वेद-पुराणों तथा धर्मशास्त्रोंमें संस्कारोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जैसे खानसे सोना, हीरा आदि निकलनेपर उसमें चमक-प्रकाश तथा सौन्दर्यके लिये

---

* शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे। येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते। ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्। तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते। स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः। सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः। मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः। न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते। तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुध्यति। शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः॥

सङ्गम एवं पवित्र वन, पर्वत, देवखात, झील, झरने तथा प्रभावशाली संत, भक्त, ऋषि-मुनि-महात्माओंकी तपःस्थलियाँ और साधनाके क्षेत्र आदि तीर्थ कहे जाते हैं। तीर्थोंमें जानेसे सत्सङ्गके साथ-साथ वहाँके पूर्वोक्त सभी तत्त्वोंके सूक्ष्म तेजस्वी संस्कार उपलब्ध होते हैं। इससे पाप नष्ट होकर पुण्योंका संचय होता है—

प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

'श्रद्धा-विश्वाससे तीर्थका फल बढ़ता है। तीर्थमें जाने तथा रहनेवालेको प्रतिग्रह, काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, परनिन्दा और ईर्ष्या-द्वेषसे बचना चाहिये। तीर्थोंमें पाप करनेसे पापकी वृद्धि होती है। अतः पापसे सर्वथा दूर रहना चाहिये।'

भारतके चारों धाम और सातों पुरियोंकी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके जन्म एवं आवास-स्थल होनेसे तथा बदरिकाश्रम, रामेश्वरम् आदि धामोंकी नर-नारायणके तपस्या करने तथा भगवान् श्रीराम आदिद्वारा देव-स्थापन करनेसे अत्यन्त महत्ता है। गङ्गा आदि नदियाँ नाम लेनेसे ही साधकको तार देती हैं। इसी प्रकार पुष्कर, मानसरोवर आदि ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हुए हैं और उनके द्वारा यज्ञ आदि करनेके कारण वे महान् तीर्थ हैं। जिसका शरीर और मन संयत होता है, उसे तीर्थोंका विशेष फल मिलता है। अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा यज्ञ करने, कुरुके द्वारा तप करने तथा भगवान् श्रीकृष्णके गीतोपदेशसे कुरुक्षेत्रकी विशेषता हुई है।

गणपति आदि देवता एवं ऋषि-मुनि, पितर, संत, ब्राह्मणोंका स्मरण-पूजन करके तीर्थयात्राका शुभारम्भ करना चाहिये और यान आदिका आश्रय छोड़कर शुद्धभावसे धर्माचरणको बढ़ाते हुए तीर्थोंमें निवास करना चाहिये।

नदीरूप तीर्थ—देवनदी गङ्गा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, सरयू, गोमती, शिप्रा, रामगङ्गा, सिन्धु, कावेरी, पयोष्णी, गण्डकी, तमसा, कृतमाला, साबरमती, चन्द्रभागा, इरावती आदि पुण्यसलिला नदियाँ तीर्थरूप हैं। शास्त्रोंमें इनकी विशेष महिमा बतायी गयी है।

यथाशक्ति यथाविधि इन तीर्थोंमें स्नान-मार्जन आ करके पुण्यार्जन करना चाहिये। नित्य दैनिक चर्याके सा ही संस्कारोंकी सुसम्पन्नताके लिये नदीरूप तीर्थोंकी विशे महिमा है।

भारतके पवित्र कुल-पर्वत—पुराणोंके अनु नदियोंकी तरह पर्वतोंको भी पूज्य एवं आदरणीय बता गया है। दक्षिण भारतके वेंकटगिरि और श्रीशैलको साक्ष नारायणरूप माना गया है। स्कन्दपुराणमें नारायणगि शालग्रामपर्वत, अरुणाचल, सिंहाचल, सुमेरु, मन्दर, हिमवा विन्ध्याचल, चित्रकूट, पारिजात, अञ्जनगिरि आदि सभी भगवान्‌का रूप निरूपित किया गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण पर्वतोंकी पूजा-विषयक सम्पूर्ण सामग्री दी गयी स्कन्दपुराणमें अरुणाचल पर्वतको साक्षात् शिवका स्व कहा गया है—

'तत्र देवः स्वयं शम्भुः पर्वताकारतां गतः।'
(स्कन्द० अरु० मा० उत्त० ४।१

व्रजमें गिरिराज पर्वतकी महत्ता भी सर्वविदित जिनकी पूजा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने व्रजवासियोंके स की थी तथा स्वयं गिरिराजरूप धारण किया था। अ भी सहस्रों नर-नारी गिरिराज पर्वतको साक्षात् भगवद् मानकर परिक्रमा और पूजन करते हैं।

इस प्रकार पर्वतोंका देवता-रूप या भगवान् स्वरूप होना सिद्ध होता है। उनकी पूजाकी परम्परा सृष्टिके आरम्भसे ही चली आयी है। हिमाल विन्ध्याचल, पारिजात, मलयगिरि, महेन्द्राचल, शुक्तिमा चित्रकूट, ऋक्षवान्, सह्याचल, ऋष्यमूक, श्रीशै अरुणाचल, कामगिरि, गोवर्धन आदि यहाँके मुख्य पर्व हैं, जिनकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा बतायी गयी है।

इन पर्वतोंके अतिरिक्त भारतमें अन्य भी मङ्गल प्रस्थ, ऋषभगिरि, कूटगिरि, कोलाचल, वारिधार, ककुद्‌गि नीलगिरि आदि सहस्रों पर्वत हैं, जो पवित्र एवं स्मरणीय

मोक्षदायिनी पुरियाँ—शास्त्रोंमें मुक्तिके पाँच मुख्य कारण बतलाये गये हैं। इनमें ब्रह्मज्ञान प्रथम हेतु है। द्विती है भक्तिद्वारा भगवत्कृपाकी प्राप्ति। तृतीय है अपने पुत्र

पौत्रादिकों, गोत्रजों, कुटुम्बियों तथा अन्य व्यक्तियोंद्वारा गया आदि तीर्थोंमें सम्पादित श्राद्ध-कर्म। चौथा है धर्मयुद्ध तथा गोरक्षा आदिमें हुई मृत्यु। पाँचवाँ है कुरुक्षेत्र आदि प्रधान तीर्थों और सात प्रधान मोक्षदायिनी पुरियोंमें निवासपूर्वक शरीर-त्याग। शास्त्रोंमें तीर्थोंके माहात्म्यको विस्तारसे बतलाया गया है। यद्यपि सभी तीर्थ उत्तम फलोंके देनेवाले एवं सेव्य हैं तथापि अपने वैशिष्ट्यके कारण ये पुरियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्तिका, द्वारावती—ये सात पुरियाँ मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं। इसीलिये गरुडपुराण (२। ४९। ११४)-में कहा गया है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

चार धाम—भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें चार धाम अवस्थित हैं। उत्तरमें बदरीनाथ, दक्षिणमें रामेश्वरम्, पूर्वमें जगन्नाथपुरी तथा पश्चिममें द्वारकापुरी—इन चारों धामोंकी यात्रा हो जानेपर तीर्थयात्रा पूर्ण मानी जाती है।

मानस-तीर्थका महत्त्व

एक बार अगस्त्यजीने लोपामुद्रासे कहा—निष्पापे! मैं उन मानस-तीर्थोंका वर्णन करता हूँ जिन तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है, उसे सुनो। सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-संयम, सब प्राणियोंके प्रति दया, सरलता, दान, मनका दमन, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धृति और तपस्या—ये प्रत्येक एक-एक तीर्थ हैं। इनमें ब्रह्मचर्य परमतीर्थ है। मनकी परमविशुद्धि तीर्थोंका भी तीर्थ है। जलमें डुबकी मारनेका नाम ही स्नान नहीं है, जिसने इन्द्रिय-संयमरूप स्नान किया है, वही स्नात है और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही पवित्र है।

जो लोभी, चुगलखोर, निर्दय, दम्भी और विषयोंमें आसक्त है, वह सारे तीर्थोंमें भलीभाँति स्नान कर लेनेपर भी पापी और मलिन ही है। शरीरका मैल उतारनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता, मनके मलको निकाल देनेपर ही भीतरसे सुनिर्मल होता है। जल-जन्तु जलमें ही पैदा होते हैं और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनके मनका मल नहीं धुलता। विषयोंमें अत्यन्त राग ही मनका मल है और विषयोंसे वैराग्य ही निर्मलता है। चित्त अन्तरकी वस्तु है, उसके दूषित रहनेपर केवल तीर्थ-स्नानसे शुद्धि नहीं होती। जैसे सुराभाण्डको चाहे सौ बार जलसे धोया जाय, वह अपवित्र ही है, वैसे ही जबतक मनका भाव शुद्ध नहीं है, तबतक उसके लिये दान, यज्ञ, शौच, तप, तीर्थसेवन और स्वाध्याय—सभी अतीर्थ ही हैं। जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं, वह मनुष्य जहाँ रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ विद्यमान हैं। ध्यानसे विशुद्ध हुए, राग-द्वेषरूपी मलका नाश करनेवाले ज्ञानजलमें जो स्नान करता है, वही परमगतिको प्राप्त करता है।*

संस्कार

वेद-पुराणों तथा धर्मशास्त्रोंमें संस्कारोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जैसे खानसे सोना, हीरा आदि निकलनेपर उसमें चमक-प्रकाश तथा सौन्दर्यके लिये

---

* शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे। येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते। ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्। तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते। स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः। सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः। मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः। न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते। तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुध्यति। शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः॥

उसे तपाकर, तराशकर मल हटाना एवं चिकना करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्यमें मानवीय शक्तिका आधान होनेके लिये उसे सुसंस्कृत होना आवश्यक है अर्थात् उसका पूर्णतः विधिपूर्वक संस्कार सम्पन्न करना चाहिये। वास्तवमें विधिपूर्वक संस्कार-साधनसे दिव्य ज्ञान उत्पन्न कर आत्माको परमात्माके रूपमें प्रतिष्ठित करना ही मुख्य संस्कार है और मानव-जीवन प्राप्त करनेकी सार्थकता भी इसीमें है।

संस्कारोंसे आत्मा—अन्तःकरण शुद्ध होता है। संस्कार मनुष्यको पाप और अज्ञानसे दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त करते हैं। संस्कार मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं—१-मलापनयन और २-अतिशयाधान। किसी दर्पण आदिपर पड़ी हुई धूल आदि सामान्य मलको वस्त्र आदिसे पोंछना-हटाना या स्वच्छ करना मलापनयन कहलाता है और फिर किसी रंग या तेजोमय पदार्थद्वारा उसी दर्पणको विशेष चमत्कृत या प्रकाशमय बनाना अतिशयाधान कहलाता है। अन्य शब्दोंमें इसे ही भावना, प्रतियत्न या गुणाधान-संस्कार कहा जाता है।

संस्कारोंकी संख्यामें विद्वानोंमें प्रारम्भसे ही कुछ मतभेद रहा है। गौतमस्मृतिमें ४८ संस्कार बतलाये गये हैं। महर्षि अङ्गिराने २५ संस्कार निर्दिष्ट किये हैं। पुराणोंमें भी विविध संस्कारोंका उल्लेख है, परंतु उनमें मुख्य तथा आवश्यक षोडश संस्कार माने गये हैं। महर्षि व्यासद्वारा प्रतिपादित प्रमुख षोडश संस्कार इस प्रकार हैं[1]—१-गर्भाधान, २-पुंसवन, ३-सीमन्तोन्नयन, ४-जातकर्म, ५-नामकरण, ६-निष्क्रमण, ७-अन्नप्राशन, ८-वपन-क्रिया (चूडाकरण), ९-कर्णवेध, १०-व्रतादेश (उपनयन), ११-वेदारम्भ, १२-केशान्त (गोदान), १३-वेदस्नान (समावर्तन), १४-विवाह, १५-विवाहाग्नि-परिग्रह, १६-त्रेताग्निसंग्रह।

आगे इन्हीं सोलह संस्कारोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इनका आरम्भ जन्मसे पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। विशेष जानकारीके लिये गृह्यसूत्रों, मनु आदि स्मृतियोंके साथ पुराणोंका भी गम्भीर अवलोकन करना चाहिये।

(१) गर्भाधान-संस्कार—विधिपूर्वक संस्कारसे युक्त गर्भाधानसे अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है। इस संस्कारसे वीर्यसम्बन्धी तथा गर्भसम्बन्धी पापका नाश होता है, दोषका मार्जन तथा क्षेत्रका संस्कार होता है। यही गर्भाधान-संस्कारका फल है।[2] गर्भाधानके समय स्त्री-पुरुष जिस भावसे भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज-वीर्यमें भी पड़ता है। उस रज-वीर्यजन्य संतानमें भी वे भाव प्रकट होते हैं।[3] अतः शुभमुहूर्तमें शुभ मन्त्रसे प्रार्थना करके गर्भाधान करे। इस विधानसे कामुकताका दमन और शुभ-भावापन्न मनका सम्पादन हो जाता है। द्विजातिको गर्भाधानसे पूर्व पवित्र होकर इस मन्त्रसे प्रार्थना करनी चाहिये—

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

(बृहदारण्यक० ६।४।२१)

'हे सिनीवाली देवि! एवं हे विस्तृत जघनोंवाली पृथुष्टुका देवि! आप इस स्त्रीको गर्भ धारण करनेकी सामर्थ्य दें और उसे पुष्ट करें। कमलोंकी मालासे सुशोभित दोनों अश्विनीकुमार तेरे गर्भको पुष्ट करें।'

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवाश्रुतं तथा। सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः। तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥
ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥ (स्कन्द०, काशीख० ६।२९—४१)

१-गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रियाः॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः। केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः। (व्यासस्मृति १।१३—१५)

२-निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते। क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥ (स्मृतिसंग्रह)

३-आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥ (सुश्रु०, शारीरस्थान २।४६)
अर्थात् स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टासे संयुक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभावका होता है।

(२) पुंसवन-संस्कार—पुत्रकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें पुंसवन-संस्कारका विधान है। **'गर्भाद् भवेच्च पुंसूते पुंस्त्वरूपप्रतिपादनम्'** (स्मृतिसंग्रहे)। इस गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो, इसलिये पुंसवन-संस्कार किया जाता है। **'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः'** अर्थात् 'पुम्' नामक नरकसे जो त्राण (रक्षा) करता है, उसे पुत्र कहा जाता है। इस वचनके आधारपर नरकसे बचनेके लिये मनुष्य पुत्र-प्राप्तिकी कामना करते हैं। मनुष्यकी इस अभिलाषाकी पूर्तिके लिये ही शास्त्रोंमें पुंसवन-संस्कारका विधान मिलता है। जब गर्भ दो-तीन मासका होता है अथवा गर्भिणीमें गर्भके चिह्न स्पष्ट हो जाते हैं; तभी पुंसवन-संस्कारका विधान बताया गया है।

शुभ मङ्गलमय मुहूर्तमें माङ्गलिक पाठ करके गणेश आदि देवताओंका पूजन कर वटवृक्षके नवीन अङ्कुरों तथा पल्लवों और कुशकी जड़को जलके साथ पीसकर उस रसरूप ओषधिको पति गर्भिणीकी दाहिनी नाकसे पिलाये और पुत्रकी भावनासे—

ॐ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० १३।४)

—इत्यादि मन्त्रोंका पाठ करे। इन मन्त्रोंसे सुसंस्कृत तथा अभिमन्त्रित भाव-प्रधान नारीके मनमें पुत्रभावका प्रवाह प्रवाहित हो जाता है। जिसके प्रभावसे गर्भके मांस-पिण्डमें पुरुषके चिह्न उत्पन्न होते हैं।

पुंसवन-संस्कारका ही उपाङ्गभूत एक संस्कार होता है जो **'अनवलोभन'** कहलाता है। इस संस्कारका यह प्रयोजन है कि इससे गर्भस्थ शिशुकी रक्षा होती है और असमयमें गर्भ च्युत नहीं होने पाता। इसमें शिशुकी रक्षाके लिये सभी माङ्गलिक पूजन, हवनादि कार्योंके अनन्तर जल एवं ओषधियोंकी प्रार्थना की जाती है।

पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुराणोंमें पुंसवन नामक एक व्रत-विशेषका विधान भी बतलाया गया है, जो एक वर्षतक चलता है। स्त्रियाँ पतिकी आज्ञासे ही इस व्रतका सङ्कल्प लेती हैं। भागवतके छठे स्कन्ध, अध्याय १८-१९ में बताया गया है कि महर्षि कश्यपकी आज्ञासे दितिने इन्द्रके वधकी क्षमता रखनेवाले पुत्रकी कामनासे यह व्रत किया था।

(३) सीमन्तोन्नयन-संस्कार—गर्भके छठे या आठवें मासमें यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारका फल भी गर्भकी शुद्धि ही है। सामान्यतः गर्भमें ४ मासके बाद बालकके अङ्ग-प्रत्यङ्ग-हृदय आदि प्रकट हो जाते हैं। चेतनाका स्थान हृदय बन जानेके कारण गर्भमें चेतना आ जाती है। इसलिये उसमें इच्छाओंका उदय होने लगता है। वे इच्छाएँ माताके हृदयमें प्रतिबिम्बित होकर प्रकट होती हैं; जो 'दोहद' कहलाता है। गर्भमें जब मन तथा बुद्धिमें नूतन चेतनाशक्तिका उदय होने लगता है, तब इनमें जो संस्कार डाले जाते हैं, उनका बालकपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इस समय गर्भ शिक्षण-योग्य होता है। महाभक्त प्रह्लादको देवर्षि नारदजीका उपदेश तथा अभिमन्युको चक्रव्यूह-प्रवेशका उपदेश इसी समयमें मिला था। अतः माता-पिताको चाहिये कि इन दिनों विशेष सावधानीके साथ शास्त्रसम्मत व्यवहार रखें।

इस संस्कारमें घृतयुक्त यज्ञ-अवशिष्ट सुपाच्य पौष्टिक चरु (खीर) गर्भवती स्त्रीको खिलाया जाता है। संस्कारके दिन सुपाच्य पौष्टिक भोजनका विधान करके यह संकेत कर दिया गया है कि प्रसवपर्यन्त ऐसा ही सुपाच्य पौष्टिक भोजन देना चाहिये।

इस संस्कारमें पतिको शास्त्रवर्णित गूलर आदि वनस्पतिद्वारा गर्भिणीके सीमन्त (माँग)-का **'ॐ भूर्विनयामि, ॐ भुवर्विनयामि, ॐ स्वर्विनयामि'** मन्त्रसे पृथक्करणादि क्रियाएँ करते हुए यह मन्त्र पढ़ना चाहिये—

येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥

अर्थात् 'जिस प्रकार देवमाता अदितिका सीमन्तोन्नयन प्रजापतिने किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणीका सीमन्तोन्नयन करके इसके पुत्रको जरावस्थापर्यन्त दीर्घजीवी करता हूँ।' इसके बाद वृद्धा ब्राह्मणियोंद्वारा आशीर्वाद दिलाया जाता है।

(४) जातकर्म-संस्कार—इस संस्कारसे

जन्य सारा दोष नष्ट हो जाता है। बालकका जन्म होते ही यह संस्कार करनेका विधान है। नालछेदनसे पूर्व बालकको स्वर्णकी शलाकासे अथवा अनामिका अँगुलीसे असमान मात्रामें मधु तथा घृत चटाया जाता है। इसमें स्वर्ण त्रिदोष-नाशक है। घृत आयुवर्धक तथा वात-पित्तनाशक है एवं मधु कफनाशक है। इन तीनोंका सम्मिश्रण आयु, लावण्य और मेधाशक्तिको बढ़ानेवाला तथा पवित्रकारक होता है।

बालकके पिता अथवा आचार्यको बालकके कानके पास उसके दीर्घायुके लिये इस मन्त्रका पाठ करना चाहिये—

'अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि॥' (पारस्कर० १।१६।६)

'जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियोंद्वारा आयुष्यमान् हैं, उसी प्रकार उनके अनुग्रहसे मैं तुम्हें दीर्घ आयुसे युक्त करता हूँ।' ऐसे आठ आयुष्य-मन्त्रोंको बालकके कानके पास गम्भीरतापूर्वक जप कर उसके मनको उत्तम भावोंसे भावित करे। पुनः पिताद्वारा पुत्रके दीर्घायु होने तथा उसके कल्याणकी कामनासे 'ॐ दिवस्परि प्रथमं जज्ञे०' (यजु० १२। १८—२८) इत्यादि ग्यारह मन्त्रोंका पाठ करते हुए बालकके हृदय आदि सभी अङ्गोंका स्पर्श करनेका विधान है। इस संस्कारमें माँके स्तनोंको धोकर दूध पिलानेका विधान इसलिये किया गया है कि माँके रक्त और मांससे उत्पन्न बालकके लिये माँका दूध ही सर्वाधिक पोषक पदार्थ है।

(५) **नामकरण-संस्कार**—इस संस्कारका फल आयु तथा तेजकी वृद्धि एवं लौकिक व्यवहारकी सिद्धि बताया गया है।* जन्मसे दस रात्रिके बाद ग्यारहवें दिन या कुलक्रमानुसार सौवें दिन या एक वर्ष बीत जानेके बाद नामकरण-संस्कार करनेकी विधि है। पुरुष और स्त्रियोंका नाम किस प्रकारका रखा जाय, इन सारी विधियोंका वर्णन पुराणोंमें बताया गया है।

(६) **निष्क्रमण-संस्कार**—इस संस्कारका फल विद्वानोंने आयुकी वृद्धि बताया है—'निष्क्रमणादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः'। यह संस्कार बालकके चौथे या छठे मासमें होता है, सूर्य तथा चन्द्रादि देवताओंका पूजन कर बालकको उनके दर्शन कराना इस संस्कारकी मुख्य प्रक्रिया है। बालकका शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशसे बनता है। बालकका पिता इस संस्कारके अन्तर्गत आकाश आदि पञ्चभूतोंके अधिष्ठाता देवताओंसे बालकके कल्याणकी कामना करता है। यथा—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥
(अथर्ववेद ८।२।१४)

अर्थात् 'हे बालक! तेरे निष्क्रमणके समय द्युलोक तथा पृथिवीलोक कल्याणकारी, सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिये कल्याणकारी प्रकाश करें। तेरे हृदयमें स्वच्छ कल्याणकारी वायुका संचरण हो। दिव्य जलवाली गङ्गा-यमुना आदि नदियाँ तेरे लिये निर्मल स्वादिष्ठ जलका वहन करें।'

(७) **अन्नप्राशन-संस्कार**—इस संस्कारके द्वारा माताके गर्भमें मलिन-भक्षण-जन्य जो दोष बालकमें आ जाते हैं, उनका नाश हो जाता है ('अन्नाशनान्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुद्ध्यति')। जब बालक ६-७ मासका होता है और दाँत निकलने लगते हैं, पाचनशक्ति प्रबल होने लगती है, तब यह संस्कार किया जाता है।

शुभमुहूर्तमें देवताओंका पूजन करनेके पश्चात् माता-पिता आदि सोने या चाँदीकी शलाका या चम्मचसे निम्नलिखित मन्त्रसे बालकको हविष्यान्न (खीर) आदि पवित्र और पुष्टिकारक अन्न चटाते हैं—

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥
(अथर्ववेद ८।२।१८)

* आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा। नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥ (स्मृतिसंग्रह)

अर्थात् 'हे बालक! जौ और चावल तुम्हारे लिये बलदायक तथा पुष्टिकारक हों; क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ यक्ष्मा-नाशक हैं तथा देवान्न होनेसे पापनाशक हैं।'

इस संस्कारके अन्तर्गत देवोंको खाद्य-पदार्थ निवेदित कर अन्न खिलानेका विधान बताया गया है। अन्न ही मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है, उसे भगवान्‌का कृपाप्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिये।

(८) वपनक्रिया (चूडाकरण-संस्कार)—इसका फल बल, आयु तथा तेजकी वृद्धि करना है। इसे प्रायः तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष अथवा कुलपरम्पराके अनुसार करनेका विधान है। मस्तकके भीतर ऊपरको जहाँपर बालोंका भँवर होता है, वहाँ सम्पूर्ण नाड़ियों एवं संधियोंका मेल हुआ है। उसे 'अधिपति' नामक मर्मस्थान कहा गया है, इस मर्मस्थानकी सुरक्षाके लिये ऋषियोंने उस स्थानपर चोटी रखनेका विधान किया है। यथा—

नि वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥ (यजु० ३।६३)

'हे बालक! मैं तेरे दीर्घ आयुके लिये तथा तुम्हें अन्नके ग्रहण करनेमें समर्थ बनानेके लिये, उत्पादन-शक्ति-प्राप्तिके लिये, ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये, सुन्दर संतानके लिये, बल तथा पराक्रम-प्राप्तिके योग्य होनेके लिये तेरा चूडाकरण (मुण्डन)-संस्कार करता हूँ।' इस मन्त्रसे बालकको सम्बोधित करके शुभमुहूर्तमें कुशल नाईसे बालकका मुण्डन कराये। बादमें सिरमें दही-मक्खन लगाकर बालकको स्नान कराकर माङ्गलिक क्रियाएँ करनी चाहिये।

(९) कर्णवेधन—पूर्ण पुरुषत्व एवं स्त्रीत्वकी प्राप्तिके लिये यह संस्कार किया जाता है। शास्त्रोंमें कर्णवेधरहित पुरुषको श्राद्धका अधिकारी नहीं माना गया है। इस संस्कारको छः माससे लेकर सोलहवें मासतक अथवा तीन, पाँच आदि विषम वर्षमें या कुलक्रमागत आचारको मानते हुए सम्पन्न करना चाहिये। सूर्यकी किरणें कानोंके छिद्रसे प्रविष्ट होकर बालक-बालिकाको पवित्र करती हैं और तेज-सम्पन्न बनाती हैं। यद्यपि ब्राह्मण और वैश्यका रजतशलाका (सूई)-से, क्षत्रियका स्वर्णशलाकासे तथा शूद्रका लौहशलाकाद्वारा कान छेदनेका विधान है तथापि वैभवशाली पुरुषोंको स्वर्णशलाकासे ही यह क्रिया सम्पन्न करानी चाहिये। पवित्र स्थानमें शुभ समयमें देवताओंका पूजन कर सूर्यके सम्मुख बालक अथवा बालिकाके कानोंका निम्नलिखित मन्त्रद्वारा अभिमन्त्रण करना चाहिये—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
(यजु० २५।२१)

फिर बालकके प्रथम दाहिने कानमें तदनन्तर बायें कानमें सूईसे छेद करे। बालिकाके पहले बायें फिर दाहिने कानके वेधके साथ बायीं नासिकाके वेधका भी विधान मिलता है। इन वेधोंमें बालकोंको कुण्डल आदि तथा बालिकाको कर्णाभूषण आदि पहनाने चाहिये। कर्णवेधके नक्षत्रसे तीसरे नक्षत्रमें लगभग तीसरे दिन अच्छी तरहसे उष्ण-जलसे कानको धोना और स्नान कराना चाहिये। कर्णवेधके लिये जन्मनक्षत्र, रात्रि तथा दक्षिणायन निषिद्ध समय माना गया है।

(१०) उपनयन (व्रतादेश)-संस्कार—इस संस्कारसे द्विजत्वकी प्राप्ति होती है। शास्त्रों तथा पुराणोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि इस संस्कारके द्वारा ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्यका द्वितीय जन्म होता है। विधिवत् यज्ञोपवीत धारण करना इस संस्कारका मुख्य अङ्ग है। इस संस्कारके द्वारा अपने आत्यन्तिक कल्याणके लिये वेदाध्ययन तथा गायत्री-जप और श्रौत-स्मार्त आदि कर्म करनेका अधिकार प्राप्त होता है।

शास्त्रविधिसे उपनयन-संस्कार हो जानेपर गुरु बालकके कन्धों तथा हृदयका स्पर्श करते हुए कहता है—

'मम व्रते ते हृदयं दधामि। मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥'

मैं वैदिक तथा लौकिक शास्त्रोंके ज्ञान करानेवाले वेदव्रत तथा विद्याव्रत—इन दो व्रतोंको तुम्हारे हृदयमें स्थापित कर रहा हूँ। तुम्हारा चित्त—मन या अन्तःकरण मेरे अन्तःकरणका ज्ञानमार्गमें अनुसरण करता रहे अर्थात् जिस प्रकार मैं तुम्हें उपदेश करता रहूँ, उसे तुम्हारा चित्त ग्रहण करता चले। मेरी बातोंको तुम एकाग्र-मनसे समाहित होकर सुनो और ग्रहण करो। बुद्धि-विद्याके स्वामी बृहस्पति तुम्हें मेरी विद्याओंसे संयुक्त करें।

इसी प्रकार वेदाध्ययनके साथ-साथ गुरुद्वारा बालक (वटु)-को कई उपदेश प्रदान किये जाते हैं। प्राचीन कालमें केवल वाणीसे ही ये शिक्षाएँ नहीं दी जाती थीं, प्रत्युत गुरुजन तत्परतापूर्वक शिष्योंसे पालन भी करवाते थे।

(११) वेदारम्भ-संस्कार—उपनयन हो जानेपर बालकका वेदाध्ययनमें अधिकार प्राप्त हो जाता है। ज्ञानस्वरूप वेदोंके सम्यक् अध्ययनसे पूर्व मेधाजनन नामक एक उपाङ्ग-संस्कार करनेका विधान है। इस क्रियासे बालककी मेधा, प्रज्ञा, विद्या तथा श्रद्धाकी अभिवृद्धि होती है और वेदाध्ययन आदिमें विशेष अनुकूलता प्राप्त होती है तथा विद्याध्ययनमें कोई विघ्न नहीं होने पाता। ज्योतिर्निबन्धमें कहा गया है—

विद्यया लुप्यते पापं विद्ययाऽऽयुः प्रवर्धते।
विद्यया सर्वसिद्धिः स्याद्विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

'वेदविद्याके अध्ययनसे सारे पापोंका लोप होता है, आयुकी वृद्धि होती है, सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यहाँतक कि उसके समक्ष साक्षात् अमृत-रस अशन-पानके रूपमें उपलब्ध हो जाता है।'

गणेश और सरस्वतीकी पूजा करनेके पश्चात् वेदारम्भ—विद्यारम्भमें प्रविष्ट होनेका विधान है। शास्त्रोंमें कही गयी निषिद्ध तिथियोंमें वेदका स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। अपने गुरुजनोंसे अङ्गोंसहित वेदों तथा उपनिषदोंका अध्ययन करना चाहिये। तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कराना ही इस संस्कारका परम प्रयोजन है। 'वेदव्रत' नामक संस्कारमें महानाम्नी, महान्, उपनिषद् एवं उपाकर्म चार व्रत आते हैं। उपाकर्मको सभी जानते हैं। यह प्रतिवर्ष श्रावणमें होता है। शेष प्रथम महानाम्नीमें प्रतिवर्षान्त सामवेदके महानाम्नी आर्चिककी नौ ऋचाओंका पाठ होता है। प्रथम मुख्य ऋचा इस प्रकार है—

विदा मघवन् विदा गातुमनुशꣳसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो॥

(साम० ६४१)

इसका भाव है—'अत्यन्त वैभवशाली, उदार एवं पूज्य परमात्मन्! आप सम्पूर्ण वेद-विद्याओंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं एवं आप सन्मार्ग और गम्य दिशाओंको भी ठीक-ठीक जानते हैं, हे आदिशक्तिके स्वामिन्! आप हमें शिक्षाका साङ्गोपाङ्ग रहस्य बतला दें।'

द्वितीय तथा तृतीय वर्षोंमें क्रमशः 'वैदिक महाव्रत' तथा 'उपनिषद्-व्रत' किया जाता है, जिसमें वेदोंकी ऋचाओं तथा उपनिषदोंका श्रद्धापूर्वक पाठ किया जाता है और अन्तमें सावित्री-स्नान होता है। इसके अनन्तर वेदाध्यायी स्नातक कहलाता है। इसमें सभी मन्त्र-संहिताओंका गुरुमुखसे श्रवण तथा मनन करना होता है। यह वेदारम्भ मुख्यतः ब्रह्मचर्याश्रम-संस्कार है।

(१२) केशान्त-संस्कार (गोदान)—वेदारम्भ-संस्कारमें ब्रह्मचारी गुरुकुलमें वेदोंका स्वाध्याय तथा अध्ययन करता है। उस समय वह ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करता है तथा उसके लिये केश और श्मश्रु (दाढ़ी), मौञ्जी-मेखलादि धारण करनेका विधान है। जब विद्याध्ययन पूर्ण हो जाता है, तब गुरुकुलमें ही केशान्त-संस्कार सम्पन्न होता है। इस संस्कारमें भी आरम्भमें सभी संस्कारोंकी तरह गणेशादि देवोंका पूजन कर तथा यज्ञादिके सभी अङ्गभूत कर्मोंका सम्पादन करना पड़ता है। तदनन्तर श्मश्रु-वपन (दाढ़ी बनाने)-की क्रिया सम्पन्न की जाती है, इसलिये यह श्मश्रु-संस्कार भी कहलाता है।

'केशानाम् अन्तः समीपस्थितः श्मश्रुभाग इति व्युत्पत्त्या केशान्तशब्देन श्मश्रूणामभिधानात् श्मश्रुसंस्कार एव

केशान्तशब्देन प्रतिपाद्यते। अत एवाश्वलायनेनापि 'श्मश्रूणीहोन्दति'। इति श्मश्रूणां संस्कार एवात्रोपदिष्टः।'

(संस्कारदीपक भाग २, पृ० ३४२)

पूर्वोक्त विवरणमें यह स्पष्ट किया गया है कि केशान्त शब्दसे श्मश्रु (दाढ़ी)-का ही ग्रहण होता है, अतः मुख्यतः श्मश्रु-संस्कार ही केशान्त-संस्कार है। इसे गोदान-संस्कार भी कहा जाता है; क्योंकि 'गौ' यह नाम केश (बालों)-का भी है और केशोंका अन्तभाग अर्थात् समीपस्थित श्मश्रुभाग ही कहलाता है—

'गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते।'

(रघुवंश ३।३३ पद्यकी मल्लिनाथव्याख्या)

'गौ अर्थात् लोम-केश जिसमें काट दिये जाते हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोदान' पद यहाँ ब्राह्मण आदि वर्णोंके सोलहवें वर्षमें करनेयोग्य केशान्त नामक कर्मका वाचक है।'

यह संस्कार केवल उत्तरायणमें किया जाता है तथा प्रायः षोडशवर्षमें होता है।

(१३) समावर्तन (वेदस्नान)—समावर्तन विद्याध्ययनका अन्तिम संस्कार है। विद्याध्ययन पूर्ण हो जानेके अनन्तर स्नातक ब्रह्मचारी अपने पूज्य गुरुकी आज्ञा पाकर अपने घरमें समावर्तित होता है—लौटता है। इसीलिये इसे समावर्तन-संस्कार कहा जाता है। गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश पानेका अधिकारी हो जाना समावर्तन-संस्कारका फल है। वेद-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलसे भरे हुए ८ कलशोंसे विशेष विधिपूर्वक ब्रह्मचारीको स्नान कराया जाता है, इसलिये यह वेदस्नान-संस्कार भी कहलाता है।

समावर्तन-संस्कारकी वास्तविक विधिके सम्बन्धमें आश्वलायन-स्मृतिके १४वें अध्यायमें पाँच प्रामाणिक श्लोक मिलते हैं, जिनके अनुसार केशान्त-संस्कारके बाद विधिपूर्वक स्नानके अनन्तर वह ब्रह्मचारी वेदविद्याव्रत-स्नातक कहलाता है। उसे अग्निस्थापन, परिसमूहन तथा पर्युक्षण आदि अग्निसंस्कार कर ऋग्वेदके दसवें मण्डलके १२८वें सूक्तकी सभी ९वों ऋचाओंसे समिधाका हवन करना चाहिये। फिर गुरुदक्षिणा देकर, गुरुके चरणोंका स्मरण कर, उनकी आज्ञा ले स्विष्टकृत् होमके अनन्तर निम्न मन्त्रद्वारा वरुणदेवसे मौञ्जी-मेखला आदिके त्यागकी कामना करते हुए प्रार्थना करनी चाहिये—

'उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥' (ऋग्वेद १।२५।२१)

इसका भाव है—हे वरुणदेव! आप हमारे कटि एवं ऊर्ध्वभागके मौञ्जी, उपवीत एवं मेखलाको हटाकर सूतकी मेखला तथा उपवीत पहननेकी आज्ञा दें और निर्विघ्न अग्रिम जीवनका विधान करें। इसके बाद गुरुजन घर आते समय उसे लोक-परलोक-हितकारी एवं जीवनोपयोगी शिक्षा देते हैं—'सत्य बोलना। धर्मका आचरण करना। स्वाध्यायमें प्रमाद न करना। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर देना। संतान-परम्पराका उच्छेद न करना। सत्यमें प्रमाद न करना। कुशल-कर्मोंमें प्रमाद न करना। ऐश्वर्य देनेवाले कर्मोंमें प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचनमें प्रमाद न करना। देवकार्यों और पितृकार्योंमें प्रमाद नहीं करना। माता-पिता, आचार्य तथा अतिथिको देवता माननेवाले होओ। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींकी ओर प्रवृत्ति होनी चाहिये, अन्य कर्मोंकी ओर नहीं। हमारे जो शुभ आचरण हैं, तुम्हें उन्हींका आचरण करना चाहिये, दूसरोंका नहीं।'

जो हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसनादिके द्वारा तुम्हें आश्वासन (आदर) करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये। अपने ऐश्वर्यके अनुसार देना चाहिये। लज्जापूर्वक देना चाहिये। भय मानते हुए देना चाहिये। मित्रतापूर्वक देना चाहिये। यदि तुम्हें कर्म या आचरणके विषयमें कोई संदेह उत्पन्न हो जाय तो वहाँ जो विचारशील, कर्ममें स्वेच्छासे भलीभाँति लगे रहनेवाले धर्ममति ब्राह्मण हों, उस विषयमें वे जैसा व्यवहार करते हों, वैसा तुम्हें भी करना चाहिये।

इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोषारोपण किया गया हो, उनके विषयमें भी वहाँ जो विचारशील, स्वेच्छासे कर्मपरायण, सरल-हृदय, धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें, वैसा तुम्हें भी करना चाहिये। यह आदेश है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य और ईश्वरकी आज्ञा है। इसी प्रकार तुम्हें उपासना करनी चाहिये। ऐसा ही आचरण करना चाहिये।

इस उपदेश-प्राप्तिके अनन्तर स्नातकको पुनः गुरुको प्रणामकर मौञ्जी-मेखला आदिका परित्याग करके गुरुसे विवाहकी आज्ञा लेकर अपने माता-पिताके पास आना चाहिये और माता-पिता आदि अभिभावकोंको उस वेद-विद्याव्रत-स्नातकके घर आनेपर माङ्गलिक वस्त्राभूषणोंसे अलंकृतकर मधुपर्क आदिसे उसका स्वागत-सत्कारपूर्वक अर्चन करना चाहिये।

(१४) विवाह-संस्कार—पुराणोंके अनुसार ब्राह्म आदि उत्तम विवाहोंसे उत्पन्न पुत्र पितरोंको तारनेवाला होता है। विवाहका यही फल बताया गया है। यथा—

ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः।
विवाहस्य फलं त्वेतद् व्याख्यातं परमर्षिभिः॥

(स्मृतिसंग्रह)

विवाह-संस्कारका भारतीय संस्कृतिमें अत्यधिक महत्त्व है। जिस दार्शनिक विज्ञान और सत्यपर वर्णाश्रमी आर्यजातिके स्त्री-पुरुषोंका विवाह-संस्कार प्रतिष्ठित है, उसकी कल्पना दुर्विज्ञेय है। कन्या और वर दोनोंके स्वेच्छाचारी होकर विवाह करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं प्रदान की है। इसके लिये कुछ नियम और विधान बने हैं, जिससे उनकी स्वेच्छाचारितापर नियन्त्रण होता है।

पाणिग्रहण-संस्कार देवता और अग्निके साक्षित्वमें करनेका विधान है। भारतीय संस्कृतिमें यह दाम्पत्य-सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तरतक माना गया है।

(१५) विवाहाग्निपरिग्रह—विवाह-संस्कारमें लाजा-होम आदि क्रियाएँ जिस अग्निमें सम्पन्न की जाती हैं, वह 'आवसथ्य' नामक अग्नि कहलाती है। इसीको विवाहाग्नि भी कहा जाता है। उस अग्निका आहरण तथा परिसमूहन आदि क्रियाएँ इस संस्कारमें सम्पन्न होती हैं। शास्त्रोंमें निर्देश है कि किसी बहुत पशुवाले वैश्यके घरसे अग्निको लाकर विवाह-स्थलकी उपलिप्त पवित्र भूमिमें परिसमूहन तथा पर्युक्षणपूर्वक उस अग्निकी मन्त्रोंसे स्थापना करनी चाहिये और उसी स्थापित अग्निमें विवाह-सम्बन्धी लाजा-होम तथा औपासन होम करना चाहिये। तदनन्तर अग्निकी प्रदक्षिणा कर स्विष्टकृत् होम तथा पूर्णाहुति करनेका विधान है। कुछ विद्वानोंका मत है कि अग्नि कहीं बाहरसे न लाकर अरणि-मन्थनद्वारा उत्पन्न करनी चाहिये।

विवाहके अनन्तर जब वर-वधू अपने घर आने लगते हैं, तब उस स्थापित अग्निको घर लाकर किसी पवित्र स्थानमें प्रतिष्ठित कर उसमें प्रतिदिन अपनी कुलपरम्परानुसार सायं-प्रातः हवन करना चाहिये। यह नित्य-हवन-विधि द्विजातिके लिये आवश्यक बतायी गयी है और नित्य-कर्मोंमें परिगणित है। सभी वैश्वदेवादि स्मार्त-कर्म तथा पाक-यज्ञ इसी अग्निमें अनुष्ठित किये जाते हैं। जैसा कि याज्ञवल्क्यने भी लिखा है—

'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।'

(या०स्मृति, आचाराध्याय ५।९७)

(१६) त्रेताग्निसंग्रह-संस्कार—

'स्मार्तं वैवाहिके वह्नौ श्रौतं वैतानिकाग्निषु'

(व्यासस्मृति २।१७)

स्मार्त या पाकयज्ञ-संस्थाके सभी कर्म वैवाहिक अग्निमें तथा हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ-संस्थाके सभी श्रौत-कर्मानुष्ठानादि कर्म वैतानाग्नि (श्रौताग्नि-त्रेताग्नि)-में सम्पादित होते हैं।

इससे पूर्व विवाहाग्निपरिग्रह-संस्कारके परिचयमें यह स्पष्ट किया गया है कि विवाहमें घरमें लायी गयी आवसथ्य अग्नि प्रतिष्ठित की जाती है और उसीमें स्मार्त कर्म आदि अनुष्ठान किये जाते हैं। उस स्थापित अग्निसे अतिरिक्त तीन अग्नियों (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य तथा आहवनीय)-की स्थापना तथा उनकी रक्षा आदिका विधान भी शास्त्रोंमें

निर्दिष्ट है। ये तीन अग्नियाँ त्रेताग्नि कहलाती हैं, जिसमें श्रौतकर्म सम्पादित होते हैं।

भगवान् श्रीराम जब लङ्का-विजय कर सीताके साथ पुष्पक-विमानसे वापस लौट रहे थे, तब उन्होंने मलयाचलके ऊपरसे आते समय सीताको अगस्त्यजीके आश्रमका परिचय देते हुए बताया कि यह अगस्त्य मुनिका आश्रम है, जहाँके त्रेताग्निमें सम्पादित यज्ञोंके सुगन्धित धुएँको सूँघकर मैं अपनेको सभी पाप-तापोंसे मुक्त अनुभव कर रहा हूँ।

अन्त्येष्टिक्रिया

कुछ आचार्योंने मृत-शरीरकी अन्त्येष्टिक्रियाको भी एक संस्कार माना है, जिसे पितृमेध, अन्त्यकर्म, अन्त्येष्टि अथवा श्मशानकर्म आदि नामोंसे भी कहा गया है। शास्त्रोंमें इस क्रियासे सम्बद्ध सभी विषयोंका वर्णन है तथा यह क्रिया अत्यन्त महत्त्वकी है। यहाँ इसका संक्षेपमें विवरण दिया जा रहा है, परंतु इसके पूर्व मृत्युसे पूर्व (मरणासन्नावस्थामें) किये जानेवाले कार्योंका निरूपण करना भी आवश्यक है—

गोबर, जलसे भूमिको लीपकर, कुशाओंसे ढक दे और काले तिलोंको फैला दे। उस भूमिपर मरनेवालेको उत्तरकी ओर सिर करके सीधा—चित्त करके लिटा दे। तुलसीपत्रसहित गङ्गाजल धीरे-धीरे मुखमें डाले। यथाशक्ति आतुरकालीन दान तथा दीपदान कराया जाय। उपस्थित सभी मनुष्य हरिस्मरण और हरिनामसंकीर्तन करें—

'गोमयोदकेन भूमिमुपलिप्य, कुशैराच्छाद्य, कृष्णतिलान् विकीर्य, उत्तराशाशिरस्कं, भूमौ उत्तानशायिनं महाप्रयाणपथिकं विदध्यात्। शनैः गङ्गोदकं सतुलसीदलमाचामयेत्। यथाशक्ति आतुरदानं दीपदानं च कारयेत्। समुपस्थिताः हरिस्मरणं हरिनामकीर्तनं च कुर्युः।'

इस संस्कारमें मुख्यतः संस्कृत अग्निसे दाहक्रियासे लेकर द्वादशाहतकके कर्म सम्पन्न किये जाते हैं। मृत व्यक्तिके शरीरको स्नान कराकर, वस्त्रोंसे आच्छादित कर, तुलसी-स्वर्ण आदि पवित्र पदार्थोंको अर्पित कर, शिखासूत्र-सहित उत्तरकी ओर सिर करके चितामें स्थापित करना चाहिये और फिर औरस पुत्र अथवा सपिण्डी या सगोत्री व्यक्ति सुसंस्कृत अग्निसे मन्त्रसहित चितामें अग्नि दे। अग्नि देनेवाले व्यक्तिको बारहवें दिनतक सपिण्डनपर्यन्त सारे कर्म करने चाहिये। तीसरे दिन अस्थिसंचयन करके दसवें दिन दशाह कर तिलाञ्जलि देनी चाहिये। दस दिनतक आशौच रहता है, उसमें कोई नैमित्तिक कार्य नहीं करने चाहिये। बौधायनीय पितृमेधसूत्रोंमें इस क्रियाकी विशिष्ट विधि दी गयी है।

अन्त्येष्टि-क्रियाके रहस्यपर कुछ संक्षिप्त विचार इस प्रकार है—मृत्युके अनन्तर मृत शरीरको अग्नि प्रदान करके वैदिक मन्त्रोंद्वारा दाह-क्रिया सम्पन्न की जाती है। वर्ण और आश्रमके अनुसार दशगात्र-विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिण्डीकरण आदि क्रियाएँ भी इसी संस्कारके अन्तर्गत हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राणवायु, मन और बुद्धि इन सत्रह वस्तुओंका सूक्ष्मशरीर लेकर जीव स्वकर्मानुसार पाट्कौशिक स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है। वहाँ प्रारब्धको समाप्त कर जब उपर्युक्त सत्रह वस्तुओंको लेकर स्थूलशरीरसे वह निकलता है, उस समय जीवको सूक्ष्मशरीरके रक्षार्थ एक वायवीय शरीर मिलता है। इसीसे वह अपने कर्मानुसार कृष्ण या शुक्ल गतिको प्राप्त होता है। पाट्कौशिक स्थूलशरीरसे निकलते ही तत्काल वह वायवीय शरीरको ग्रहण करता है। इसी समय जीवकी प्रेत-संज्ञा पड़ती है अर्थात् वह अधिक चलनेवाला और हलका जीव बन जाता है। स्थूलशरीरमें अधिक समयतक निवास होनेके कारण शरीरके साथ उसका विशेष अभिनिवेश हो जाता है। अतएव जीव बारम्बार वायुप्रधान शरीरके द्वारा पूर्वशरीरके सूक्ष्मावयवों (परमाणुओं)-की तरफ रहनेकी चेष्टा करता रहता है। इसलिये इसी प्रेतत्वसे मुक्तिके लिये दशगात्रादि श्राद्धक्रियाएँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं। मूर्ख, विद्वान् सभीके लिये '**प्रेतत्वविमुक्तिकामः**' ऐसा श्राद्ध-प्रकरणमें पढ़ा जाता है। मृतककी वासना जमीनमें गड़े हुए तथा कहीं गन्धयुक्त पड़े हुए पूर्व शरीरपर न जाय और उससे जीवकी मुक्ति हो जाय, इसलिये हिन्दुओंमें मृत शरीरको

जलानेकी प्रथा प्रचलित हुई है। अग्निसंस्कारसे मृत शरीरका पार्थिवतत्त्व कण-कण जलकर रूपान्तर ग्रहण करता है। फिर भस्मरूप (फूल) पार्थिवतत्त्व भगवती भागीरथीकी पावन वारिधारामें प्रवाहित कर दिया जाता है। वह परम पवित्र जल उन भस्मकणोंको स्वस्वरूपमें परिवर्तित कर लेता है। फिर मृतका सम्बन्ध पूर्व-शरीरसे विच्छिन्न हो जाता है और शास्त्रविहित श्राद्धादिक क्रियाके द्वारा प्रदत्त जलादि सामग्रीसे तृप्त होकर वह प्रेत-शरीरको छोड़ देता है। संन्यासियोंके मृत शरीरके लिये अग्निसंस्कार शास्त्रमें नहीं बतलाया गया है; क्योंकि कामनानुबन्धी कर्मोंको तथा कृतकर्म-फलोंको त्यागनेसे और श्रीभगवच्चरणारविन्दोंमें गाढ़ अनुराग होनेसे शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिकी वासना जीवन-दशामें ही छूट जाती है। अतएव शरीरसे निकली हुई संन्यासियोंकी आत्मा शीघ्रातिशीघ्र शुक्ल गतिसे प्रयाण कर जाती है। मृत शरीरकी ओर आकर्षण करनेवाली सामग्री ही नहीं रह जाती, इसलिये संन्यासियोंके लिये श्राद्धादिकी कल्पनाएँ नहीं की गयी हैं। हिन्दुओंमें छोटे बालकोंका शरीर भी नहीं जलाया जाता। उसे भूमिके अंदर गाड़ दिया जाता है। सूक्ष्मशरीरके साथ स्थूलशरीरमें प्रविष्ट आत्माका गाढ़ सम्बन्ध (अभिनिवेश) स्थूलशरीरमें अल्प दिनोंमें नहीं होता। अतएव बालकोंकी मृत आत्मा पूर्व-शरीरका सम्बन्ध शीघ्रातिशीघ्र त्यागकर सञ्चित कर्मानुसार अपर शरीरको प्राप्त करती है। इसी कारण अल्पवयस्क बालकोंके लिये यह संस्कार नहीं बतलाया गया है। मृत आत्माओंका प्रगाढ़ अन्वय (वासना) पूर्व-शरीरके ऊपर अवश्य रहता है। इसी आधारपर मुसलमान और ईसाई जातियोंमें भी जहाँपर शरीर गाड़ा जाता है, वहींपर की जानेवाली कुछ क्रियाएँ उनके धर्मग्रन्थोंमें बतलायी गयी हैं। उन्हीं जातियोंमें यह भी सिद्धान्त बतलाया गया है कि जबतक प्रलय नहीं होता, तबतक जीव मृत शरीरके पास ही सुख-दुःख भोगा करता है।

प्रेतयोनि—प्रसङ्गतः यहाँपर यह भी कह देना उचित है कि चौरासी लाख योनियोंमें एक प्रेतयोनि भी मानी गयी है। कुछ पापोंका परिणाम भोगनेके लिये प्रेतयोनि मिलती है। जलमें डूबकर, अग्निमें जलकर, वृक्षसे गिरकर, किसीके ऊपर अनशन करके मरनेवाले मनुष्य प्रेतयोनिमें जाते हैं। वहाँपर भी मृत आत्माओंके लिये वायु-प्रधान शरीर मिलता है। प्रेतोंके हृदयमें यह इच्छा सर्वदा बनी रहती है कि जहाँपर उनका धन है, उनके शरीरके पार्थिव परमाणु हैं, उनके शरीर-सम्बन्धी परिवार हैं, वहींपर रहें, अपने सम्बन्धियोंको अपनी तरह बनायें। सभी भौतिक पदार्थोंका संचय करनेकी सामर्थ्य वायुतत्त्वमें रहती है। यही कारण है कि प्रेत वायु-शरीर प्रधान होनेसे जिस योनिकी इच्छा करता है, साँप, बैल, भैंस आदि उसी शरीरको ग्रहण कर लेता है, परंतु कुछ ही समयतक वह शरीर ठहर सकता है, पीछे सब पार्थिव परमाणु शीघ्र ही बिखर जाते हैं। जिसका अन्त्येष्टि-संस्कार शास्त्रविहित क्रियाओंसे नहीं किया जाता, वह प्राणी कुछ दिनोंके लिये प्रेतयोनि प्राप्त करता है। शास्त्रोक्त विधिसे जब उसका प्रेतसंस्कार, दशगात्र-विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिण्डन-विधान किया जाता है, तब वह प्रेत-शरीरसे छूट जाता है। मनुष्यसे इतर योनियोंमें जीवके ऊपर पञ्चकोशोंका विकास पूर्णरूपसे नहीं रहता है। इसलिये पशु-पक्षियोंकी आत्मा पूर्व-शरीरके साथ गाढ़ सम्बन्ध (अभिनिवेश) नहीं कर पाती, वहाँपर प्रकृतिमाताके सहारेसे शीघ्रातिशीघ्र अन्य योनिको जीव प्राप्त कर लेता है। अतएव तिर्यक्-योनियोंके लिये दाहादि संस्कार नहीं बतलाये गये हैं।

उत्तम संस्कारोंके कुछ सामान्य नियम

१. प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व उठना चाहिये। उठते ही भगवान्का स्मरण करना चाहिये।

२. शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर भगवान्की उपासना, संध्या, तर्पण आदि करने चाहिये।

३. बलिवैश्वदेव करके समयपर सात्त्विक भोजन करना चाहिये।

४. प्रतिदिन प्रातःकाल माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये।

५. इन्द्रियोंके वश न होकर उनको वशमें करके उनसे यथायोग्य काम लेना चाहिये।

६. धन कमानेमें छल, कपट, चोरी, असत्य और बेईमानीका त्याग कर देना चाहिये। अपनी कमाईके धनमें यथायोग्य सभीका अधिकार समझना चाहिये।

७. माता-पिता, भाई-भौजाई, बहन-फूआ, स्त्री-पुत्र आदि परिवार सादर पालनीय हैं।

८. अतिथिका सच्चे मनसे सत्कार करना चाहिये।

९. अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये। पड़ोसियों तथा ग्रामवासियोंकी सदा सत्कारपूर्ण सेवा करनी चाहिये।

१०. सभी कर्म बड़ी सुन्दरता, सफाई और नेकनीयतीसे करने चाहिये।

११. किसीका अपमान, तिरस्कार और अहित नहीं करना चाहिये।

१२. अपने किसी कर्मसे समाजमें विशृङ्खलता और प्रमाद नहीं पैदा करना चाहिये।

१३. मन, वचन और शरीरसे पवित्र, विनयशील एवं परोपकारी बनना चाहिये।

१४. सब कर्म नाटकके पात्रकी भाँति अपना नहीं मानना चाहिये, परंतु करना चाहिये ठीक सावधानीके साथ।

१५. विलासितासे बचकर रहना चाहिये—अपने लिये खर्च कम करना चाहिये। बचतके पैसे गरीबोंकी सेवामें लगाने चाहिये।

१६. स्वावलम्बी बनकर रहना चाहिये, अपने जीवनका भार दूसरेपर नहीं डालना चाहिये।

१७. अकर्मण्य कभी नहीं रहना चाहिये।

१८. अन्यायका पैसा, दूसरेके हकका पैसा घरमें न आने पाये, इस बातपर पूरा ध्यान देना चाहिये।

१९. सब कर्मोंको भगवान्‌की सेवाके भावसे—निष्कामभावसे करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२०. जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, भोग नहीं—इस निश्चयसे कभी डिगना नहीं चाहिये और सारे काम इसी लक्ष्यकी साधनाके लिये करने चाहिये।

२१. किसीके घरमें जिधर स्त्रियाँ रहती हों (जनानेमें), नहीं जाना चाहिये। अपने घरमें भी स्त्रियोंको किसी प्रकारसे सूचना देकर जाना चाहिये।

२२. जिस स्थानपर स्त्रियाँ नहाती हों या जिस रास्तेसे स्त्रियाँ ही जाती हों, उधर नहीं जाना चाहिये।

२३. भूलसे अपना पैर या धक्का किसीको लग जाय तो उससे क्षमा माँगनी चाहिये।

२४. कोई आदमी रास्ता भूल जाय तो उसे ठीक रास्तेपर डाल देना चाहिये, चाहे ऐसा करनेमें स्वयंको कष्ट भी क्यों न हो।

२५. दूसरोंकी सेवा इस भावसे नहीं करनी चाहिये कि उसके बदलेमें कुछ इनाम मिलेगा, सेवा जब निष्काम-भावसे की जायगी, तभी सेवाका सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

२६. भगवत्प्रार्थनाके समय आँखें बंद रखकर मनको स्थिर रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये और उस समय 'भगवान्‌के चरणोंमें बैठा हूँ' ऐसी भावना अवश्य होनी चाहिये।

२७. किसी स्थानमें जायँ, जहाँ अपना आदर-सत्कार हो और अपने साथ कोई मित्र या अतिथि हो तो उसे भूल न जाना चाहिये, प्रत्युत उसे भी अपने आदर-सत्कारमें सम्मिलित कर लेना चाहिये।

संस्कारसारसर्वस्व—भगवत्प्राप्ति

संस्कार-समन्वित-जीवनचर्याका अन्तिम लक्ष्य है—भगवत्प्राप्ति। वास्तवमें आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सच्चिदानन्दस्वरूप है, परंतु संसारके पदार्थोंसे तादात्म्य हो जानेसे और उसके गुण-धर्मको अपना मान लेनेके कारण वह जीवभावको प्राप्त कर लेता है, संसारी बन जाता है। ऐसी अवस्थामें आत्माके कल्मषको स्वच्छ करनेके लिये अपेक्षित संस्कारोंकी नितान्त आवश्यकता है। यह कार्य व्यक्ति स्वयं कर सकता है। अपना उद्धार मनुष्य स्वयं करता है, उसे किसी अन्यपर आश्रित होनेकी आवश्यकता नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता (६।५)-में भगवान्‌ने कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

व्यक्ति अपने द्वारा अपना उद्धार करे, स्वयंको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

अनादिकालसे जीवके साथ उसके अपने पूर्वजन्मके शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार शुद्ध-अशुद्ध वासनाएँ जुड़ी रहती हैं। मनुष्य सत्कर्मानुष्ठान करता है, इससे उसे पुण्य तो होता है, पर साथ ही शुद्ध वासनाएँ भी उसके साथ संलग्न हो जाती हैं। इसी प्रकार अशुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे दु:ख और मलिन वासनाओंका जन्म होता है। मलिन वासनाओंसे उसके अन्तःकरण और बाह्यकरण प्रभावित हो जाते हैं अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त अशुद्ध हो जाते हैं। अतः व्यक्ति अपने आत्मोद्धारके लिये किये जानेवाले सत्कर्मोंको छोड़कर असत्-मार्गको ग्रहण कर लेता है, जो उसके जन्म-मरणके बन्धनका कारण बनता है। अतः जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये तथा अपना कल्याण करनेके लिये अन्तःकरण और बाह्यकरणोंके संस्कारकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिये आचार-विचार, यज्ञ, तीर्थ-यात्रा, दान, व्रत एवं उपवास आदि तथा विभिन्न शास्त्रोक्त संस्कार अन्तःकरण तथा बाह्यकरणोंको पवित्र करनेके साधन हैं।

वस्तुतः सच्चिदानन्दस्वरूप जीवात्माको अपने स्वरूपमें अवस्थित रहनेके लिये अपने शास्त्रोंमें कर्म, उपासना और ज्ञानका मार्ग निर्देशित किया है, किंतु इसी जीवनमें भगवत्प्राप्तिका एकमात्र सरल उपाय है—'भगवच्चरणारविन्दकी ध्रुवानुस्मृतिरूप रागात्मिका भक्ति।' यह रागात्मिका भक्ति क्या है? हमारे जीवनके सम्पूर्ण कार्य-कलाप भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये तथा भगवान्‌की प्रीति प्राप्त करनेके लिये होने चाहिये। हम एक क्षणके लिये भी भगवान्‌की ध्रुवानुस्मृतिसे विलग न हों।

भगवत्प्रेमी भक्तको अपने इष्टदेवका क्षणभरका वियोग भी असह्य होता है। अतः नित्य-निरन्तर अपने इष्टके प्रति उसकी सेवा-पूजा-आराधना चलती रहती है। इसके बदलेमें उसे अपने आराध्यसे कुछ चाहिये नहीं। वह तो अपने आराध्यके सुखमें सुखी, प्रसन्नतामें प्रसन्न रहता है। वह मात्र अपने आराध्यकी प्रीति और प्रेमका आकाङ्क्षी होता है। इस प्रकारके साधक निष्काम होते हैं। वे भगवान्‌से कोई लौकिक वस्तु प्रायः नहीं माँगते, परंतु सामान्यतः संसारमें अज्ञान-परवश मनुष्य स्वाभाविक रूपमें भौतिक सुखोंकी आकाङ्क्षा रखते हैं। लौकिक सुख-सुविधाओंके प्रति उनके मनमें आकर्षण रहता ही है। यह आकर्षण सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति और उपासनासे ही समाप्त होता है। अतः पुराण और शास्त्र सम्पूर्ण उपासनाका सविस्तार वर्णन करते हैं। इसमें उनका तात्पर्य यही है कि सांसारिक सुखोंमें और भौतिक वस्तुओंमें प्रीति रखनेवाले लोग भी किसी प्रकार भगवदुन्मुख तो हो जायँ। भगवान्‌से उनका सम्बन्ध तो जुड़े। उन्हें भगवदाराधनसे लौकिक सुखोंकी प्राप्ति तो होगी ही, पर जब साथ ही सत्सङ्ग आदिके द्वारा भगवत्तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर क्षणभरमें भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना भी प्रबल हो जायगी, तब उनका आत्मकल्याण भी हो सकेगा। परंतु यह स्थिति भी साधनोंकी अपेक्षा भगवान्‌की कृपासे ही सम्भव है, भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये भगवान्‌की शरणागति ही एकमात्र उपाय है। इसके लिये हमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुरूप आचरण करनेका सङ्कल्प लेना होगा तथा भगवान्‌के चरणोंमें अपने कार्पण्यका निवेदन और आत्मसमर्पण करना होगा। शरणागतिके छः प्रकार बतलाये गये हैं—(१) भगवान्‌के सर्वथा अनुकूल बननेका सङ्कल्प, (२) प्रतिकूलताका अभाव, (३) प्रभुसे रक्षा-प्राप्तिमें विश्वास, (४) रक्षकके रूपमें उनका वरण करना, (५) अत्यन्त दैन्यकी भावना तथा (६) पूर्ण आत्मसमर्पण।

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

—राधेश्याम खेमका

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ और संस्कारतत्त्व-विमर्श

सदाचार, धर्माचरण, ज्ञान, वैराग्य, तप, क्षमा और सहिष्णुताके प्रतिमान महर्षि वसिष्ठका नाम सर्वविश्रुत है। ये ब्रह्माजीके मानसपुत्र तथा भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं। वेदों तथा पुराणेतिहास आदिमें इनका पावन चरित्र वर्णित हुआ है। योगवासिष्ठमें महर्षि वसिष्ठजीने अपने आविर्भावकी* बात बताते हुए श्रीरामजीसे कहा—'रघुकुलभूषण राम! पिताजी (ब्रह्माजी)-ने मुझे आविर्भूत कर अपने कमलासनपर बैठाकर कहा—वत्स! तुम मेरे ही सदृश; मेरे आत्मरूप हो, तुम प्राणियोंपर अनुग्रह

करनेके लिये भूलोकमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें स्थित भारतवर्षमें जाओ, वहाँ जो लोग कर्मकाण्डपरायण हों, उन्हें कर्मकाण्डके क्रमसे शिक्षा देना और जो लोग विवेकशील, विरक्तचित्त तथा महाबुद्धिमान् हों, उन्हें परमानन्ददायक ज्ञानका उपदेश करना। श्रीराम! तदनुसार मैं भूलोकमें निवास कर रहा हूँ और जबतक यह सृष्टि-परम्परा रहेगी, तबतक यहाँ रहूँगा।'

इस प्रकार धर्मकी मर्यादा, ज्ञानोपदेश, आचार-परम्पराके संरक्षण और संस्कारोंकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीका भूलोकमें अवतरण हुआ। महर्षि वसिष्ठ गृहस्थ-धर्मके आदर्श हैं। देवी अरुन्धती इनकी धर्मपत्नी हैं, जिनका पातिव्रत्य पतिव्रताओंके लिये सदा ही अनुकरणीय रहा है। सप्तर्षिमण्डलमें महर्षि वसिष्ठजीके साथ देवी अरुन्धती भी सदा विराजमान रहती हैं।

महर्षि वसिष्ठजीने अपने तपोबल एवं ऋतम्भरा प्रज्ञासे वैदिक मन्त्रोंका दर्शन किया, इसीलिये ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाते हैं। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके मन्त्रोंका दर्शन आपकी ही कृपासे प्राप्त हुआ, इसीलिये यह मण्डल 'वासिष्ठमण्डल' कहलाता है, इस मण्डलमें अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंकी स्तुतियाँ हैं तथा उन देवताओंसे महर्षिने बार-बार यह प्रार्थना की है कि आप हम सभीका सदा कल्याण करें—

'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥'

(ऋक्० ७।१।२०)

इस प्रकार सबका हितचिन्तन, सबका कल्याण तथा सबका पारमार्थिक कल्याण करना ही महर्षि वसिष्ठजीका मूल उद्देश्य रहा है। मृत्युनिवारक त्र्यम्बकमन्त्र ('त्र्यम्बकं यजामहे०' ऋक्० ७।५९।१२) भी हमें वसिष्ठजीकी ही कृपासे प्राप्त है।

इसीके साथ ही धर्माचरणकी प्रतिष्ठाके लिये उन्होंने धर्मशास्त्रीय मर्यादाएँ भी नियत की हैं। उनके द्वारा निर्मित वसिष्ठधर्मसूत्र तथा वसिष्ठस्मृति—ये दो ग्रन्थ बहुत ही कल्याणकारी हैं। इनमें बतायी गयी संस्कार-शिक्षाका अनुपालन बड़ा ही हितकारी है। धर्म क्या है—इसकी व्याख्यामें वे कहते हैं कि वेदों तथा धर्मशास्त्रोंमें बताया गया विहित आचरण ही धर्म है—'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः' (वसिष्ठधर्मसूत्र १।३)। उन्होंने सदाचार, शौचाचार तथा संस्कार-सम्पन्नताको धर्मका मूल बताया है और कहा है कि इनसे हीन व्यक्ति यदि षडङ्गसहित वेदोंका जाननेवाला हो तब भी वे उसे पवित्र नहीं बनाते और उसका उसी प्रकार परित्याग कर देते हैं, जैसे—पंख उग जानेपर पक्षी अपने घोंसले छोड़ देते हैं—

* इनके आविर्भावकी अनेक कथाएँ हैं, कहीं ये ब्रह्माजीके मानसपुत्र, कहीं मित्रावरुणके पुत्र, कहीं आग्नेयपुत्र और कहीं उद्भूत कहे गये हैं, कल्पभेदसे सभी कथाएँ सत्य हैं।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

(वसिष्ठधर्मसूत्र ६।३)

महर्षि वसिष्ठने और्ध्वदैहिक क्रिया-संस्कारकी अवश्यकरणीयताका प्रतिपादन करके श्राद्धकर्मके विवरणमें बताया है कि श्राद्धमें दौहित्र (लड़कीका पुत्र), कुतपकाल (दिनमें ११ बजकर ३६ मिनटसे १२ बजकर २४ मिनटतकका समय) तथा तिल—ये तीन अत्यन्त पवित्र हैं और बाह्याभ्यन्तर शौच, क्रोधशून्यता तथा जल्दबाजी न करना—ये तीन बातें अत्यन्त प्रशंसनीय हैं—

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥

(वसिष्ठधर्मसूत्र ११।३२)

वसिष्ठजीने संस्कार-सम्पन्नताको अति आवश्यक बताया है और वसिष्ठस्मृतिमें उन्होंने संस्कारविधि-विधानका विस्तारसे वर्णन किया है। जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण तथा उपनयन-संस्कारोंका उसमें विशेष वर्णन हुआ है। वे बताते हैं कि चार मासमें निष्क्रमण-संस्कार करना चाहिये। बालकको घरसे बाहर ले जाकर सूर्यमण्डलमें नारायणका ध्यान करते हुए सूर्यमन्त्रोंका जप करना चाहिये और बालककी रक्षा तथा उसमें ज्ञानज्योतिकी प्रतिष्ठा करानेके लिये उसे सूर्यदर्शन कराना चाहिये—

'कुमारमीक्षयेद्भानुं जपन् वै सूर्यदैवतम्॥'

(वसिष्ठस्मृति ३।६)

बालकका अन्नप्राशन-संस्कार छठे मासमें करना चाहिये—

'अथान्नप्राशनं कुर्यात् षष्ठे मासि विधानतः।'

(वसिष्ठस्मृति ३।९)

आठवें मासमें विष्णुपूजन तथा तीसरे वर्षमें चूडाकरण-संस्कारकी प्रक्रिया वर्णित है। वसिष्ठजी बताते हैं कि जन्मसे आठवें या आधानकालसे आठवें वर्षमें ब्राह्मणबालकका यज्ञोपवीत-संस्कार करना चाहिये—

आधानादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
जन्माष्टमे वा कर्तव्यं ......॥

(वसिष्ठस्मृति ३।१३)

तदनन्तर विस्तारसे यज्ञोपवीत-संस्कारकी विधि वर्णित है और ब्रह्मचर्याश्रमके कर्तव्यों और ब्रह्मचारीके दैनिक आचारोंका वर्णन है। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह विद्याध्ययन कर गुरुकी आज्ञासे स्नातक व्रतोंका सम्पादन करे और समावर्तन-संस्कारके बाद नवीन वस्त्राभूषणोंको धारणकर वापस घरमें आये। यदि वह विरक्त होना चाहे तो निवृत्तिमार्गका आश्रयणकर वनकी ओर प्रस्थान करे और यदि गृहस्थाश्रममें रुचि हो तो विवाहकर गृहस्थधर्मका पालन करे—

'विरक्तः प्रव्रजेद्विद्वाननुरक्तो गृहे विशेत्॥'

(वसिष्ठस्मृति ४।१)

इसके अनन्तर महर्षि वसिष्ठजीने विस्तारसे विवाह-संस्कारका विधान बतलाया है। पातिव्रत्य-धर्मकी महिमा बताते हुए ये कहते हैं कि शील (सदाचारका परिपालन) ही स्त्रीका प्रथम कर्तव्य है और पति ही उसका देवता, बन्धु तथा परम गति है, उसकी आज्ञाके उल्लंघनसे स्त्रीको नरककी प्राप्ति होती है—

शीलमेव तु नारीणां प्रधानं धर्म उच्यते॥
पतिर्हि दैवतं नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः॥
तस्याज्ञां लङ्घयित्वैव नारी नरकमाप्नुयात्।

(वसिष्ठस्मृति ५।१—३)

आचार्य वसिष्ठजीने जिस प्रकार संस्कारोंद्वारा शरीर-शुद्धिका विधान बताया है, ऐसे ही द्रव्यशुद्धि तथा भावशुद्धिपर भी उन्होंने बहुत जोर दिया है। ये अन्तःकरणकी शुद्धिको ही मुख्य शुद्धि मानते हैं तथा आध्यात्मिक संस्कारोंको पारमार्थिक कल्याणका मुख्य हेतु बताते हैं। उनके द्वारा श्रीरामको उपदिष्ट श्रीयोगवासिष्ठ आध्यात्मिक संस्कारोंके प्रतिपादनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। महर्षि वसिष्ठजी श्रीरामसे कहते हैं—शम, विचार, संतोष और सत्संगति—ये ही चारों मनुष्योंके लिये भवसागरसे तरनेके साधन हैं। मोक्षके द्वारपर निवास करनेवाले ये चार द्वारपाल हैं। इनमें संतोष परम लाभ है, सत्संगति परम गति है, विचार उत्तम ज्ञान है और शम परमोत्कृष्ट सुख है, जिन्होंने इनका भलीभाँति सेवन किया, समझना चाहिये कि वे मोहजालसे परिपूर्ण भवसागरसे पार हो गये। इनमेंसे

अभ्यास हो जानेपर शेष तीनों भी अभ्यस्त हो जाते हैं—

'एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः॥'

(योगवासिष्ठ)

अपने एक महत्त्वपूर्ण उपदेशमें महर्षि वसिष्ठ सावधान करते हुए कहते हैं—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥

(वसिष्ठस्मृति ३०।१)

उपदेशका भाव यह है कि धर्मका ही आचरण करो—अधर्मका नहीं, सदा सत्य ही बोलो—असत्य मत बोलो, दूरदर्शी बनो अर्थात् सोच-विचारकर विवेकपूर्वक धर्माधर्मका निर्णय करो, ह्रस्व अर्थात् संकीर्ण न बनो, उदार बनो। जो परसे भी परात्पर तत्त्व है, उसी तत्त्वपर सदा दृष्टि रखो, तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मासे भिन्न मायामय किसी भी वस्तुपर दृष्टि मत रखो।

महर्षि वसिष्ठ सूर्यवंशी राजाओंके कुलगुरु तथा पुरोहित रहे हैं। अतः उन्होंने ही इस राजवंशके राजाओंके संस्कार करवाये तथा राज्यसंचालनकी शिक्षा-दीक्षा प्रदान की। महर्षि वसिष्ठजीके साथ ही महर्षि वामदेव तथा महामुनि विश्वामित्रजीका भी सूर्यवंशसे विशेष सम्बन्ध रहा है। ब्रह्माजीने जब वसिष्ठजीको सूर्यवंशी राजाओंका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा दी, तब इन्होंने उस कार्यमें हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वंशमें आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका अवतार होनेवाला है, तब इन्होंने सहर्ष पौरोहित्य-कर्म स्वीकार कर लिया।

महर्षि वसिष्ठजीने गो-सेवाके संस्कारको बहुत ही महत्त्वका बताया है। इनके आश्रममें सुरभि-पुत्री नन्दिनी नामक गौ रहती थी। देवी अरुन्धतीजीके साथ ये स्वयं गोमाताकी सेवा किया करते थे। देवी अरुन्धती शील और शक्तिमें महात्मा वसिष्ठजीके समान ही थीं—

'समानशीलां वीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।'

(महा०, अनु० १३०।२)

एक बार देवताओं तथा ऋषि-महर्षियोंने देवी अरुन्धतीके पास जाकर पूछा—भद्रे! हम आपके मुँहसे धर्मका रहस्य सुनना चाहते हैं, उसे बतानेकी कृपा करें।

इसपर देवी अरुन्धतीने उन्हें गोकी महिमा ही बतायी और कहा—सबेरे उठकर कुश और जल हाथमें लेकर गौओंके बीचमें जाय। वहाँ गौओंके सींगपर जल छिड़के और सींगसे गिरे हुए जलको अपने मस्तकपर धारण करे। साथ ही उस दिन निराहार रहे—ऐसे पुरुषको जो धर्मका फल मिलता है, उसे सुनो—तीनों लोकोंमें सिद्ध, चारण और महर्षियोंसे सेवित जो कोई भी तीर्थ सुने जाते हैं, उन सबमें स्नान करनेका जो फल मिलता है, वही फल गायोंके सींगके जलसे (शृङ्गोदकसे) अपने मस्तकको सींचनेसे प्राप्त होता है—

कल्यमुत्थाय गोमध्ये गृह्य दर्भान् सहोदकान्।
निषिञ्चेत गवां शृङ्गे मस्तकेन च तज्जलम्॥
प्रत्याच्छेत निराहारस्तस्य धर्मफलं शृणु।
श्रूयन्ते यानि तीर्थानि त्रिषु लोकेषु कानिचित्॥
सिद्धचारणजुष्टानि सेवितानि महर्षिभिः।
अभिषेकः समस्तेषां गवां शृङ्गोदकस्य च॥

(महा०, अनु० १३०।९—११)

महर्षि वसिष्ठजी तो पग-पगपर गोसेवाकी महिमा बताते हैं। पुराणोंमें इस सम्बन्धमें अनेक प्रकरण हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वमें इन्होंने इक्ष्वाकुवंशी राजा सौदासको बड़े विस्तारसे गोसेवा तथा गोदानका महत्त्व बतलाया है और कहा है कि गौओंका नाम-कीर्तन बड़ा कल्याणकारी है। अतः उनका नाम-कीर्तन किये बिना सोये नहीं। उनका स्मरण करके ही उठे और सबेरे-शाम उन्हें नमस्कार करे, इससे मनुष्यको पुष्टिकी प्राप्ति होती है। यदि बुरे स्वप्न दिखायी दें तो गोमाताका नाम ले, इससे सभी अशुभोंका निवारण हो जाता है—

नाकीर्तयित्वा गाः सुप्यात् तासां संस्मृत्य चोत्पतेत्।
सायंप्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात्॥
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य गां नरः सम्प्रकीर्तयेत्॥

(महा०, अनु० ७८।१६, १८)

इस प्रकार ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीका ब्रह्मज्ञान, आचार-निरूपण और उनके उपदेश बड़े ही कल्याणकारी तथा भगवान्की ओर ले जानेवाले हैं।

~~~o~~~
~~~

महर्षि गौतम और उनकी संस्कार-निष्ठा

प्राचीनतम धर्माचार्योंमें महर्षि गौतमका नाम बड़े ही आदरसे लिया जाता है। आचार्य याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें यह निरूपित किया है कि धर्म और सदाचार-मीमांसाके प्रतिपादन तथा परिपालनमें महर्षि गौतम विशेषरूपसे प्रतिष्ठित हैं (याज्ञ०स्मृ० १।५)। पुराणोंमें निर्दिष्ट है कि महर्षि गौतम ब्रह्माजीकी मानसी-सृष्टिसे उद्भूत हैं और देवी अहल्या इनकी पत्नी हैं। महर्षि गौतमका चरित्र अत्यन्त दिव्य तथा तपःपूत साधनासे परिपूर्ण है, सर्वभूतहित-चिन्तन ही इनकी साधनाका परमोद्देश्य रहा है। ये भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय पात्र रहे हैं। सनातनधर्मकी मर्यादाके स्थापन तथा उसके परिपालनमें ही इनका समूचा जीवन अनुस्यूत रहा है। दीर्घकालीन सन्ध्योपासना तथा भगवती गायत्रीकी आराधना इनका अभीष्ट रहा है। महाभारतमें उल्लेख है कि महर्षि गौतमने पारियात्र पर्वतपर साठ हजार वर्षोंतक तपस्या की थी और इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर साक्षात् धर्म इनके आश्रमपर पधारे थे। महर्षि गौतम-जैसा त्याग, वैराग्य, तप, धर्माचरण तथा संस्कारित जीवन अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता। ये न्याय-दर्शनके आचार्य भी हैं। महर्षि गौतमने धर्मतत्त्वको मुख्य माना है और इसी धर्मतत्त्वका निरूपण करनेके लिये उन्होंने अनेक सूत्रोंकी रचना की है, जिसमें जीवन कैसे आचारनिष्ठ तथा संस्कार-सम्पन्न हो और कैसे उसे भगवद्भावसे अनुप्राणित किया जा सके—इन तथ्योंका यहाँ ही सूक्ष्मरीतिसे निरूपण किया गया है। ये सूत्र उन्हींके नाम अर्थात् 'गौतमधर्मसूत्र' नामसे प्रसिद्ध हैं। इस धर्मसूत्रका सम्बन्ध विशेषरूपसे सामवेदसे बताया जाता है। आचार्य हरदत्त तथा आचार्य मस्करी आदि द्वारा इस धर्मसूत्रपर महत्त्वपूर्ण संस्कृत भाष्य हुए हैं। इस धर्मसूत्रमें छोटे-छोटे २९ अध्याय हैं और अध्यायोंके अन्तर्गत सूत्र हैं, जो बड़े ही उपयोगी और जीवनमें काम लाने योग्य हैं। महर्षि गौतमने अपने सूत्रोंमें अनेक बातोंका निरूपण किया है, किंतु यहाँपर उनकी संस्कार-निष्ठाके प्रतिपादनको संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

महर्षि गौतमने अपने धर्मसूत्रके प्रारम्भमें ही आचारका निरूपण किया है और आचारकी मर्यादामें वे बताते हैं कि वेद ही धर्माचारका मूल है—'वेदो धर्ममूलम्'। तदनन्तर गृहस्थधर्मसम्बन्धी मुख्य संस्कार-कर्मोंका निरूपण करते हुए महर्षि बताते हैं कि गृहस्थको नित्य देव, पितृ, मनुष्य आदि पञ्चमहायज्ञोंको करना चाहिये और अतिथि, बालक, रोगी, गर्भिणी स्त्री, सौभाग्यवती स्त्री, वृद्ध तथा बच्चोंको भोजन करानेके बाद ही भोजन करना चाहिये—

'भोजयेत् पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणी-सुवासिनीस्थविरान् जघन्यांश्च।' (गौतमधर्मसूत्र अ० ५)

महर्षि गौतम सदाचरण आदिमें किसका अनुकरण किया जाय, इसे बताते हुए कहते हैं—जिस कर्मको आत्मज्ञानी वृद्धजन, विनयसम्पन्न, दम्भ, लोभ, मोहसे रहित तथा वेदके जाननेवाले विद्वान् करनेयोग्य कर्तव्य बतायें, उसी कर्मको करे, अन्यको नहीं अर्थात् मनमाना कर्म न करे—

'—यच्चात्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलोभ-मोहवियुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समाचरेत्।'

(गौतमधर्मसूत्र अ० ९)

महर्षि गौतम बताते हैं कि व्यक्तिको चाहिये कि वह सत्यके संस्कारसे अनुप्राणित रहे, श्रेष्ठजनोंके आचारका परिपालन करे, अहिंसाव्रतपरायण रहे, मृदुव्यवहार रखे, सत्सङ्कल्पकी पूर्णतामें दृढ़तासे लगा रहे, इन्द्रियोंपर निग्रह रखे, दान-धर्मका पालन करे तथा शील एवं विनयसे सम्पन्न रहे—

'सत्यधर्मा आर्यवृत्तः अहिंस्रो मृदुदृढकारी दमदानशील०।' (गौतमधर्मसूत्र अ०९)

महर्षि गौतमने गोसेवाको धर्मसेवनका सर्वोपरि सहज उपाय बताया है और विस्तारसे गौकी महिमा निरूपित की है। उन्होंने गौके विश्वरूपका वर्णन करते हुए गौके शरीरमें सभी देवताओं तथा तीर्थोंका निवास बताया है—(वृद्ध गौतमस्मृति अ० १०)। वृषभको पितारूप तथा गौको मातृरूप बताते हुए उन्होंने कहा है कि इनकी पूजा करनेसे माता-पिताकी भी पूजा हो जाती है—

पितरो वृषभा ज्ञेया गावो लोकस्य मातरः।
तासां तु पूजया राजन् पूजिताः पितृमातरः॥
(वृद्धगौतमस्मृति १३।२२)

महर्षि गौतमने संस्कारोंका तो विस्तारसे निरूपण किया ही है, किंतु इनकी संस्कारोंपर विशेष निष्ठा दिखलायी पड़ती है, इसीलिये इन्होंने ४८ संस्कारोंकी गणना की है, जो अन्य आचार्योंकी गणनासे अधिक है। इनमें गर्भाधानादि संस्कार तो हैं ही २१ संस्कार और बताये हैं, जो सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञके रूपमें निर्दिष्ट हैं, इन सबको मिलाकर संस्कारोंकी संख्या चालीस हो जाती है। महर्षि गौतमने स्थूल करणोंके साथ-ही-साथ सूक्ष्म करणोंके संस्कारको भी आवश्यक बताया है, इसके लिये उन्होंने आठ संस्कार और गिनाये हैं, जिन्हें वे आत्मगुण नामसे प्रतिपादित करते हैं, 'अष्टावात्मगुणाः।' वे आठ आत्मगुण इस प्रकार हैं—

'दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति।' अर्थात् दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा—ये आठ आत्मगुण नामक संस्कार हैं। महर्षि गौतम बताते हैं कि गर्भाधानादि चालीस संस्कारोंसे स्थूल शरीरका संस्कार हो जाता है, किंतु सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीरके संस्कारोंके लिये सात्त्विक भावोंकी प्रतिष्ठा, अन्तःकरणके मलका अपसारण तथा पञ्चम पुरुषार्थरूप भगवत्सम्बन्ध होना आवश्यक है, तभी जीवका वास्तविक प्रयोजन सिद्ध होता है। स्थूल संस्कारोंसे जीवमें योग्यता प्राप्त होती है और वह धीरे-धीरे अन्तःकरणको पवित्र करता हुआ भगवान्‌से अपना नित्य सम्बन्ध बना लेता है। इस प्रकार महर्षि गौतमद्वारा प्रतिपादित संस्कार-मीमांसा अत्यन्त सूक्ष्म तथा कल्याणकर है। उन्होंने जो दया आदि आठ आत्मगुणरूपी संस्कार बताये हैं, उनका अन्यत्र भी पारिभाषिक रूपसे निर्देश हुआ है। महर्षि अत्रि तथा आचार्य बृहस्पतिने भी किञ्चित् नामान्तरसे इन्हें परिभाषित किया है, अति महत्त्वका होनेसे उसे यहाँ समग्ररूपसे दिया जा रहा है—

(१) दया—सम्पूर्ण चराचर जगत्‌में तथा सभी प्राणियोंमें अपने समान ही सुख-दुःखकी प्रतीति करते हुए सबमें आत्मभाव—परमात्मभाव रखकर दूसरेके श्रेय तथा कल्याणके लिये प्रसन्नतापूर्वक जो व्यवहार निरन्तर किया जाता है—इस प्रकारका समग्र वर्तन 'दया' कहा गया है—

आत्मवत्सर्वभूतेषु यद्धिताय शिवाय च।
वर्तते सततं हृष्टः कृत्स्ना ह्येषा दया स्मृता॥

(२) क्षमा—दूसरोंके द्वारा बाह्य शरीरमें तथा अन्तःशरीरमें दुःख पहुँचानेपर भी प्रतीकारस्वरूप न तो कोप करना और न मारनेकी चेष्टा करना—ऐसा भाव क्षमा कहा गया है अर्थात् किसी भी प्रकारसे न तो स्वयं उद्विग्न होना और न दूसरेको उद्वेलित करना—इस प्रकार समतामें स्थित रहनेका भाव 'क्षमा' है—

बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव दुःख उत्पादिते परैः।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥

(३) अनसूया—वेदज्ञान आदि सद्गुणोंमें महिमा-बुद्धिके कारण द्यूत और चौर्य आदि दुर्गुणोंसे युक्त व्यक्तिको पीड़ित न करना, अल्पगुणोंकी भी बहुत अधिक प्रशंसा करना तथा दूसरेके दोष-दर्शनमें प्रीति न रखना—इस प्रकारके भावको 'अनसूया' कहा गया है—

न दुर्गुणान् गुणैर्हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता॥

(४) शौच—अभक्ष्यभक्षणका परित्याग, निन्दित व्यक्तियोंका संसर्ग न करना तथा स्वधर्ममें स्थित रहना—इस प्रकारका भाव-संस्कार 'शौच' कहलाता है—

अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।
स्वधर्मेषु व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम्॥

(५) अनायास—जिस विहित कर्मके द्वारा

शरीरको अत्यन्त कष्ट प्राप्त होता हो, ऐसे कर्मको अधिक न करना अथवा उसका वर्जन करना अर्थात् सहजभावसे जो आसानीपूर्वक किया जा सके, उसे करनेका भाव 'अनायास' कहलाता है—

शरीरं पीड्यते येन शुभेनापि च कर्मणा।
अत्यन्तं वर्जयेत्तत् सोऽनायासः प्रकीर्तितः॥

(६) मङ्गल—श्रेष्ठ व्यक्तियोंका तथा शास्त्रमर्यादित आचरणका नित्य व्यवहार और निन्दनीय आचरणका परित्याग—इसे तत्त्वज्ञानी ऋषियोंके द्वारा 'मङ्गल' कहा गया है—

प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम्।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(७) अकार्पण्य—'प्रत्येक दिन दान देना कर्तव्य है'—यह समझकर अपने स्वल्पमेंसे भी अन्तरात्मासे प्रसन्न होकर प्रयत्नपूर्वक यत्किंचित् भी देना—यह भाव-संस्कार 'अकार्पण्य' कहलाता है—

स्तोकादपि हि दातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किंचित्तदकार्पण्यमुच्यते॥

(८) अस्पृहा—व्यक्तिको चाहिये कि वह विषयोंके सेवनमें सदा ही असंतोषका वर्जन करे, अर्थात् विषयोंके सेवन न करनेमें संतुष्ट रहे, बिना यत्न किये जो प्राप्त है, उसीमें संतोष रखे और परद्रव्यकी अभिलाषा न रखे—इस प्रकारकी भावनाको विद्वानोंने 'अस्पृहा' कहा है—

विवर्जयेदसंतोषं विषयेषु सदा नरः।
परद्रव्याभिलाषं च सास्पृहा कथ्यते बुधैः॥

इस प्रकार आठ आत्मगुणोंसे संस्कारित होनेको महर्षि गौतमजीने विशेष महत्त्व दिया है और बताया है कि जिसके गर्भाधानादि चालीस संस्कार नहीं होते और जो आठ आत्मगुणात्मक संस्कारोंसे सम्पन्न नहीं है, उसे कुछ फल प्राप्त नहीं होता, उसका जीवन व्यर्थ है, किंतु जो इन संस्कारोंसे संस्कृत होता है, वह ब्रह्मलोकमें वास करता है और ब्रह्म-सायुज्यको प्राप्त करता है—

'यस्यैते न चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीति।'

इसी भावको महर्षि अत्रिजी अत्रिसंहितामें बताते हुए कहते हैं—इन दया आदि आठ संस्कारयुक्त लक्षणोंसे सम्पन्न सद्गृहस्थ द्विज अपने उत्तम आचरणसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेता है और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता—

यद्येतैर्लक्षणैर्युक्तो गृहस्थोऽपि भवेद् द्विजः।
स गच्छति परं स्थानं जायते नेह वै पुनः॥
(अत्रिसंहिता, ४२)

महर्षि वेदव्यास-प्रतिपादित संस्कार-मीमांसा

महर्षि वेदव्यासजी भगवान्के चौबीस अवतारोंमें परिगणित हैं। अतः भगवान्के अवतरणके जो भी प्रयोजन हैं, वेदव्यासजीमें उन सबकी प्रतिष्ठा स्वाभाविक है, ये वाङ्मयावतार कहे जाते हैं। वेदव्यासजी वसिष्ठजीके प्रपौत्र, शक्ति ऋषिके पौत्र, पराशरजीके पुत्र तथा महाभागवत शुकदेवजीके पिता हैं। वेदज्ञानका प्रसार तथा वेदज्ञानका आख्यानशैलीमें पुराणोंमें प्रतिपादन—यह वेदव्यासजीका अपूर्व कौशल है। वेदसंहिताका ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व—इन चार रूपोंमें उनके ही द्वारा विभाजन हुआ और अठारह पुराणों तथा उपपुराणोंके रचयिता भी ये ही हैं। महाभारत-जैसा विशाल ग्रन्थ हमें उन्हींकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके विषयमें प्रसिद्ध है कि 'यन्न भारते तन्न भारते' अर्थात् जो महाभारतमें नहीं कहा गया है, वह भारतवर्षमें अन्य किसीके भी द्वारा नहीं कहा गया है। इनके साथ ही

वेदान्तका आर्ष ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र व्यासजीने हमें प्रदान किया है। इस प्रकार समस्त विद्याएँ, ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य प्रदान करनेवाले व्यासजीका हमपर महान् उपकार है।

महर्षि वेदव्यासजीकी समस्त जीवनचर्या धर्म, सदाचार, ज्ञान, वैराग्य, तप, संतोष, अपरिग्रह आदिपर प्रतिष्ठित रही है और इन्हींकी प्रतिष्ठाके लिये उन्होंने अवतार धारण किया। उन्होंने अपने वाङ्मयद्वारा इन सभी बातोंको बतलाया तथा स्वयं अपने जीवनमें उतारकर दिखलाया है। वेदों तथा ब्रह्मसूत्रमें उन्होंने शुद्ध परमात्मतत्त्वका निरूपण कर ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्गका उपदेश दिया है, वहीं पुराणोंमें सम्पूर्ण आचारधर्मका निरूपण किया है। नित्य, नैमित्तिक विधिप्रतिपादित कर्मों तथा निष्काम कर्मकी जैसी मीमांसा वेदव्यासजीने प्रस्तुत की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके द्वारा रचित धर्मशास्त्रके दो मुख्य ग्रन्थ हैं, जो उन्हींके नामसे प्रसिद्ध हैं। यथा—१-व्यासस्मृति तथा २-लघुव्याससंहिता।

वेदव्यासजीकी मान्यता है कि भगवान्की प्राप्तिके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि परमावश्यक है और इस शुद्धिमें मुख्य हेतु है व्यक्तिका अन्तर्बाह्य—सभी प्रकारसे शुद्ध, पवित्र एवं संस्कारसम्पन्न होना। इसीलिये वेदव्यासजीने अन्तः तथा बाह्यकी शुद्धिके लिये संस्कारोंसे संस्कृत होनेका विशेष परामर्श दिया है। महर्षि वेदव्यासजीका समस्त जीवन संस्कारोंमें ही पोषित हुआ है। सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्मकी प्रशस्तिमें वेदव्यासजीने बहुत कहा है और इसकी अनिवार्य आवश्यकता बतलायी है। इसीलिये अपने सम्पूर्ण कृतित्व विशेषरूपसे स्मृतियों तथा पुराणोंमें वेदव्यासजीने संस्कारोंका विशेषरूपसे प्रतिपादन किया है। सम्पूर्ण व्यासस्मृतिमें मुख्यरूपसे धर्माचरण, सदाचार, संस्कारतत्त्व, पातिव्रत्यधर्म, नित्यकर्मोंकी महिमा, गृहस्थधर्म तथा दानधर्मका प्रतिपादन हुआ है। संस्कारोंकी अवश्यकरणीयतापर विशेष बल देते हुए व्यासजीने १६ संस्कारोंका परिगणन किया है, जो इस प्रकार हैं—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः।
(व्यासस्मृति १।१३—१५)

व्यासजी बताते हैं कि गर्भाधानसे कर्णवेधतक जो ९ संस्कार कहे गये हैं, वे स्त्रियोंके अमन्त्रक किये जाते हैं, परंतु विवाह-संस्कार समन्त्रक होता है। शूद्रके ये दसों संस्कार बिना मन्त्रके ही सम्पादित होते हैं—

नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः॥
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश।
(व्यासस्मृति १।१५-१६)

आगे स्मृतिमें इन १६ संस्कारोंका क्रिया-विधान भी दिया है।

लघुव्याससंहिता तो सम्पूर्ण रूपसे नैत्यिक संस्कारोंके प्रतिपादनमें पर्यवसित है, वेदव्यासजी बताते हैं कि संस्कारोंसे सम्पन्न होना तो उत्तम पक्ष है ही, किंतु उसके साथ ही दैनिक आचारका पालन परम आवश्यक है। दैनिक नित्यकर्मोंसे सम्पन्न होनेपर ही व्यक्ति सुसंस्कृत और सदाचारवान् होता है, इसलिये स्नान, सन्ध्या-वन्दन, जप, देवपूजन, बलिवैश्वदेव तथा अतिथिपूजन—इन षट्कर्मोंको नित्य यथाविधि करना चाहिये। व्यासजी बताते हैं कि सन्ध्याविहीन व्यक्ति नित्य अपवित्र ही रहता है, वह सभी विहित कर्मोंके अयोग्य रहता है, वह जो भी कर्म करता है, उसका फल उसे प्राप्त नहीं होता—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलमाप्नुयात्॥
(लघुव्यास० १।२७)

वेदव्यासजीने पुराणोंमें पद-पदपर संस्कारोंके अनुपालन तथा सदाचारके सेवनपर विशेष बल दिया है। भागवत, पद्म, स्कन्द, मत्स्य, वामन, नारद आदि पुराणोंमें यह विषय विशेषरूपसे आया है। इनमें न केवल शरीरके संस्कार अपितु मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी शुद्धिके लिये भी विशेष संस्कार प्रतिपादित हैं। वेदव्यासजीने भावशुद्धिपर बहुत बल दिया है। वे बताते हैं कि भावशुद्ध हुए बिना स्थूल संस्कारोंका कोई तात्पर्य नहीं रहता। मुख्य संस्कार तो भगवान्के नाम-संकीर्तनका ही है, सभी संस्कारोंका

पर्यवसान भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करना है; अतः उन्हीं भगवान्‌के पवित्र नामोंका संकीर्तन करना चाहिये। यह कल्याणका सर्वोपरि साधन है। व्यासजी कहते हैं—

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(श्रीमद्भा० १२।१३।२३)

अर्थात् जिन भगवान्‌के नामोंका संकीर्तन सारे पापोंको सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान्‌के चरणोंमें आत्मसमर्पण, उनके चरणोंमें प्रणति सर्वदाके लिये सब प्रकारसे दुःखोंको शान्त कर देती है, उन्हीं परमतत्त्वस्वरूप श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ।

भगवद्भक्तिका संस्कार दृढ़ करनेके लिये व्यासजी नारदपुराणमें बताते हैं कि जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर 'हरि' ये दो अक्षर वास करते हैं, वह पुनरावृत्तिरहित श्रीविष्णुधामको प्राप्त होता है—

जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्।
स विष्णुलोकमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम्॥

नारदपुराणके पूर्वभाग अध्याय २५में वेदव्यासजीने संस्कारों तथा उनके नियत कालोंका विशेष विवरण दिया है। विवाह-संस्कारके भेद बताते हुए वे कहते हैं कि ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच—ये आठ विवाहके भेद हैं। इनमें ब्राह्म विवाह ही प्रशस्त है, दैव तथा आर्ष मध्यम हैं शेष पाँच विवाह निन्दित हैं। आगे विस्तारसे सदाचार तथा शौचाचारकी मीमांसा की गयी है तथा सन्ध्योपासनाकी विधि दी गयी है। तीनों कालकी गायत्रीदेवीके ध्यानमन्त्र दिये गये हैं।

महर्षि व्यासजी दैनिक आचारकी मीमांसा करते हुए बताते हैं—पृथ्वी हमारी माता है, माताको पैरसे स्पर्श करना निषिद्ध है, किंतु प्रातः शय्यासे उठनेके अनन्तर हमें विवशतावश भूमि (पृथ्वीमाता)-पर पैर रखना पड़ता है, इसलिये निम्न मन्त्रसे भूदेवीसे क्षमा-याचना करनी चाहिये—

समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले॥
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।
(नारदपु० पूर्व० ६६।१-२)

वेदव्यासजी बताते हैं कि संस्कारोंके विधि-विधान बिना पवित्र जलके हो नहीं सकते। अतः स्नान, आचमन, सङ्कल्प आदिके लिये गङ्गा आदि नदियोंके पवित्र जलका यथाशक्ति उपयोग करना चाहिये। इसकी महिमामें वे कहते हैं—जिनके सम्पूर्ण कृत्य सदा गङ्गाजलसे ही सम्पन्न होते हैं, वे मनुष्य शरीर त्यागकर भगवान् शिवके समीप आनन्दका अनुभव करते हैं—

सर्वाणि येषां गङ्गायास्तोयैः कृत्यानि सर्वदा।
देहं त्यक्त्वा नरास्ते तु मोदन्ते शिवसंनिधौ॥
(नारदपु०, उत्तर० ३८।५३)

पद्मपुराणमें उपनयन-संस्कारके प्रकरणमें गायत्रीजपकी विशेष महिमा प्रतिपादित है और बताया गया है कि गायत्री वेदोंकी जननी है, गायत्री सम्पूर्ण संसारको पवित्र करनेवाली है। गायत्रीसे बढ़कर दूसरा कोई जपनेयोग्य मन्त्र नहीं है, यह जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है—

गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी।
गायत्र्या न परं जप्यमेतद्विज्ञाय मुच्यते॥
(पद्म०, स्वर्ग० ५३।५८)

वेदव्यासजीरचित पद्मपुराणके पातालखण्डमें वर्णन आया है कि जब सीतामाता महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें पर्णशालामें रहती थीं तो समय आनेपर उन्होंने दो पुत्रोंको जन्म दिया जो आकृतिमें श्रीरामचन्द्रजीके समान तथा अश्विनीकुमारोंकी भाँति मनोहर थे। इस समाचारको जानकर महर्षि वाल्मीकिको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। अतः उन बालकोंके जातकर्म आदि संस्कार उन्होंने ही सम्पन्न किये। महर्षि वाल्मीकिने उन बालकोंके संस्कार-सम्बन्धी सभी कर्म कुशों और उनके लवों (टुकड़ों)-द्वारा ही किये थे। अतः उन्हींके नामपर उन दोनोंका नामकरण किया—कुश और लव।

विष्णुपुराणमें जातकर्म, नामकर्म, उपनयन तथा विवाह आदि संस्कारोंका वर्णन है। जातकर्मके विषयमें व्यासजी बताते हैं कि पुत्रके उत्पन्न होनेपर पिताको चाहिये कि उसका जातकर्म आदि समस्त क्रियाकाण्ड और आभ्युदयिक श्राद्ध करे—

जातस्य जातकर्मादिक्रियाकाण्डमशेषतः।
पुत्रस्य कुर्वीत पिता श्राद्धं चाभ्युदयात्मकम्॥
(विष्णुपुराण ३।१०।४)

आगे बताया है कि उपनयन-संस्कार हो जानेपर गुरुगृहमें रहकर विधिपूर्वक विद्याध्ययन करे—

ततोऽनन्तरसंस्कारसंस्कृतो गुरुवेश्मनि।
यथोक्तविधिमाश्रित्य कुर्याद्विद्यापरिग्रहम्॥

(विष्णुपुराण ३।१०।१२)

विवाह-संस्कारके विवरणमें व्यासजी बताते हैं कि मातृपक्षसे पाँचवीं पीढ़ीतक और पितृपक्षसे सातवीं पीढ़ीतक जिस कन्याका सम्बन्ध न हो, गृहस्थ पुरुषको नियमानुसार उसीसे विवाह करना चाहिये—

पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम्।
गृहस्थश्चोद्वहेत्कन्यां न्यायेन विधिना नृप॥

(विष्णुपुराण ३।१०।२३)

महर्षि वेदव्यासजी माता-पिताकी सेवाको पारमार्थिक संस्कारके रूपमें बताते हुए उसकी महिमामें कहते हैं—

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५२।११)

इसका भाव यह है कि मातामें सभी तीर्थोंका अधिष्ठान है अथवा सभी तीर्थोंका जो पावनत्व है, उससे भी अधिक पवित्र माता है, इसी प्रकार पितामें सभी देवता प्रतिष्ठित हैं। अतः सभी प्रकारके प्रयत्नसे माता-पिताकी सेवा-पूजा करनी चाहिये।

श्रीव्यासजी ऐसे सदाचारसम्पन्न, संस्कारवान्, धर्मात्मा पुरुषको देवस्वरूप बताते हैं, जो जितेन्द्रिय, दुर्गुणोंसे मुक्त, नीतिशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाला तथा ऐसे ही उत्तम गुणोंसे पवित्र होता है, वह चाहे स्वर्गलोकका निवासी हो चाहे मनुष्यलोकका, यदि पुराणों तथा आगमोंमें निर्दिष्ट सदाचरणरूप पुण्यकर्मोंका पालन करता है तो इस पृथ्वीका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है—

यो दान्तो विगुणैर्मुक्तो नीतिशास्त्रार्थतत्त्वगः।
एतैश्च विविधैः पूतः स भवेत्सुरलक्षणः॥
पुराणागमकर्माणि नाकेष्वत्र च वै द्विजः।
स्वयमाचरते पुण्यं स धरोद्धरणक्षमः॥

(पद्म०, सृष्टि० ७८।१३४-१३५)

महर्षि वेदव्यासप्रणीत अग्निपुराण तो समस्त विद्याओं, कलाओं तथा ज्ञान-विज्ञानका कोष ही है। स्वयं व्यासजी कहते हैं—

'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वविद्याः प्रदर्शिताः॥'

(अग्निपु० ३८३।५१)

तदनुसार इसमें संस्कारोंका सूक्ष्म किंतु महत्त्वपूर्ण वर्णन हुआ है। गृहस्थधर्मके प्रकरणमें व्यासजी बताते हैं कि गर्भाधानके अनन्तर गर्भका स्पष्टरूपसे ज्ञान हो जानेपर गर्भस्थ शिशुके हिलने-डुलनेके पहले ही 'पुंसवन-संस्कार' होता है। तत्पश्चात् छठे या आठवें मासमें सीमन्तोन्नयन किया जाता है। बालकका जन्म होनेपर नाल काटनेके पहले ही उसका जातकर्म-संस्कार करना चाहिये। सूतक निवृत्त होनेपर नामकरण-संस्कार करना चाहिये—

'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।'

(अग्निपु० १५३।४)

उक्त संस्कारके समय पत्नी स्वामीकी गोदमें पुत्रको दे और कहे—'यह आपका पुत्र है'।

'बालं निवेदयेद् भर्त्रे तव पुत्रोऽयमित्युत॥'

(अग्निपु० १५३।६)

फिर कुलाचारके अनुसार चूडाकरण करके उपनयन-संस्कार करे। ब्राह्मणवटु भिक्षा माँगते समय वाक्यके आदिमें 'भवत्' शब्दका प्रयोग करे, वह माताके पास जाकर कहे—'भवति भिक्षां मे देहि मातः।' इसी प्रकार क्षत्रियवटु वाक्यके मध्यमें तथा वैश्यवटु अन्तमें 'भवत्' शब्दका प्रयोग करे। यथा—क्षत्रियवटु कहे—'भिक्षां भवति मे देहि', वैश्यवटु कहे—'भिक्षां मे देहि भवति।' व्यासजीने संक्षेपमें इस बातका निदर्शन करते हुए कहा है—

'आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षितम्॥'

(अग्निपु० १५३।११)

उपनयन करके गुरु ब्रह्मचारीको शौचाचार, सदाचार, अग्निहोत्र तथा सन्ध्योपासनाकी शिक्षा प्रदान करे—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च॥

(अग्निपु० १५३।१३)

निम्बार्क-सम्प्रदायके पञ्चसंस्कार

आदिवैष्णवाचार्य, सुदर्शन चक्रावतार अनन्तश्री जगद्गुरु भगवान् निम्बार्काचार्यने मोक्षप्राप्तिके लिये ब्रह्मकी साधना प्रवर्तित की। इनके मतसे अमूर्त उपासनाकी अपेक्षा प्रकाशित मूर्तरूपकी उपासना जीवके लिये सहज साध्य एवं अधिक कल्याणकारी है। अतएव साधकके लिये सत्त्वगुणाधिपति भगवान् श्रीकृष्णकी युगलमूर्तिकी उपासनाका ही विधान किया गया है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने जो उपासना प्रचलित की, यह सार्वभौम थी। आचारपालन उनकी उपासनाकी आधारशिला थी। सदाचारसम्पन्न व्यक्ति ही ईश्वरके समान महान् गुणोंवाला हो सकता है। यही उनका सिद्धान्त था। यदि मनुष्यको अपनेमें दैवीगुणोंको एकत्र करना है तो उसे आध्यात्मिक भक्तियोगकी साधना करनी चाहिये। संयम और साधना ही सफल जीवनकी कुञ्जी है और इसीलिये आचारकी प्राथमिकता मानी गयी है। श्रीनिम्बार्कने जो पञ्चसंस्कार प्रचलित किये थे वे व्यावहारिक और सार्वभौम हैं। वास्तवमें ये संस्कार जीवका परिमार्जन करनेवाले हैं। इन संस्कारोंकी महत्ताको सभी वैष्णवाचार्योंने स्वीकार किया है। आचार्यश्रीके परम प्रिय शिष्य श्रीनिवासाचार्यजीने आचार्यजीको 'पञ्चसंस्कारदाता' कहा है—

> तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
> अमी हि पञ्च संस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः॥
>
> ([illegible] २।२)

नारदपाञ्चरात्रके अनुसार आचार्यश्रीके प्रतिपादित ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग—ये पाँच संस्कार हैं। अतः वृत्तियोंको संयमित करनेके लिये इनकी परम आवश्यकता है।

ताप अर्थात् तप-संस्कारका सर्वोपरि महत्त्व है। तपके अनेक प्रकार हैं। भारतीय संस्कृतिके मूलमें ही तप है। सृष्टिके आदिकालसे ही तपकी विशेषता रही है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने व्रत (उपवास)-को ही प्रधान तप कहा है। दीर्घकालीन व्रतका कोई विधान स्वीकार नहीं किया। माहमें केवल दो व्रतोंकी विशेषता बतलायी। एकादशीव्रतद्वारा शरीरकी ग्यारह इन्द्रियोंको संयमित करना चाहिये। आचार्यश्रीने द्वादशीसे स्पृष्ट एकादशीव्रतका विशेष महत्त्व कहा है, जिसका तात्पर्य होता है कि ग्यारह इन्द्रियोंके साथ अहङ्कारका भी संयमन करना चाहिये; क्योंकि तैजस अहङ्कार दस इन्द्रियोंकी वृत्तिका कारण है। अहङ्कारका स्थान हृदयमें माना गया है। हृदयमें प्रभुका चिन्तन करनेके लिये हृदयको शुद्ध किया जाय, यह अति आवश्यक है। व्रत ही उस स्थलकी शुद्धि करनेका सुलभ साधन है। जैसे अग्निसे तपाकर स्वर्ण शुद्ध किया जाता है, वैसे ही व्रत-साधनसे शरीरस्थ वैश्वानर (जठराग्नि)-का उद्दीपन होता है और अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ संयमित हो जाती हैं।

इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ तो उपवाससे शान्त हो जाती हैं, परंतु सांसारिक विषयोंकी ओरसे एकदम आसक्ति छूटने लगती हो—ऐसा नहीं समझना चाहिये। सांसारिक राग (रस) तो तभी छूट सकता है, जबकि यह परं रसका अनुगामी हो जाय। परं रसको हृदयमें साक्षात् करनेके बाद ही सांसारिक रससे छुटकारा मिलता है। अतः परं सुखको जाननेहेतु तप (व्रत)-के अतिरिक्त अन्य संस्कारोंकी भी आवश्यकता होती है।

गोपीचन्दनका तिलक मस्तक आदि शरीरके बारह अवयवोंमें लगाया जाय, इसे पुण्ड्र-संस्कार कहते हैं। शरीरमें सात चक्रोंकी कल्पना की गयी है। उनमें पाँचों चक्रों (नाभिके मणिपूरचक्रसे लेकर सिरके सहस्रारचक्रतक)-में तथा इडा, पिङ्गला, पयस्विनी, पद्मस्विनी, पूषा, शङ्खिनी, सरस्वती और वारणा नामक इन चक्रोंमें संलग्न नाडियोंमें ऊर्ध्वगामी खड़ी दो रेखाओंको लगानेका विधान है। इन

स्थलोंपर चन्दनका लेप करनेसे शीतलता, तेज, कान्ति एवं स्फूर्तिका सञ्चार होता है तथा भगवच्चिन्तनमें संलग्नता होती है। मिट्टीकी शक्ति प्राकृतिक दृष्टिसे सम्मान्य है। गोपीचन्दनकी मिट्टी विशेष शक्तिसम्पन्न है। नाडियोंमें प्रवाहित होनेवाले रक्तकी शुद्धि चन्दनके लेपसे होती है। इसी प्रकार तुलसीकी मालाको कण्ठमें धारण करनेका विधान है जो वैज्ञानिक है। तुलसीवृक्षका प्रत्येक अवयव गुणकारी कहा गया है। विजातीय कीटाणुओंका संहनन, कफका शमन, वायुका संयमन, पित्तका समीकरण आदि तुलसीके विशेष गुण हैं। कण्ठ शरीरके अन्य अवयवोंमें सर्वाधिक संवेदनशील सन्धिस्थल है। शरीरमें होनेवाले विपाक्त विकारोंकी सूचना सर्वप्रथम कण्ठसे निकलनेवाली ग्रन्थियोंसे मिल जाती है। इसीलिये तुलसीकी कण्ठीको धारण करनेसे देहकी सर्वाधिक शुद्धि होती है।

नाम-संस्कारका बड़ा प्रभाव है। नामसे व्यक्ति और समुदायकी प्रवृत्ति तथा संस्कृतिका परिज्ञान हो जाता है। वैष्णवोंने नाम-संस्कारको भी अपनी उपासनाका एक अङ्ग माना है। उसका कारण है उनकी एकनिष्ठता और भगवन्नामके प्रति गाढ़ानुराग। वैष्णव चाहते हैं कि उनकी वाणीसे, शरीरसे या मनसे अपने उपास्यके अतिरिक्त न कुछ कहा जाय और न किया जाय, न सोचा जाय। सांसारिक जीवन उपास्यमय हो जाय—यही एकमात्र ध्येय होता है। श्रीमद्भागवतकी अजामिलकी कथामें इसका महत्त्व दिखलाया गया है। वैष्णवका नाम उपास्यमय हो, उनका कर्म उपास्यमय हो, तभी वे उपास्यके स्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं। अनुकरणसे अनुरूपता स्वाभाविक रूपसे आ ही जाती है। जैसे कि आज अधिकांश व्यक्ति प्रत्येक कार्यमें पाश्चात्योंका अनुकरण करनेकी चेष्टा करते हैं, जिससे वे भाषा-भूषा, आहार-व्यवहारमें वैसे ही प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार वैष्णव भी ब्रह्मके स्वरूप और गुणका अनुकरण कर उनके समान होना चाहते हैं। समानता प्राप्त करना ही श्रीनिम्बार्काचार्यके मतमें भगवद्भावकी प्राप्ति नामक मुक्तिका स्वरूप है। जीवकी जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी ही उसकी प्रकृति बनती है अथवा यों समझें कि प्रकृतिके अनुसार ही प्रवृत्ति होती है। प्रकृति और प्रवृत्तिका घनिष्ठ सम्बन्ध है। कथनी और करनीका एक होना ही कार्यसिद्धिकी प्रथम सीढ़ी है। न केवल कहनेसे कुछ हो सकता है और न केवल करनेसे ही। जीवात्माका ज्ञान ही कर्मकी ओर प्रवृत्त करता है। ज्ञान और कर्मका संयोग ही भक्तियोगका आधारस्थल है, जिस स्थलसे भक्तियोगका उदय होता है। ज्ञान और कर्मके सतत अभ्याससे नैष्कर्म्य-स्थिति होती है, जिस स्थितिमें जीवात्मा कहते हुए भी नहीं सुनता, जानते हुए भी नहीं जानता। यही परमात्माके साथ जीवात्माकी साम्यावस्था है। सांसारिक दृष्टिमें यह पागलपन है तो साधककी दृष्टिमें यह सिद्धावस्था है। सांसारिक बन्धनोंकी अवस्था सहज (स्वाभाविक) है। वस्तुतः यह पागलपन नहीं है। पागलपनमें तो अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ अपनी अस्वाभाविक पराकाष्ठापर पहुँच जाती हैं। जैसे कि क्रोध करना जीवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, वह तो किन्हीं कारणवश जीवके स्वभावमें उत्पन्न होती है। पागलपनमें यही प्रवृत्ति अपनी सीमा पार कर जाती है, जिससे पागल व्यक्ति ऐसे कुकृत्य कर बैठता है जो कि हानिकारक होते हैं। भक्तोंकी वह सिद्धावस्था है, उसमें अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ अपने स्वाभाविक रूपमें रहती हैं। उनके क्रोधसे किसीकी हानि सम्भव नहीं है।

संस्कारोंमें पुण्ड्र [चिह्न-तिलक और कण्ठी] तथा नाम—ये दोनों बाह्य संस्कार हैं। तप बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों प्रकारका है। मन्त्र और याग आभ्यन्तर संस्कार हैं।

मन्त्र-संस्कारका सम्बन्ध मनसे है। मन्त्रके अविच्छिन्न अभ्यासको 'जप' कहते हैं। जपके तीन प्रकार कहे गये हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। वाचिक जपमें वाणीके द्वारा मन्त्रका उच्चारण होता रहता है। उपांशु जपमें शब्दका उच्चारण तो नहीं होता, परंतु जीभ और ओठ इत्यादि हिलते रहते हैं। मानस जपमें मन्त्रका अभ्यास मनमें ही चलता रहता है। मन्त्रके स्वरूपमें भगवान्‌का चिन्तन करनेसे विघ्नोंका अभाव और जीवात्माके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। मन्त्रके प्रभावसे मनकी शक्ति अपार हो जाती है। मनका समाधान हो जानेसे सारी इन्द्रियोंका समाधान हो जाता है। मनसे ही परमात्मतत्त्वको जाना

जा सकता है। इसलिये मन्त्रके द्वारा मनको संयमित किया जाता है। हृदय ही मन है। सम्पूर्ण वस्तुओंको जाननेकी शक्ति, आज्ञा देनेकी शक्ति, सब पदार्थोंको विभिन्नरूपसे जाननेकी शक्ति, तत्काल ज्ञानकी शक्ति, वेग, स्मरणशक्ति, धारण करनेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, धैर्य, बुद्धि, मननशक्ति, संकलनशक्ति मनोरथशक्ति, प्राणशक्ति, कामनाशक्ति—ये सब शक्तियाँ मनसे उत्पन्न होती हैं। मनसे ही सम्पूर्ण सृष्टि होती है। इसलिये मनको मन्त्रके अभ्यासद्वारा वशीभूत कर लेनेसे मनकी सम्पूर्ण शक्ति प्रबल हो जाती है। तन्त्रशास्त्रमें जैसी शक्तिको बढ़ानेकी इच्छा होती है वैसे ही मन्त्रका विधान किया गया है। इन्हें प्राप्त कर लेना सिद्धि है। इन सकाम मन्त्रोंके अनुष्ठानकी विधियाँ हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी निष्काम मन्त्रानुष्ठानकी आज्ञा देते हैं। निष्काम मन्त्रानुष्ठानसे परमात्माके समान महान् शक्ति प्राप्त होती है। सर्वसामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, मन स्वच्छतम हो जाता है और मनकी अपार शक्तिमें इच्छा आदि सारी शक्तियाँ डूबकर विलीन हो जाती हैं। मन्त्रद्वारा उपास्यका ध्यान करनेसे मन स्थिर हो जाता है।

याग-संस्कारका तात्पर्य है भगवच्चर्चा अर्थात् इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण भोगवृत्तियोंको भगवान्में समर्पण कर देना। श्रुति (वेद)-में विष्णुको ही यज्ञ कहा गया है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने इन्द्रियोंकी सूक्ष्म अणुरूप वृत्तियोंको संगठितरूपसे मनसे संयोग कर जीवात्मामें संयुक्त कर देनेको मोक्षकी प्रथम अवस्था कहा है। सम्पूर्ण वृत्तियोंसे संगठित उपासककी मनोवृत्तिका ईश्वरमें तन्मय हो जाना ही भक्तियोग है। आचार्यचरणने इस आत्महवनसे जीवात्माको कृतकार्य माना है और सांसारिक बन्धनोंसे मुक्तिका प्रधान साधन कहा है। यह तन्मययोग भगवान्की प्रतीकोपासनासे होता है। भगवान्की प्रतिमाकी अर्चनासे इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका एकीकरण होने लगता है। इस योगका अभ्यास आभ्यन्तर और बाह्य, दोनों प्रकारसे किया जा सकता है। बाह्य अभ्यासके लिये प्रतिमापूजनका विधान है। आभ्यन्तर अभ्यासमें मनको ही प्रतिमा मानकर पूजन किया जाता है। आचार्यश्रीने आभ्यन्तर उपासनापर अधिक बल दिया है। प्रारम्भिक श्रेणीके साधकोंके लिये बाह्य अर्चनाका ही अभ्यास करना उचित है। आभ्यन्तर उपासना तो उच्च श्रेणीके साधकोंसे साध्य है। इन संस्कारोंसे चित्तकी सारी वृत्तियाँ एकरस होकर प्रवाहित होती हैं।

मनसहित इन्द्रियोंकी पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं। १-विषयोंकी ओर झुकावसे ग्रहणवृत्ति, २-इन्द्रियोंके अपने स्वाभाविक गुणोंसे स्वरूपवृत्ति, ३-सारी इन्द्रियोंके अहङ्कारसे सम्बन्धित हो जानेसे अस्मितावृत्ति, ४-सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके संयोगके प्रकट होनेसे अन्वयवृत्ति, ५-भोगकी कामनाओंसे अर्थवत्त्ववृत्ति होती है। इन पाँचों प्रकारकी वृत्तियोंका संयमन ही इन्द्रियविजय है। ताप-संस्कारसे इन्द्रियाँ विषयोंकी ओरसे हट जाती हैं। यही ग्रहणवृत्तिका संयम है। पुण्ड्र-संस्कारसे इन्द्रियोंकी जो देखना, सुनना, आस्वाद आदि स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं, ये सब निर्विकारभावको प्राप्त हो जाती हैं। यही स्वरूपवृत्तिका संयम है। इन्द्रियोंके उपभोगमें जीवके अहंकारका संयोग हो जानेसे 'मैं देखता हूँ', 'मैं सूँघता हूँ'—ऐसा अनुभव हो जाता है। नाम-संस्कारसे 'मैं' का प्रयोग भगवान्के नाममें ही होता है। जैसे कि कृष्ण देखता है, कृष्ण सुनता है आदि। इस प्रकार अहङ्कारका कृष्णमय हो जाना ही अस्मितावृत्तिका संयम है। मन्त्रजपसे सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके जो संस्कार हैं, उनका निराकरण होता है। मनकी निर्मल स्थिति होती है। यही अन्वयवृत्तिका संयम है। इन्द्रियोंके भोगकी कामनाओंको पूर्णरूपसे भगवान्को अर्पणकर देना ही याग-संस्कार है। इसीको अर्थवत्त्ववृत्तिका संयम समझना चाहिये।

वैष्णवीय पाँच संस्कारोंसे इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त होती है। उसके फलस्वरूप इन्द्रियोंकी मनके समान सूक्ष्म गति, सर्वज्ञता और प्रकृतिपर अधिकार प्राप्त हो जाता है। मनके समान गतिको मनोजवसिद्धि कहते हैं। ताप-संस्कारसे मनोजवित्व प्राप्त होता है। पुण्ड्रसंस्कारसे सर्वज्ञत्वसिद्धि प्राप्त होती है तथा नाम, मन्त्र और याग-संस्कारसे प्रकृतिपर अधिकार प्राप्त होता है।

इन संस्कारोंके फलस्वरूप सांसारिक विषयोंसे मन विरत हो जाता है और परमात्मापर अपार श्रद्धा हो जाती है। (निम्बार्कवेदान्त) [प्रेषक—श्रीमधुकरजी अग्रवाल]

~~~0~~~
~~~

वल्लभकुलकी आचार-परम्परामें संस्कारोंका अवदान

भारतवर्षके विभिन्न वैष्णव-मतोंमें वल्लभ-सम्प्रदायका विशिष्ट स्थान माना जाता है। इस सम्प्रदायके प्रमुख आराध्य श्रीकृष्णस्वरूप प्रभु श्रीनाथजी हैं। नन्दनन्दन प्रभु श्रीनाथजीकी सेवा और उसके माध्यमसे जीवनमें शुभ संस्कारोंका अवतरण इस सम्प्रदायकी अपनी विशेषता है। इस पुष्टि-मार्गमें प्रभु-सेवा ही मुख्य संस्कार है। प्रभुकी दैनन्दिन-सेवा प्रत्यूषकी वेलासे ही प्रारम्भ हो जाती है और सेवाएँ भी ऐसी जो प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक झाँकी एवं विभिन्न भोग-रागोंमें सन्निहित होती हैं। प्रभुकी सेवाएँ एक ओर भगवदानन्दकी भागीरथी बहाती हैं तो दूसरी ओर शुभ संस्कारोंकी सरस्वतीका प्रवाहन कर देती हैं। जिन्हें इस भगवत्-सेवाके रसका चसका लग जाता है, उनका सम्पूर्ण जीवन शुभ संस्कारोंसे सम्पृक्त हो उठता है। प्रभुसेवासे सद्विचारोंकी कलिमलहारिणी कालिन्दी प्रवाहित हुए बिना नहीं रहती। भगवत्-सेवाके उपरान्त व्यक्ति भगवच्चरणानुरागके शुभ विचारोंसे आलोडित होता रहता है और देखते-ही-देखते दिनका अवसान हो जाता है। निरर्थक चिन्तनका उसे अवसर ही नहीं मिलता, जिससे उसका जीवन कदाचारकी कालिमासे कलुषित नहीं होने पाता। भगवत्-सेवासे सद्विचार और शुभ संस्कार उसके जीवनमें गहरे पैठ जाते हैं। जितने दिनतक ऐसा व्यक्ति भूतलपर रहता है, सर्वत्र अपने सदाचारके सौरभसे सुवासित रहता है और जीवनान्त होनेपर एक आदर्श सेवा-संस्कारसम्पन्न भक्तके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

आचार्यचरण महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने पुष्टिमार्गमें प्रभुसेवाके द्वारा ही जनमानसमें अनेक मनोद्वेगोंका शमन कर सदाचरण करते हुए सुख-शान्तिमय जीवन व्यतीत करनेकी शिक्षा दी है। प्रातः मरीचिमालीकी मयूखोंके उदयसे पूर्व प्रभु श्रीनाथजीको जगाया जाता है। प्रभुके दर्शनार्थ मन्दिर पहुँचनेवाले असंख्य भक्तोंको प्रभुदर्शनार्थ पहले ही जगना पड़ता है, ताकि वे मङ्गलाके दर्शन कर सकें। इस सेवासे जीवनमें प्रातः शीघ्र जगनेके संस्कार सहज ही मिल जाते हैं। ब्राह्ममुहूर्तमें जगना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक माना जाता है।

तदनन्तर प्रभुको स्नानादि कराया जाता है। उन्हें नये-नये वस्त्र पहनाये जाते हैं। आभूषण-अलङ्कार पहनाकर उन्हें सुसज्जित किया जाता है। हमारे नन्दलाल भुवनमोहन बन जाते हैं। इस शृङ्गारकी झाँकीसे प्रत्येक माँको अपने नन्हे शिशुको नहलाने-धुलाने एवं वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित करनेके संस्कार मिलते हैं। शृङ्गार होनेके पश्चात् प्रभुकी रूपमाधुरीके दर्शन अत्यन्त नयनानन्ददायक होते हैं। भक्त कवि श्रीसूरदासजीके शब्दोंमें—

चारु कपोल लोल लोचन छबि गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप गन मादक मधुहि पिये॥
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिये।
धन्य 'सूर' एकौपल या सुख का सत कल्प जिये॥

सेवाके क्रमको संस्कारोंकी पाठशाला ही समझना चाहिये।

ठाकुरसेवामें 'ग्वालकी झाँकी' का भी अपना महत्त्व है। पुष्टिमार्गीय भावनानुसार इस समय प्रभु यशोदामैयासे आज्ञा लेकर वनमें गोमाताओंको चराने जाते हैं। माँ अपने बालकको भूख न सताये; अतः दही-भात बनाकर साथमें दे देती हैं। इस ग्वालरूपके दर्शन समग्र संसारको श्रीकृष्णस्वरूप प्रभु श्रीनाथजीको गोप्रियता दिखा रहे हैं। सृष्टिके स्वामी—शेषशय्यापर शयन करनेवाले—जिनके पलक झपकनेमात्रसे सृष्टिका प्रलय हो जाय—वे ईश्वर सच्चिदान—

प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र श्रीनाथजी अपने ग्वाल-बालोंको साथ लेकर गोचारणको वनमें पधार रहे हैं। आजके युगमें गोमाताओंपर होनेवाले अत्याचारके सन्दर्भमें गोरक्षा और गोसेवाके पुनीत संस्कारोंका पुञ्जीभूत यह वैष्णवमत वल्लभ-सम्प्रदाय है। आज भी प्रभु श्रीनाथजीकी सेवामें तीन हजार गोमाताएँ विराजमान हैं। प्रभुके मन्दिरमें नित्य नन्दमहोत्सव हो रहा है। प्रभु श्रीनाथजीमें दही-दूध और नवनीतकी कमी नहीं है। भगवान्‌को भोगके रूपमें इसे प्रचुरमात्रामें अरोगाया जा रहा है। प्रभुके अरोग लेनेके बाद वैष्णवजन उसे शिरोधार्य कर महाप्रसादके रूपमें ले रहे हैं। आज भी दीपावली एवं अन्नकूटपर्वपर गोमाताओंको पैरोंमें पैंजनिया, सिरपर मोरपंखका मुकुट, गलेमें घंटियाँ तथा शृङ्गोंपर चाँदीकी शृङ्गी चढ़ाकर एवं पूरे श्रीअङ्गमें महावर सजाकर श्रीगोवर्धन-पूजाके समय श्रीमन्दिरमें ठाकुर श्रीनवनीतप्रियजीके समक्ष पधराया जाता है। ऐसा गोपालन—गोसेवा और गोप्रियताका उदाहरण भारतवर्षमें कदाचित् ही कहीं देखनेको मिले। इस सम्प्रदायमें गोसेवाकी महती प्रधानता देखते ही बनती है। इससे गोसेवा तथा प्रभुभक्तिका संस्कार प्राप्त होता है।

प्रात:की सेवामें सबसे बड़े दर्शन 'राजभोग' के होते हैं। इसमें आनन्दकन्द प्रभुके परमानन्ददायक दर्शनोंके पूर्व प्रभुको राजभोग अरोगाया जाता है। हमारे नन्दराजकुमार प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रनाथजी यशोदोत्संगलालित बालभावसे सेवा स्वीकारते हैं। वल्लभाधीश प्रभु श्रीनाथजी अपनी अष्टयामकी सेवामें दर्शनके पूर्व कुछ-न-कुछ अरोगते ही रहते हैं। सद्य:स्नात बालकको तीव्र भूख लगती है, अत: प्रभु श्रीनाथजी शृङ्गारमें पक्वान्न अरोगते हैं तो राजभोगमें सकड़ी-प्रसाद। प्रत्येक माँको चाहिये कि बालकको स्नान कराते ही उसके लिये कुछ भोजन आदिका प्रबन्ध रखे और उसके कुछ देर बाद पूरे भोजनका। शृङ्गार-ग्वालमें थोड़ा-बहुत अरोगनेके बाद अब प्रभु राजभोग अरोगते हैं। चूँकि आप राजाधिराज हैं, अत: राजभोग कोई छोटा-मोटा नहीं होता। बालककी भावनाके अनुरूप राजभोग तैयार होता है। बालकके समक्ष अनेक सुस्वादु पकवान बनाकर रख दीजिये, लेकिन वह खायेगा वही जिसपर उसकी रुचि होगी। राजभोगकी इस महती सेवामें एक ओर बालमनोविज्ञानकी शिक्षा छिपी है तो दूसरी ओर नाना प्रकारके पक्वान्न बनानेकी अनूठी सीख इस सम्प्रदायसे ली जा सकती है। आज भी वैष्णवजन प्रभु श्रीनाथजीके सकड़ी-महाप्रसादको ग्रहण करनेके लिये लालायित रहते हैं और जो लेते हैं वे रसास्वादन करनेसे अघाते नहीं हैं। इन्हीं अनेक विशिष्टताओंसे सम्पन्न वल्लभ-सम्प्रदायको रससम्प्रदाय कहा जाता है।

अपराह्नमें प्रभुका विश्रामके पश्चात् उठना 'उत्थापन' कहलाता है। उनींदेनयन अल्प शृङ्गारमें यह प्रभुकी मनोमोहक झाँकी है। अन्तिम दर्शनको 'शयन' के नामसे सम्बोधित किया जाता है। प्रभुका शयन करना और नींद नहीं आना एवं माता यशोदाका लोरी गाकर बालकको सुलाना भारतीय संस्कृति है। इसमें माँके प्यारका प्राञ्जलस्वरूप देखते ही बनता है। महाकवि श्रीसूरदासजीके शब्दोंमें—

> जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
> हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै॥
> मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
> तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै॥
>
> (सूरसागर ६६१)

प्रभुसेवार्थ इस सम्प्रदायमें विभिन्न प्रकारके वस्त्र तैयार किये जाते हैं। उनकी सिलावट, वस्त्रनिर्माणकी संस्कृति, फूलोंके अनोखे-अनोखे हार, बँगले-बगीचे—ये पुष्पसज्जाके विविध आयाम, शुभ विवाहकी झाँकी, कभी डोल तिबारोंमें यमुनाजी तो कभी गङ्गाजीके भावसे जल भरना और भक्तोंका इसमें अवगाहन करना—ये सभी भारतीय संस्कृतिके अन्तर्गत अमूल्य संस्कारोंकी शिक्षा देनेवाले हैं। साथ-ही-साथ संगीत और वाद्ययन्त्रोंकी सुरीली तान, कर्णप्रिय कीर्तनपरम्परा, संगीतपरम्पराके अन्तर्गत कीर्तन एवं रागभोग पद्धति दोनोंका समावेश है। वाद्ययन्त्रोंकी गूँज प्रत्येक दर्शनार्थीका मन मोह लेती है। यहाँ श्रीकृष्णस्वरूप प्रभु श्रीनाथजीकी सेवामें भोगकी भागीरथी, शृङ्गारकी कलिन्दजा और संगीतकी सरस्वती अहर्निश प्रवाहित हो रही हैं। यहाँ प्रभुसेवामें शुभ संस्कारोंके जीवन्त दर्शन होते हैं।

इस सम्प्रदायकी आचारपरम्परामें प्रभुसेवाको तो सर्वोपरि माना ही गया है, लेकिन ज्ञानकी दृष्टिसे भी हमारी भारतीय संस्कृतिमें इसका अपना कीर्तिमान है। ग्रन्थ सब भगवदाश्रयी हैं। आचार्यचरण श्रीमद्वल्लभाचार्यजीकी 'सुबोधिनी' श्रीमद्भागवतके कतिपय अध्यायोंकी व्याख्या है। इसके अध्ययनसे ही पता चल जाता है कि श्रीमहाप्रभुजीका आचार्यत्व बारम्बार प्रणम्य है। उसके पश्चात् उनके यशस्वी सुपुत्र गुसाँईजी श्रीविट्ठलनाथजीका 'शृङ्गाररसमण्डन' संस्कृतसाहित्यकी बेजोड़ रचना है। इसी सम्प्रदायने भारतीय संस्कृतिको अष्टसखा दिये हैं, जो स्वयं श्रेष्ठतम कवि, उच्च कोटिके गायक और भगवच्चरणानुरागी प्रभु श्रीनाथजीके अनन्य भक्त थे। वल्लभ-सम्प्रदायका भक्तिरूपी सरोवर साहित्यसुधासे लहरा रहा है और उसमें संस्कारोंके अनेक सरसीरुह खिले हुए हैं तथा जिनके मधुर मकरन्दसे असंख्य भावुक श्रीकृष्णभक्त सुवासित होकर आनन्दविभोर हो रहे हैं।

पर्वों, त्योहारों और उत्सवोंमें होनेवाले संस्कारों तथा उल्लासका जैसा विलास श्रीनाथजीका है; शायद ही कहीं होता हो। जन्माष्टमी प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका जन्मदिवस है। वल्लभ-सम्प्रदायमें इसका आकर्षण बड़ा ही अनूठा है। द्वापरयुगके समान ही मध्य रात्रिमें प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका जन्म, दूसरे दिन नन्द-यशोदा बने प्रभुसेवकोंद्वारा प्रभुको पालना-झुलाना और बाहर दधिकाँदोंकी भारी चहल-पहल देखते ही बनती है—यह सब प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति प्रीति एवं भक्तिका परिचायक है। इससे प्रभु-प्रीतिका संस्कार दृढ़ होता है। इसी प्रकार दीपावली एवं अन्नकूटमहोत्सव हमें लक्ष्मी तथा गोधनकी पूजाका अमर संदेश देते हैं। प्रभुके समक्ष गोवर्धनपूजा-चौकमें बड़ी धूमधामसे श्रीगोवर्धनजीकी पूजा की जाती है। यह सेवा भगवत्स्वरूपा गोमाताओंके प्रति असीम श्रद्धाका संस्कार जगाती है।

भारतीय संस्कृतिमें आरती उतारने तथा नीराजन करनेकी विधि वर्षोंसे चली आ रही है। प्रभु श्रीनाथजीमें, प्रातः प्रभुके जगनेपर मङ्गला-आरती होती है। उसके बाद ग्वालके दर्शनोंमें धूपकी आरती होती है। यह आरती गोचारणहेतु प्रभुके प्रस्थान करनेके पूर्व उतारी जाती है। उसके बाद मध्याह्नमें राजभोगके दर्शनान्तर्गत चक्रवर्ती राजाधिराजके रूपमें जब अपने जन-मन-विमोहन रूपका प्रभु दर्शन देते हैं, तब बड़ी आरती उतारी जाती है। इसके बाद भोग-आरतीके दर्शनोंमें श्रीश्यामसुन्दर अपने ग्वालबालोंके साथ वनसे गोमाताओंको चराकर घर लौट रहे हैं। तब यशोदामैया आरती उतारकर अभिनन्दन करते हुए उन्हें घरमें ले जाती हैं। तदनन्तर प्रभुके पौढ़नेके पूर्व शयनकी आरती की जाती है। यदा-कदा बहुमूल्य और चित्ताकर्षक शृङ्गार धराये जानेपर प्रभुको कुदृष्टिदोषसे बचानेके लिये राई और नमक भी उतारा जाता है। सम्प्रदायके अन्तर्गत पूरी-की-पूरी सेवाएँ भारतीय संस्कृतिके समग्र शुभ संस्कारोंका ही गुम्फन हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वल्लभ-सम्प्रदायमें प्रभुसेवाके साथ ही शुभ संस्कारोंका शिक्षण प्राप्त होता है। इन सेवा-संस्कारोंकी सम्पन्नतामें मनुष्यके काम-क्रोध, लोभ-मोह और मात्सर्य आदि दबे रहते हैं तथा सद्गुणोंका स्फुरण होता है। प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका चरणावलम्बन लेनेपर दुर्विचार आ ही नहीं पाते हैं और दुर्विचार यदि नहीं आ पायेंगे तो व्यक्ति जीवनमें अनेक दोषोंसे बच जायगा, उसके मानसिक मलोंका अपाकरण हो जायगा, शुभ-संस्कार सहज ही सध जायँगे, उसमें सच्चरित्रका अभ्युदय होगा तथा अर्जित सुसंस्कारोंकी शुचितासे उसका जीवन कुंदनके समान होकर चमक उठेगा।

[श्रीप्रभुदासजी वैरागी, एम्०ए०, बी०एड्०, साहित्यालङ्कार]

~~o~~

जो अपना परिचय ईश्वर-ज्ञानी कहकर देता है, वह मूर्ख है। जो यह कहता है कि मैं उसे नहीं जानता, वही ज्ञानी है।

सारी दुनिया तुझे अपना ऐश्वर्य और स्वामित्व भी सौंप दे तो फूल न जाना और सारी दुनियाकी गरीबी भी तेरे हिस्सेमें आ जाय तो उससे नाराज न होना। चाहे जैसी हालत हो, उसे प्रभुका मङ्गल-विधान समझकर प्रसन्न रहना।

~~o~~

चैतन्योपदिष्ट दीक्षा-संस्कार और सदाचार

जब पंद्रह सौ अड़तालीस वैक्रमीयकी फाल्गुनी पूर्णिमाकी सान्ध्य विभावरी वेलामें चन्द्रोपरागजनित हरिनाम-ध्वनिसे नवद्वीपका कमनीय जाह्नवीकूल झंकृत हो रहा था, तब भगवान् श्रीगौरचन्द्रका आविर्भाव हुआ। नवद्वीपमें ही उन्होंने दिग्विजयता प्राप्त की। वे पिताके निधनके पश्चात् गयाधाम गये और वहाँ ईश्वरपुरीसे दीक्षा प्राप्त कर नवद्वीप प्रत्यावर्तित हुए। अब उनका मन संसारसे विरक्त हो गया। अन्तमें माताका स्नेह एवं पत्नीका प्रणय-बन्धन त्यागकर वे संन्यास लेकर लोक-कल्याणकी भावनासे जन-जनको भक्तिरससे अभिषिञ्चित करनेकी दिशामें अग्रसर हुए।

इधर भगवान् चैतन्यदेव भ्रमण करते हुए कावेरीतीरस्थ श्रीरङ्गम् पहुँचे। वहाँ गोदा रङ्गमन्नारकी अपूर्व रूपमाधुरीका अवलोकन कर वे भाव-विभोर हो उठे। श्रीचैतन्यके उद्दाम संकीर्तनसे श्रीरङ्गनाथके प्रधान अर्चक वेंकटभट्ट अत्यन्त प्रभावित हुए और भिक्षा-ग्रहणकी प्रार्थना की। भिक्षा-ग्रहणके पश्चात् वेंकटभट्टने प्रभुसे प्रार्थना की—इस समय संध्य-विलय तथा वर्षाके कारण रास्ता निरापद नहीं है, अतः चातुर्मास्यपर्यन्त मेरे आवास-स्थानपर रहकर हम लोगोंको अनुगृहीत करें। यह कहकर अपने पुत्र गोपालभट्टको प्रभुकी सेवामें नियुक्त कर दिया।

प्रभुकी संनिधि एवं अनुकम्पासे मेधावी गोपालभट्टके बुद्धि-विलासमें अपरिमित वृद्धि हुई। प्रभुके दक्षिण देशसे विदा होनेके पश्चात् उनकी आज्ञासे कुछ वर्षों बाद वे वृन्दावन आये और रासस्थलीमें विराजित होकर अनेक ग्रन्थोंका उदाहरण देते हुए उन्होंने 'हरिभक्तिविलास' ग्रन्थकी रचना अपनी अपरिमित स्मृतिके बलपर की।

उस ग्रन्थके संस्कार-प्रकरणमें दीक्षाके महत्त्वको स्पष्ट करते हुए यह कहा गया—

जब जीव अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ अत्यन्त दुर्लभ मानव-देह प्राप्त करता है, किंतु कर्म-विपाकके कारण वह निरन्तर दुःखोंको सहन करता है, इतनेपर भी उसे परलोकमें शान्ति नहीं मिलती, तब दुःखोंकी निवृत्तिके लिये वह सहज उपायोंके अन्वेषणमें लग जाता है। उसे अब सद्गुरुकी शरणागतिमें ही अपने लक्ष्यपूर्तिका साधन दिखलायी देता है।

गुरुजी शिष्यकी एक वर्षपर्यन्त परीक्षा लेनेके पश्चात् मन्त्रोंमें श्रेष्ठ गोपालमन्त्रका विधिपूर्वक उसे उपदेश देते हैं। गोपालमन्त्र सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण मोक्षका मुख्य साधन है। इस मन्त्रके द्वारा दुःखोंका निराकरण होता है और सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति होती है। मन्त्रके दस संस्कार आवश्यक हैं, किंतु गोपालमन्त्रमें इन संस्कारोंकी अपेक्षा नहीं की गयी है।

> दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्।
> तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः॥
>
> (ह०वि० २।१८)

जिस अनुष्ठानके द्वारा दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति और पापोंका नाश होता है, उसको तत्त्ववेत्ता दीक्षा कहते हैं।

जिस प्रकार रसायनप्रक्रियाद्वारा काँसा स्वर्णके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार संस्कारोंद्वारा दीक्षित व्यक्ति द्विजत्व प्राप्त कर लेता है।

दीक्षाग्रहणके पश्चात् मनुष्यको सदाचारकी आवश्यकता होती है। सदाचारके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। आचारहीन मनुष्यको कभी भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती। देवार्चनरत सज्जन व्यक्ति ही सदाचारी कहलाता है और उसका आचरण ही सदाचार है। सदाचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति है और सदाचारसे [illegible] व्यक्ति सदा कल्याणमय रहता है। सदाचारके

विषयमें १०४ आचरण बतलाये गये हैं। उनमें कुछ मुख्य सदाचारोंका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। प्रातः भगवन्नामका स्मरण, दैनन्दिनी क्रिया, तिलक और मुद्राका धारण, अपना मन्त्र किसीसे नहीं कहना, वैष्णवों तथा आचार्योंमें विशेष श्रद्धा, सूर्य-चन्द्र, गौ, अग्नि, पीपल और ब्राह्मणमें भगवान्‌का स्वरूप विद्यमान है—यह जानना। सन्ध्याको सोना, बिना मिट्टीके शौच जाना, खड़े होकर पानी पीना, असत्-शास्त्रोंका श्रवण, पूजाके समय असत्-वार्ता, एक हाथसे प्रणाम आदिका निषेध सदाचारमें आता है। इसपर साधकको विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

[डॉ० आचार्य श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी शास्त्री, काव्यपुराणदर्शनतीर्थ, आयुर्वेदशिरोमणि]

~~o~~

जातकर्म-संस्कारका महत्त्व

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)

शास्त्रानभिज्ञता और पाश्चात्य आचार-विचारके अन्धानुकरणका भयंकर परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू-समाज अपनी उन उज्ज्वल परम्पराओंको भी हेय समझने लगा, जो मनुष्यको देवत्वकोटिमें पहुँचा सकती हैं। आधुनिक शिक्षितवर्ग प्रायः सम्यक् परीक्षण किये बिना ही धार्मिक प्रथाओंका उपहास करनेमें प्रगतिशीलता मानने लगा है।

हिंदुओंकी 'संस्कार' प्रथा भी इन आधुनिकोंकी उक्त अवैज्ञानिक वृत्तिका शिकार बन गयी है। संतानके विधिवत् संस्कार करवानेका महत्त्व लोग भूलते जा रहे हैं। फलस्वरूप जातीय ह्रास भी तीव्र गतिसे हो रहा है। नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके साथ-साथ बल, वीर्य, प्रज्ञा और दैवी गुणोंके प्रस्फुटनके लिये शास्त्रोक्त संस्कार-विधिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं हो सकता। शास्त्रमें इसके महत्त्वके सम्बन्धमें लिखा है—

चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

'तूलिकाके बार-बार फेरनेसे शनैः-शनैः जैसे चित्र अनेक रङ्गोंसे निखर उठता है, वैसे ही विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठानसे ब्राह्मणत्वका विकास होता है।' यहाँ 'ब्राह्मणत्व' शब्द ब्रह्म-वेदनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

'संस्कार' शब्दका अर्थ ही है दोषोंका परिमार्जन करना। जीवके दोषों और कमियोंको दूरकर उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन पुरुषार्थ-चतुष्टयके योग्य बनाना ही संस्कार करनेका उद्देश्य है। संस्कार किस प्रकार दोषोंका परिमार्जन करता है, कैसे किस रूपमें उनकी प्रतिक्रिया होती है—इसका विश्लेषण करना कठिन है; परंतु प्रक्रियाका विश्लेषण न भी किया जा सके तो भी उसके परिणामको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आमलकके चूर्णमें आमलकके रसकी भावना देनेसे वह कई गुना शक्तिशाली बन जाता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। संस्कारोंके प्रभावके सम्बन्धमें यही समझना चाहिये। अदृष्ट बातोंके सम्बन्धमें त्रिकालज्ञ महर्षियोंके शब्द प्रमाण हैं। श्रद्धापूर्वक उनका पालन करनेसे विहित फल प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् मनुका कथन है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

'वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्मोंद्वारा द्विजगणका शरीर-संस्कार करना चाहिये। यह इस लोक और परलोक दोनोंमें पवित्रकारी है।'

सामान्यरूपसे संस्कारके महत्त्वके सम्बन्धमें अङ्गुलिनिर्देश करके जातकर्म-संस्कारके महत्त्वपर किञ्चित् प्रकाश डालना है। अधिकारानुसार कर्म करनेसे सम्यक् फलकी प्राप्ति होती है। संस्कार-कर्ममें भी किसका अधिकार है, इसे समझ लेना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनमें प्रथम तीन वर्ण द्विज कहलाते हैं। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त इनकी समस्त क्रियाएँ वैदिक मन्त्रोंके द्वारा होती हैं।' उपनयनादि संस्कारोंको छोड़कर शेष संस्कार शूद्रवर्ण बिना मन्त्रके करे। यमसंहितामें कहा गया है—

चैतन्योपदिष्ट दीक्षा-संस्कार और सदाचार

जब पंद्रह सौ अड़तालीस वैक्रमीयकी फाल्गुनी पूर्णिमाकी सान्ध्य विभावरी वेलामें चन्द्रोपरागजनित हरिनाम-ध्वनिसे नवद्वीपका कमनीय जाह्नवीकूल झंकृत हो रहा था, तब भगवान् श्रीगौरचन्द्रका आविर्भाव हुआ। नवद्वीपमें ही उन्होंने दिग्विजयता प्राप्त की । वे पिताके निधनके पश्चात् गयाधाम गये और वहाँ ईश्वरपुरीसे दीक्षा प्राप्त कर नवद्वीप प्रत्यावर्तित हुए। अब उनका मन संसारसे विरक्त हो गया। अन्तमें माताका स्नेह एवं पत्नीका प्रणय-बन्धन त्यागकर वे संन्यास लेकर लोक-कल्याणकी भावनासे जन-जनको भक्तिरससे अभिसिञ्चित करनेकी दिशामें अग्रसर हुए।

इधर भगवान् चैतन्यदेव भ्रमण करते हुए कावेरीतीरस्थ श्रीरङ्गम् पहुँचे। वहाँ गोदा रङ्गमन्नारकी अपूर्व रूपमाधुरीका अवलोकन कर वे भाव-विभोर हो उठे। श्रीचैतन्यके उद्दाम संकीर्तनसे श्रीरङ्गनाथके प्रधान अर्चक वेंकटभट्ट अत्यन्त प्रभावित हुए और भिक्षा-ग्रहणकी प्रार्थना की। भिक्षा-ग्रहणके पश्चात् वेंकटभट्टने प्रभुसे प्रार्थना की—इस समय राज्य-विप्लव तथा वर्षाके कारण राजपथ निरापद नहीं है, अतः चातुर्मास्यपर्यन्त मेरे आवास-स्थानपर रुककर हम लोगोंको अनुगृहीत करें। यह कहकर अपने पुत्र गोपालभट्टको प्रभुकी सेवामें नियुक्त कर दिया।

प्रभुकी संनिधि एवं अनुकम्पासे मेधावी गोपालभट्टके बुद्धि-विलासमें अपरिमित वृद्धि हुई। प्रभुके दक्षिण देशसे विदा होनेके पश्चात् उनकी आज्ञासे कुछ वर्षों बाद वे वृन्दावन आये और रासस्थलीमें विराजित होकर अनेक ग्रन्थोंका उदाहरण देते हुए उन्होंने 'हरिभक्तिविलास' ग्रन्थकी रचना अपनी अपरिमित स्मृतिके बलपर की।

उस ग्रन्थके संस्कार-प्रकरणमें दीक्षाके महत्त्वको स्पष्ट करते हुए यह कहा गया—

जब जीव अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ अत्यन्त दुर्लभ मानव-देह प्राप्त करता है, किंतु कर्म-विपाकके कारण वह निरन्तर दुःखोंको सहन करता है, इतनेपर भी उसे परलोकमें शान्ति नहीं मिलती, तब दुःखोंकी निवृत्तिके लिये वह सहज उपायोंके अन्वेषणमें लग जाता है। उसे अब सद्गुरुकी शरणागतिमें ही अपने लक्ष्यपूर्तिका साधन दिखलायी देता है।

गुरुजी शिष्यकी एक वर्षपर्यन्त परीक्षा लेनेके पश्चात् मन्त्रोंमें श्रेष्ठ गोपालमन्त्रका विधिपूर्वक उसे उपदेश देते हैं। गोपालमन्त्र सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण मोक्षका मुख्य साधन है। इस मन्त्रके द्वारा दुःखोंका निराकरण होता है और सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति होती है। मन्त्रके दस संस्कार आवश्यक हैं, किंतु गोपालमन्त्रमें इन संस्कारोंकी अपेक्षा नहीं की गयी है।

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः॥

(ह०वि० २।१८)

जिस अनुष्ठानके द्वारा दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति और पापोंका नाश होता है, उसको तत्त्ववेत्ता दीक्षा कहते हैं।

जिस प्रकार रसायनप्रक्रियाद्वारा काँसा स्वर्णके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार संस्कारोंद्वारा दीक्षित व्यक्ति द्विजत्व प्राप्त कर लेता है।

दीक्षाग्रहणके पश्चात् मनुष्यको सदाचारकी आवश्यकता होती है। सदाचारके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। आचारहीन मनुष्यको कभी भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती। दोषरहित सज्जन व्यक्ति ही सदाचारी कहलाता है और उसका आचरण ही सदाचार है। सदाचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति है और सदाचारसे विहीन व्यक्ति सदा अपवित्र रहता है। सदाचारके

विषयमें १०४ आचरण बतलाये गये हैं। उनमें कुछ मुख्य सदाचारोंका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। प्रातः भगवन्नामका स्मरण, दैनन्दिनी क्रिया, तिलक और मुद्राका धारण, अपना मन्त्र किसीसे नहीं कहना, वैष्णवों तथा आचार्योंमें विशेष श्रद्धा, सूर्य-चन्द्र, गौ, अग्नि, पीपल और ब्राह्मणमें भगवान्‌का स्वरूप विद्यमान है—यह जानना। सन्ध्याको सोना, बिना मिट्टीके शौच जाना, खड़े होकर पानी पीना, असत्-शास्त्रोंका श्रवण, पूजाके समय असत्-वार्ता, एक हाथसे प्रणाम आदिका निषेध सदाचारमें आता है। इसपर साधकको विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

[डॉ० आचार्य श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी शास्त्री, काव्यपुराणदर्शनतीर्थ, आयुर्वेदशिरोमणि]

~~o~~

जातकर्म-संस्कारका महत्त्व

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)

शास्त्रानभिज्ञता और पाश्चात्य आचार-विचारके अन्धानुकरणका भयंकर परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू-समाज अपनी उन उज्ज्वल परम्पराओंको भी हेय समझने लगा, जो मनुष्यको देवत्वकोटिमें पहुँचा सकती हैं। आधुनिक शिक्षितवर्ग प्रायः सम्यक् परीक्षण किये बिना ही धार्मिक प्रथाओंका उपहास करनेमें प्रगतिशीलता मानने लगा है।

हिंदुओंकी 'संस्कार' प्रथा भी इन आधुनिकोंकी उक्त अवैज्ञानिक वृत्तिका शिकार बन गयी है। संतानके विधिवत् संस्कार करवानेका महत्त्व लोग भूलते जा रहे हैं। फलस्वरूप जातीय ह्रास भी तीव्र गतिसे हो रहा है। नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके साथ-साथ बल, वीर्य, प्रज्ञा और दैवी गुणोंके प्रस्फुटनके लिये शास्त्रोक्त संस्कार-विधिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं हो सकता। शास्त्रमें इसके महत्त्वके सम्बन्धमें लिखा है—

चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

'तूलिकाके बार-बार फेरनेसे शनैः-शनैः जैसे चित्र अनेक रङ्गोंसे निखर उठता है, वैसे ही विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठानसे ब्राह्मणत्वका विकास होता है।' यहाँ 'ब्राह्मणत्व' शब्द ब्रह्म-वेदनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

'संस्कार' शब्दका अर्थ ही है दोषोंका परिमार्जन करना। जीवके दोषों और कमियोंको दूरकर उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन पुरुषार्थ-चतुष्टयके योग्य बनाना ही संस्कार करनेका उद्देश्य है। संस्कार किस प्रकार दोषोंका परिमार्जन करता है, कैसे किस रूपमें उनकी प्रतिक्रिया होती है—इसका विश्लेषण करना कठिन है; परंतु प्रक्रियाका विश्लेषण न भी किया जा सके तो भी उसके परिणामको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आमलकके चूर्णमें आमलकके रसकी भावना देनेसे वह कई गुना शक्तिशाली बन जाता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। संस्कारोंके प्रभावके सम्बन्धमें यही समझना चाहिये। अदृष्ट बातोंके सम्बन्धमें त्रिकालज्ञ महर्षियोंके शब्द प्रमाण हैं। श्रद्धापूर्वक उनका पालन करनेसे विहित फल प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् मनुका कथन है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

'वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्मोंद्वारा द्विजगणका शरीर-संस्कार करना चाहिये। यह इस लोक और परलोक दोनोंमें पवित्रकारी है।'

सामान्यरूपसे संस्कारके महत्त्वके सम्बन्धमें अङ्गुलिनिर्देश करके जातकर्म-संस्कारके महत्त्वपर किञ्चित् प्रकाश डालना है। अधिकारानुसार कर्म करनेसे सम्यक् फलकी प्राप्ति होती है। संस्कार-कर्ममें भी किसका अधिकार है, इसे समझ लेना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनमें प्रथम तीन वर्ण द्विज कहलाते हैं। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त इनकी समस्त क्रियाएँ वैदिक मन्त्रोंके द्वारा होती हैं।' उपनयनादि संस्कारोंको छोड़कर शेष संस्कार शूद्रवर्ण बिना मन्त्रके करे। यमसंहितामें कहा गया है—

२-भक्तोंको भगवल्लीलाओंको बड़ी श्रद्धासे देखना चाहिये और लीलाके पात्रोंको शुद्ध भगवदीय भाव समझकर उनका आदर करना चाहिये। इन लीलाओंसे भगवान्‌के प्रति भक्तिका उदय होता है, मनमें भगवत्प्रेमकी वृद्धि होती है और भगवान्‌के आदर्श चरित्रोंसे हमें पावन एवं कल्याणकारी शिक्षा मिलती है। अतः सभीको रासलीला-रामलीला आदिको बड़े प्रेमसे देखना चाहिये।

३-भक्तोंको नित्य किसी भी भगवदीय श्रीविग्रहके दर्शन अवश्य ही करने चाहिये और मूर्तिके सम्मुख अपनी मानसिक श्रद्धाके पुष्प चढ़ाने चाहिये। ऐसा करनेसे भगवान्‌में विश्वास बढ़ता है।

४-भक्तोंको साधु-महात्माओंका सत्सङ्ग निश्चय ही करना चाहिये। ऐसे लोगोंका सङ्ग करनेसे उन्हें भगवच्चर्चा और मानव-जीवनके उत्थानविषयक ठोस उपक्रम सुनायी देंगे। कुसङ्गसे बचकर सत्सङ्गका ठीक अर्थ समझकर जो महात्माओंका सङ्ग करते हैं, वे ही वास्तवमें धन्य हैं।

५-साधकको चाहिये कि वह अधिक-से-अधिक समय भगवन्नाम-जप तथा कीर्तन करनेमें बिताये। मुखसे भगवन्नाम निकलनेसे मानवके समस्त लौकिक पाप नष्ट होते हैं और भक्तका मन भगवान्‌की ओर आकर्षित होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि नाममें नामीसे अधिक शक्ति होती है।

६-भगवत्प्रेमियोंको धर्ममें रुचि पैदा करनेके लिये और अपनेको वास्तवमें आस्तिक बनानेके लिये सद्ग्रन्थोंका अध्ययन नित्य करना चाहिये। रामायण, भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थोंका बड़े ध्यानसे पाठ करना चाहिये। जो इन ग्रन्थोंको ठीक-ठीक न पढ़ सकते हों, उन्हें जहाँ उपर्युक्त धार्मिक ग्रन्थोंकी कथा होती हो, वहाँ नित्य जाकर बड़े ध्यानसे कथा सुननी चाहिये। भगवन्नाम-जप ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र सरल साधन है। इस कलिकालमें नाममें ही अनन्त गुण हैं। नाम लेनेमें समयका कोई विचार नहीं है। शौच, अशौच, चलते-फिरते, सोते-जागते जब भी जैसे बने भगवत्स्मरण करते रहना चाहिये। अखण्ड कीर्तनोंका भी आयोजन सब जगह होना चाहिये।

७-चित्तशुद्धिके लिये दो बातोंकी विशेष आवश्यकता है—विवेक और ध्यान। केवल आत्मा-अनात्माका विवेक होनेपर भी यदि ध्यानके द्वारा उसकी पुष्टि नहीं की जायगी तो वह स्थिर नहीं रह सकता। इसके सिवा इस बातकी भी बहुत आवश्यकता है कि हम दूसरोंके दोष न देखकर निरन्तर अपने चित्तकी परीक्षा करते रहें। जिस समय चित्तमें राग-द्वेषका अभाव हो जाय और चित्त किसी भी दृश्य-पदार्थमें आसक्त न हो, उस समय समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हुआ, परंतु राग-द्वेषसे मुक्त होनेके लिये परमात्मा और महापुरुषोंके प्रति राग होना तो परम आवश्यक है।

८-भगवान्‌को सर्वस्व समझकर उनसे प्रेम करना और शास्त्रोक्त वैधव्य-धर्मका पालन करते हुए जीवन-निर्वाह करना—यह विधवा स्त्रीका धर्म है। स्त्रियोंके लिये सेव्य-सेवकभाव ही उत्तम है। यह सबके लिये उत्तम है, किंतु स्त्रियोंके लिये तो इसके सिवा कोई भी भाव उपयोगी नहीं है। दूसरे भावोंमें तो पतनकी सम्भावना है, इस भावमें भय रहता है, इसलिये पतनकी सम्भावना नहीं है। यह सेव्य-सेवकभाव ही सबके लिये सर्वोत्तम है।

सत्सङ्ग, भगवत्सेवा, श्रीमद्भागवतका पाठ और भगवन्नाम-कीर्तन—ये भगवत्प्राप्तिके मुख्य साधन हैं।

[गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी]

~~~ ० ~~~

अनमोल बोल

इन चार बातोंके बारेमें आत्मपरीक्षा करते रहना—(१) कोई भी शुभ कर्म करते समय तुम निष्कपट हो न? (२) जो कुछ बोल रहे हो निःस्वार्थ भावसे ही न? (३) जो दान-उपकार कर रहे हो बदलेकी आशाके बिना ही न? (४) जो धन सञ्चय कर रहे हो कृपणता छोड़कर ही न?

प्रभुको सदा सर्वत्र उपस्थित समझकर यथाशक्ति उनका ध्यान, भजन और आज्ञापालन करते रहना। इस मायावी संसारने आजतक असंख्य जनोंका संहार किया है, उसी प्रकार तुम्हारा भी विनाश न हो जाय, इसका ध्यान रखना।

~~~ ० ~~~

'संस्कार, संस्कृति और धर्म'

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके साथ भारतीय संस्कृतिकी रक्षा और उसके प्रचारकी चर्चा चल पड़ी। वास्तवमें किसी देश या राष्ट्रका प्राण उसकी संस्कृति ही है; क्योंकि यदि उसकी अपनी कोई संस्कृति नहीं तो संसारमें उसका अस्तित्व ही क्या? परंतु संस्कृतिका क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है, यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का अनुवाद 'संस्कृति' किया जाता है; परंतु 'संस्कृति', संस्कृत भाषाका शब्द है, अतः संस्कृत-व्याकरणके अनुसार ही इसका अर्थ होना चाहिये—'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण अर्थमें 'सुट्' आगमपूर्वक 'क्तिन्' प्रत्यय होनेसे 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदयके उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अहंकारादिकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

संस्कार या संस्करणका भी संस्कृतिसे मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं—'मलापनयन' और 'अतिशयाधान'। दर्पणपर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना 'मलापनयन-संस्कार' है। तेल, रंगद्वारा हस्तीके मस्तक या काष्ठकी किसी वस्तुको चमकीला तथा सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान-संस्कार' है। नैयायिकोंकी दृष्टिसे वेग, भावना और स्थितिस्थापक—ये ही त्रिविध संस्कार हैं। अनुभवजन्य स्मृतिका हेतु 'भावना' है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादिमें बार-बार अभ्यास करनेसे उत्पन्न कौशलकी अतिशयता ही भावना मानी गयी है—

तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना।
कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा॥

स्वाश्रयकी प्रागुद्भूत अवस्थाके समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही 'संस्कार' है—

'स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकोऽतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।'

योगियोंकी दृष्टिमें न केवल मानस सङ्कल्प, विचार आदिसे ही, अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदिकी सभी हलचलों, चेष्टाओं, व्यापारोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारोंका प्रभाव

संस्कारोंसे आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिये उत्तम और निकृष्ट संस्कार—इस रूपसे संस्कारोंमें उत्कृष्टता या निकृष्टताका भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारोंद्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरणको संस्कृत करना चाहिये—यह भी शास्त्रका आदेश है—

'यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्काराः भवन्ति सः ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।'

'सम्'की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही संस्कृति कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारोंका पर्यवसान भी मलापनयन एवं अतिशयाधानमें होता है। कुछ कर्मोंद्वारा पाप, अज्ञानादिका अपनयन और कुछ द्वारा पवित्रता, विद्या आदि अतिशयताका आधान किया जाता है। साधारणतः दार्शनिकोंके यहाँ यह सब आत्मामें होता है, पर वेदान्तकी दृष्टिसे अन्तःकरणमें। आत्मा तो सर्वथा असंग ही रहता है। मोटे तौरपर कह सकते हैं कि जैसे खानसे निकले हुए हीरक एवं मणि आदिमें संस्कारद्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या-तत्कार्यात्मक प्रपञ्चमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्माकी शोभा संस्कारोंद्वारा व्यक्त की जाती है तथा आत्माको प्राकृत—निम्न स्तरोंसे मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरोंसे सम्बन्धित करने या प्रकृतिके सभी स्तरोंसे मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्द-साम्राज्य-सिंहासनपर समासीन करनेमें आत्माका संस्कार है। ऐसे संस्कारोंके उपयुक्त कृतियाँ ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट—दोनों ही 'धर्म' शब्दसे व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ—दोनों ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नस्तरकी सीमाओंमें आबद्ध आत्माके उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही 'संस्कृति' हैं।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यतामें कोई खास अन्तर नहीं है। सम्यक् कृति ही संस्कृति है और सभामें साधुता ही सभ्यता है। आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल आदिकी साधुताका निर्णय शास्त्रसे ही हो सकता है। वेदादि शास्त्रोंद्वारा निर्णीत सम्यक् एवं साधु-चेष्टा ही सभ्यता है और वही संस्कृति भी है।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियोंकी विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियोंमें प्रायः संघर्ष भी चलता है—कहीं तो संस्कृतियोंकी खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति दुर्बल संस्कृतिका नाश कर देती है। संस्कृतिका भूमिके साथ सम्बन्ध होनेसे ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देशकी जलवायुका प्रभाव वहाँके निवासियोंके आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा, साहित्यपर पड़ता ही है। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानोंने तो इसी प्रभावको प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानोंका मत है, कि किसी राष्ट्रके किसी असाधारण बड़प्पनके गर्वको ही संस्कृति कहना चाहिये। उदाहरणार्थ—इंग्लैण्डके लोगोंको सबसे बड़ा गर्व अपनी संसदीय शासनप्रणालीके आविष्कारके लिये है। अमेरिकाको गर्व है कि उसने संसारमें स्वतन्त्रताकी पताकाको फहराया और दो महायुद्धोंमें विश्वको स्वतन्त्रताका वरदान दिया। हिटलरने जर्मनीमें आर्यत्वके विशुद्ध रुधिरका गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी ये विशेषताएँ ही उनकी संस्कृतिका आधार हैं। किसी अंशमें ये सब भाव ठीक हैं, परंतु संस्कृतिकी ऐसी परिभाषाएँ अन्धोंद्वारा किये गये हाथीके वर्णन-जैसी हैं।

धर्म और संस्कृति

धर्म और संस्कृतिमें इतना ही भेद है कि धर्म केवल शास्त्रैकसमधिगम्य है और संस्कृतिमें शास्त्रसे अविरुद्ध लौकिक कर्म भी परिगणित हो सकता है। युद्ध-भोजनादिमें लौकिकता, अलौकिकता—दोनों ही हैं। जितना अंश लोकप्रसिद्ध है उतना लौकिक है, जितना शास्त्रैकसमधिगम्य है उतना अलौकिक है। अलौकिक अंश धर्म है, धर्माविरुद्ध लौकिक अंश धर्म्य है। संस्कृतिमें दोनोंका अन्तर्भाव है।

संस्कृतिका आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना संस्कृति क्या है—यह समझमें नहीं आ सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि संस्कृतिका लक्ष्य आत्माका उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृतिका आधार हो सकता है। वह विभिन्न जातियोंके धर्मग्रन्थोंद्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओंकी भूषणता, दूषणता, सम्यक्ता या असम्यक्ताका निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकती है! यद्यपि सामान्यरूपसे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थोंके आधारपर विभिन्न संस्कृतियाँ निर्णीत होती हैं, तथापि अनादि अपौरुषेय ग्रन्थ वेद ही हैं। अतः वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थोंके अनुकूल लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है। सनातन परमात्माने अपने अंशभूत सनातन जीवात्माओंको सनातन अभ्युदय एवं निःश्रेयस—परमपद प्राप्त करानेके लिये जिस सनातन मार्गका निर्देश किया है, तदनुकूल संस्कृति ही सनातन वैदिक संस्कृति है और वह वैदिक सनातन हिन्दू संस्कृति ही सम्पूर्ण संस्कृतियोंकी जननी है। डेढ़-दो हजार वर्षोंकी अर्वाचीन विभिन्न संस्कृतियाँ भी इसी सनातन संस्कृतिके कतिपय अंशोंको लेकर उद्भूत हुई हैं। यही कारण है कि विभिन्न देशोंकी विभिन्न संस्कृतियोंमें वैदिक संस्कृतिके विकृत एवं अविकृत अनेक रूप उपलब्ध हैं। उसी सनातन संस्कृतिका पूजक हिन्दू है। जैसे इस्लाम-संस्कृति और मुस्लिम जातिका आधार 'क़ुरान' है, वैसे ही वैदिक सनातन संस्कृति एवं हिन्दू जातिका आधार वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ हैं।

भारतीय संस्कृति

इसमें संदेह नहीं कि भारतमें कई विदेशी जातियाँ आयीं और यहीं बस गयीं। भारतीयोंके आचार-विचार, रहन-सहन आदिपर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृतिका आधार ही बदल गया। भारत हिन्दुओंका देश है, अतः उन्हींकी

संस्कृति 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूलस्रोत वेदादि शास्त्र हैं। अतएव लौकिक, पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक उन्नतिका वेदादि शास्त्रसम्मत मार्ग ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृतिके सभी अङ्गोंपर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तोंकी ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है। इस सम्बन्धमें एक बात और विचारणीय है। संसारके प्रायः सभी देशोंकी प्राचीन संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिकी कितनी ही बातें विकृतरूपमें पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ—किसी-न-किसी रूपमें वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशोंके प्राचीन ग्रन्थोंमें यज्ञ-यागादिकी भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापक रूपमें फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं, यह दूसरा प्रश्न है। पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिन्दू संस्कृतिसे है—एतावता यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह हिन्दू संस्कृति है। भारतकी भूमिसे भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पनके गर्वकी बात कही जाती है, उसका भी अनुभव उसी संस्कृतिमें होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यही मानना पड़ता है कि हिन्दू संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवादका अवसर ही नहीं रहता; क्योंकि हिन्दू संस्कृतिकी सीमा हिन्दू-धर्मशास्त्रोंमें निर्धारित है, उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों और उसके विकसित रूपका सम्पूर्ण चित्र मिल सकता है।

हिन्दू

आजकल वास्तविकतासे दूर हटकर अधिकाधिक संख्या बढ़ानेकी दृष्टिसे 'हिन्दू' शब्दकी परिभाषा की जाती है। अतएव कई लोग वेद न माननेवालोंको भी 'हिन्दू' सिद्ध करनेके लिये—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—ऐसी परिभाषा करते हैं, किंतु इस परिभाषाकी अतिव्याप्ति होती है। इसके अतिरिक्त भावनाकी दृढ़ताका कोई आधार नहीं रहता।

गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवे च दृढा मतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—यह परिभाषा अभीष्ट समाजोंमें अनुगत हो जाती है। गोमातामें जिसकी भक्ति हो, प्रणव जिसका पूज्य मन्त्र हो, पुनर्जन्ममें जिसका विश्वास हो—वही हिन्दू है। यह सिख, जैन, बौद्ध, वैदिक—सबमें घट जाती है। परंतु वेदोंके 'सिन्धवः', 'सप्त सिन्धवः' इत्यादि प्रयोगों और 'सरस्वती' 'हरस्वती' आदि प्रयोगोंकी दृष्टिसे तथा 'कालिकापुराण', 'मेदिनीकोष' आदिके आधारपर वर्तमान 'हिन्दू ला' के मूलभूत आधारोंके अनुसार वेदप्रतिपादित रीतिसे वैदिक धर्ममें विश्वास रखनेवाला हिन्दू है। हिन्दू संस्कृतिकी दृष्टिसे अनादि परमेश्वरसे अनेक प्रकारका संकोच और विकास रहता है। ईश्वररहित जड विकासवाद, जिसके अनुसार जड प्रकृतिसे ही चैतन्यका विकास होता है और जिस विकासवादकी दृष्टिसे अभीतक सर्वज्ञ ईश्वर और शास्त्र विकसित ही नहीं हुआ, वह सर्वथा अमान्य है। आध्यात्मिकता और धार्मिकतासे विहीन साम्यवाद, समाजवाद आदि भी हिन्दू संस्कृतिमें नहीं खप सकते।

खिचड़ी संस्कृति

आजकलके कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृतिके मिश्रितरूपको ही भारतीय संस्कृति मानते हैं। इसीको 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' का नाम भी दिया जाता है, किंतु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। न इसका कोई आधार है न कोई स्पष्टरूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृतिके किसी अङ्गपर विदेशी प्रभाव पड़ा; वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभीमें यह दिखलाया जा सकता है। नेताओंने 'इण्डियन यूनियन' (भारतसंघ)-को सेक्यूलर स्टेट (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित करके अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि सबकी संस्कृतिकी रक्षा की जायगी, किसी संस्कृतिपर हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। कई नेताओंने यह भी कहा है कि 'रंग-बिरंगे पुष्पों या हीरोंद्वारा जैसे मालाकी शोभा बढ़ती है, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियोंका यदि एक सूत्रमें संग्रथन हो तो उससे राष्ट्रकी शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंगके बिगाड़नेकी अपेक्षा नहीं।' ऐसी स्थितिमें संस्कृतिकी खिचड़ी कहाँतक ठीक है? हिन्दू जाति,

संस्कृति, हिन्दू धर्म, वेदादि शास्त्र, मन्दिर और राम-कृष्ण आदि समझमें आ सकते हैं, उसी तरह क़ुरान, मस्जिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समझमें आ सकती है, परंतु इन दोनोंको बिगाड़कर वेद-पुराण, कलमा-क़ुरान, मन्दिर-मस्जिद, अल्लाह-राम आदिको मिलाकर हिन्दुस्तानी संस्कृति, हिन्दुस्तानी भाषा आदि कथमपि समझमें नहीं आती। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा, परंतु 'रमखुदैया' खतरेसे खाली नहीं। दीनदार, ईमानदार, हिन्दू या मुसलमान—दोनों ही ठीक, बेदीन, बेईमान—दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूल धर्मों, संस्कृतियों एवं मूल शास्त्रोंपर विश्वास न रहेगा तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारोंपर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

एक संस्कृति

कुछ दिनोंसे 'एक संस्कृति' का नारा लगाया जा रहा है। यहाँ भी वही प्रश्न होता है कि कौन संस्कृति—हिन्दुस्तानी, खिचड़ी या विशुद्ध हिन्दू संस्कृति? तथाकथित हिन्दुस्तानी संस्कृतिमें क्या सर्वसाधारण हिन्दू या मुसलमानको कभी पूरी श्रद्धा हो सकती है? तब फिर यदि एक संस्कृति हिन्दू संस्कृति ही मानी जाय तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि मुसलमान उसे स्वीकार कर लेंगे? कुछ लोग कहते हैं—'मुसलमान कलमा-क़ुरान और मस्जिदका आदर और अपनी भाषा तथा वेश-भूषा रखते हुए भी भारतीय संस्कृतिके रूपमें हिन्दू संस्कृतिका पालन कर सकते हैं।' फिर आचार-विचार, रहन-सहन, इतिहास-साहित्य, दर्शन, धर्म आदिसे भिन्न संस्कृति कौन-सी वस्तु होगी, जिसे मानकर मुसलमान उसपर गर्व करेगा? कुछ लोग तो यहाँतक कहते हैं कि 'एक संस्कृति हिन्दू संस्कृति ही है, वही सबको माननी पड़ेगी, जो ऐसा नहीं करेंगे उन्हें भारत छोड़ना होगा।' किंतु ऐसा कहना सरकारद्वारा घोषित सेक्यूलर (धर्मनिरपेक्ष) नीतिके ही विरुद्ध नहीं, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृतिके मूलभूत सिद्धान्तके ही विपरीत है। हिन्दू धर्म तो प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्तिको स्वधर्मानुसार चलनेकी स्वतन्त्रता देता है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' उसका सिद्धान्त है। अतः उसे कभी भी अभीष्ट नहीं कि येन-केन-प्रकारेण सभी हिन्दू बना लिये जायँ। हिन्दू संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, इस दृष्टिसे एक संस्कृतिका नारा ठीक है, पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि देशमें अल्पसंख्यकोंकी संस्कृतियोंका संरक्षण न हो। यह भारतकी ही विशेषता है कि वह भिन्नतामें भी एकता देखता है। एक सूत्रमें गुँथे हुए मणियोंकी मालाका उदाहरण भी इसीमें घटता है।

कर्मणा वर्णव्यवस्था

संस्कृतिके प्रसंगमें ही 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' की बात उठती है। सोचा यह जाता है कि 'कर्मणा वर्णव्यवस्था मान लेनेसे अन्य धर्मावलम्बियोंको हिन्दू-समाजमें सुविधा होगी। मौलवी, मुल्ला, अध्यापक आदि बुद्धिजीवी ब्राह्मण बन जायँगे। सैनिक आदि बलजीवी क्षत्रिय, व्यापारी वैश्य और सेवापरायण शूद्रकोटिमें आ जायँगे। बहुतोंको इसका प्रलोभन रहेगा।'

यद्यपि यह ठीक है कि भारतमें वैदिकोंका बाहुल्य होनेसे वैदिक संस्कृति ही 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति'—इस न्यायसे भारतीय संस्कृति कही जा सकती है। वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थोंके अनुसार आचार-विचार, उपासना-कर्म आदिका 'हिन्दू' संस्कृतिमें समावेश है। अहिंसा, सत्य, भगवदुपासना, तत्त्वज्ञान आदि तीस धर्म ऐसे हैं, जिनसे प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है। उन धर्मोंका पालन करनेवाला कोई भी 'हिन्दू' कहला सकता है, तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णव्यवस्था जन्मना ही है। वर्णोंका कर्मणा उत्कर्ष अवश्य होता है, जैसे बीज और क्षेत्र—दोनों ही अङ्कुरके कारण होते हैं, वैसे ही जन्म और कर्म—दोनों वर्णके मूल हैं। प्राक्तन गुणकर्मानुरूप जन्म लेकर वर्ण और फिर समुचित गुणकर्मसे उसका उत्कर्ष होता है। गुणकर्मविहीन अधम और गुणकर्मयुक्त उत्तम ब्राह्मणादि होते हैं। जन्मप्राप्तिमें भी प्राक्तन कर्म अपेक्षित होते ही हैं। जैसे जन्मना शौर्य, क्रौर्य आदि गुण-कर्मसे युक्त मुख्य सिंह होता है और गुण-कर्मके बिना जन्ममात्रसे जाति सिंह—जन्मके बिना गुण-कर्ममात्रसे मनुष्यको भी शौर्यादि गुण-कर्मसे सिंह कहा जाता है, पर वह गौण प्रयोग है। उसी तरह जन्म और कर्मसे मुख्य ब्राह्मणादि, गुण-कर्मके बिना केवल

जन्मसे जाति-ब्राह्मणादि तथा जन्मके विना गुण-कर्मादिसे गौण ब्राह्मणादिका व्यवहार होता है। जैसे माता-भगिनी आदिको उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्योंका शास्त्रोंमें उपदेश है, वैसे ही ब्राह्मणादिको उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्योंका। इसी तरह सुव्यवस्था भी रह सकती है, अन्यथा पत्नीका कर्म करनेसे दुहिता या भगिनी भी पत्नी हो जायगी। इसीलिये **'ब्राह्मणो यजेत्'** आदि विधान है—**'यः ब्राह्मणो भवितुमिच्छेत् स यजेत्'** या **'यो यजेत् स ब्राह्मणः'** ऐसा विधान नहीं है। कर्मणा वर्णव्यवस्था माननेपर दिनभरमें ही अनेक बार वर्ण बदलते रहेंगे, फिर व्यवस्था क्या होगी? अतः उपनयन, वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान, भोजन, विवाहादि सभी सांस्कृतिक कर्म जन्मना ब्राह्मणादिके आपसमें ही हो सकते हैं। जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा ब्राह्मण, मुसलमान आदिमें भोजन, विवाह आदिमें सम्बन्ध तथा जन्मना वर्णोंसे भिन्न लोगोंको उपनयन, अग्निहोत्रादि कर्मोंका अधिकार सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। हम सभीको अपनी संस्कृतिकी रक्षा, उन्नति और उसका प्रचार अभीष्ट है। इसमें सभीका सहयोग अपेक्षित है। यह तभी सम्भव है, जब पहले यह निश्चित कर लिया जाय कि भारतीय और हिन्दू संस्कृति क्या है? वस्तुतः आजकल प्रमेय, फल, साधनादिपर तो विचार किया जाता है, परंतु प्रमाणकी परवाह नहीं की जाती। यदि उसके आधारपर विचार किया जाय तो सब बात स्पष्ट हो जाय। भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें विभिन्न मत रखनेवाले विद्वानोंको एक साथ मिलकर विचार-विनिमय करना चाहिये। यदि भारतीय संस्कृतिके मूलभूत सिद्धान्त और उसका रूप निश्चित हो जाय तो विवादके लिये अवकाश ही न रहे। अतः सभी विद्वानोंसे हमारा अनुरोध है कि वे इस ओर ध्यान दें। यह प्रश्न टाला नहीं जा सकता; क्योंकि इसीके उचित समाधानपर हमारा भविष्य निर्भर है। जब एक दिन इसका निर्णय करना ही है तो फिर विलम्ब क्यों किया जाय—**'शुभस्य शीघ्रम्।'**

~~~o~~~

पूर्वजन्म और संस्कार

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

जीवात्माका यदि वर्तमान जन्मसे पूर्व अस्तित्व न माना जाय तो वर्तमान जन्मकालमें ही होनेवाले सुख-दुःखका कारण सिद्ध न होनेसे 'अकृताभ्यागम' रूप दोष आता है। उसी प्रकार यदि वर्तमान जन्मके पश्चात् भी उसका अस्तित्व न माना जाय तो इस जन्ममें अनुष्ठित पुण्य एवं पाप, जिनका अभी किञ्चित् भी फल नहीं हुआ है, बिना भोगे ही नष्ट हो जानेसे 'कृतविप्रणाश' दोष आता है। जीवोंकी विविध प्रयोजननिमित्त प्रवृत्तिका उच्छेदन हो जानेपर लोकयात्रा ही समाप्त हो जायगी, जो कि दृष्टिविरुद्ध है।

बृहदारण्यकश्रुति (४।४।६)-में कहा गया है—

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति।

इसका भावार्थ यह है कि मरणसमय लिङ्गान्तर्गत मन जिस शुभ और अशुभ कर्मवासनासे वासित होता है, उसीसे स्वर्ग अथवा नरकमें पुण्य तथा पापका फलोपभोग कर इस भूलोकमें पुनः कर्मानुष्ठानके निमित्त लौटता है।

'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ... पुनर्निवर्तन्ते।'

—ऐसा छान्दोग्यश्रुति (५।१०।५) कहती है अर्थात् परलोकमें कर्मफलोपभोगपर्यन्त रहकर पुनरावृत्ति होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता (९।२०-२१)-में भी—

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

इस प्रकार पुनर्जन्मका उल्लेख है।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टिस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च। वर्णाश्रमाश्च प्रेत्य स्वकर्मफलमनुभूय विशिष्टदेशकालादिषु सम्भवन्ति॥

यह सूत्र भी एतदर्थका ही उपोद्बलक है।
~~~

इस प्रकार प्रबल युक्तियों, प्रमाणशिरोभूता भगवती श्रुति तथा स्मृतियोंके वचनोंसे पुनर्जन्म यद्यपि सिद्ध ही है तथापि समय-समयपर जातिस्मर व्यक्ति प्रकट होकर इस श्रुति-स्मृतियुक्तिसिद्ध पुनर्जन्म-सिद्धान्तको स्वानुभूतिद्वारा पुष्ट करते रहते हैं, जिससे आस्तिक जनता परलोकमें विश्वास कर पाप-परिवर्जनपूर्वक पुण्यानुष्ठानद्वारा सद्गतिलाभ करनेमें समर्थ हो।

प्रकृत लेखमें एक ऐसे ही व्यक्तिका वर्णन प्रस्तुत किया गया है—

पूर्वकालमें श्रीनर्मदातटपर एक शोभन-आश्रम था। वह बहुवृक्षसमाकीर्ण, सिंह, व्याघ्र, गो, महिष आदि वन्य पशुओंसे निवेशित, मुनिभोग्य कन्द, मूल तथा फलसे पूर्ण और मुनिवृन्दोंसे सुशोभित था। उस आश्रमस्थित मुनिवृन्दके साथ मुनिवर्य श्रीगालव वहाँ निवास करते थे, जो सत्यपरायण, तपोनिधि, शान्त तथा दान्त थे। चिरकालतक तप करते-करते उनके पवित्र गृहमें एक शिशुका जन्म हुआ, जिसका नाम उन्होंने भद्रशील रखा। वह जातिस्मर होनेके कारण बाल्यकालसे ही श्रीनारायणपरायण हुआ। क्रीडामें ही वह महामति शिशु विशुद्ध मृत्तिकाकी श्रीविष्णुकी प्रतिमाका निर्माण कर पूजा करता हुआ सहचारि शिशुवर्गको

योंको भी निजकल्याणार्थ सदा श्रीविष्णुका पूजन एवं एकादशीव्रत करना चाहिये। इस प्रकार बोधित हुए शिशुगण कभी मिलकर और कभी पृथक्-पृथक् श्रीहरिकी प्रतिमा बनाकर भद्रशीलोक्त प्रकारसे पूजनमें निरत हुए। पूजनानन्तर वे यह भावना करते थे—

'नमो विष्णवे, सर्वेषां स्वस्ति भूयात्।'

भगवान् विष्णुको नमस्कार है, सम्पूर्ण जगत्का कल्याण हो।

जिस दिन एकादशीव्रत होता, भद्रशील सबसे व्रतका संकल्प कराकर श्रीविष्णुको समर्पण कर देता। इस प्रकारकी बालक्रीडा आश्रमस्थ मुनिगणोंको ज्ञात हुई। अन्वेषण करनेसे पता चला कि शिशुगणका सुचरित श्रीगालवके सुपुत्र भद्रशीलकी प्रेरणाका फल है। श्रीगालव अपने पुत्रका यह सुचरित श्रवण कर विस्मयाविष्ट हो निज अङ्कमें बैठाकर उससे प्रेमपूर्वक प्रश्न करने लगे—

'हे सौम्य! तुमने अपने भद्रशील नामको सार्थक किया। इस अवस्थामें तुम्हारा यह लोकोत्तर, योगिदुर्लभ चरित तुम्हें कहाँसे प्राप्त हुआ, जो तुम सदा हरिपूजापरायण, एकादशीव्रतनिष्ठ, श्रीहरिके ध्यानमें निमग्न, निषिद्धाचारशून्य, निर्द्वन्द्व, निर्मम, शान्त और सर्वभूतहितकी भावना रखते हो। महत्सेवासे ही दुर्लभा हरिभक्ति सुलभ होती है; क्योंकि जन्मसे ही जीवकी प्रवृत्ति अविद्या, कामके अधीन रहती है। यहाँतक कि सत्सङ्गसे भी जिनका पूर्वपुण्यातिरेक होता है, वे ही लाभ उठा सकते हैं, परंतु तुम्हारी यह लोकोत्तर कृति हमको विस्मयाविष्ट कर रही है। अतएव प्रेमपूर्वक कहो कि तुमको यह बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई है?'

इस प्रकार पिताके प्रश्न करनेपर जातिस्मर सुकृति भद्रशील स्वानुभूत पूर्ववृत्तका वर्णन करने लगे और बोले—हे तात! पूर्वजन्मकी स्मृतिद्वारा स्ववृत्त आपको सुनाता हूँ। मैं पूर्वजन्ममें सोमकुलोद्भव धर्मकीर्तिसंज्ञक राजा था। मैंने श्रीदत्तात्रेयजीसे शासित होकर नौ सहस्र वर्षोंतक राज्य किया। पृथ्वीपालनके समयमें धर्म एवं अधर्म बहुत होते रहे। अन्ततः पाखण्डजनोंके संसर्ग-दोष तथा ऐश्वर्यमदसे प्रमत्त हो अधर्ममें प्रवृत्तिका आधिक्य हो गया। पाखण्डजनके सिद्धान्त—

'न दातव्यं न होतव्यं न यष्टव्यं कदाचन' को हृदयगत कर मैंने सनातन वेदमार्गका परित्याग कर दिया। इसका परिणाम हुआ—'यथा राजा तथा प्रजा।' 'राजा कालस्य कारणम्'—इस नीतिके अनुसार मेरे देशकी प्रजा

भी वेदमार्ग (वर्णाश्रमधर्म)-का परित्याग कर सदैव अधर्ममें निरत रहने लगी।

इस प्रकार व्यसनासक्त तथा पापनिरत रहता हुआ एक दिन मैं मृगयाके निमित्त सैन्यसहित गहन वनको प्राप्त हो अनेक मृग-व्याघ्रादिका हनन करता हुआ सैन्यसे रहित हो श्रीनर्मदातटपर पहुँचा। उस समय सूर्यके आतपसे संतप्त, क्षुधा-पिपासासे पीडित एकाकी श्रीनर्मदामें स्नानकर स्थित ही था कि पूर्वजन्मोपार्जित सुकृतके परिपाकवश क्या देखता हूँ कि रेवातीरनिवासी ब्राह्मणादि भक्तमण्डल एकादशीव्रत-परिपालनार्थ श्रीहरिपूजन एवं कीर्तन, रात्रिजागरण आदिके निमित्त वहाँ उपस्थित हुए हैं। उनकी देखा-देखी मैं उस समाजमें सम्मिलित हुआ। दिनमें अशन-पान हुआ ही न था, रात्रिको जागरण करते हुए श्रीहरिपूजन एवं कीर्तन होता रहा, दैवयोगसे जागरणान्त ही मृत्युके वशमें हुआ तो क्या देखा कि यमदूत पाशबद्ध करके अनेक क्लेशप्रदमार्गसे ले जा रहे हैं।

यमलोकगत होकर दंष्ट्राकरालवदन श्रीयमका चित्रगुप्तसहित दर्शन हुआ। श्रीयम चित्रगुप्तसे मेरे कर्मका विवरण पूछने लगे। चित्रगुप्त बोले—'हे धर्मराट्! यह आजन्म पापनिरत रहता हुआ भी अन्त समयमें श्रीएकादशी-उपवास, रात्रिजागरण, श्रीहरिपूजन और कीर्तन करता हुआ श्रीनर्मदातटस्थ हो मृत्युको प्राप्त हुआ है। अतः '**एकादश्यां निराहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते, धर्मेण पापमपनुदति।**' अर्थात् एकादशीको निराहार रहनेसे व्रती सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और धर्मके द्वारा पापको दूर करता है—इस शास्त्रप्रमाणसे निष्पाप हो यह सद्गतिका अधिकारी हो चुका है।

चित्रगुप्तके इस उत्तरको श्रवण कर श्रीधर्मराजने अनुकम्पितहृदय हो मुझको निर्मुक्तबन्धन कर दिया, आसनपर बैठाकर भक्तिभावसे मेरी पूजा की और दण्डवत् प्रणाम कर वे तल्लोकस्थ निज दूतगणोंको मेरे समक्ष खड़ा करके उन्हें आदेश देने लगे—

शृणुध्वं मद्वचो दूता हितं वक्ष्याम्यनुत्तमम्।
धर्ममार्गरतान्मर्त्यान्मानयध्वं ममान्तिकम्॥

अर्थात् हे दूतगणो! हमारा उत्तम आदेश श्रवण करो—'धर्ममार्गनिरत प्राणिवर्गको हमारे निकट मत लाया करो।'

यमदूत कहने लगे—भगवन्! धर्ममार्गनिरत प्राणियोंके तथा अधर्मनिरतोंके क्या लक्षण हैं?

इसपर श्रीधर्मराजने धर्मनिरत प्राणिवर्गके लक्षणोंको बताते हुए कहा—

ये विष्णुपूजनरताः प्रयताः कृतज्ञा-
श्चैकादशीव्रतपरा विजितेन्द्रियाश्च।
नारायणाच्युत हरे शरणं भवेति
शान्ता वदन्ति सततं तरसा त्यजध्वम्॥

हे दूतगण! जो शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, श्रीविष्णुपूजनमें निरत, एकादशीव्रत-परिपालक और हे नारायण, हे अच्युत, हे हरे! हमको शरणमें लीजिये—इस प्रकार सतत वदनशील हों; उनका अवश्य परित्याग कर देना।

नारायणाच्युत जनार्दन कृष्ण विष्णो
पद्मेश पद्मजपितः शिवशंकरेति।
नित्यं वदन्त्यखिललोकहिताः प्रशान्ता
दूराद्भटास्त्यजत तान्न ममेषु शिक्षा॥

हे दूतगण! जो प्रशान्तचित्त, निखिललोकहितनिरत नित्य हे नारायण! अच्युत, जनार्दन, कृष्ण, विष्णो, लक्ष्मीपते, स्वयम्भूजनक, हे शिवशंकर! ऐसा कीर्तन करते हैं! उनपर हमारा शासन नहीं है; उनको दूरसे ही त्याग देना।

नारायणार्पितकृतान्हरिभक्तिभाजः
स्वाचारमार्गनिरतान् गुरुसेवकांश्च।
सत्पात्रदाननिरतांश्च सुदीनपालान्
दूरास्त्यजध्वमनिशं हरिनामसक्तान्॥

जो अपने सर्वकृत्य श्रीनारायणको अर्पित करते हैं, स्वाचारनिष्ठ, गुरुसेवी, सत्पात्रमें दानशील, दीनरक्षक, श्रीहरिके नामकीर्तन तथा भक्तिमें आसक्त हों, उनको दूरसे त्याग देना।

पाखण्डसङ्गरहितान् द्विजभक्तिनिष्ठान्
सत्सङ्गलोलुपतरांश्च तथातिथेयान्।
शम्भौ हरौ च समबुद्धिमतस्तथैव
दूतास्त्यजध्वमुपकारपराङ्गनानाम्॥

हे दूतगण! जो पाखण्डजनके संसर्गसे रहित, ब्राह्मणोंके भक्त, सत्सङ्गके लोलुप, अतिथिसेवक, श्रीसदाशिव एवं श्रीहरिमें समबुद्धि रखनेवाले तथा परोपकारपरायण हों, उनको त्याग देना।

इस प्रकार धर्मनिरत प्राणियोंके लक्षणका निरूपण कर श्रीयमराज अब अधर्मनिरत यममार्गके पथिकोंका निरूपण करने लगे—

ये वर्जिता हरिकथामृतसेवनैश्च
नारायणस्मृतिपरायणमानसैश्च ।
विप्रेन्द्रपादजलसेचनतोऽप्रहृष्टां-
स्तान्पापिनो मम भटा गृहमानयध्वम् ॥

हे दूतगण! जो पापी श्रीहरिकथामृतसेवनसे तथा श्रीनारायणस्मृतिपरायण भक्तजनके संसर्गसे वर्जित हैं, जो श्रोत्रिय, सदाचारी, विप्रेन्द्रके पादप्रक्षालन आदि सेवासे अप्रसन्न होते हैं, उनको हमारे लोकमें लाया करो।

ये मातृतातपरिभर्त्सनशीलिनश्च
लोकद्विषो हितजनाहितकर्मणश्च ।
देवस्वलोभनिरताञ्जननाशकर्तॄ-
नत्रानयध्वमपराधपरांश्च दूताः ॥

हे दूतगण! जो माता-पिता आदि गुरुजनोंकी कोपपूर्वक भर्त्सना करनेवाले, लोककण्टक, लोकहितपरायणजनोंका अहित करनेवाले, देवद्रव्यके लोलुप तथा लोकनाशमें उद्यत हों, ऐसे अपराधपरायण जनोंको यहाँ लाया करो।

एकादशीव्रतपराङ्मुखमुग्रशीलं
लोकापवादनिरतं परनिन्दकं च ।
ग्रामस्य नाशकरमुत्तमवैरयुक्तं
दूताः समानयत विप्रधनेपुलुब्धम् ॥

हे दूतगण! जो एकादशीव्रतरहित, उग्रस्वभाव, लोकापवादनिरत, परनिन्दक, ग्राममें परस्पर विद्वेषद्वारा अशान्ति फैलानेवाले तथा ब्राह्मणके द्रव्यके लोलुप हों, ऐसे पापियोंको यहाँ लाया करो।

ये विष्णुभक्तिविमुखाः प्रणमन्ति नैव
नारायणं हि शरणागतपालकं च ।
विष्ण्वालयं च नहि यान्ति नराः सुमूर्खा-
स्तानानयध्वमतिपापरतान्प्रसह्य ॥

जो श्रीविष्णुभक्तिविमुख, शरणागतपालक नारायणको प्रणाम न करनेवाले, गृहकार्यासक्त रहते हुए देवमन्दिरमें न जानेवाले हों, ऐसे अतिपापरत मूर्खजनोंको बलात् लाया करो।

भद्रशील बोले—हे तात! इस प्रकार यमादेश श्रवण कर मैं अपने निन्दित कर्मका स्मरण कर पश्चात्ताप करने लगा। इस प्रकार पश्चात्ताप तथा श्रीयममुखनिःसृत सद्धर्मश्रवणके प्रतापसे मेरे पाप नष्ट हो गये। उसी समय मैं दिव्य विग्रहयुक्त हो गया, जिसे देख यमदूत चकित हुए और श्रीयमादिष्ट भगवद्धर्ममें अति विश्वस्त हुए।

तदनन्तर श्रीयमने मुझे विमानारूढकर श्रीविष्णुधामको भेजा। वहाँ श्रीहरिकी अनुकम्पासे अनेक कल्प निवास कर इन्द्रलोकद्वारा भूलोकमें श्रीहरिके भक्त तथा सद्धर्मपरायण आपके कुलमें मैंने जन्म प्राप्त किया है। जातिस्मरताके प्रतापसे यह सब हमको ज्ञात है। अब मेरा ऐसा विचार है कि मैं बाल्यकालसे ही सद्धर्माचरणपूर्वक श्रीविष्णुभक्तिमें पूर्ण प्रयत्नशील होऊँगा, जिससे पुनरावृत्तिरहित कैवल्यपद प्राप्त हो। इसमें प्रमाण है—

एकादशीव्रतं यत्तु कुर्वन्ति श्रद्धया नराः ।
तेषां तु विष्णुभवनं परमानन्ददायकम् ।

इस प्रकार पुत्रके यथार्थ वाक्यको श्रवणकर श्रीगालव अति संतुष्ट होकर बोले—आप-जैसे विष्णुभक्तको पुत्ररूपमें प्राप्तकर हमारा जन्म और वंश सफल हुआ।

तदनन्तर उन्होंने भद्रशीलको शास्त्रोक्त विधिसे हरिपूजाविधानका उपदेश दिया और तदनुसार आचरण करके भद्रशील कृतार्थ होकर श्रीविष्णुधामको प्राप्त हुए।

उपर्युक्त वृत्तान्तसे यह सिद्ध होता है कि पूर्वजन्मका संस्कारोंसे सीधा सम्बन्ध है और जन्मान्तरीय संस्कार अवान्तर जन्ममें भी फलीभूत होते हैं। पूर्वजन्मके राजा धर्मकीर्ति ही दूसरे जन्ममें महर्षि गालवके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए, जिनका नाम भद्रशील हुआ। पूर्वजन्मके राजा धर्मकीर्तिद्वारा मृत्युसे पूर्व अन्तिम समयमें अनजानमें एकादशीव्रत सध गया और उन्हें विष्णुभक्तोंका दर्शन हो गया था, इसी तिथिको रात्रिजागरणमें उनकी मृत्यु भी हो गयी थी। तात्पर्य यह कि उनका विष्णुभक्तिका संस्कार बन गया था। फलतः दूसरे जन्ममें भी उसी भावना—संस्कारके प्रभावसे उनका उत्तम ऋषिकुलमें जन्म हुआ तथा इसी कारण वे जन्मसे ही विष्णुभक्त एवं जातिस्मर हुए और उनका विष्णुभक्तिका संस्कार अन्ततक बना रहा। इसी संस्कारके प्रभावसे उन्हें विष्णुधाम प्राप्त हुआ। अतः प्रयत्नपूर्वक अच्छे संस्कारोंको अपनेमें प्रतिष्ठित करना चाहिये, जो इहलोक तथा परलोक—दोनोंके लिये कल्याणकारी हों।

[प्रेषक—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टांटिया]

संस्कृति और संस्कार

(ब्रह्मलीन पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषाका है। पर दुःख है कि आजकल इसका प्रयोग 'कल्चर' शब्दके अनुवादके रूपमें किया जा रहा है, जिससे संस्कृति शब्दका वास्तविक अर्थ कभी समझमें नहीं आता। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' इस पाणिनिसूत्रसे भूषण—सुट्का आगम होनेपर संस्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ है—मानवका वह कर्म, जो भूषणस्वरूप—अलङ्कारस्वरूप है। मनुष्यद्वारा किये जानेवाले ऐसे कार्य जिससे उसे लोग अलंकृत और सुसज्जित समझें, उन कर्मोंका नाम है—संस्कृति।

प्रकारान्तरसे देखा जाय तो संस्कृति शब्दका शुद्ध अर्थ है 'धर्म'। अंग्रेजी भाषा तो क्या विश्वकी किसी भाषामें इस शब्दका वास्तविक अर्थ बतानेवाला कोई भी समानान्तर शब्द नहीं है। अंग्रेजी भाषाका 'कल्चर' शब्द कल्टसे बनता है। इसके अनुसार किसी भी देशके रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, क्रीडा, कला-कौशल, संगीत, नृत्य और गीतका अन्तर्भाव उसमें होता है। संस्कृति शब्दका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं है। संस्कृति शब्दका दूसरा वाचक शब्द हमारे यहाँ संस्कार है। वह भी 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होकर 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' सूत्रसे 'सुट्' का आगम होकर बनता है। संस्कार हमारे यहाँ मुख्यरूपसे गर्भाधानादि-अन्त्येष्टिपर्यन्त १६ हैं। कुछ आचार्योंके मतमें ४२ संस्कार भी हैं। ये सारे-के-सारे संस्कार व्यक्तिकी जाति और अवस्थाके अनुसार किये जानेवाले धर्मकार्योंका प्रतिस्थापन करते हैं। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्त—ये तीन संस्कार तो पैदा होनेके पहले होते हैं। इनसे मनुष्यमें पिताके वीर्यजन्य जो दोष और माताके रजजन्य जो दोष हैं, उनकी निवृत्ति होती है। रज-वीर्यसे जीवकी उत्पत्ति होती है। ये दोनों माता-पिताके मल-मूत्रस्थानापन्न हैं। इन दोषोंकी निवृत्तिके लिये संस्कार होते हैं। मनुस्मृति (२।२७)-में कहा गया है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्त-संस्कारके समय होनेवाले जो होम होते हैं, उनके द्वारा माता-पिताके मल-मूत्रस्थानापन्न आये रज-वीर्यके दोषोंका अपनयन होता है। नौ मासतक माताके गर्भमें जो जीव रहता है, वहाँ मल-मूत्रका भण्डार, रक्त आदि तथा माताके खाये हुए अपवित्र पदार्थोंका संचयन रहता है, उसमें जीव पड़ा रहता है। उस दोषकी निवृत्तिके लिये पैदा होनेके बाद जातकर्मसे चूडाकर्म (मुण्डन)-पर्यन्त संस्कार होते हैं। इसके बाद गोदान, यज्ञोपवीत, विवाह—इन संस्कारोंसे व्यक्ति सुसज्जित एवं भूषित होता है।

संस्कार अथवा संस्कृति दो प्रकारके होते हैं। एक है दोषापनयन और दूसरा है गुणाधान। संसारकी कोई जड़-चेतन वस्तु नहीं है, जो बिना संस्कार किये हुए मनुष्यके उपयोगमें आती हो। उदाहरणके लिये हम अन्न खाते हैं। खेतमें जैसा अन्न होता है, वैसा-का-वैसा नहीं खाते। पहले उसको रौंद करके दाना निकाला जाता है और भूसी अलग की जाती है। उसमें जो दोष हैं, उनको दूर करके, छान-बीन करके मिट्टी, कंकड़ आदि निकाले जाते हैं। ये भी दोषापनयन-संस्कार हैं। इसके बाद गुणाधान-संस्कार होता है। उसे चक्कीमें पीसकर आटा निकाला जाता है। जो गुण उसमें नहीं थे, उसे लाया जाता है। फिर उसमें पानी मिलाकर उसका पिण्ड बनाकर, रोटी बेलकर तवेपर सेंककर खानेयोग्य बनाया जाता है। ये सभी गुणाधान-संस्कार हैं। कोई भी चीज संस्कारसे हीन होनेपर सभ्य समाजमें प्रयोग लायक नहीं होती।

उत्तम-से-उत्तम कोटिका हीरा खानसे निकलता है। उस समय वह मिट्टी आदि अनेक दोषोंसे दूषित रहता है। पहले उसे सारे दोषोंसे मुक्त किया जाता है। फिर तराशा जाता है, तराशनेके बाद कटिंग की जाती है। यह क्रिया गुणाधान-संस्कार है। तब वह हारमें पहनने-लायक होता है। जैसे-जैसे उसका गुणाधान-संस्कार बढ़ता चला जाता है, वैसे ही मूल्य भी बढ़ता चला जाता है। संस्कारने ही उसकी कीमत चढ़ी। संस्कारके बिना को...

नहीं। इसी प्रकार संस्कारोंसे विभूषित होनेपर ही व्यक्तिका मूल्य और सम्मान बढ़ता है। इसीलिये हमारे यहाँ संस्कारका माहात्म्य है।

संस्कार और संस्कृतिमें जरा-सा भी भेद नहीं है। भेद केवल प्रत्ययका है। इसीलिये संस्कार और संस्कृति—दोनों शब्दोंका अर्थ है—धर्म। धर्मका पालन करनेसे ही मनुष्य मनुष्य है, अन्यथा खाना, पीना, सोना, रोना, धोना, डरना, मरना, संतान पैदा करना—ये सभी काम पशु भी करते हैं। पशु और मनुष्यमें भेद यह है कि मनुष्य उक्त सभी कार्य संस्कारके रूपमें करता है। गाय, भैंस, घोड़ा, बछड़ा आदि जैसा खेतमें अनाज खड़ा रहता है, वैसा ही खा जाते हैं। लेकिन कोई मनुष्य खड़े अनाजको खेतोंमें ही खानेको तैयार नहीं होता। खायेगा तो लोग कहेंगे—पशुस्वरूप है। इसीलिये संस्कार, संस्कृति और धर्मके द्वारा मानवमें मानवता आती है। बिना संस्कृति और संस्कारके मानवमें मानवता नहीं आ सकती।

हमारे यहाँ प्रत्येक कर्मका संस्कृतिके साथ सम्बन्ध है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त और प्रातःकाल शय्या त्यागकर पुनः शय्या-ग्रहणपर्यन्त हम जितने कार्य करें, वे सभी वैसे हों, जिनसे हमारे जीवनका विकास ही नहीं हो, बल्कि वे अलंकृत, सुशोभित और विभूषित भी करें। ऐसे कर्म कौन-से हैं, उनका ज्ञान मनुष्यको अपनी बुद्धिसे नहीं हो सकता। सामान्यतया बुद्धिमान् व्यक्ति सोचता है कि वह वही कार्य करेगा, जिससे उसे लाभ हो। लेकिन मनुष्य अपनी बुद्धिसे अपने लाभ और हानिका ज्ञान कर ही नहीं सकता। अन्यथा कोई मनुष्य निर्धन और दुःखी नहीं होता। अपने प्रयत्नोंसे ही उसे हानि भी उठानी पड़ती है। इसीलिये कहा जाता है कि हमने अपने हाथोंसे अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मार ली। अतः मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान शास्त्रोंद्वारा हो सकता है। शास्त्रोंद्वारा बताये गये, अपने-अपने अधिकारानुसार कर्तव्य कर्म और निषिद्ध कर्मको जानकर आचरण करना ही संस्कृति है।

वास्तवमें आजकल कल्चरल-प्रोग्राम या सांस्कृतिक-कार्यक्रमका अर्थ केवल नाचना, गाना, बजाना ही रह गया है, जबकि इसका अर्थ बड़ा व्यापक है, जिसका सीधा सम्बन्ध मनुष्यके पूरे व्यक्तित्वसे है, जो इहलोक और परलोक—दोनोंसे जुड़ा है। आज भी बहुत लोग हैं जो शास्त्रोंद्वारा बताये गये कर्म करते हैं और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि आधुनिक चाकचिक्य और भौतिकताके व्यापक प्रचार-प्रसारके बावजूद हमारी संस्कृतिका बीज नष्ट होनेवाला नहीं है। वर्तमान समयमें हमारे देशमें जो संस्कृतिका संकट है, उसका कारण है—विदेशी संस्कृतिसे प्रभावित लोग। लोग विदेश जाकर संस्कारित होते हैं और आकर उसका प्रचार भी करते हैं। इसीसे हमारी संस्कृति और पहचान नष्ट हो रही है। कितनी हास्यास्पद बात है कि विदेशी अपनी संस्कृतिसे ऊबकर हमारी संस्कृति अपना रहे हैं और हम उनकी मरती हुई संस्कृतिकी तरफ ललचाई दृष्टिसे देख रहे हैं। रूस और चीनमें आजकल जो हो रहा है, वह उनकी संस्कृतिसे मुक्त होनेकी छटपटाहटका लक्षण है। विदेशी संस्कृतिका त्याग ही भारतको पूर्ण गौरवकी ओर उन्मुख कर सकता है।

पहले भारतीय संस्कृति विश्वकी संस्कृतियोंको नियन्त्रित करती थी; क्योंकि हमारे आचार-विचार, धर्म-संस्कार ऐसे थे कि उसीसे सुख, शान्ति, शक्ति, समृद्धि और सम्मान मिलता था। स्थिति यह थी कि हम इतने बलशाली थे कि हमारी बात माने बिना कोई रह नहीं पाता था। संसार हमारा लोहा मानता था। आज हम इतने निर्बल हो गये हैं कि छोटे-से-छोटा देश भी हमें आँखें दिखा देता है। इतने निर्धन हो गये हैं कि हमारा अर्थशास्त्र दूसरे देशोंपर आश्रित होता जा रहा है। जिसके राज्यमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, वे हमारे कर्जदार थे। हम सोनेकी चिड़िया कहे जाते थे। लेकिन आज अरबों-खरबोंका कर्ज लेकर आत्मसम्मानसे जीनेका ढोंग करते हैं। कभी पूरा विश्व ज्ञान, सम्पत्ति, दर्शन, कला, धर्म, संस्कृति-संस्कारमें हमारा कर्जदार था। आज हम उधार और कर्जकी तकनीकी जानकारी, ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा, व्यवस्था,

संस्कार, भाषा, खान-पान आदिको लेकर एक शताब्दीसे दूसरी शताब्दीमें जानेका दुःस्वप्न देख रहे हैं। क्या इससे हमारा अस्तित्व बचेगा? क्या हम अपनी पहचान सुरक्षित रख पायेंगे? आखिर हमारा देश कैसे निर्बल होता गया? यह सब अपने संस्कारसे च्युत होनेके कारण हैं। हम अपनी संस्कृतिको पहचान ही नहीं पा रहे हैं। नयी पीढ़ीको संस्कृति शब्दका सही अर्थ ही नहीं मालूम है। इसीलिये अपने यहाँ अपनी परम्पराओं और संस्कृतिपर शोध नहीं होता। इस क्षेत्रमें विदेशियोंके शोधको हम मान्यता देते हैं, जो हमारे शास्त्रोंका सही अर्थ ही नहीं जान पाये। वे संस्कृतिको कल्चर कहते हैं, कल्चर तो रहन-सहन है; सभ्यता कहते हैं, जो सिविलाइजेशन है। वास्तवमें निर्बलता सबसे बड़ा पाप है, जो भारतमें हर मोर्चेपर दिखायी पड़ रही है। अपने शास्त्रोंके आधारपर संस्कारित होनेका गर्व करनेपर ही हम पुनः बलशाली हो सकते हैं, दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

[प्रेषक—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टांटिया]

चरित्र-निर्माणमें संस्कारोंकी समष्टि

[स्वामी श्रीविवेकानन्दजीके विचार]

स्वामी श्रीविवेकानन्दजीद्वारा चरित्र-गठनके संदर्भमें संस्कारोंके मूल्यवान् विचार यहाँ प्रस्तुत हैं—

हमारा प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अङ्ग-संचालन, प्रत्येक विचार हमारे चित्तपर एक प्रकारका संस्कार छोड़ जाता है। यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टिसे स्पष्ट न हों, तथापि ये अवचेतनरूपसे अंदर-ही-अंदर कार्य करनेमें पर्याप्त समर्थ होते हैं। हम प्रतिमुहूर्त जो कुछ होते हैं, वह संस्कारोंके समुदायद्वारा ही निर्धारित होता है। मैं इस मुहूर्तमें जो कुछ हूँ, वह मेरे अतीत जीवनके समस्त संस्कारोंका प्रभाव है। यथार्थतः इसे ही चरित्र कहते हैं। प्रत्येक मनुष्यका चरित्र इन संस्कारोंकी समष्टिद्वारा ही नियमित होता है। यदि भले संस्कारोंका प्राबल्य रहे तो मनुष्यका चरित्र अच्छा होता है और यदि बुरे संस्कारोंका प्राबल्य हो तो बुरा। एक मनुष्य निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे तो उसका मन भी बुरे संस्कारोंसे पूर्ण हो जायगा और बिना उसके जाने ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्योंपर अपना प्रभाव डालते रहेंगे और फिर वह एक बुरा आदमी बन जायगा। इसी प्रकार कोई व्यक्ति अच्छे विचार रखे और सत्कार्य करे तो उसके इन संस्कारोंका उसपर प्रभाव भी अच्छा होगा।
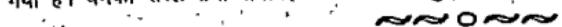
यदि तुम सचमुच किसी मनुष्यके चरित्रको जाँचना चाहते हो तो उसके बड़े कार्योंसे उसकी जाँच मत करो, हर-मूर्ख किसी विशेष अवसरपर बहादुर बन सकता है, मनुष्यके अत्यन्त साधारण कार्योंकी जाँच करो और असलमें वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे तुम्हें एक महान् पुरुषके वास्तविक चरित्रका पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर छोटे-से-छोटे मनुष्यको भी किसी-न-किसी प्रकारका बड़प्पन दे देते हैं, परंतु वास्तवमें महान् तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओंमें महान् तथा सम रहता है।

मनुष्यकी इच्छाशक्ति चरित्रसे उत्पन्न होती है। हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, वह सब मनकी अभिव्यक्ति है, मनुष्यकी इच्छाशक्तिका प्रकाश है। कल-पुर्जे, यन्त्र, नगर, जहाज, युद्धपोत आदि सभी मनुष्यकी इच्छाशक्तिके विकासमात्र हैं। चरित्र कर्मोंसे गठित होता है। जैसा कर्म होता है, इच्छाशक्तिकी अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है। संसारमें प्रबल इच्छाशक्ति-सम्पन्न जितने महापुरुष हुए हैं, वे सभी महान् आत्मावाले थे। उनकी इच्छाशक्ति ऐसी जबरदस्त थी कि वे संसारको भी उलट-पुलट सकते थे और यह शक्ति उन्हें युग-युगान्तरतक निरन्तर कर्म करते रहनेसे प्राप्त हुई थी।

आश्चर्यकी बात है कि कितने ही

प्राप्त करते हैं और कितने ही असफल हो जाते हैं। मूल बात तो यह है कि विशेष परिश्रमसे ही चरित्रका गठन होता है। मन निर्मल, सत्त्वगुणयुक्त और विवेकशील हो, इसके लिये निरन्तर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। प्रत्येक कार्यसे मानो चित्तरूपी सरोवरके ऊपर एक तरंग खेल जाती है। यह कम्पन कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है, फिर क्या शेष रहता है—केवल संस्कार-समूह। मनमें ऐसे बहुत-से संस्कार पड़नेपर वे इकट्ठे होकर आदतके रूपमें परिणत हो जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि आदत ही द्वितीय स्वभाव है। केवल द्वितीय स्वभाव ही नहीं, वरन् प्रथम स्वभाव भी है। हमारे मनमें जो विचारधाराएँ बह जाती हैं, उनमेंसे प्रत्येक अपना एक चिह्न—संस्कार छोड़ जाती है। हमारा चरित्र इन सब संस्कारोंकी समष्टिस्वरूप है। केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो, इस प्रकार चरित्र-निर्माण ही बुरे संस्कारोंको रोकनेका एकमात्र उपाय है। अंग्रेजीमें एक कहावत है, जिसका हिन्दी अनुवाद है—'यदि धन नष्ट होता है तो कुछ भी नष्ट नहीं होता, यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है तो कुछ अवश्य नष्ट होता है, पर यदि चरित्र नष्ट होता है तो सब कुछ नष्ट हो जाता है।'

वास्तवमें चरित्र ही जीवनकी आधारशिला है, उसका मेरुदण्ड है। राष्ट्रकी सम्पन्नता चरित्रवान् लोगोंकी ही देन है। जो राष्ट्र सम्पन्न हैं, प्रगतिके रास्तेमें आगे बढ़ रहे हैं, वहाँके नागरिक अवश्य चारित्रिक धनसे भी सम्पन्न होंगे। इसी प्रकार जहाँके निवासी चारित्र्यसे विभूषित होते हैं, वह राष्ट्र प्रगत होगा ही। राष्ट्रोत्थान और व्यष्टि-चरित्र—ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। चरित्रकी जड़ोंको सुखानेवाला सबसे प्रबल तत्त्व है—स्वार्थ। स्वार्थकी भावना ही अहंताका मूल कारण है। जहाँ व्यक्ति केवल अपने लिये जीता है, वहाँ किसी प्रकारके नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। नैतिक मूल्यरूपी जलके सिंचनसे ही चरित्रका पौधा लहलहाता है। नैतिकताका सरल अर्थ है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अपने ही समान सबको जानना। ऐसी वृत्तिको भारतमें धर्मकी वृत्ति कहा गया है। धर्मकी सरल तथा सर्वग्राह्य व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि जो आचरण अपने प्रतिकूल हो वैसा दूसरेके प्रति कभी न करे, यही धर्मका सर्वस्व है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

स्वामी विवेकानन्द नीतिसंगत एवं नीतिविरुद्धकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि जो स्वार्थपरायण हैं, वे नीतिविरुद्ध हैं और जो निःस्वार्थ हैं, वे नीतिसंगत हैं। चरित्रवान् व्यक्ति ही वास्तवमें आनन्दका अधिकारी होता है और चरित्रवान् वह है, जिसने अपने स्वार्थको अंकुशमें रखा है। हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं—अपनेको आगे रखो, पर नीतिशास्त्र कहता है कि अपनेको सबसे अन्तमें रखो। इस प्रकार नीतिशास्त्रका सम्पूर्ण विधान त्यागपर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तरपर अपने व्यक्तित्वका हनन करो, निर्माण नहीं।

स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं—उपयोगितावाद मनुष्यके नैतिक सम्बन्धोंकी व्याख्या नहीं करता; क्योंकि पहली बात तो यह है कि उपयोगिताके आधारपर हम किसी भी नैतिक नियमपर नहीं पहुँच सकते। उपयोगितावादी हमसे असीम अतीन्द्रिय गन्तव्य स्थलके प्रति संघर्षका त्याग चाहते हैं; क्योंकि अतीन्द्रियता अव्यावहारिक है; निरर्थक है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि नैतिक नियमोंका पालन करो, समाजका कल्याण करो। भलाई करनेकी बात तो गौण है, मुख्य है—एक आदर्श। नीतिशास्त्र स्वयं साध्य नहीं है, प्रत्युत साध्यको पानेका साधन है।

स्वामीजीकी दृष्टिमें चरित्रहीनता ही राष्ट्रकी मृत्युका कारण थी। देशकी मृत्युका चिह्न अपवित्रता या चरित्रहीनताके भीतरसे होकर आया है। यह चारित्र्य-दोष किसी देशमें प्रवेश कर जाता है तो समझना कि उसका विनाश निकट आ गया। बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है। कापुरुष कभी चरित्रवान् नहीं हो सकता। सत्य तो यह है जो शक्ति दे, हृदयके अन्धकारको दूर करे और यह सत्य ही चरित्र-निर्माणका वास्तविक एवं स्थायी आधार है।

संस्कारोंसे ही चरित्र बनता है।

[प्रेषक—श्रीहरिकृष्णजी नीखरा]

श्रीअरविन्दके पूर्णयोगमें संस्कार

श्रीअरविन्दजीका कहना है—'संस्कार अधिकांशतः निर्माणकारी सांकेतिक तत्त्व हैं, जो मानसपर सचेतन और अचेतन अवस्थाओंमें कार्य करते हैं तथा इन तत्त्वोंके पीछे अवस्थित महत्तर एवं शाश्वत तत्त्वोंका मर्म समझनेके लिये प्रस्तुत करते हैं।'

अध्यात्म-जीवनकी ओर उन्मुख सभी साधनमार्गोंमें संस्कारको प्रगतिका उपाय माना गया है। इसीके द्वारा सृष्टिमें चैतन्यका जागरण होता है। इसीके माध्यमसे सृष्टि प्रगति करती है। अन्तर यही है कि प्रारम्भमें संस्कारका चैतन्य अचित्में अचेतन रीतिसे कार्य करते हुए जीवको सृष्टिकी उस अवस्थाको प्राप्त कराता है, जिसे चित् कहा जाता है और जीवमें चित्के विकासके द्वारा वह स्वयंको सचेतन बनाता है। विभिन्न स्मृतियाँ संस्कारोंकी व्याख्या इसी परिप्रेक्ष्यमें करती हैं।

श्रीअरविन्दके योगमें संस्कार जीवके अस्तित्वके साथ प्रारम्भ होते हैं, मानवके रूपमें जीवका जन्म तो बहुत बादमें होता है। संस्कार ही जीवके आध्यात्मिक विकासपथपर पाथेय हैं। जीव संस्कारका ही सहारा लेकर अध्यात्मके सोपानोंपर आरोहण करता है। अतः संस्कार सूक्ष्म, आन्तरात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाके प्रतीक भी बन जाते हैं।

जीव अपने जीवनके लक्ष्यकी प्राप्तिहेतु अतीतके संस्कारों और आग्रहोंको लेकर सृष्टिमें प्रवेश और प्रतिक्रिया करता है। श्रीअरविन्दके पूर्णयोगमें संस्कार जीवके क्रम-विकासमें आरोहणहेतु सोपान हैं। वे मन और इन्द्रियोंको अवरोधित और सीमित नहीं करते तथा अहंके साथ तादात्म्य स्थापित कर सत्ताकी स्वतन्त्र-स्थितिका भ्रम भी नहीं उत्पन्न करते। संस्कार जीवको आत्मतत्त्वकी उपलब्धि करानेके लिये पथप्रदर्शक हैं। आत्मामें ही क्षमता है कि वह मनके माध्यमसे प्रतिक्रिया कर सके।

संस्कारोंके फलको ग्रहण करनेके लिये मनका व्यवस्थित होना आवश्यक है और संस्कार मनको व्यवस्थित करनेके साधन हैं। मन अवचेतनकी गहराइयोंका बीजरूपमें संग्रह कर लेता है और उनका उपयोग करते हुए वर्तमान जन्ममें जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंद्वारा तबतक प्रगति करता है, जबतक भगवत्कृपासे उसमें भगवान्के प्रति प्रेम न जग जाय। पार्थिव जीवन इस द्विविध प्रक्रियाका जन्मस्थल है। इसे ही कहा गया है—'मनोमयः प्राणशरीरनेता' (मुण्डकोपनिषद् २।२।७)।

श्रीअरविन्द जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंको वर्तमान भौतिक जीवनमें योगके द्वारा परिशोधित और विकसित करते हुए उसे उसकी वैज्ञानिक परिणतितक ले जानेका मार्ग पूर्णयोगके माध्यमसे प्रस्तुत करते हैं।

पार्थिव मानव संचित संस्कारोंके आधारपर ही अध्यात्ममार्गपर आरोहण कर सकता है। जिस जगत्में मानव निवास करता है, उसकी अवस्थाके अनुसार ही वह वैश्वसत्ताकी मनःशक्तिको अभिव्यक्त करता है। वह पृथ्वीपर विश्वात्माकी अभिव्यक्तिका प्रकट रूप है। इसे वह अपनी आत्मामें स्थित तपः-शक्तिसे संस्कारित करता हुआ उच्चतर चेतनाकी ओर आरोहण कराता है। संस्कारोंके पीछे यह तपःशक्ति ही है, जो जगत्की विधायिका और विराट् चेतनाकी आह्लादकारिणी शक्ति है।

संस्कार धर्मकी परिपुष्टिका साधन भी है। धर्म ही मानवको पशुसे अलग करता है। अतः इन्हें आध्यात्मिक अनुशासन भी कहा जाता है। शास्त्र कहते हैं कि अनुशासनसे आगे बढ़कर संस्कारोंसे द्विजत्वकी प्राप्ति होती है। इसके लिये संस्कार उन साधनों और क्रियाओंको सहज उपलब्ध कराके भागवज्जन्मको सम्भव बनाते हैं।

श्रीअरविन्दके अनुसार शरीरका त्याग और पुनर्जन्म संस्कारोंके वैज्ञानिक विधि-विधानमें पर्यवसित है। संस्कार कारणपुरुष या आत्माके नहीं होते, जीवके होते हैं। कारणपुरुष या आत्मा साक्षी होते हैं। जीव ही भोक्ता है, जो संस्कारोंको वहन करते हुए सृष्टिके क्रम-विकासमें प्रगति करता है, अन्यथा यह प्रक्रिया केवल एक मांसपेटिकासे निकलकर दूसरी मांसपेटिकामें प्रवेश करके बंद हो जानेके समान हो जाती।

भौतिक सत्ताके आधारपर ही संस्कार उपयोगी होते हैं। इसके त्रिविध रूप हैं—१. शरीरधारी मन प्रारम्भबिन्दु है, २. विश्वव्यापी आत्मा इसका अन्तरात्मा है तथा ३. वैयक्तिक अन्तरात्माकी—विश्वात्माकी प्राप्तिहेतु जन्मके पूर्व और जन्मके पश्चात् संस्कारोंके माध्यमसे प्रगति होती है।

संस्कार इन तीनों स्तरोंपर आत्माके आरोहणमें सहायक हैं, चेतनकी ओर ले जानेवाले विकासपथके पाथेय हैं। ये मानवयोनिमें अस्तित्वके नियमके लिये नहीं हैं, बल्कि अध्यात्म-पुरुषके लिये साधनमात्र हैं। मानवका उच्चतर ... केवल अस्तित्व और शुभके लिये सत्य और

खोजकी ओर उन्मुख होता है तो उसमें शुभ संस्कारोंका अनुभव और संचय होता है।

फलितार्थ यह है कि सत्ताके विकासमें संस्कार जन्म-जन्मान्तरोंसे प्रकृतिके स्तरपर संचित होकर पुरुषकी अभिव्यक्तिके साधन बन जाते हैं। जब मानवयोनिमें पुरुष प्रकृतिसे अधिक सचेतन होकर पदार्पण करना चाहता है तो संस्कारोंका सचेतन व्यवहार प्रारम्भ हो जाता है और पुरुषके लिये संस्कार जन्मसे ही विकासके साधन बन जाते हैं।

यहींसे मानवके वैदिक भाषामें सप्तविध अज्ञानके स्तरोंसे सप्तविध ज्ञानकी ओर महामार्गका प्रदर्शन हो उठता है। संस्कार योग अर्थात् भगवत्-तत्त्वकी प्राप्ति और अभिव्यक्तिके साधन बन जाते हैं—'अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि॥' (महोपनिषद् ५। १)

ज्ञानके सात पद वे संस्कार हैं, जो सप्तविध अज्ञानसे मुक्त करके आगे ले जाते हैं—'इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।' (ऋक्० १०। ६७। १)

जन्मके बाद संस्कारोंसे ही जीव मानव बनता है। इसके आगे प्रगतिहेतु मानवको संस्कारोंके माध्यमके आगे योगके माध्यमसे पुरुष बनना होगा। शरीरमें जब परमात्मतत्त्व सचेतन हो जाता है तो मानव पुरुष हो जाता है। इसीलिये परमात्मतत्त्व और मानव—इन्हीं दोनोंको पुरुष कहा गया है। श्रीअरविन्दके पूर्णयोगमें इसी पुरुषकी अभिव्यक्तिके लिये संस्कार साधनस्वरूप हैं।

ज्ञानके स्तर और उससे ऊपर विकासहेतु तथा दैहिक जन्म-मृत्युसे ऊपरकी साधना संस्कारसे ही उद्भूत होती है।

संस्कारके कारण ही मानव सूक्ष्मतर और उच्चतर सत्ता, चेतना, शक्ति और आनन्दका अनुभव करनेमें समर्थ होता है एवं भूतशुद्धि और मनोशुद्धिको साधित कर सकता है। संस्कार सिखाते हैं कि दिव्य जीवनके लिये मनका विकास पर्याप्त नहीं है। अवचेतनको प्रकाशित करनेके लिये संस्कार अपरिहार्य हैं। यह कार्य किसी अन्य योनिमें सम्भव ही नहीं है। यही उदाहरण अन्तश्चेतनको परिमार्जित करनेके लिये भी है। हमारे भीतर जो दिव्यनिवासी (सर्वभूताधिवासः) हैं, उनसे संयुक्त होनेका प्रयास भी संस्कार-सम्भव ही है।

संस्कारका अन्य नाम है, सचेतनके आध्यात्मिक विकासका विधान। इसीके द्वारा जीवनका ऋत्-चित् आत्माके दिव्य-जीवनमें रूपान्तरित होता है—

'यत् सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्। तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति॥' (ऋक्० १। १०। २)

[प्रेषक—श्रीदेवदत्तजी]

~~~ ० ~~~

नित्यकी संस्कारसम्पन्न उपासना

(महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय)

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥

प्रतिदिन सूर्यके उदय और अस्त होनेके समय सभीको प्रातःकाल स्नान कर और सायंकाल हाथ-मुँह-पैर धोकर सूर्यके सामने खड़े होकर सूर्यमण्डलमें विराजमान सारे जगत्के प्राणियोंके आधार परब्रह्म नारायणको 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रसे अर्घ्य देना चाहिये। यदि जल न मिले तो यों ही हाथ जोड़कर मनको पवित्र और एकाग्र कर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक १०८ बार या २८ बार या कम-से-कम १० बार प्रातःकाल 'ॐ नमो नारायणाय' और सायंकाल 'ॐ नमः शिवाय' इस मन्त्रका जप करना चाहिये तथा जपके उपरान्त परमात्माका ध्यान कर नीचे लिखी प्रार्थना करनी चाहिये—

'ॐ नमो नारायणाय'

सब देवनके देव प्रभु सब जगके आधार।
दृढ़ राखौ मोहि धर्ममें बिनवौं बारंबार॥
चन्दा सूरज तुम रचे रचे सकल संसार।
दृढ़ राखौ मोहि सत्यमें बिनवौं बारंबार॥
घट-घट तुम प्रभु एक अज अविनाशी अविकार।
अभय दान मोहि दीजिये बिनवौं बारंबार॥
मेरे मन मन्दिर बसौ करौ ताहि उँजियार।
ज्ञान भक्ति प्रभु दीजिये बिनवौं बारंबार॥
सत चित आनंद घन प्रभू सर्व शक्ति आधार।
धनबल जनबल धर्मबल दीजे सुख संसार॥
पतित उधारन दुख हरन दीन बन्धु करतार।
हरहु अशुभ शुभ दृढ़ करहु बिनवौं बारंबार॥
~~~

जिमि राखे प्रहलादको लै नृसिंह अवतार।
तिमि राखौ अशरण शरण बिनवौं बारंबार॥
पाप दीनता दरिद्रता और दासता पाप।
प्रभु दीजे स्वाधीनता मिटै सकल संताप॥
नहिं लालच बस लोभ बस नाहीं डर बस नाथ।
तजौं धरम बर दीजिये रहिये सदा मम साथ॥
जाके मन प्रभु तुम बसौ सो डर कासों खाय।
सिर जावै तो जाय प्रभु मेरो धरम न जाय॥
उठौं धर्मके काममें उठौं देशके काज।
दीन बन्धु तव नाम लै नाथ राखियो लाज॥

संतानकी प्रार्थना

आर्य संतानमेंसे प्रत्येक युवतीको और युवाको जिनका विवाह हो गया है और जो चाहते हैं कि उनके संतान देशभक्त, वीर, धीर, विद्वान् और धर्ममें दृढ़ हों, उन्हें प्रतिदिन स्नानके उपरान्त सूर्यके सामने खड़े होकर परमात्माका ध्यान कर नीचे लिखी प्रार्थना करनी चाहिये—

प्रार्थना

रवि शशि सिरजनहार प्रभु मैं बिनवत हौं तोहि।
पुत्र सूर्य सम तेज युत जग उपकारी होहि॥
होय पुत्र प्रभु राम सम अथवा कृष्ण समान।
वीर धीर बुध धर्म दृढ़ जगहित करै महान॥
जो पै पुत्री होय तो सीता सती समान।
अथवा सावित्री सदृस धर्म शक्ति गुन खान॥
रक्षा होवै धर्मकी बढ़ै जातिको मान।
देश पूर्ण गौरव लहै जय भारत संतान॥
मैं दुर्बल अति दीन प्रभु पै तुव शक्ति अपार।
हरहु अशुभ शुभ दृढ़ करहु बिनवौं बारंबार॥

जन्म-संस्कार

संतानका जन्म होते ही नालच्छेदनके पहले हर एक बच्चेके दोनों कानोंमें तीन-तीन बार परमात्माका सबसे उत्तम नाम 'राम' इस महामन्त्रको कहकर उसको नीचे लिखे श्लोक या दोहोंसे आशीर्वाद देना चाहिये और जबतक बच्चा स्वयं 'राम-राम' कहने न लगे, तबतक माताको नित्य एक बार ऐसा ही करना चाहिये—

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।
अन्तरात्मस्वरूपेण यो हि रामः प्रकीर्त्यते॥
तस्यैवांशोऽसि जीव त्वं सच्चिदानन्दरूपिणः।
देहे निरामये दीर्घं वस धर्मे दृढो भव॥

× × × ×

थावर जंगम जीवमें घट-घट रमता राम।
सत चित आनँद घन प्रभु सब विधि पूरण काम॥
अंश उसीके जीव हो करो उसीसे नेह।
सदा रहो दृढ़ धर्म चिर बसो निरामय देह॥

~~~o~~~

मानव-जीवनमें संस्कारकी अनिवार्यता

[ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजके अमृतोपदेश]

फूलोंमें जो स्थान सुगन्धका है, फलोंमें जो स्थान मिठासका है, भोजनमें जो स्थान स्वादका है, ठीक वही स्थान जीवनमें सम्यक् संस्कारका है।

मानव अपने पूर्वजोंके जीवन और उदाहरणोंको देखकर भी अपना जीवन तदनुकूल नहीं बनाता और न उनके बताये हुए मार्गपर चलता है। शास्त्रमें वर्णित संस्कारोंकी प्रतिष्ठासे तथा यमों और नियमोंका पालन करनेसे ही यह देश किसी समय इतना महान् था। इसके विपरीत आज उनकी अवहेलना कर लोग दिनानुदिन नीची स्थितिको प्राप्त कर रहे हैं। यह भलीभाँति स्पष्ट है।

किसी देशका आचार-विचार ही उस देशकी संस्कृति कहलाती है, परंतु आचार-विचार उसका बाह्यरूप है। उसका अन्तरङ्गरूप तो मानवका शेष प्रकृतिके साथ तादात्म्य है।

आजकल विद्वान् जिसे संस्कृति कहते हैं, वह तो सभ्यताका ही परिष्कृतरूप है। हमारे देशमें संस्कृति और संस्कारमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार संस्कार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धिके साधन हैं, उसी प्रकार संस्कृति भी शरीर और मनकी शुद्धिद्वारा मनुष्यको अध्यात्ममें प्रतिष्ठित करती है। अतः धर्मानुकूल जीवन-चर्याके लिये जब संस्कारोदय हो, तब मनुष्यको सच्चा भाग्योदय समझना चाहिये। आचार-व्यवहार, संस्कार और संस्कृतिमें गहरा तादात्म्य है। संस्कार-प्रतिष्ठा भगवत्प्रतिष्ठाके समतुल्य है।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री 'मानस-किंकर']

~~~o~~~

संस्कारसे संस्कृतिका उद्भव

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दसरस्वतीजी महाराज)

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषाका है। इसकी व्युत्पत्ति व्याकरणकी रीतिसे ऐसे होती है—सम् माने सँवारना और कृत, कृति माने जो कुछ हम करते हैं अर्थात् किसी भी वस्तु, कर्म या व्यक्तिको सँवारनेके लिये जो क्रिया होती है या कृतिको सँवारनेके लिये जो प्रक्रिया होती है उसको 'संस्कृति' कहते हैं। 'संस्कार' शब्द भी संस्कृत भाषाका है, यह भी सम् उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय तथा सुट्के योगसे बनता है।

इसे इस तरह समझा जा सकता है—एक सज्जन खेतीके लिये अपना खेत खोद रहे थे। उसमें उनको एक हरा-हरा पत्थर मिला। उन्हें वह बहुत बढ़िया, बहुत सुन्दर लगा। उसको लेकर वे जौहरीके पास गये, उसे दिखाया। उसने कहा—अच्छा है और बीस रुपये देकर उनसे ले लिया। फिर, उसमें मिट्टी लगी हुई थी, उसे साफ किया। बेडौल था, सुडौल बनाया। पालिश करके चमकाया और उसको आभूषणमें धारण करनेयोग्य बना दिया। फिर उसका आभूषण बन गया और इस तरह उस बीस रुपयेके पन्नेकी कीमत पहले बीस हजार और फिर दो लाख हो गयी। इसको कहते हैं—संस्कार। यह बात एक जौहरीने स्वयं मुझे बतायी थी।

'संस्कार' शब्दका अर्थ हिन्दीमें सँवारना होता है। जैसे कोई पौधा हो—बेडौल हो तो उसकी छँटाई कर देते हैं, उसमें फूल-पत्ते ठीक न आते हों तो खाद दे देते हैं और उसके फल स्वादु न होते हों तो उसको स्वादु बनानेका प्रयास करते हैं। यह सब क्या हुआ कि यह सब पौधेका संस्कार हुआ। अतः सामान्यरूपसे किसी वस्तुको सँवारनेका नाम संस्कार होता है।

हमारे जितने भी शास्त्र हैं और इनमें गीता-शास्त्र भी सम्मिलित है—ये सब हमारे जीवनका संस्कार करनेके लिये हैं। यहाँतक कि उपनिषद् भी अविद्या-निवृत्तिके द्वारा हमारे ज्ञानका संस्कार ही करते हैं। वहाँ संस्कारमें गुणाधान नहीं होता, केवल दोषापनयन ही होता है—अविद्यारूपी जो दोष है, उसकी निवृत्ति ही ज्ञानकी सिद्धता है—ज्ञानमेंसे अज्ञान निकल जाना, यही उसकी सिद्धि है।

संस्कारके लिये अलग-अलग लोगोंका अलग-अलग मत है—वेदान्ती लोग इस बातपर जोर देते हैं कि केवल ज्ञानका संस्कार कर लिया जाय, योगी लोग इस बातपर ज्यादा जोर देते हैं कि विक्षेपको मिटा दिया जाय, उपासक लोग इस बातपर ज्यादा जोर देते हैं कि वासनाएँ मिटा दी जायँ और धार्मिक लोग इस बातपर ज्यादा बल देते हैं कि हमारे जीवनमें जो दुश्चरित्रता है, उसको मिटा दिया जाय।

यदि साधन-क्रमका निश्चय करना हो तो साधनका क्रम यह होता है कि वह नीचेसे ऊपरकी ओर ले जाय—द्रव्य-शुद्धि, भोग-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि और वाक्-शुद्धि। हमारे घरमें जो धन आवे; वह शुद्ध हो, हम जो अपनी इन्द्रियोंके द्वारा भोग करें; वह शुद्ध हो, हम जो कर्म करें; वह शुद्ध हो और हम जो बोलें; वह भी शुद्ध हो। संस्कारकी यह प्रक्रिया जीवनमें सबसे पहले स्थूलरूपसे आती है।

संस्कार केवल पदार्थोंका ही नहीं होता, मनुष्योंका भी होता है। श्रीमनुजी महाराज कहते हैं कि मनुष्यमें अनेक प्रकारके विकार होते हैं—कुछ पुरानी परम्परासे आये हुए होते हैं; कुछ नाना-नानीसे; कुछ दादा-दादीसे; कुछ माँ-बापसे; कुछ पूर्वजन्मसे; कुछ गर्भावस्थामें माताके खान-पान, रोने-हँसनेसे। यानी कुछ विकार बीजमें और कुछ गर्भमें होते हैं और फिर जन्म लेनेके बाद भी खाना-पीना, सङ्ग-साथसे ही मनुष्यका जीवन बनता है। पर हमारी प्रणाली यह है कि ये विकार चाहे पूर्वजन्मसे आये हुए हों; चाहे नाना-नानी, दादा-दादी, माँ-बापसे आये हुए हों—इनको दूर करनेके लिये धार्मिक संस्कार करने चाहिये—

'बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।'

(मनु० २। २७)

संस्कारके द्वारा बीजगत और गर्भगत दोषोंका निवारण किया जाता है।

मनुस्मृतिके अनुसार संस्कारके तीन रूप होते हैं—

दोषापनयन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति। माने—अपने जीवनमें जो दोष हैं उनको दूर करनेके लिये, जो गुण नहीं हैं उनको लानेके लिये और जिस चीजकी कमी है उसको पूरा करनेके लिये। ये हमारी प्रत्येक क्रियाके साथ जुड़े रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे जीवनसे दोषोंको निकालनेके लिये, गुणोंको लानेके लिये और जो कमी है उसको पूर्ण करनेके लिये संस्कारकी अपेक्षा होती है।

संस्कारोंकी अनेक पद्धतियाँ हैं—सम्पूर्ण विश्वकी मानवताके लिये संस्कार, यूरोपीय संस्कार, एशियाई संस्कार, भारतीय संस्कार, उसमें भी उत्तर भारतीय संस्कार, दक्षिण-भारतीय संस्कार और इनके अलावा युग-भेदसे संस्कार, जाति-भेदसे संस्कार और इनके अलावा अपने यहाँ ऐसे संस्कार भी माने जाते हैं जो खगोलिक दृष्टिसे होते हैं कि किस व्यक्तिके साथ किस ग्रहका अधिक सम्बन्ध जुड़ता है या कि नहीं जुड़ता है—इसके लिये संस्कार। इस तरह हम देखते हैं कि हमारे यहाँ संस्कारकी अनेक पद्धतियाँ हैं और उसके अनुसार मनुष्यके शरीरको, उसके चरित्रको, उसकी विद्याको, उसकी बुद्धिको और उसके जीवनकी प्रणालीको सँवारनेके लिये जो क्रिया-कलाप किये जाते हैं—उन सबको संस्कार, संस्कृति कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन हमारे सनातनधर्ममें है—कहीं विधिके द्वारा कहीं निषेधके द्वारा और कहीं उपेक्षाके द्वारा।

इसके भी अनेक भेद होते हैं; जैसे—आपके घरमें चावल नहीं हैं तो खेती करके पैदा कर लीजिये; यदि उनमें कुछ गंदगी है तो उसको साफ कर लीजिये और यदि कच्चे हैं तो उनको पका लीजिये। तो—बना लेना, पा लेना, स्वच्छ कर लेना और परिपक्व कर लेना—ये संस्कार-संस्कृतिके भेद हैं और यह मैं केवल चावलके लिये ही नहीं कह रहा हूँ, समग्र जीवनके लिये कह रहा हूँ। संस्कृतिका यह रूप किस दृष्टिकोणसे है, उसका यदि आप पहले मनन करके, जो समर्थक दृष्टिकोण है, उसको नहीं समझ लेंगे और हँसी-खेलकी वस्तु समझकर उड़ा देंगे तो वह आपके लिये उपकारक नहीं और हानिकारक हो जायगा। इसलिये प्रत्येक क्रियामें, परम्परामें, सनातनधर्ममें जो उत्कृष्ट दृष्टि है—उसको समझनेका प्रयास करना चाहिये।

हमारी संस्कृतिके अनुसार विवाह एक संस्कार है। यह भोग नहीं है, यह रजिस्ट्री भी नहीं है। यह एक धर्म-संस्कार है कि एक पत्नीके जीवनमें एक ही पति रहे, एक ही पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध रहे; एक पतिके साथ एक ही पत्नी रहे और उसीके साथ उसका सम्बन्ध रहे। विवाहके द्वारा, देवताके समक्ष, अग्निकी परिक्रमा करके, मन्त्र पढ़कर दोनोंके हृदयमें यह संस्कार डाला जाता है कि यह मेरा पति है और यह मेरी पत्नी है। जब मन्त्र पढ़ते हैं कि हमारा और तुम्हारा हृदय एक है, हमारे और तुम्हारे विचार एक हैं और हम जीवनभर एक-दूसरेसे मिलकर चलेंगे—'मया पत्या जरदष्टिर्यथासः' (ऋक्० १०।८५।३६)। हम एक साथ बूढ़े हों—तो साथ रहनेकी भी कामना और दीर्घायु, वृद्धावस्थाकी भी कामना—ये सब कामनाएँ विवाह-संस्कारके द्वारा मनमें भर दी जाती हैं। विवाह-संस्कार पूरी विधिके साथ होना चाहिये, इस सम्बन्धमें हम एक घटना बताते हैं—

पहले जब हम गृहस्थाश्रममें रहते थे, तब विवाह करानेके लिये जाया करते थे। हमको विवाह-पद्धति कण्ठस्थ थी। हमने सैकड़ों विवाह कराये होंगे। जब विवाह करानेके लिये जाते, तब लोग हमसे कहते—'महाराज! विवाह जरा जल्दी-जल्दी करा देना; क्योंकि लोगोंको खिलानेमें बड़ी देर हो रही है।' अरे बाबा! विवाहके लिये ही तो सारे बाराती आये हैं। तुम विवाह ही बिगाड़ दोगे तो फिर बारातको खिलानेका क्या मजा है? विवाह-संस्कार तो ठीक-ठीक होना चाहिये। विवाह-संस्कार तो बहुत बढ़िया चीज है। है तो यह पति-पत्नीका सम्बन्ध, परंतु यह भोगसे मुक्तिका तरीका है। विवाह भोग नहीं अपितु योग है। यह वर-वधूका सम्बन्ध आसक्तिमें भक्ति है। यह सिमटनेमें विस्तार है। बड़ा विलक्षण है। आजकल लोग कायदेसे तो कोई बात सीखते नहीं हैं। बड़ी हड़बड़ी रहती है। जल्दी सुनाओ, जल्दी सुनाओ। जो लोग जल्दी करते हैं, वे सीख नहीं पाते। परिणाम आपके सामने ही है।

और-तो-और! पहले तो गर्भाधानके दिन भी संस्कार हुआ करता था, मन्त्र पढ़े जाते थे, हवन होता था। काशीमें महामहोपाध्याय श्रीलक्ष्मण शास्त्रीके यहाँ हमने देखा था।

किसी कामसे मैं वहाँ गया था। मैंने देखा—खूब आनन्द हो रहा है, मङ्गल गाया जा रहा है। पूछा क्या है? तो पता चला कि श्रीराजेश्वर शास्त्रीका विवाह हुआ है और आज गर्भाधान-संस्कार है। फिर दूसरे-तीसरे महीनेमें पुंसवन-संस्कार होता है ताकि पुत्रकी उत्पत्ति हो और सातवें महीनेमें सीमन्तोन्नयन-संस्कार होता है, जिसमें पति पत्नीकी पूरी सेवा करके—उसके सिरमें तेल लगाकर, कंघी कर उसे आश्वस्त करता है कि जब तुम्हारे बच्चा होनेका समय आयेगा और तुम स्वयं अपना काम करनेयोग्य नहीं रह जाओगी, तब मैं तुम्हें बिलकुल ठीक-ठाक रखूँगा।

बालकका जन्म होनेपर जातकर्म-संस्कार होता है। मन्त्र पढ़े जाते हैं—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम्॥
(पार०गृह्यसूत्र १।१८।२)

बेटा! तुम मेरे एक-एक अङ्गके रससे पैदा हुए हो, मेरे हृदयके पिण्ड हो। मेरे ही हृदयके विचार, आचार, संस्कार तुम्हारे जीवनमें आये हैं। मेरे ही आत्माका नाम अब पुत्र रखा जा रहा है। तुम्हारे रूपमें मैं ही प्रकट हुआ हूँ। तुम सौ वर्षतक जीते रहना।

इसके बाद नामकरण-संस्कार होता है। पूर्वजोंके नामपर बालकका नाम रखा जाता है; जैसे—भरत। यदि भरत नाम रखा जायगा तो जब वह बड़ा होगा और पता लगायेगा कि मेरा नाम भरत क्यों रखा गया तो उसको भरतकी कथा सुननी पड़ेगी कि ऋषभदेवके पुत्र थे भरत। कितना बड़ा उनका साम्राज्य था, कैसे लोकोपकारी राजा थे अथवा श्रीरामचन्द्रजीके भाईका नाम भरत था, जो अपने बड़े भाईसे कितना प्रेम करते थे, अपने छोटे भाईसे कितना प्रेम करते थे या दुष्यन्तके पुत्रका नाम भरत था और वह इतना वीर था कि उसने बाल्यावस्थामें ही सिंहको बाँधकर रख लिया था और उसने पचासों यज्ञ-याग किये थे। इसके अलावा नामकरण-संस्कार मास, संवत्सर, नक्षत्र एवं तिथिके हिसाबसे भी होता है।

इस तरह ये संस्कार आगे चलकर मनुष्यके जीवनमें अपना प्रभाव दिखाते हैं। इन्हींको अपनी शास्त्रीय रीतिसे, सनातन-धर्मकी रीतिसे 'संस्कृति' कहते हैं। इसमें देशका प्रभाव, कालका प्रभाव, परम्पराका प्रभाव, पूर्वजन्मका प्रभाव, विद्याका प्रभाव, कर्मका प्रभाव और प्रज्ञाका प्रभाव—सब आता है और किसी प्रकारकी संकीर्णता शास्त्रीय दृष्टिसे नहीं रहती है।

सारे संस्कारोंका जो मूल है वह हमारे इसी साढ़े तीन हाथके शरीरमें है—पाँवसे लेकर सिरतक जो यह हमारा शरीर है—इसीमें धर्म-संस्कारका मूल है, उपासना-संस्कारका मूल है, योग-संस्कारका मूल है, यहींसे सारा-का-सारा विज्ञान निकलता है।

उपासना हमको तैजस-आत्मासे एक करती है, योग हमको प्राज्ञ-ईश्वरसे एक करता है। जहाँ योगमें स्थिति है, ऐश्वर्यमें स्थिति है, वहाँ परम-प्रियतम परमेश्वरमें अपनी वासनाओंको लीन करनेके लिये उपासनाकी, भक्तिकी स्थिति है और अविद्याका संस्कार करनेके लिये अथवा अविद्याका निवारण करनेके लिये तत्त्वज्ञान है।

[प्रेषक—श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी]

~~~o~~~

मृत्युसे भय क्यों?

भगवान्‌का आश्रय लेनेवाला भयमुक्त हो जाता है।

मृत्युको सुधारना हो तो प्रत्येक क्षणको सुधारो।

वासना ही पूर्वजन्मका कारण होती है।

ध्यान करते समय मन एकाग्र न हो तो पुनः-पुनः भगवान्‌के नामका चिन्तन करो।

मानव-जीवनकी अन्तिम परीक्षा मृत्यु है। जिसका जीवन सुधरा हुआ है, उसकी मृत्यु भी सुधर जाती है। मृत्यु तब सुधरती है, जब प्रत्येक क्षण सुधरता है। जीवन उसका सुधरता है, जिसका समय सुधरा हुआ है। समय उसीका सुधरता है, जो समयका मूल्य जानता है, इसलिये क्षण-क्षण और कण-कणका सदुपयोग करो।

~~~o~~~

गृहस्थाश्रमके संस्कार

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

गृहस्थधर्म भोगके लिये नहीं है, साधनाके लिये है। कर्म-वासनाएँ अनादि हैं। मिथुनसुखका अनुभव करनेकी प्राणिमात्रकी इच्छा होती है। पुरुषोंमें अपवाद भी होते हैं, किंतु अपवादोंकी नियमोंमें गणना नहीं होती। इसीलिये प्रत्येक व्यक्तिका गृहस्थी बनना परम धर्म है। जिसका विवाह नहीं हुआ, जिसने पुत्रका मुख नहीं देखा, उसके पितर पानीके बिना छटपटाते रहते हैं और उसे भी नरकोंमें जाना पड़ता है। महाभारतमेंइस विषयका एक बड़ा ही शिक्षाप्रद इतिहास वर्णित है—

जरत्कारु नामक एक ऋषि थे। ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके भी उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे सदा निराहार रहकर तपस्यामें तत्पर रहते थे। निद्राको भी उन्होंने जीत लिया था। तपस्वियोंका-सा उनका अत्यन्त कृश शरीर था। वे तीर्थयात्राके उद्देश्यसे पृथ्वीपर विचरण करते रहते थे। एक गाँवमें एक दिन ही निर्वाह करते। एक दिन घूमते-घूमते उन्होंने एक अन्धे कुएँको देखा। उसमें लम्बी-लम्बी घास थी। उस घासको पकड़े कुछ दुर्बल मनुष्य उलटे लटक रहे थे। चूहे उस खस घासकी जड़ोंको खोद रहे थे।

महामुनि जरत्कारुको उनपर बड़ी दया आयी और उन्होंने पूछा—'आपलोग कौन हैं और यहाँ ऐसे उलटे क्यों लटक रहे हैं?'

उन्होंने कहा—'हम यायावर नामके तपस्वी हैं, हमारा वंश अब लुप्त ही होना चाहता है। जिस दिन हमारा वंश लुप्त हो जायगा, उसी दिन हम नीचे गिर पड़ेंगे।'

महामुनि जरत्कारुने पूछा—'आपके वंशमें कोई है क्या?'

निराशाके स्वरमें वे पितरगण बोले—'हमारे वंशमें अब केवल एक ही व्यक्ति रह गया है, वह भी नहींके बराबर है। वह तपस्वी हो गया है और उसका नाम जरत्कारु है। उसने तपस्याके लोभसे हमें संकटमें डाल दिया है, वह वंश चलानेका प्रयत्न ही नहीं करता। उसके आगे हमारा वंश नष्ट हो जायगा, फिर हम बिना पिण्ड-जलके नीचे गिर जायँगे। वह भी नरकमें जायगा।' पितरोंकी बात सुनकर जरत्कारुको बड़ा शोक हुआ। हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—'पितरो! मेरा ही नाम जरत्कारु है, आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं?'

पितरोंने कहा—'बेटा! तुम हमारा उद्धार करना चाहते हो तो अपना विवाह करके वंश चलानेका प्रयत्न करो।'

इसपर जरत्कारु मुनिने कहा—'अच्छी बात है, जब आपलोगोंकी ऐसी आज्ञा है तो मैं विवाह कर लूँगा,' किंतु दो बातें होंगी तभी मैं विवाह करूँगा।'

पितरोंने कहा—'कौन-सी दो बातें?'

मुनिने कहा—'एक तो जो लड़की हो, वह मेरे ही नामवाली हो और दूसरी; वह लड़की भिक्षारूपमें मुझे मिल जाय तो मैं उसके साथ विवाह करके संतान उत्पन्न करूँगा।'

जरत्कारु मुनिको वासुकि नागकी बहन मिल गयी,

उसका भी नाम 'जरत्कारु' था। वासुकिने मुनिको भिक्षामें उसे दे दिया। उसीसे मुनिको 'आस्तीक' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिन्होंने जनमेजयके सर्पयज्ञमें सर्पोंकी रक्षा की थी। जरत्कारु मुनिने वासुकिसे ठहराव करा लिया कि एक तो मैं इसका भरण-पोषण नहीं करूँगा, दूसरा; जहाँ इसने मेरी आज्ञाके विरुद्ध कार्य किया, वहीं इसे त्याग दूँगा। वासुकिको तो अपना प्रयोजन सिद्ध करना था। उसने सब स्वीकार कर लिया। आस्तीक जब गर्भमें ही थे, तभी मुनि एक छोटी-सी बातपर कुपित होकर सदाके लिये वन चले गये। सारांश यह है कि जिसे स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छा हो, उसे विवाह अवश्य करना चाहिये।

विवाहके अनन्तर गृहस्थ आश्रममें किस प्रकारसे रहना चाहिये, इस सम्बन्धमें सूतजी कहते हैं—'मुनियो!

श्रीकृष्ण उद्धवजीको गृहस्थोंके धर्म बताते हुए कहते हैं— उद्धव! गृहस्थधर्म भोगनेके लिये नहीं है, त्यागकी शिक्षा लेनेके लिये है। ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके द्विजाति-बालक गुरुको दक्षिणा दे, तब ब्रह्मचर्यव्रतकी समाप्तिका स्नान करे। उस स्नानके करते ही वह स्नातक हो जाता है। स्नातक होकर वह अपने घर आये और फिर अपने सदृश कुलकी लड़कीसे यथाविधि विवाह करे। उसी कुलकी लड़कीके साथ विवाह करना चाहिये, जो अपने वर्णकी हो। जिस कुलके लोगोंके आचार-विचार शुद्ध न हों, जो सर्वभक्षी हों, जिनके यहाँ वैदिक मर्यादा न मानी जाती हो, वहाँ विवाह न करे, जो कन्या सदाचारी कुलकी, सुन्दर, सुशील, मधुरभाषिणी तथा गुणवती हो, उसके साथ विवाह करे।

सभी गृहस्थोंको; जो आचार-विचारसे रहते हैं, अपने घरमें भोजन बनाते हैं, उनको नित्य पाँच प्रकारके पाप स्वाभाविक ही लगते हैं—चूल्हेमें, झाड़ूमें, चक्कीमें, ओखली-मूसलमें तथा पानीके रखनेके स्थानमें।[१] कितना भी बचाओ, हिंसा हो ही जाती है। रोटी बना रहे हैं लकड़ीमें ही कोई जीव-जन्तु चला गया, कण्डेमें ही चला गया। कहाँ-तक देखा जा सकता है? भोजनके समय कोई जीव-जन्तु मर गया। झाड़ू दे रहे हैं, उसीमें बहुत-से जीव मर गये। अन्न पीस रहे हैं, उसमें ही बहुत-से घुन आदि जीव पिस गये। बर्तन मल रहे हैं, धान कूट रहे हैं, कोई छिपा हुआ जीव रह गया, रगड़ लगनेसे मर गया। बर्तन रखनेके स्थानपर जीव आ जाते हैं, पानी लेते समय, निकालते समय या पानीमें ही जीवोंकी हिंसा हो जाती है, इन हिंसाओंसे कोई कितना भी बचना चाहे, बच नहीं सकता।

इन पाँच दोषोंकी निवृत्तिके लिये पाँच महायज्ञ नित्य करने चाहिये। वे पाँच यज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ। इन पाँचों यज्ञोंके करनेसे उपर्युक्त पाँच दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है।[२]

'वेदका अध्ययन-अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-श्राद्ध पितृयज्ञ, नित्य अग्निहोत्र करना देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव-कर्मान्तर्गत गोग्रास, कुत्ता आदि भूतोंके लिये अन्न निकाल देना भूतयज्ञ और घरमें जो भी अतिथि आ जाय, उसे सत्कारपूर्वक भोजन करा देना अतिथियज्ञ है। इन कार्योंको यथाशक्ति नित्य करना चाहिये।

जो गृहस्थ अपने ही लिये भोजन बनाकर बिना भगवान्‌को निवेदित किये खा लेता है, वह मानो पापको ही खाता है। इसलिये गृहस्थको अपने ही निमित्त कभी भोजन नहीं बनाना चाहिये। जहाँतक हो, हिंसासे सदा बचते रहना चाहिये। बिना प्रयोजन वृक्षोंकी डालीको काटना नहीं चाहिये।

गृहस्थको ऋतुकालके अतिरिक्त कभी भार्यागमन नहीं करना चाहिये। ऋतुकालमें भी धर्मभावनासे गमन करे। अपनी ही पत्नीमें सदा संतुष्ट रहना चाहिये। जो दूसरोंकी पत्नी हों, उन्हें माताके समान, जो बच्ची हों उन्हें अपनी पुत्रीके समान और जो बड़ी हों, उन्हें बहिनके समान मानना चाहिये।

यदि अपने घरमें अतिथि आ जाय तो उसकी यथाशक्ति पूजा करे। अतिथिकी कोई जाति नहीं—ब्राह्मण हो, चाण्डाल हो, जो भी अपने घर अन्नकी इच्छासे आया हो, उसे अन्न अवश्य देना चाहिये। ब्रह्मचारी-संन्यासी जो भोजन नहीं बनाते, जो गृहस्थोंके ही ऊपर निर्भर रहते हैं, उन्हें तो सबसे पहले भोजन देना चाहिये। यज्ञशेष तथा अपने पोष्यवर्गके भोजन कर लेनेपर जो बचे, उसीको सद्‌गृहस्थको खाना चाहिये। गृहस्थका सबके प्रति कर्तव्य होता है—

(१) माता-पिताके प्रति—माता-पिता जिन्होंने हमारे शरीरको उत्पन्न किया है, वे हमारे जनक हैं, प्रत्यक्ष देवता हैं, जङ्गमतीर्थ हैं, उनकी प्राणपणसे सेवा करे। उनकी सब आज्ञाओंका पालन करे। उन्हें भोजन कराकर तब भोजन करे। उनसे सदा मधुर भाषण करे। अपनी स्त्रीसे भी ऐसा ही कराये।

(२) आचार्य पुरोहितके प्रति—ये ज्ञानदाता गुरु हैं। समय-समयपर इनकी पूजा करे। इन्हें भोजन कराये। धर्मसम्बन्धी प्रश्न पूछे। धार्मिक कृत्योंको इनके द्वारा कराये। यथासाध्य-यथासमय इन्हें दान-दक्षिणासे संतुष्ट भी करे।

(३) जातिवालोंके प्रति—जातिवाले अपनी जातिमें किसीको बढ़ता देखते हैं तो उससे आशा लगाये रहते हैं, इसलिये यथाशक्ति जातिवालोंकी सहायता करे, उनके

१-पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ (मनुस्मृति ३।६८)

२-तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ (मनुस्मृति ३।६९)

हर्षमें, शोकमें सम्मिलित हो। जातिमें किसीके विवाह हो तो उनके यहाँ जाय। तन-मन-धनसे, जैसे भी जितनी भी सहायता दे सके; दे। उनके यहाँ कोई बीमार हो, मर गया हो तो भी सहानुभूति प्रदर्शित करने जाय।

(४) भाइयोंके प्रति—जो अपने बड़े भाई हों, उन्हें पिताके समान और भाभीको माताके समान समझे। छोटे भाइयोंको पुत्रके समान, उनकी पत्नियोंको पुत्रवधूके समान समझे। कदाचित् भाई-भाईमें बँटवारा हो तो उनसे झगड़ा न करे। यदि भाई अधिक ही ले ले तो कोई बात नहीं, है तो भाई ही। जहाँतक हो भाई-भाईमें कलह न होने पावे, इसे गृहस्थ सदा बचाता रहे। भाई-भाईकी लड़ाई अच्छी नहीं होती।

(५) बहनोंके प्रति कर्तव्य—बहन दयाकी पात्री है, सदा उसके प्रति दयाके भाव रखे। उत्सव-पर्वोपर उसे सम्मानके साथ बुलाये और यथाशक्ति दान-मानसे उसका सदा सत्कार करता रहे।

(६) पत्नीके प्रति कर्तव्य—आर्य धर्मशास्त्रमें स्त्रीको अर्धाङ्गिनी बताया गया है। स्त्री अपनी आत्मा ही है, आधा शरीर है। पुरुष स्वयं ही स्त्रीके गर्भसे पुत्ररूपमें पुनः उत्पन्न होता है, अतः उसकी 'जाया' संज्ञा है, वह घरकी स्वामिनी है। जो भी कार्य करे, उसकी सम्मतिसे करे। धर्मके जितने इष्टापूर्त कर्म हैं, वे पत्नीके बिना नहीं हो सकते, इसीलिये उसका नाम सहधर्मिणी है। धर्मकी कामनावाले सदा स्त्रीका सम्मान करें। वह गृहकी स्वामिनी होनेसे गृहिणी कहलाती है। गृहिणीके बिना न तो घर है न गृहस्थ-धर्म ही है। गृहस्थ-धर्मकी मूल पत्नी है। जो सदा दान, मान, सम्मानसे अपनी पत्नीको प्रसन्न रखता है, उसे सभी शुभ कर्मोंके फल स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं और देवता-पितर उसपर प्रसन्न होते हैं। अतः गृहस्थका मुख्य कर्तव्य यह है कि अपनी आत्माकी भाँति प्रत्येक कार्यमें पत्नीका सदा ध्यान रखे।

(७) पुत्रोंके प्रति कर्तव्य—आत्मा ही पुत्र बनकर उत्पन्न होता है। अतः अपनेमें और पुत्रोंमें कोई भेद नहीं। पिताके पश्चात् उसकी सम्पूर्ण सम्पत्तिके अधिकारी पुत्र ही होते हैं। अतः पुत्रोंका पालन सदा कर्तव्य-बुद्धिसे करे। सदा यही कामना करे—मेरे पुत्र संसारमें सर्वश्रेष्ठ हों। मनुष्य सबसे पराजित होनेमें दुःखी होता है, किंतु पुत्रसे पराजित होनेमें उसे परम प्रसन्नता होती है। पुत्रोंमें किसी प्रकारका भेदभाव न करे। जो बुद्धिहीन हों, अपङ्ग हों या अन्य प्रकारसे असमर्थ हों, उनकी भी रक्षाका प्रबन्ध करे। पुत्रोंको सब प्रकारसे योग्य बनाना पिताका कर्तव्य है।

(८) पुत्रियोंके प्रति कर्तव्य—पुत्री गौके समान पूजनीया और दयाकी पात्री है। पुत्रीका योग्य वरको दान करना सैकड़ों यज्ञोंके समान है। पुत्रीके पुत्र अपने नानाके वंशजोंको जलदान देते हैं। पुत्रीका अधिकार जीवनभर लेनेका होता है। विवाहके समय उसे भलीभाँति वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके तथा समस्त गृहस्थोपयोगी वस्तुओंको शक्तिके अनुसार देकर विदा करे। पर्वोंपर उसके यहाँ कुछ-न-कुछ सदा भेजता रहे।

(९) सम्बन्धियोंके प्रति कर्तव्य—सम्बन्धी दो प्रकारके होते हैं—एक तो स्वयं आप जिनके लिये मान्य हैं, जैसे अपने ससुरालवाले, ननसालवाले। उनके यहाँ समय-समयपर जाय। वे जो प्रेमसे दें, उसे सदा स्वीकार करे। दूसरे—जो अपने मान्य होते हैं, जिनके यहाँ अपनी बुआ, बहन, पुत्री या भतीजी आदि विवाही हों। उन मान्य सम्बन्धियोंका सदा सम्मान करे, उन्हें पर्वोंपर स्मरण करे और यथाशक्ति दे। सम्बन्धियोंके सम्बन्धियोंसे भी प्रेमका सम्बन्ध रखे।

(१०) सर्वभूतोंके प्रति कर्तव्य—चींटीसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभी जीव गृहस्थसे कुछ-न-कुछ आशा रखते हैं। अतः यथाशक्ति सबका सम्मान करे। कोई भी घरपर भूखा आ जाय; उसका अन्नसे, जलसे, आसनसे और कुछ न हो तो मधुर वाणीसे ही सत्कार करे। यह कभी न सोचे कि हम तो निर्धन हैं, हम किसीका क्या सत्कार कर सकते हैं। बैठनेको भूमि, पिलानेको पानी और हृदयको हर्षित करानेके लिये मधुर वाणी संसारमें किसके पास नहीं है। अतिथि इन्हींसे परम संतुष्ट होता है। सभीका यथाशक्ति यथासामर्थ्य सदा सत्कार करे। अपने द्वारसे कोई अपूजित—निराश होकर न लौटने पाये। चींटियोंको भी कुछ अन्न देवे। कुत्तोंको भी डाल दे। जो खायँ उसीमेंसे गोग्रास निकाल दे। सारांश यह है कि सदा देनेकी, दूसरोंकी सेवा करनेकी चेष्टा करता रहे।

अन्य नियम—१-गृहस्थ जो भी कर्म करे, भगवान्‌की सेवा समझकर ही करे। मनमें यही सोच ले—मेरे इस कार्यसे सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न होंगे।

२-भागवती कथाओंको सदा महापुरुषोंके मुखसे नियमपूर्वक सुना करे। यदि कोई सुनानेवाला न हो तो स्वयं ही पढ़े। वह दिन व्यर्थ समझे, जिस दिन भगवान्‌की और भक्तोंकी कथाएँ सुननेको न मिलें।

३-इस बातको सदा विचारता रहे कि ये स्त्री, पुत्र, घर, परिवार मेरे नहीं हैं। भगवान्‌ने मुझे निमित्त बना दिया है। यही सोचकर उनमें अधिक आसक्ति न रखे। केवल प्रयोजनभर उनसे सम्बन्ध रखे। भीतरसे विरक्त बना रहे।

४-जो भी धन यज्ञ करानेसे, पढ़ानेसे, खेतीसे, व्यापारसे, परिश्रमसे या किसी भी कार्यसे आये, उसे सब दान-पुण्यमें और गृहस्थीके काममें ही लगा दे। जितना पेटमें चला जाय उतना तो अपना है और सब तो जिस निमित्त आता है, चला जाता है। उस धनमें अधिक ममता न करे।

५-स्त्रीमें अत्यन्त आसक्त न हो। स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्ति होनेसे कामवासना बढ़ती है। संसारमें कामवासनाकी अभिवृद्धिसे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। कामी जो चाहे सो पाप कर सकता है। इसीलिये एकान्तमें कामवासनाने स्त्रीके अङ्गोंका चिन्तन न करके सदा परमात्माकी महिमाका चिन्तन करते रहना चाहिये।

गृहस्थ जो भी हवन, यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण, बलिवैश्वदेव, अन्नदान, अतिथिपूजन आदि करे, सब प्रभुप्रीत्यर्थ ही करे। ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य तथा चराचर समस्त जीवोंमें भगवान्‌को मानकर भगवद्भावनासे उनका आदर-सत्कार करे। जो अपने आश्रित हों, उनका सदा ध्यान रखे, उन्हें किसी प्रकारका कष्ट न होने पाये। न्यायसे उपार्जित धनसे ही गृहस्थीके समस्त कार्य चलाये। जो भी प्रारब्धवश प्राप्त हो जाय, उसे प्रभुप्रसाद समझकर उसीमें सन्तुष्ट हो जाय।

घरमें रहे तो समझे—हम धर्मशालामें ठहर गये हैं। कुटुम्बी भी आकर इसमें ठहर गये हैं, हमारा इसमें कुछ भी नहीं है। इस प्रकार निरन्तर भगवान्‌का पूजन-चिन्तन करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे। भगवान्‌के भजनमें सभीका समान अधिकार है और सभीको समान फल मिलता है।

[प्रेषक—श्रीश्यामलालजी पाण्डेय]

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरका सुधार

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

सत्सङ्गका अर्थ है—सत्यका सङ्ग करना, यानी अपने जीवनमें सत्यनिष्ठाको धारण करना अर्थात् सत्यका व्रत लेना। सत्यका सङ्ग करनेके लिये साधकको पहले तो श्रमरहित होना पड़ेगा।

शरीरसे काम न करनेका नाम श्रमरहित होना नहीं है। श्रमरहित होनेका अर्थ है कि सङ्कल्परहित होना। करने और पानेके जो सङ्कल्प हैं, यही साधकके जीवनमें श्रम है।

मनुष्य करने और पानेमें ही उलझा रहता है। इसलिये सङ्कल्परहित होना बहुत जरूरी बात है। प्रश्न होता है कि हम श्रमरहित कैसे बनें ?

श्रमरहित होनेका यह उपाय है—जो काम करने-लायक हो, उसको फलासक्ति छोड़कर सही ढंगसे पूरा करके रागरहित हो जायँ और पानेका लालच छोड़कर चाहरहित हो जायँ और करनेकी रुचिका भी त्याग करके कर्तृत्वके अभिमानसे रहित हो जायँ।

ये तीनों बातें चाहे तो कर्तव्यपरायण होकर कर लें, चाहे असङ्ग होकर कर लें और चाहे भगवान्‌की शरण होकर कर लें। इन तीनों बातोंके होनेपर ही मनुष्य श्रमरहित हो सकता है।

श्रमरहित होनेपर ही सत्यका सङ्ग होता है और तभी सत्यकी प्राप्ति होती है। यही मानव-जीवनका उद्देश्य है।

साधन सभी अवस्थाओंमें किया जा सकता है। जो परिस्थितिविशेषकी अपेक्षा रखता है, उसको तो साधन ही नहीं कह सकते।

शरीरसे काम कर देने तथा वस्तु दे देनेका नाम ही सेवा नहीं है। सेवा तो हृदयका भाव है, जो हर परिस्थितिमें मानव भली प्रकार कर सकता है।

सेवाका मूल-मन्त्र यह है कि जो हमको मिला है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। यहाँसे सेवाका आरम्भ होता है।

अपनेको जो मिला है, उसको पर-सेवामें लगा देना सेवा है। सबसे बड़ी सेवा तो अपनेको सदाचारी

और संयमी बना लेना है अथवा किसीको बुरा न मानना और किसीका बुरा नहीं चाहना है; अथवा सुखीको देखकर प्रसन्न और दुःखीको देखकर करुणित होना है।

अपना सुधार कर लेना ही सच्ची सेवा है। जिसने अपना सुधार कर लिया, उसको सारे विश्वकी पूरी सेवासे उत्पन्न होनेवाले फलकी प्राप्ति होती है।

अपना सुधार क्या है? शरीरको श्रमशील और सदाचारी बना लेना—स्थूल शरीरका सुधार है।

मनको संयमी और सङ्कल्परहित बना लेना, बुद्धिको विवेकवती तथा इन्द्रियज्ञानपर विजयी बना लेना, चित्तको अनुरागी और व्यर्थ चिन्तनसे रहित तथा अहंको सब प्रकारके अभिमानसे रहित बना लेना—सूक्ष्म शरीरका सुधार है।

सर्वप्रकारकी वासनाओंका त्याग करके असङ्ग हो जाना कारण शरीरका सुधार है।

इस प्रकार जिसने अपने तीनों शरीरोंका सुधार कर लिया, उसको सारे विश्वकी सेवाका फल मिलता है। उसके शरीरके परमाणुओंद्वारा सारे विश्वका हित होता है और सबका हित करना तथा चाहना ही सबसे उत्तम सेवा है।

जो दीख रहा है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है—यह भजनका मूल मन्त्र है।

सेवा और भजन—दोनोंसे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है।

~~o~~

आर्य-संस्कृतिके संस्कार

(महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी)

आर्यजातिमें १६ संस्कारोंका महत्त्व सुप्रसिद्ध है। भारतीय सनातनधर्मकी यह मान्यता है कि एक बार माताके गर्भसे जन्म होता है और दूसरा जन्म होता है इन संस्कारोंसे। इसी आधारपर वैदिक संस्कार जिसके हुए हों, उसे द्विज अर्थात् दो बार जन्म लेनेवाला कहा जाता है। ये संस्कार हिन्दूजातिकी एक बड़ी विशेषताके रूपमें माने गये हैं। यहाँ संस्कारोंके विज्ञानपर कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

संस्कारोंमें दो प्रकारकी वस्तुएँ देखनेमें आती हैं—प्राकृत एवं संस्कृत। प्रकृतिने जिस रूपमें जिस वस्तुको पैदा किया, वह उसी रूपमें यदि बनी रहे तो उसे प्राकृत वस्तु कहेंगे; जैसे—पर्वत, जंगलके वृक्ष, नदी आदि, किंतु प्रकृतिके द्वारा पैदा की हुई वस्तुका अपने उपयोगमें लानेके लिये जब हम सुधार कर लेते हैं, तब उस सुधरी हुई वस्तुको संस्कृत कहा जाता है। वह सुधार ही संस्कार है, जो कि तीन प्रकारसे होता है—१-दोषमार्जन, २-अतिशयाधान और ३-हीनाङ्गपूर्ति। मनुष्यमें उपयुक्त गुण लाकर उसे समाजके लिये पूर्ण उपयोगी बना देना ही इन संस्कारोंका उद्देश्य रहा है।

जिस प्रकार अन्न, कपास, लोहा आदि अपने उत्पत्तिस्थानके दोष अपने साथ लाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी उत्पादक सामग्री या उत्पत्तिस्थानके दोषोंसे अत्यन्त दूषित रहता है। उन दोषोंको हटाना पहले आवश्यक है। उसीके लिये जन्म क्या, गर्भमें आते ही उनके संस्कारोंका आरम्भ हो जाता है। स्मृतिकारोंने स्पष्ट लिखा है कि इन संस्कारोंके द्वारा बीज और गर्भके दोष दूर किये जाते हैं—**'बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥'** (मनु० २।२७), **'एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्'** (याज्ञवल्क्य)। संस्कारोंके संकल्पमें भी बोला जाता है कि **'बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा परमेश्वरप्रीत्यर्थमित्यादि।'** एनस् शब्द पाप वा दोषका वाचक है।

यों तो संस्कारोंकी बहुत बड़ी संख्या भी धर्मशास्त्रोंमें मिलती है। गौतमसूत्रके ८वें अध्यायमें अड़तालीस संस्कार लिखे गये हैं—**'अष्टचत्वारिंशता संस्कारैः संस्कृतः'** इत्यादि। जैसे—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) चौल, (८) उपनयन, (९—१२) चार वेदव्रत (क-महानाम्नीव्रत, ख-उपनिषद्व्रत, ग-महाव्रत और घ-गोदान), (१३) स्नान, (१४) विवाह, (१५—१९) पञ्च महायज्ञ (क-ब्रह्मयज्ञ, ख-देवयज्ञ, ग-पितृयज्ञ,

घ-भूतयज्ञ और ङ-मनुष्ययज्ञ), (२०—२६) सप्त पाकयज्ञ (क-अष्टका, ख-पार्वण, ग-श्राद्ध, घ-श्रावणी, ङ-आग्रहायणी, च-चैत्री और छ-आश्वयुजी), (२७—३३) सप्त हविर्यज्ञ (क-अग्न्याधान, ख-अग्निहोत्र, ग-दर्शपूर्णमास, घ-चातुर्मास्य, ङ-आग्रायणेष्टि, च-निरूढपशुबन्ध और छ-सौत्रामणी), (३४—४०) सप्त सोमयज्ञ (क-अग्निष्टोम, ख-अत्यग्निष्टोम, ग-उक्थ्य, घ-षोडशी, ङ-वाजपेय, च-अतिरात्र और छ-आप्तोर्याम), (४१) दया, (४२) क्षमा, (४३) अनसूया, (४४) शौच, (४५) अनायास, (४६) मंगल, (४७) अकार्पण्य और (४८) अस्पृहा। सुमन्तुने पचीस संस्कार लिखे हैं, किंतु इनके द्वारा निर्दिष्ट अधिकतर संस्कार अतिशयाधानरूप हैं। उन्हें दैव-संस्कार कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि देवता बना देनेके उपयोगी इन अड़तालीस संस्कारोंमें वेदके सब यज्ञ आदि भी सम्मिलित हो जाते हैं, जिनके द्वारा मनुष्यमें एक दैवात्मा उत्पन्न कर दिया जाता है और वह आत्मा उसे अवश्य देवताओंमें सम्मिलित कर देता है। भगवान् व्यासने अपनी स्मृतिमें इस युगके उपयोगी तो सोलह संस्कार लिखे हैं, जिनकी आज भी हिन्दू-समाजमें चर्चा है। वे भी सब-के-सब आज समाजके बहुत अल्प अंशमें प्रचलित हैं, किंतु कुछ संस्कार सभी द्विजोंमें चलते हैं।

धर्म-ग्रन्थोंमें ये संस्कार आडम्बरशून्य वैज्ञानिक विधियोंके रूपमें हैं, किंतु आज जो संस्कार प्रचलित भी हैं, उनमें बाह्याडम्बरने अधिक स्थान ले लिया है। वैज्ञानिक विधियोंपर बहुत कम ध्यान रह गया है।

इन संस्कारोंकी शास्त्रीय पद्धतिपर ध्यान दिया जाय, तो विचारसे स्पष्ट भासित होगा कि ये विधियाँ वैज्ञानिक हैं। इनमें अधिकांशका सम्बन्ध मनोविज्ञानसे है। भौतिक विज्ञानके आधारपर भी बहुत-से कार्य उत्तम होते हैं। बालकको सामने बैठाकर माता-पिता वेदमन्त्रोंकी सहायतासे मनमें यह भाव रखें कि हम इसका दोषमार्जन या अतिशयाधान कर रहे हैं तो उस मनोवृत्तिका प्रभाव शिशुके कोमल अन्तःकरणपर अवश्य पड़ता है। यह मनोविज्ञानकी बात है, जो कि सभी संस्कारोंमें अनुवर्तमान रहती है। इसके अतिरिक्त जैसे पुंसवन और सीमन्तोन्नयन—इन गर्भावस्थाके संस्कारोंमें गर्भिणीके समक्ष वीणावादन और सुललित गायनका विधान सूत्रोंमें देखा जाता है, उससे भी गर्भिणीके अन्तःकरणमें एक प्रकारका प्रमोद या हर्ष होना स्वाभाविक है और उसका प्रभाव गर्भस्थित बालकपर पड़ना मनोविज्ञानकी बात है। बालकके उत्पन्न होनेपर सबसे पहले जातकर्म-संस्कारमें सुवर्णका अंश, घृत और मधु उसे चटानेकी विधि है। भौतिक विज्ञानद्वारा सिद्ध है कि ये तीनों ही पदार्थ शोधक हैं। ये दोष दूर कर एक प्रकारकी शुद्धता या पवित्रता देते हैं। इसी कारण व्रत, देवपूजा आदिमें सब जगह इनका प्रयोग विशेषरूपसे आवृत हुआ है। जातमात्र बालकके अंदर पहले ही इन पदार्थोंको प्रविष्ट कराना, जहाँ शोधनकी योजना करेगा, वहाँ उसके कोमल अवयवोंको पुष्ट और सुदृढ़ बनानेमें भी सहायता देगा। आगे नामकरण-संस्कारमें किसका कैसा नाम रखा जाय, इसकी व्यवस्था होती है। शास्त्रोंने विधान किया है कि सामाजिक-व्यवस्था भी वर्ण-विभागके अनुसार, जिससे जैसा काम लेनेकी आगे व्यवस्था होगी, तदनुकूल ही पहलेसे उसका नाम रखना चाहिये। जैसा कि ब्राह्मणके नाममें मङ्गल या विद्याका सम्बन्ध हो। क्षत्रियके नाममें वीरोचित प्रभाव प्रतीत होता हो और वैश्यके नाममें धन-समृद्धिकी बात आती हो। जब ऐसे नामोंसे वह अपने जीवनमें बार-बार सम्बोधित होगा तो उन शब्दोंद्वारा उन गुणोंपर उसका चित्त निरन्तर आकृष्ट होता रहेगा और उसका प्रभाव बार-बार चित्तपर पड़नेसे उन गुणोंकी समृद्धि या उज्ज्वलता उसमें होती रहेगी। यह भी मनोविज्ञानका विषय है। स्त्रियोंके नाम ऐसे होने चाहिये, जिनके उच्चारणमें वर्णोंकी कठिनताका अनुभव न हो, जिनमें क्रूरताका भाव बिलकुल न हो और अन्तमें दीर्घ वर्ण आवे—जैसे सुसङ्गता, यशोदा आदि। यह मानी हुई बात है कि स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा बहुत अधिक मृदुता होती है। उस कोमलताका आभास उनके नामोंमें ही मिल जाना चाहिये और परस्पर व्यवहारमें उसका बार-बार स्मरण होनेपर मृदुता स्थिर रहेगी।

आगे अन्नप्राशनमें भी जैसा स्वभाव बनाना है, उसके उपयुक्त ही अन्न आरम्भ में खिलानेका विधान है, जो स्पष्ट

ही पदार्थ-विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। आगे चूडाकरण या मुण्डन-संस्कारका समय आता है। हमारे शरीरके सब अवयवोंमें एक प्रकारकी शरीराग्नि निरन्तर भ्रमण करती रहती है और वही उन अङ्गोंका शोधन करती है, किंतु केश और नख उस अग्निकी व्याप्तिसे बाहर निकल जाते हैं। इसका स्पष्ट ही प्रमाण है कि केशों या नखोंका छेदन करनेपर भी कोई व्रण नहीं होता। इसी कारण उनके दोषोंका शोधन शरीराग्नि नहीं करती। उनके दोष तो तभी दूर हो सकते हैं, जब उनका छेदन कर दिया जाय या अङ्गपरसे उसे हटा दिया जाय। यही दोषमार्जन मुण्डन-संस्कारका लक्ष्य है। साथ ही, उसमें ऐसी वस्तुओंका लेपन मस्तकपर बताया गया है, जिससे उस कोमल मस्तकमें कोई व्रण भी न होने पावे और केशोंके स्थानकी पवित्रता भी हो जाय। मन्त्रपूर्वक हवनका भी इस संस्कारसे ही आरम्भ हो जाता है, जो कि बाह्य-शुद्धि और भीतरकी शुद्धिका भी एकमात्र उपाय है। इस संस्कारमें अन्य केशोंको हटाकर एक शिखा रख दी जाती है। यह शिखा हिन्दू-जातिका एक विशेष चिह्न माना गया है। इसका वैज्ञानिक तत्त्व यह है कि ब्रह्मरन्ध्रके ठीक ऊपर शिखा रखी जाती है। सूर्यका प्राण ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा ही हमारे भीतर आता रहता है और भीतरके प्राण उसी रन्ध्रसे सूर्यकी ओर जाते रहते हैं। हमने कर्म या उपासनाके द्वारा अन्तःकरणमें जो अतिशय उत्पन्न किया, वह यदि सूर्यके आकर्षणसे सूर्यमें चला जाय तो हमारे पास कुछ न रहेगा और हमारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। केश विद्युत्-शक्तिको रोकनेवाले हैं। यह वैज्ञानिक परीक्षणसे सिद्ध है। अतएव कर्म या उपासनाके समय ग्रन्थिबद्ध शिखा ब्रह्मरन्ध्रपर स्थापित रहनेसे हमारा अतिशय निकलकर बाहर न जा सकेगा तथा अतिशयद्वारा हम कृतकार्य होंगे।

अब बड़े संस्कार—यज्ञोपवीत और विवाहका अवसर आता है। यज्ञोपवीत-संस्कार दोष-मार्जन भी करता है और अतिशयाधान भी। विद्या पढ़नेका आरम्भ इसी संस्कारके अनन्तर होता है, इसलिये बुद्धिको पहलेसे सात्त्विक विद्याके प्रवेशके लिये विकसित कर देना और स्मरण-शक्तिको बढ़ा देना या दृढ़ करना आवश्यक है। वह काम इस संस्कारके द्वारा किया जाता है। इसमें सूर्यके उपस्थान अर्थात् आराधनाकी प्रधानता रखी गयी है। हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि बुद्धि सूर्यका ही एक अंश है। इसकी पुष्टि (विकास) सूर्यकी आराधनासे ही हो सकती है। अग्नि-हवन आदि तो इस संस्कारमें प्रधान हैं ही, जो कि बुद्धिको विशदरूपसे परिमार्जित करते हैं, किंतु इनके अतिरिक्त पलाशका उपयोग इस संस्कारमें विशेषरूपसे माना गया है। पलाशका ही दण्ड हाथमें रहता है। पलाशकी ही समिधाओंका हवन होता है। भोज्यादि पदार्थ रखनेके लिये पलाशके ही पत्ते हैं, आदि-आदि। वस्तु-विज्ञानके आधारपर शास्त्रोंका निश्चय है कि पलाश स्मरण-शक्ति बढ़ाने या दृढ़ करनेमें बहुत सहायता देता है। पलाशकी शाखाका बार-बार सेवन करना यज्ञोपवीतके समय या उसके अनन्तर आवश्यक माना गया है। साथ ही ब्रह्मचर्यकी रक्षाके उपयोगी मूँज आदिका भी उपयोग इस संस्कारमें है। ये सब पदार्थ-विज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं। इसी प्रकार यज्ञसूत्र या यज्ञोपवीत जिस वटुको पहनाया जाता है, उसमें भी बड़ा रहस्य है। भारतीय सभ्यताके अनुसार उसको वेदका अध्ययन करना है। वेद परब्रह्म या ईश्वरका प्रधानरूपसे वर्णन करता है। ईश्वरने सृष्टि किस प्रकार की, इसका विवरण अति संक्षेपमें इस प्रकार है कि ईश्वरने तेज, अप् (जल) और अन्न (पृथ्वी)—इन तीनों तत्त्वोंको सूक्ष्मरूपमें उत्पन्न किया, किंतु ये पृथक्-पृथक् रहकर जब आगे सृष्टि बनानेमें समर्थ न हो सके, तब तीनोंको आपसमें मिलाकर प्रत्येकको त्रिवृत्त (तीन लड़) कर दिया और उनमें शक्तिरूपसे स्वयं प्रविष्ट हुआ। बस, इसी तत्त्वका एक स्वरूप यज्ञोपवीतके रूपमें बनाया जाता है। पहले तीन जगह तीन-तीन धागे रखकर उन तीनोंको बटकर तीन-तीनका एक-एक बना लेते हैं और उन तीनोंको इकट्ठा कर उनमें ईश्वरकी स्थितिका सङ्केत देनेकी एक ब्रह्मग्रन्थि लगा देते हैं—इस प्रकार यज्ञोपवीत सदा गलेमें पड़ा रहनेसे निरन्तर उस वटुका ध्यान ईश्वरकी सृष्टि-रचनापर जाता रहेगा और उससे वेदविद्याके सीखनेमें शीघ्र कृतकार्य होगा।

विवाह-संस्कार भी अतिशयाधानरूप है, वह स्त्रीमें दूसरे कुलसे सम्बद्ध होनेका अतिशय उत्पन्न करता है तथा

स्त्री और पुरुष—दोनोंको मिलाकर एकरूप बना देनेके कारण हीनाङ्गपूर्ति भी करता है, जिससे एकरूपता प्राप्त कर दोनों पति-पत्नी गृहस्थाश्रम चलाने और यज्ञ-यागादि सम्पादित करनेके उपयोगी बन जाते हैं। पत्नीके देह, प्राण, मन आदिका दृढ़ सम्बन्ध पतिके देह, प्राण, मनसे जोड़ देना ही इस संस्कारका लक्ष्य है, जिसकी विधियाँ भी बहुत वैज्ञानिक हैं।

परस्पर योग-निर्माणमें और उसको दृढ़ करनेमें जिन जल और अग्निकी शक्ति मानी जाती है, उनका उपयोग विवाह-संस्कारमें पूर्णरूपसे किया जाता है। एक-दूसरेसे परस्पर हाथ मिलानेसे परस्परकी विद्युत्का संयोग होता है, यह भी विज्ञान-सिद्ध है। अतः वर वधूका पाणिग्रहण करता है और वधूका पिता उस समय उन दोनोंके मिले हुए हाथोंपर जलप्रक्षेप करता है। इससे दोनों विद्युतोंका संश्लेषण कर अग्नि-हवनके द्वारा उसे दृढ़ कर दिया जाता है। विवाहमें जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनका भी अर्थ यही है कि इन दोनोंके मन, प्राण, बुद्धि आदि सम्मिलित होकर एक हो जायँ। यह मनकी भावना भी अन्तःकरणके परस्पर संश्लेषणमें बहुत बड़ा काम देती है। इसी आधारपर वैदिक मन्त्रोंमें माना गया है कि वधूका संश्लेष अपने गोत्रसे हटकर वरके साथ जुड़ जाता है और उस दिन वह वरके गोत्रकी ही बन जाती है। इन बातोंसे सिद्ध है कि अन्यान्य जातियोंकी तरह भारतीयोंका विवाह केवल मनमाना सम्बन्ध नहीं, अपितु एक वैज्ञानिक दृढ़ सम्बन्ध है, जो जन्मान्तरतक भी बना रहता है। [प्रेषक—डॉ० श्रीसंजयजी चतुर्वेदी]

~~~o~~~

शुद्ध संस्कारोंसे पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि

(गोलोकवासी परम भागवत संत श्रीरामचन्द्र केशव डोंगरेजी महाराज)

चार पुरुषार्थोंमें पहले धर्म है और अन्तमें मोक्ष। बीचमें अर्थ और काम हैं। इस क्रमको लगानेमें भी रहस्य है। धर्म और मोक्षके बीचमें काम और अर्थको रखा गया है। यह क्रम बतलाता है कि अर्थ और कामको धर्म और मोक्षके अनुसार प्राप्त करना है। धर्म और मोक्ष—ये दोनों पुरुषार्थ मुख्य हैं। बाकीके दोनों—अर्थ और काम—गौण हैं। धर्मके विरुद्ध कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। धर्मका हमेशा स्मरण रखो। सबसे पहला पुरुषार्थ धर्म है। धर्मानुसार ही अर्थ और कामकी प्राप्ति करनी है।

पैसा मुख्य नहीं है, धर्म ही मुख्य है। मानव-जीवनमें धर्म ही प्रधान है। धनसे सुख नहीं मिलता। सुख मिलता है अच्छे संस्कारोंसे, संयमसे और सदाचारसे। प्रभुभक्तिसे और त्यागसे सुख मिलता है। धर्मसे धन कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता। धर्म इहलोक और परलोकमें सुख देता है। मरनेके बाद धन साथ नहीं आता, धर्म ही साथ जाता है। अतः धनसे धर्म श्रेष्ठ है। जबसे लोग अर्थको महत्त्व देने लगे हैं, तबसे जीवन बिगड़ गया है, जीवनके संस्कार बिगड़ गये हैं। जब मनुष्य धर्मको धनसे विशेष समझता है तब जीवन सुधरता है और सुसंस्कृत हो जाता है।

अर्थको धर्मानुकूल रखो। जो अर्थ धर्मानुकूल नहीं होता, वह अनर्थ है। देशको सम्पत्तिकी जितनी जरूरत है इससे अधिक अच्छे संस्कारोंकी जरूरत है। तुम अपने जीवनमें धर्मको सबसे पहला स्थान दो। जीवनमें जब कामसुख और अर्थ गौण बनता है तभी जीवनमें दिव्यता आती है। दिव्यताका अर्थ है देवत्व।

धर्मकी गति सूक्ष्म है। धर्म भी अनेक बार अधर्म बन जाता है। सद्भावनाके अभावमें किया गया धर्म सफल नहीं होता। सत्का अर्थ है ईश्वर। ईश्वरका भाव जो सबमें प्रत्यक्ष सिद्ध करे, उसीका धर्म पूर्णतः सफल होता है।

मनुष्योंके शत्रु बाहर नहीं हैं, वे तो मनके अंदर ही हैं। अंदरके शत्रुओंको मारोगे तो जगत्में तुम्हारा कोई शत्रु नहीं रहेगा।

धर्मक्रिया सद्भावके बिना सफल नहीं होती। जगत्के किसी भी जीवके प्रति कुभाव रखोगे तो वह जीव तुम्हारे प्रति भी कुभाव ही रखेगा।

सभी क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे परमात्मा बसे हुए हैं, इसलिये किसी भी जीवके प्रति कुभाव रखना ईश्वरके प्रति कुभाव रखनेके बराबर है। शास्त्रमें तो यहाँतक कहा गया है कि किसी जीवके साथ तो क्या, किसी जड़ पदार्थके प्रति भी कुभाव नहीं रखना चाहिये। कहा गया है—'सुहृदः
~~~

सर्वभूतानाम्'। ऐसा नहीं कहा गया कि 'सुहृदः सर्वजीवानाम्'। जड़ पदार्थोंके साथ भी प्रेम करना है। सबमें सद्भाव रखो अर्थात् जड़ पदार्थोंके प्रति भी प्रेम रखो।

मनुष्यमें जब स्वार्थबुद्धि जागती है तब वह दूसरेका विनाश करनेके लिये तत्पर होता है। तुम यदि दूसरेके प्रति कुभाव रखोगे तो उसके मनमें भी तुम्हारे प्रति कुभाव जागेगा।

इसपर विचार करनेयोग्य एक दृष्टान्त है। एक देशमें वहाँके राजा और नगरसेठ घनिष्ठ मित्र थे। दोनों सत्सङ्ग करते थे। दोनोंका एक-दूसरेपर खूब प्रेम था। उस नगर-सेठका व्यापार चन्दनकी लकड़ी बेचनेका था। उसका धन्धा अच्छा नहीं चल रहा था। चार-पाँच सालतक घाटा हुआ। आखिर मुनीमजीने बताया कि अब तो लकड़ीमें दीमक लग गयी। बिगड़ा हुआ माल कोई लेता नहीं है। यदि इस साल पूरे प्रमाणमें चन्दन नहीं बिकेगा तो व्यापार ठप्प हो जायगा। अब चन्दन-जैसी कीमती लकड़ी ज्यादा प्रमाणमें राजाके सिवा और कौन लेता?

स्वार्थ मनुष्यको पागल बना देता है। मनुष्यके मनमें जब स्वार्थ जागता है, तब वह दूसरेका विनाश करनेको भी तैयार हो जाता है। दूसरेका नुकसान करनेवालेको कभी फायदा नहीं होता। मनुष्यके हृदयमें जब स्वार्थ जागता है, तब विवेक नहीं रहता। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें स्वार्थ तो रहता ही है, मगर उसमें विवेक तो रखना ही चाहिये। जिसे बोलनेमें शर्म आये वैसा सोचना भी नहीं चाहिये। नगरसेठने सोचा कि इस राजाको कुछ हो जाय तो बहुत अच्छा हो। वह मर जायगा तो उसको जलानेके लिये चन्दनकी लकड़ीकी जरूरत पड़ेगी। इस प्रकार मेरा सारा चन्दन बिक जायगा और व्यापार ठीक चलेगा। इस तरह सेठके मनमें राजाके प्रति कुभाव उत्पन्न हुआ।

इस कुभावका यह परिणाम हुआ कि राजाके मनमें भी सेठके प्रति कुभाव जाग उठा। उस दिन जब वह सेठ राजासे मिलनेके लिये आया, तब राजाके मनमें विचार उत्पन्न हुआ कि यह सेठ निःसंतान है, यह यदि मर जाय तो इसका सारा धन राज्यभण्डारमें आ जाय। रोजके नियमानुसार सत्सङ्ग हुआ तो सही, मगर किसीको आनन्द नहीं आया।

दो-तीन दिनके बाद राजाके मनमें विचार पैदा हुआ कि जो पहले कभी नहीं उत्पन्न हुआ था, ऐसा दुष्ट विचार मुझे नगरसेठके बारेमें कैसे उत्पन्न हुआ?

मनुष्य पापको मनमें छुपाये रखता है, जिससे उसका जीवन बिगड़ता है। राजाने सारी हक़ीक़त सेठसे कह दी। राजाने कहा तुम्हारे बारेमें मेरे मनमें बुरे विचार कभी नहीं आये। इसका कोई कारण मेरी समझमें नहीं आ रहा है। क्या तुमने भी मेरे बारेमें कुछ बुरे विचार किये थे।

सेठने कहा कि मेरा चन्दनका व्यापार चलता नहीं है। सबका पोषण करना है। कोई माल लेता नहीं है, सो मैंने विचार किया कि यदि आप मर जायँ तो कितना अच्छा हो। आप मरेंगे तो आपको जलानेके लिये चन्दनकी जरूरत पड़ेगी और मेरा सारा चन्दन बिक जायगा। राजाने सेठको उलाहना दी कि खराब विचार तुमने क्यों किया? वैष्णव होकर ऐसे दुष्ट विचार करते हो, यह वैष्णवको शोभा नहीं देता। तुम्हारे मनमें ऐसा विचार क्यों न आया कि राजा अपने महलके दरवाजे चन्दनके बनवाये और इसलिये चन्दन खरीद ले। राजा ठाकुरजीके लिये चन्दनका झूला बनवाये और मेरा चन्दन बिक जाय। इस प्रकार राजाका भी मन शुद्ध हो गया और नगर सेठका मन भी। इसके बाद दोनोंमें एक-दूसरेके प्रति शुभभावना जागी और दोनों सुखी हो गये।

भावशुद्धि सबसे बड़ा तप है। मानव-जीवन तपके लिये ही है। जगत्के किसी भी जीवके प्रति वैर मत रखो। शुद्धभावनासे रहित किया गया सत्कर्म भी किसी कामका नहीं होता। उससे कई बार धर्म भी अधर्म बन जाता है। सत्कर्म करनेमें यदि हेतु शुद्ध नहीं हो तो वह सत्कर्म भी पाप बन जाता है।

दक्षप्रजापतिने शिवजीके प्रति कुभाव रखा, अतः उसका धर्म अधर्ममें बदल गया। उसका यज्ञ उसको ही मारनेवाला हो गया।

प्रत्येक मनुष्यके प्रति सद्भाव रखनेसे कार्य सफल होता है। सबका कल्याण हो—यही सत्य और सत्कार्य है—'सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्'।

संस्कारित जीवनमें पालनीय आवश्यक बातें

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

१-प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर करनी चाहिये, समयपर की हुई सन्ध्या बहुत ही लाभदायक होती है। स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं। ठीक कालपर सन्ध्या करनेवाले पुरुषके धर्म-तेजकी वृद्धि महर्षि जरत्कारुके समान हो सकती है।

२-वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया, अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थानमें अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये। कम-से-कम प्रातः और सायं १०८ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो करना ही चाहिये।

३-हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस षोडश नामके मन्त्रका जप सभी जातियोंके स्त्री-पुरुष सब समय कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मन्त्र है। कलिसन्तरणोपनिषद्में इस मन्त्रका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

४-श्रीमद्भगवद्गीताका पठन और अध्ययन सबको करना चाहिये। बिना अर्थ समझे हुए भी गीताका पाठ बहुत लाभकारी है, परंतु वास्तवमें बिना मतलब समझकर किये हुए अठारह अध्यायके मूल पाठकी अपेक्षा एक अध्यायका भी अर्थ समझकर पाठ करना श्रेष्ठ है; इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यथासाध्य गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तो अवश्य ही करना चाहिये।

५-प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्की मूर्ति रखकर प्रेमके साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका सञ्चय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

६-मनुष्यको प्रतिदिन (गीता अध्याय ६ श्लोक १० से १३ के अनुसार) एकान्तमें बैठकर कम-से-कम एक घंटे अपनी रुचिके अनुसार साकार या निराकार ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप और विक्षेपोंका समूल नाश होता है और कल्याण-मार्गमें बहुत उन्नति होती है।

७-प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रममें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पञ्चमहायज्ञोंका विधान है, वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

८-मनुष्यको सब समय भगवान्के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये। (गीता ८।७)

९-परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त है, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है; अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको उन्हें ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्तव्य-कर्मद्वारा सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। (गीता १८।४६)

१०-अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये।

११-सम्पूर्ण जीव परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाको त्यागकर सबके साथ निःस्वार्थभावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

१२-धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा तथा प्रेम रखनेवाले स्वार्थ-त्यागी, सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्ग कर उनकी आज्ञा तथा अनुकूलताके अनुसार आचरण करते हुए सङ्गका विशेष लाभ उठाना चाहिये।

१३-भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मननके द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपनी आत्माको उन्नत बनाना चाहिये।

१४-वास्तविक बात यह है कि सत्सङ्गमें जितनी बातें बतलायी जाती हैं, यदि उनकी धारणा कर लें, उनका [illegible] कर से तो अवश्य सुधार हो जायगा।

१५-रसोई पवित्रतासे बनानी चाहिये। बालक आदि रसोईघरमें न जाने चाहिये। रसोई बनाते समय धुले हुए वस्त्र धारण करे। आहार शुद्ध होनेसे मन भी शुद्ध होता है—*'जैसा खावे अन्न तैसा बने मन।'* मुख्यतासे अन्न तीन प्रकारसे पवित्र होता है—सात्त्विक कमाईसे, पवित्रतापूर्वक तैयार करने तथा सात्त्विक भोजन होनेसे।

१६-वाणीके संयमपर खूब ध्यान रखना चाहिये। सदा विचारकर बोले। वाणीके तपका बहुत बड़ा महत्त्व है। नेत्रोंके संयमकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारी पदार्थोंकी ओर नेत्रोंको न जाने दे, ऐसा न हो तो स्त्रियोंकी ओर तो उनकी प्रवृत्ति होने ही न दे। यदि चले जायँ तो उपवास करे। ऐसा करनेसे अच्छा सुधार हो सकता है। हाथोंका भी संयम करे, उनसे कोई कामोद्दीपक कुचेष्टा न करे, कामवृत्तिको जड़से उखाड़ डाले। क्रोधको तो ऐसा जीते कि सामनेवाला मनुष्य कितना ही उत्तेजित हो जाय, स्वयं शान्त ही रहे।

१७-दूसरोंका उपकार करनेकी आदत डालनी चाहिये। यह बड़े महत्त्वकी बात है कि अपनेसे किसीका उपकार बन जाय, किंतु वह उपकार होना चाहिये उदारता और दयाबुद्धिसे।

१८-प्रत्येक मनुष्यके साथ जो व्यवहार किया जाय, उसमें स्वार्थदृष्टिको त्याग देना चाहिये। व्यवहार स्वार्थसे ही बिगड़ता है। एक स्वार्थके त्याग देनेसे ही व्यवहार सुधर जाता है।

१९-लोगोंसे छोटे-छोटे जीवोंकी बहुत हिंसा होती है। हमें चलने, हाथ धोने, कुल्ला करने तथा मल-मूत्र त्याग करनेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये। हम इन जीवोंके जीवनका कुछ मूल्य नहीं समझते, किंतु स्मरण रखना चाहिये कि इस उपेक्षाके कारण बदलेमें हमें भी ऐसी ही निर्दयताका शिकार होना पड़ेगा। जो मनुष्य जीवोंके हिंसाका कानून बनाता है, उसे तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़ेंगे। यदि कोई पुरुष कुत्तेको रोटी देना बंद करेगा तो उसे भी कुत्ता बनकर भूखों मरना पड़ेगा। यदि किसीने म्युनिसिपलिटीमें कुत्तोंको मारनेका कानून बनाया तो उसे भी कुत्ता बनकर निर्दयतापूर्वक मृत्युका सामना करना पड़ेगा। कसाइयोंकी तो बड़ी ही दुर्दशा होगी, धन्य है, उन राजाओंको जिनके राज्यमें हिंसा नहीं थी।

२०-व्यापारमें नियम कर ले कि मुझे झूठ या कपटका व्यवहार नहीं करना है। खानेको न मिले तो भी कोई परवा मत करो। मेरा तो विश्वास है कि सचाईका व्यवहार जैसा चलता है, वैसा झूठ-कपटका कभी नहीं चल सकता। पहले मिथ्या-भाषण किया है, इसलिये आरम्भमें लोग विश्वास नहीं करते; सो कोई चिन्ता नहीं; पहले कियेका प्रायश्चित्त भी तो करना ही चाहिये। यदि यह सूत्र याद रखा जाय कि **'लोभ ही पापका मूल है'** तो व्यवहारमें पाप नहीं हो सकता।

२१-हमारे साथ पथप्रदर्शकरूपसे गीतादि शास्त्रोंके रहते हुए भी यदि हमारी दुर्गति हो तो बड़ी लज्जाकी बात है। श्रीमद्भगवद्गीताकी ध्वजा फहरा रही है; फिर हमारी अवनति क्यों होनी चाहिये? हमें भजन करनेकी स्वतन्त्रता है; फिर संसारमें भगवान्‌का नाम रहते हुए भी हमारी दुर्गति क्यों हो?

२२-कुसङ्ग कभी न करना चाहिये। जो पुरुष विषयी, पामर, दुराचारी, पापी या नास्तिक हैं, उनका सङ्ग कभी न करे और न उन्हें अपने पड़ोसमें ही बसाये। उनसे सर्वदा दूर रहे। वे प्लेगकी बीमारीके समान हैं, इसलिये उनके आचरण और दुर्गुणोंसे घृणा करे, किंतु उनसे घृणा न करे।

२३-किसी भी प्रकारका न्याय करना हो तो समदृष्टि रखे; यदि विषमता करनी हो तो अपने पक्षमें पौने सोलह आने रखे और विपक्षके लिये सवा सोलह आने।

२४-यदि कोई कठिन कार्य आकर प्राप्त हो तो उसे स्वयं करनेको तैयार हो जाय।

२५-हानि-लाभ, जय-पराजय एवं सुख-दुःखादिमें समानरूपसे ईश्वरकी दयाका दर्शन करे।

२६-ईश्वरकी प्राप्तिमें खूब विश्वास रखे। ऐसा विचार करे कि मेरे और कोई आधार नहीं है, केवल भगवान्‌की दयालुता देखकर मुझे पूरा भरोसा है कि वे अवश्य मेरी सुधि लेंगे।

२७-सब प्रकारके विषयोंको विषके समान त्याग देना चाहिये। विष मिला हुआ मधुर पदार्थ भी सेवन करनेयोग्य नहीं होता, इसी प्रकार विषय सुखरूप जान पड़ें तो भी त्याज्य ही हैं।

२८-ज्ञान या प्रेम किसी भी मार्गका अवलम्बन करके उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाय। कलकी अपेक्षा आज कुछ-न-कुछ साधन बढ़ा ही देना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर उन्नति करे। चलते-फिरते, उठते-बैठते किसी भी समय एक मिनटके लिये भी भगवान्‌को न भूले। भगवान् कहते हैं—

'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'

(गीता ८।७)

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।'

(गीता ८।१४)

२९-भगवान्‌की दया और प्रेमका स्मरण कर हर समय भगवत्प्रेममें मुग्ध और निर्भय रहे। भगवच्चिन्तनमें खूब प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि करे। यह बड़ी ही मूल्यवान् चीज है।

३०-कुतर्क करनेवालोंसे विशेष बातें नहीं करनी चाहिये। अपने हृदयकी गूढ़ और मार्मिक बातें हर किसीसे नहीं कहनी चाहिये।

३१-अपने गुणोंको छिपाये तथा किसीकी निन्दा-स्तुति न करे। करनी ही हो तो स्तुति भले ही करे। निन्दा अपनी की जा सकती है, स्तुति करनेके योग्य तो केवल एक परमात्मा ही है।

~~~o~~~

कामवासनारहित गर्भाधानसे उत्तम संतानकी प्राप्ति

(शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

संसारकी प्रत्येक वस्तु जिस रूपमें उत्पन्न होती है, वह उसी रूपमें काममें आनेयोग्य नहीं होती; किंतु दोष-परिमार्जन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति—इन त्रिविध संस्कारोंद्वारा संस्कृत हो जानेपर ही वह कार्योपयोगी बन पाती है। खेतमें उत्पन्न हुए जौ, गेहूँ और धान आदि धान्योंको प्रथम संस्कारसे भूसी-छिलका आदि दूर करके, दूसरेसे पीस-कूटकर आटा बनाकर और तीसरेसे घृत, नमक आदि सम्मिलित करके भोजनोपयोगी बनाया जाता है। कपासका बिनौला निकालकर धुनने-कातने और बुननेपर वस्त्र बनता है, उसे रंग, गोटा, किनारोंसे सजाकर पहननेयोग्य बनाया जाता है। खानसे निकले सोनेके अनपेक्षित मलिन अंशको फूँक-जलाकर, काट-छाँटकर, कूट-छेदकर भूषण बनता है, फिर उसमें मोती-हीरे आदिको जड़कर पहनने लायक बनाते हैं। ठीक इसी प्रकार मनुष्यमें भी मातृ-पितृ-दोषजन्य अनेक कमियाँ स्वभावतः होती हैं, उनकी निवृत्तिके लिये और अनेक शिक्षाओंद्वारा उसे सुशिक्षित करके विवाहद्वारा अर्धाङ्गकी पूर्ति करके ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्तिके योग्य बनाया जाता है। इन्हीं सब क्रियाओंका पारिभाषिक नाम भारतीय-संस्कृतिमें 'संस्कार' है।

जगद्गुरु भारतने न केवल लोहा-लक्कड़ आदि जड़ पदार्थोंके ठोक-ठाक करनेमात्रके कारखाने खोलनेमें ही कर्तव्यता समझी थी, बल्कि जहाँ वह मनोवेगसे चलनेवाले महामहिम पुष्पक-जैसे विमान बनानेमें, शतयोजन विस्तीर्ण समुद्रोंपर सेतु बाँध डालनेमें और वीर्य-कीटाणुओंको गर्भकी भाँति सुरक्षित रखकर सौ कौरवों, साठ हजार सगर-पुत्रोंको जन्म दे सकनेके योग्य 'घृत-कुम्भ' नामक महायन्त्रोंको बनानेमें सिद्धहस्त था, वहाँ 'नर' को 'नारायण' बन सकनेयोग्य बनानेके लिये भी 'संस्कार' नामक तत्तद् धर्मानुष्ठानोंसे लाभान्वित होता था।

आज पाश्चात्त्य देशोंको अपने कल-कारखानोंपर गर्व हो सकता है, विनाशकारी बमोंपर अभिमान हो सकता है; परंतु ये सब आविष्कार जिन अनुसंधायकोंके मस्तिष्कोंने किये हैं, उन मस्तिष्कोंके निर्माणकर्ता नारायणके सारूप्यको प्राप्त हो जानेयोग्य मानवोंको बनानेकी—आध्यात्मिक विज्ञानशालाएँ यदि किसी देशमें खुलीं तो वह देश एकमात्र भारतवर्ष है। हमें गर्व है कि भारतमें आज भी तादृश नरनिर्माणके अमोघ रचनात्मक प्रयोग विद्यमान हैं, जिनसे कि ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु, कुणाल, भीष्म और हकीकतराय-जैसे बालक उत्पन्न किये जा सकते हैं।

हिंदूजातिका यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि हमारा
~~~

दाम्पत्य-सम्बन्ध विषयवासना-पूर्तिके लिये नहीं, किंतु पदे-पदे कटु अनुभव-प्राप्तिके क्षेत्रभूत गृहस्थमें सहैतुक निर्वेदद्वारा विषय-वैराग्य प्राप्त करके 'कञ्चनकामिनी' रूप दोनों घाटियोंको लाँघकर सायुज्यका निष्कण्टक मार्ग प्रस्तुत करनेके लिये है। 'पुं' नामक नरकसे 'त्र'=त्राण करनेमें सक्षम होनेके कारण ही पुत्र-उत्पादन भी उक्त साधनाका ही अन्यतम अङ्ग है। आज भले ही विषयासक्त माता-पिताओंको स्वप्नमें भी यह ध्यान नहीं होता कि हम क्या करने चले हैं, केवल विषयानन्दकी सीमातक ही उनका यह प्रयास होता है। आजका सहवास भी उद्देश्यशून्य है और उससे समुत्पन्न संतान भी आजकी भाषामें 'ऐक्सिडैंटल' संतान ही कही जा सकती है।

व्यापारी अपनी रोकड़में बड़ी सावधानीसे जमा-खर्च लिखते हैं, यदि कोई रकम रह जाय और सौ बार स्मरण करनेपर भी याद न आये तो उसे बट्टे-खातेमें लिखते हैं। ठीक इसी प्रकार आजकी संतति भी माता-पिता दोनोंको जिसका स्मरण नहीं होता, बट्टे-खातेकी रकमके बराबर ही है। ऐसे संतानसे माता-पिता, जाति या देशका कुछ भला हो सकेगा—यह आशा रखना व्यर्थ है, इसीलिये हमारे यहाँ योग्य संतान-निर्माणके लिये माता-पिताको संयमी रहकर तत्तद्धर्मानुष्ठान करनेका आदेश है।

पुराणोंमें एक कथा आती है कि जब जाम्बवतीने भी 'प्रद्युम्न'-जैसी संतति उत्पन्न होनेकी अपनी अभिलाषा भगवान् श्रीकृष्णके सामने प्रकट की तो भगवान्‌ने कहा कि प्रद्युम्नके निमित्त मुझे और रुक्मिणीजीको द्वादश-वर्षपर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्यपूर्वक अमुक-अमुक धर्मानुष्ठान करने पड़े हैं। अतः यदि तुम भी ऐसा करो तो तादृश पुत्रकी माता बन सकती हो! वैसा ही किया गया तभी 'साम्ब' की उत्पत्ति हुई।

हिन्दूशास्त्रोंमें 'गर्भाधान' संस्कारका विधान इसी उद्देश्यसे किया गया है कि माता-पिता दोनों सावधान होकर धर्मानुष्ठानपूर्वक गुरुजनोंकी अनुमतिसे योग्य संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ हों। यह बात प्रायः सिद्ध हो चुकी है कि गर्भाधानके समय पति-पत्नीके हृदयमें जिस प्रकारके विचार होते हैं—उनके हृदय और अन्तश्चक्षुके सम्मुख जो चित्र होता है, भावी शिशु उन्हीं सबके प्रतिबिम्बको लेकर जन्म लेता है। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि जब एक अमेरिकन दम्पतिसे हब्शी संतति उत्पन्न हुई तो पतिको पत्नीके चरित्रपर आशङ्का हुई। तलाकके मुकदमेके दौरान दोनोंका रक्त जाँच करके जब प्रसूत बालकके रक्तसे मिलाया गया तो वह हब्शी-शक्लका बालक उक्त दम्पतिद्वारा प्रसूत ही निश्चित हुआ। वैज्ञानिक बहुत विचारमें पड़े। अन्तमें बहुत अनुसंधान करनेके बाद मालूम हुआ कि उक्त दम्पति जिस कमरेमें सोते हैं, उसमें सामने ही एक रेड-इंडियन नस्लके हब्शीका चित्र लटका है। यह महिला उसे बड़े मनोयोगसे अक्सर देखा करती थी। निश्चित हुआ कि इसीका परिणाम यह विरूप बालक है।

तात्पर्य यह है कि गर्भाधानसे लेकर समावर्तन-संस्कारपर्यन्तकी सब क्रियाएँ बालकके मातृ-पितृ-रजोवीर्य-दोषपरिमार्जनमें और गुणाधानमें उपयुक्त होती हैं, इसके बादमें होनेवाली अन्त्येष्टिपर्यन्त समस्त क्रियाएँ हीनाङ्गपूर्तिकारिणी मानी जाती हैं।

~~o~~

संत-वाणी

संसारासक्त लोगोंसे दूर रहो। सुख देनेवालेकी प्रशंसा या खुशामद न करो और दुःख देनेवालेका भी तिरस्कार न करो। जो मनुष्य दुःखमें प्रभुका चिन्तन करता है, वह महान् है।

सहनशीलता और सत्यपरायणताके संयोगके बिना प्रभुप्रेम पूर्णताको प्राप्त नहीं होता।

विश्वासके तीन लक्षण हैं—सब चीजोंमें ईश्वरको देखना, सारे काम ईश्वरकी ओर नजर रखकर ही करना और हर एक हालतमें हाथ पसारना तो उस सर्वशक्तिमान्‌के आगे ही।

संत-समागम और हरिकथा प्रभुमें श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। प्रभुके विश्वाससे तीव्र जिज्ञासा, जिज्ञासासे विवेक-वैराग्य, वैराग्यादिसे तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञानसे परमात्मदर्शन और परमात्मदर्शनसे सर्वोपरि स्थान प्राप्त होता है।

~~o~~

संस्कारोंकी सम्पन्नतामें पवित्रताका महत्त्व

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

पवित्रता साधारणतः दो प्रकारकी होती है—बाहरकी और भीतरकी। दोनों ही आवश्यक हैं। बाह्य शौचसे शरीरकी पवित्रता बनी रहती है, दूसरोंके रोग तथा पापोंके परमाणु सहसा अपने अंदर प्रवेश नहीं कर सकते एवं आन्तर शौचसे मन पवित्र होकर परमात्माका साक्षात्कार करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। मनुष्यजीवनका लक्ष्य है—'भगवत्प्राप्ति।' इसी उद्देश्यको सामने रखकर भारतके त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियोंने धर्मशास्त्रोंकी ऐसी रचना की थी कि जिससे मनुष्यकी प्रत्येक क्रिया नदीके सागराभिमुखी प्रवाहकी तरह स्वाभाविक ही भगवदभिमुखी हो। आज हम न तो प्रायः शास्त्रोंको मानते हैं और न हमारी शास्त्रवचनोंमें श्रद्धा ही है। कई तो स्पष्टरूपसे शास्त्रोंका विरोध करते हैं और शास्त्रकारोंपर अनर्गल आक्षेप करते हैं। कुछ लोग जो अपनेको शास्त्रका अनुयायी बतलाते हैं, वे भी प्रायः मनमाना अर्थ गढ़कर शास्त्रोंको अपने मतके अनुकूल ही बनाना चाहते हैं। इसीलिये इतनी विशृङ्खलता हो रही है और इसीलिये भारत सुख, समृद्धि, स्वतन्त्रता और नीरोगतासे वञ्चित होकर परमुखापेक्षी तथा दुःखित हो रहा है और ऐसे लोग शुभ संस्कारोंसे वञ्चित हो रहे हैं, फलस्वरूप आज यह ब्रह्मनिष्ठ त्यागी महात्माओंकी प्रिय आवासभूमि—ब्रह्मानन्दरसपूर्ण विकसित पुष्पोंकी यह प्राचीन सुरम्य वाटिका मुरझायी और सूखी हुई-सी प्रतीत होती है।

शरीरकी शुद्धि—शरीरकी शुद्धि भी दो प्रकारकी होती है—एक बाहरी और दूसरी भीतरी। अस्पृश्य पदार्थोंको स्पर्श न करना, जल-मृत्तिका और गोमय आदिसे शरीरको स्वच्छ रखना बाहरी शुद्धि है और न्यायोपार्जित पवित्र पदार्थोंके भक्षणसे शरीरके साधक रस-रुधिरादि सप्त धातुओंको शुद्ध रखना भीतरी पवित्रता है। आजकल इस विषयमें प्रायः अवहेलना की जाती है। शरीरकी शुद्धिको अधिकांश लोग अनावश्यक, अव्यवहार्य, व्यर्थ और आडम्बर समझते हैं। अस्पृश्यता-सम्बन्धी न्यायानुमोदित शास्त्रोक्त बातें तो सुनना ही नहीं चाहते। किसी भी समय किसी भी पदार्थके स्पर्श करने तथा परस्पर परमाणुओंके आदान-प्रदान करनेमें कोई हानि नहीं समझते। गर्भकालमें माताके देखे-सुने और स्पर्श किये हुए पदार्थोंके परमाणु गर्भके अंदर बालकपर अपना प्रभाव डालते हैं, यह बात प्रायः सभीको स्वीकार है, परंतु बिना किसी रुकावटके एक-दूसरेके स्पर्शमें और खान-पानमें कुछ भी पंक्तिभेद न रखनेमें उन्हें कोई दोष नहीं दीखता। कई लोग तो ऐसा करनेमें उलटा गौरव समझते हैं। समयकी बलिहारी है।

गोमय और मृत्तिका आदिसे शरीरको धोना, पोंछना तो धीरे-धीरे असभ्यता और जंगलीपन माना जाने लगा है। पशुओंकी चर्बीसे बना हुआ साबुन लगानेमें तथा सुगन्धित द्रव्योंके नामसे शरीरपर विदेशी मदिरा लेपन करनेमें कोई हानि नहीं समझी जाती। परंतु मिट्टीके नामसे ही बाबुओंकी नाक-भौं सिकुड़ने लगती है। कारण स्पष्ट है। लोगोंमें ऊपरसे सुन्दर सजनेका जितना खयाल है, उतना वास्तविक पवित्रताका नहीं। इसीलिये साबुन आदिके बुरे परमाणु जो शरीरके अंदर जाते हैं, उनकी कोई परवा नहीं की जाती। जलशुद्धिका विचार प्रायः छूट ही गया है। स्पर्शास्पर्शका विचार रखना अन्याय्य और अव्यवहार्य तथा जल-मृत्तिकाका व्यवहार व्यर्थ और आडम्बर माना जाता है। यह तो शारीरिक बाह्य शुद्धिकी बातें हैं। अन्तःशुद्धि इस प्रकार है—

शरीरकी आन्तरिक शुद्धि—अन्तःशुद्धि प्रधानतः आहारकी शुद्धिसे ही होती है, परंतु इस ओर तो आजकल लोगोंका बहुत ही कम खयाल है। देशमें खासकर बड़े शहरोंमें ऐसा द्रव्य बहुत कठिनतासे मिल सकता है, जो सर्वथा न्यायोपार्जित हो। धनोपार्जनमें न्यायान्यायका विचार प्रायः छोड़ दिया गया है। असत्य और चोरीका व्यवहार बड़े-बड़े व्यापारिक समुदायमें आवश्यक साधन-सा माना जाने लगा है। इतना अधःपतन हो गया है कि लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्ति होनेपर भी व्यापारमें दस-पाँच रुपयेकी

आमदनीके लिये लोग अन्यायका आश्रय ले लेते हैं। पाप-पुण्यका विचार करनेकी मानो आवश्यकता ही नहीं रही। प्राचीन कालमें साधुलोग सुनारोंका अन्न प्रायः नहीं खाते थे। लोगोंकी ऐसी धारणा थी कि सुनारोंके यहाँ सोने-चाँदीकी कुछ चोरी हुआ करती है, यद्यपि सभी सुनार ऐसे नहीं होते थे। परंतु आजकल तो ऐसी कोई जाति ही नहीं देखनेमें आती, जो धन कमानेमें पापका आश्रय सर्वथा न लेती हो। कुछ व्यक्ति बचे हुए हों तो दूसरी बात है। इस प्रकार जब धन ही अन्यायोपार्जित है, तब उसके द्वारा खरीदे हुए अन्नमें पवित्रता कहाँसे आ सकती है? जिस प्रकारका अन्न भक्षण किया जाता है, प्रायः उसी प्रकारका मन बनता है और जैसा मन होता है, वैसी ही क्रियाएँ होती हैं, यों उत्तरोत्तर पापका प्रवाह बढ़ता चला जाता है। इसीलिये आर्य ऋषियोंने आहारकी शुद्धिपर विशेष जोर दिया है।

आहारकी शुद्धि—केवल यही नहीं देखना चाहिये कि भोजन कैसे स्थानपर और किसके हाथका बना हुआ है। यद्यपि भोजन पवित्र स्थानमें पवित्र मनुष्यके द्वारा पवित्रताके साथ पवित्र सामग्रियोंसे बनना चाहिये, परंतु इनमें सबसे अधिक आवश्यकता है अन्नशुद्धिकी। न्याय-अन्यायके विचारसे रहित करोड़ों रुपयेके व्यापार करनेवाले बड़े-से-बड़े प्रसिद्ध पुरुषके द्रव्यसे पवित्र चौकेकी सीमाके अंदर ब्राह्मणके हाथसे बना हुआ भोजन उस भोजनकी अपेक्षा सर्वथा निकृष्ट है जो एक गरीब मेहनती सच्चे मजदूरके द्रव्यसे बनता है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ऐसे पवित्र हृदयका मनुष्य यदि नीचवर्णका हो तो उनके यहाँ उच्च वर्णका पुरुष शास्त्रमर्यादाको भङ्ग कर उसके साथ उसके हाथसे खाये। ऐसे पवित्र पुरुष तो ऐसा आग्रह ही नहीं रखते कि लोग हमारे हाथका बनाया हुआ खायँ। अतएव सबसे अधिक ध्यान इस विषयपर देना चाहिये कि जिससे द्रव्य शुद्ध रहे। अशुद्ध द्रव्यका उपार्जन करनेवाला अपना अनिष्ट तो करता ही है, साथ ही वह घर, परिवार और अतिथिवर्गके मनोंमें भी अपवित्र भावोंकी उत्पत्तिका कारण बनता है।

आजकल भोजनकी सामग्रियोंमें अभक्ष्य और अपेय पदार्थोंका समावेश भी बढ़ रहा है। अंग्रेजोंके संसर्ग और अंग्रेजी शिक्षाके अधिक विस्तारसे खान-पानके पदार्थोंमें रुकावट बहुत कम हो चली है। इस मर्यादानाशका परिणाम बहुत ही बुरा दीखता है। अतएव सबको सावधान हो जाना चाहिये।

उत्तम संतानके लिये माता-पिताके शुद्धाचरणकी आवश्यकता

(मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

भगवान् वासुदेवने कहा है कि—

'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥'

'यज्ञरहित पुरुषके लिये यह लोक ही सुखदायक नहीं है, फिर परलोककी चर्चा ही क्या है?' तथा—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

'यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने पहले कहा कि इसीसे तुमलोग बढ़ो और यह तुमलोगोंके लिये कामधेनु हो।'

उस यज्ञरूपी कामधेनुके चरणोंके त्यागसे ही संसार विपत्तिके गर्तमें पड़ा हुआ है और हजार प्रयत्न करनेपर भी उसके कल्याणका मार्ग निरर्गल नहीं हो रहा है। जिस संतानके लिये पूर्वपुरुषोंने बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की हैं, उसी संतानकी वृद्धिसे संसार ऊब उठा है, संतानोंके आचरणसे अत्यन्त असंतुष्ट है, यहाँतक कि गर्भनिरोधके लिये नयी-नयी ओषधियोंका तथा उपचारोंका आविष्कार किया जा रहा है और उनके प्रचारके लिये सब ओरसे प्रोत्साहन भी मिल रहा है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस उपायसे अभीष्टकी प्राप्ति सम्भव है? क्या इस कृत्रिम उपायसे गर्भनिरोध गर्भपातनके समकक्षका पाप नहीं है (शुक्रका व्यर्थीकार भी तो सामान्य पाप नहीं है*), क्या इससे कुसंतान और सुसंतानकी समस्या हल हो सकती है?

* 'व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्।' (आश्वलायनोक्तिः)

संस्कारोंकी सम्पन्नतामें पवित्रताका महत्त्व

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

पवित्रता साधारणतः दो प्रकारकी होती है—बाहरकी और भीतरकी। दोनों ही आवश्यक हैं। बाह्य शौचसे शरीरकी पवित्रता बनी रहती है, दूसरोंके रोग तथा पापोंके परमाणु सहसा अपने अंदर प्रवेश नहीं कर सकते एवं आन्तर शौचसे मन पवित्र होकर परमात्माका साक्षात्कार करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। मनुष्यजीवनका लक्ष्य है—'*भगवत्प्राप्ति।*' इसी उद्देश्यको सामने रखकर भारतके त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियोंने धर्मशास्त्रोंकी ऐसी रचना की थी कि जिससे मनुष्यकी प्रत्येक क्रिया नदीके सागराभिमुखी प्रवाहकी तरह स्वाभाविक ही भगवदभिमुखी हो। आज हम न तो प्रायः शास्त्रोंको मानते हैं और न हमारी शास्त्रवचनोंमें श्रद्धा ही है। कई तो स्पष्टरूपसे शास्त्रोंका विरोध करते हैं और शास्त्रकारोंपर अनर्गल आक्षेप करते हैं। कुछ लोग जो अपनेको शास्त्रका अनुयायी बतलाते हैं, वे भी प्रायः मनमाना अर्थ गढ़कर शास्त्रोंको अपने मतके अनुकूल ही बनाना चाहते हैं। इसीलिये इतनी विशृङ्खलता हो रही है और इसीलिये भारत सुख, समृद्धि, स्वतन्त्रता और नीरोगतासे वञ्चित होकर परमुखापेक्षी तथा दुःखित हो रहा है और ऐसे लोग शुभ संस्कारोंसे वञ्चित हो रहे हैं, फलस्वरूप आज यह ब्रह्मनिष्ठ त्यागी महात्माओंकी प्रिय आवासभूमि—ब्रह्मानन्दरसपूर्ण विकसित पुष्पोंकी यह प्राचीन सुरम्य वाटिका मुरझायी और सूखी हुई-सी प्रतीत होती है।

शरीरकी शुद्धि—शरीरकी शुद्धि भी दो प्रकारकी होती है—एक बाहरी और दूसरी भीतरी। अस्पृश्य पदार्थोको स्पर्श न करना, जल-मृत्तिका और गोमय आदिसे शरीरको स्वच्छ रखना बाहरी शुद्धि है और न्यायोपार्जित पवित्र पदार्थोंके भक्षणसे शरीरके साधक रस-रुधिरादि सप्त धातुओंको शुद्ध रखना भीतरी पवित्रता है। आजकल इस विषयमें प्रायः अवहेलना की जाती है। शरीरकी शुद्धिको अधिकांश लोग अन्याय, अव्यवहार्य, व्यर्थ और आडम्बर समझते हैं। अस्पृश्यता-सम्बन्धी न्यायानुमोदित शास्त्रोक्त बातें तो सुनना ही नहीं चाहते। किसी भी समय किसी भी पदार्थके स्पर्श करने तथा परस्पर परमाणुओंके आदान-प्रदान करनेमें कोई हानि नहीं समझते। गर्भकालमें माताके देखे-सुने और स्पर्श किये हुए पदार्थोंके परमाणु गर्भके अंदर बालकपर अपना प्रभाव डालते हैं, यह बात प्रायः सभीको स्वीकार है, परंतु बिना किसी रुकावटके एक-दूसरेके स्पर्शमें और खान-पानमें कुछ भी पंक्तिभेद न रखनेमें उन्हें कोई दोष नहीं दीखता। कई लोग तो ऐसा करनेमें उलटा गौरव समझते हैं। समयकी बलिहारी है।

गोमय और मृत्तिका आदिसे शरीरको धोना, पोंछना तो धीरे-धीरे असभ्यता और जंगलीपन माना जाने लगा है। पशुओंकी चर्बीसे बना हुआ साबुन लगानेमें तथा सुगन्धित द्रव्योंके नामसे शरीरपर विदेशी मदिरा लेपन करनेमें कोई हानि नहीं समझी जाती। परंतु मिट्टीके नामसे ही बाबुओंकी नाक-भौं सिकुड़ने लगती है। कारण स्पष्ट है। लोगोंमें ऊपरसे सुन्दर सजनेका जितना खयाल है, उतना वास्तविक पवित्रताका नहीं। इसीलिये साबुन आदिके बुरे परमाणु जो शरीरके अंदर जाते हैं, उनकी कोई परवा नहीं की जाती। जलशुद्धिका विचार प्रायः छूट ही गया है। स्पर्शास्पर्शका विचार रखना अन्याय्य और अव्यवहार्य तथा जल-मृत्तिकाका व्यवहार व्यर्थ और आडम्बर माना जाता है। यह तो शारीरिक बाह्य शुद्धिकी बातें हैं। अन्तःशुद्धि इस प्रकार है—

शरीरकी आन्तरिक शुद्धि—अन्तःशुद्धि प्रधानतः आहारकी शुद्धिसे ही होती है, परंतु इस ओर तो आजकल लोगोंका बहुत ही कम खयाल है। देशमें खासकर बड़े शहरोंमें ऐसा द्रव्य बहुत कठिनतासे मिल सकता है, जो सर्वथा न्यायोपार्जित हो। धनोपार्जनमें न्यायान्यायका विचार प्रायः छोड़ दिया गया है। असत्य और चोरीका व्यवहार बड़े-बड़े व्यापारिक समुदायमें आवश्यक साधन-सा माना जाने लगा है। इतना अधःपतन हो गया है कि लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्ति होनेपर भी व्यापारमें दस-पाँच रुपयेकी

आमदनीके लिये लोग अन्यायका आश्रय ले लेते हैं। पाप-पुण्यका विचार करनेकी मानो आवश्यकता ही नहीं रही। प्राचीन कालमें साधुलोग सुनारोंका अन्न प्रायः नहीं खाते थे। लोगोंकी ऐसी धारणा थी कि सुनारोंके यहाँ सोने-चाँदीकी कुछ चोरी हुआ करती है, यद्यपि सभी सुनारे ऐसे नहीं होते थे। परंतु आजकल तो ऐसी कोई जाति ही नहीं देखनेमें आती, जो धन कमानेमें पापका आश्रय सर्वथा न लेती हो। कुछ व्यक्ति बचे हुए हों तो दूसरी बात है। इस प्रकार जब धन ही अन्यायोपार्जित है, तब उसके द्वारा खरीदे हुए अन्नमें पवित्रता कहाँसे आ सकती है? जिस प्रकारका अन्न भक्षण किया जाता है, प्रायः उसी प्रकारका मन बनता है और जैसा मन होता है, वैसी ही क्रियाएँ होती हैं, यों उत्तरोत्तर पापका प्रवाह बढ़ता चला जाता है। इसीलिये आर्य ऋषियोंने आहारकी शुद्धिपर विशेष जोर दिया है।

आहारकी शुद्धि—केवल यही नहीं देखना चाहिये कि भोजन कैसे स्थानपर और किसके हाथका बना हुआ है। यद्यपि भोजन पवित्र स्थानमें पवित्र मनुष्यके द्वारा पवित्रताके साथ पवित्र सामग्रियोंसे बनना चाहिये, परंतु इनमें सबसे अधिक आवश्यकता है अन्नशुद्धिकी। न्याय-अन्यायके विचारसे रहित करोड़ों रुपयेके व्यापार करनेवाले बड़े-से-बड़े प्रसिद्ध पुरुषके द्रव्यसे पवित्र चौकेकी सीमाके अंदर ब्राह्मणके हाथसे बना हुआ भोजन उस भोजनकी अपेक्षा सर्वथा निकृष्ट है जो एक गरीब मेहनती सच्चे मजदूरके द्रव्यसे बनता है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ऐसे पवित्र हृदयका मनुष्य यदि नीचवर्णका हो तो उनके यहाँ उच्च वर्णका पुरुष शास्त्रमर्यादाको भङ्ग कर उसके साथ उसके हाथसे खाये। ऐसे पवित्र पुरुष तो ऐसा आग्रह ही नहीं रखते कि लोग हमारे हाथका बनाया हुआ खायँ। अतएव सबसे अधिक ध्यान इस विषयपर देना चाहिये कि जिससे द्रव्य शुद्ध रहे। अशुद्ध द्रव्यका उपार्जन करनेवाला अपना अनिष्ट तो करता ही है, साथ ही वह घर, परिवार और अतिथिवर्गके मनोंमें भी अपवित्र भावोंकी उत्पत्तिका कारण बनता है।

आजकल भोजनकी सामग्रियोंमें अभक्ष्य और अपेय पदार्थोंका समावेश भी बढ़ रहा है। अंग्रेजोंके संसर्ग और अंग्रेजी शिक्षाके अधिक विस्तारसे खान-पानके पदार्थोंमें रुकावट बहुत कम हो चली है। इस मर्यादानाशका परिणाम बहुत ही बुरा दीखता है। अतएव सबको सावधान हो जाना चाहिये।

उत्तम संतानके लिये माता-पिताके शुद्धाचरणकी आवश्यकता

(मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

भगवान् वासुदेवने कहा है कि—

'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥'

'यज्ञरहित पुरुषके लिये यह लोक ही सुखदायक नहीं है, फिर परलोककी चर्चा ही क्या है?' तथा—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

'यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने पहले कहा कि इसीसे तुमलोग बढ़ो और यह तुमलोगोंके लिये कामधेनु हो।'

उस यज्ञरूपी कामधेनुके चरणोंके त्यागसे ही संसार विपत्तिके गर्तमें पड़ा हुआ है और हजार प्रयत्न करनेपर भी उसके कल्याणका मार्ग निरर्गल नहीं हो रहा है। जिस संतानके लिये पूर्वपुरुषोंने बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की हैं, उसी संतानकी वृद्धिसे संसार ऊब उठा है, संतानोंके आचरणसे अत्यन्त असंतुष्ट है, यहाँतक कि गर्भनिरोधके लिये नयी-नयी ओषधियोंका तथा उपचारोंका आविष्कार किया जा रहा है और उनके प्रचारके लिये सब ओरसे प्रोत्साहन भी मिल रहा है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस उपायसे अभीष्टकी प्राप्ति सम्भव है? क्या इस कृत्रिम उपायसे गर्भनिरोध गर्भपातनके समकक्षका पाप नहीं है (शुक्रका व्यर्थीकार भी तो सामान्य पाप नहीं है*), क्या इससे कुसंतान और सुसंतानकी समस्या हल हो सकती है?

* 'व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्।' (आश्वलायनोक्तिः)

कहना होगा कि कदापि नहीं। संतान-बाहुल्य शास्त्रसम्मत है। कुसंतानका होना ही दोषावह है और यह रोका जा सकता है। भगवान् देवकीनन्दनने कहा है कि—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'

अर्थात् यज्ञके लिये ही कर्म होना चाहिये। जितने कर्म हैं, उनका अनुष्ठान यज्ञरूपसे ही होना चाहिये। इसीसे हिन्दूके धर्ममें नहाना, खाना, सोना सब यज्ञरूप है।

छान्दोग्य श्रुति कहती है—

'*पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति॥*'

'*योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति॥*'

'हे गौतम! पुरुष अग्नि है, उसकी वाणी ही समित् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, आँख अङ्गारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं, उसी अग्निमें देवता अन्नका होम करते हैं, उस आहुतिसे वीर्य होता है।'

'हे गौतम! स्त्री अग्नि है, उसका उपस्थ समित् है, जो उस समय बात करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है, प्रसङ्ग अङ्गारा है, सुख चिनगारी है, उसी अग्निमें देवतालोग वीर्यका होम करते हैं। उस आहुतिसे गर्भ होता है।'

इस भाँति भोजन भी यज्ञ है, इसका अनुष्ठान विहित देश-कालमें होना चाहिये, केवल शुद्ध अन्नकी आहुति देनी चाहिये, इससे शुद्ध वीर्य उत्पन्न होता है। जहाँ जो मिला, उसे खा लेनेसे यज्ञ नष्ट हो जाता है और '**न हि यज्ञसमो रिपुः**' वही यज्ञ अपना शत्रु हो जाता है और नाना प्रकारके अनर्थका कारण होता है। एवं स्त्रीप्रसङ्ग अथवा गर्भाधान भी यज्ञ है, यह विहित देश-काल तथा पात्र पाकर ही करना चाहिये, नहीं तो इसका परिणाम अतीव भयंकर होता है, शरीरमें दारुण व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, कुसंतानकी उत्पत्तिसे कुल कलंकित होता है और यावज्जीवन अत्युग्र यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

संतानकी कुण्डलीकी बड़ी चिन्ता माता-पिताको होती है, परंतु कुण्डलीके मूलाधार गर्भाधानकालकी कोई चिन्ता ही नहीं होती। बच्चोंके आठ संस्कार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल और उपनयन—माता-पिताको करने पड़ते हैं। इन सबके लिये उत्तम-से-उत्तम मुहूर्त बड़े-से-बड़े ज्योतिषीसे *दिखलाया जाता है, परंतु सबसे मुख्य और प्रथम संस्कार,* जिसे गर्भाधान कहते हैं, हँसी-खेलकी वस्तु समझा जाता है। सभ्य समाजमें उसकी चर्चा भी उठायी नहीं जा सकती, उसका नाम लेना अश्लीलता है। उचित तो यह था कि उसके नियम मनुष्यमात्रको हस्तामलक होते, स्त्री-पुरुष सब उनसे परिचित होते और उनके उल्लङ्घन करनेमें सौ बार विचार करना पड़ता।

किस कार्यके लिये कौन मुहूर्त शुभ है और कौन अशुभ है, इसका विज्ञान ही पृथक् है, जिसे फलित शास्त्र कहते हैं। आजकल फलित शास्त्रकी खिल्ली उड़ानेवाले भी कम नहीं हैं, पर काम पड़नेपर मुहूर्त दिखलाकर ही सब लोग कार्य करते हैं। औरंगजेब-जैसा मुतअस्सिब बादशाह भी मुहूर्त दिखलाकर ही सिंहासनारूढ़ हुआ। फलाफलके तारतम्यके विचारमें भले ही कभी चूक हो जाय, पर ग्रह-नक्षत्रगणका प्रभाव तो पृथ्वीपर स्थूल दृष्टिसे भी उपलक्षित होता है। शिशुके भूमिष्ठ होनेके समय जैसी ग्रहस्थिति होती है, उसका जैसा प्रभाव नवजात शिशुपर पड़ता है, वह यावज्जीवनके लिये उसका साथी हो जाता है; पर इसका भी मूल कारण गर्भाधानका समय है। अतः गर्भाधान भूलकर भी अविहित समयमें नहीं होना चाहिये। गर्भाधानकालके दोषसे ही कश्यपजीके द्वारा दिति देवीके गर्भसे हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु-सरीखे क्रूरकर्मा दैत्य उत्पन्न हुए थे।

बहुत कालसे यह भावना नष्ट हो गयी है। इसको जाग्रत् करनेके लिये बहुत समय और आयासकी अपेक्षा है, पर यदि संसारमें सुख-शान्ति लानी है तो इसे जाग्रत् करना ही पड़ेगा। पारस्कर-गृह्यसूत्र तथा निर्णयसिन्धु

आदि धर्मग्रन्थोंमें इसका बड़ा विस्तार है, पर मुहूर्तचिन्तामणिके दो श्लोकोंमें संक्षेपरूपसे सभी कुछ कह दिया गया है—

गण्डान्तं त्रिविधं त्यजेन्निधनजन्मर्क्षे च मूलान्तकं
दास्रं पौष्णमथोपरागदिवसं पातं तथा वैधृतिम्।
पित्रोः श्राद्धदिनं दिवा च परिघाद्यर्धं स्वपत्नीगमे
भान्युत्पातहतानि मृत्युभवनं जन्मर्क्षतः पापभम्॥
भद्राषष्ठीपर्वरिक्ताश्च सन्ध्या
भौमार्कार्कीनाद्यरात्रीश्चतस्रः।
गर्भाधानं त्र्युत्तरेन्द्वर्कमैत्र-
ब्राह्मस्वातीविष्णुवस्वम्बुपे सत्॥

'नक्षत्र, तिथि तथा लग्नके गण्डान्त, निधन-तारा, जन्म-तारा, मूल, भरणी, अश्विनी, रेवती, ग्रहण-दिन, व्यतीपात, वैधृति, माता-पिताका श्राद्ध-दिन, दिनके समय, परिघयोगके आदिका आधा भाग, उत्पातसे दूषित नक्षत्र, जन्मराशि या जन्मनक्षत्रसे आठवाँ लग्न, पापयुक्त नक्षत्र या लग्न, भद्रा, षष्ठी, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, सन्ध्याके दोनों समय, मङ्गलवार, रविवार और शनिवार, रजोदर्शनसे आरम्भ करके चार दिन—ये सब पत्नीगमनमें वर्जित हैं। शेष तिथियाँ, सोमवार, बृहस्पति, शुक्र, बुधवार, तीनों उत्तरा, मृगशिरा, हस्त, अनुराधा, रोहिणी, स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा और शततारका—ये गर्भाधानके लिये शुभ हैं।'

इसमें संदेह नहीं कि ऋतुदानके समय-निर्णयके लिये थोड़ेसे ज्योतिषज्ञान या किसी ज्योतिषीकी सहायताकी अपेक्षा है, परंतु इससे जितना बड़ा अपना हित, वंशका हित, राष्ट्रका हित सम्भव है, उतना हित अन्य किसी उपायसे सम्भव नहीं है। गर्भनिरोधके प्रचारसे व्यभिचारके मार्गको निरर्गल करनेके इच्छुकोंको, विषयके गीधोंको निःसंदेह यह सुझाव निःसार, अश्लील और अव्यवहार्य मालूम पड़ेगा, परंतु उन लोगोंको मालूम होना चाहिये कि यह लाभदायक प्रथा किसी समय भारतमें प्रचलित थी और इसीके लोपसे देशका जगद्गुरुके पदसे पतन हो गया। बड़े-बड़े असम्भव कार्योंको सम्भव कर दिखलानेवाले देशके कर्णधार इस ओर ध्यान दें, बड़े-बड़े ब्रह्मचर्याश्रम खोलनेवाले देशके महोपदेशक इसका प्रचार करें, कम-से-कम 'कल्याण' के पाठकोंमेंसे ही कुछ लोगोंके हृदयमें यदि इस विषयकी उपादेयता जम जाय तो भी बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

भगवद्गीताका प्रचार भगवत्प्रेरणासे इस समय बढ़ रहा है, उसी भगवद्गीताको आँख खोलकर देखनेकी आवश्यकता है। यदि गीताध्यायी अपने कर्मोंको यज्ञरूपमें परिणत नहीं कर सका, अपने भोजन-शयनादि व्यवहारको यज्ञका रूप नहीं दे सका तो उसका गीताध्ययन ही व्यर्थ है। गीताके कारण तो युद्ध भी यज्ञरूपमें परिणत हो गया—**'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'** कहकर भगवान्‌ने तो सीधे-सीधे गर्भाधानको 'यज्ञ' का रूप दिया है, नहीं तो 'काम' को शत्रु बतलाया है और उससे सावधान रहनेके लिये आदेश है, यथा—'विद्ध्येनमिह वैरिणम्' यह वैरी सर्वनाश करता है, कुसंतानकी बाढ़से जगत् व्याकुल हो उठता है।

शास्त्रविहित देश, काल और पात्रका विचार रखनेसे ही काम ईश्वरकी विभूति हो जाता है, उससे अचिन्त्य कल्याण होता है, लोक-परलोक सब बन जाता है, सदाचारी होकर यश प्राप्त करता है, सुसंतान उत्पन्न करके आत्महित, वंशहित तथा राष्ट्रहित करता है। अतः माता-पिताका सदाचार ही उत्तम संतानोत्पत्तिका कारण होता है।

~~o~~

सभी स्थितियोंमें प्रभु और प्रभुभक्तोंका दास होकर रहना ही अनन्य और एकनिष्ठ भक्ति करना है। अपने प्यारेके श्रवण, मनन, कीर्तन आदिमें जो बाधाएँ हैं, उन्हें दूर करना सच्चे प्रभुप्रेमका चिह्न है। भीतरसे प्रभुकी गाढ़ भक्ति करना, किंतु बाहर उसे प्रसिद्ध न होने देना साधुताका मुख्य चिह्न है।

ईश्वरकी उपासनामें मनुष्य ज्यों-ज्यों डूबता जाता है, त्यों-त्यों प्रभु-दर्शनके लिये उसकी आतुरता बढ़ती जाती है। यदि एक पलके लिये भी उसे प्रभुका साक्षात्कार हो जाता है तो वह उस स्थितिकी अधिकाधिक इच्छामें लीन हो जाता है।

~~o~~

बालकोंके लिये संस्कार-माला

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

१-सबको सूर्योदयसे पहले उठना चाहिये।

२-उठते ही भगवान्‌का स्मरण करना तथा—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

—इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये।

३-अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये।

४-शौच-स्नान करके दण्ड-बैठक, दौड़-कुश्ती आदि शारीरिक और आसन-प्राणायाम आदि यौगिक व्यायाम करना चाहिये।

५-प्रातःकाल *'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'*—इस मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपनी चाहिये और जिनका यज्ञोपवीत हो चुका है, उनको सूर्योदयसे पूर्व संध्या और कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये।

६-श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका नित्य अर्थसहित पाठ करना चाहिये। इसके लिये ऐसा क्रम रखा जाय तो अच्छा है कि प्रतिपदा तिथिको पहले अध्यायका, द्वितीयाको दूसरेका, तृतीयाको तीसरेका—इस तरह एकादशी तिथिको ११वें अध्यायतक पाठ करके, द्वादशीको १२वें और १३वें अध्यायका, त्रयोदशीको १४वें और १५वेंका, चतुर्दशीको १६वें और १७वेंका तथा अमावास्या या पूर्णिमाको १८वें अध्यायका पाठ कर ले। इस प्रकार पंद्रह दिनोंमें अठारहों अध्यायोंका पाठ-क्रम रखकर एक महीनेमें सम्पूर्ण गीताके दो पाठ पूरे कर लेने चाहिये। तिथिक्षय हो तब ७वें और ८वें अध्यायका पाठ एक साथ कर लेना तथा तिथि-वृद्धि होनेपर १६वें और १७वें अध्यायका पाठ अलग-अलग दो दिनमें कर लेना चाहिये।

७-विद्यालयमें ठीक समयपर पहुँच जाना और भगवत्स्मरणपूर्वक मन लगाकर पढ़ना चाहिये। किसी प्रकारका ऊधम न करते हुए मौन रहकर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपकी स्मृति रखते हुए प्रतिदिन जाना-आना चाहिये।

८-विद्यालयकी स्तुति-प्रार्थना आदिमें अवश्य शामिल होना और उनको मन लगाकर प्रेमभावपूर्वक करना चाहिये।

९-पिछले पाठको याद रखना और आगे पढ़ाये जानेवाले पाठको उसी दिन याद कर लेना उचित है, जिससे पढ़ाईके लिये सदा उत्साह बना रहे।

१०-पढ़ाईको कभी कठिन नहीं मानना चाहिये।

११-अपनी कक्षामें सबसे अच्छा बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

१२-किसी विद्यार्थीको पढ़ाईमें अग्रसर होते देखकर खूब प्रसन्न होना चाहिये और यह भाव रखना चाहिये कि यह अवश्य उन्नति करेगा तथा इसकी उन्नतिसे मुझे और भी बढ़कर उन्नति करनेका प्रोत्साहन एवं अवसर प्राप्त होगा।

१३-अपने किसी सहपाठीसे डाह नहीं करनी चाहिये और न यही भाव रखना चाहिये कि वह पढ़ाईमें कमजोर रह जाय, जिससे उसकी अपेक्षा मुझे लोग अच्छा कहें।

१४-किसी भी विद्या अथवा कलाको देखकर उसमें दिलचस्पीके साथ प्रविष्ट होकर समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि जानने और सीखनेकी उत्कण्ठा विद्यार्थियोंका गुण है।

१५-अपनेको उच्च विद्वान् मानकर कभी अभिमान न करना चाहिये; क्योंकि इससे आगे बढ़नेमें बड़ी रुकावट होती है।

१६-नित्यप्रति बड़ोंकी तथा दीन-दुःखी प्राणियोंकी कुछ-न-कुछ सेवा अवश्य करनी चाहिये।

१७-किसी भी अङ्गहीन, दुःखी, बेसमझ, गलती करनेवालेको देखकर हँसना नहीं चाहिये।

१८-मिठाई, फल आदि खानेकी चीजें प्राप्त हों तो उन्हें दूसरोंको बाँटकर खाना चाहिये।

१९-न्यायसे प्राप्त हुई चीजको ही काममें लाना चाहिये।

२०-दूसरेकी चीज उसके देनेपर भी न लेनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

२१-हर एक आदमीके द्वारा स्पर्श की हुई मिठाई आदि अन्नकी बनी खाद्य वस्तुएँ नहीं खानी चाहिये।

२२-कोई भी अपवित्र चीज नहीं खानी चाहिये।

२३-कोई भी खाने-पीनेकी चीज ईश्वरको अर्पण करके ही उपयोगमें लेनी चाहिये।

२४-भूखसे कुछ कम खाना चाहिये।

२५-सदा प्रसन्नतापूर्वक भोजन करना चाहिये।

२६-भोजनके समय क्रोध, शोक, दीनता, द्वेष, हिंसा

आदि भाव मनमें लाना उचित नहीं है; क्योंकि इनके रहनेसे भोजन ठीक नहीं पचता।

२७-भोजन करनेके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँचोंको अवश्य धो लेना चाहिये।

२८-भोजनके पहले और पीछे आचमन जरूर करना चाहिये।

२९-भोजनके बाद कुल्ले करके मुँह साफ करना उचित है; क्योंकि दाँतोंमें अन्न रहनेसे पायरिया आदि रोग हो जाते हैं।

३०-चलते-फिरते और दौड़ते समय एवं अशुद्ध अवस्थामें तथा अशुद्ध जगहमें खाना-पीना नहीं चाहिये; क्योंकि खाते-पीते समय सम्पूर्ण रोम-कूपोंसे शरीर आहार ग्रहण करता है।

३१-स्नान और ईश्वरोपासना किये बिना भोजन नहीं करना चाहिये।

३२-लहसुन, प्याज, अण्डा, मांस, शराब, ताड़ी आदिका सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

३३-लैमनेड, सोडा और बर्फका सेवन नहीं करना चाहिये।

३४-उत्तेजक पदार्थोंका सेवन कदापि न करे।

३५-मिठाई, नमकीन, बिस्कुट, दूध, दही, मलाई, चाट आदि बाजारकी चीजें नहीं खानी चाहिये; क्योंकि दूकानदार लोभवश स्वास्थ्य और शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते, जिससे बीमारियाँ होनेकी सम्भावना रहती है।

३६-बीड़ी, सिगरेट, भाँग, चाय आदि नशीली चीजोंका सेवन कभी न करे।

३७-अन्न और जलके सिवा, किसी और चीजकी आदत नहीं डालनी चाहिये।

३८-दाँतोंसे नख नहीं काटना चाहिये।

३९-दातुन, कुल्ले आदि करनेके समयको छोड़कर अन्य समय मुँहमें अँगुली नहीं देना चाहिये।

४०-पुस्तकके पन्नेको अँगुलीमें थूक लगाकर नहीं उलटना चाहिये।

४१-किसीका भी जूठन खाना और किसीको खिलाना निषिद्ध है।

४२-रेल आदिके पाखानाके नलका अपवित्र जल मुँह धोने, कुल्ला करने या पीने आदिके काममें कदापि न लेना चाहिये।

४३-कभी झूठ न बोले। सदा सत्य भाषण करे।

४४-कभी किसीकी कोई भी चीज न चुराये। परीक्षामें नकल करना भी चोरी ही है तथा नकल करनेमें मदद देना, चोरी कराना है। इससे सदा बचना चाहिये।

४५-माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंकी आज्ञाका उत्साहपूर्वक तत्काल पालन करे। बड़ोंके आज्ञा-पालनसे उनका आशीर्वाद मिलता है, जिससे लौकिक और पारमार्थिक उन्नति होती है।

४६-किसीसे लड़ाई न करे।

४७-किसीको गाली न बके।

४८-अश्लील गन्दे शब्द उच्चारण न करे।

४९-किसीसे भी मार-पीट न करे।

५०-कभी रूठे नहीं और जिद भी न करे।

५१-कभी क्रोध न करे।

५२-दूसरोंकी बुराई और चुगली न करे।

५३-अध्यापकों एवं अन्य गुरुजनोंकी कभी हँसी-दिल्लगी न उड़ाये, प्रत्युत उनका आदर-सत्कार करे तथा जब पढ़ानेके लिये अध्यापक आवें और जायँ, तब खड़े होकर और नमस्कार करके उनका सम्मान करे।

५४-समान अवस्थावाले और छोटोंसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करे।

५५-नम्रतापूर्ण, हितकर, थोड़े और प्रिय वचन बोले।

५६-सबके हितकी चेष्टा करे।

५७-सभामें सभ्यतासे आज्ञा लेकर नम्रतापूर्वक चले। किसीको लाँघकर न जाय।

५८-सभा या सत्सङ्गमें जाते समय अपने पैरका किसी दूसरेसे स्पर्श न हो जाय, इसका ध्यान रखे; अगर किसीको पैर लग जाय तो उससे हाथ जोड़कर क्षमा माँगे।

५९-सभामें बैठे हुए मनुष्योंके बीचमें जूते पहनकर न चले।

६०-सभामें भाषण या प्रश्नोत्तर सभ्यतापूर्वक करे तथा सभामें अथवा पढ़नेके समय बातचीत न करे।

६१-सबको अपने प्रेमभरे व्यवहारसे संतुष्ट करनेकी कला सीखे।

६२-आपसी कलहको पास न आने दे। दूसरोंके कलहको भी अपने प्रेमभरे बर्ताव और समझानेकी कुशलतासे निवृत्त करनेका प्रयत्न करे।

६३-कभी प्रमाद और उद्दण्डता न करे।

६४-पैर, सिर और शरीरको बार-बार हिलाते रहना आदि आदतें बुरी हैं। इनसे बचे।

६५-कभी किसीका अपमान या तिरस्कार न करे।

६६-कभी किसीका जी न दुखाये।

६७-कभी किसीकी दिल्लगी न करे।

६८-शौचाचार, सदाचार और सादगीपर विशेष ध्यान रखे।

६९-अपनी वेश-भूषा अपने देश और समाजके अनुकूल तथा सादी रखे। भड़कोले, फैशनदार और शौकीनीके कपड़े न पहने।

७०-इत्र, फुलेल, पाउडर और चर्बीसे बना साबुन, वैसलीन आदि न लगाये।

७१-जीवन खर्चीला न बनाये अर्थात् अपने रहन-सहन, खान-पान, पोशाक-पहनाव आदिमें कम-से-कम खर्च करे।

७२-शरीरको और कपड़ोंको साफ तथा शुद्ध रखे।

७३-शारीरिक और बौद्धिक बल बढ़ानेवाले सात्त्विक खेल खेले।

७४-जूआ, ताश, चौपड़, शतरंज आदि प्रमादपूर्ण खेल न खेले।

७५-टोपी और घड़ीका फीता, मनीबेग, हैंडबेग, बिस्तरबन्ध, कमरबन्ध और जूता आदि चीजें यदि चमड़ेकी बनी हों तो उन्हें प्रयोगमें न लाये।

७६-सिनेमा-नाटक आदि न देखे; क्योंकि इनसे जीवन खर्चीला तो बनता ही है, शौकीनी, अभक्ष्य-भक्षण, व्यभिचार आदि अनेक दोष आ जानेसे पापमय भी बन जाता है।

७७-बुरी पुस्तकों और गन्दे साहित्यको न पढ़े।

७८-अच्छी पुस्तकोंको पढ़े और धार्मिक सम्मेलनोंमें जाय।

७९-गीता, रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थोंका अभ्यास अवश्य करे।

८०-पाठ्य-ग्रन्थ अथवा धार्मिक पुस्तकोंको आदरपूर्वक ऊँचे आसनपर रखे; भूलसे भी पैर लगनेपर उन्हें नमस्कार करे।

८१-अपना ध्येय सदा उच्च रखे।

८२-अपने कर्तव्यपालनमें सदा उत्साह तथा तत्परता रखे।

८३-किसी भी कामको कभी असम्भव न माने; क्योंकि उत्साही मनुष्यके लिये कठिन काम भी सुगम हो जाते हैं।

८४-किसी भी कामको करनेमें भगवान् श्रीरामको आदर्श माने।

८५-भगवान्‌को इष्ट मानकर और हर समय उनका आश्रय रखकर कभी चिन्ता न करे।

८६-अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करे। यथासम्भव दूसरेसे अपनी सेवा न कराये।

८७-सदा अपनेसे बड़े और उत्तम आचरणवाले पुरुषोंके साथ रहनेकी चेष्टा करे तथा उनके सद्‌गुणोंका अनुकरण करे।

८८-प्रत्येक कार्य करते समय यह याद रखे कि भगवान् हमारे सम्पूर्ण कार्योंको देख रहे हैं और वे हमारे अच्छे और बुरे कार्योंका यथायोग्य फल देते हैं।

८९-सदा प्रसन्नचित्त रहे।

९०-धर्मपालन करनेमें प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहे।

९१-न्याययुक्त कार्य करनेमें प्राप्त हुए कष्टको तप समझे।

९२-अपने-आप आकर प्राप्त हुए सङ्कटको भगवान्‌का कृपापूर्वक दिया हुआ पुरस्कार समझे।

९३-मनके विपरीत होनेपर भी भगवान्‌के और बड़ोंके किये हुए विधानमें कभी घबराये नहीं, अपितु परम संतुष्ट रहे।

९४-अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न करे।

९५-दूसरोंको छोटा मानकर उनका तिरस्कार न करे।

९६-किसीसे घृणा न करे।

९७-अपना बुरा करनेवालेके प्रति भी उसे दुःख पहुँचानेका भाव न रखे।

९८-कभी किसीके साथ कपट, छल, धोखेबाजी और विश्वासघात न करे।

९९-ब्रह्मचर्यका पूरी तरहसे पालन करे। ब्रह्मचारीके लिये शास्त्रोंमें बतलाये हुए नियमोंका यथाशक्ति पालन करे।

१००-इन्द्रियोंका संयम करे। मनमें भी किसी बुरे विचारको न आने दे।

१०१-अपनेसे छोटे बालकमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसको समझाये अथवा उस बालकके हितके लिये अध्यापकको सूचित कर दे।

१०२-अपनेसे बड़ेमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसके हितैषी बड़े पुरुषको नम्रतापूर्वक सूचित कर दे।

१०३-अपनी दिनचर्या बनाकर तत्परतासे उसका पालन करे।

१०४-सदा दृढ़प्रतिज्ञ बने।

१०५-प्रत्येक वस्तुको नियत स्थानपर रखे और उनकी सम्हाल करे।

१०६-सायंकाल संध्याके समय भगवान्‌के *'हरे राम'* मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपे और जिसका यज्ञोपवीत हो गया है, उसको सूर्यास्तके पूर्व संध्या-वन्दन तथा कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये।

१०७-अपनेमेंसे दुर्गुण-दुराचार हट जायँ और सद्गुण-सदाचार आयें, इसके लिये भगवान्‌से सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे और भगवान्‌के बलपर सदा निर्भय रहे।

१०८-अपने पाठको याद करके भगवान्‌का नाम लेते हुए सोये।

संस्कारस्त्रोत

(संत श्रीविनोबा भावे)

हिन्दुस्तान कभी अशिक्षित और असंस्कृत नहीं रहा। हर एकको अपने-अपने घरमें शुद्ध संस्कार प्राप्त हुए हैं। जो बड़े-बड़े पराक्रमशाली लोग हुए, उनके कुलके संस्कार भी अच्छे थे। कुछ गुदड़ीके लाल भी निकलते हैं; क्योंकि उनकी आत्मा स्वभावतः महान् और बड़ी विलक्षण होती है। इस तरह कुछ अपवादोंको छोड़ दें तो सभी संतोंमें उनके कुलके संस्कार दिखायी पड़ते हैं। संस्कारोंसे जो शिक्षण प्राप्त होता है, वह और किसी पद्धतिसे नहीं। कुलपरम्परामें ज्ञानके संस्कारकी तरह भक्तिका भी संस्कार हो सकता है। श्रीतुकारामजीने कहा है—*'भक्ति पंथ बहु सोथ।'* समाजमें किस तरह भक्तिभाव स्थापित होगा? भक्तिके लिये मुहूर्त, शुभ काल आदिका कोई प्रश्न नहीं। तत्परता या लगनसे सेवामें खप जाना चाहिये, छोटी-बड़ी सब तरहकी सेवा करनी चाहिये। यह बात परिवारमें सिखलाना सम्भव है। दोनों हाथोंसे काम करनेकी सेवाकी भक्तिका अर्थ है—घट-घटमें भगवान्‌को देखनेकी इच्छा। इसके लिये स्कूलमें भी ये संस्कार दिये जा सकते हैं, लेकिन ये बातें बचपनमें ही होनी चाहिये। पालनेसे ही भक्तिका पाठ पढ़ाना चाहिये। माँके दूधके साथ ही कर्तव्य-बोध होना चाहिये। उसके बिना सर्वोदयका शुभ काम नहीं हो सकता। पहलेके भक्तशिरोमणियों, वैष्णवोंमें परम स्नेह पाया जाता था। सेवकोंमें भी हमें वह प्राप्त होना चाहिये। इसीलिये सर्वत्र 'सर्वोदय-पात्र' की योजना की गयी है। उसके आधारपर सेवकवर्ग खड़ा करना है, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि छोटे बच्चेके हाथसे प्रतिदिन एक मुट्ठी अनाज डालना। यह मुट्ठी परलोकके लिये नहीं है, बल्कि इसके द्वारा समाजकी सेवाकी भावना दृढ़ हो, इसी इच्छासे ऐसी योजना है। समाजके नीचेके स्तरमें ऐसी व्यापक भक्ति-भावना है, लेकिन कार्यकर्ता ऊपरके स्तरमें ही संचार करते हैं। वे अगर उनके बीच जायँ तो देशकी गुप्तशक्ति प्रकट हो उठे। हमारी आध्यात्मिक शक्ति समाजसेवामें प्रकट होनी चाहिये। गाँधीजीने शराब-बंदी-आन्दोलनके समय शराबकी दूकानोंपर सत्याग्रह करनेके लिये स्त्रियोंको भेजा। सुननेवालोंको क्षणभर तो यह बड़े आश्चर्यकी, बेतुकी-सी बात मालूम हुई, लेकिन अँधेरा मिटानेके लिये प्रकाशको ही आगे लाना पड़ता है। कुल एवं शीलहीन शराबियोंको उससे निवृत्त करनेके लिये कुल-शीलवती स्त्रियाँ ही विशेष काम आ सकती हैं। स्त्रीसुधारके प्रमुख नेता श्रीअण्णासाहेब तो कहते हैं कि जो काम हमलोग इतने दिन श्रम करके भी नहीं कर सके, वह गाँधीजीने कर दिखाया। हिन्दुस्तानकी स्त्रियोंमें कितना दिव्य तेज है, यह उन्होंने दिखला दिया। सारांश, इसी तरह हिन्दुस्तानकी शक्ति छिपी हुई है; उसे बाहर निकालनेके लिये कुलका संस्कार और भक्तिका प्रचार होना चाहिये। सर्वोदय-यात्राका काम करनेके लिये सेवकोंको भक्तिभावसे भरा होना चाहिये। अगर वे भक्तिभावसे भर जायँगे, एक-दूसरेसे प्रेम करना सीखेंगे तो उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा कि हिन्दुस्तानकी यह कितनी विलक्षण शक्ति है। [साभार—संस्कार-सौरभ]

संस्कारोंकी स्वरूप-मीमांसा

(डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र)

हिन्दू-जीवन संस्कारोंको बहुत महत्त्व देता है। षोडश संस्कार तो प्रसिद्ध हैं ही, पर इन्हींकी तरह और भी संस्कार होते हैं, जो नियतकालिक न होकर अवसरविशेष या यज्ञविशेषके लिये अपेक्षित होते हैं जैसे सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ, सात सोमयज्ञ। अशौचनिवृत्तिहेतु किये गये अनुष्ठान भी एक विशेष प्रकारके दीक्षात्मक संस्कार हैं। कुछ लोग वानप्रस्थ और संन्यासको भी संस्कार मानते हैं; क्योंकि उनके द्वारा जीवनकी प्रक्रियामें नया मोड़ लाना सम्भव होता है। संस्कारमें दो बातें सम्मिलित होती हैं—एक तो अनुष्ठान करते समय विश्वास कि यह अनुष्ठान अभीष्ट पुरुषार्थकी पूर्तिमें सहायक होगा; दूसरे, यह बोध होना कि यह अनुष्ठान जीवनसे सम्बद्ध सोपानका प्रतीक है।

षोडश संस्कारोंमें गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और कुछ लोगोंके मतसे विष्णुबलि भी जन्मसे पूर्व किया जानेवाला संस्कार है। यहाँ संक्षेपमें इनकी चर्चा प्रस्तुत है—

गर्भाधान-संस्कार—इस संस्कारमें प्रजापतिके व्याहृति मन्त्रोंके उच्चारणद्वारा प्रजापतिके आह्वानका विधान है। इसका अर्थ यह है कि प्रजननका कार्य तीनों लोकोंमें आत्म-विस्तारका कार्य है और इस भावनासे संस्कृत होकर प्रजननका व्यापार एक पवित्र व्यापार है।

पुंसवन-संस्कार—यह संस्कार गर्भके तीसरे मासमें पुत्र-संतान उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे किया जाता है। पितृसत्तात्मक हिन्दू-समाजमें 'पुत्र' संतानका महत्त्व अधिक रहा है, इसलिये इस संस्कारका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कार हस्त, मूल, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशिरा, पुष्य—इनमेंसे किसी एक नक्षत्रमें पति या उसके वंशका कोई पुरुष सम्पन्न करता है। वह दूधवाले वृक्षकी टहनी स्त्रीकी दाहिनी नाकमें डालकर जीव-पुत्र मन्त्रका उच्चारण करता है तथा प्रजापतिकी प्रार्थना करता है।

सीमन्तोन्नयन-संस्कार—इस संस्कारमें पुरुष दूबके तीन तिनकोंसे या फलयुक्त गूलरकी टहनीसे स्त्रीकी माँग बीचमेंसे विभाजित करता है और व्याहृति मन्त्रका उच्चारण करता है। इसके साथ-ही-साथ वीणा-वादन होता रहता है और पुरुष अपने क्षेत्रमें बहनेवाली नदीका नाम लेता है, फिर स्त्रीके सिरमें जौके नये अङ्कुर बाँध दिये जाते हैं और वह नक्षत्र दिखायी देनेतक मौन रहती है। फिर तारे दिखायी देनेपर पुरुष स्त्रीके साथ पूर्व दिशामें जाकर एक बछड़ेका स्पर्श करता है, तब स्त्री मौन तोड़ती है।

विष्णुबलि-संस्कार—यह संस्कार गर्भसे आठवें महीनेमें किया जाता है, इसमें पद्म या स्वस्तिकाकार वेदी बनाकर भात (ओदन)-की चौंसठ आहुतियाँ विष्णुको दी जाती हैं। यह संस्कार पोषणकर्ता विष्णुके प्रति अभ्यर्थनाके निमित्त किया जाता है।

जातकर्म-संस्कार—पुत्र-जन्मपर यह संस्कार होता है, जिसमें आगमें सरसोंकी धूनी दी जाती है और पुत्रका पिता पृथ्वीसे प्रार्थना करता है कि वह संतानसे वियोग न होने दे। साथ ही एक पत्थरपर कुल्हाड़ी और उसपर सोना रखा जाता है, फिर उसे उलट दिया जाता है, जिससे पत्थर ऊपर आ जाता है और इस पत्थरपर नवजात शिशुको रखकर कहा जाता है—पत्थरकी तरह दृढ़, लोहेकी तरह रक्षक और कञ्चनकी तरह तपानेपर भी कान्तिमय बने रहो, सौ वर्ष जियो—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम्॥

नामकरण-संस्कार—नामकरण-संस्कार दसवें या बारहवें दिन प्रसूतिकाके तीन स्नानके बाद सम्पन्न किया जाता है। इस समय अग्नि स्थापित की जाती है और उसमें आहुति देकर पृथ्वी तथा वरुणकी प्रार्थना की जाती है। इसके बाद दो या चार अक्षरका नाम दिया जाता है। दो प्रकारके नाम दिये जाते हैं—एक, जन्म-नक्षत्रका नाम जो गुह्य होता है। दूसरा, पुकारका नाम व्यवहारके लिये है। किसी-किसी गृह्यसूत्रके अनुसार कन्याका नाम तीन या पाँच अक्षरका होना चाहिये। नामको संस्कार मानना हिन्दू-चिन्तनका द्योतक है। इसके लिये नाम केवल शब्द ही नहीं, एक कल्याणमय विचार भी है। नाम देते समय यह

भी ध्यान दिया जाता है कि संतानके पिता या पितामहके एकाध नामाक्षर भी उसमें आ जायँ, जिससे कि वह नाम एक सातत्यका सूचक हो। 'कृत्' प्रत्ययमें नामका अन्त होना चाहिये, जिससे क्रियाशीलता बच्चेके जीवनमें आये।

निष्क्रमण-संस्कार—निष्क्रमण-संस्कार लोकाचार ही अधिक है। प्रायः घरसे बाहर नवजात शिशुको खुलेमें ले जानेका संस्कार है। आँगन या घरके सामने सफाई करके उसपर स्वस्तिक-चिह्न बनाया जाता है, धानके लावे बिखेरे जाते हैं, तब उस स्थानपर बच्चा लाया जाता है और उसे सूर्य-दर्शन कराया जाता है। इसका अभिप्राय असत्के गर्भसे सत्के प्रकाशमें बच्चेको लाना है।

अन्नप्राशन-संस्कार—प्रायः छठे महीनेमें बच्चेको सबसे पहले अन्न दिया जाता है और वह अन्न प्रायः दूधमें पके चावलकी खीर होती है। इसमें तीन मन्त्र पढ़े जाते हैं, जिनका अर्थ है—हमें शक्ति मिले, भोजनका स्वाद मिले, सुगन्धिका आनन्द मिले। इस संस्कारका उद्देश्य यह है कि अन्न हिन्दूके लिये स्वयं एक पवित्र वस्तु है, इसलिये उसका प्रथम आस्वाद कराते समय उसके माधुर्यका परिचय कराना, उसके रसका परिचय कराना, उसकी गन्धका परिचय कराना और उसके तेजका परिचय कराना तथा उसके उष्ण स्पर्शका परिचय कराना है और इस मन्त्र-शक्तिकी ध्वनिका परिचय कराना—ऐन्द्रिक अनुभवके भरे-पूरे संसारमें उसे दीक्षित करनेके लिये है। आजकल जातकर्म, नामकरण और निष्क्रमण एक ही साथ सम्पन्न होते हैं तथा अन्नप्राशन अलग सम्पन्न होता है। इन सभी संस्कारोंके साथ पितरोंका श्राद्ध, देवपूजन और बन्धु-बान्धवों तथा पुरोहितको भोजन भी कराया जाता है।

चौलकर्म-संस्कार—यह पहले, तीसरे, पाँचवें वर्षमें जन्मकालिक केशोंका मुण्डन-संस्कार है। ये केश एक प्रकारसे पूर्वकालिक अशुचिताके अवशेष माने जाते हैं और इनके मुण्डनका उद्देश्य स्वास्थ्य तथा शरीरका नया संस्कार ही है। इसी समय शिखा भी रखी जाती है। इसकी प्रक्रिया यह है कि तीन बार ठण्डे और गर्म जलकी धार बच्चेके केशोंपर छोड़कर वायुकी आराधना की जाती है और दही तथा जलसे बाल धोये जाते हैं तथा अदितिकी स्तुति की जाती है। बालोंको कुशासे बाँधे रखते हैं और एक-एक बार उन लटोंको काटते हुए शमी वृक्षकी पत्तियोंके साथ केश काटनेवाला बालककी माताको सौंपता जाता है और इसके बाद वह उनको गोबरसे चिपका देती है। छुरेकी धार पोंछते हुए यह कहा जाता है कि इसका सिर पवित्र हो, यह दीर्घजीवी हो। बालकोंके चोटी छोड़ दी जाती है। पहले एक शिखासे पाँचतक गोत्रानुसार छोड़ते थे, अब एक छोड़ी जाती है। कहीं-कहीं पहले मुण्डनमें नहीं वरन् दूसरी बारके मुण्डनमें शिखा छोड़ते हैं। यह मुण्डन बालिकाओंका भी होता है, किंतु उनकी शिखा नहीं छोड़ी जाती।

विद्यारम्भ या अक्षरारम्भ-संस्कार—यह प्रायः चौलकर्मके साथ ही होता है। इसमें विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, ऋषियों और कुलदेवताकी स्तुति की जाती है और विष्णु, लक्ष्मी तथा सरस्वतीको घृतकी आहुति दी जाती है। बिखेरे हुए पीले चावलोंपर सोनेकी लेखनी या किसी फलवाले वृक्षकी टहनीसे '**ॐ सरस्वत्यै नमः, श्रीगणेशाय नमः, ॐ नमः सिद्धाय**' बालककी उँगली पकड़कर लिखाये जाते हैं। श्रुतिसे इतर विद्याकी शिक्षा इसी समयसे शुरू हो जाती है।

कर्णवेध-संस्कार—जन्मसे लेकर पाँचवें-छठे वर्षके भीतर कभी भी करनेका विधान है। वस्तुतः कर्णवेध आयुर्वेदका एक विधान है, कई रोगोंके लिये यह निवारकका काम करता है। इसीलिये यह बालक तथा बालिका—दोनोंके लिये है।

उपनयन-संस्कार—उपनयनका अर्थ होता है, गुरुके पास ले जाना। अथर्ववेदमें उल्लेख आता है—आचार्य ब्रह्मचारीका उपनयन करते हुए मानो उसे गर्भमें धारण करता है। तीन रात अपने उदरमें रखता है, बाहर आनेपर उसे देखनेके लिये देवताओंकी भीड़ जमा हो जाती है। इसका महत्त्व सबसे अधिक इसलिये है कि यह मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेशका द्वार है। इसके बाद उसका पुनर्जन्म होता है, एक प्रकारसे प्राकृत शरीरकी मृत्यु और उसमेंसे एक नये भावका आविर्भाव होता है। एक प्रकारसे स्वच्छन्दतामें स्वतन्त्रताके संक्रमणका यह प्रारम्भिक बिन्दु है। स्वच्छन्दताका अर्थ है, बन्धन अस्वीकारना और स्वतन्त्रताका अर्थ है, आत्मसंयमसे अपनी तथा समष्टिकी इच्छाको जोड़ना। इसके बाद ही वेदाध्ययनका अधिकार है। इसके पूर्व अपरा या लोकविद्या तो अर्जित की जा सकती थी, पर परा या लोकोत्तर नहीं। यह दीक्षा

सावित्रीदीक्षा है, उस सविताकी दीक्षा है, जो अपने बाहरी प्रकाशसे भीतरी प्रकाशको सक्रिय बनाते हैं और उस भीतरी प्रकाशको सक्रिय बनाकर मनुष्यको अपने प्रकाशसे विश्वको आलोकित करनेके लिये प्रेरित करते हैं। इसीलिये यह सवितासे प्रेरित मन्त्र—गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा है। इस उपनयनके साथ-ही-साथ यज्ञोपवीत, मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड धारण भी होता है।

यज्ञोपवीतके तीन सूत्र होते हैं—और प्रत्येक सूत्रमें पुनः तीन सूत्र होते हैं। इसमें तीन गाँठें रखी जाती थीं और इन गाँठोंको सोमकी नीवि (गाँठ) कहा जाता है। वस्तुतः यज्ञकी दीक्षा लेते समय ही यह मेखला बाँधी जाती थी और मेखला बाँधते समय यज्ञकर्ता प्रजापतिके रूपमें अपनी अवधारणा करता था। वह प्रजापतिकी पूरी वेश-भूषा धारण करता था और इस रूपमें उसका नया जन्म होता था, उसके पूर्व शरीरकी मृत्यु हो गयी मानी जाती थी। उपनयनके साथ यज्ञोपवीतको जोड़नेका यही अर्थ है कि जैसे बच्चा अपने नालसूत्रसे पोषण करनेवाली मातासे सम्बद्ध रहता है और उसके छेदनसे वह स्वतन्त्र हो जाता है, वैसे यज्ञ-ब्रह्मसे सम्बन्ध बनाये रखनेके लिये एक सूत्र आवश्यक होता है और जब उसके पोषणकी आवश्यकता नहीं रह जाती, अहंता और ममताका त्याग हो जानेपर संन्यासमें प्रवेशके पूर्व इस सूत्रका भी त्याग कर देना होता है। यह सूत्र एक प्रकारसे प्रजापतिके साथ तादात्म्यका स्मरण दिलानेवाला है, देवकार्य करते समय दाहिना कन्धा मुक्त रखा जाता है, पितृकार्य करते समय बायाँ कन्धा और दिव्य-मनुष्य-तर्पण करते समय इसे मालाकी तरह धारण किया जाता है। अपसव्य या पितृकार्यमें यज्ञोपवीतका दायें कन्धेपर रखनेका अर्थ सम्भवतः देवगति (बायेंसे दायें)-का पूरक बनना है (दायेंसे बायें), एक आगे जाना है, एक पीछे देखना है। यज्ञोपवीतके लिये कन्धे बदलना एक प्रतीकात्मक सङ्केतमात्र है। मल-मूत्र-त्यागके समय इसे दाहिने कानपर धारण किया जाता है, इसके पीछे वृत्ति-निरोधकी ही भावना सम्भवतः हो सकती है। उपनयनमें यज्ञोपवीतके बाद ब्रह्मचर्य-आश्रममें प्रवेशका अधिकार होता है। ब्रह्मचर्यका अर्थ ब्रह्म (प्रजापति) होकर कार्य करना, जिसमें स्वाध्यायके साथ-साथ सारे विश्वसे भिक्षा माँगनेका भाव निहित है; क्योंकि सबसे लेनेसे ही अध्ययनमें उदार दृष्टि, आगेकी बात सोची जा सकती है।

वेदारम्भ-संस्कार—इसमें चार प्रकारके वेदव्रतोंका आरम्भ सम्मिलित है। महानाम्नी, महाव्रत, उपनिषद् और गोदान—ये चार व्रत कहे गये हैं। इस संस्कारके समय गुरु शिष्यको अग्निके पास बैठाता है और निर्दिष्ट देवताके लिये उससे घृतकी आहुति दिलवाता है। इसके साथ ही वेद-राशिरूपी आलोकित ज्ञानके लिये और प्रजापतिके लिये होम भी किया जाता है, तदनन्तर संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्की तथा व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, शिक्षा, कल्प, निरुक्त—इन वेदाङ्गोंकी शिक्षा आरम्भ होती है।

केशान्त या गोदान-संस्कार—पहले यह दाढ़ी-मूँछके केश दीखनेपर किया जाता था और यह प्रायः सोलहवें वर्षमें सम्पन्न होता था। इस समय एक बार केशवपन होता, तदनन्तर गोदान करके किशोर नयी अवस्थामें प्रवेश करनेका सङ्कल्प लेता था। पहले अध्ययनका कार्य बारहसे सोलह वर्षतक रहता था और अध्ययनके बीचमें ही यह संस्कार सम्पन्न होता था, पर अब यह भी यज्ञोपवीतके साथ प्रतीकात्मक रूपमें कर दिया जाता है।

समावर्तन-संस्कार—समावर्तनका अर्थ घर लौटना है। गुरुकुलसे लौटनेपर पहला स्नान करके व्यक्ति ब्रह्मचारीके परिधानका त्याग करता है और गृहस्थपरिधान धारण करनेका उपक्रम करता है। इसका मुख्य अनुष्ठान था स्नान। अतः लौटनेवाला 'स्नातक' कहा जाता था अर्थात् विद्यारूपी प्रवाहमें स्नान कर यह लौट रहा है, यह भाव रहता था। विद्यार्थी इस संस्कारके अवसरपर छाता, जूता, छड़ी, माला, पगड़ी, आभूषण धारण करता है और गुरुको भी भेंटमें यही देता है। इस संस्कारमें मित्र और वरुण देवताओंकी स्तुतिका विधान है। इनके साथ-साथ स्तुतिके कई सूक्त ऋग्वेदमें मिलते हैं।

विवाह-संस्कार—विवाह इस समय सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार है; क्योंकि यही एक ऐसा संस्कार है जो सभी वर्णोंमें समानरूपसे विशद अनुष्ठानके साथ सम्पन्न होता है और इसकी विधिकी पूर्णताकी चिन्ता सबको रहती है। विवाह स्त्री-पुरुष-सम्बन्धको सामाजिक मान्यता तो प्रदान करता ही है, साथ ही गृहस्थाश्रममें प्रवेशके लिये स्त्री-पुरुषके साहचर्य और सहधर्माचरणकी भूमिका भी तैयार

करता है। विवाहके लिये कई शब्दोंका प्रयोग मिलता है—उद्वाह—इसका अर्थ है कन्याको ऊपर ले जाना; विवाह—इसका अर्थ है कन्याको विशेष प्रयोजनसे ले जाना, परिणय—इसका अर्थ है किसीके साथ परिक्रमा करना और पाणिग्रहण—इसका अर्थ है हाथ पकड़ना। हिन्दूविवाह-संस्कारके कर्मकाण्डके विशद होनेके पीछे चार भावनाएँ काम करती हैं—पहली तो यह कि विवाहके द्वारा दो कुल सम्बद्ध होते हैं और विवाहसे उत्पन्न होनेवाली संतान दोनों कुलोंको आगे बढ़ानेवाली होती है।

दूसरी भावना यह है कि स्त्री-पुरुष मिलकर पूर्ण इकाई बनते हैं और यज्ञ, वह चाहे वैदिक हो, चाहे स्मार्त या पूरा जीवन यज्ञरूपमें भावित क्यों न हो, बिना सहधर्मचारिणीके नहीं किया जा सकता। हिन्दू-धर्ममें सौभाग्यकी देवता गौरी, शिवके आधे अङ्गके रूपमें स्थित मानी जाती हैं, इसीलिये स्त्रीको अर्द्धाङ्गिनी माना जाता है, इसीमें उसकी शोभा है और पुरुषकी भी शोभा है, कोई भी अर्धभाग बेहतर या बदतर नहीं है, दोनों समान हैं।

तीसरी भावना यह है कि विवाह एक आहुतिकी तैयारी है, जिसमें पति-पत्नी दोनों सहभागी होते हैं, जिसमें परिवार, गाँव, जनपद, देश, विश्वके प्रति उत्सर्ग करनेकी भावना प्रारम्भ करते हैं। चौथी भावना यह है कि विवाह एक स्थायी सम्बन्ध है। विवाहके समय ध्रुवका दर्शन कराना, अरुन्धतीका दर्शन करानेके पीछे यही एक अभिप्राय निहित रहता है। विवाहका विधिवत् संस्कार तो मात्र ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—इन चार प्रकारोंमें ही होता है और इस विधिवत् संस्कारमें मुख्य हैं—वाग्दान, मण्डप-निर्माण और देवपूजा, आभ्युदयिक या वृद्धि-श्राद्ध, वर-पूजन, गोत्रोच्चारपूर्वक कन्यादान और पाणिग्रहण, अग्नि-प्रदक्षिणा, लाजाहोम, सप्तपदी, अश्मारोहण, हृदयस्पर्श, ध्रुवदर्शन। कहीं-कहीं सिन्दूर-दान, त्रिरात्रव्रत और चतुर्थीकरण भी जुड़ते हैं। इनमें भी चार अत्यन्त आवश्यक हैं, इनके बिना विवाह अपूर्ण माना जाता है। ये चार हैं—कन्याका पाणिग्रहण, जिसमें पिता वरसे कहता है, तुम अपनी विवाहितासे धर्म, अर्थ, कामका छल नहीं करोगे और वर प्रतिज्ञा करता है—'छल नहीं करूँगा'। इसी समय पिता कन्याका हाथ वरके हाथमें देता है और वर तथा कन्याकी तीन पीढ़ियोंका स्मरण करते हुए दोनों कुलोंको याद किया जाता है।

लाजाहोम—इसमें भुने हुए धानके लावासे तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। तीन दायें और एक बायें और इसी समय वर-वधू प्रदक्षिणा करते हैं।

सप्तपदी—वेदीपर स्थापित अग्निसे उत्तरकी ओर चावलकी सात ढेरियोंपर वर-वधू एकके पीछे एक पैर रखते तथा सात प्रतिज्ञा करते हैं। एकके बाद दूसरी प्रतिज्ञा एक-दूसरेके तादात्म्यके स्तरोंकी भावनाके लिये की जाती है। सातवीं प्रतिज्ञा उनके पूर्णरूपसे तादात्म्यकी होती है, बिना इस क्रियाके विवाह पूर्ण नहीं माना जाता। आजकल सप्तपदी और अग्नि-परिक्रमाको मिलाकर सात भाँवरोंके रूपमें कर दिया गया है, पर सप्तपदी वस्तुतः सात प्रतिज्ञाओंका ही द्योतक है। इनके अलावा और अनुष्ठान हैं, उनमें जहाँतक चतुर्थीकर्मका प्रश्न है, वह अब लुप्तप्राय है, इसका प्रयोजन खीरकी आहुति देकर वर-वधूको खिलाना है, जिसके बाद ही उनका शारीरिक सम्बन्ध होना काम्य है। तीन दिनतक इस प्रकारके एकीकरणके पूर्व व्रत करना होता है, जिससे सूचित होता है कि विवाह उद्दाम भोगके क्षेत्रमें प्रवेश नहीं है, यह संयत जीवनके आनन्दकी दीक्षा है।

विवाहके साथ-ही-साथ अधिकतर वधू विदा होती है और उसका प्रथम प्रवेश पतिगृहमें माङ्गलिक विधिसे होता है, उसका स्वागत घरकी लक्ष्मी तथा गृहस्वामिनीके रूपमें किया जाता है। इसी एक भावनाके कारण हिन्दूसमाजमें पुरुषकी प्रधानता होते हुए भी गृह-क्षेत्रमें नारीका सम्मान अधिक है; क्योंकि वह गृहक्षेत्रमें सम्राज्ञी रूपमें है। यही भावना मन्त्रोंद्वारा भरी जाती है और यही भावना हिन्दू-विवाह-सम्बन्धको स्थायी, पवित्र और संतुलित बनाये रखती है।

कुछ लोग वानप्रस्थ और संन्यासको भी संस्कार मानते हैं, पर वानप्रस्थके लिये कोई विशेष विधान नहीं है, केवल घर छोड़कर पति-पत्नी भोगविरत होकर वनमें रहकर देवपूजन करनेका एक सङ्कल्प लेते हैं और परिवारका दायित्व प्रायः बड़े लड़के या कुलके नये कर्ताको सौंप देते हैं।

संन्यास-आश्रम वस्तुतः निर्वर्णताकी स्थितिका प्रारम्भ है, इसीलिये शिखा-सूत्र—सबका परित्याग करना होता है। संन्यासी होनेके विधानमें सबसे पहला यह है कि मनुष्य अपने शरीरको शव मान लेता है और वह

शरीरके रूपमें मृत होकर नारायणके साथ आत्मरूप होकर विचरणका सङ्कल्प लेता है। उसके नियमोंमें काषाय वस्त्र, दण्ड-धारण और परिव्रजन आवश्यक हैं। वह किसी एक व्यक्ति या परिवारपर आश्रित नहीं रहता—पूरे समाजके लिये पूरे समाजपर आश्रित रहता है। वह प्रत्येक व्यक्तिमें नारायणको देखता है और अग्निका स्पर्श नहीं करता। अग्निका स्पर्श करनेका अर्थ है—कर्मका स्पर्श और वह कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ, दोनोंको ज्ञानकी अग्निमें झोंककर ही संन्यास लिया जाता है। इसीलिये संन्यासीका अग्नि-संस्कार नहीं होता, उसका शव प्रवाहित कर दिया जाता है।

अन्त्येष्टि-संस्कार—अन्त्येष्टि शब्दका अर्थ है, अन्तिम यज्ञ। हिन्दूधर्म जीवनकी निरन्तरतामें विश्वास करता है, इसलिये मृत्युको वह एक अर्द्धविराममात्र मानता है, अवसान नहीं मानता, इसे दूसरे जन्ममें प्रवेशका द्वार मानता है, जीवनकी समाप्ति नहीं मानता। हाँ, उसे स्थूल-शरीरकी समाप्ति मानता है और मृत्युके बाद स्थूल-शरीरको वह अशुचि मानता है, उसे छूनेमें अपवित्रताका संसर्ग मानता है। मृत शरीरका दाह या प्रवाह करनेके पीछे भावना यही है कि कारण-शरीरके छोड़ देनेपर स्थूल-शरीर हेय है, वह पञ्चतत्त्वोंका बना है, उसे पञ्चतत्त्वोंको सौंप देना चाहिये। अग्नि पावक है, पवित्र करती है, अतः अग्निको सौंपनेसे अधिक शुद्धरूपमें शरीरके तत्त्व वितरित होंगे, इसी भावनासे दाह ही मुख्य विधि है। प्रवाह, संन्यासीके शरीरका ही प्रायः होता है। उसका प्रयोजन यह है कि संन्यासी शुद्धरूपसे दूसरोंके लिये जीता है। वह पवित्र है, उसका मृत शरीर भी जलचर प्राणियोंके काम आये, इसलिये उसे प्रवाहित किया जाय। दूसरे, यह भी है कि संन्यासी संन्यास आश्रममें प्रवेश करनेके पूर्व अग्नि-परित्याग कर चुका होता है, एक प्रकारसे उसका तप शान्त हो गया होता है, वह अग्निके व्यक्तरूपको छोड़कर जलके अव्यक्तरूपमें प्रविष्ट हो चुका होता है, वह सनातन प्रवाह हो चुका होता है, इसलिये भी उसके शरीरको जलमें प्रवाहित करनेकी संगति है।

अग्नि-संस्कारके बाद जो भी अनुष्ठान होते हैं, वे पिण्डदानात्मक हैं, दस दिनोंतक निरन्तर एक-एक पिण्ड दिया जाता है, दाहतक ६ पिण्ड शवयात्राके दौरान दिये जाते हैं और इन सोलहके द्वारा कारण-शरीरका पुनःसंयोजन और पोषण प्रयोजित होता है। इसके बाद सपिण्डीकरण श्राद्धके द्वारा मृत व्यक्तिको पितरोंकी श्रेणीमें प्रवेश दिलाया जाता है, सपिण्डीकरणके पूर्व उसकी 'प्रेत' संज्ञा रहती है। वह शरीर और भावनारूप अस्तित्वके बीचमें लटका रहता है, पितर होते ही वह एक भावनात्मक अस्तित्व बन जाता है, प्रेतदशामें उसकी आसक्ति शरीरसे बनी रहती है। प्रेतत्वमुक्तिका अर्थ है—जीवको संचरणके लिये मुक्ति दिलाना। इसके बाद उस जीवकी स्मृति एक ऐसी शक्तिके रूपमें सुरक्षित की जाती है, जो चार पीढ़ियोंतकके मानवीय अस्तित्वके साथ सहभोक्त्री हो सके, सहपिण्ड-भागी या सपिण्ड हो सके। सपिण्डीकरण अनुष्ठानमें इसीलिये प्रेत-पिण्डको पितरोंके पिण्डके साथ मिलाया जाता है। ये प्रतीकात्मक अनुष्ठान उन पीढ़ियोंके साथ अपना एकीकरण स्थापित करनेके लिये हैं, जिनके जीवकोश (gene) व्यक्तिमें संक्रान्त हुए हैं। हिन्दूधर्म सूक्ष्मको स्थूलमें और स्थूलको सूक्ष्ममें मन्त्रभावनासे रूपान्तरित करनेमें विश्वास करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सूक्ष्मको स्थूल या स्थूलको सूक्ष्म देखता है। इसका प्रमाण यह है कि हिन्दूधर्म स्थूल पिण्ड भी इस सूक्ष्म भावनासे देता है कि इसका सूक्ष्म रस सूक्ष्मभावसे वर्तमान पितृसत्ताको मिलेगा और उस समय उसके लिये यदि पिता स्थूल आकार ग्रहण करके आयें भी तो वे वास्तविक रूपसे पिण्डके भागी नहीं होंगे, अपितु पिण्डभागी होगी आसनपर भावनाद्वारा उपस्थापित सूक्ष्म उपस्थिति। श्राद्धकर्म जिस तृप्ति और पोषणके लिये किया जाता है, उस तृप्तिका हिस्सेदार श्राद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं होता है, इसीसे श्राद्धपिण्डको अन्तमें सूँघनेका विधान है। श्राद्ध-संस्कार एक परम्पराकी पूर्णताकी अनुस्मृतिका अनुष्ठान है।

हिन्दूधर्मका स्वरूप बाह्य दिखता है, पर वस्तुतः वह बाह्य न होकर आभ्यन्तर है, यह परोक्षका प्रत्यक्ष अनुभव है।

~~~o~~~
~~~

विवाह-संस्कार

[अपने शास्त्रोंमें अनेक संस्कारोंका वर्णन है। संसारमें जीवन-यापनकी दृष्टिसे सर्वसाधारण विवाह-संस्कारको सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते हैं। भारतीय संस्कृतिमें विवाह कामाचार एवं भोगका साधन नहीं, यह दो आत्माओंका पवित्र मिलन है, जो देवता और अग्निकी साक्षीमें सम्पन्न होता है। विवाह-संस्कारपर कुछ महापुरुषोंके विचार उपलब्ध हैं, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—सं०]

विवाह-संस्कार

(शृङ्गेरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराज)

परस्परतपस्सम्पत्फलायितपरस्परौ ।
प्रपञ्चमातापितरौ आद्यौ जायापती स्तुमः॥

मनुष्यके लिये धर्माचरणपूर्वक जीवन बिताकर परम लक्ष्य—परम तत्त्वको प्राप्त करनेमें अपनी स्थितिके अनुसार चार आश्रमोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है। ये चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास हैं। हर एक आश्रम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है। ब्रह्मचर्यमें विद्या सीखनी है। सीखी हुई विद्याकी अनुभूति और पितृ-ऋण-विमोचनार्थ संतति-प्राप्ति गृहस्थाश्रममें करनी है। वानप्रस्थमें भगवच्चिन्तन करते-करते मनके सारे वेगोंको नष्टकर तीव्र वैराग्य प्राप्त करना है और संन्यासमें आत्मस्वरूपको जानकर परमानन्द-सागरमें विलीन होना है।

आजकल लोग उपनयन और विवाहको केवल एक उत्सव मान बैठे हैं। उन संस्कारोंका तात्पर्य बहुत-से लोग नहीं समझते। गृहस्थाश्रमको तो विषय-सुखका साधनमात्र समझते हैं और उस सुखमें अन्तर पड़नेपर परस्पर परित्यागतक करनेको तैयार हो जाते हैं। इस स्थितिमें किसीको भी शान्ति नहीं मिल सकती और जीवन विषमय एवं अधर्ममय होनेसे जन्मान्तरमें भी वे सुख-प्राप्ति नहीं कर पायँगे।

श्रीवाल्मीकीय रामायणमें सीताजीके विवाहके अवसरपर श्रीजनकजी कहते हैं—

इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥

(बालकाण्ड ७३। २६-२७)

'यह मेरी बेटी सीता तुम्हारी सहधर्मचरी है। 'सहधर्मचरी' शब्दसे यह भाव प्रतीत होता है कि आजतक तुम अकेले धर्म कर रहे थे। अबसे तुम्हारे धर्मकार्योंमें मेरी पुत्री सीता सहकार देनेवाली हो गयी है, इससे तुम्हारे धर्मकार्य सुचारुरूपसे सरस सम्पन्न होंगे।' बहुत-से धर्मकार्य—जैसे अतिथि-सत्कार, भगवत्पूजा, घरके बड़े लोगोंकी सेवा इत्यादि अकेले नहीं किये जा सकते। उनमें दूसरोंकी सहायताकी आवश्यकता होती है। इन धर्मोंके निर्वाहके उद्देश्यसे ही विवाह करना है, विषय-सुख विवाहका उद्देश्य नहीं होना चाहिये। वह तो अपने-आप ही मिल जायगा। हम आमका पेड़ लगाते हैं फलकी इच्छासे, किंतु छाया और सुगन्ध भी अपने-आप मिलेंगे ही। वैसे ही धर्माचरण करनेवालेको अर्थ-काम अपने-आप मिलेंगे। महाकवि कालिदासने गृहस्थाश्रमको सर्वोपकारक्षम आश्रम कहा है। शेष तीनों आश्रम गृहस्थका सहारा लेकर ही पनपते हैं। अतः इस आश्रममें आनेवालोंके लिये दूसरोंका परिपालन करना ही धर्म है। इसीमें इसका महत्त्व है।

विवाह एक संस्कार है। संस्कारका अर्थ है—दोषोंका नाश करनेवाला और गुणोंको जन्म देनेवाला कर्म। विवाह-संस्कारसे आत्माकी उन्नति होती है। इस संस्कारके द्वारा पति-पत्नीमें उत्पन्न होनेवाला प्रेम पवित्र होता है। संतान धर्मनिष्ठ बनती है। इस संस्कारसे बँधे हुए पति और पत्नी धर्म, अर्थ और कामरूपी पुरुषार्थोंमें मर्यादाका कभी भी अतिक्रमण नहीं कर पाते।

समय अग्निदेवताके समक्ष मन्त्रोच्चारणपूर्वक ये कि 'हम दोनोंका हृदय एक है। हम

मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करेंगे।' इस पवित्र संस्कारसे बँधे हुए पति-पत्नी—दोनों धर्मानुष्ठान करते हुए भगवान्की कृपाके पात्र बन सकते हैं—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा
सर्वे कामाः सम्पदो जीवितं च।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥

वर और वधू समझ लें कि सुख, मित्र, सारे बन्धुवर्ग, सारी कामनाएँ, सम्पदाएँ और जीवन भी वरके लिये वधू और वधूके लिये वर ही है।

आर्य-विवाह-संस्कारके उद्देश्य और रहस्य

(सर्वदर्शननिष्णात तर्कवेदान्तशिरोमणि आचार्यप्रवर अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज)

आर्योंने पवित्र, सरल, स्थिर और सुखमय जीवन-यापनके उद्देश्यसे मानव और मानवीके लिये अपने जीवनको संयम, सदाचार, त्याग, तप, सेवा, शान्ति एवं धर्म आदि अनेक कल्याण-गुणोंसे परिष्कृत करने एवं अविनय, कदाचार तथा विलासिता आदि दुर्गुणोंसे दूर रहनेके लिये 'विवाह-संस्कार' को आवश्यकतम माना है। उनके विज्ञानमें इस पवित्रतम संस्कारके बिना इन आवश्यक कल्याण-गुणोंका विकास एवं दुर्गुणोंका उच्छेद दुःशक्य ही नहीं, अपितु असम्भव है।

इस संस्कारका प्रथमरूपसे उल्लेख विश्वके सर्वप्रथम ग्रन्थ ऋग्वेदमें सूर्या और सोमके विवाहरूपमें उपलब्ध होता है। विवाह-संस्कारकी आवश्यकता एवं 'विवाह' शब्दके अर्थका भी प्रथमरूपसे उल्लेख ऋग्वेदके ब्राह्मणग्रन्थ 'ऐतरेय' में पृथिवी और सूर्यके विवाहरूपमें हुआ है।

विवाह-संस्कारकी आवश्यकता

'विवाह-संस्कार' को आवश्यकताका आकलन करते हुए इतराके पुत्र महीदासने रहस्यका वर्णन करते हुए कहा है कि विश्वमें जबतक पृथिवी और सूर्य 'विवाह-संस्कार'-से संस्कृत होकर परस्पर संयत नहीं हुए थे, तबतक परस्पर अपूर्ण होनेके कारण दोनों ही 'नावर्षत्[illegible] न तो सूर्य वर्षा करनेमें समर्थ हो सके और [illegible] प्रदानमें समर्थ हो सकी। इससे देव-[illegible] प्रजाएँ निरा[illegible] निश्चेतन होकर [illegible] आप[illegible] देवोंकी प्रा[illegible] लि[illegible] 'तौ [illegible] व्यवहेताम्' '<u>विवाह-संस्कार</u>' से संस्कृत हो गये। इससे दोनोंकी शक्तियोंका परस्परमें विवहन (सम्मेलन) हो गया, जिससे पृथिवी 'रथन्तर' शक्तिसे सूर्यकिरणोंमें ताप (औष्ण्य) पहुँचाने लगी। सूर्य 'बृहत्' शक्तिसे वर्षाद्वारा पृथिवीका प्रीणन करने लगा। दोनोंके इस दाम्पत्यभावसे विश्व सुखी, शान्त और समृद्ध होकर प्रकाशित हो गया।

'विवाह' शब्दका अर्थ

वेद-भाष्यकार सर्वश्री सायणाचार्यजीने 'ऐतरेय' ब्राह्मणका भाष्य करते हुए 'विवाह' शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की है—'तदिदं विपर्यासेन सम्बन्धनयनं विवाहम्' परस्पर विरुद्ध-स्वभाव दो मौलिक शक्तियोंका विश्व-कल्याणके उद्देश्यसे अन्योन्य-सम्बन्ध-स्थापन 'विवाह' है। ऋषिका तो यहाँतक आवेदन है कि इस संस्कारसे संस्कृत होकर ही स्वयं प्रजापति भी वेद, लोक, प्रजा और धर्म—इन चार सृष्टियोंके सर्जनमें समर्थ हो सके हैं।

आर्य-विवाह-संस्कारका महत्त्व

आर्य-विवाह-संस्कारके लक्षण, उद्देश्य और रहस्य ही इसकी महत्ताको प्रकट कर रहे हैं। वैदिक ब्राह्मणग्रन्थोंमें पदे-पदे कहा गया है कि 'देवानुकारा वै मनुष्याः' आर्योंकी आचारसंहिता प्राकृत आचार-संहितापर अवलम्बित है। *अतः आर्योंका विवाह-संस्कार भी निसर्गके नियमों और रहस्योंपर अवलम्बित है, यह उसके लक्षणोंसे ही स्पष्ट*

लक्षण, उद्देश्य और रहस्य

[illegible] है, जिससे संस्कृत [illegible] [illegible]क, प्रजा और

धर्म—इन चार भावोंकी कृतकृत्यता सम्पादन करनेमें समर्थ होता है।

बिना विवाह-संस्कारके न तो इसे वेदमूलक यज्ञधर्मका ही अधिकार है, न लोकप्रतिष्ठा ही है, न प्रजा-समृद्धि है और न धर्मसंग्रह ही है।

२-जिस संस्कारके बलसे मानव अपने अध्यात्म-प्रपञ्चको अधिभूत-प्रपञ्चके द्वारा अधिदैवत-प्रपञ्चके साथ संयुक्त करनेमें समर्थ होते हैं—वही संस्कार 'विवाह-संस्कार' है।

यजुर्वेदके 'शतपथ' ब्राह्मणग्रन्थमें भगवान् याज्ञवल्क्यका विज्ञान है कि बिना 'विवाह-संस्कार' के मानव 'अर्धेन्द्र' अर्थात् अपूर्ण हैं। पूर्ण पुरुष प्रजापतिके साथ सायुज्यप्राप्ति करनेके लिये इसकी 'अर्धेन्द्रता' की 'पूर्णेन्द्रता' में परिणति आवश्यक है। अर्धेन्द्र पुरुषकी वह पूर्णता एक पत्नीके संयोगपर ही निर्भर है। यही पत्नी इसके अर्धांशको पूर्ण करती है; इसे पूर्ण पुरुषके समकक्ष बनाती है। इन सब प्रकृतिसिद्ध कारणोंसे ही आर्योंने इस संस्कारको आवश्यकतम माना है।

पुरुष अथवा स्त्री अर्धेन्द्र (अपूर्ण) इसलिये हैं कि विषुवत् वृत्तका आधा दृश्यभाग ही पुरुषमें आता है, अदृश्य आधाभाग स्त्रीका उत्पादक बनता है। पूरे विषुवत् वृत्तमें ९०-९०-९०-९० इस क्रमसे चार पाद हैं। इसलिये संवत्सर प्रजापति भी चतुष्पाद है। इसके दो पाद अग्निप्रधान हैं तथा दो पाद सोमप्रधान हैं। अतएव अग्निप्रधान पुरुष भी द्विपाद है और सोम-प्रधाना स्त्री भी द्विपदा है। जबतक चारों मिल नहीं जाते, तबतक इसमें चतुष्पाद ब्रह्मकी पूर्णता नहीं आती।

खगोल (संवत्सर)-का सूर्यप्रधान आधा दृश्यभाग बाह्य संस्थासे सम्बन्ध रखता है। अतएव तत्प्रधान पुरुष बाह्य संस्थाका संचालक माना गया है। रात्रिप्रधान आधे अदृश्यभागका अभ्यन्तर संस्थासे सम्बन्ध है। अतएव सोमप्रधाना स्त्री घरकी प्रतिष्ठा है। गृह-संस्थाका संचालन एकमात्र स्त्रीपर ही अवलम्बित है। सोमानुगता होनेसे लज्जा, शील, विनय, सेवा, त्याग एवं पतिवर्त्यानुगता आदि इसके नैसर्गिक धर्म हैं। सौम्यधर्मानुगता स्त्री एवं उग्रकर्मानुगत पुरुष दोनों जबतक विवाहसूत्रसे सीमित नहीं हो जाते, तबतक दोनों ही अर्धेन्द्र हैं, अपूर्ण हैं।

३-जिस संस्कारसे संस्कृत होनेपर शरीरोंके पृथक्-पृथक् रहनेपर भी संस्कृत दो व्यक्तियोंका आत्मा एक बन जाता है, वही संस्कार 'विवाह-संस्कार' है। अतएव लोकान्तरमें भी इस दाम्पत्यभावका प्रवाह प्रवाहित रहता है।

स्थूलदृष्टि अबुद्ध मानवोंके ज्ञानकी तो कुछ कीमत नहीं है। उनकी दृष्टिमें तो विवाह एक लौकिक कर्म है, वैषयिक तृप्तिका साधनमात्र है, परंतु एक प्रबुद्ध मानवकी दृष्टिमें तो 'विवाह' एक अलौकिक सम्बन्ध ही है। उनकी दृष्टिमें विवाह एक ऐसा धार्मिक सम्बन्ध (संस्कार) है, जो कभी किसी भी उपायसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

४-जिस संस्कारके बलसे मानव मानवीमात्रमें निसर्गतः प्रवृत्त अपने रागको एक मानवीमें और मानवी मानवमात्रमें निसर्गतः प्रवृत्त अपने रागको एक मानवमें संयत (नियन्त्रित) करनेमें समर्थ हो सके, वही संस्कार 'विवाह-संस्कार' है।

शतपथमें महर्षि याज्ञवल्क्यका विज्ञान है कि एक ही तत्त्व स्त्री-पुरुषरूप दो भागोंमें विभक्त हो गया, अतः इनमें परस्पर आकर्षण निसर्गजन्य है। सर्वतः प्रवृत्त इस रागको एकमें नियन्त्रित करना आवश्यक है। इसका सर्वोत्तम और सरल उपाय 'विवाह-संस्कार' ही है।

५-जिस संस्कारके बलसे लौकिक रागको दिव्य राग (भक्ति)-में परिणत किया जा सकता है, वही दिव्य संस्कार 'विवाह-संस्कार' है। लौकिक प्रेम ही आसक्ति है, अलौकिक प्रेम ही भक्ति है। लौकिक आसक्ति ही संसार है। ईश्वरमें आसक्ति ही भक्ति है। भक्ति ही मुक्ति है। लौकिक आसक्तिका तिरोभाव एवं अलौकिक आसक्तिका आविर्भाव ब्रह्मचर्य, संयम, सेवा और सदाचार आदि दिव्य गुणोंसे ही सम्भव है। इन दिव्य गुणोंके उत्पादनमें विवाह ही सहकारी माना गया है। अतः विवाह-संस्कारको भी

मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करेंगे।' इस पवित्र संस्कारसे बँधे हुए पति-पत्नी—दोनों धर्मानुष्ठान करते हुए भगवान्‌की कृपाके पात्र बन सकते हैं—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा
सर्वे कामाः सम्पदो जीवितं च।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥

वर और वधू समझ लें कि सुख, मित्र, सारे बन्धुवर्ग, सारी कामनाएँ, सम्पदाएँ और जीवन भी वरके लिये वधू और वधूके लिये वर ही है।

आर्य-विवाह-संस्कारके उद्देश्य और रहस्य

(सर्वदर्शननिष्णात तर्कवेदान्तशिरोमणि आचार्यप्रवर अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज)

आर्योंने पवित्र, सरल, स्थिर और सुखमय जीवन-यापनके उद्देश्यसे मानव और मानवीके लिये अपने जीवनको संयम, सदाचार, त्याग, तप, सेवा, शान्ति एवं धर्म आदि अनेक कल्याण-गुणोंसे परिष्कृत करने एवं अविनय, कदाचार तथा विलासिता आदि दुर्गुणोंसे दूर रहनेके लिये 'विवाह-संस्कार' को आवश्यकतम माना है। उनके विज्ञानमें इस पवित्रतम संस्कारके बिना इन आवश्यक कल्याण-गुणोंका विकास एवं दुर्गुणोंका उच्छेद दुःशक्य ही नहीं, अपितु असम्भव है।

इस संस्कारका प्रथमरूपसे उल्लेख विश्वके सर्वप्रथम ग्रन्थ ऋग्वेदमें सूर्या और सोमके विवाहरूपमें उपलब्ध होता है। विवाह-संस्कारकी आवश्यकता एवं 'विवाह' शब्दके अर्थका भी प्रथमरूपसे उल्लेख ऋग्वेदके ब्राह्मणग्रन्थ 'ऐतरेय' में पृथिवी और सूर्यके विवाहरूपमें हुआ है।

विवाह-संस्कारकी आवश्यकता

'विवाह-संस्कार' की आवश्यकताका आकलन करते हुए इतराके पुत्र महीदासने रहस्यका वर्णन करते हुए कहा है कि विश्वमें जबतक पृथिवी और सूर्य 'विवाह-संस्कार'-से संस्कृत होकर परस्पर संयत नहीं हुए थे, तबतक परस्पर अपूर्ण होनेके कारण दोनों ही 'नावर्षन्न समतपत्' न तो सूर्य वर्षा करनेमें समर्थ हो सके और न पृथिवी ही औष्ण्य प्रदानमें समर्थ हो सकी। इससे देव-मनुष्यादि पाँच प्रकारकी प्रजाएँ निश्चेष्ट और निश्चेतन होकर उच्छिन्न होने लगीं। इस आपत्तिसे त्राण पानेके लिये देवोंकी प्रार्थनापर विश्वकल्याणके लिये सूर्य और पृथिवी 'तौ संयन्तौ एतं देवविवाहं व्यवहेताम्' 'विवाह-संस्कार' से संस्कृत हो गये। इससे दोनोंकी शक्तियोंका परस्परमें विवहन (सम्मेलन) हो गया, जिससे पृथिवी 'रथन्तर' शक्तिसे सूर्यकिरणोंमें ताप (औष्ण्य) पहुँचाने लगी। सूर्य 'बृहत्' शक्तिसे वर्षाद्वारा पृथिवीका प्रीणन करने लगा। दोनोंके इस दाम्पत्यभावसे विश्व सुखी, शान्त और समृद्ध होकर प्रकाशित हो गया।

'विवाह' शब्दका अर्थ

वेद-भाष्यकार सर्वश्री सायणाचार्यजीने 'ऐतरेय' ब्राह्मणका भाष्य करते हुए 'विवाह' शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की है—'तदिदं विपर्यासेन सम्बन्धनयनं विवाहम्' परस्पर विरुद्ध-स्वभाव दो मौलिक शक्तियोंका विश्व-कल्याणके उद्देश्यसे अन्योन्य-सम्बन्ध-स्थापन 'विवाह' है। ऋषिका तो यहाँतक आवेदन है कि इस संस्कारसे संस्कृत होकर ही स्वयं प्रजापति भी वेद, लोक, प्रजा और धर्म—इन चार सृष्टियोंके सर्जनमें समर्थ हो सके हैं।

आर्य-विवाह-संस्कारका महत्त्व

आर्य-विवाह-संस्कारके लक्षण, उद्देश्य और रहस्य ही इसकी महत्ताको प्रकट कर रहे हैं। वैदिक ब्राह्मणग्रन्थोंमें पदे-पदे कहा गया है कि 'देवानुकारा वै मनुष्याः' आर्योंकी आचारसंहिता प्राकृत आचार-संहितापर अवलम्बित है। अतः आर्योंका विवाह-संस्कार भी निसर्गके नियमों और रहस्योंपर अवलम्बित है, यह उसके लक्षणोंसे ही स्पष्ट हो रहा है।

विवाह-संस्कारके लक्षण, उद्देश्य और रहस्य

१-'विवाह-संस्कार' वह संस्कार है, जिससे संस्कृत होकर मानव विशेषतः आर्यप्रजावर्ग वेद, लोक, प्रजा और

धर्म—इन चार भावोंकी कृतकृत्यता सम्पादन करनेमें समर्थ होता है।

बिना विवाह-संस्कारके न तो इसे वेदमूलक यज्ञधर्मका ही अधिकार है, न लोकप्रतिष्ठा ही है, न प्रजा-समृद्धि है और न धर्मसंग्रह ही है।

२-जिस संस्कारके बलसे मानव अपने अध्यात्म-प्रपञ्चको अधिभूत-प्रपञ्चके द्वारा अधिदैवत-प्रपञ्चके साथ संयुक्त करनेमें समर्थ होते हैं—वही संस्कार 'विवाह-संस्कार' है।

यजुर्वेदके 'शतपथ' ब्राह्मणग्रन्थमें भगवान् याज्ञवल्क्यका विज्ञान है कि बिना 'विवाह-संस्कार' के मानव 'अर्धेन्द्र' अर्थात् अपूर्ण हैं। पूर्ण पुरुष प्रजापतिके साथ सायुज्यप्राप्ति करनेके लिये इसकी 'अर्धेन्द्रता' की 'पूर्णेन्द्रता' में परिणति आवश्यक है। अर्धेन्द्र पुरुषकी वह पूर्णता एक पत्नीके संयोगपर ही निर्भर है। यही पत्नी इसके अर्धांशको पूर्ण करती है; इसे पूर्ण पुरुषके समकक्ष बनाती है। इन सब प्रकृतिसिद्ध कारणोंसे ही आर्योंने इस संस्कारको आवश्यकतम माना है।

पुरुष अथवा स्त्री अर्धेन्द्र (अपूर्ण) इसलिये हैं कि विषुवत् वृत्तका आधा दृश्यभाग ही पुरुषमें आता है, अदृश्य आधाभाग स्त्रीका उत्पादक बनता है। पूरे विषुवत् वृत्तमें ९०-९०-९०-९० इस क्रमसे चार पाद हैं। इसलिये संवत्सर प्रजापति भी चतुष्पाद है। इसके दो पाद अग्निप्रधान हैं तथा दो पाद सोमप्रधान हैं। अतएव अग्निप्रधान पुरुष भी द्विपाद है और सोम-प्रधाना स्त्री भी द्विपदा है। जबतक चारों मिल नहीं जाते, तबतक इसमें चतुष्पाद ब्रह्मकी पूर्णता नहीं आती।

खगोल (संवत्सर)-का सूर्यप्रधान आधा दृश्यभाग बाह्य संस्थासे सम्बन्ध रखता है। अतएव तत्प्रधान पुरुष बाह्य संस्थाका संचालक माना गया है। रात्रिप्रधान आधे अदृश्यभागका अभ्यन्तर संस्थासे सम्बन्ध है। अतएव सोमप्रधाना स्त्री घरकी प्रतिष्ठा है। गृह-संस्थाका संचालन एकमात्र स्त्रीपर ही अवलम्बित है। सोमानुगता होनेसे लज्जा, शील, विनय, सेवा, त्याग एवं पतिवर्त्यानुगता आदि इसके नैसर्गिक धर्म हैं। सौम्यधर्मानुगता स्त्री एवं उग्रकर्मानुगत पुरुष दोनों जबतक विवाहसूत्रसे सीमित नहीं हो जाते, तबतक दोनों ही अर्धेन्द्र हैं, अपूर्ण हैं।

३-जिस संस्कारसे संस्कृत होनेपर शरीरोंके पृथक्-पृथक् रहनेपर भी संस्कृत दो व्यक्तियोंका आत्मा एक बन जाता है, वही संस्कार 'विवाह-संस्कार' है। अतएव लोकान्तरमें भी इस दाम्पत्यभावका प्रवाह प्रवाहित रहता है।

स्थूलदृष्टि अबुद्ध मानवोंके ज्ञानकी तो कुछ कीमत नहीं है। उनकी दृष्टिमें तो विवाह एक लौकिक कर्म है, वैषयिक तृप्तिका साधनमात्र है, परंतु एक प्रबुद्ध मानवकी दृष्टिमें तो 'विवाह' एक अलौकिक सम्बन्ध ही है। उनकी दृष्टिमें विवाह एक ऐसा धार्मिक सम्बन्ध (संस्कार) है, जो कभी किसी भी उपायसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

४-जिस संस्कारके बलसे मानव मानवीमात्रमें निसर्गतः प्रवृत्त अपने रागको एक मानवीमें और मानवी मानवमात्रमें निसर्गतः प्रवृत्त अपने रागको एक मानवमें संयत (नियन्त्रित) करनेमें समर्थ हो सके, वही संस्कार 'विवाह-संस्कार' है।

शतपथमें महर्षि याज्ञवल्क्यका विज्ञान है कि एक ही तत्त्व स्त्री-पुरुषरूप दो भागोंमें विभक्त हो गया, अतः इनमें परस्पर आकर्षण निसर्गजन्य है। सर्वतः प्रवृत्त इस रागको एकमें नियन्त्रित करना आवश्यक है। इसका सर्वोत्तम और सरल उपाय 'विवाह-संस्कार' ही है।

५-जिस संस्कारके बलसे लौकिक रागको दिव्य राग (भक्ति)-में परिणत किया जा सकता है, वही दिव्य संस्कार 'विवाह-संस्कार' है। लौकिक प्रेम ही आसक्ति है, अलौकिक प्रेम ही भक्ति है। लौकिक आसक्ति ही संसार है। ईश्वरमें आसक्ति ही भक्ति है। भक्ति ही मुक्ति है। लौकिक आसक्तिका तिरोभाव एवं अलौकिक आसक्तिका आविर्भाव ब्रह्मचर्य, संयम, सेवा और सदाचार आदि दिव्य गुणोंसे ही सम्भव है। इन दिव्य गुणोंके उत्पादनमें [illegible] ही सहकारी माना गया है। अतः [illegible]

महर्षि वात्स्यायन मुक्तिका परम्परया कारण मानते हैं। उनका आदेश है—

तदेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना।
विहितो लोकयात्रार्थं न रागार्थोऽस्य संविधिः॥
एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नरः।
इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

नियन्त्रित कामका सेवन भगवदुपासना है। यह गीता और ऐतरेय ब्राह्मण दोनोंका आदेश है।

६-जिस संस्कारसे संस्कृत होकर मानव-मानवी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, उसके द्वारा कुटुम्ब-स्वातन्त्र्य, उसके द्वारा समाज-स्वातन्त्र्य, उसके द्वारा राष्ट्र-स्वातन्त्र्य और उसके द्वारा विश्व-स्वातन्त्र्यकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकते हैं, वही विश्व-रक्षक संस्कार 'विवाह-संस्कार' है।

तन्त्र शब्दका अर्थ वेदोंमें 'मर्यादा' है। अपनी-अपनी नैसर्गिक मर्यादा ही अपना-अपना स्वातन्त्र्य है। उच्छृङ्खलता ही पारतन्त्र्य है। अतः व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यका अर्थ हुआ व्यक्ति-मर्यादा। अनुशासन (धर्म), विनय, विद्या, सरलता, त्याग, तप, सेवावृत्ति एवं जितेन्द्रियता आदि ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य हैं। इस प्रकारका स्वतन्त्र व्यक्ति ही राष्ट्ररक्षा और विश्वरक्षामें सहयोगी बन सकता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य (मर्यादित जीवन)-का विवाह-संस्कार मूल है। जैसा कि कहा गया है—

रक्षन् धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्तिनीम्।
अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः॥

—जितेन्द्रियता ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है।

७-जिस संस्कारसे संस्कृत मानव तीन ऋणोंसे छुटकारा पानेका अधिकारी हो जाता है, वही संस्कार 'विवाह-संस्कार' है।

मानवमात्र जन्मना ही देव-ऋण, पितृ-ऋण एवं मनुष्य-ऋण—इन तीन ऋणोंसे ऋणी रहता है। इनको हटाये बिना इसका कल्याण सम्भव नहीं है। इन तीनों ऋणोंका क्रमशः यज्ञ, प्रजोत्पत्ति और अतिथि-सत्कारसे निराकरण होता है। अतः प्रत्येक दशामें 'विवाह-संस्कार' आवश्यक हो जाता है।

जातिगोत्र-मर्यादा

विवाह-संस्कारसे सम्बन्ध रखनेवाले जाति, गोत्र एवं वय आदिकी सुरक्षासे ही प्रजाका वर्णधर्म सुरक्षित रहता है। वर्ण नाम रंगका है। यहाँपर वैश्वानर आत्माके निसर्गसिद्ध और जन्मजात विभिन्न प्रकारके रंग (प्रकाश) ही वर्ण-शब्दसे अभिहित हैं। वर्णधर्म आर्यप्रजाका सर्वस्व है। स्व-स्व-जात्यनुगत शुद्ध रजोवीर्यसे उत्पन्न संतानें ही बल, वीर्य, पराक्रमवती बन सकती हैं, ऐसी ही संतानें राष्ट्रके अभ्युदयमें कारण बन सकती हैं।

लौकिक कर्म मानना भ्रम

जो महानुभाव संसर्गदोषजनित प्रवाहमें पड़कर इसे एक लौकिक कर्ममात्र माननेकी भूल करते हुए अन्तरजातीय विवाह, विवाह-विच्छेद आदिके समर्थक बनते हैं, वे अवश्य ही आर्यधर्म, आर्यसभ्यता और आर्यसंस्कृतिके अन्यतम शत्रु हैं। वे लोग प्रकृतिविरुद्ध आचरण करते हुए मानव-समाज और व्यष्टि-समष्टिकी उन्नति, सुख, शान्ति एवं प्राणिमात्रके कल्याणके विनाशक हैं। परमात्मा उनके हृदयको वेदके गूढ़ज्ञान-दीपसे प्रकाशित करें।

आर्यकन्याके लिये उपदेश

विवाह-संस्कारोत्तर आर्यकन्या किन-किन उपचारोंसे पति-परमेश्वरकी उपासना करे, उनका विस्तारसे वर्णन धर्मशास्त्रोंमें है। उनका संक्षेपतः निर्देश इस श्लोकमें किया गया है—

अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता
तत्पादार्पितदृष्टिरर्चनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम्।
सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति
प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तसारागमः॥

इसका भाव है—गृहपतिके बाहरसे आनेपर खड़ा हो जाना, उनसे बोलते समय नम्रताका व्यवहार, उनके चरणोंकी ओर दृष्टि रखना, उनका पूजन करना तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा अपने हाथोंसे करना, उनके सो जानेपर ही स्वयं लेटना और उनके जागनेसे पूर्व ही चारपाई छोड़ देना—बेटी! प्राच्यदेशवासी आर्योंने कुलवधूके आचरणका साररूप यही बताया है।

गृहस्थाश्रम और विवाह-संस्कार

(पूज्यचरण आचार्य त्रिदण्डीस्वामी श्रीभक्तिकमल पर्वतजी महाराज)

विश्व-समाजमें हिन्दूके धर्म, ऐतिह्य और संस्कार एक आश्चर्यजनक सामाजिक, धार्मिक और पारमार्थिक वैशिष्ट्यको लिये हुए आजतक अपने पूर्ण गौरवसे गौरवान्वित हुए खड़े हैं।

जहाँ अन्यान्य प्राचीन सभ्यताएँ और धर्मव्यवस्थाएँ कालके कराल मुखका ग्रास बनकर अपने-अपने ऐतिह्यको खो चुकी हैं, वहाँ एकमात्र हिन्दू-समाज ही ऐसा है, जो आज भी प्राचीन धर्मव्यवस्थाको अक्षुण्ण बनाये रखनेमें समर्थ है।

इस हिन्दू-समाजके प्राचीन ऋषि-मुनियोंने अपने-अपने तपस्यापूर्ण त्याग-वैराग्य और उपासनाके फलस्वरूप परात्पर वस्तु भगवान्‌का सांनिध्य प्राप्त किया था। वे सामाजिक जीवनमें परोपकारकी वृत्तिसे अपना समय लगाते थे। आदर्श सामाजिक जीवनका पालन करनेपर समाजका, जातिका, देशका और विश्वका आत्यन्तिक कल्याण होता है—यह समझकर उन ऋषि-मुनियोंने समाज-व्यवस्थाको वर्णाश्रममें विभक्त करके प्रत्येक वर्ण और आश्रमके धर्मको एक धर्म-व्यवस्थामें स्थापित कर दिया था। उसी दैव-वर्णाश्रमधर्मकी भित्तिपर आस्था रखकर आजतक हिन्दू-समाज विभिन्न प्रकारके सामाजिक आचार तथा कर्तव्योंका पालन कर हिन्दूधर्मकी एकता और विशेषताकी मर्यादाका संरक्षण करनेमें समर्थ हो सका है।

वर्णाश्रमधर्म—चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) एवं चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास)-में विभक्त है।

धर्म-व्यवस्थाके माध्यमसे विवाह-संस्कारमें आबद्ध वर-वधू किस प्रकारसे हिन्दूधर्मके प्रधान स्तम्भके रूपमें स्थित होकर समाजको कल्याणके मार्गपर ले जा रहे हैं—इस विषयपर यहाँ यत्किञ्चित् विचार किया जाता है।

पारस्करगृह्यसूत्रमें हिन्दू-विवाहके लिये जिन अनुष्ठानों और संस्कारोंका निर्देश किया गया है, उनपर किञ्चित् विचार करनेपर हिन्दूधर्ममें विवाहकी मौलिकता और विशिष्टताके सम्बन्धमें हमें कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है।

मधुपर्क—कन्याके घरपर आये हुए वरको सबसे पहले आसन प्रदान करके मधुपर्क दिया जाता है। इस प्रकार सम्मान ग्रहण करके वर सभामें उपस्थित व्यक्तियोंमें अपनेको श्रेष्ठ वरणीय पुरुष होनेकी घोषणा कर कन्याके हृदयमें अपने सर्वश्रेष्ठ पुरुषत्वकी प्रतिष्ठा करता है।

वासपरिधान—इसके पश्चात् वर कन्याको वस्त्र प्रदान करता है। वस्त्र-प्रदानका रहस्य यह है कि विवाहके बाद वर अपनी वधूको आवश्यक वस्त्राच्छादनादि वस्तुएँ जीवनभर देता रहेगा। **'जरां गच्छ परिधत्स्व वासः'**—मन्त्रके द्वारा वस्त्र प्रदान करनेका तात्पर्य यह है कि वर अपनी वधूके प्रति दीर्घजीवन प्राप्त कर दिये हुए वस्त्रादिका सद्व्यवहार करनेकी इच्छा प्रकट करता है।

इसके बाद वर-वधूके ऐक्य-स्थापनके लिये विविध मन्त्रोंके माध्यमसे कार्य किये जाते हैं।

इसके पश्चात् वर कन्याको अङ्गीकार करनेकी इच्छा प्रकट करके मन्त्रके द्वारा अभिषिक्त करता है, तदनन्तर कन्या मन्त्रके द्वारा यह कहती है कि 'वह प्राप्तवयस्का है और विवाहके उपयुक्त पात्री है।'

वैवाहिक होमके मन्त्र विशेष ध्यान देनेयोग्य हैं—उच्चारित मन्त्रोंके द्वारा देवताओंका आह्वान करके उनके यज्ञभागकी आहुति देनेके समय उनसे आशीर्वाद माँगा जाता है। यज्ञस्थलको पवित्र मृत्तिका-गोमय आदिके द्वारा लीपे जानेपर विवाहमण्डपसे एक पवित्र भाव प्रकट होता है। गार्हस्थ्य-धर्ममें अग्निकी विशेष प्रधानता प्रकट है। देवराज इन्द्रसे प्रार्थना की गयी है कि इस गार्हस्थ्य-धर्मके पालनमें वे हमारी ऐहिक वासनाको पूर्ण करें। उपयुक्त समयपर प्रचुर जलवर्षा करके हमें कृषिकार्यमें सफलता प्रदान करें। नवदम्पति अग्निसे प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें स्वास्थ्य, बल, पुत्र-पौत्र, धन-सम्पत्ति एवं पारिवारिक सुख-शान्ति प्रदान करें। अबतक कन्या पितृगृहमें अग्निके आश्रयमें रहकर सुखसे जीवन बिता रही थी, अब वे देवता उसे स्वामीके घर जानेकी अनुमति दें और यह आशीर्वाद दें कि जिससे पिताके घरकी ममता उसे स्वामीके घरकी कर्तव्यपरायणतासे च्युत न कर दे। स्वामिगृहमें कठोर परिश्रम करके वह स्वामीके परिवारको

सुखी करनेकी शक्ति प्राप्त करे। कन्या मन्त्रोंके माध्यमसे अग्निदेवतासे इस आशीर्वादकी प्रार्थना करती है। उसकी अनन्य सेवासे संतुष्ट होकर उसका पति उसके साथ वास्तविक रूपमें प्रेम करे—यह भी कन्याकी प्रार्थना है।

पाणिग्रहण—इसके बाद वर कन्याके हस्तको ग्रहण करता है। हस्त-ग्रहण करनेका तात्पर्य है—'मिलन'। वर-वधूके यथार्थ मिलनसे सुखमय संसार सम्भव होता है। वर कन्याके अङ्गूठेसहित सम्पूर्ण हाथको ग्रहण करता है। अङ्गूठा व्यक्तित्व और आत्मसम्मानका प्रतीक है। यदि कन्याका व्यक्तित्व और आत्मसम्मान अपने पतिके प्रति निवेदित नहीं हो जाता और स्वतन्त्ररूपसे परिचालित होता है तो उस प्रकारके मिलनसे पारिवारिक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। पाणिग्रहण-संस्कारके द्वारा यह विज्ञापित होता है कि अबसे कन्याने अपने व्यक्तित्व और स्वतन्त्र विचारको अपने पतिकी सेवाके लिये पूर्णतया समर्पण कर दिया है।

इसके बादके मन्त्रके द्वारा वर यह सूचित करता है कि उसकी वधू उसके गार्हस्थ्य-जीवनमें सर्वापेक्षा मूल्यवान् सम्पदा है और वधू भी अपने स्वामीके प्रति यही भाव प्रकट करती है। गृहस्थ-जीवनमें दोनों एक-दूसरेके सुख-दुःखमें समानरूपसे भागीदार हो गये हैं। अबसे वे यही विज्ञापित कर रहे हैं।

अश्मारोहण एवं ध्रुवदर्शन—अश्मारोहण करनेके समय वर जिस मन्त्रका उच्चारण करता है, उससे यह भलीभाँति प्रमाणित होता है कि जिस प्रकार शिला कभी लचकती नहीं, सुदृढ़ रहती है, इसी प्रकार वधूकी अपनी सतीत्वसम्बन्धी प्रकृति सुदृढ़ रहे, यही उसके पतिकी ऐकान्तिक इच्छा है। ध्रुवदर्शनका भी ऐसा ही एक प्रकारका अभिप्राय है। जैसे आकाशमें असंख्य तारे इधर-उधर भ्रमण करते रहते हैं, परंतु ध्रुव अपने स्थानसे विचलित नहीं होता, वैसे ही पत्नी भी अपने शरीर और मनको अन्य किसीके भी समर्पण न करनेके सङ्कल्पमें ध्रुवकी भाँति अविचलित रहेगी। सरस्वतीके प्रति प्रार्थना करते समय पति अपनी पत्नीकी सौ वर्षकी आयु और सतीत्व-रक्षाके लिये आशीर्वाद चाहता है।

स्वामीकी अनुगामिनी होकर सप्तपद-परिक्रमाके समय भी इसी प्रकारकी इच्छाएँ व्यक्त की जाती हैं।

विवाह-संस्कारके कार्यों और अनुष्ठानों एवं आचारोंको विशेषरूपसे देखनेपर पता लगता है कि प्राचीन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने विवाहसूत्रमें बाँधकर वर-वधूके भविष्य जीवनकी सुविधा-असुविधाके प्रति ध्यान रखते हुए, जिसमें वे गृहस्थजीवनको सुख-स्वच्छन्दताके साथ चला सकें, इसके लिये यज्ञानुष्ठान तथा अन्यान्य आनुषङ्गिक अनुष्ठानोंके मन्त्रोंद्वारा विभिन्न देवताओंसे पुनः-पुनः प्रार्थना की है। ये अनुष्ठान विशेषरूपसे वधूके कल्याणके लिये ही निर्दिष्ट हुए हैं, कारण हिन्दू-समाजमें कन्याका विवाह एक बार ही होता है और विधवाको ऐसे कार्योंमें योगदान करनेका अधिकार नहीं है।

विवाह-संस्कार सम्पन्न होनेके बाद तीन रात्रितक वर-वधू परिपूर्ण ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करेंगे, इससे यह प्रमाणित होता है कि केवल इन्द्रिय-भोग-सुखके लिये विवाह नहीं किया जाता; धर्मको केन्द्र बनाकर संयमित जीवन-यापन करनेपर ही गृहस्थजीवन सफल और सुखी होता है और गृहस्थजीवनके सुख-सम्पन्न होनेपर ही सामाजिक जीवन सुखी होता है। सामाजिक जीवनमें यदि धर्म केन्द्रस्थानमें रहता है तो समाजमें व्यभिचार और अधर्म निर्मूल हो जाते हैं और व्यक्ति अपने आदर्श तथा गौरवकी रक्षा कर सकता है।

हिन्दू-समाजमें 'विवाह' शब्दका तात्पर्य विशेष ध्यान देकर समझने योग्य है। वर और वधूको विवाह-संस्कारके माध्यमसे समाजमें एक अत्यन्त दायित्वपूर्ण अधिकार दिया जाता है। यज्ञ-मन्त्रोंमें अन्यान्य देवताओंके आवाहन किये जानेपर भी भगवान् विष्णुको सर्वश्रेष्ठ आराध्य तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया गया है। यज्ञानुष्ठानके मूल विषय-विग्रह विष्णु ही हैं। जिस प्रकार भगवान् विष्णु समस्त जीवोंको ऊर्ध्वगति प्रदान करते हैं, सबका पालन, पोषण तथा धारण करते हैं, उसी प्रकार 'विवाह' के द्वारा स्वामी-स्त्री विष्णुरूप यज्ञके माध्यमसे परिणय-सूत्रमें बँधकर अपने परिवारके प्रत्येक जनका उपयुक्तरूपसे पालन, पोषण, धारण और वर्धन करना स्वीकार करते हैं।

~~०~~

गृहस्थ-धर्म

(संत अनन्तश्री श्रीहरियाबाजी महाराज)

इस मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य तो भगवत्प्राप्ति ही है। अतः शास्त्रोंमें जितनी भी व्यवस्थाएँ हैं, वे सब इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हैं। यह विश्व भी श्रीभगवान्‌का व्यक्त विलास ही है। अतः इसकी सेवा प्रभुकी सेवा ही है और वही उनकी प्राप्ति और प्रसन्नताका भी प्रमुख साधन है। गृहस्थाश्रम शेष तीन आश्रमोंका उद्गम-स्थान है और उसीके द्वारा उनका भरण-पोषण भी होता है। इस प्रकार विश्वात्माकी सेवा ही गृहस्थाश्रमीका सहज धर्म है। इस सहज धर्मका यथावत् पालन करके गृहस्थ अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। इस मार्गमें संस्कारवश अनेक प्रकारके बाह्य एवं आन्तर विघ्न आते ही हैं। अकेला साधक उन्हें पार करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। उसे अपने एक अभिन्न सहधर्मीकी अपेक्षा होती है। इसी उद्देश्यसे दाम्पत्य-धर्मको स्वीकार किया जाता है। इस धर्मका यथावत् पालन करनेसे पति-पत्नी दोनों ही सुगमतासे अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। यही गार्हस्थ्य-धर्मकी बहुत बड़ी महत्ता है।

अतः इस धर्ममें दीक्षित होकर वर और कन्या दोनोंको परस्पर प्रेमपूर्वक रहते हुए एक-दूसरेके व्यावहारिक और पारमार्थिक साधनोंमें सहायक होना चाहिये तथा एक-दूसरेकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहना चाहिये। पतिको चाहिये कि पत्नीको प्रसन्न रखते हुए सब प्रकारसे उसका भरण, पोषण और रक्षण करे तथा पत्नी सर्वदा पतिके अधीन रहकर उसीको अपना सर्वस्व और आराध्य मानकर उसकी सेवामें तत्पर रहे। पत्नीके लिये भगवद्भावसे पतिकी आराधना करनेसे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। इस प्रकार वह सहजमें ही अपने जीवनका चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकती है।

अपने विचारसे सम्पूर्ण वैदिक संस्कारोंका एकमात्र तात्पर्य समस्त प्राणिजगत्‌को निखिल ब्रह्माण्डनायक आनन्द-कन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके अनुस्मरणसे अनुप्राणित करना ही है।

विवाह-संस्कारकी पवित्रता

(स्वामी श्रीरङ्गनाथानन्दजी महाराज)

हिन्दू-ऋषियोंकी महान् शिक्षाओंमेंसे सर्वाधिक प्रेरणाप्रद शिक्षा यह है कि अपने वास्तविक स्वरूपमें मनुष्य भगवद्रूप है।

हिन्दू-संस्कृतिमें इस सत्यका साक्षात्कार ही मानव-जीवनका लक्ष्य माना गया है। आमोद-प्रमोद, लाभ एवं सामाजिक नीतिको भी इस लक्ष्यकी प्राप्तिके निमित्त साधनके रूपमें ही स्वीकार किया गया है, इस लक्ष्यकी ओर मुँह कर देनेपर इन सभी मार्गोंका अनुसरण साभिप्राय और सार्थक बन जाता है। ऐसा किये बिना ये आत्मघातिनी क्रियाओंकी मालाका रूप धारण कर लेती हैं, मानो संख्या 'एक' के बिना केवल शून्योंकी कतार हो। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि पहले भगवान् फिर जगत्, पहले संख्या 'एक' तब शून्य अथवा शून्यसमूह। इसी पद्धतिसे संसार और उसके प्रपञ्च सार्थक तथा साभिप्राय साधनोंमें परिणत हो उठते हैं। वे मानव-आत्माके लिये रचनात्मक पथ एवं आध्यात्मिक अनुशासन बन जाते हैं। इस प्रकार मानव-जीवनको ईश्वराभिमुख बनाकर हिन्दू-संस्कृतिने मनुष्यको अपने सम्पूर्ण जीवनको पावन बनानेकी शिक्षा दी है, उसके एक अंशमात्रको नहीं।

वैवाहिक पवित्रताका उदय मनुष्य और उसके भविष्यकी इसी धारणासे होता है। नर अथवा नारीमें पूर्वसे ही वर्तमान भगवत्ताका प्राकट्य जीवन एवं उसके व्यापारोंके क्षेत्रमें अनुष्ठित दीर्घकालीन तपस्या एवं साधनाका परिणाम है और मनुष्य-जातिके अधिकांश

यह क्षेत्र विवाह-सम्बन्धसे प्राप्त होता है, जिसके द्वारा जीवनकी सार्थकताकी खोजमें एक पुरुष और एक स्त्री घनिष्ठतम मानव-सम्बन्ध जोड़कर एकत्र होते हैं। मनुष्य और उसके भविष्यको आध्यात्मिक दृष्टिकोणका स्पर्श मिलनेसे नर-नारीका केवल भौतिक एवं शारीरिक सम्बन्ध और यौन-व्यापार एक आध्यात्मिक सौन्दर्य तथा मनमोहकतासे भर जाता है। विवाहित जीवन भी एक आश्रम, आध्यात्मिक साधना और प्रेरणाका एक क्षेत्र बन जाता है।

विवाह-संस्कारका यह स्वरूप दम्पतिके लिये आध्यात्मिक शिक्षा-सदन बन जाता है, राष्ट्रकी नैतिक मान्यताओंकी लालन-शालाका रूप धारण कर लेता है और सामाजिक स्तूपके लिये एक स्थायी आधारका रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसे दम्पतीके लिये 'संसारी' शब्द उपयुक्त नहीं होता। संसारमें रहते हुए भी वे हृदयमें सांसारिकता न घुसे, इसके लिये सचेष्ट रहते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी कहते हैं कि नाव जलमें रह सकती है, परंतु जलको नावके भीतर नहीं आने देना चाहिये। योगीका **'कर्मसु कौशलम्'** और अध्यात्मचेता व्यक्तिकी व्यावहारिक बुद्धिमत्ता यही है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि निर्दोष क्रियाओंमें रत तथा आत्मनियन्त्रणसे युक्त व्यक्तियोंके लिये घर 'तपोवन' का रूप धारण कर लेता है।

~~o~~

भारतीय विवाहकी महिमा

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

भारतीय संस्कृति प्रवृत्ति तथा निवृत्तिके मञ्जुल सामरस्यपर आश्रित होनेवाली एक विशिष्ट संस्कृति है। पाश्चात्त्य संस्कृति प्रवृत्तिके ऊपर आधारित है तो श्रमणसंस्कृति निवृत्तिको ही जीवनका सर्वस्व मानती है। ये दोनों ही सिद्धान्त एकाङ्गी हैं और दूषित हैं। इन दोनोंसे विपरीत भारतीय संस्कृतिकी आधारशिला है—भोगाश्रित त्याग अथवा त्यागोन्मुखी भोग। इस सिद्धान्तको ईशावास्योपनिषद् 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'-के द्वारा अभिव्यक्त करता है। त्याग तथा भोगके सामरस्यको आश्रय देनेवाली भारतीय संस्कृति इस विशाल विश्वके भीतर अद्वितीय है—बेजोड़ है।

इस आदर्शका पालन आश्रम-चतुष्टयमें यथाविधि दृष्टिगोचर होता है। चार आश्रमोंमें मुख्य आश्रम दो ही हैं—

(१) गृहस्थाश्रम—जो भोगवृत्तिपर आधारित है तथा

(२) संन्यासाश्रम—जो त्यागवृत्तिके ऊपर आश्रित है।

अन्य दोनों आश्रम तो इन आदर्श आश्रमोंमें प्रविष्ट होनेकी योग्यता प्रदान करनेके कारण मानो शिक्षणभूमि हैं। ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्यके शिक्षणकी भूमिका है तो वानप्रस्थ संन्यासकी। इस प्रकार इन चार आश्रमोंकी प्रतिष्ठा समभावेन भारतीय संस्कृतिमें है, परंतु यह निर्विवाद सत्य है कि गृहस्थाश्रम भारतीय समाजका मेरुदण्ड है। जैसे मेरुदण्ड वैयक्तिक शरीरके सीधे खड़े रहने तथा रुचिर जीवननिर्वाहके निमित्त एक विशिष्ट आधारशिला है, गृहस्थाश्रम भी उसी प्रकार सामाजिक शरीरके सीधे खड़े होने तथा विमल जीवन-यापनके लिये एक भौतिक आधारशिला है। इस आश्रमके आश्रयपर ही इतर आश्रम अपना अस्तित्व निर्वाह करते हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी—ये तीनों ही गृहस्थके द्वारा अर्जित द्रव्यका उपभोग कर अपना जीवन-यापन किया करते हैं। इसीलिये ही मनु महाराजने इस आश्रमकी तुलना उस माताके साथ की है, जो समान स्नेहसे अपनी संतानोंका भरण-पोषण किया करती है।

गार्हस्थ्यका मुख्य साधन है—विवाह। भारतीय संस्कृतिमें विवाह-संस्कार पाश्चात्त्योंकी कल्पनासे विपरीत एक आध्यात्मिक बन्धन है। विवाह-संस्कारके द्वारा दो भिन्नलिङ्गी प्राणी स्वेच्छासे अपने-आपको पवित्र सामाजिक बन्धनमें बाँधकर समाजके सामने पारस्परिक सहयोगका विमल आदर्श प्रस्तुत करते हैं और आध्यात्मिक सूत्रमें आबद्ध होकर यावज्जीवन अपना सामाजिक उत्तरदायित्व निभाते हैं। भारतवर्षमें विवाहके मूलमें है—व्यक्तिका पूर्ण

विकास। पत्नीके अभावमें न तो पतिका व्यक्तित्व खिल सकता है और न पुरुषके अभावमें नारीका ही व्यक्तित्व खिल सकता है। यथार्थमें पति-पत्नी एक-दूसरेके पूरक होते हैं। पति पूरक है पत्नीका और पत्नी पूरक है पतिकी। पति-पत्नीका सम्मिलित अभिधान है—दम्पती, जिसमें वैदिक 'दम्' शब्द (लैटिन शब्द डोमुसके रूपमें) गृहका वाचक है। इस प्रकार 'दम्पती' शब्दका स्वारस्य यह है कि पति और पत्नी दोनों ही गृहपति हैं—घरके मालिक हैं। भारतीय समाजकी चिरञ्जीविताका रहस्य पति-पत्नीके परस्पर प्रेम तथा सहयोगकी भावनामें अन्तर्निहित है। भारतीय नारीका आदर्श है वह सती, जिसने पतिके अपमानसे संतप्त होकर योगाग्निसे अपनेको भस्म कर डाला था। भारतीय ललनाका आदर्श है वह पार्वती, जिसने विशुद्ध प्रेम पानेके लिये अपने सुमन-सुकुमार शरीरको तपस्याकी अग्निमें जला डाला था। बिना तपस्याके स्नेह न तो गम्भीर होता है और न वह चिरस्थायी होता है। तपस्याका सुफल है कालिदासके शब्दोंमें **'तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः'** (कुमारसम्भव), इसीलिये भारतीय कुमारीका आदर्श है—गौरी। गौरी तपस्याकी मूर्ति है, तभी तो उसे मृत्युञ्जय पति प्राप्त हुआ और पतिका दिव्य प्रेम मिला कि वह उनके हृदयदेशमें जाकर विराजने लगी।

भारतीय विवाहकी यही महिमा है—आध्यात्मिकताका विकास और पूर्ण व्यक्तित्वकी उपलब्धि। इस उपलब्धिको नव वर-वधू प्राप्त करें। विवाहको बन्धन न मानकर आत्माकी मुक्तिका मार्ग समझें।

~~o~~

विवाह—आध्यात्मिक सम्बन्ध

(पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्०ए०)

धर्मशास्त्रानुसार विवाह केवल लौकिक ही नहीं, आध्यात्मिक सम्बन्ध भी है; कितने ही धार्मिक कृत्य बिना पत्नीके नहीं हो सकते। भगवान् रामको यज्ञ करनेके लिये जानकीमाताकी स्वर्ण-प्रतिमा बायीं ओर रखनी पड़ी। विवाहके साथ पति-पत्नी दोनों एक हो जाते हैं। पत्नी पतिकी अर्द्धाङ्गिनी है—स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका यह भाव अन्य किसी धर्ममें नहीं है। दोनोंका यह ऐक्य-सम्पादन करनेके लिये पत्नीके व्यक्तित्वका धर्मबुद्धि एवं प्रेमभावसे पतिके व्यक्तित्वमें लय होना आवश्यक है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धकी समस्या हल करनेके लिये हिन्दू-धर्मशास्त्रोंकी संसारको यह विशेष देन है। भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर देना ही सर्वोच्च भक्ति है। स्त्री पतिको आत्मसमर्पण करके प्रेमको पराकाष्ठापर पहुँचा देती है। वहाँ 'मेरे' और 'तेरे'-का भेद ही नहीं रहता, फिर परस्पर कलह और बिलगावकी बात ही क्या! इस जन्मकी कौन कहे, हिन्दू-स्त्री तो यही अभिलाषा रखती है कि 'जन्म-जन्मान्तरमें भी उसका अपने पतिके साथ सम्बन्ध अटूट बना रहे।'

भारतीय जीवन-निर्वाह-प्रणालीमें जितनी व्यवस्थाएँ हैं, सबका चरम लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार—'आत्मसाक्षात्कार' है। यही मानव-जीवनकी सफलता है। इसमें बाधक भावोंको साधक बना देना धर्मव्यवस्थाकी विशेषता है। गृहस्थजीवन 'दुर्गका जीवन' है। शब्दादि विषय उसे लक्ष्यसे च्युत नहीं कर सकते। कई दृष्टियोंसे गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका सिरमौर है। संसारमें स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरेके बिना आधे हैं। प्रकृति-पुरुषका जोड़ा है; इसमें पुरुषकी तो महत्ता है ही, पर स्त्रीकी उससे भी अधिक है। वह धर्मपत्नी है। उसे **'तारिणीं दुर्गसंसार-सागरस्य कुलोद्भवाम्'** बतलाया गया है। वह पतिकृत-कर्मफल-भोक्त्री ही नहीं, अपितु अपने पातिव्रत्य-प्रभावसे स्वयं लक्ष्मी बनकर पतिको साक्षात् विष्णु बना देनेमें समर्थ है—
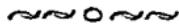
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥

(श्रीमद्भागवत ७।११।२९)

यदि विधिवत् गृहस्थ-धर्मका पालन हो तो पास-पड़ोस ही नहीं, समग्र विश्व सुख-शान्तिमय बन सकता है।

~~o~~

हिन्दू-विवाह-संस्कारकी महत्ता

(पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश)

विवाह एक सांसारिक अव्यवस्थाको दूर करनेवाला संस्कार है। इसीसे पुरुष सुसंस्कृत, सभ्य एवं धर्मात्मा बनता है। पुरुषकी अपने शरीरमें जितनी ममता होती है, उतनी अन्य वस्तुओंमें नहीं। विवाहके द्वारा उसकी ममता अपने शरीरसे ऊपर उठकर पत्नीमें और फिर पत्नीके सम्बन्धियोंमें बँट जाती है। फिर संतान होनेपर वही ममता पुत्र-कन्या आदिमें बँट जाती है। वही प्रेम घरकी चारदीवारीसे प्रारम्भ होकर मुहल्ला, गली, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश और फिर क्रमशः समस्त विश्वमें व्याप्त हो जाता है। गृहस्थमें पति-पत्नीको एक-दूसरेके हितके लिये अपने स्वार्थका बलिदान, प्रतिकूल व्यवहारमें सहिष्णुता और क्षमा, अत्यन्त कष्टमें भी धैर्य आदि गुणोंका प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। यही प्रेम विकसित होकर मनुष्यको सामाजिक क्षेत्रमें विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है। गृहस्थके इस महाविद्यालयमें त्याग-प्रेम आदिका पूर्ण अभ्यास कर जब पति-पत्नी उसी प्रेमभाव—त्यागभावका प्रयोग परमेश्वरकी दिशाकी ओर प्रवृत्त कर देते हैं, तब वे परमेश्वरके अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं। यही शास्त्रानुसार उनके जीवनका परम एवं चरम लक्ष्य हुआ करता है।

हिन्दू-विवाहका परम लक्ष्य कामवासना-पूर्ति नहीं है, किंतु यज्ञमें अधिकार-प्राप्ति तथा सात्त्विक प्रेममें प्रवृत्ति और वेदादि शास्त्रमें प्रेम उत्पन्न करना है। वेदमन्त्रोंसे विवाह शरीर और मनपर विशिष्ट संस्कार उत्पन्न करनेवाला होता है। इससे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षतककी प्राप्ति हुआ करती है। विवाहमें होनेवाली चार परिक्रमाएँ इन्हीं चारों वर्गोंको सङ्केतित करती हैं। इसमें काम अवान्तर वस्तु है। इसमें संतान उत्पन्न करना पितृ-ऋणका पूर्तिकर्ता और पितरोंका उद्धारकर्ता माना जाता है। अतः उसमें ऋतुगमनके अतिरिक्त काम वर्जित रखा गया है। इसमें स्त्री वामाङ्गमें अधिकार पाकर पुरुषकी हृदयरूपा बन जाती है।

यदि विवाह-संस्कार न होता तो पुरुषकी न तो पत्नी ही होती, न माँ, न बहन और न उसकी कोई लड़की आदि संतान ही होती। विवाह-बन्धनके अभावमें पुरुष अपनी वासना पूर्ण करनेके लिये पशुओंकी तरह स्त्रीमात्रके पीछे लगा रहता, छीना-झपटी करता, लड़ता, झगड़ता, अपनी बुद्धिको दूसरेके विनाशमें लगाता और क्रोधके साम्राज्यको व्यापक बनाता। उससे उत्पन्न अवैध संतानोंकी कोई रक्षा न करता, वे गली-गली ठोकरें खाती फिरतीं। न तब पुरुषका घर होता और न कोई विद्यालय होता। विवाहरहित राष्ट्र धर्म, शिक्षा, संस्कृति, कला, विज्ञान आदिसे सर्वथा शून्य एक पशु-राष्ट्र होता। इसी विवाह-संस्कारने मनुष्यको व्यवस्थित किया, परिवार दिया, प्रेम दिया, घर बसानेकी और विद्या पानेकी प्रेरणा दी। विवाहसे ही यह सुवर्णमय संसार बस पाया।

हिन्दू-विवाहमें स्त्री केवल कामपूर्तिका यन्त्र नहीं बनती, किंतु धर्मपत्नी बनती है। इसीके द्वारा स्त्रीमें पातिव्रत्य इतना कूटकर भर दिया जाता है कि वह अपने पतिसे अतिरिक्त पुरुषोंको पिता, भ्राता या पुत्रकी दृष्टिसे देखती है। दूसरे जन्ममें भी वह स्त्री अपने पतिलोककी कामनामें निरत रहती है। जलसे जलके मेलकी तरह वह पतिसे अभिन्न हो जाती है। तब इसमें दुश्चरित्रता तो स्वप्नमें भी नहीं रह पाती। विवाहके विच्छेदका तो इसमें विचार ही नहीं रह पाता।

इसी 'हिन्दू-विवाहके' परिणामस्वरूप भारतवर्षका पातिव्रत्यधर्म देश-विदेशमें सुप्रसिद्ध है। इसमें पति-पत्नी एक द्वारके दो किवाड़ हैं, एक मुखकी दो आँखें हैं, एक रथके दो चक्र हैं। इसी हिन्दू-विवाहसे दम्पती एक-दूसरेसे अविश्वस्त नहीं रहते, पक्का गठजोड़ रहता है। इस हिन्दू-विवाह-विधिमें देवताओंकी साक्षी होती है। इस संस्कारकी एक-एक विधिमें ऐसे ही भाव गर्भित होते हैं। अश्मारोहण, ध्रुवदर्शन, लाजाहोम आदि विधियाँ, **'मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु'** इत्यादि, तथा **'प्राणैस्ते प्राणान् संदधामि, अस्थिभिस्ते अस्थीनि संदधामि, मांसैस्ते मांसानि संदधामि, त्वचा ते त्वचं संदधामि'** आदि मन्त्र इस सम्बन्ध-सूत्रको और सुदृढ़ करते हैं। इससे हिन्दू-विवाह अन्य जातियोंके विवाहसे बहुत-सी विशेषताएँ रखता है—यह भिन्न सम्प्रदायवालोंको भी स्वतः मानना पड़ता है।

संस्कार प्रेय और श्रेयके मार्ग हैं

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

अनादि सृष्टि-परम्पराके रक्षणहेतु परब्रह्म परमात्माने अखिल धर्ममूल वेदोंको प्रदान किया है। अपौरुषेय वेद 'श्रुति' हैं और उनपर आधृत धर्मशास्त्र 'स्मृति' हैं। श्रुति-स्मृति-पुराणादिके आलय सर्वज्ञ भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीने श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यके आरम्भमें स्पष्ट किया है कि उस भगवान्‌ने जगत्‌की सृष्टिकर उसकी स्थितिके लिये मरीचि आदिकी सृष्टिकर प्रवृत्तिलक्षण-धर्मका प्रबोध किया और सनक, सनन्दनादिको उत्पन्न करके ज्ञान, वैराग्यप्रधान निवृत्तिलक्षण-धर्मका मार्ग प्रशस्त किया। ये ही दो वैदिक धर्ममार्ग हैं—'स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञान-वैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। जगतः स्थिति-कारणम्'॥'

वेदोंके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् भागोंमें प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण धर्मोंका विशदीकरण द्रष्टव्य है। समुचित व्यवस्थाके अभावमें यह सृष्टि सम्पन्न नहीं हुई है। सृष्टिके वैविध्यको दृष्टिमें रखकर धर्माचरणकी व्यवस्था की गयी है। प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण धर्म एतदर्थ ही हैं। **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** का अर्थ यही है कि इहलोक और पर-लोकके अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धिके लिये वेदोक्त धर्ममार्गका अनुसरण करना चाहिये। सबके हितको दृष्टिमें रखकर वेदोक्त धर्माचरणके निमित्त हमारे आदरणीय ऋषि-मुनियोंने युगानुरूप अथवा देश, कालके अनुसार स्मृतिग्रन्थोंके प्रणयनद्वारा सरल और सुबोध रीतिसे धर्माचरण-विधानको स्पष्ट किया है। श्रुत्यर्थ-प्रतिपादक ये ही ग्रन्थ धर्मशास्त्रके ग्रन्थ हैं। पुराणोंमें भी श्रुति-स्मृतिसारभूततत्त्व निहित हैं। परमेश्वरने यह सृष्टि क्यों की है और इसका रहस्य क्या है? कई लोगोंके मनमें यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। मनीषियोंने नाना प्रकारसे इस प्रश्नका समाधान किया है। 'शिवानन्दलहरी' में कहा गया है—

क्रीडार्थं सृजसि प्रपञ्चमखिलं क्रीडामृगास्ते जनाः
यत्कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत्।
शम्भो स्वस्य कुतूहलस्य करणं मच्चेष्टितं निश्चितं
नित्यं मामकरक्षणं पशुपते कर्तव्यमेव त्वया॥

अर्थात् 'हे शम्भो! अखिल प्रपञ्च यानी जगत्‌की सृष्टि तुम अपनी क्रीडाके लिये करते हो एवं यहाँके लोग तो तुम्हारी क्रीडाके मृग हैं। मुझसे जो कर्म आचरित हैं, वे तुम्हारी प्रीतिके लिये ही हैं। मुझद्वारा जो किया गया है, वह तुम्हारे कुतूहलका साधन है। अतएव हे पशुपते! मेरी नित्य रक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य ही है।'

जिस सृष्टिकर्ताने इतनी व्यापक सृष्टि की है, क्या वह नहीं जानता कि यहाँके जीवोंको कैसे रखना चाहिये? इसलिये मनुष्यकी सृष्टि उसकी प्रकृतिके अनुसार हुई है और इहलोक तथा परलोकमें श्रेयप्राप्तिकी दृष्टिसे संस्कारोंका विधान निश्चित हुआ है। इन विधानोंको कर्तव्य समझना चाहिये। जगत्‌में जो भी वस्तु है, उसका संस्कार उसके सौन्दर्यका अथवा आकर्षणका कारण बनता है। प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ मानव संस्कारोंसे ही समाजयोग्य होता है, संस्कारोंसे उसका आत्मविकास होता है और वह लक्ष्यप्राप्तिके पथपर अग्रसर हो सकता है। संस्कार माने क्या है? संस्कार तो विहितक्रियाजन्य तथा पापनाशक हैं। स्मृतिकारोंने 'संस्कार' के विषयमें कहा है—'तत्रात्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः। स च द्विविधः, एकस्तावत् कर्मान्तराधिकारेऽनुकूलः, यथोपनयनजन्यो वेदाध्ययनाद्यधिकारापादकः। अपरस्तूत्पन्नदुरितमात्रनाशको यथा बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणो जातकर्मादिजन्यः।'

संस्कार तो आत्मशरीरान्यतरनिष्ठ विहितक्रियाजन्य अतिशय है। वह दो प्रकारका है। एक तो दूसरे कर्मोंकी योग्यताका हेतु है, जैसे—उपनयन आदिसे प्राप्त होनेवाला संस्कार वेदोंके अध्ययनकी योग्यताहेतु है। दूसरा, जो

प्राप्त होता है, उसका नाशक है। जैसे—जन्मग्रहण करनेसे पूर्व गर्भके कारण समुत्पन्न दुरितको दूर करनेके लिये किया जानेवाला जातकर्मादिसे प्राप्त होनेवाला संस्कार है। शास्त्रग्रन्थोंमें संस्कारकी विशेष आवश्यकता बतायी गयी है। संस्कारके अभावमें मनुष्यका जन्म व्यर्थ समझा जाता है। कहा गया है—'**संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम्।**'

लोकमें प्रसिद्धि है कि संस्कार षोडश हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

आधानपुंससीमन्तजातनामान्नचौलकाः।
मौञ्जी व्रतानि गोदानसमावर्तविवाहकाः॥
अन्त्यं चैतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते षोडशैव तु।

अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल (मुण्डन), उपनयन, व्रत (वेदव्रतचतुष्टय), गोदान, समावर्तन, विवाह और अन्त्यकर्म—ये सोलह संस्कार यहाँ बताये गये हैं। सीमन्तोन्नयन-प्रयोगके साथ पुंसवनप्रयोग भी सम्मिलित होता है।

मनुने गर्भाधानादि संस्कारोंके फलके विषयमें बताया है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

निषिद्धकाल तथा अशुद्धिजनित दोषसे युक्त गर्भको जातकर्मादि संस्कार परिशुद्ध करता है।

जो व्यक्ति वेदकी जिस शाखाका परम्परासे अध्ययन करनेवाला है, उसका कर्तव्य होता है कि वह पहले अपनी शाखाका अध्ययन करे। अपनी वेदशाखाका अध्ययन किये बिना दूसरी शाखाका अध्ययन करना उचित नहीं है। इसी प्रकार जो जिस सूत्रका है, उसको उस सूत्रके अनुसार अनुष्ठान भी सर्वथा कर्तव्य है। अङ्गिराका कथन है—

स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः।
कर्तव्या भूतिकामेन नान्यथा सिद्धिमृच्छति॥

स्वगृह्यसूत्रमें कथित सभी संस्कार यथोक्त रीतिसे सम्पन्न करने चाहिये, अन्यथा ऐहिकामुष्मिक फलकी प्राप्ति नहीं होती।

ऋषि-मुनियोंने स्वसूत्र-त्यागको दोष माना है—

स्वसूत्रोक्तं परित्यज्य यदन्यत् कुरुते द्विजः।
अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यत्नेन पतितो भवेत्॥

जान-बूझकर अथवा अज्ञानसे जो स्वसूत्रका परित्यागकर कर्माचरण करता है, वह उसके फलका भागी न होकर पतित होता है।

गौतम महर्षिने जो संस्कार बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार वेदव्रत, स्नान, सहधर्मचारिणसंयोग अर्थात् विवाह, पञ्चयज्ञ-अनुष्ठान (देव-पितृ-मनुष्य-भूत-ब्रह्म) तथा अष्टका, पार्वण, मासिकश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी—ये सात पाकयज्ञ; अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी—ये सात हविर्यज्ञ; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये सात सोमसंस्था कहलाते हैं। इन सबकी संख्या चालीस है।

उक्त संस्कारोंके अतिरिक्त आत्माके आठ गुण माने गये हैं। वे हैं—सर्वभूतदया, क्षमा, असूयाराहित्य, शुचिता, अनायास, मङ्गल (प्रशस्ताचरण), अकार्पण्य और निःस्पृहता—

दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति। यस्यैते चत्वारिंशत् संस्काराः ...अष्टावात्मगुणाः अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति।

विचार करनेपर विदित होगा कि गौतमोक्त संस्कार षोडश संस्कारोंके विस्तृत रूप हैं। षोडश संस्कार और आत्माके आठ गुण—ये सब मिलकर कुल चौबीस मनुष्य-जीवनकी प्रगतिके लिये सर्वथा आवश्यक माने गये हैं। कहा जा सकता है कि षोडश संस्कार आत्माके आठ गुणोंकी सिद्धिके लिये हैं। इस सिद्धिसे मनुष्य श्रेय प्राप्तकर सकता है।

सभी संस्कारोंके आचरणकालमें अवश्यमेव ध्यान देनेकी जो बातें होती हैं, उनके विषयमें यहाँ थोड़ा विचार करेंगे।

स्नातः कुर्वीतोपवीती सर्वं कर्म पवित्रवान्।
आचान्तः पुनराचामेत्तिलकी बद्धचूडकः॥

उपर्युक्त वचनके अनुसार जो भी कर्म करे, पहले स्नानसे पूत होकर करना चाहिये। बिना स्नानके कोई कर्म नहीं करना चाहिये, जो देवता और पितरोंसे सम्बन्धित है। कहा गया है—'**अस्नात्वा नाचरेत् कर्म दैवं पित्र्यमथापि वा।**' द्विजके लिये शिखा-यज्ञोपवीत भी आवश्यक है। सन्ध्या और शुभ कर्माचरणके समय शिखा बाँधना भी

आवश्यक है। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि यज्ञोपवीत होना चाहिये। स्मृतिकारोंने कहा है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्॥

अर्थात् शिखा एवं यज्ञोपवीतके बिना जो भी कर्म किया जाता है, वह कर्म फलदायक नहीं होता।

माधवीय शङ्करविजयमें एक सुन्दर प्रसंग है। शास्त्रार्थकी इच्छासे भगवत्पाद शङ्कराचार्य जब मण्डनमिश्रके गृहके भीतर योगशक्तिसे पहुँचे, तब मण्डनमिश्र कपाट बंद होनेपर भी दो ब्राह्मणोंके बीचमें बालसंन्यासीको देखकर विचलित हुए और उन्होंने रूक्षतासे ही पूछा— **'शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति।'** उसका जो उत्तर भगवत्पादने दिया वह अत्यन्त मार्मिक है— **'शिखायज्ञोपवीताभ्यां श्रुतेर्भारो भविष्यति।'** परमहंस संन्यासीके लिये शिखा और यज्ञोपवीतकी आवश्यकता नहीं है, परंतु अन्य आश्रमके लोगोंके लिये शिखा एवं यज्ञोपवीत आवश्यक हैं।

'श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म न कुर्यादशुचिः क्वचित्'— इस वचनके अनुसार श्रुति-स्मृतिमें जो कर्म बताये गये हैं, उनका आचरण शुचितासे ही करना चाहिये। अतएव धौत वस्त्र धारणकर कर्माचरण करना चाहिये। बिना उत्तरीय अर्थात् एक वस्त्र धारणकर कर्ममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। गीले कपड़े भी नहीं पहनने चाहिये।

यह भी विधि है कि प्रत्येक कर्मारम्भमें सङ्कल्प करना चाहिये। महर्षि व्यासने बताया है कि बिना सङ्कल्पके किया गया कर्म सफल नहीं होता। स्नान-सन्ध्यादिमें भी पहले सङ्कल्प किया जाता है। शास्त्रोंमें सर्वत्र इस बातका उल्लेख है। स्मृतिकारोंने इसके अभावमें कर्मको फलप्रद नहीं माना है, कहा है—

फलाभिसन्धानबुद्धिस्थिरीकरणसिद्धये ।
सङ्कल्पस्तु पुरा कार्यः श्रौते स्मार्ते च कर्मणि॥

शान्तिमयूखमें कहा गया है—

सर्वत्रैव च कर्तव्यं स्नानदानव्रतादिकम्।
अन्यथा पुण्यकर्माणि निष्फलानि भवन्ति हि॥

स्नान-दान-व्रत आदिके समय सदा सङ्कल्प करना चाहिये, अन्यथा पुण्यकर्म निष्फल हो जाते हैं। और भी कहा गया है—

मासपक्षतिथीनाञ्च निमित्तानां च सर्वशः।
उल्लेखनमकुर्वाणो न तस्य फलभाग् भवेत्॥

सङ्कल्पमें क्या-क्या कहना चाहिये? इसके सम्बन्धमें कहा गया है कि मास, पक्ष, तिथि और निमित्तोंका उल्लेख करना चाहिये, ऐसा न करनेवाला करणीय कर्मका फलभागी नहीं होता।

नित्य-नैमित्तिक-काम्य—चाहे कोई भी कर्म हो, सदा उपवासपूर्वक ही करना चाहिये। वेदोंमें यदि इसके लिये अपवाद हो तो दूसरी बात है—

'उपोषितः कर्म कुर्याद्विध्यनुज्ञे विना सदा।'

हमें अपनी वेदशाखाके सूत्रकारके कथनोंका उल्लङ्घनकर कर्मका आचरण नहीं करना चाहिये। कर्माचरण अन्यथा करनेसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है। चक्षुरादि इन्द्रियोंको भी अवैध नहीं होने देना चाहिये। यदि अकारण कुछ हो जाय तो जलस्पर्श करना चाहिये। इस प्रकार दोष या पाप दूर करनेके लिये अनेक प्रायश्चित्तविधान बताये गये हैं।

सङ्कल्पके पूर्व आचमन और प्राणायाम अवश्य कर्तव्य हैं। शून्यललाट होकर इनका आचरण नहीं किया जाता। पितृकर्ममें विकल्प बताया गया है। सम्प्रदायानुसार त्रिपुण्ड्र या ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये। भस्म धारण करते समय **'अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म'** मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। अथवा **'त्र्यम्बकं यजामहे'**, **'मानस्तोके तनये'** आदि मन्त्रोंका भी उच्चारण किया जा सकता है।

मार्कण्डेयमुनिने कहा है कि देवतार्चनादि कर्म और गुर्वभिवादनके समय द्विजको चाहिये कि वह आचमन करके कर्ममें प्रवृत्त हो—

देवार्चनादिकर्माणि तथा गुर्वभिवादनम्।
कुर्वीत सम्यगाचम्य प्रयतोऽपि सदा द्विजः॥

श्रुति भी है—**'अपोऽश्नात्यन्तरत एव मेध्यो भवति'** शुद्धिके लिये आचमन (जलका पान) किया जाता है।

याज्ञवल्क्यका कथन है कि दोनों करोंको जानुओंके बीचमें रखकर उत्तर या पूर्व दिशाकी ओर मुख करके शुचिस्थलमें बैठकर आचमन करना चाहिये—

अन्तर्जानुः शुचौ देशे उपविष्ट उदङ्मुखः।
प्राङ् वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्॥

(आचाराध्याय, श्लोक १८)

यमका वचन है कि जो द्विज करनखोंसे जल छूकर आचमन करता है, वह जल सुराके समान है—

अपः करनखैः स्पृष्ट्वा य आचमति वै द्विजः।
सुरां पिबति स व्यक्तं यमस्य वचनं तथा॥

खड़े होकर या वामहस्तसे आचमन नहीं करना चाहिये। बैठकर तीन बार आचमन करना चाहिये। दो बार ओठोंका परिमार्जन करना चाहिये। उसके बाद दक्षिण हस्तसे प्रोक्षणकर यथोक्त रीतिसे पाद, सिर आदिका स्पर्श करना चाहिये। महर्षि व्यास, गौतम, आपस्तम्ब, याज्ञवल्क्य, हारीत, भरद्वाज आदिके ग्रन्थोंमें विशद रूपसे आचमनविधि बतायी गयी है। जानुओंसे ऊपर जल हो तो नदी आदि जलस्थानमें खड़े होकर आचमन कर सकते हैं। स्मृतिचन्द्रिकामें कहा गया है—

जानुमात्रे जले तिष्ठन् आसीनः प्राङ्मुखो स्थले।
सर्वतश्शुचिराचान्तस्तयोस्तु युगपत् स्थितः॥

'आदावन्ते च सन्ध्यायां द्विर्द्विराचमनं स्मृतम्'— वचनके अनुसार सन्ध्या-वन्दनके समय प्रारम्भ और अन्तमें दो बार आचमनकी बात कही गयी है। प्रत्येक कर्मके अन्तमें भी दो बार आचमनका विधान है—'कर्मान्ते द्विराचामेत्'। आचमन करना जब सम्भव नहीं होता तब दाँयें कानका स्पर्श करना चाहिये। यह माना जाता है कि द्विजके दक्षिण कर्णमें देवताओंका निवास होता है—

महर्षि पराशरका कथन है—

प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्यास्सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सन्तीति मुनिरब्रवीत्॥
आदित्यो वरुणस्सोमो वह्निर्वायुस्तथैव च।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः॥

सभी कर्मोंमें कुशका प्रयोग पवित्र और आवश्यक माना गया है। कहा गया है—

कुशमूले स्थितो ब्रह्मा कुशमध्ये तु केशवः।
कुशाग्रे शंकरं विद्यात् सर्वे देवाः समन्ततः॥

कुशसे 'पवित्र' बना करके अनामिकाके मध्यम पर्वमें धारणकर सभी कर्म किये जाते हैं, परंतु पवित्रके साथ आचमन नहीं करना चाहिये। 'ग्रन्थ्यर्यस्य पवित्रस्य न तेनाचमनं चरेत्' ग्रन्थियुक्त पवित्रसे आचमन करनेपर उस पवित्रको त्यागकर पुनः आचमन करना चाहिये। 'पवित्र' सभी दुःखोंको दूर करनेवाला और आनन्ददायक है— 'पवित्रं सर्वदुःखघ्नं तथैवानन्ददायकम्'। स्वर्ण या रजतका पवित्र धारण किया जा सकता है, जो श्रेयस्कर है—'हेम्ना रूप्येण वा धीमान् पवित्रं धारयेत् सदा'। स्वर्णके पवित्रको अनामिकामें तथा रजत पवित्रको तर्जनीमें धारण करना चाहिये, ऐसा कहा गया है।

सङ्कल्पके पूर्व प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायामके सम्बन्धमें नारदजीने कहा है—

प्राणो वायुश्शरीरस्थ आयामस्तस्य निग्रहः।
प्राणायाम इति प्रोक्तः द्विविधः प्रोच्यते हि सः॥

अर्थात् शरीरमें जो प्राणवायु है, उसका निग्रह प्राणायाम कहलाता है।

देवकार्यमें दो दर्भवाले पवित्रको तथा पितृकार्यमें तीन दर्भवाले पवित्रको धारण करना चाहिये। दर्भ या कुश बहुत पवित्र माने गये हैं। कुश ब्राह्मणके हस्तके विभूषण हैं। गोभिलने कहा है—

वज्रो यथा सुरेन्द्रस्य शूलं हस्ते हरस्य च।
चक्रायुधं यथा विष्णोः एवं विप्रकरे कुशः॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च ये चान्ये ब्रह्मराक्षसाः।
विप्राङ्गुलिकुशान् दृष्ट्वा दूरं गच्छन्त्यधोमुखाः॥

भाव यह है कि जैसे देवेन्द्रके हाथमें वज्रायुध, शिवजीके हाथमें शूल और विष्णुके हाथमें चक्रायुध होता है, उसी प्रकार ब्राह्मणके हाथमें कुश होते हैं। ब्राह्मणके हाथकी अँगुलीमें स्थित कुशको देखकर भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस सिर झुकाकर दूर चले जाते हैं। कुश पापनाशक है, इसलिये महर्षि मार्कण्डेयजीका वचन है—

कुशपाणिस्सदा तिष्ठेत् ब्राह्मणो दम्भवर्जितः।
स नित्यं हन्ति पापानि तूलराशिमिवानलः॥

अर्थात् गर्वरहित होकर ब्राह्मणको सदा कुशहस्त होना चाहिये। जैसे अग्नि तूलराशिको जला देता है, वैसे ही कुश समस्त पापोंको दूर कर देते हैं। पवित्र धारण करते समय 'पवित्रवन्तः परिवाचमासते०' आदि मन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है। सभी वैदिक संस्कार मन्त्र-तन्त्रके साथ ही सम्पन्न होते हैं। ऐसे संदर्भमें विना पवित्रके प्राणायाम भी नहीं किया जाता। कहा गया है कि देव-कार्य, जप, होम, स्वाध्याय, श्राद्धकर्म, स्नान, दान और ध्यानके समय तीन बार प्राणायाम करना चाहिये—

देवार्चने जपे होमे स्वाध्याये श्राद्धकर्मणि।
स्नाने दाने तथा ध्याने प्राणायामास्त्रयस्त्रयः॥

सन्ध्या-वन्दनमें अर्घ्यप्रदानको छोड़कर अन्य समयमें तीन बार प्राणायाम करना चाहिये—

आदावन्ते च गायत्र्याः प्राणायामास्त्रयस्स्मृताः।
सन्ध्यायामर्घ्यदाने च स्मृत एकोऽनुसंयमः॥

प्राणायाम करते समय मध्यमा और तर्जनीको छोड़कर अङ्गुष्ठ, अनामिका और कनिष्ठिकाका प्रयोग करना चाहिये तथा प्रणव और व्याहृतिके साथ गायत्रीमन्त्रका तीन बार उच्चारण करना चाहिये—

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम्।
प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः॥

प्राणायामके पूरक, कुम्भक और रेचकके लक्षण याज्ञवल्क्य मुनिने इस प्रकार बताये हैं—

पूरकः कुम्भको रेच्यः प्राणायामस्त्रिलक्षणः।
नासिकाकृष्ट उच्छ्वासः ध्मातः पूरक उच्यते॥
कुम्भको निश्चितोच्छ्वासो रिच्यमानस्तु रेचकः।

प्राणायाम संयमियों और योगियोंका प्रबल साधन है। वह भी यज्ञका एक रूप है। श्रीमद्भगवद्गीता (४। २९)-में कहा गया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

गुरुके उपदेशको स्वीकारकर ज्ञानसाधनका अनुसन्धान करना, जगन्मिथ्यात्वकी अनुभूतिकर राग-द्वेषादिको छोड़ना और सदा सन्तुलित मानसयुक्त होकर स्वराज्यमें स्थिर रहना वस्तुतः सच्चा पूरक, कुम्भक और रेचक है। लौकिक सिद्धि ही संस्कारोंका लक्ष्य नहीं है, संस्कारोंके मूलमें पारमार्थिक दृष्टि सदा अनुसन्धेय है। संस्कारोंसे सुसंस्कृत मानव जीवनके रहस्यको समझकर परमेश्वरके दर्शनकी परमानुभूतिसे ध्रुवपद प्राप्त कर सकता है।

~~o~~

आख्यान— क्षणभरका कुसङ्ग भी पतनका कारण होता है

किसी समय कन्नौजमें अजामिल नामका एक तरुण ब्राह्मण रहता था। वह शास्त्रोंका विद्वान् था, शीलवान् था, कोमल स्वभावका, उदार, सत्यवादी, संयमी तथा संस्कारी था। गुरुजनोंका सेवक था, समस्त प्राणियोंका हितैषी था, बहुत कम और संयत वाणी बोलता था एवं किसीसे भी द्वेष या घृणा नहीं करता था।

वह धर्मात्मा ब्राह्मण युवक पिताकी आज्ञासे एक दिन वनमें फल, पुष्प, अग्निहोत्रके लिये सूखी समिधा और कुश लेने गया। इन सब सामग्रियोंको लेकर वह लौटने लगा तो उससे एक भूल हो गयी। वह ऐसे मार्गसे लौटा, जिस मार्गमें आचरणहीन लोग रहा करते थे। यह एक नन्ही-सी भूल ही उस ब्राह्मणके पतनका कारण हो गयी।

ब्राह्मण अजामिल जिस मार्गसे लौट रहा था, उस मार्गमें एक शूद्र एक दुराचारिणी स्त्रीके साथ शराब पीकर निर्लज्ज विनोद कर रहा था। वह स्त्री शराबके नशेमें लज्जाहीन हो रही थी। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे थे। अजामिलने पाससे यह दृश्य देखा। वह शीघ्रतापूर्वक वहाँसे चला आया, किंतु उसके मनमें सुप्त विकार उस क्षणभरके कुसङ्गसे ही प्रबल हो चुका था।

अजामिल घर चला आया, किंतु उसका मन उन्मत्त हो उठा। वह बार-बार मनको संयत करनेका प्रयत्न करता था, किंतु मन उस कदाचारिणी स्त्रीका ही चिन्तन करनेमें लगा था। अन्ततः अजामिल मनके इस संघर्षमें हार गया। एक क्षणके कुसङ्गने धर्मात्मा संयमी ब्राह्मणको डुबा दिया पाप-सागरमें। उस कदाचारिणी स्त्रीको ही संतुष्ट करनेमें अजामिल लग गया। माता-पिता, जाति-धर्म, कुल-सदाचार और साध्वी पत्नीको भी उसने छोड़ दिया। लोक-निन्दाका कोई भय उसे रोक नहीं सका। समस्त पैतृक धन घरसे ले जाकर उसने उसी कुलटाको संतुष्ट करनेमें लगा दिया और बात यहाँतक बढ़ गयी कि उसी स्त्रीके साथ अलग घर बनाकर वह रहने लगा।

जब एक बार मनुष्यका पतन हो जाता है, तब फिर उसका सम्हलना कठिन होता है। वह बराबर नीचे ही गिरता जाता है। अब अजामिलको तो उस कुलटा नारीको संतुष्ट करना था और इसका उपाय था उसे धन देते रहना। चोरी, जुआ, छल-कपट—जिस उपायसे धन मिले—धर्म-अधर्मका प्रश्न ही अजामिलके सामनेसे हट गया।

तनिक देरका कुसङ्ग कितना महान् अनर्थ करता है। एक धर्मात्मा संयमी एक क्षणके प्रमादसे आचारहीन घोर अधर्मी और कुसंस्कारी बन गया। (श्रीमद्भागवत)

~~o~~

सामाजिक जीवनमें सच्चारित्र्य एवं सुसंस्कारसम्पन्नताकी अनिवार्यता

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

वेदोंमें चारित्र्य-निर्माण एवं सुसंस्कारसम्पन्नताके लिये कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों साधनोंका प्रतिपादन हुआ है। मनुष्यका चारित्र्य पूर्णरूपसे निष्कलङ्क तभी होता है और वह तभी सुसंस्कृत होता है, जब उसके अन्तःकरणमें रहनेवाले मल, विक्षेप एवं आवरण—ये तीन दोष मिट जाते हैं। निष्काम कर्मयोगसे मल, उपासनासे विक्षेप एवं ज्ञानसे आवरण-दोष दूर होता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यने ज्ञानको ही मोक्षका साक्षात् साधन माना है। उन्होंने ज्ञानको फलपर्यवसायी सिद्ध करनेके लिये पूर्वमीमांसकोंके बहुत-से विचारोंका परीक्षण एवं खण्डन कर अपने पक्षकी स्थापना की है।

पूर्वमीमांसाका आधारसूत्र है—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।'

'वेदके क्रियार्थक होनेके कारण उसमें पाये जानेवाले सिद्धपदार्थ-बोधक वाक्य निरर्थक या क्रियाविधिकी प्रशंसा या निन्दा करनेवाले अर्थवादमात्र हैं।' शाब्दबोध भी क्रियार्थक वचनोंसे ही होता है। प्रयोजक वृद्धने प्रयोज्य वृद्धसे कहा—'गामानय', तब बालक प्रयोज्यवृद्धकी गौको ले जानेकी क्रिया देखकर 'गाम्' और 'आनय' इन दो पदोंका अर्थ जानता है। इसी प्रक्रियासे 'गां बधान, अश्वमानय' इत्यादि वाक्योंमें क्रियापरक पदोंके सहकारसे ही सिद्धपरक पदोंका अर्थ जाना जाता है। इसी तरह 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वेदवचनोंका तात्पर्य भी क्रियापरकतासे ही अवगत होता है। इस प्रकार—'फलवदर्थावबोधकत्वं वेदत्वम्' का सिद्धान्त स्थापित होता है।

भगवान् शंकराचार्यने 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस सिद्धान्तको मानते हुए भी कर्म और उपासनाकी उपादेयताको स्वीकार किया है। पर—'व्यवहारे भाट्टनयः'। व्यवहारकी सिद्धिके लिये कुमारिल भट्टने जिन प्रमाणोंको माना, उनको शंकरने भी माना है। (सनातन-धर्मके इतिहासमें वेदके कर्मकाण्डभागका उद्धार कुमारिल भट्टने और ज्ञानकाण्ड-भागका उद्धार भगवान् शंकरने किया।)

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—इस ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखते हुए शंकरने 'अथ' शब्दका अर्थ साधनचतुष्टयसम्पन्न—ऐसा किया है। नित्यानित्य-वस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये छः साधनसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—इन चारोंको ब्रह्मविचारके पूर्व अनिवार्य माना है। ये साधन उसीके अन्तःकरणमें उत्पन्न होते हैं जो निष्काम कर्मानुष्ठान करता है—

> स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
> साधनं च भवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥
>
> (अपरोक्षानुभूति ३)

अपने वर्ण एवं आश्रमके लिये विहित कर्मरूप धर्मका तपस्याके भावसे अनुष्ठान करके श्रीहरिको संतुष्ट—प्रसन्न करनेवाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ही वैराग्यादि चार साधन प्रकट होते हैं।

परंतु आजकल बहुत-से लोग कर्मकी उपेक्षा करके उपासना और ज्ञानकी साधनामें प्रवृत्त होना चाहते हैं; जबकि यह नियम है कि क्रियामें शुद्धि नहीं है तो भाव और विचारकी शुद्धि टिक नहीं सकती। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि आपकी किसीसे मित्रता है, पर आप मित्रके परोक्षमें उसका अहित करते हैं या उसके अनिष्टकी बात सोचते हैं तो स्वाभाविकरूपसे आपकी मित्रताकी भावना समाप्त हो जायगी। आजके भारतीय जीवनमें विचारों और भावोंकी उच्चताकी चर्चामात्र होती है। हम उच्च कोटिके भावराज्यका चिन्तन करते हैं; यहाँतक कि कभी-कभी हम ब्रह्मविचार करने भी बैठ जाते हैं; किंतु चारित्रिक धरातलके निम्न रहनेके कारण यह सब मात्र कल्पनाकी उड़ान बनकर रह जाता है। इसलिये कठोपनिषद्में कहा है—

> नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
> नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

'दुश्चरित्रसे विरत न होनेवाला, मन और इन्द्रियोंको संयममें न रखनेवाला, चित्तकी स्थिरताका अभ्यास न करनेवाला एवं विक्षिप्त मनवाला मनुष्य केवल बुद्धिबलसे आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।'

इसलिये यह आवश्यक है कि हमारा चरित्र उज्ज्वल हो। जीवनमें दैवी सम्पत्तिके संस्कार प्रतिष्ठित हों। जो सिद्धोंका स्वभाव होता है, वही साधकोंकी साधना बन जाता है। अतः हम गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षण पढ़ें। दैवीसम्पत्तिके लक्षण पढ़ें। गुणातीत और भगवत्प्रियके लक्षण पढ़ें। रामायणमें श्रीरामचरित्र पढ़ते समय उनके गुणोंपर दृष्टिपात करें।

श्रीरामचरितमानसमें जो संतोंके लक्षण बताये गये हैं, उनको देखें और उन्हें अपना आदर्श बनायें। दर्पणको आदर्श कहते हैं। जैसे मनुष्य दर्पणके सामने खड़े होकर स्वयंको सजाता-सँवारता है, वैसे ही इन गुणोंको सम्मुख रखकर हमें अपने चरित्रको परिष्कृत करना चाहिये। आत्मसमीक्षा करके देखना चाहिये कि हम कहाँतक इन सद्‌गुणोंको अपने अन्तःकरणमें ला सके हैं—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किंनु मे पशुभिस्तुल्यं किं वा सत्पुरुषैरिति॥

'मनुष्य प्रतिदिन अपने चरित्रकी परीक्षा करे कि वह मुझमें पशुओंके तुल्य कितना है और कितना सत्पुरुषोंके तुल्य है।'

हमारे उज्ज्वल चरित्रसे न केवल हमारा लाभ, अपितु समाज, राष्ट्र और विश्वका भी उससे अभ्युदय होगा। हमारा पवित्र जीवन, सुसंस्कारोंमें पला जीवन तथा उज्ज्वल चरित्र हमारे समाजका घटक होनेके नाते समाजका ही होगा—जैसे कि वृक्ष-वृक्षसे वन बनता है। यदि एक वृक्ष विकसित, पल्लवित, फलित होता है तो वह वनश्रीकी ही अभिवृद्धि करता है। इसी प्रकार समाजका एक-एक व्यक्ति चरित्रवान् होकर पूरे समाजको चरित्रवान् किंवा सुसंस्कृत बनानेमें योग दे सकता है। यदि उनसे प्रेरणा पाकर दूसरोंने भी अनुसरण करना प्रारम्भ किया तो वे पूरे समाजका कायापलट कर सकते हैं।

आजकल लोग शङ्का करते हैं कि 'वर्तमान सामाजिक परिस्थितिमें सच्चरित रहना, धर्मका पालन करना क्या सम्भव है? इस समय वातावरण ही ऐसा है कि मनुष्यको न चाहते हुए भी अधर्मके मार्गपर चलना पड़ता है।' किंतु यदि हमारी समझमें यह बात आती है कि यह अधर्मका मार्ग व्यक्तिके और समाजके कल्याणका नहीं है तो हमें दूसरोंकी ओर न देखकर स्वयं ही साहस करके सत्यके मार्गपर आगे बढ़ना चाहिये और उसमें आनेवाली कठिनाइयोंका सामना करना चाहिये। कठिनाइयाँ आयेंगी, किंतु यदि हमने अपने सत्यपथको न छोड़ा, तो वे सब समाप्त हो जायँगी। कदाचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकताको समाप्त किये बिना न तो लौकिक अभ्युदय हो सकता है न पारमार्थिक कल्याण। यद्यपि धर्मका उद्देश्य तो महान् है, फिर भी आजकी समस्याओंका हल अगर हो सकता है, चारित्रिक उत्थान हो सकता है, नैतिकता बढ़ सकती है तो धार्मिक भावनाओंसे ही बढ़ सकती है। अतः धार्मिक भावनाओंके संस्कारकी प्राथमिक आवश्यकता है। चरित्र-साधनका यही प्रथम सोपान है।

~~~ 0 ~~~

आख्यान—

विषयोंमें दुर्गन्ध

कोई भक्त राजा एक महात्माकी पर्णकुटीपर जाया करते थे। उन्होंने एक बार महात्माको अपने महलोंमें पधारनेके लिये कहा, पर महात्माने यह कहकर टाल दिया कि 'मुझे तुम्हारे महलमें बड़ी दुर्गन्ध आती है, इसलिये मैं नहीं जाता।' राजाको बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'महलमें तो इत्र-फुलेल छिड़का रहता है, यहाँ दुर्गन्धका क्या काम! महात्माजी कैसे कहते हैं, पता नहीं।' राजाने संकोचसे फिर कुछ नहीं कहा। एक दिन महात्माजी राजाको साथ लेकर घूमने निकले। घूमते-घामते चमारोंकी बस्तीमें पहुँच गये और वहाँ एक पीपलवृक्षकी छायामें खड़े हो गये। चमारोंके घरोंमें कहीं चमड़ा कमाया जा रहा था, कहीं सूख रहा था तो कहीं ताजा चमड़ा तैयार किया जा रहा था। हर घरमें चमड़ा था और उसमेंसे बड़ी दुर्गन्ध आ रही थी। हवा भी इधरकी ही थी। दुर्गन्धके मारे राजाकी नाक फटने लगी। उन्होंने महात्माजीसे कहा—'भगवन्! दुर्गन्धके मारे खड़ा नहीं रहा जाता—जल्दी चलिये।' महात्माजी बोले—'तुम्हींको दुर्गन्ध आती है? देखो चमारोंके घरोंकी ओर—कितने पुरुष, स्त्रियाँ और बाल-बच्चे हैं। कोई काम कर रहे हैं, कोई खा-पी रहे हैं, सब हँस-खेल रहे हैं। किसीको तो दुर्गन्ध नहीं आती, फिर तुम्हींको क्यों आने लगी?' राजाने कहा—'भगवन्! चमड़ा कमाते-कमाते तथा चमड़ेमें रहते-रहते इनका अभ्यास हो गया है। इनकी नाक ही ऐसी हो गयी है कि इन्हें चमड़ेकी दुर्गन्ध नहीं आती, पर मैं तो इसका अभ्यासी नहीं हूँ। जल्दी चलिये—अब तो एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहरा जाता।' महात्माने हँसकर कहा—'भाई! यही हाल तुम्हारे राजमहलका भी है। विषय-भोगोंमें रहते-रहते तुम्हें उनमें दुर्गन्ध नहीं आती—तुम्हारा अभ्यास हो गया है, पर मुझको तो विषय देखते ही उल्टी-सी आती है। इसीसे मैं तुम्हारे घर नहीं जाता था।'

राजाने रहस्य समझ लिया। महात्मा हँसकर राजाको साथ लिये वहाँसे चल दिये।

~~~ 0 ~~~

संस्कारतत्त्वविमर्श

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्दसरस्वतीजी महाराज)

१. संस्कारका स्वरूप—संस्करणका नाम 'संस्कार' है। 'सम्' उपसर्गसे 'कृञ्' धातुको 'घञ्' प्रत्यय और **'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे'** (पाणिनी०६। १। १३७) सूत्रसे भूषण अर्थमें 'सुट्' करनेपर 'संस्कार' शब्द बनता है। महर्षि जैमिनिप्रणीत 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' (३। १। ३) सूत्रके भाष्यमें श्रीशबरपादमहाभागने संस्कारको परिभाषित करते हुए कहा है—**'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'** संस्कार वह होता है, जिसके उत्पन्न होनेपर पदार्थ किसी प्रयोजनके लिये योग्य होता है। तन्त्रवार्तिककार श्रीभट्टपादके अनुसार संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं, जो योग्यता प्रदान करती हैं—**'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते'**।

२. संस्कारके प्रभेद—मलापनयन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्ति-भेदसे संस्कार तीन प्रकारके होते हैं। विजातीय द्रव्यके योगसे मलिन सुवर्णको घर्षणादिके द्वारा निर्मल बनाना मलापनयन है। आभूषणके रूपमें स्थैर्य प्रदान करनेके लिये उसमें किञ्चित् ताम्रधातुका संनिवेश हीनाङ्गपूर्ति है। उसे आभूषणका रूप प्रदान कर उसमें यथास्थान हीरा, मोती आदिका योग अतिशयाधान है।

वैदिक संस्कारसम्पन्न ब्राह्मणादि द्विज होते हैं। मन्त्रोंका विनियोग संस्कारोंमें होता है—**'संस्कारेषु मन्त्रा विनियुज्यन्ते'**। इस मन्त्रसे यह संस्कार कर्तव्य है—**'अनेन मन्त्रेणायं संस्कारः कर्तव्यः'**—ऐसा बोध ब्राह्मणभागके द्वारा सम्भव है। इतिकर्तव्यता (सहायकव्यापार)-का परिज्ञान सूत्रोंसे होता है—**'सूत्रेणेतिकर्तव्यतोच्यते'**। सूत्रसे ब्राह्मणकी और ब्राह्मणसे मन्त्रकी सार्थकता सिद्ध होती है। वेदोंका कार्यकारित्व तीनोंके योगसे सम्भव है।

उपनिषदोंमें कहा गया है—**'मनसा संस्करोति ब्रह्मा'** (छान्दोग्योपनिषद् ४। १६। २) अर्थात् 'ब्रह्मा यज्ञको मनसे सम्पन्न और संस्कृत करते हैं'। **'चतुश्चत्वारिंशत्संस्कार-सम्पन्नः'** (नारदपरिव्राजकोपनिषद् १। १) आदि स्थलोंमें चौवालीस संस्कारसम्पन्न संस्कृत और संस्कार शब्दोंका प्रयोग प्राप्त है।

३. संस्कारोंका प्रयोजन और महत्त्व—सर्वेश्वर **'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्'** है। उसमें मनोयोग सृष्टिका प्रयोजन है—**'उपायः सोऽवताराय'** (माण्डूक्यकारिका ३। १५)। सदोष और विषम शरीर तथा संसारसे मनको उपरतकर उसे निर्दोष एवं समब्रह्ममें समाहितकर सर्गजय (पुनर्भवपर विजय) आध्यात्मिक और आधिदैविक दृष्टिसे संस्कारोंका प्रयोजन है। बाह्याभ्यन्तर पदार्थोंको अभ्युदय और निःश्रेयसके युक्त बनाना संस्कारोंके द्वारा सम्भव है। पार्थिव, वारुण, तैजस और वायव्य बाह्य वस्तुएँ दृश्य, भौतिक, सावयव तथा परिच्छिन्न होनेसे संस्कार्य हैं। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणशरीर दृश्य और परिच्छिन्न होनेसे संस्कारयोग्य हैं। जो कुछ सदोष और विषम है, वह संस्कार्य है। ब्रह्मात्मतत्त्व विभु, निर्दोष और सम होनेसे असंस्कार्य है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १९)

यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, स्वधर्म, संयम, सद्व्रत तथा संतानादिकी सार्थकता देहेन्द्रिय-प्राणान्तःकरणकी निर्मलता और निश्चलतारूप समाधिके सम्पादनमें संनिहित है—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। ४६)

निर्मल और निश्चल दर्पणपर स्फुट अभिव्यक्त मुखचन्द्रके तुल्य शुद्ध और समाहित चित्तपर सच्चिदानन्दरूप सर्वात्मस्वरूप सर्वेश्वरका स्फुट अभिव्यञ्जन सुनिश्चित है।

वस्तु और व्यक्तिकी उपयोगिता संस्कारपर निर्भर करती है। लोटा, डोरी, पट, पात्र, यन्त्र, भवन, भूषण, भोजन, आसनादिकी जीवन-यापनमें उपयोगिताका रहस्य इनके निर्माण और उपयोगके पीछे संनिहित संस्कार है। वैदिक रीतिसे संस्कृत भूमि, जल, अग्नि, वायु, अन्न, वस्त्र, आवास, देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरणका अद्भुत महत्त्व है।

वेदोक्त कर्मोपासना-सुलभ संस्कारके बलपर ही मनुष्यको इन्द्रादि दिक्पाल, सूर्य, सोम, बृहस्पति, अनन्त, प्रजापति और ब्रह्माका पद सुलभ होता है—

'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामो यमराज्यमग्निष्टोमेनाभियजति सोमराज्यमुक्थेन सूर्यराज्यं षोडशिनो स्वाराज्यमतिरात्रेण प्राज्यापत्यमासहस्त्रसम्वत्सरान्तक्रतुनेति। वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः। अन्तर्याण्डोपयोगादिमौ स्थितावात्मशुची तथा॥'

कर्मोपासनाके समुचित अनुष्ठानसे सुसंस्कृत मनुष्य विपुल वैभवसमन्वित सार्ष्टिमोक्षरूप लोकपालोंका पद प्राप्त करता है। श्रीसर्वेश्वरकी उपासनासे सुसंस्कृत मानव सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य, सायुज्यसंज्ञक चतुर्विध मोक्षलाभ कर सकता है—

'चतुर्विधा तु या मुक्तिर्मदुपासनया भवेत्॥'

(मुक्तिकोपनिषद् १।२५)

अति दुर्लभ कैवल्यरूप परम पद पुरुषप्रयत्नसाध्य वेदान्तश्रवणजन्य समाधिसे सम्भव है। कामना और कर्मके वेगको शान्त करनेकी भावनासे फलाभिसन्धिविनिर्मुक्त पुण्यविशेषके सञ्चय और सुदृढ़ अभ्यासजन्य भावनाख्य संस्कारविशेषरूप सचिवसे समाधिमें ध्येयाकार वृत्तिकी अनुवृत्ति सम्भव है। समाधिसे संस्कृत चित्तका मलापनयन होता है और उसमें चिदानन्दस्वरूप आत्माका आविर्भाव होता है—

'पुरुषप्रयत्नसाध्यवेदान्तश्रवणादिजनितसमाधिना जीवन्मुक्त्यादिलाभो भवति।' (मुक्तिकोपनिषद् २।१)

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ॥

(पञ्चदशी १।५७)

समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

दुःखका हेतु जन्म है। जन्मका हेतु धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति है। प्रवृत्तिका मूल राग-द्वेषरूप दोष है। दोषका बीज मिथ्याज्ञान है। जैसे कफके निवारणसे कफोद्भूत ज्वरका निवारण सुनिश्चित है, वैसे ही जन्मके निवारणसे दुःखका, धर्माधर्मके निवारणसे जन्मका, राग-द्वेषके निवारणसे धर्माधर्मरूपा प्रवृत्तिका और मिथ्याज्ञानके निवारणसे राग-द्वेषरूप दोषका निवारण सुनिश्चित है—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।' (न्यायदर्शन १।१।२)

वेदान्तप्रस्थानके अनुसार मिथ्या ज्ञान अविद्या है। वही दुःख—दोषका परम कारण है। अवगतिपर्यन्त ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानरूप विरोधीसे उसका निवारण सम्भव है। अविद्या-निवृत्तिसे ब्रह्मरूपाविर्भाव मोक्ष है—

'अविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मरूपाविर्भावो मोक्षः।'

(भामती १।१।४)

इस प्रकार अविद्यानिवृत्तिपर्यन्त संस्कारकी गति है।

कुयोगरूप कुसंस्कारके कारण ही ग्रह, भेषज, जल, पवन और पट कुवस्तु होते हैं। सुयोगरूप सुसंस्कारके कारण ये सुवस्तु होते हैं—

ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग॥

(रा०च०मा० १।७ क)

जैसे पृथिवी (मिट्टी), जल, तेज़, वायु, आकाश तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, संकल्प, निश्चय, स्मरण और गर्व (अहमिति)-के अनुकूल प्रयोगसे रोगकी निवृत्ति और स्वास्थ्यकी अभिव्यक्ति सम्भव है, वैसे ही इनके विधिवत् उपयोगसे देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणका संस्कार सम्भव है।

४. दार्शनिक विवेचन—वैदिक संस्कार पञ्चभूत और पञ्चकोशके शोधक हैं। इनकी शुद्धिके बिना धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टयकी सिद्धि असम्भव है। अतएव इनके शोधनकी भावना व्यक्त की गयी है—

'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशा मे शुद्ध्यन्ताम्। अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयमात्मा मे शुद्ध्यताम्।'

अन्नमयकोशको स्थूल शरीर कहते हैं। प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयकोशको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। आनन्दमयकोशको कारण शरीर कहते हैं। जङ्गमजीवोंका स्थूल शरीर विवक्षावशात् अष्ट धातुमय, सप्त धातुमय अथवा षड् धातुमय अतएव षाट्कौशिक कहा जाता है। स्वोचित संस्कारोंसे अष्ट धातुओंका शोधन होता है। अतएव इनके शोधनकी भावना व्यक्त की गयी है—

'त्वक्चर्ममांसरुधिरस्नायुमेदोऽस्थिमज्जा मे

विविध आहारोंके सेवनसे मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय नामक छः रस बनते हैं। रससे रुधिर, रुधिरसे मांस, मांससे मेद, मेदसे स्नायु, स्नायुसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे शुक्रकी निष्पत्ति होती है। त्वक्, मांस, शोणित, अस्थि, स्नायु और मज्जाकी प्रधानतासे पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरको षाट्कौशिक कहा गया है—

'त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जाः षट्कोशाः।'

(मुद्गलोपनिषद्)

पिताके शुक्रकी प्रधानतासे पुत्र, माताके रुधिरकी अधिकतासे पुत्री तथा शुक्र और शोणित दोनोंके तुल्य होनेसे नपुंसक सन्तान उत्पन्न होती है—

'पितू रेतोऽतिरेकात्पुरुषो मातू रेतोऽतिरेकात्स्त्री उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति।' (गर्भोपनिषद् ३)

जिस प्रकार प्रकृति और पुरुषके आध्यासिक संसर्गसे चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुषके संसर्गसे जङ्गमप्राणियोंकी उत्पत्ति सम्भव है। दोनोंके पारस्परिक संसर्गसे एक-दूसरेके गुणोंका आश्रय लेकर ही किसी शरीरका निर्माण होता है। प्रायः सभी शरीरोंकी यही स्थिति है। त्वक्, मांस और रक्त मातृपरम्परासे प्राप्त त्रिधातु हैं। अस्थि, स्नायु और मज्जा पितृपरम्परासे प्राप्त त्रिधातु हैं—

अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः॥
त्वङ्मांसं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम।

(महा०, शान्ति० ३०५।५-६)

त्वचा, मांस, रुधिर, मेद, पित्त, मज्जा, अस्थि और स्नायु—ये आठों वस्तुएँ वीर्यसे उत्पन्न हुई हैं। अतएव प्राकृत ही हैं—

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जास्थि स्नायु च।
अष्टौ तान्यथ शुक्रेण जानीहि प्राकृतानि वै॥

(महा० शान्ति० ३०५।२४)

प्राणियोंका सूक्ष्म शरीर कर्मेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक और मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्काररूप अन्तःकरणका समवेत स्वरूप है। कर्मेन्द्रियपञ्चकसहित प्राणपञ्चकको प्राणमय कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियपञ्चकसहित मनको मनोमय कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियपञ्चकसहित बुद्धिको विज्ञानमय कहते हैं।

चित्तका अन्तर्भाव मनमें और अहम्का अन्तर्भाव बुद्धिमें होता है। विज्ञानमय ज्ञानप्रधान, मनोमय इच्छाप्रधान और प्राणमय कर्मप्रधान है।

जीवोंका कारण शरीर मलिन सत्त्वगुणप्रधान अविद्यासंज्ञक है। प्रिय, मोद और प्रमोदरूप फलात्मक आनन्दमयकोशका तथा अनुभाव्य आनन्दसामान्यरूप बीजात्मक आनन्दमय-कोशका अन्तर्भाव कारण शरीरमें है।

स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका और सूक्ष्म शरीर कारण शरीरका अभिव्यञ्जक है। कारण शरीर जीवका और जीव शिवस्वरूप सर्वेश्वरका अभिव्यञ्जक है।

ध्यान रहे, अभिव्यङ्ग्यकी अभिव्यक्ति अभिव्यञ्जकके अधीन होती है। अभिव्यञ्जकके तारतम्यसे अभिव्यङ्ग्यकी अभिव्यक्तिमें तारतम्य होता है।

वैदिक संस्कारोंसे तीनों शरीरोंका शोधन होता है, लौकिक-पारलौकिक उत्कर्षरूप अभ्युदय सुलभ होता है तथा निःश्रेयसरूप मोक्षका मार्ग प्रशस्त होता है। अतएव इस लोकमें और मृत्युके बाद परलोकमें पवित्र करनेवाला ब्राह्मणादि वर्णोंका गर्भाधानादि शरीरसंस्कार पवित्र वेदोक्त मन्त्रोंसे करना चाहिये—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

(मनु० २।२६)

ध्यान रहे, गर्भशुद्धिकारक हवन, जातकर्म, चूडाकरण (मुण्डन), मौञ्जीबन्धन (उपनयन)-संस्कारोंसे द्विजोंके वीर्य एवं गर्भसे उत्पन्न दोष नष्ट होते हैं—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

(मनु० २।२७)

महर्षि हारीतके अनुसार संस्कारोंकी दो कोटियाँ हैं—ब्राह्म एवं दैव। गर्भाधानादि स्मार्त संस्कारोंको ब्राह्म कहते हैं। इनसे सम्पन्न ऋषिसदृश होकर ऋषि-सायुज्य लाभ करते हैं। पाकयज्ञ (पकाये हुए भोजनकी आहुतियाँ), यज्ञ (होमाहुतियाँ) और सोमयज्ञादि दैव संस्कार कहे जाते हैं। विधिवत् गर्भाधानसे पत्नीके गर्भमें भगवत्तत्त्वमें आस्थान्वित वेदार्थके अनुशीलनमें अभिरुचिसम्पन्न जीवका प्रवेश होता है। पुंसवनसंस्कारसे गर्भको पुरुषभावसे भावित किया जाता है। सीमन्तोन्नयनके द्वारा माता-पितासे उत्पन्न दोष दूर किया जाता है। बीज, रक्त तथा भ्रूणसे उत्पन्न दोष जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म और समावर्तनसे दूर होते हैं। इस प्रकार

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण और समावर्तनसे पवित्रताका सम्पादन होता है। उपनयनादि अष्टविध संस्कारोंसे देव-पितृकार्योंमें परम पात्रता प्राप्त होती है—

द्विविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादिः स्नानान्तो ब्राह्मः। पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सौम्याश्चेति दैवः। ब्राह्मसंस्कारसंस्कृतः ऋषीणां समानतां सलोकतां सायुज्यं गच्छति। गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं संदधाति। पुंसवनात्पुंसीकरोति। फलस्थापनान्मातापितृजं पाप्मानमपोहति। रेतोरक्तगर्भोपघातः पञ्चगुणो जातकर्मणा प्रथममपोहति। नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्नापनेन पञ्चममेतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवतीति। उपनयनादिभिरष्टाभिरन्तर्वतैश्चाष्टाभिः स्वच्छन्दैः सम्मिता ब्राह्मणाः परं पात्रं देवपितॄणां भवन्ति। (संस्कारप्रकाश, संस्कारतत्त्व)

वेदाध्ययन, व्रत, होम, त्रैविद्य व्रत, पूजा, संतानोत्पत्ति, पञ्चमहायज्ञों तथा वैदिक यज्ञोंसे ब्रह्माभिव्यञ्जक शरीरकी प्राप्ति होती है—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

(मनु० २।२८)

संस्काररूप आचारसे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, द्रव्य, देश और क्रियाकी शुद्धि होती है—

पञ्चेन्द्रियस्य देहस्य बुद्धेश्च मनसस्तथा।
द्रव्यदेशक्रियाणां च शुद्धिराचार इष्यते॥

(शाण्डिल्यस्मृति १।११)

ध्यान रहे, श्रीहरि त्रिगुणमयी मायाके द्वारा काल, देश, यज्ञादि क्रिया, कर्ता, सुवादि करण, यागादि कर्म, वेदमन्त्र, शाकल्यादि द्रव्य और फल—इन नौ रूपोंमें व्यक्त होकर निरूपित होते हैं—

कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः॥

(श्रीमद्भा० १२।११।३१)

श्रौत-स्मार्तसम्मत संस्कारोंसे जीवनमें सत्त्वगुणका उत्कर्ष होता है। सत्त्वगुणका उत्कर्ष होनेपर कालादिकी शुद्धि होती है। इनकी शुद्धिसे मन सविशेष और निर्विशेष परमात्मामें समाहित होता है। परमात्मतत्त्वमें चित्तके समाहित होनेपर जीवको ब्रह्मात्मतत्त्वका एकत्वविज्ञान सुलभ होता है। ब्रह्मात्मतत्त्वके एकत्वविज्ञानसे अविद्यादि प्रतिबन्धोंका निरास और निरावरण आत्माका प्रकाश होता है।

सांख्य और सांख्यगर्भित वेदान्तप्रस्थानके अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस्—तीन गुण हैं। गुणानुरूप प्राणियोंकी गति, मति और स्थिति—शास्त्र, युक्ति और अनुभूतिसिद्ध है। विशुद्ध सत्त्वसे ध्यान, समाधि और अविप्लव विवेकख्याति तथा निर्वृतिरूपा मुक्ति सुलभ होती है। मलिन सत्त्वगुणसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणापर्यन्त निवृत्तियोग सुलभ होता है। रजोगुणसे अर्थ और कामपर्यवसायी धर्मानुष्ठानोंमें प्रीति तथा प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। तमोगुणकी प्रगल्भतासे निद्रा, आलस्य, प्रमाद और हिंसादि क्रूर कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है।

आगम (शास्त्र), अन्न-जल, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणमें हेतु हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।४)

उक्त रीतिसे गुणभेदसे संस्कारकी त्रिविधता मान्य है। सात्त्विक संस्कारसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है।

जिनका चित्त असंस्कृत है, वे इस रहस्यको नहीं समझ पाते कि जीवकी संसृतिमें अविद्या, काम और कर्म हेतु हैं। सम्यग्दर्शनसम्पन्न तथा आत्मदर्शी ध्यानयोगी अविद्याकाम-मूलक कर्मबन्धसे विनिर्मुक्त होते हैं, न कि सम्यग्दर्शनविहीन कोई अन्य—

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

(मनु० ६।७३-७४)

प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, संस्कारके बिना दोनोंकी सिद्धि असम्भव है। सनातन शास्त्रोंमें कार्यात्मक स्थूल शरीर, करणात्मक सूक्ष्म शरीर और बीजात्मक कारण शरीर एवं बाह्य पदार्थोंके शोधनकी अद्भुत विधाका वर्णन है। नामरूप-कर्मात्मक जगत् अभ्युदय और निःश्रेयसपर्यवसायी हो, तदर्थ नाम (शब्द, समाख्या), रूप (अर्थ) और (क्रिया, कार्य)-के संस्कारका विधान है।

अलौकिक समाधानसे मन और मनःसंयुक्त नेत्रादि इन्द्रियोंका संस्कार होता है। अञ्जनादिसे नेत्रसंस्थानका संस्कार होता है। आलोकादिसे घटादिका संस्कार होता है। तेलादिका आतपादिसे संस्कार होता है। पृथिवीका जलसे सेचन करनेपर पुण्य गन्धकी निष्पत्ति विषयके संस्कारका युक्त उदाहरण है—

इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये॥

(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड ७९)

अभिप्राय यह है कि अधिभूत रूप, अध्यात्म नेत्र और अधिदैव सूर्य तेजोरूप हैं; अतएव तेजसे इनकी शुद्धि सम्भव है। अधिभूत शब्द, अध्यात्म श्रोत्र और अधिदैव दिक् नभोरूप हैं; अतएव नभ (हं-बीज)-से इनकी शुद्धि सम्भव है। अधिभूत स्पर्श, अध्यात्म त्वक् और अधिदैव अंशभूत वायु वायुरूप हैं; अतएव वायुसे इनकी शुद्धि सम्भव है। अधिभूत रस, अध्यात्म रसना और अधिदैव वरुण जलरूप हैं; अतएव जलसे इनकी शुद्धि सम्भव है। अधिभूत गन्ध, अध्यात्म नासिका और अधिदैव अश्विनी पृथिवीरूप हैं; अतएव पृथिवीसे इनकी शुद्धि सम्भव है। 'उपादेयकी अपेक्षा उपादानकी शुद्धता' शाश्वत सिद्धान्त है। देश, काल, वायु, अग्नि, जल, मिट्टी आदि द्रव्य, मन्त्र, वचन, संस्कार, कर्म और भगवत्स्मरण सनातन शोधक पदार्थ हैं। कर्ता, करण और कर्म शोध्य पदार्थ हैं। शोधक और शोध्यके शुद्ध होनेपर धर्मका सम्पादन होता है। अभिप्राय यह है कि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व और अल्पत्वसे वस्तुकी शुद्धि और अशुद्धिका परिज्ञान होता है। देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म—इन छहोंके शुद्ध होनेपर धर्मानुष्ठान सम्भव है—

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा॥
मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम्।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः॥

([illegible] ।१०, १५)

५. सनातन संस्कारोंका अधि[illegible] है। धर्मशास्त्रोंके अनुशीलनसे अद्भुत [illegible]

देहातिरिक्त नित्य और चेतन आत्माके अस्तित्वमें आस्था धर्मका मूल है। धर्मानुष्ठानके लिये पूर्वजन्म, पुनर्जन्ममें तथा उत्क्रमण एवं अधोगतिमें परम्पराप्राप्त आस्था और आगमिक युक्तियोंके बलपर विश्वास आवश्यक है। धर्मानुष्ठानसे जन्म, उत्क्रमण, अधोगतिरहित, आत्मस्थितिरूपा मुक्तिके लिये अपेक्षित बल, वेग तथा अभिरुचिरूपा अधिकारसम्पदा सुलभ होती है।

धर्मानुष्ठान और उसके लिये अपेक्षित संस्कारोंका मूल—सनातन वर्णव्यवस्थामें आस्था है। जिस वर्णव्यवस्थाको मानवताके लिये अभिशाप माना जा रहा है, वह वस्तुतः वरदान है। पूर्व कर्मसापेक्ष जन्म, जन्मसापेक्ष वर्ण, वर्णनियन्त्रित आश्रम और वर्णाश्रमानुरूप कर्म—सनातन वर्णव्यवस्थाका मौलिक स्वरूप है। इसमें अनास्थाका कारण देहात्मवाद और प्रज्ञामान्द्य है।

वेदान्तप्रस्थानके अनुसार यद्यपि सभी शरीरोंमें आत्मा एक है। सभी शरीर पाञ्चभौतिक हैं, अतएव वर्णव्यवस्थाका औचित्य परिलक्षित नहीं होता। तथापि अवर वर्णोंके अपकर्षकी भावनासे भावित विद्वेषमूलक वर्णव्यवस्था नहीं है। सनातन वर्णवादमें अद्भुत दार्शनिकता और वैज्ञानिकता संनिहित है। यह सर्वहितकी भावनासे भावित है।

असीम दायित्वका निर्वाह और असंख्य कर्मोंका अनुष्ठान एक व्यक्तिसे सम्भव नहीं। वस्तुओंके समान होनेपर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभका जो विधान किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थोंका ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके। उनमें संदेह उत्पन्न कर योग्य तथा अयोग्यकी परख जगाकर पतनकी ओर उन्मुख स्वाभाविकी प्रवृत्तिको नियन्त्रित किया जा सके—श्रेयोन्मुख बनाया जा सके। व्यक्ति उनके द्वारा धर्मसम्पादन कर सके, समाजका व्यवहार ठीक-ठीक चला सके और जीवन-निर्वाहमें भी सुविधा हो। इससे यह लाभ भी है कि मनुष्य अपनी वासनामूलक सहज प्रवृत्तियोंके जालमें न फँसकर शास्त्रानुसार अपने [illegible] नियन्त्रित और मनको समाहित कर सके। [illegible] इस अनुपम आचारका [illegible] उपदेश किया है। अपने-अपने [illegible] रखना ही गुण है; इसके

विपरीत अनधिकारचेष्टा दोष है। अभिप्राय यह है कि गुण और दोष—दोनोंकी व्यवस्था अधिकारके अनुसार की जाती है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं। इस गुण-दोष और विधि-निषेधके विधानसे यही तात्पर्य निकलता है कि किसी प्रकार विषयासक्तिका परित्याग हो सके। स्वभावसे सदोष और निबन्धक कर्म चित्तके शोधक और समाधिके अभिव्यञ्जक हो सकें। कर्मोंमें प्रीति और प्रवृत्तिका संकोच तथा त्याग हो सके, इस भावनासे शास्त्र कर्मोंका विधान करते हैं—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥
शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्॥
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया॥

(श्रीमद्भा० ११। २१। २—४, ११। २०। २६)

आत्मा एकरूप है। सबके शरीर पाञ्चभौतिक हैं। फिर भी लौकिक और विशेष धर्मोंका विभाग भेद-भूमियोंका सदुपयोग और निर्भेद आत्मस्थितिकी अभिव्यक्तिके लिये हैं—

पञ्चभूतशरीराणां सर्वेषां सदृशात्मनाम्॥
लोकधर्मे च धर्मे च विशेषकरणं कृतम्।
यथैकत्वं पुनर्यान्ति प्राणिनस्तत्र विस्तरः॥

(महा०, अनु० १६४। ११-१२)

अभिप्राय यह है कि जो सनातन वर्णधर्ममें आस्था नहीं रखते, वे प्रकृतिप्रदत्त भेदोंका सदुपयोग करते हुए समस्त भेदभूमियोंका अतिक्रमणकर निर्भेद आत्मस्थितिका लाभ नहीं कर सकते। वे भय, चिन्ता, भ्रम, चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—इन अठारह अनर्थोंसे अर्थ और कामको दूर रखकर पुरुषार्थ नहीं बना सकते। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप यमसंज्ञक मानवधर्मको सनातन वर्णव्यवस्थाके बिना जीवनमें उतार पाना सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार सनातन वर्णव्यवस्थाके प्रति आस्थाविहीन व्यक्ति पुरुषार्थविहीन एवं पशुतुल्य जीवनयापन करनेके लिये बाध्य है। वह प्रवृत्तिको निवृत्ति और निवृत्तिको निर्वृति (मुक्तिपर्यवसायी) बना सके—यह सर्वथा असम्भव है। उक्त रहस्यको हृदयङ्गम किये बिना सनातन संस्कारोंका अधिकारानुरूप वर्गीकरण असम्भव है।

६. संस्कारसंख्याविगानपरिहार—सनातन शास्त्रोंमें संस्कारसंख्यामें विगानका समाधान तत्त्वोंकी संख्यामें विगानपरिहारकी दृष्टिसे कर्तव्य है। कार्यका कारणमें अथवा कारणका कार्यमें अनुप्रवेश स्वीकारकर प्रसंख्यान (गणना)-में न्यूनता मान्य है। उक्त अनुप्रवेश न स्वीकारकर संख्यामें अधिकता मान्य है। एकार्थक शब्दोंको लेकर नामभेद मान्य है। इस प्रकार विद्वान् मनीषियोंकी दृष्टिमें संख्यामें विभेद अशोभन नहीं है। विवक्षावशात् परस्पर युक्तियुक्त विरुद्ध कथन भी सुसङ्गत ही हैं।

बहुधा प्रयोजन (अभीष्ट फल)-की प्रकारान्तरसे सिद्धिके कारण भी संस्कारादिकी संख्यामें विगीति (विकूलता, भेद)-की प्राप्ति होती है—

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम्॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्॥
इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २२। ७—९, २५)

७. उपसंहार—जैसे तूलिकासे अनेक प्रकारके रङ्गोंको संयुक्त करनेसे चित्र बन जाता है, वैसे ही विधिपूर्वक किये गये गर्भाधानादि संस्कारोंसे यह जीवन भी ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बन जाता है—

चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्मन्त्रपूर्वकैः॥

(अङ्गिरस्स्मृति (द्वितीय) ४। १०)

आशीर्वचन

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी महाराज)

त्रयीधर्मबोधे सदा बद्धदीक्षा रमाकान्तभक्तिं मुदा बोधयन्ती।
कृपापूर्णदृष्ट्या लसेच्चन्द्रमौळेः सदा पत्रिकेयं सुकल्याणनाम्नी॥

वेदो नित्यमधीयतां तदुचितं कर्म स्वनुष्ठीयतामिति जगद्गुरोः भगवत्पादानां वचसा तथा कुर्वन्नेवेह कर्माणीति ईशोपनिषद्वाक्येन चार्यधर्मोक्तक्रियाकलापस्य अनुसरणाल्लब्धचित्तशुद्धय एव नराः संसाराब्धिं तरन्ति, न कर्महीना इति स्पष्टम्। तदर्थमेव सनातनधर्मे उत्पादिताः चित्तशुद्धिहेतुकाः क्रियाः संस्कारनाम्ना व्यवह्रियन्ते। तादृशस्य संस्कार-स्योद्बोधनाय कल्याणाभिधानया पत्रिकया लोककल्याणार्थं संस्कारविषये विशेषाङ्कस्तन्यत इति विज्ञाय नितरां तुष्यत्यन्तरङ्गं नः। श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीसमेतश्रीचन्द्रमौळीश्वरकृपया विशेषाङ्कमिमं पठित्वा जनाः शिष्टाचाराः भवन्तु। पत्रिकेयमुत्तरोत्तराभिवृद्धिं प्राप्नोतु। तथैवास्याः कार्यकर्तारश्च ऐहिकामुष्मिकफलानि प्राप्नुवन्त्वित्याशास्महे। नारायणस्मृतिः।

वेदत्रयीके तात्त्विक ज्ञानका बोध करानेहेतु सदैव तत्पर तथा लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुकी भक्तिका प्रसन्नतापूर्वक बोध करानेवाली 'कल्याण' नामक यह पत्रिका भगवान् शिवकी कृपादृष्टिसे सदा समुल्लसित रहे।

'वेदका नित्य अध्ययन करना चाहिये और उसमें प्रतिपादित उचित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये'—भगवत्पाद जगद्गुरु शङ्कराचार्यके इस वचनसे और 'शास्त्रनियत कर्मोंको करते हुए ही इस जगत्में सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये'—इस ईशावास्योपनिषद्-वाक्यके पालनसे तथा आर्य धर्मग्रन्थोंमें उल्लिखित क्रिया-कलापोंके अनुसरणके द्वारा ही मनुष्योंका चित्त शुद्ध होता है और वे संसार-सागरको पार करते हैं; शुद्धाचरण-हीन मनुष्योंका उद्धार नहीं होता—यह स्पष्ट है। उसी उद्देश्यकी प्राप्तिहेतु सनातनधर्ममें चित्तशुद्धिके लिये निर्मित क्रियाओंको 'संस्कार' नामसे व्यवहृत किया जाता है। उस प्रकारके संस्कारके उद्बोधनके लिये 'कल्याण' नामक पत्रिकाके माध्यमसे लोक-कल्याणको लक्ष्य करके संस्कार-विषयसे सम्बन्धित एक विशेषाङ्क प्रकाशित हो रहा है—यह जानकर हमारे मनको बड़ी प्रसन्नता हुई। श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीसहित श्रीचन्द्रमौलीश्वरकी कृपासे इस विशेषाङ्कका अनुशीलन करके लोग शिष्टाचार-सम्पन्न होवें, यह पत्रिका उत्तरोत्तर समुन्नति तथा अभिवृद्धिको प्राप्त हो तथा इस पत्रिकाकी सेवामें तत्पर लोगोंको लौकिक तथा पारलौकिक फलोंकी प्राप्ति हो—यही मेरी सत्कामना है। नारायणस्मृति।

~~~o~~~

दीर्घ जीवनका नहीं, पवित्र जीवनका मूल्य है

कितना लम्बा जीवन जीये? यह कोई महत्त्वकी वस्तु नहीं है। कितना जियाके बजाय कैसा जीवन जिया—यह अधिक महत्त्वकी वस्तु है।

इतिहासके स्वर्णिम पृष्ठोंकी ओर दृष्टि करेंगे तो कई ऐसी विभूतियोंके दर्शन होंगे, जिनका आयुष्य बहुत ही परिमित था, परंतु उस परिमित आयुष्यमें भी वे ऐसा महान् कार्य करके गये हैं, जिसके कारण भले ही उनका भौतिक अस्तित्व इस दुनियामें नहीं है, परंतु उनका उज्ज्वल यश दिग्दिगन्ततक फैला है।

सौ किलो लोहेसे भी एक किलो सोनेका मूल्य अधिक होता है और एक किलो सोनेसे भी दस-बीस ग्रामके हीरोंका मूल्य अधिक होता है। अतः अपवित्र तथा कलंकित जीवनके सौ वर्षके बजाय पचीस वर्षकी पवित्र जिन्दगीका मूल्य अधिक है।

पवित्र जीवन जीनेवाले, अल्प जीवन जीनेपर भी युगों-युगोंतक अपना नाम अमर कर जाते हैं, जबकि दुष्ट पुरुष दीर्घ-कालतक जीये तो भी उसकी जिन्दगी अन्य जीवोंके लिये दुःखदायी एवं भारभूत ही होती है। अतः दुर्लभतासे प्राप्त मानव-जीवनको पवित्र बनानेके लिये अपने जीवनको सदाचारी और सुसंस्कृत बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

~~~o~~~

संस्कारस्वरूप और प्रभेदविमर्श

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्दसरस्वतीजी महाराज)

संस्कारस्वरूप

वस्तुको भोग या योगके अनुरूप बनानेकी विधा संस्कार है। जगत् नाम, रूप और कर्मात्मक है। सनातन शास्त्रोंमें रूप, क्रिया और समाख्याको संस्कृत करनेकी अपूर्व विधाका वर्णन है। देव, ऋषि, पितर और परमेश्वरके प्रसादका तथा दैवी-सम्पद्का अभिव्यञ्जक कर्म तथा भाव संस्कार है। सत्ता, स्फूर्ति और सुखोपलब्धि उसका फल है।

संस्कार्य-कर्मता दो प्रकारकी होती है—१.गुणाधानसे तथा २. दोषापनयनसे। बीजपूर (बिजौरी नीबू)-के फूलको लाखके रससे तर कर देनेपर उसका फल अंदरसे लाल हो जाता है। यह गुणाधान-संस्कार है—

कुसुमे बीजपूरादेः यल्लाक्षाद्युपसिच्यते।
तद्रूपस्यैव संक्रान्तिः फले तस्येति वासना॥

(प्रवाभा० पृ० ३५८)

मलिन दर्पणतलपर ईंटेका चूर्ण रगड़नेसे दर्पण संस्कृत हो जाता है। यह दोषापनयनका उदाहरण है। आत्मा निर्गुण, निरंश, निष्क्रिय, निर्विकार, विभु, सच्चिदानन्द, ब्रह्मस्वरूप है। अतएव वह द्विविध संस्कारोंका अविषय है। गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ स्थूल शरीरकी हैं—

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम्।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव॥

(श्रीमद्भा०११।२२।४६)

साकार (मूर्त) अन्न एवं जलसे निराकार (अमूर्त) भूख तथा प्यासकी निवृत्ति सर्वानुभवसिद्ध है। मूर्त औषधिके सेवनसे अमूर्त रोगका निवारण भी सर्वानुभवसिद्ध है। तद्वत् स्थूल शरीरके संस्कृत होनेपर करणात्मक सूक्ष्म और बीजात्मक कारण शरीरकी शुद्धि अनुभवगम्य है। यमादि अष्टाङ्गयोगके सेवनसे त्रिविध शरीरकी शुद्धि आगम, उपपत्ति (युक्ति) तथा अनुभूति-सम्मत है। हिंसा, असंतोषादि गर्हित भाव इन्द्रिय और अन्तःकरणनिष्ठ हैं। प्रतिपक्षी अहिंसा, संतोषादिके सेवनसे उनका निवारण युक्तियुक्त है। मल, विक्षेपके हेतुभूत हिंसादिके निवारणसे मनःशुद्धि और स्थैर्य स्वानुभवसिद्ध हैं। इस संदर्भमें आगमप्रमाण इस प्रकार है—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥

(मनु० ६।७५)

अर्थात् अहिंसा, इन्द्रियोंमें विषयोंकी अनासक्ति (इन्द्रिय-निग्रहरूप दम), वैदिक नित्यकर्म, यथासम्भव कृच्छ्र, चान्द्रायणादि उपवासरूप उग्र तप सम्यग्दर्शनके सोपान हैं। इनको साधनेवाले ब्रह्मपदको सिद्ध कर लेते हैं।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

(मनु० ६।७२, श्रीमद्भा० ३।२८।११)

प्राणायामोंसे राग-रोगादि दोषोंको, धारणासे पापको, प्रत्याहारसे विषयसंसर्गको और ध्यानसे भगवान्‌से विमुख रखनेवाले जीवनिष्ठ अनैश्वर्य, अयशादि हेय गुणगणोंको जलावे।

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥

(योगचूडामण्युपनिषद् १०९-११०)

आसनसे रोगका और प्राणायामसे पातकका निवारण होता है। प्रत्याहारसे योगी मनोविकारोंका शमन करता है। धारणाओंसे चिद्रूप आत्मामें मन प्रतिष्ठित होता है। समाधिसे शुभाशुभ कर्मोंका परित्यागकर मोक्षका लाभ प्राप्त करता है।

संस्कारप्रभेद

नारदपरिव्राजकोपनिषद् (१) -के अनुसार चौवालीस संस्कार होते हैं—'चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः।' गौतमधर्मसूत्र (१।१।८) तथा संन्यासोपनिषद् (२।१)-

में चालीस संस्कारोंका उल्लेख है—'चत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः' 'चत्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः'। गौतमस्मृति (अ० ८)-में भी चालीस संस्कारोंका ही उल्लेख है—'चत्वारिंशता संस्कारैः संस्कृतः।' वस्तुतः नारदपरिव्राजकोपनिषद् और गौतमस्मृतिके अनुसार भी चालीस संस्कारोंकी सिद्धि होती है। शौच, संतोष, तप और स्वाध्यायरूप अतिरिक्त चार नियमोंके योगसे और दया, शान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य, अस्पृहा—इन आठ अतिरिक्त आत्मगुणों (जीवनिष्ठ दिव्य गुणों)-के योगसे चालीस संस्कारोंकी संख्या अड़तालीस हो जाती है—

'अथाष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति।'

(गौतम, अ० ८)

चालीस संस्कारोंका विभागपूर्वक उल्लेख इस प्रकार है—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. विष्णुबलि, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. उपनिष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूडाकर्म, १०. कर्णवेध, ११. अक्षरारम्भ, १२. उपनयन, १३. व्रतारम्भ, १४. समावर्तन, १५. विवाह, १६. उपाकर्म, १७. उत्सर्जन। सप्त पाकयज्ञसंस्था—१८. हुत, १९. प्रहुत, २०. आहुत, २१. शूलगव, २२. बलिहरण, २३. प्रत्यवरोहण, २४. अष्टकाहोम। सप्त हविर्यज्ञसंस्था—२५. अन्याधान, २६. अग्निहोत्र, २७. दर्शपूर्णमास, २८. चातुर्मास, २९. आग्रयणेष्टि, ३०. निरूढपशुबन्ध, ३१. सौत्रामणी। सप्त सोमयज्ञसंस्था—३२. अग्निष्टोम, ३३. अत्यग्निष्टोम, ३४. उक्थ्य, ३५. षोडशी, ३६. वाजपेय, ३७. अतिरात्र, ३८. आप्तोर्याम। आश्रमान्तर—३९. वानप्रस्थ, ४०. संन्यास।

प्रकारान्तरसे चालीस संस्कार (गौतमधर्मशास्त्र अ० ८)—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चूडाकर्म, ८. उपनयन, ९—१२. चार वेदोंके व्रत, १३. समावर्तन और १४. विवाह। पञ्च महायज्ञ—१५. देवयज्ञ, १६. पितृयज्ञ, १७. अतिथियज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १९. ब्रह्मयज्ञ। सप्त पाकयज्ञसंस्था—२०. श्राद्ध (पितृमेध, पिण्डपितृयज्ञ), २१. अष्टकाश्राद्ध, २२. पार्वणस्थालीपाक, २३. श्रावणी, २४. आश्विनीकर्म (आश्वयुजी), २५. आग्रहायणी, २६. चैत्री। सप्त हविर्यज्ञसंस्था—२७. श्रौत-स्मार्त-अग्न्याधान, २८. नित्याग्निहोत्र, २९. दर्शपौर्णमासयाग, ३०. चातुर्मास्य (विश्वेदेव, वरुणप्रघास, शाकमेध, शुनासीरीय), ३१. आग्रयणेष्टि (नवान्नेष्टि), ३२. निरूढपशुयाग, ३३. सौत्रामणीयाग। सप्त सोमयज्ञ-संस्था—३४. अग्निष्टोम, ३५. अत्यग्निष्टोम, ३६. उक्थ्य, ३७. षोडशी, ३८. वाजपेय, ३९. अतिरात्र, ४०. आप्तोर्याम।

पचीस संस्कार—संस्कारमयूख और संस्कारप्रकाश आदिमें समुद्धृत वचनोंके अनुसार महर्षि अङ्गिराने जिन पचीस संस्कारोंका वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्त, ४. विष्णुबलि, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूडाकर्म, १०. उपनयन, ११—१४. चारों वेदोंका आरम्भ, १५. स्नान (समावर्तन), १६. विवाह, १७. आग्रयण, १८. अष्टका, १९. श्रावणी, २०. आश्विनी, २१. मार्गशीर्षी, २२. पार्वण, २३. उपाकर्म, २४. उत्सर्ग और २५. नित्यमहायज्ञ।

षोडश संस्कार—व्यासस्मृति (१।१३—१५)-के अनुसार सोलह संस्कार इस प्रकार हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्त, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. वपन (चूडाकर्म), ९. कर्णवेध, १०. व्रतादेश (उपनयन), ११. वेदारम्भ, १२. केशान्त, १३. स्नान (समावर्तन), १४. विवाह, १५. विवाहाग्निपरिग्रह (आवसथ्याधान) और १६. त्रेताग्निसंग्रह (श्रौताधान)।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः।

(व्यासस्मृति १।१३—१५)

श्रीजातूकर्ण्य और मार्कण्डेयस्मृतिके अनुसार सोलह

संस्कार इस प्रकार हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चौल, ८. मौञ्जी, ९—१२. चतुर्वेद व्रत, १३. गोदान (केशान्त), १४. समावर्तन, १५. विवाह और १६. अन्त्य (पैतृमैधिक)—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामान्नप्राशनं चौलं मौञ्जीव्रतचतुष्टयम्॥
गोदानिकं तथा स्नानं विवाहः पैतृमैधिकः।

(मार्कण्डेयस्मृति)

याज्ञवल्क्यस्मृतिके अनुसार सोलह संस्कार निम्नलिखित हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. स्पन्दन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. सूर्यावेक्षण (निष्क्रमण, उपनिष्क्रमण, निर्णयन), ७. अन्नप्राशन, ८. चूडाकरण, ९. कर्णवेध, १०. ब्रह्मसूत्रोपनयन, ११. व्रत, १२. विसर्जन, १३. केशान्त, १४. विवाह, १५. चतुर्थीकर्म और १६. अग्निसंग्रह—

गर्भाधानं पुंसवनं स्पन्दनं च निमित्तकम्।
जातकर्म च नाम च सूर्यविक्षणकन्तथा॥
अन्नप्राशनचूडा च कर्णवेधस्तथैव च।
ब्रह्मसूत्रोपनयनं व्रतविसर्जनमतः परम्॥
केशान्तश्च विवाहश्च चतुर्थीकर्म एव च।
अग्निसंग्रहणञ्चैव संस्काराणि च षोडश॥

(ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्यसंहिता ८।३५९—३६१)

दस संस्कार—वैष्णवधर्मशास्त्र (अ० २७)-में १. निषेक, २. पुंसवन, ३. स्पन्दन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामधेय, ७. आदित्यदर्शन, ८. अन्नप्राशन, ९. चूडाकरण, १०. उपनयनका उल्लेख और विवाहका संकेत प्राप्त है—

गर्भस्य स्पष्टताज्ञाने निषेककर्म। स्पन्दनात्पुरा पुंसवनम् षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्। जाते च दारके जातकर्म। अशौचव्यपगमने नामधेयम्। चतुर्थे मास्यादित्यदर्शनम्। षष्ठेऽन्नप्राशनम्। तृतीयेऽब्दे चूडाकरणम्। एता एव क्रियाः स्त्रीणाममन्त्रकाः। तासां समन्त्रको विवाहः। गर्भाष्टमेऽब्दे ब्राह्मणस्योपनयनम्। गर्भैकादशे राज्ञः। गर्भद्वादशे विशः।

श्रीमनुप्रोक्त षोडश संस्कार—मनुस्मृतिके अनुशीलनसे निम्नलिखित सोलह संस्कार सिद्ध होते हैं—

१. निषेक (गर्भाधान), २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूडाकरण, ९. कर्णवेध, १०. उपनयन (वेदारम्भ ब्रह्मचर्यव्रत), ११. केशान्त, १२. स्नान (समावर्तन), १३. विवाह (स्मार्त और श्रौत अग्न्याधान), १४. वानप्रस्थ, १५. परिव्रज्या और १६. पितृमेध।

'गार्भैर्होमैः' (मनु० २।२७) इस वचनसे गर्भसंस्कार, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन सर्वसम्मत संस्कार हैं। 'प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते' (मनु० २।२९)-में जातकर्मका उल्लेख है। 'नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्' (मनु० २।३०)-में नामकरण-संस्कारका वर्णन है। 'चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥' (मनु० २।३४)-में निष्क्रमण तथा अन्नप्राशनका निरूपण है।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥

(मनु० २।३५)

—इसमें चूडाकरणका उल्लेख है।

'शुभे रौक्मे च कुण्डले' (मनु० ४।३६)-के अनुशीलनसे कर्णवेध चरितार्थ होता है। 'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्' (मनु० २।३६) आदि वचनोंमें उपनयनका उल्लेख है। 'ब्रह्मारम्भेऽवसाने च' (मनु० २।७१) आदि स्थलोंमें ब्रह्मारम्भका उल्लेख है। 'केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते' (मनु० २।६५)-में केशान्तका वर्णन है। 'आ समावर्तनात्कुर्यात्' (मनु० २।१०८)-में समावर्तनका चित्रण है। 'गृहस्थाश्रममावसेत्' (मनु० ३।२)-में गृहस्थाश्रमका निरूपण है। 'वने वसेत्तु नियतः' (मनु० ६।१) और 'त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्' (मनु० ६।३३)-में परिव्रज्याका उल्लेख है। 'अन्त्यकर्मणि' (मनु० ५।१६८), 'श्मशानान्तः' (मनु० २।१६) तथा 'पितृमेधं समाचरन्' (मनु० ५।६५)-में पितृमेधका वर्णन है।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य-समुपदिष्ट पञ्च संस्कारोंका स्वरूप

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज)

मानव-जीवनमें संस्कारोंकी बड़ी महत्ता है। जो मानव सुसंस्कृत संस्कारोंसे समन्वित है, उसमें उज्ज्वलता, पावनता, सरसता, मधुरता एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रस्फुटित होती है। हमारी भारतीय अनादि वैदिक सनातन संस्कृतिमें संस्कारोंका सर्वाधिक महत्त्व है। संस्कारहीन मानव उत्तमोत्तम गुणगणोंसे वञ्चित रहता है, फलतः उसका परिणाम हितावह नहीं होता, अतएव पावन संस्कारोंकी नितान्त अपेक्षा है। सुन्दर संस्कारोंके अभावमें मानव पथविचलित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है। इसीलिये हमारे तत्त्वद्रष्टा आप्त महापुरुषोंने उत्तम संस्कारयुक्त जीवनको ही परमोपादेय माना है। इसीलिये शास्त्रोंमें षोडश संस्कारोंका विधान विहित है। सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्यप्रवर जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यने अपने 'वेदान्त-कामधेनु दशश्लोकी' के अन्तिम श्लोकमें पञ्चार्थ-तत्त्वका विवेचन करते हुए विरोधी तत्त्वोंसे सावधान रहनेकी प्रेरणा प्रदान की है। विरोधी तत्त्वोंसे हमारी वृत्ति कलुषित होती है एवं संस्कार विकारमय होते हैं। यथा—

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च
कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्ते-
र्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः॥

(वेदान्त-कामधेनु-दशश्लोकी १०)

अर्थात् उपासनीय परमात्मा श्रीकृष्णका स्वरूप, उनके उपासक जीवका स्वरूप, भगवान्‌की कृपाका फल, तदनन्तर भक्तिरसका आस्वादन तथा भगवत्प्राप्तिके विरोधी भावका स्वरूप—इन पाँच वस्तुओंका श्रेष्ठ साधकोंको ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

श्रीनिम्बार्कभगवान्‌ने शास्त्रप्रतिपादित पञ्च वैष्णव संस्कारोंका निरूपण किया है—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्च संस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः॥

(नारदपञ्चरात्र एवं पद्मपुराण)

(१) शङ्ख-चक्र-मुद्राओंको भुजाओंपर धारण करना, (२) गोपीचन्दनसे तिलक करना, (३) भगवत्सम्बन्धी नामसे सम्बोधित करना, (४) तुलसी-कण्ठी-धारण तथा (५) मन्त्रोपदेश-ग्रहण करना—ये पाँच संस्कार हैं। इन पञ्च संस्कारोंसे सुशोभित होकर श्रीहरिभजनमें परायण रहना चाहिये।

(१) शङ्ख-चक्र—

अङ्कितः शङ्खचक्राभ्यामुभयोर्बाहुमूलयोः।
समर्च्चयेद्धरिं नित्यं नान्यथा पूजनं भवेत्॥

(स्मृतिशास्त्र)

जिसकी दोनों भुजाओंपर शङ्ख-चक्रके चिह्न अङ्कित हों, ऐसा साधक नित्य सर्वेश्वर श्रीहरिका सम्यक् प्रकार अर्चन-वन्दन करे, उसके द्वारा की गयी पूजा कभी व्यर्थ नहीं जाती।

(२) तिलक—

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रः सर्वलोकेषु पूजितः।
विमानवरमारुह्य याति विष्णोः परं पदम्॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २२५।५)

ऊर्ध्वपुण्ड्र-तिलक धारण करनेवाला विप्र किंवा साधक, जो सर्वत्र सम्पूजित होता है, वह इस पाञ्चभौतिक शरीरके त्यागनेपर दिव्य विमानमें सुशोभित होकर भगवान् विष्णु—वासुदेव श्रीकृष्णके नित्य धामको प्राप्त करता है।

(३) नाम—

वैष्णवोऽसि हरिदासोऽसीति शिष्यं वदेत् गुरुः।
अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम्॥
विना नाम चरन्धर्मं रिक्तो भवति मन्दधीः।
मुकुन्दनामसंस्कारविहीनस्तु बहिर्मुखः॥

(आगमशास्त्र)

श्रीगुरुदेव स्वयं शिष्यको दीक्षा-दानके समय शङ्ख-चक्रसे अङ्कित कर वैष्णवपरक नामकरण कर इस प्रकार निर्देश करे कि तुम आजसे वैष्णवरूपमें तथा श्रीहरिके शरणागत दासरूपमें अवस्थित हो।

विना नाम-संस्कारके मन्दमति साधक धर्मका सेवन करनेपर भी उसके फलसे वञ्चित रहता है। मुकुन्द-नाम-संस्काररहित वह सदा ही बहिर्मुख है।

(४) तुलसी-कण्ठी—

तुलसीकाष्ठमालाञ्च कण्ठस्था वहते तु यः।
अप्यशौचो ह्यनाचारो मामेवैति न संशयः॥
(विष्णुधर्म०)

जो तुलसी-काष्ठकी मालाको अर्थात् तुलसी-कण्ठीको अपने कण्ठ-प्रदेशमें सदा धारण करता है, वह अपवित्र एवं आचारहीन भी हो तो निःसंदेह मुझे ही प्राप्त करता है।

तुलसीकाष्ठसम्भूतां मालां यो वहते नरः।
तारितं च कुलं तेन यावद्रामकथा क्षितौ॥
(स्कन्दपुराण)

अर्थात् जो मानव तुलसी-काष्ठमाला (तुलसी-कण्ठी) धारण करता है, वह जबतक इस भूतलपर श्रीरामकथा विद्यमान है, तबतक अपने समस्त कुलको इस भवसिन्धुसे तार देता है।

(५) मन्त्र—

मन्त्रान् श्रीमन्त्रराजादीन् वैष्णवान् गुर्वनुग्रहात्।
सर्वैश्वर्यं जपन्प्राप्य याति विष्णोः परं पदम्॥

श्रीगुरुदेवके परमानुग्रहसे उनसे प्राप्त मन्त्र एवं मन्त्रराज— इन भगवदीय मन्त्रोंके जप करनेपर साधक सर्वेश्वर विष्णुरूप भगवान् श्रीकृष्णके परम दिव्य धामको प्राप्त करता है।

सम्पूर्ण मन्त्रसमूहमें भगवान् विष्णुपरक मन्त्र अति श्रेष्ठ होता है। विशेषतः सर्वेश्वर श्रीकृष्णपरक मन्त्र समस्त ऐश्वर्य और भगवद्भावापत्ति रूप मोक्षको देनेवाला है।

नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च॥
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु।
एवं परम्पराप्राप्तो मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः॥

नारायण भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे आविर्भूत अष्टादशाक्षर श्रीगोपालमन्त्रराज है, जिसे महर्षिवर्य श्रीसनकादिकोंने प्राप्त किया और उनसे देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीने तथा इन देवर्षिने अपने परम शिष्य सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्कभगवान्‌को प्रदान किया। इस प्रकार परम्परापूर्वक 'श्रीगोपालतापिन्युपनिषद्'-वर्णित अष्टादशाक्षर श्रीगोपालमन्त्रराज सर्वश्रेष्ठ है।

वस्तुतः इन पञ्च संस्कारोंको भगवन्निष्ठ परम धीर महामनस्वी प्रशस्त सद्गुरुदेवद्वारा शरणापन्न साधक प्राप्त कर लेता है तो उसका मानवजन्म परम सार्थक हो जाता है। संस्काराहित्य-जीवन इस भवाटवीके झंझावातोंसे प्रताड़ित रहता है। इन पञ्च संस्कारोंका विधान शास्त्रपरिवर्णित एवं श्रीभगवन्निम्बार्काचार्योपदिष्ट है। इनके समाश्रयसे मानव शाश्वत परमानन्दरससुधासिन्धुमें अवगाहनपूर्वक नित्य नवयुगलकिशोर वृन्दावननिकुञ्जविहारी श्यामाश्याम श्रीराधा-कृष्णकी अनिवर्चनीय अनुकम्पाका भाजन हो जाता है। फलतः इस भवार्णवके दुःख-द्वन्द्वोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा उनके नित्य परिकरमें अवस्थित रहकर अनन्त रसामृतका पान करना चाहिये, जो मानव-जीवनका सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यकी आचार्यपरम्परामें रसिकराज-राजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजने अपने रसमय 'श्रीमहावाणी' ग्रन्थमें इन उत्तम संस्कारोंको परिपुष्ट करनेके लिये इस भावपूर्ण पदमें द्वादश लक्षण एवं दशविध सोपानका परम मननीय वर्णन किया है—

जो कोउ प्रभु कें आश्रय आवैं। सो अन्याश्रय सब छिटकावैं॥
बिधि-निषेध कें जे जे धर्म। तिनिकों त्यागि रहैं निष्कर्म॥
झूठ क्रोध निंदा तजि देंही। बिन प्रसाद मुख और न लेंही॥
सब जीवनि पर करुना राखैं। कबहुँ कठोर बचन नहिं भाखैं॥
मन माधुर्य-रस माहि समोवैं। घरी पहर पल वृथा न खोवैं॥
सतगुरु के मारग पगु-धारैं। हरि सतगुरु बिचि भेद न पारैं॥
ए द्वादस-लच्छिन अवगाहैं। जे जन परा परम-पद चाहैं॥
जाकें दस पैड़ी अति दृढ़ि हैं। बिन अधिकार कौन तहाँ चढ़ि हैं॥
पहले रसिक जनन कों सेवैं। दूजी दया हिये धरि लेवैं॥
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि हैं। चौथी कथा अतृप्त है सुनि हैं॥
पंचमि पद पंकज अनुरागैं। षष्ठी रूप अधिकता पागैं॥
सप्तमि प्रेम हिये बिरधावैं। अष्टमि रूप ध्यान गुन गावैं॥
नवमी दृढ़ता निश्चै गहिवें। दसमी रसकी सरिता बहिवें॥
या अनुक्रम करि जे अनुसरहीं। सनै-सनै जगत निरवरहीं॥
परमधाम परिकर मधि बसहीं। श्रीहरिप्रिया हितू सँग लसहीं॥

जो रसिक भगवद्भक्त श्रीराधासर्वेश्वर प्रभुके चरण-कमलाश्रित होवे, वह जगत्‌के विकारमय आश्रयका परित्याग कर विधि-निषेधके धर्ममें अनासक्त होकर निष्काम-भावने

निम्न द्वादश लक्षणोंको अपने हृदयमें धारण करे, जिससे परम पदकी प्राप्ति ध्रुवरूपसे सिद्ध है। यथा—१-मिथ्या, २-क्रोध, ३-निन्दा और ४-कटुवचन—इनका त्याग करे, ५-भगवत्-प्रसादके अतिरिक्त अन्य वस्तुको ग्रहण न करे, ६-समस्त प्राणिमात्रपर करुणापूर्ण भाव हो, ७-अपने मनको मधुरतासे परिपूर्ण करे, ८-भगवत्परक रसमें अवगाहन करे, ९-समयको पलभर भी वृथा न जाने दे, १०-सद्गुरुद्वारा निर्दिष्ट पथका अनुगमन करे, ११, १२-श्रीहरि और सद्गुरुमें विभेद न करे।

इसी प्रकार दशविध सोपान हैं, जिन्हें पात्रताके बिना कैसे पार किया जा सकता है? ये दस सोपान इस प्रकारसे वर्णित हैं—यथा—१-भक्तोंका सत्सङ्ग, २-हृदयमें दयाका सञ्चार, ३-धर्ममें निष्ठा, ४-भगवत्कथा-श्रवण, ५-श्रीहरिपदकमलोंमें अनुराग, ६-भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा, ७-निज-मानसमें प्रेमाभक्ति, ८-भगवद्रूपका ध्यानपूर्वक गुणगान, ९-दृढ़भाव और १०-भगवद्रसकी सरिताका प्रवाह।

इन दशरूपात्मक वर्णित सोपान-पथपर जो अग्रसर होता है, वह शनैः-शनैः इस भवसागरसे उद्धार पा लेता है और श्रीप्रभुके दिव्य-धाम-परिकरमें निवास करते हुए अनन्त परमानन्दका निश्चय ही अनुभव करता है।

उपर्युक्त पञ्च संस्कारोंको धारण करनेवाला साधक इस महनीय पदमें वर्णित नियमोंका परिपालन करता हुआ अपने मानव-जीवनको श्रेष्ठ संस्कारोंसे समन्वित कर परम सार्थक करे।

यद्यपि श्रीनिम्बार्क-सिद्धान्तमें पञ्च संस्कारोंका परिवर्णन बहुत ही विस्तृत है तथापि प्रस्तुत आलेखमें वह अत्यन्त संक्षिप्त रूपसे निर्दिष्ट हुआ है, जो साधकोंके मानसमें सर्वदा अवधारणीय है।

~~~o~~~

आख्यान—

कथा-श्रवणका संस्कार

अवन्तीप्रदेशके कुररघर नगरमें साधु कोटिकर्ण पधारे थे। उनका प्रवचन सुनने नगरके श्रद्धालु जनोंकी भीड़ एकत्र होती थी। श्राविका कातियानी भी नियमपूर्वक कथाश्रवण करती थी। चोरोंने यह अवसर लक्षित कर लिया। एक दिन जब कातियानी कथा सुनने गयी, चोरोंने उसके घरमें सेंध लगायी और भीतर घुस गये। संयोगवश कातियानीने एक दासीको भेजा—'घर जाकर थोड़ा तेल ले आ। कथामें प्रदीप जलता ही है, मेरा तेल भी उसके उपयोगमें आ जायगा।' दासी घर गयी, किंतु सेंध लगी देखकर घरके बाहरसे ही लौटती हुई दौड़कर अपनी स्वामिनीके पास आयी। वह कह रही थी—'आप शीघ्र घर चलें। घरमें चोरोंने सेंध लगायी है।'

कातियानीने धीरेसे कहा—'चुपचाप बैठ। कथामें विघ्न मत कर। चोर धन ही तो ले जायँगे। मेरे प्रारब्धमें धन होगा तो फिर मिलेगा, किंतु सत्पुरुषके द्वारा जीवनको पवित्र बनानेवाला ऐसा उपदेश फिर कहाँ प्राप्त होगा।'

कातियानीके घरमें सेंध लगाकर चोर भीतर घुसे थे और उनका सरदार घरसे कुछ दूर खड़ा हुआ देख रहा था कि कोई आता तो नहीं है। कोई आशंकाकी बात होनेपर साथियोंको सावधान कर देना उसका काम था। दासी घरके पास जाकर जब लौटी, तब उस सरदारने छिपे-छिपे उसका पीछा किया और इस प्रकार वह भी कथा-स्थलतक गया। कातियानीकी बातें उसने सुनीं। उसे बड़ी ग्लानि हुई—'कहाँ तो यह धर्मात्मा नारी और कहाँ मैं अधम पापी कि इसीके घर चोरी करा रहा हूँ।'

चोरोंका सरदार शीघ्र लौट पड़ा। उसने अपने साथियोंको बिना कुछ लिये उस घरसे निकल चलनेका आदेश दिया। चोर वहाँसे निकल गये। परंतु जब कातियानी कथासे लौट आयी, तब सब चोर अपने सरदारके साथ उसके घर फिर आये। वे हाथ जोड़कर बोले—'देवी! आप हमें क्षमा करें।'

कातियानीने कहा—'भाइयो! मैं तो आपलोगोंको पहचानती ही नहीं। आपने तो मेरा कोई अपराध किया नहीं है।'

'हमने आपके घरमें सेंध लगायी है। अब हम प्रतिज्ञा करते हैं कि चोरीका यह पाप फिर कभी नहीं करेंगे।' चोर उस देवीके चरणोंपर गिर पड़े।

~~~o~~~

श्रीभगवद्भक्तिके संस्कार

(आचार्य श्रीकृपाशंकरजी महाराज, रामायणी)

मनुष्यके जीवनमें संस्कारोंका अतिशय महत्त्व है। 'संस्कार' शब्दके अनेक अर्थ सम्भव हैं। जब व्यक्ति यज्ञ आदि सत्कर्म करनेके लिये प्रस्तुत होता है, तब सर्वप्रथम 'भू-संस्कार' की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार तत्तत् कर्मोंमें तत्तत् संस्कारोंकी आवश्यकता होती है। दासको तो सम्प्रति भक्तिके संस्कारकी चर्चा करना ही अभीष्ट है।

बालकोंका अन्तःकरण मृत्तिकाके अभिनव पात्रके समान सर्वथा निर्मल होता है। जिस प्रकार नवीन मिट्टीके पात्रमें अङ्कित संस्कार—रेखादि चिह्न अन्ततक समाप्त नहीं होते और जिस प्रकार नवीन मृत्तिकाके पात्रको घृत, तैल आदि जिस पदार्थसे संस्कृत कर दिया जाता है अर्थात् उसमें जिस प्रकारका पदार्थ सर्वप्रथम रख दिया जाता है, उसी पदार्थकी सुगन्ध उसमें अन्ततक बनी रहती है, उसी प्रकार बालकोंके निर्मल मनमें आरम्भमें उपदेशद्वारा जिस प्रकारके संस्कार डाल दिये जाते हैं, वे संस्कार अन्ततक बने रहते हैं, जीवनपर्यन्त दूर नहीं होते हैं—

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।'

इसलिये प्रत्येक माता, पिता, आचार्य आदि अभिभावकोंका पुनीत कर्तव्य है कि वे बालकोंके मनको अच्छे संस्कारोंसे सुसंस्कृत करें। उनके मनमें धर्मके संस्कार, सदाचारके संस्कार और भगवद्भक्तिके संस्कार डालें। बाल्यावस्थाके संस्कार अमिट हो जाते हैं। भक्ति भी बाल्यावस्थासे ही करनी चाहिये।

महाभागवत श्रीप्रह्लादजीके चारों ओर उनके साथ अध्ययन करनेवाले दैत्योंके बालक बैठे हुए हैं। उनको देख करके श्रीप्रह्लादके मनमें करुणा उत्पन्न हो गयी। उनके मनमें उनका कल्याण करनेकी अभिलाषा, उनको भक्तिके संस्कारोंसे संस्कृत करनेकी अभिलाषा जाग्रत् हो गयी। जीवमात्रका कल्याण भागवतधर्मका आचरण करनेमें है। अनन्त और स्थिर फल प्रदान करनेवाले ब्रह्मानन्दकी अनुभूतिका साधन भी भागवतधर्मका आचरण ही है।

श्रीप्रह्लादजी उस मङ्गलमय भागवतधर्मका उपदेश करके उनके मनमें—अपने सहाध्यायी दैत्यकुमारोंके अन्तःकरणमें, भगवद्भक्तिका संस्कार डालना चाहते हैं। संसारका ऐसा नियम है कि जो वस्तु जिसे अत्यन्त प्रिय होती है, उसे वह सर्वश्रेष्ठ समझता है। यदि वह उदार है तो उसके सेवनकी सबको सम्मति देता है। सबको उसका वितरण करता है, अवसर पाते ही उसीकी चर्चा करता है, उसीके प्रचार-प्रसारके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है। यह व्यक्तिका सहज स्वभाव है।

श्रीप्रह्लादजी यह उपदेश किसी स्वार्थसे प्रेरित होकर नहीं करना चाहते हैं, अपितु दैत्य-बालकोंकी कल्याण-कामनासे करना चाहते हैं, उनके अन्तःकरणको भक्तिके संस्कारोंसे संस्कृत करना चाहते हैं, अपने सहज स्वभावसे करना चाहते हैं, अपनी अहैतुकी कृपासे करना चाहते हैं।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(रा०च०मा० ७।४७।५)

भक्तहृदय श्रीप्रह्लादजीने कहा—हे मित्रो! मनुष्यजन्मको प्राप्त करके प्राज्ञ पुरुषको बाल्यावस्थासे ही भागवतधर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि मनुष्यका जन्म दुर्लभ है। यह मनुष्यजन्म ही परम पुरुषार्थस्वरूप भगवत्प्रीतिका साधक है; परंतु यह दुर्लभ मनुष्यशरीर अध्रुव—नश्वर है।

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥

(श्रीमद्भा० ७।६।१)

इस श्लोकमें 'कौमारे', 'प्राज्ञः', 'भागवतान् धर्मान्' और 'अर्थदम्' ये शब्द अत्यन्त भावपूर्ण हैं। एतावता इन शब्दोंपर संक्षेपमें विचार करना चाहिये।

'कौमारे'—भागवतधर्मका अभ्यास कुमारावस्थासे ही करना चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि जीवनमें यथेष्ट भोग करके—वैषयिक सुखोंका आस्वादन करके, चतुर्थावस्थामें—वृद्धावस्थामें भजन कर लेंगे; क्योंकि यह जीवन 'अध्रुव' है—अनिश्चित है—नश्वर है। यह सौ वर्षपर्यन्त भी रह सकता है और आज भी समाप्त हो सकता है। इसलिये एक क्षण भी व्यर्थ न व्यतीत करके कुमारावस्थासे ही भजनमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥

(रा०च०मा० १।१९८।३)

'प्राज्ञः'—(क) क्या हेय है, क्या उपादेय है, क्या अपकृष्ट है, क्या उत्कृष्ट है—इस विषयके ज्ञानवालेको यहाँ 'प्राज्ञ'

कहा गया है। (ख) यदि कुमारावस्थाके अन्त होते ही मृत्यु हो जाय तो क्या होगा? तब तो जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। एतावता बाल्यावस्थासे ही भागवतधर्मका आचरण करना चाहिये। इस ज्ञानसे सम्पन्न पुरुषको ही इस प्रसङ्गमें 'प्राज्ञ' कहा गया है। 'यदि कौमारान्ते एव मृत्युः स्यात् तर्हि किं भवेदिति प्रकृष्टज्ञानवान्'। (ग) भागवतधर्मके आचरणसे आवागमनका चक्कर समाप्त हो जाता है अर्थात् अपुनरावृत्तिपदकी प्राप्ति हो जाती है। भागवतधर्मके अतिरिक्त आचरणसे अर्थात् अन्य धर्मोंके साधन करनेसे पुनरावृत्तिपदकी प्राप्ति होती है। इस मर्मके मर्मज्ञको 'प्राज्ञ' शब्दसे अभिहित किया गया है। 'भगवद्धर्माचरणे अपुनरावृत्तिपदप्राप्तिः तदितरधर्माचरणे तु पुनरावृत्तिपदप्राप्तिः इत्येवं ज्ञानवानित्यर्थः।'

'भागवतान् धर्मान्'—(क) भगवान् श्रीहरिसे सम्बन्धित धर्म ही भागवतधर्म है। (ख) भगवत्प्राप्तिके साधनभूत धर्मको ही भागवतधर्म कहते हैं। (ग) श्रीठाकुरजीके श्रीचरणोंमें जिस धर्मसे प्रीति उत्पन्न हो, उस साधन, भजन, नियम, जप, तप, स्तुति, ध्यान आदिको ही भागवतधर्म कहते हैं। (घ) हिंसावर्जित धर्मको भागवतधर्म कहते हैं।

'अर्थदम्'—वैसे तो यह शरीर अनित्य तथा नाशवान् है; परंतु इस मानव शरीरके द्वारा नित्य और शाश्वत वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। अध्रुव देहसे ध्रुवस्वरूप श्रीहरिकी प्राप्ति हो सकती है। कौन भाग्यवान्, बुद्धिमान् इस परमलाभको न उपलब्ध करना चाहेगा?

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—हे मित्रो! इसलिये आपलोगोंको इसी जन्ममें, इसी अवस्थामें परमपुरुषार्थस्वरूप भगवत्पदप्रेमकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। दुर्लभ समयका दुरुपयोग न करके सदुपयोग करना चाहिये।

इस प्रकार महाभागवत श्रीप्रह्लादजीने अपने सतीर्थोंको दो अध्यायोंमें उपदेश दिया। परिणामस्वरूप उनके आसुरसंस्कार छिन्न-भिन्न हो गये—विनष्ट हो गये और उनके अन्तःकरणोंमें भगवद्भावके संस्कार जाग्रत् हो गये। असुर बालक भक्तिभावनासे भावित होकर श्रीप्रह्लादसे कहते हैं—हे भक्तप्रवर! आपने हमारे जन्मजन्मान्तरके प्रसुप्त संस्कारोंको जाग्रत् कर दिया है। हे भक्तश्रेष्ठ! अब तो अपने उपदेशका सार-सिद्धान्त समझा दीजिये। असुर बालकोंकी स्नेहसानी वाणी सुन करके श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—हे मित्रो! मैं तो इस लोकमें सर्वश्रेष्ठ तत्त्वपूर्ण यही बात समझता हूँ—यही जीवका सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ है, यही उत्तमोत्तम कर्तव्य है कि समस्त स्थावरजङ्गमात्मिका सृष्टिमें—समस्त प्राणियोंमें सर्वत्र अपने प्राणप्रियतम श्रीहरिका दर्शन करे—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥

(रा०च०मा० ७।९६।१)

यही अनन्य प्रेम है, यही ऐकान्तिक भक्ति है और यही परमेश्वरमें परानुरक्ति है। तत्त्वज्ञ मनीषियोंने इसका ही शास्त्रोंमें निरूपण किया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥

(श्रीमद्भा० ७।७।५५)

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—एकान्तभक्ति—अनन्यभक्तिका यही लक्षण है कि सर्वत्र श्रीहरिका दर्शन करे, भगवदीय भावनाके परिपाक होनेपर भक्त सर्वत्र अपने स्वामीका, अपने आराध्यका दर्शन करते हैं। जैसा कि कहा गया है—परमार्थी भक्तलोग समस्त संसारको नारायणमय देखते हैं। जैसे लोभी संसारको धनमय और कामी संसारको कामिनीमय देखते हैं, वैसे ही श्रीप्रह्लादजीने पाषाणस्तम्भमें भी अपने आराध्यका दर्शन किया था—

नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थिनः।
जगद् धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज अपनी भक्तिभावनाके अनुसार श्रीरामचरितमानसके अन्तमें अपने प्राणप्रियतम परमप्रेमास्पद जीवनाराध्य जीवनसारसर्वस्व करुणासागर श्रीरामचन्द्रजीसे बड़ी अनुरागमयी भक्तिरूप वरकी याचना करते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७।१३० (ख))

श्रीप्रह्लादजीका प्रेरक उपदेश श्रवण करनेके पश्चात् भोले-भाले सरल, निर्दोष बालकोंके निर्मल अन्तःकरणोंमें भगवद्भक्तिके संस्कार समुत्थ हो गये। वे शण्डामर्ककी शिक्षा तो भूल गये और श्रीप्रह्लादजीका भक्तिपूर्ण सत्सङ्ग करने लगे—

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम्।
जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम्॥

(श्रीमद्भा० ७।८।१)

~~~०~~~
~~~

सत्सङ्गजन्य प्रेमा भक्तिके संस्कार

(श्रीनारायणदासजी भक्तमाली 'मामाजी')

सद्घन-चिद्घन-आनन्दघन परमात्माका अंश होनेके नाते प्रत्येक जीवात्म चेतनमें भी उनके सत्-पने, चित्-पने तथा आनन्द-पनेका सहज संस्कार स्वाभाविकरूपमें विद्यमान है; किंतु—

सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥

(रा०च०मा० ७।११७।३; ७।४४।५)

—माया (प्रकृति)-के वशमें होकर देहके प्रति अध्यस्त 'मैं-पन' तथा निकटवर्ती व्यक्तियों और पदार्थोंके प्रति अध्यस्त होकर यह जीव 'मेरापन' के कुचक्रमें पड़ गया है और कालका, कर्मका, प्रकृतिजन्य गुणका तथा योनिगत शरीरज स्वभावका बन्धन—आच्छादन प्राप्त करके संस्कारविहीन-जैसा लगने लगा है।

प्रकृति (माया)-के प्रायः तीन भेद बताये जाते हैं—(१) अन्तरङ्गा प्रकृति, (२) बहिरङ्गा प्रकृति तथा (३) तटस्था प्रकृति। इन्हींको श्रीमद्भगवद्गीताजीकी भाषामें अपरा, परा एवं परात्परा कहा जा सकता है। अपरा ही अष्टधारूपमें दृश्य जड़-जगत् होकर चक्करमें डालती है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयम्………………………………।

(श्रीमद्भगवद्गीता ७।४-५)

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

(रा०च०मा० ३।१५।३)

एक सिरेपर तो यह दृश्यमान अपरा (बहिरङ्गा माया) मुँह बाये खड़ी है और ठीक इसके दूसरे सिरेपर परात्परा (अन्तरङ्गा) गोदमें लेनेको भुजा फैलाये प्रतीक्षारत है। यह परात्परा अथवा अन्तरङ्गा प्रकृति साक्षात् श्रीतत्त्व हैं। श्रीतत्त्वके द्वारा ही श्री-भू-लीला अथवा नीला रूपसे 'त्वमेव माता' की भूमिका निभायी जाती है। ये ही श्रीसीता, श्रीराधा अथवा श्रीमहालक्ष्मी हैं।

अब रही तटस्था प्रकृति, तो यही जीवात्म चेतन है। इसीको श्रीमद्भगवद्गीताजीमें परा प्रकृति कहा गया है—

"इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ७।५)

इसी जीवात्माको सुसंस्कृत करनेके लिये वेद, पुराण, आगम, शास्त्र, संहिता तथा स्मृति ग्रन्थोंकी आवश्यकता पड़ती है।

अब प्रश्न उठता है कि सत्-पने, चित्-पने और आनन्द-पनेके सहज संस्कारसे सम्पन्न जीवात्म चेतनको कबसे और क्यों आवश्यकता आ पड़ी सुसंस्कारकी? क्या इसमें कुसंस्कारके कुछ मल-विक्षेप-आवरण एवं कषाय आदि आ चिपके हैं? तो कहना पड़ता है कि हाँ! तभी तो इन विकारोंके अपनोदन तथा सहज-स्वरूपकी प्रतिष्ठाहेतु अब सुसंस्कारकी दुहाई देनी पड़ रही है।

बात यह है कि जीवात्म चेतनकी द्विविध मनोगति हो जाती है; क्योंकि यह तटपर स्थित, तटस्था शक्ति है। इसके एक तरफ अन्तरङ्गा श्रीजी हैं और दूसरी ओर बहिरङ्गा माया है।

यह जीवात्म चेतन अधिकतर बहिरङ्गाकी ओर ताकता हुआ, उसकी पञ्चविषयात्मिका आकृतिपर लुब्ध—मुग्ध होता है और उसके द्वारा फेंके हुए फन्देमें आबद्ध हो जाता है तथा विषयाकाराकारित होकर कुसंस्कारमें सन जाता है। फिर तो विषयोंमें सना यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता रहता है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥

(रा०च०मा० ७।४४।४)

जीवकी इस स्थितिका दिग्दर्शन कराती हुई भगवती श्रुति कहती है कि स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वरने समस्त इन्द्रियोंके द्वार बाहरकी ओर जानेवाले ही बनाये हैं, इसलिये (मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा) प्रायः बाहरकी वस्तुओंको ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

(कठोपनिषद् २।१।१)

ठीक … यदि यह तटपर स्थित …

चेतन अन्तरङ्गा प्रकृति अर्थात् श्रीजी (श्रीसीता, श्रीराधा अथवा श्रीमहालक्ष्मी)-की ओर मुड़ जाय और वे इसे अपनी गोदमें लेकर अपने कृपावारिसे प्रक्षालित कर इसके मायाजन्य विकारोंका अपनोदन (निराकरण—दूरीकरण) करके और प्रभुको प्रिय लगनेवाले गुणों (ज्ञान-वैराग्य-सेवा-उपकार-क्षमा-दया-शम-दम आदि)-का इसमें आधानकर भक्तिभाजन बना दें तो यह सुसंस्कारसम्पन्न ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, हनुमान्, विदुर, उद्धव एवं देवहूति, शबरी, मदालसा, मीरा आदिका स्वरूप प्राप्तकर भगवत्पार्षदत्वका लाभ कर लेता है।

श्रीकरुणामयी अन्तरङ्गा श्रीजीकी इस करुणा-कृपा अथवा छोह-दुलारमयी प्रक्रियाका ही नाम है 'संस्कार', जो विविध ग्रन्थोंमें विविध विधाओंमें वर्णित और आचरित होकर जीवात्म चेतनको परम कल्याणका भागीदार बना देता है। किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान् मनुष्यने ही अमर पदको पानेकी इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी ओरसे लौटाकर अन्तरात्माको देखा है—

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥'

(कठोपनिषद् २।१।१)

वैसे तो स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंके अपने-अपने ढंगके संस्कार होते हैं, जो अपने-अपने आश्रितोंमें आधान किये जाते हैं, परंतु हम यहाँ मानव शरीरमें आये हुए चेतनोंके संस्कारकी चर्चा विशेषरूपसे कर रहे हैं। स्थूल शरीर (क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीरनिर्मित) तथा सूक्ष्म शरीर (मन-चित्त-बुद्धि एवं अहङ्कारनिर्मित)—इनका भी प्रभाव आत्म चेतनपर दिखायी पड़ता है; क्योंकि इनका पारस्परिक क्रमिक सम्पर्क है। स्थूल शरीर यदि सुसंस्कारसे सम्पन्न है तो सूक्ष्म शरीरपर उसका प्रभाव होगा ही। यदि सूक्ष्म शरीर सत्त्वप्रधान हो रहा है तो उसके घेरेमें स्थित आत्माकी परिमार्जित दशा सहज भावसे अनुभवमें आयेगी।

स्थूल शरीरका संस्कार माता-पिताके खान-पान, बुद्धि-विचार आदिके अनुसार निर्मित शुक्र एवं रजके ऊपर निर्भर करता है, अतः हमारे यहाँ आहार-विहार एवं गर्भाधानसे लेकर आगेके और्ध्वदैहिकतकके संस्कारोंको बड़ी सावधानीसे निभानेकी आवश्यकता बतायी गयी है।

सूक्ष्म शरीरका संस्कार मातृ-पितृ-वंश-परम्परापर आधारित होनेपर भी वर्तमानशरीरमें खान-पान एवं संग-साथपर विशेष निर्भर करता है, यथा—

हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥

साधु समाजमें कहावत है—*'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन', 'जैसा करें संग, वैसा चढ़े रंग'*। अब आवश्यकता है तनको शास्त्रसम्मत सुसंस्कारोंसे सम्पन्न करते हुए वाणी, मन-चित्त एवं बुद्धि आदिको उत्तम संस्कारसे सम्पन्न करें और उत्तमोत्तम आत्मस्थिति प्राप्त कर पुनः अपने प्रभुके चरणोंमें उपस्थित हों और उन सर्वेश्वरका प्यार प्राप्त करें। इसीमें समस्त संस्कारोंकी सफलता है, नहीं तो सब कुछ अधूरा है—

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

(श्रीमद्भा० २।४।१७)

कर्मकाण्डगत संस्कारोंसे स्वर्गादि पतनोन्मुख एवं नश्वर लोकोंतक पहुँच हो सकती है। ज्ञानकाण्डगत संस्कार मोक्षकी भूमिकातक पहुँचनेमें सहयोगी हो सकते हैं, किंतु सत्सङ्गजन्य भक्तिगत संस्कार सर्वेश्वर प्रभुकी कृपामयी सुखद गोदमें पहुँचा देते हैं। अतः प्रबुद्ध साधकोंको चाहिये कि शास्त्रवर्णित समस्त सुसंस्कारोंका सम्मान करते हुए सत्सङ्गके माध्यमसे प्रेमा भक्तिके संस्कार विशेषरूपसे प्राप्त करें और परम गन्तव्य प्रभुके श्रीचरणोंमें प्राप्त हों—

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः॥

(श्रीमद्भा० ५।१२।१६)

रहि सत्संग, सुभक्ति चहि, गहि उत्तम संस्कार।
नारायण प्रभु प्रेम लहि, पहुँचे परली पार॥
गीता-प्रेस कल्याण को संस्कार प्रिय अंक।
सबको प्रक्षालन करै, कुसंस्कार को पंक॥

भगवत्प्राप्तिमें संस्कारोंका योगदान

(पं० श्रीरामकृष्णजी शास्त्री)

आत्मा ईश्वरका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५।७)। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माने अविद्या-वशीभूत होनेके कारण अपनी उपाधियोंसे तादात्म्य स्थापित कर लिया है, इसलिये अनात्म पदार्थोंमें स्वरूपाध्यासके कारण ही उपाधियोंके गुण-धर्मको अपना मानता हुआ वह जीवभावको प्राप्त हो गया है और संसारी हो गया है। ऐसी स्थितिमें आत्माके इस कल्मषका अपसारण करनेके लिये अपेक्षित संस्कारोंकी नितान्त आवश्यकता है, जिसे दूसरा कोई नहीं कर सकता, स्वयं ही अपने उद्धारमें प्रवृत्त होना पड़ेगा—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६।५)

मानवशरीर केवल इसीलिये प्राप्त हुआ है कि हम इस अत्यन्त दुर्लभ शरीरको प्राप्त करके भी अपना कल्याण नहीं कर सके तो हमें आत्माहनकी गति प्राप्त होगी—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।१७)

अर्थात् यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरणग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका सञ्चालन करने लगते हैं और स्मरणमात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है।

अनादिकालीन मलिन और शुद्ध वासनाओंका एक विशाल दल विद्यमान है, जो अन्तःकरण और बाह्यकरणोंको प्रभावित करता हुआ जीवकी सद्गति एवं दुर्गतिमें हेतु बनता है। सत्कर्मानुष्ठानका फल पुण्य तो है ही, शुद्ध वासनाको जन्म देना भी उसका एक कार्य है। इसी प्रकार अशुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे दुःख और मलिन वासनाओंका जन्म होता है। मलिन वासनाके कारण अशुद्ध अन्तःकरण एवं बाह्यकरण (इन्द्रियाँ) अपने करणीय आत्मोद्धारके लिये की जानेवाली प्रवृत्तियोंका परित्याग कर असत्-मार्गमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी कारण अशुद्ध बुद्धि अशुद्ध निश्चय करती है, अशुद्ध मन अशुद्ध सङ्कल्प करता है, इसी प्रकार अशुद्ध चित्तमें बन्धनकारक चिन्तन होते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण मलिन हो जाता है।

मलिन वासनाके कारण ही बाह्यकरण चक्षुरिन्द्रिय परकान्ता-दर्शन आदि अशुद्ध रूपका ग्रहण करती है, श्रवणेन्द्रिय निन्दा आदि अमङ्गलकारी श्रवणमें रस लेती है, घ्राणेन्द्रिय उद्वेजक और अशुद्ध गन्ध-ग्रहण करनेमें रुचि लेती है, त्वगिन्द्रिय स्रक्-चन्दन तथा वनिता आदिके अङ्गोंके स्पर्शमें सुख लेती है, रसनेन्द्रिय अपवित्र और निषिद्ध रसोंके ग्रहणमें रुचि रखती है, वागिन्द्रिय परापवादादिका कीर्तन करनेमें रुचि रखती है। इसी प्रकार परिग्रह आदि अनेक निषिद्ध कर्मोंका आचरण हाथोंसे होता है, लोभ और लालचके कारण याचना आदिके तात्पर्यसे पैर दरवाजे-दरवाजे भटकते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण अन्तःकरण और बाह्यकरणरूप इन्द्रियाँ जीवको बन्धनमें डालनेके लिये ही तत्पर हैं, जिसका एकमात्र कारण उनका असंस्कृत होना अर्थात् संस्कारसम्पन्न न होना ही है।

इसी बातको गोस्वामी तुलसीदासजी विनय-पत्रिकाके इस पदमें बताते हैं—

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो॥
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर-घरके।
त्यों न साधु, सुरसरि-तरंग-निरमल गुनगन रघुबरके॥
ज्यों नासा सुगंधरस-बस, रसना षटरस-रति मानी।
राम-प्रसाद-माल जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी॥
चंदन-चंदबदनि-भूषन-पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये बपु बचन हिये हूँ।
त्यों न राम सुकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।
राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यों भये न स्रमित

सकल अंग पद-बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है॥

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—मेरा मन आपसे ऐसा कभी नहीं लगा, जैसा कि वह कपट छोड़कर, स्वभावसे ही निरन्तर विषयोंमें लगा रहता है। जैसे मैं परायी स्त्रीको ताकता फिरता हूँ, घर-घरके पापभरे प्रपञ्च सुनता हूँ, वैसे न तो कभी साधुओंके दर्शन करता हूँ और न गङ्गाजीकी निर्मल तरङ्गोंके समान श्रीरघुनाथजीकी गुणावली ही सुनता हूँ। जैसे नाक अच्छी-अच्छी सुगन्धके रसके अधीन रहती है और जीभ छः रसोंसे प्रेम करती है, वैसे यह नाक भगवान्‌पर चढ़ी हुई मालाके लिये और जीभ भगवत्-प्रसादके लिये कभी ललक-ललककर नहीं ललचाती। जैसे यह अधम शरीर (त्वगिन्द्रिय) चन्दन, चन्द्रवदनी युवती, सुन्दर गहने और (मुलायम) कपड़ोंको स्पर्श करना चाहता है, वैसे श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंका स्पर्श करनेके लिये यह कभी नहीं तरसता। जैसे मैंने शरीर, वचन और हृदयसे, बुरे-बुरे देवों और दुष्ट स्वामियोंकी सब प्रकारसे सेवा की, वैसे उन रघुनाथजीकी सेवा कभी नहीं की, जो (तनिक सेवासे) अपनेको खूब ही कृतज्ञ मानने लगते हैं और एक बार प्रणाम करते ही (अपार करुणाके कारण) सकुचा जाते हैं। जैसे इन चञ्चल चरणोंने लोभवश, लालची बनकर द्वार-द्वार ठोकरें खायी हैं, वैसे ये अभागे श्रीसीतारामजीके (पुण्य) आश्रमोंमें जाकर कभी स्वप्नमें भी नहीं थके। (स्वप्नमें भी कभी भगवान्‌के पुण्य आश्रमोंमें जानेका कष्ट नहीं उठाया)। हे प्रभो! (इस प्रकार) मेरे सभी अङ्ग आपके चरणोंसे विमुख हैं। केवल इस मुखसे आपकी नामकी ओट ले रखी है (और यह इसलिये कि) तुलसीको एक यही निश्चय है कि आपकी मूर्ति कृपामयी है। (आप कृपासागर होनेके कारण, नामके प्रभावसे मुझे अवश्य अपना लेंगे)।

संस्कारोंके बिना दुर्दान्त इन्द्रियोंका दुर्धर्ष विषयाभिनिवेश ऐसा हो जाता है कि ये यत्न करनेमें तत्पर और विचक्षण पुरुषके मनको हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं और इन्द्रियोंके संग तथा राग-रंगमें रचा-पचा मन बुद्धिको भी अशुद्ध निश्चय करनेके लिये उसी प्रकार विवश कर देता है, जिस प्रकार वायु जलमें नौकाका अपहरण कर लेती है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २।६०, ६७)

अस्तु, यह स्पष्ट है कि सच्चिदानन्दस्वरूप जीवकी स्व-स्वरूपावस्थितिके लिये स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर—अन्तःकरण और बाह्यकरणोंका संस्कार किया जाना नितान्त अपेक्षित है। अन्तःकरणादिके संस्कारके लिये कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डके अधिकारी आचार्योंने अपने-अपने ढंगसे इन्हें संस्कृत करनेकी पद्धतिका निर्धारण किया है, जिनमेंसे हमें अपनी योग्यताके अनुसार एक पद्धति चुनकर अन्तःकरणादिको संस्कृत करनेके लिये अविलम्ब प्रवृत्त हो जानेकी आवश्यकता है। यह दुर्लभ शरीर हमें प्राप्त हो गया है, इस शरीरकी प्राप्तिमात्रसे कृतकृत्यता होनेवाली नहीं है। यह नितान्त अनित्य है, किंतु धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप प्रसिद्ध पुरुषार्थचतुष्टय तथा शास्त्रकारोंके द्वारा गोपनीयतापूर्वक सुरक्षित भगवच्चरणारविन्दकी ध्रुवानुस्मृतिरूप रागात्मिका-भक्ति—पञ्चम पुरुषार्थको देने में सक्षम है।

अन्तःकरणकी परिशुद्धि करनेमें प्रवृत्त होनेके पूर्व पवित्र आहार एवं उपनयनादि संस्कारोंसे स्थूल शरीरको शुद्ध करनेकी अपेक्षा है। पवित्र आहारसे तात्पर्य है न्यायोपार्जित धर्माविरुद्ध पदार्थोंको पवित्र भावसे परमात्माको समर्पित करके भगवत्प्रसादको ही स्थूल शरीरके संरक्षणके लिये आहाररूपमें ग्रहण करना। इसीको दूसरे शब्दोंमें द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि कहा जाता है। धर्मसे नियन्त्रित अर्थ ही पुरुषार्थकी कोटिमें परिगणित है, अन्यथा उस अर्थकी अनर्थ संज्ञा हो जायगी। यह अर्थशुचिता ही द्रव्यशुद्धि किंवा द्रव्य-संस्कार है। इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी बुद्धिसे नहीं प्रत्युत भगवान्‌को समर्पित करनेकी ही बुद्धिसे विशुद्ध सात्त्विक पदार्थोंका निर्माण भावशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि है। इस प्रकार स्थूल शरीरको संस्कारसम्पन्न करके स्थूल शरीरके ही धर्म—वर्ण और आश्रमके लिये निर्धारित आचारोंका पालन करना ही भगवान्‌की प्रीतिका एकमात्र उपाय है।

वर्ण और आश्रम-धर्मका शास्त्रकी मर्यादाके अंदर रहकर पालन करना—यह भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका

सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसके अतिरिक्त उनकी सन्तुष्टिका और कोई साधन नहीं है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(विष्णुपुराण ३।८।९)

भगवान्‌की कृपाका अवलम्ब लेकर प्रयत्नपूर्वक सूक्ष्म शरीरके संस्कारमें प्रवृत्त होना चाहिये। सूक्ष्म शरीरके संस्कारके सन्दर्भमें यह ध्यातव्य है कि अन्तःकरण और इन्द्रियोंका अशुद्ध आहारमें स्वाभाविक अनुराग होनेके कारण ही इनमें अयोग्यता प्राप्त हुई है। यदि सांसारिक विषयरूप अशुद्ध आहारसे विरतकर इन्हें भगवद्विषयरूप पवित्रतम आहारकी ओर प्रवृत्त कर दिया जाय तो यही लिङ्गशरीर जीवात्माके उद्धारमें हेतु बन जायगा। भगवद्विषयरूप पवित्र आहारके ग्रहण करनेसे सत्त्वकी शुद्धि प्रतिष्ठित होती है। सत्त्वशुद्धि होनेके कारण भगवान्‌की ध्रुवानुस्मृति हो जाती है। भगवद्ध्रुवानुस्मृतिसे जीव सारे बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार बन्धनमुक्त जीव अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, भगवान्‌की स्वारसिक प्रीतिरूप पञ्चम पुरुषार्थको प्राप्त कर लेता है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। (छान्दो० ७।२६।२)

भक्तिसम्प्रदायमें अशुद्ध अन्तःकरणादिके संस्कारके लिये बड़े सीधे, सरल एवं सर्वजनग्राह्य उपाय बताये गये हैं, यथा—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

(श्रीमद्भा० २।८।५)

इसका भाव यह है भगवान्‌के मङ्गलमय नाम तथा लीलाकथाको सुननेसे कर्णरन्ध्रके माध्यमसे हृदयमें प्रवेश करके परमात्मा सारे कल्मषोंको उसी प्रकार धो डालते हैं, जैसे शरद् ऋतु सलिलके दोषोंका अपनोदन कर देती है।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

(श्रीमद्भा० ११।५।४२)

तात्पर्य यह है कि अन्य अवलम्बका परित्याग करके भगवान्‌के चरणारविन्दके भजनमें लगे हुए भगवत्प्रियजनके कुसंस्कारों और असद्वासनाओंको भगवान् समाप्त कर देते हैं और उसके विकर्मोंका मार्जन करके उसके आत्मकल्याणका मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

दूषित कर्णवाले मनुष्योंकी कर्णेन्द्रिय शास्त्राध्ययन, दान, तप आदि क्रियाओंसे वैसी शुद्धि नहीं हो पाती, जैसी विष्णुगानके सुननेसे होती है—

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ११।६।९)

अर्थात् स्तुति करनेयोग्य परमात्मन्! जिन मनुष्योंकी चित्तवृत्ति राग-द्वेषादिसे कलुषित है, वे उपासना, वेदाध्ययन, दान, तपस्या और यज्ञ आदि कर्म भले ही करें; परंतु उनकी वैसी शुद्धि नहीं हो सकती, जैसी श्रवणके द्वारा सम्पुष्ट शुद्धान्तःकरण सज्जन पुरुषोंकी आपकी लीलाकथा, कीर्तिके विषयमें दिनोंदिन बढ़कर परिपूर्ण होनेवाली श्रद्धासे होती है।

श्रुतः सङ्कीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।४६)

अर्थात् भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, धाम और नामके श्रवण, सङ्कीर्तन, ध्यान, पूजन और आदरसे ये मनुष्यके हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं और एक-दो जन्मोंके पापोंकी तो बात ही क्या, हजारों जन्मोंके पापके ढेर-के-ढेर भी क्षणभरमें भस्म कर देते हैं।

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम्॥

(श्रीमद्भा० ६।२।११)

तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े ब्रह्मवादी ऋषियोंने पापोंके बहुत-से प्रायश्चित्त—कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत बतलाये हैं, परंतु उन प्रायश्चित्तोंसे पापोंकी वैसी जड़से

शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवान्‌के नामोच्चारणसे होती है; क्योंकि भगवन्नामकीर्तन पवित्रकीर्ति भगवान्‌के गुणोंका भक्तमें आधान करा देता है।

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ५४)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी ध्रुवानुस्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है।

भक्तशिरोमणि गोस्वामीजी महाराजने मोह (अविवेक)-को ही अन्तःकरण और बाह्यकरणके मालिन्यमें हेतु कहा है। अविवेकके कारण उत्पन्न मल, पूर्वके अनेकानेक जन्मोंसे अभ्यस्त होनेके कारण अधिक सुदृढ़ हो गया है।* इस मलके अपसारणके लिये व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि उपाय श्रुतियोंमें कहे गये हैं, किंतु भगवच्चरणानुरागरूपी नीरमें अवगाहन किये बिना मलकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती—

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना-मान-मद, जीव सहज सुख त्यागे॥
परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन बिसराये॥
तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप, सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥
(विनय-पत्रिका ८२)

मोहसे उत्पन्न जो अनेक प्रकारका (पापरूपी) मल लगा हुआ है, वह करोड़ों उपायोंसे भी नहीं छूटता। अनेक जन्मोंसे यह मन पापमें लगे रहनेका अभ्यासी हो रहा है, इसलिये यह मल अधिकाधिक लिपटता ही चला आता है। पर-स्त्रियोंकी ओर देखनेसे नेत्र मलिन हो गये हैं, विषयोंका संग करनेसे मन मलिन हो गया है और वासना, अहंकार तथा गर्वसे हृदय मलिन हो गया है तथा सुखरूप स्व-स्वरूपके त्यागसे जीव मलिन हो गया है। परनिन्दा सुनते-सुनते कान और दूसरोंका दोष कहते-कहते वचन मलिन हो गये हैं। अपने नाथ श्रीरामजीके चरणोंको भूल जानेसे ही यह मलका भार सब प्रकारसे मेरे पीछे लगा फिरता है। इस पापके धुलनेके लिये वेद तो व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि अनेक उपाय बतलाता है; परंतु हे तुलसीदास! श्रीरामके चरणोंके प्रेमरूपी जल बिना इस पापरूपी मलका समूल नाश नहीं हो सकता। यहाँ 'अति नास' का तात्पर्य है—सम्पूर्णरूपसे सदाके लिये अशुद्ध वासनाका निवृत्त हो जाना।

—इन संदर्भोंसे यह स्पष्ट है कि भगवद्भक्तिरूप साधन जीवके अन्तःकरण आदिकोंकी अशुद्धि एवं असद्वासनाओंका निराकरण करके जीवको परम पुरुषार्थ प्राप्त करानेमें पूर्णतया सक्षम है। इसलिये पूरी शक्ति लगाकर समस्त अन्तःकरण एवं बाह्यकरणोंका सम्बन्ध भगवान्‌से स्थापित कर देना चाहिये, यही परमपुरुषार्थ होगा। इसी पुरुषार्थसे भगवान्‌में स्वारसिक प्रीति एवं भगवत्प्राप्ति सम्भव है। इसी बातको श्रीमद्भागवत (१०। १०। ३८)-में इन शब्दोंमें कहा गया है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

प्रभो! हमारी वाणी आपके मङ्गलमय गुणोंका वर्णन करती रहे। हमारे कान आपकी रसमयी कथामें लगे रहें। हमारे हाथ आपकी सेवामें और मन आपके चरणकमलोंकी स्मृतिमें रम जायँ। यह सम्पूर्ण जगत् आपका निवासस्थान है। हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे। संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं। हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें।

यह भगवद्भक्ति भगवान्‌की कृपाके बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं है और भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये जीवको श्रुति-स्मृतिरूप भगवदाज्ञाके अनुसार कर्म करके उसका पालन करना पड़ेगा, भगवान् कहते हैं—जो मेरी आज्ञाका

* जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना। सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥ (मुक्तिकोपनिषद् २। १४)

उल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है तथा वैष्णव होनेपर भी वह मेरा प्रिय नहीं है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी वैष्णवोऽपि न मे प्रियः॥

यदि किसी धन्य जीवको भगवान्‌की महिमा और लीलाकथामें अनुराग हो जाय तो यह समझना चाहिये कि उसके हजारों जन्मोंके पाप नष्ट हो गये हैं और पुण्यकर्मोंका फल परिपक्व हो गया है—

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

असद्वासनाओंके कारण होनेवाली अनर्थपरम्पराका निवारण करनेके लिये जीवको पुरुषार्थके माध्यमसे अपनी वृत्तियोंको सद्वासनाओंका अवलम्ब देना होगा। यह पुरुषार्थ शास्त्रित-पुरुषार्थ कहा जाता है और इसी शास्त्र-समर्थित पुरुषार्थसे जीव अपनी अशुद्ध बुद्धि आदि अन्तःकरणों तथा बाह्य करणोंको संस्कृत करके परमार्थको प्राप्त कर सकता है—

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं मतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्॥
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।

(मुक्तिकोपनिषद् २।१, ५-६)

प्रायः आधुनिक युगमें सत्पुरुषकी कोटिमें मान्य व्यक्तियोंके द्वारा भी शास्त्रविरुद्ध (उच्छास्त्र) पुरुषार्थ हो रहे हैं, जो बन्धनको और अधिक दृढ़ करनेवाले हैं। अतः निष्कृष्ट अर्थ यह है कि संस्कारके नामसे प्रसिद्ध सारे क्रिया-कलापोंका शुभ पर्यवसान तभी है, जब उन संस्कारोंसे संस्कृत होकर स्थूल और सूक्ष्म (करणादि) उपाधियाँ पवित्र हो जायँ और जीवभावकी समाप्ति तथा उसकी स्व-स्वरूपावस्थितिमें सहायक हों। सावधान रहनेकी आवश्यकता है। यह साधनाका क्षेत्र है, इसमें अपने पुरुषार्थके बलपर मानवजीवनके चरमोद्देश्यकी प्राप्ति बहुत कठिन है, इसके लिये भगवान्‌की कृपा ही प्रधान कारण है। भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की शरणागति ही एकमात्र उपाय है। हमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुरूप आचरण करनेका सङ्कल्प लेना होगा, भगवदाज्ञास्वरूप शास्त्रके विरुद्ध आचरणसे निवृत्त होना पड़ेगा, अपने कल्याणके लिये सभी ओरसे निराश होकर भगवान्‌का ही अपने एकमात्र रक्षकके रूपमें वरण करना पड़ेगा और भगवान्‌के चरणोंमें अपने कार्पण्यका निवेदन एवं आत्मसमर्पण करना पड़ेगा—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

~~o~~

आख्यान—

संसर्गसे गुण-दोष

एक राजा घोड़ेपर चढ़ा वनमें अकेले जा रहा था। जब वह डाकू भीलोंकी झोंपड़ीके पाससे निकला, तब एक भीलके द्वारपर पिंजड़ेमें बंद तोता पुकार उठा—'दौड़ो! पकड़ो! मार डालो इसे! इसका घोड़ा छीन लो! इसके गहने छीन लो!'

राजाने समझ लिया कि यह डाकुओंकी बस्तीमें आ गया है। उसने घोड़ेको पूरे वेगसे दौड़ा दिया। डाकू दौड़े सही; किंतु राजाका उत्तम घोड़ा कुछ ही क्षणमें दूर निकल गया। हताश होकर उन्होंने पीछा करना छोड़ दिया।

आगे राजाको मुनियोंका आश्रम मिला। एक कुटीके सामने पिंजड़ेमें बैठा तोता उन्हें देखते ही बोला—'आइये राजन्! आपका स्वागत है। अरे! अतिथि पधारे हैं! अर्घ्य लाओ! आसन लाओ!'

कुटीमेंसे मुनि बाहर आ गये। उन्होंने राजाका स्वागत किया। राजाने पूछा—'एक ही जातिके पक्षियोंके स्वभावमें इतना अन्तर क्यों?'

मुनिके बदले तोता ही बोला—'राजन्! हम दोनों एक ही माता-पिताकी संतान हैं; किंतु उसे डाकू ले गये और मुझे ये मुनि ले आये। वह हिंसक भीलोंकी बातें सुनता है और मैं मुनियोंके वचन सुनता हूँ। आपने स्वयं देख ही लिया कि किस प्रकार सङ्गके कारण प्राणियोंमें गुण या दोष आ जाते हैं।'

~~o~~

शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवान्‌के नामोच्चारणसे होती है; क्योंकि भगवन्नामकीर्तन पवित्रकीर्ति भगवान्‌के गुणोंका भक्तमें आधान करा देता है।

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।५४)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी ध्रुवानुस्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है।

भक्तशिरोमणि गोस्वामीजी महाराजने मोह (अविवेक)-को ही अन्तःकरण और बाह्यकरणके मालिन्यमें हेतु कहा है। अविवेकके कारण उत्पन्न मल, पूर्वके अनेकानेक जन्मोंसे अभ्यस्त होनेके कारण अधिक सुदृढ़ हो गया है।* इस मलके अपसारणके लिये व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि उपाय श्रुतियोंमें कहे गये हैं, किंतु भगवच्चरणानुरागरूपी नीरमें अवगाहन किये बिना मलकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती—

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना-मान-मद, जीव सहज सुख त्यागे॥
परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन बिसराये॥
तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप, सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥

(विनय-पत्रिका ८२)

मोहसे उत्पन्न जो अनेक प्रकारका (पापरूपी) मल लगा हुआ है, वह करोड़ों उपायोंसे भी नहीं छूटता। अनेक जन्मोंसे यह मन पापमें लगे रहनेका अभ्यासी हो रहा है, इसलिये यह मल अधिकाधिक लिपटता ही चला जाता है। पर-स्त्रियोंकी ओर देखनेसे नेत्र मलिन हो गये हैं, विषयोंका संग करनेसे मन मलिन हो गया है और वासना, अहंकार तथा गर्वसे हृदय मलिन हो गया है तथा सुखरूप स्व-स्वरूपके त्यागसे जीव मलिन हो गया है। परनिन्दा सुनते-सुनते कान और दूसरोंका दोष कहते-कहते वचन मलिन हो गये हैं। अपने नाथ श्रीरामजीके चरणोंको भूल जानेसे ही यह मलका भार सब प्रकारसे मेरे पीछे लगा फिरता है। इस पापके धुलनेके लिये वेद तो व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि अनेक उपाय बतलाता है; परंतु हे तुलसीदास! श्रीरामके चरणोंके प्रेमरूपी जल बिना इस पापरूपी मलका समूल नाश नहीं हो सकता। यहाँ 'अति नास' का तात्पर्य है—सम्पूर्णरूपसे सदाके लिये अशुद्ध वासनाका निवृत्त हो जाना।

—इन संदर्भोंसे यह स्पष्ट है कि भगवद्भक्तिरूप साधन जीवके अन्तःकरण आदिकोंकी अशुद्धि एवं असद्वासनाओंका निराकरण करके जीवको परम पुरुषार्थ प्राप्त करानेमें पूर्णतया सक्षम है। इसलिये पूरी शक्ति लगाकर समस्त अन्तःकरण एवं बाह्यकरणोंका सम्बन्ध भगवान्‌से स्थापित कर देना चाहिये, यही परमपुरुषार्थ होगा। इसी पुरुषार्थसे भगवान्‌में स्वारसिक प्रीति एवं भगवत्प्राप्ति सम्भव है। इसी बातको श्रीमद्भागवत (१०।१०।३८)-में इन शब्दोंमें कहा गया है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

प्रभो! हमारी वाणी आपके मङ्गलमय गुणोंका वर्णन करती रहे। हमारे कान आपकी रसमयी कथामें लगे रहें। हमारे हाथ आपकी सेवामें और मन आपके चरणकमलोंकी स्मृतिमें रम जायँ। यह सम्पूर्ण जगत् आपका निवासस्थान है। हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे। संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं। हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें।

यह भगवद्भक्ति भगवान्‌की कृपाके बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं है और भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये जीवको श्रुति-स्मृतिरूप भगवदाज्ञाके अनुसार कर्म करके उसका पालन करना पड़ेगा, भगवान् कहते हैं—जो मेरी आज्ञाका

* जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना। सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥ (मुक्तिकोपनिषद् २।१४)

उल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है तथा वैष्णव होनेपर भी वह मेरा प्रिय नहीं है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी वैष्णवोऽपि न मे प्रियः॥

यदि किसी धन्य जीवको भगवान्‌की महिमा और लीलाकथामें अनुराग हो जाय तो यह समझना चाहिये कि उसके हजारों जन्मोंके पाप नष्ट हो गये हैं और पुण्यकर्मोंका फल परिपक्व हो गया है—

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

असद्वासनाओंके कारण होनेवाली अनर्थपरम्पराका निवारण करनेके लिये जीवको पुरुषार्थके माध्यमसे अपनी वृत्तियोंको सद्वासनाओंका अवलम्ब देना होगा। यह पुरुषार्थ शास्त्रित-पुरुषार्थ कहा जाता है और इसी शास्त्र-समर्थित पुरुषार्थसे जीव अपनी अशुद्ध बुद्धि आदि अन्तःकरणों तथा बाह्य करणोंको संस्कृत करके परमार्थको प्राप्त कर सकता है—

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं मतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्॥
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।

(मुक्तिकोपनिषद् २। १, ५-६)

प्रायः आधुनिक युगमें सत्पुरुषकी कोटिमें मान्य व्यक्तियोंके द्वारा भी शास्त्रविरुद्ध (उच्छास्त्र) पुरुषार्थ हो रहे हैं, जो बन्धनको और अधिक दृढ़ करनेवाले हैं। अतः निष्कृष्ट अर्थ यह है कि संस्कारके नामसे प्रसिद्ध सारे क्रिया-कलापोंका शुभ पर्यवसान तभी है, जब उन संस्कारोंसे संस्कृत होकर स्थूल और सूक्ष्म (करणादि) उपाधियाँ पवित्र हो जायँ और जीवभावकी समाप्ति तथा उसकी स्व-स्वरूपावस्थितिमें सहायक हों। सावधान रहनेकी आवश्यकता है। यह साधनाका क्षेत्र है, इसमें अपने पुरुषार्थके बलपर मानवजीवनके चरमोद्देश्यकी प्राप्ति बहुत कठिन है, इसके लिये भगवान्‌की कृपा ही प्रधान कारण है। भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की शरणागति ही एकमात्र उपाय है। हमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुरूप आचरण करनेका सङ्कल्प लेना होगा, भगवदाज्ञास्वरूप शास्त्रके विरुद्ध आचरणसे निवृत्त होना पड़ेगा, अपने कल्याणके लिये सभी ओरसे निराश होकर भगवान्‌का ही अपने एकमात्र रक्षकके रूपमें वरण करना पड़ेगा और भगवान्‌के चरणोंमें अपने कार्पण्यका निवेदन एवं आत्मसमर्पण करना पड़ेगा—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधाः शरणागतिः॥

~~o~~

आख्यान—

संसर्गसे गुण-दोष

एक राजा घोड़ेपर चढ़ा वनमें अकेले जा रहा था। जब वह डाकू भीलोंकी झोंपड़ीके पाससे निकला, तब एक भीलके द्वारपर पिंजड़ेमें बंद तोता पुकार उठा—'दौड़ो! पकड़ो! मार डालो इसे! इसका घोड़ा छीन लो! इसके गहने छीन लो!'

राजाने समझ लिया कि वह डाकुओंकी बस्तीमें आ गया है। उसने घोड़ेको पूरे वेगसे दौड़ा दिया। डाकू दौड़े सही; किंतु राजाका उत्तम घोड़ा कुछ ही क्षणमें दूर निकल गया। हताश होकर उन्होंने पीछा करना छोड़ दिया।

आगे राजाको मुनियोंका आश्रम मिला। एक कुटीके सामने पिंजड़ेमें बैठा तोता उन्हें देखते ही बोला—'आइये राजन्! आपका स्वागत है। अरे! अतिथि पधारे हैं! अर्घ्य लाओ! आसन लाओ!'

कुटीमेंसे मुनि बाहर आ गये। उन्होंने राजाका स्वागत किया। राजाने पूछा—'एक ही जातिके पक्षियोंके स्वभावमें इतना अन्तर क्यों?'

मुनिके बदले तोता ही बोला—'राजन्! हम दोनों एक ही माता-पिताकी संतान हैं; किंतु उसे डाकू ले गये और मुझे ये मुनि ले आये। वह हिंसक भीलोंकी बातें सुनता है और मैं मुनियोंके वचन सुनता हूँ। आपने स्वयं देख ही लिया कि किस प्रकार सङ्गके कारण प्राणियोंमें गुण या दोष आ जाते हैं।'

~~o~~

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्'

[गर्भावस्थाके संस्कार मिटते नहीं]

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

मिट्टीके बनते हुए बर्तनमें जो चित्र खींच दिया जाता है, वह चित्र कभी नहीं मिटता। इसी तरह मनुष्यके बचपनमें या गर्भमें स्थित रहनेपर जो संस्कार डाला जाता है, वह अमिट हो जाता है। इस सम्बन्धमें यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। एक है अभिमन्युका और दूसरा है महाभागवत प्रह्लादका।

(१) अभिमन्युका चरित्र

देवताओंने चन्द्रमासे कहा था कि पृथ्वीपर आसुरी भाव फैलानेके लिये कलियुग दुर्योधनके रूपमें और उसके सौ भाई पुलस्त्यके वंशमें उत्पन्न राक्षसोंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं, अतः देवता भी मनुष्यके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं और हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें आप पृथ्वीपर स्वयं या अपने पुत्रको मनुष्यके रूपमें उत्पन्न करें। चन्द्रमाके पुत्रका नाम वर्चा था। चन्द्रमा अपने पुत्रको बहुत प्यार करते थे। उन्होंने कहा—'विश्वके हितके लिये अपने पुत्र वर्चाको हम पृथ्वीपर भेज रहे हैं, किंतु हमें यह अत्यन्त प्यारा है, इसे देखे बिना हमारा मन नहीं लगता, इसलिये सोलह वर्षसे अधिक यह पृथ्वीपर न रहने पाये। सोलहवें वर्षमें फिर वर्चाके रूपमें हमारे पास आ जाय।' यही वर्चा अर्जुनकी प्रिय पत्नी सुभद्रासे अभिमन्युके रूपमें उत्पन्न हुआ था।

सुभद्राका रूप-लावण्य इतना आकर्षक था कि उसे देखते ही अर्जुन मोहित हो गये। कृष्ण तो चाहते ही थे कि हम अपनी बहन सुभद्राका विवाह अर्जुनसे करें। अतः उन्होंने अर्जुनको राय दी कि तुम सुभद्राको लेकर चले जाओ, यह क्षत्रियोंके लिये शोभादायक विवाह है। अन्ततक भगवान् श्रीकृष्णने सुभद्राका अर्जुनके साथ विवाहमें पूर्ण सहयोग दिया। सुभद्रा अर्जुनके साथ हस्तिनापुर चली गयी। यहाँ वह गर्भवती भी हो गयी। अर्जुन चाहते थे कि सुभद्राके गर्भमें जो शिशु आया है, वह हमारी तरह ही महान् पराक्रमी बने। युद्धमें अनेक व्यूह बनाये जाते हैं, जिसमें चक्रव्यूहका भेदन अत्यन्त कठिन होता है। अतः उन्होंने चक्रव्यूहके भेदनकी सब विधियाँ बता दीं, किंतु भवितव्यतासे उन्हें नींद आ गयी और वे चक्रव्यूहसे निकलनेकी विधि न बता सके।

इस तथ्यको अर्जुनने अपने बड़े भाई युधिष्ठिरको सुनाया था। स्वयं अभिमन्युने भी युधिष्ठिरसे कहा था—पिताजी! हम चक्रव्यूहका भेदन तो जानते हैं, किंतु निकलनेका मार्ग हमको नहीं मालूम है—

उपदिष्टो हि मे पित्रा योगोऽनीकविशातने।
नोत्सहे हि विनिर्गन्तुमहं कस्यांचिदापदि॥

(महा०, द्रोण० ३५।१९)

यही कारण है कि सोलहवें वर्षमें अभिमन्युको पृथ्वी छोड़कर फिर चन्द्रलोकमें अपने पिताके पास जाना पड़ा। चक्रव्यूहके भेदनमें अभिमन्युने जो पराक्रम दिखलाया, वह इतिहासके पन्नोंमें अमिट बना हुआ है। स्वयं द्रोणाचार्यजी युद्धभूमिमें उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नास्य युद्धे समं मन्ये कञ्चिदन्यं धनुर्धरम्।
इच्छन् हन्यादिमां सेनां किमर्थमपि नेच्छति॥

(महा०, द्रोण० ३९।१३)

मैं दूसरे किसी धनुर्धर वीरको युद्धभूमिमें इसके समान नहीं मानता। यदि यह चाहे तो इस सारी सेनाको नष्ट कर सकता है, परंतु न जाने यह क्यों ऐसा चाहता नहीं है।

इस तरह गर्भावस्थामें चक्रव्यूह-भेदनकी सीखी हुई अभिमन्युकी इस संस्कार-कथासे हमें प्रेरणा मिलती है कि

हमलोग भी किसी जीवके गर्भमें आ जानेपर उसपर अच्छे-से-अच्छा संस्कार डालें।

(२) गर्भावस्थामें देवर्षि नारदके उपदेशसे प्रह्लादका महाभागवत होना

देवर्षि नारदजीको प्रजापति दक्षके शापसे निरन्तर चलना पड़ता था; इसलिये नारदजी प्रत्येक क्षण चाहे पृथ्वी हो, चाहे आकाश हो, चाहे पाताल हो—सर्वत्र भ्रमण करते हुए भगवान्‌का गुणानुवाद करते रहते थे। एक बार नारदजी भगवान्‌का गुणकीर्तन करते हुए पृथ्वीसे देवलोककी ओर जा रहे थे। उस समय हिरण्यकशिपुका बोलबाला था, उसका अत्याचार बढ़ा हुआ था। उसके आदेशसे देवलोक खाली हो गया था। अतः देवता मनुष्य बनकर पृथ्वीपर विचरण किया करते थे। हिरण्यकशिपुने दैत्योंसे कहा—तुम लोग पृथ्वीपर जाओ और वहाँ जो लोग तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और दानादि शुभकर्म कर रहे हों, उन सबको मार डालो—

'सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः॥'

(श्रीमद्भा० ७।२।१०)

दैत्य तो स्वभावसे ही लोगोंको सताकर सुखी होते हैं, उनके तो मनकी हो गयी। हिरण्यकशिपुकी आज्ञा पाकर दैत्य लोग पृथ्वीपर आकर बड़े उत्साहसे यह खोजा करते थे कि कहीं कोई भगवान्‌का नाम तो नहीं ले रहा है। उसी समय उन्होंने नारदजीको पकड़ लिया और पूछा—क्या कह रहे हो? नारदजी हिरण्यकशिपुकी प्रत्येक गतिविधियोंसे परिचित थे, इसलिये उन्होंने गोल-मोल शब्दोंमें कहा—'जो सबका ईश्वर है, उसका गुणगान कर रहा हूँ।' दैत्योंने समझा—सबका ईश्वर तो हमारा ही मालिक है, अतः उन्होंने उन्हें छोड़ दिया।

अब नारदजीने विचार किया कि हिरण्यकशिपु अपनी तपस्याके बलपर प्रत्येक लोकपालोंको वशमें करके विधाताके पदको लेना चाहता है और ऐसा विधान बनाना चाहता है जो शास्त्रके बिलकुल उलटा हो। वह तो अपनी तपस्यासे पाप-पुण्यादिके नियमोंको ही पलट देना चाहता है। वह तो यह चाहता है कि पुण्य करनेवालोंको नरक मिले और पाप करनेवालोंको स्वर्ग—'अन्यथेदं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा' (श्रीमद्भा० ७।३।११)।

ऐसा जानकर नारदजी बहुत चिन्तित हुए और सोचने लगे कि विषम परिस्थितिसे कैसे रक्षा हो? उनके मनमें विचार आया कि हिरण्यकशिपु तो विधाताके विधानको बदलनेके लिये तपस्या करने चला गया है और उसकी पत्नी कयाधू गर्भवती है, अतः गर्भस्थ शिशुपर ऐसा संस्कार डालें कि वह महाभागवत हो। वेद-पुराण आदि शास्त्र ईश्वरके स्वरूप होते हैं, इसलिये वह उनका भी भक्त हो।

देवर्षि नारद इस अवसरकी प्रतीक्षामें थे कि कयाधूको कहाँ पायें। इसी बीच उन्होंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञासे देख लिया कि सारे देवता खूब तैयारीके साथ हिरण्यकशिपुके नगरमें घुस गये हैं और सभी दैत्य तथा दैत्योंके सेनापति भी जान बचाकर भाग निकले हैं, घरमें कोई नहीं बचा। देवराज इन्द्रने कयाधूको भी पकड़ लिया। कयाधू मारे डरके कुररी पक्षीकी तरह बहुत जोरसे चिल्लाने लगी। तब नारदजीने अच्छा अवसर देखा और वहाँ पहुँच गये। उन्होंने देवराजसे कहा—'यह पतिव्रता है; साध्वी परनारीका

तिरस्कार पाप है। कयाधूको छोड़ दें'—'मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम्॥' (श्रीमद्भा० ७।७।८)

देवता अन्तर्यामी होते हैं। देवराज इन्द्रने देखा कि कयाधूके गर्भमें हिरण्यकशिपुका बीज है, यह भी हिरण्यकशिपु ही होगा। हिरण्यकशिपुने तीनों लोकोंमें हाहाकार मचा रखा है, इसका बच्चा भी यही करेगा।

इन्द्रने नारदजीसे कहा—कयाधूमें हमारा

नहीं है। यह प्रसवपर्यन्त हमारे पास रहे। इसे हम तब छोड़ेंगे जब इसके बच्चेको मार डालेंगे।*

इसपर देवर्षि नारदजी बोले—इसके गर्भसे महाभागवत उत्पन्न होनेवाला है, यह तुम्हारे मारे न मरेगा। तुम इसे छोड़ दो। इसका गर्भस्थ शिशु भगवान्‌का साक्षात् परम प्रेमी भक्त और सेवक, अत्यन्त बली और निष्पाप महात्मा है—

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्।
त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली॥
(श्रीमद्भा० ७।७।१०)

नारदजीकी आज्ञाको इन्द्रने सिर झुकाकर स्वीकार किया और कयाधूकी परिक्रमा की; क्योंकि उसके गर्भमें महाभागवत था।

देवर्षि नारदजीके इस क्रिया-कलापसे कयाधू उनकी ऋणी-जैसी हो गयी और उनके पैरोंपर गिर पड़ी। देवर्षि नारदजी तो यह चाहते ही थे। उन्होंने कहा—'पुत्री! तुम चिन्ता न करो, हमारे आश्रममें सुखसे तबतक रहो, जबतक तुम्हारे पति तपस्यासे वापस न आ जायँ। मेरे आश्रममें तुम्हें कोई भी देवता परेशान नहीं करेंगे।'

इसके बाद देवर्षि नारदने सबसे पहले अपने जीवनकी घटना कयाधूको सुनायी कि भगवान् कितने उदार और कृपालु हैं, उन भगवान्‌को मैंने देखा है। इसके बाद अपने अन्य भाइयोंकी घटनाएँ सुनायीं कि कैसे उन्होंने भगवान्‌को देखा और फिर उनका कितना अच्छा अभ्युदय हुआ।

कयाधू भी अन्य लोगोंकी तरह अपने पतिको ही ईश्वर समझती थी, किंतु वह भी ईश्वरको मानने लग गयी और नारदजीने यह तर्क दिया था कि ईश्वर वह होता है जो सृष्टि-स्थिति और संहार करता है। हिरण्यकशिपुने सृष्टि नहीं की है, वह तो सृष्टिसे उत्पन्न हुआ है।

नारदजीकी शिक्षासे गर्भस्थ शिशु महाभागवत बना, जिनका नाम 'प्रह्लाद' हुआ। बचपनसे ही ये ईश्वरको छोड़कर और किसीकी चर्चा करते ही नहीं थे।

हिरण्यकशिपु तपस्यासे जब वापस लौटा तो नारदजीने कयाधूको वापस भेज दिया। पुत्रको देखकर हिरण्यकशिपु बड़ा खुश था। उसने सोचा—इसे कहाँ पढ़ाया जाय, फिर उसने शुक्राचार्यके पुत्र शण्डामर्कको नियुक्त किया। हिरण्यकशिपुने शण्डामर्कके गुरुकुलमें प्रह्लादको भेज दिया। प्रह्लाद प्रतिक्षण ईश्वरका चिन्तन करते थे, किंतु गुरुके सम्मानके लिये जो अर्थनीति आदिकी बात वे बताते थे, याद कर उन्हें सुना देते थे, किंतु जब गुरु कहीं बाहर हट जायँ तो प्रह्लादजी असुरबालकोंको—अपने सहपाठी साथियोंको बैठाकर नारदजीकी शिक्षाके संस्कार सुना देते थे। दैत्यबालकोंने कहा—हमारे जो गुरुदेव हैं वे ही तुम्हारे भी हैं, गुरुजीने तो ऐसी बातें बतायी नहीं, फिर तुम यह सब कहाँसे सीख गये, कैसे जान गये? जैसे हम माताके गर्भसे उत्पन्न होकर पढ़ने सीधे यहाँ आये हैं, वैसे ही तुम भी सीधे यहाँ आये हो, फिर तुमने यह सब कहाँसे सीखा।

प्रह्लादने कहा—मित्रो! हमने यह सब देवर्षि नारदजीके मुखसे सुना, उन्हींका उपदेश हम सुना रहे हैं। असुरबालक बोले—तुम्हें नारद कहाँ मिले और कैसे तुम्हें यह उपदेश मिला? तब प्रह्लादजीने सारी घटना सुना दी कि किस तरह मेरी माँको देवराज इन्द्र जबरदस्ती ले जा रहे थे और किस तरह नारदजीने उन्हें छुड़ाकर अपने आश्रममें रखा और किस तरह गर्भावस्थामें उपदेश दिया। वही उपदेश मैंने सुना। लेकिन मेरी माताका पहला संस्कार इतना दृढ़ हो चुका था कि नारदजीकी बातें उन्हें याद नहीं रहीं; भूल गयीं, किंतु मेरे पास कोई संस्कार था नहीं, उनके उपदेशसे मुझमें संस्कार प्रतिष्ठित हुआ और वही संस्कार हम तुम सभीको सुना रहे हैं।

इस प्रकार प्रह्लादजीके चरित्रसे सारी दुनिया परिचित है। इसलिये मैं उसे नहीं लिख रहा हूँ।

उपदेश—श्रोता दो, उपदेश एक और उस उपदेशके प्रभाव भी दो।

देवर्षि नारजीने एक ही वचन, एक ही उपदेश कयाधू और गर्भस्थ शिशुको सिखाया था, किंतु उसके प्रभाव दो हुए। गर्भस्थ शिशुको तो उपदेशने महाभागवत बनाया, किंतु उन्हीं शब्दोंने कयाधूको प्रह्लाद नहीं बनाया; क्योंकि उसका संस्कार पहलेसे ही अनीश्वरवादी था। उस कुसंस्कारको नारदजीका उपदेश भी नहीं मिटा पाया।

~~~ 0 ~~~

* आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः। आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः॥ (श्रीमद्भा० ७।७।९)
~~~

संस्कार-साधना

(डॉ० श्रीराजवलीजी पाण्डेय, एम्०ए०, डी० लिट्०)

भारतीय शास्त्रकारोंने जीवनका एक ध्येय निश्चित किया था और उसतक पहुँचनेके लिये अनेक साधनोंका आविष्कार भी। संस्कार भी एक इसी प्रकारका साधन है। उन्होंने जीवनकी सामग्रियोंको दो भागोंमें बाँटा है। एक तो वह; जिसको लेकर मनुष्य उत्पन्न होता है, दूसरा वह; जिसका संचय वह अपने वर्तमान जीवनमें परिस्थितियोंके अनुकूल करता है। शास्त्रकारोंका मत है कि नवजात शिशुका मस्तिष्क कोरी पट्टीके समान नहीं है, जिसपर बिलकुल नया लेख लिखना है, इसके विरुद्ध इसपर उसके अनेक पूर्वजन्मोंके संस्कार अङ्कित हैं। साथ-ही-साथ उनका यह भी विश्वास है कि नवीन संस्कारोंद्वारा पुराने संस्कारोंको प्रभावित, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन और उनका उन्मूलन भी किया जा सकता है। प्रतिकूल संस्कारोंका विनाश और अनुकूल संस्कारोंका निर्माण ही साधकका प्रयास है।

संस्कार क्या है? इसको केवल बाहरी धार्मिक आडम्बर समझना भूल है। इसमें बाहरी कृत्य अवश्य हैं, किंतु ये आन्तरिक आध्यात्मिक सौन्दर्यके बाह्य दृष्टरूप हैं और इसीमें संस्कारकी महत्ता है। आध्यात्मिक जीवनसे विच्छेद होनेपर ये मृत अस्थिपञ्जरके समान हैं, जिसमें गति और जीवन नहीं है। 'संस्कार' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। कौषीतकि,[१] छान्दोग्य[२] और बृहदारण्यकादि[३] उपनिषदोंने इसका प्रयोग (संस्करोति) उन्नति करनेके अर्थमें किया है। महर्षि पाणिनि[४]ने इस शब्दका प्रयोग तीन विभिन्न अर्थोंमें किया है—१. उत्कर्ष करनेवाला (उत्कर्षसाधनं संस्कारः), २-समवाय अथवा संघात और ३-आभूषण। ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थोंने 'संस्कार' शब्दका व्यवहार यज्ञकी सामग्रियोंको पवित्र करनेके अर्थमें किया है। बौद्ध त्रिपिटकोंमें निर्माण, आभूषण, समवाय, प्रकृति, कर्म और स्कन्धके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग पाया जाता है। बौद्धदर्शनने संस्कारको भवचक्रकी बारह शृङ्खलाओंमेंसे[५] एक माना है। हिन्दूदर्शनोंमें इसका प्रयोग कुछ भिन्न अर्थमें हुआ है। यहाँ संस्कारका अर्थ भोग्य पदार्थोंकी अनुभूतिकी छाप है। हमारे अव्यक्त मनपर जितने अनुभवोंकी छाप है, अनुकूल अवसर पानेपर उन सबका पुनरावर्तन होता है। इस अर्थमें संस्कार 'वासना' का पर्यायवाची है। अद्वैतवेदान्तमें आत्माके ऊपर मिथ्या अध्यासके रूपमें संस्कारका प्रयोग हुआ है। वैशेषिकोंने चौबीस गुणोंमेंसे इसको एक माना है। संस्कृत-साहित्यमें बड़े व्यापक अर्थमें 'संस्कार' शब्द व्यवहृत हुआ है—शिक्षण,[६] चमक, सजावट, आभूषण,[७] छाप, आकार, साँचा, क्रिया, प्रभावस्मृति,[८] पावक कर्म, विचार, धारणा, पुण्यादि।[९] धर्मशास्त्रियोंने मानव-जीवनको पवित्र और उत्कृष्ट बनानेवाले समय-समयपर होनेवाले षोडश धार्मिक कृत्योंको संस्कार माना है। प्रायः इसी अर्थमें 'संस्कार' शब्दका प्रयोग किया गया है। संस्कारमें अनेक प्रकारके भावों और अर्थोंका समावेश है। इसीलिये किन्हीं विद्वानोंने इसको एक विचित्र अनिर्वचनीय पुण्य उत्पन्न करनेवाला धार्मिक कृत्य कहा है।[१०]

धर्मशास्त्रियोंने जीवनका ध्येय आध्यात्मिक निश्चित किया है, किंतु उनकी यह भी धारणा है कि शरीर धर्म,

---

१. २।६, २. ४।१६, २।३।४, ३. ६।३।१, ४. ६।१।१३७

५. अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण।

६. निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्॥ (रघुवंश ३।३५)

७. स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते। (शकुन्तला ७।२३)

८. संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। (तर्कसंग्रह)

९. फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव। (रघुवंश १।२०)

१०. आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः। (वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश)

अर्थ, काम और मोक्षका साधन है। इसलिये वे आत्माके पुजारी होते हुए भी शरीरकी अवहेलना नहीं करते। इसके विपरीत वे शरीरको आत्माके अवतरण और प्रकाशके लिये योग्य माध्यम बनाना चाहते हैं। इनका मार्ग घोर भौतिकवादियों और एकान्त निवृत्तिमार्गियोंके बीचका है। भौतिकवादी शरीरको ही मानव-जीवनका सर्वस्व समझते हैं। उसके आगे और ऊपर किसी आदर्शमें उनका विश्वास नहीं होता। इसलिये आत्माके अन्तस्तलमें निहित आनन्दसे वे वञ्चित रह जाते हैं। निवृत्तिमार्गी आत्माकी खोजमें शरीरका पूर्ण तिरस्कार करनेकी चेष्टा करते हैं, जो पार्थिव जगत्में शरीरत: असम्भव और विडम्बनामात्र है। संस्कारशास्त्रियोंका यह सिद्धान्त है कि मानव-जीवन और शरीर कोई आकस्मिक घटना और निष्प्रयोजन पिण्डमात्र नहीं है। शरीरका प्रादुर्भाव एक निश्चित क्रमके अनुसार होता है। यह आत्माका वाहन है। उसे योग्यतम वाहन बनाना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक जीवन सरलतापूर्वक बिताया जा सके। भगवान् मनुके मतानुसार 'गर्भाधान, जातकर्म, चौल और उपनयन-संस्कारद्वारा बीज और गर्भसम्बन्धी दोष दूर होते हैं। ''शारीरिक संस्कार इस लोक और परलोक दोनोंको पवित्र करते हैं। ''स्वाध्याय, व्रत, होम, वेदाध्ययन, यज्ञ, पुत्रोत्पत्ति, महायज्ञ और अन्य यज्ञोंसे शरीर ब्रह्मानुभूतिके योग्य बनाया जाता है।'[1] इससे स्पष्ट है कि यद्यपि संस्कारोंका तात्कालिक उपयोग शारीरिक कल्याणमें था, फिर भी उनका अन्तिम उद्देश्य ब्रह्मकी प्राप्ति ही था। मनुपर टीका लिखते हुए मेधातिथि कहते हैं—'इनसे संस्कृत हुआ मनुष्य आत्मोपासनाका अधिकारी होता है।'[2]

संस्कारोंकी सहायतासे मानवचरित्रके निर्माण और व्यक्तित्वके विकासका प्रयत्न किया जाता है। अङ्गिराके अनुसार, 'जिस प्रकार अनेक रंगोंसे चित्रकार चित्र बनाता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक किये गये संस्कारोंद्वारा ब्राह्मण्य (ब्राह्मणत्व अथवा ब्रह्मत्व) सम्पादित होता है।'[3] प्राचीन ऋषियोंने इस बातका अनुभव किया था कि मनुष्यको निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने देनेके बदले उसको सावधानीके साथ निश्चित साँचेमें ढालना चाहिये। संस्कारोंको अनिवार्य बनाकर हिन्दूसमाज-शास्त्रियोंने समान आदर्श, आचार और संस्कृतिवाले लोगोंकी एक जाति बनानेकी चेष्टा की थी। उनको इस काममें काफी सफलता भी मिली। हिन्दुओंको एक विशेष प्रकारकी जातीयता और सांस्कृतिक आधारशिला है। इसीके बलपर उन्होंने उन सब जातियोंपर अपनी छाप डाली, जो उनके सम्पर्कमें समय-समयपर आती रहीं। हिन्दुओंका संस्कार इतना दृढ़ था कि अनेक राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियोंके होते हुए भी उन्होंने अपना जातीय अस्तित्व नहीं खोया। आज भी जीवनके दृष्टिकोण तथा आचार-व्यवहारको देखकर आसानीसे कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति हिन्दू है।

संस्कार समस्त जीवनको और मृत्युके उपरान्त अपर लोकको भी संस्कृत करते हैं। मानव-जीवनमें वे इस प्रकार रखे गये हैं कि समयानुसार अनुकूल वातावरण उपस्थित कर सकें। संस्कार व्यक्तिके विकासके अनुसार उसका पथप्रदर्शन करते हैं। इनके संरक्षणमें अपनी शक्ति और वृत्तियोंको निर्दिष्ट और सोद्देश्य मार्गसे संचालित करता हुआ मनुष्य अपना सर्वाङ्गीण पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है।

सर्वप्रथम गर्भाधान-संस्कार किया जाता है। वैसे तो समस्त जीवधारियोंमें कामुक वासना और शारीरिक आकर्षणके कारण पुरुष और स्त्रीवर्गमें सहवास होता है, जिसका परिणाम प्रायः संतानोत्पत्ति होती है। किंतु यह मैथुनी सृष्टिका पशुधरातल है। यदि मनुष्य इस धरातलसे ऊपर न उठा तो वह पशुतुल्य ही है, मानव नहीं। पशुसे मानव बननेके लिये पाशविक वृत्तियोंपर धार्मिक संस्कार करना आवश्यक है। केवल रति और संतानोत्पत्ति ही पर्याप्त नहीं हैं। रति धार्मिक संस्कारसे सीमित और संतान आध्यात्मिक भावनासे अङ्कित होना चाहिये। गर्भाधान-संस्कारका अनुष्ठान उस समय होता है, जब पति और पत्नी दोनों संतानोत्पत्तिके योग्य और स्वस्थ होते हैं, जब वे एक-दूसरेके हृदयको

१. गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (२।२७)
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (२।२६)
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (२।२८)

२. इह तु संस्कृत आत्मोपासनाधिक्रियते। (मनुः २।२८ पर भाष्य)

३. चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः। ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्॥

जानते हैं और जब उन्हें संतान उत्पन्न करनेकी प्रबल इच्छा होती है। उनकी सारी शक्ति प्रजनन-क्रियामें केन्द्रित और सम्पूर्ण मन धार्मिकभावसे रञ्जित होता है। इस समय यज्ञ और मन्त्रोंके द्वारा उपयुक्त वातावरण उपस्थित होता है। इस अवसरपर मालूम होता है कि स्त्री-पुरुषका प्रसङ्ग पशुक्रिया नहीं अपितु एक यज्ञ है, जिसको करके मनुष्य अपने पैतृक ऋणसे मुक्त हो जाता है।[1]

पत्नीके गर्भिणी होनेपर दो संस्कार होते हैं—पुंसवन और सीमन्तोन्नयन। गर्भसंचालनसे लेकर जन्मके पूर्वतक गर्भस्थ शिशु तथा माताके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिये जितनी बातोंकी आवश्यकता होती है, उन सबका विधान इन संस्कारोंमें किया गया है। वास्तवमें शिशुके शरीर और मनका संगठन उसके जन्मके उपरान्त नहीं, अपितु गर्भावस्थासे ही प्रारम्भ हो जाता है। इतनी बात तो जननशास्त्रके जाननेवाले भी मानते हैं। संस्कारोंमें विशेषता यह है कि वे जननशास्त्रके नियमोंका पालन कराते हुए अपने अन्तिम ध्येयको दृष्टिमें रखकर धार्मिक और आध्यात्मिक छाप लगाना भी जारी रखते हैं।

जन्मोपरान्त सबसे पहले जातकर्म-संस्कार होता है। इसके दो मुख्य अङ्ग हैं, एक प्रज्ञाजनन और दूसरा आयुष्य। संतानके सम्बन्धमें माता-पिताकी पहली चिन्ता यह होती है कि संतान मेधावी हो, दूसरी चिन्ता उसके दीर्घ जीवनकी। मानव-जीवनको सफल और पूर्ण बनानेके लिये ये दोनों बातें आवश्यक हैं। अन्तमें पिता प्रार्थना करता है कि संतान वज्रके समान दृढ़, परशुके समान तीक्ष्ण और सुवर्णके समान कान्तिवाला हो।[2] बाल्यावस्थामें विकासके एक-एक क्रमपर दूसरे संस्कारोंका विधान है। जातकर्मके बाद दूसरा संस्कार नामकरण है। आजकल धार्मिक उदासीनता और दुर्व्यवस्थाके कारण माता-पिता बालकका नाम प्रायः ऊटपटाँग रख देते हैं, किंतु संस्कार नामको ऐसी तुच्छ बात नहीं समझते। बृहस्पतिका कथन है कि 'नाम सम्पूर्ण व्यवहारोंका कारण, कल[illegible] भाग्यप्रदाता है; नामसे ही मनुष्य कीर्ति प्र[illegible] इसलिये नामकरण एक प्रशस्त कार्य है।'[3] [illegible] मन्त्र है, जिसका सम्बन्ध मनुष्यकी सारी [illegible] व्यक्तित्वसे होता है। इसलिये इस संस्कारने [illegible] रचनाका विधान किया है, जो उच्चारणमें [illegible] मधुर और व्यक्तिगत तथा सामाजिक महत्त्व[illegible] द्योतक हों। शैशवका तीसरा संस्कार 'नि[illegible] शिशुके शारीरिक विकासके साथ-साथ उसके [illegible] विस्तार होता है। इसलिये उसको घरके [illegible] बाहर निकालकर बाहरी संसारसे परिचय कर[illegible] होता है। किंतु संस्कार केवल शारीरिक माँग[illegible] मानसिक जिज्ञासाकी तृप्ति ही नहीं करत[illegible] बालकके वर्धमान हृदयपर विश्वकी विशालता[illegible] लीलावैचित्र्यकी छाप भी डालता है। चार[illegible] संस्कार 'अन्नप्राशन' है, जो दाँत निकलनेके [illegible] परिमित और सुपाच्य भोजनकी आवश्यकत[illegible] हुए अन्नतत्त्वका रहस्य बतलाता है। पाँ[illegible] 'चूडाकरण' बालकके आयुष्य, सौन्दर्य औ[illegible] लिये किया जाता है।[4] छठा संस्कार 'कर्णवे[illegible] आविष्कार आभूषण धारण करने और अ[illegible] निवारणके लिये हुआ था।[5] इस अवसरपर केश[illegible] सूर्य, चन्द्र और दिग्देवताओंकी पूजा होती है[illegible] की जाती है कि कानोंमें भद्रवचन ही सुना[illegible] संस्कारोंके साथ शैशवका अन्त होता है और बा[illegible] जगत्‌की सीमा भी बढ़ जाती है। शास्त्रका[illegible] (जिसका चूडाकरण-संस्कार हो गया है)-के [illegible] लिये बहुत-से नियम-उपनियम बनाये हैं, जि[illegible] करके वह अपने भावी जीवनके लिये तैयार [illegible]

शैशवके अन्तके साथ बालकका शिक्षण [illegible] होता है। शास्त्रकारोंने इस कालके उपयुक्त [illegible]

---

१. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। (तैत्तिरीयसंहिता ६।३ [illegible]

२. अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। (पारस्करगृ० सू० १।१६।१४)

३. नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः। नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥

उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त और समावर्तन-संस्कारका विधान किया है। विद्यारम्भमें अक्षरज्ञान कराया जाता है। बालकको साक्षरताके साथ-साथ शील और विनयकी शिक्षा दी जाती है। उपनयन तो मनुष्यका दूसरा जन्म ही माना गया है। जिस प्रकार मिट्टीमें मिला हुआ सोना भट्टीकी आगमें तपकर दीप्त काञ्चन हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी उपनीत होकर व्रत और विद्याकी अग्निसे तपाया हुआ खरे सोनेके समान चमक उठता है। इसके बाद ही ब्रह्मचारीको पूर्ण धार्मिक और सामाजिक अधिकार मिलते हैं। प्राचीन आर्योंने शिक्षाको समाजमें प्रवेश करनेकी शर्त बनाकर अपने सांस्कृतिक गौरवका परिचय दिया था। उपनीतके लिये 'ब्रह्मचारी' शब्दका प्रयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। 'ब्रह्म' शब्द केवल वेदपरक ही नहीं, अपितु परमतत्त्वसूचक भी है। उपनीत केवल विद्याव्यसनी ही नहीं, ब्रह्मपरायण भी होता है। ब्रह्मचर्यमें ही वेदारम्भ और केशान्त—दो अलग-अलग संस्कार होते हैं। वेदारम्भसे वेदोंका अध्ययन आरम्भ होता है और केशान्त उस समय किया जाता है जब कि ब्रह्मचारीको मूँछ और दाढ़ी निकलती है और वह यौवनमें प्रवेश करता है। इस क्रान्तिसूचक अवसरपर इस बातकी आवश्यकता होती है कि उसको उपनयनके समयपर धारण किये हुए व्रतका एक बार फिर स्मरण कराया जाय। ब्रह्मचर्यकालके समाप्त होनेपर समावर्तन या स्नान-संस्कार होता है। इसका अर्थ है गुरुके आश्रममें विद्या और व्रतको समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये पिताके घर लौट आना। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना व्यक्तिगत इच्छा या सुविधापर अवलम्बित नहीं है। शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है कि प्रवृत्तिप्रधान ब्रह्मचारी (ऐसे ब्रह्मचारियोंकी संख्या सदा अधिक होती है)-को गुरुकी आज्ञा लेकर विवाह करके सामाजिक उत्तरदायित्वको स्वीकार करना चाहिये, जो स्नातक आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी होना चाहता है और निवृत्तिमार्गी है अथवा जो शारीरिक या अन्य किसी अयोग्यताके कारण विवाहित जीवन नहीं बिता सकता, उसको गुरुकुलमें रहकर विद्यासेवन और तपश्चर्यामें ही अपना जीवन खपा देना चाहिये।[1] इस विधानमें असंयम और सामाजिक स्वच्छन्दताका बिलकुल स्थान नहीं है।

विवाह-संस्कार सबसे प्रधान माना गया है; क्योंकि इसका सम्बन्ध न केवल पति और पत्नीसे है अपितु भावी संतानसे भी। यहींपर वर्तमान और भविष्यत्‌की सन्धि होती है। इसी घटनाके ऊपर पारिवारिक और सामाजिक सुख अवलम्बित है। यही कर्म और धर्मका उद्गम है। यह संस्कार सबसे पहले इस बातकी ओर ध्यान दिलाता है कि विवाह शारीरिक आकर्षण और रागका परिपाक नहीं है, अपितु एक धार्मिक बन्धन है, इसका विच्छेद हम व्यक्तिगत असुविधासे नहीं कर सकते, अपितु इसका निर्वाह आजीवन नियम और निष्ठाके साथ करना होगा।[2] दूसरी बात जो इस संस्कारसे स्पष्ट प्रकट होती है, वह यह है कि विवाहित जीवन स्त्री-पुरुषके आमोद-प्रमोद और सुख-सम्पत्तिका साधनमात्र नहीं है, अपितु सामाजिक उत्तरदायित्वके वहन करनेकी प्रतिज्ञा है; क्योंकि सारा समाज गृहस्थके ऊपर ही आश्रित है। विवाह-संस्कारके मुख्य अङ्ग ये हैं—१. पति-पत्नीका शारीरिक स्वास्थ्य और संतानोत्पत्तिकी क्षमता, २. शारीरिक और मानसिक मेल, ३. जीवनमें एक नया बन्धन, ४. विवाह एक सामाजिक क्रान्ति, ५. उत्तरदायित्वकी स्वीकृति और ६. विवाहित जीवन एक महान् प्रलम्ब यज्ञ। इन संस्कारोंको लेकर ब्रह्मचारी विवाहित जीवनमें प्रवेश करता है।

सांसारिक जीवनका अवसान मृत्युमें और संस्कारोंकी परिसमाप्ति अन्त्येष्टिमें होती है। हिन्दू-शास्त्रकार इस लोकका महत्त्व समझते हैं, किंतु उनके सामने परलोक और परमार्थका महत्त्व इससे कहीं बढ़कर है। इस लोकको सुखमय और धार्मिक बनानेकी चेष्टा साधनरूपसे है। जीवनको पवित्र करनेवाले संस्कार लौकिक कल्याणके साथ-साथ परलोककी भी चिन्ता रखते हैं। अन्त्येष्टि-संस्कार परलोकपरक है। इस संस्कारमें आत्माके महाप्रस्थानको सुखमय और सफल बनानेकी चेष्टा की गयी है। बौधायनके अनुसार जातकर्मसे मनुष्य इस लोकको जीतता है और अन्त्येष्टिसे परलोकको विजय करता है।[3]

अध्यात्म हिन्दूधर्मकी सर्वप्रधान विशेषता है, इसलिये

---

१. मनु० २।२४३. २. अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः [illegible] ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ (मनु० ९।१०१)

३. जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्। (बौधायन० [illegible])

हिन्दू-शास्त्रकारोंने अपने सम्पूर्ण शास्त्रों और संस्थाओंको आत्माके रंगमें रँग डाला है। संस्कारमय जीवन आध्यात्मिक साधनाकी दृढ़ भूमिका है। संस्कारोंके द्वारा आध्यात्मिक जीवनका क्रमशः विकास होता है। संस्कृत व्यक्ति अनुभव करता है कि उसका सारा जीवन एक महान् यज्ञ है और जीवनकी प्रत्येक भौतिक क्रियाका सम्बन्ध आध्यात्मिक तत्त्वसे है। संस्कारोंके द्वारा ही कर्मप्रधान सांसारिक जीवनका मेल आध्यात्मिक अनुभवसे होता है। इस प्रकार संस्कृत जीवनसे शरीर और उसकी विविध क्रियाएँ पूर्णताकी प्राप्तिमें बाधक न होकर साधक होती हैं। शास्त्रोक्त संस्कारोंको नियमपूर्वक करता हुआ मनुष्य भौतिक बन्धन और मृत्युको पार करके अमृतत्वको प्राप्त करता है।

संस्कार-सर्वस्व

(दण्डीस्वामी श्रीमद्दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'संस्कार' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सम्+कृ+घञ्, इसका अर्थ है—अच्छा करना, शुद्ध करना, सुन्दर करना, वस्तुमेंसे वैगुण्यदोषका निवारण करके उसको नया आकर्षकरूप प्रदान करना आदि। सामान्यतः जिस क्रियाके योगसे मनुष्यमें सद्गुणोंका विकास एवं संवर्धन होता है, उस क्रियाको संस्कार कहते हैं। संस्कार एक मूल्यवर्धक प्रक्रिया है।

जीवनमें संस्कारोंका बड़ा महत्त्व है। वे मनुष्यकी शारीरिक एवं मानसिक स्थितिके द्योतक हैं। संस्कारके कारण मनुष्यको योग्य एवं उचित प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक क्रिया-कलाप, उनके साथ आनेवाले कई नियम एवं आचार्यपद्धति—इनका संस्कारोंमें समावेश है। इन सबका उद्देश्य केवल औपचारिक देह-संस्कार करना ही नहीं है, अपितु संस्कार्य व्यक्तिके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका परिष्कार कर उसे शुद्धि और पूर्णताकी प्राप्ति कराना भी है।

वेदोंमें संस्कारोंके जो मूल बीज उपलब्ध हैं, उन्हींका विस्तार गृह्यसूत्रोंमें किया गया है। संस्कार गृह्यसूत्रोंका प्रधान विषय है। गृह्यसूत्रोंमें सामान्यतः विवाहसे प्रारम्भ करके समावर्तनपर्यन्त दैहिक संस्कारोंका निरूपण किया गया है। कुछ गृह्यसूत्रोंमें अन्त्येष्टि-संस्कारका उल्लेख नहीं है। पारस्करगृह्यसूत्र, आश्वलायनगृह्यसूत्र, बौधायनगृह्यसूत्र इत्यादिमें अन्त्येष्टिका वर्णन है। गृह्यसूत्रोंकी संस्कार-संख्या भिन्न-भिन्न है, नामोंमें भी थोड़ा अन्तर है। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें ११, पारस्कर, बौधायन एवं वाराहगृह्यसूत्रोंमें १३ तथा वैखानसगृह्यसूत्रमें १८ संस्कारोंका उल्लेख है।

गौतमधर्मसूत्रमें ४८ संस्कारोंका वर्णन है—४० संस्कार एवं ८ आत्मगुण मिलकर ४८ संस्कार होते हैं। इन ४८ संस्कारोंके नाम इस प्रकार हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चौलकर्म, ८. उपनयन, ९—१२. चार वेदव्रत, १३. समावर्तन-स्नान, १४. विवाह, १५. देवयज्ञ, १६. पितृयज्ञ, १७. मनुष्ययज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १९. ब्रह्मयज्ञ, २०. अष्टका (माघकृष्ण अष्टमीका श्राद्धकर्म), २१. पार्वण, २२. मासिकश्राद्ध, २३. श्रावणी, २४. आग्रहायणी, २५. चैत्री-कर्म, २६. आश्वयुजी, २७. अग्न्याधान, २८. अग्निहोत्र, २९. दर्शपूर्णमास, ३०. आग्रयण, ३१. चातुर्मास्य, ३२. निरूढपशुबन्ध, ३३. सौत्रामणी, ३४. अग्निष्टोम (सोमयाग), ३५. अत्यग्निष्टोम, ३६. उक्थ्य, ३७. षोडशी, ३८. वाजपेय, ३९. अतिरात्र, ४०. आप्तोर्याम तथा ८ आत्मगुण संस्कार।

गौतमके कहे हुए ८ आत्मगुण इस प्रकार हैं—

'दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति।'

१. प्राणिमात्रपर दया, २. क्षमा, ३. अनसूया (निर्मत्सरता) ४. शौच (अन्तर्बाह्यशुचिर्भूतता), ५. अनायास (क्षुद्र कामके लिये देहको कष्ट न देना), ६. मङ्गल (सदा उत्साही एवं आनन्दी मनोवृत्ति), ७. अकार्पण्य (कदापि दीनवाणी उच्चरित न करना एवं कृपणता न करना), ८. अस्पृहा (परकी वस्तुकी आशा—अभिलाषा न करना)।

व्यासस्मृतिमें १६ संस्कारोंके नाम दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन,

उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त और समावर्तन-संस्कारका विधान किया है। विद्यारम्भमें अक्षरज्ञान कराया जाता है। बालकको साक्षरताके साथ-साथ शील और विनयकी शिक्षा दी जाती है। उपनयन तो मनुष्यका दूसरा जन्म ही माना गया है। जिस प्रकार मिट्टीमें मिला हुआ सोना भट्टीकी आगमें तपकर दीप्त काञ्चन हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी उपनीत होकर व्रत और विद्याकी अग्निसे तपाया हुआ खरे सोनेके समान चमक उठता है। इसके बाद ही ब्रह्मचारीको पूर्ण धार्मिक और सामाजिक अधिकार मिलते हैं। प्राचीन आर्योंने शिक्षाको समाजमें प्रवेश करनेकी शर्त बनाकर अपने सांस्कृतिक गौरवका परिचय दिया था। उपनीतके लिये 'ब्रह्मचारी' शब्दका प्रयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। 'ब्रह्म' शब्द केवल वेदपरक ही नहीं, अपितु परमतत्त्वसूचक भी है। उपनीत केवल विद्याव्यसनी ही नहीं, ब्रह्मपरायण भी होता है। ब्रह्मचर्यमें ही वेदारम्भ और केशान्त—दो अलग-अलग संस्कार होते हैं। वेदारम्भसे वेदोंका अध्ययन आरम्भ होता है और केशान्त उस समय किया जाता है जब कि ब्रह्मचारीको मूँछ और दाढ़ी निकलती है और वह यौवनमें प्रवेश करता है। इस क्रान्तिसूचक अवसरपर इस बातकी आवश्यकता होती है कि उसको उपनयनके समयपर धारण किये हुए व्रतका एक बार फिर स्मरण कराया जाय। ब्रह्मचर्यकालके समाप्त होनेपर समावर्तन या स्नान-संस्कार होता है। इसका अर्थ है गुरुके आश्रममें विद्या और व्रतको समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये पिताके घर लौट आना। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना व्यक्तिगत इच्छा या सुविधापर अवलम्बित नहीं है। शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है कि प्रवृत्तिप्रधान ब्रह्मचारी (ऐसे ब्रह्मचारियोंकी संख्या सदा अधिक होती है)-को गुरुकी आज्ञा लेकर विवाह करके सामाजिक उत्तरदायित्वको स्वीकार करना चाहिये, जो स्नातक आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी होना चाहता है और निवृत्तिमार्गी है अथवा जो शारीरिक या अन्य किसी अयोग्यताके कारण विवाहित जीवन नहीं बिता सकता, उसको गुरुकुलमें रहकर विद्यासेवन और तपश्चर्यामें ही अपना जीवन खपा देना चाहिये।[1] इस विधानमें असमंजस और सामाजिक स्वच्छन्दताका बिलकुल स्थान नहीं है।

विवाह-संस्कार सबसे प्रधान माना गया है; क्योंकि इसका सम्बन्ध न केवल पति और पत्नीसे है अपितु भावी संतानसे भी। यहींपर वर्तमान और भविष्यत्‌की सन्धि होती है। इसी घटनाके ऊपर पारिवारिक और सामाजिक सुख अवलम्बित है। यही कर्म और धर्मका उद्‌गम है। यह संस्कार सबसे पहले इस बातकी ओर ध्यान दिलाता है कि विवाह शारीरिक आकर्षण और रागका परिपाक नहीं है, अपितु एक धार्मिक बन्धन है, इसका विच्छेद हम व्यक्तिगत असुविधासे नहीं कर सकते, अपितु इसका निर्वाह आजीवन नियम और निष्ठाके साथ करना होगा।[2] दूसरी बात जो इस संस्कारसे स्पष्ट प्रकट होती है, वह यह है कि विवाहित जीवन स्त्री-पुरुषके आमोद-प्रमोद और सुख-सम्पत्तिका साधनमात्र नहीं है, अपितु सामाजिक उत्तरदायित्वके वहन करनेकी प्रतिज्ञा है; क्योंकि सारा समाज गृहस्थके ऊपर ही आश्रित है। विवाह-संस्कारके मुख्य अङ्ग ये हैं—१. पति-पत्नीका शारीरिक स्वास्थ्य और संतानोत्पत्तिकी क्षमता, २. शारीरिक और मानसिक मेल, ३. जीवनमें एक नया बन्धन, ४. विवाह एक सामाजिक क्रान्ति, ५. उत्तरदायित्वकी स्वीकृति और ६. विवाहित जीवन एक महान् प्रलम्ब यज्ञ। इन संस्कारोंको लेकर ब्रह्मचारी विवाहित जीवनमें प्रवेश करता है।

सांसारिक जीवनका अवसान मृत्युमें और संस्कारोंकी परिसमाप्ति अन्त्येष्टिमें होती है। हिन्दू-शास्त्रकार इस लोकका महत्त्व समझते हैं, किंतु उनके सामने परलोक और परमार्थका महत्त्व इससे कहीं बढ़कर है। इस लोकको सुखमय और धार्मिक बनानेकी चेष्टा साधनरूपसे है। जीवनको पवित्र करनेवाले संस्कार लौकिक कल्याणके साथ-साथ परलोककी भी चिन्ता रखते हैं। अन्त्येष्टि-संस्कार परलोकपरक है। इस संस्कारमें आत्माके महाप्रस्थानको सुखमय और सफल बनानेकी चेष्टा की गयी है। बौधायनके अनुसार जातकर्मसे मनुष्य इस लोकको जीतता है और अन्त्येष्टिसे परलोककी विजय करता है।[3]

अध्यात्म हिन्दूधर्मकी सर्वप्रधान विशेषता है, इसलिये

---

१. मनु० २।२४३, २. अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ (मनु० ९।१०१)
३. जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्। (बौधायन-पितृमेधसूत्र ३।१।४)

हिन्दू-शास्त्रकारोंने अपने सम्पूर्ण शास्त्रों और संस्थाओंको आत्माके रंगमें रँग डाला है। संस्कारमय जीवन आध्यात्मिक साधनाकी दृढ़ भूमिका है। संस्कारोंके द्वारा आध्यात्मिक जीवनका क्रमशः विकास होता है। संस्कृत व्यक्ति अनुभव करता है कि उसका सारा जीवन एक महान् यज्ञ है और जीवनकी प्रत्येक भौतिक क्रियाका सम्बन्ध आध्यात्मिक तत्त्वसे है। संस्कारोंके द्वारा ही कर्मप्रधान सांसारिक जीवनका मेल आध्यात्मिक अनुभवसे होता है। इस प्रकार संस्कृत जीवनसे शरीर और उसकी विविध क्रियाएँ पूर्णताकी प्राप्तिमें बाधक न होकर साधक होती हैं। शास्त्रोक्त संस्कारोंको नियमपूर्वक करता हुआ मनुष्य भौतिक बन्धन और मृत्युको पार करके अमृतत्वको प्राप्त करता है।

~~o~~

संस्कार-सर्वस्व

(दण्डीस्वामी श्रीमद्दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'संस्कार' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सम्+कृ+घञ्, इसका अर्थ है—अच्छा करना, शुद्ध करना, सुन्दर करना, वस्तुमेंसे वैगुण्यदोषका निवारण करके उसको नया आकर्षकरूप प्रदान करना आदि। सामान्यतः जिस क्रियाके योगसे मनुष्यमें सद्गुणोंका विकास एवं संवर्धन होता है, उस क्रियाको संस्कार कहते हैं। संस्कार एक मूल्यवर्धक प्रक्रिया है।

जीवनमें संस्कारोंका बड़ा महत्त्व है। वे मनुष्यकी शारीरिक एवं मानसिक स्थितिके द्योतक हैं। संस्कारके कारण मनुष्यको योग्य एवं उचित प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक क्रिया-कलाप, उनके साथ आनेवाले कई नियम एवं आचार्यपद्धति—इनका संस्कारोंमें समावेश है। इन सबका उद्देश्य केवल औपचारिक देह-संस्कार करना ही नहीं है, अपितु संस्कार्य व्यक्तिके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका परिष्कार कर उसे शुद्धि और पूर्णताकी प्राप्ति कराना भी है।

वेदोंमें संस्कारोंके जो मूल बीज उपलब्ध हैं, उन्हींका विस्तार गृह्यसूत्रोंमें किया गया है। संस्कार गृह्यसूत्रोंका प्रधान विषय है। गृह्यसूत्रोंमें सामान्यतः विवाहसे प्रारम्भ करके समावर्तनपर्यन्त दैहिक संस्कारोंका निरूपण किया गया है। कुछ गृह्यसूत्रोंमें अन्त्येष्टि-संस्कारका उल्लेख नहीं है। पारस्करगृह्यसूत्र, आश्वलायनगृह्यसूत्र, बौधायनगृह्यसूत्र इत्यादिमें अन्त्येष्टिका वर्णन है। गृह्यसूत्रोंकी संस्कार-संख्या भिन्न-भिन्न है, नामोंमें भी थोड़ा अन्तर है। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें ११, पारस्कर, बौधायन एवं वाराहगृह्यसूत्रोंमें १३ तथा वैखानसगृह्यसूत्रमें १८ संस्कारोंका उल्लेख है।

गौतमधर्मसूत्रमें ४८ संस्कारोंका वर्णन है—४० संस्कार एवं ८ आत्मगुण मिलकर ४८ संस्कार होते हैं। इन ४८ संस्कारोंके नाम इस प्रकार हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चौलकर्म, ८. उपनयन, ९—१२. चार वेदव्रत, १३. समावर्तन-स्नान, १४. विवाह, १५. देवयज्ञ, १६. पितृयज्ञ, १७. मनुष्ययज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १९. ब्रह्मयज्ञ, २०. अष्टका (माघकृष्ण अष्टमीका श्राद्धकर्म), २१. पार्वण, २२. मासिकश्राद्ध, २३. श्रावणी, २४. आग्रहायणी, २५. चैत्री-कर्म, २६. आश्वयुजी, २७. अन्याधान, २८. अग्निहोत्र, २९. दर्शपूर्णमास, ३०. आग्रयण, ३१. चातुर्मास्य, ३२. निरूढपशुबन्ध, ३३. सौत्रामणी, ३४. अग्निष्टोम (सोमयाग), ३५. अत्यग्निष्टोम, ३६. उक्थ्य, ३७. षोडशी, ३८. वाजपेय, ३९. अतिरात्र, ४०. आप्तोर्याम तथा ८ आत्मगुण संस्कार।

गौतमके कहे हुए ८ आत्मगुण इस प्रकार हैं—

'दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति।'

१. प्राणिमात्रपर दया, २. क्षमा, ३. अनसूया (निर्मत्सरता) ४. शौच (अन्तर्बाह्यशुचिर्भूतता), ५. अनायास (क्षुद्र कामके लिये देहको कष्ट न देना), ६. मङ्गल (सदा उत्साही एवं आनन्दी मनोवृत्ति), ७. अकार्पण्य (कदापि दीनवाणी उच्चरित न करना एवं कृपणता न करना), ८. अस्पृहा (परकी वस्तुकी आशा—अभिलाषा न करना)।

व्यासस्मृतिमें १६ संस्कारोंके नाम दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन,

४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूडाकर्म, ९. कर्णवेध, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. केशान्त (गोदान), १३. समावर्तन, १४. विवाह, १५. विवाहाग्निग्रहण और १६. अग्निहोत्रग्रहण।

इन संस्कारोंमेंसे पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन—ये गर्भिणी स्त्रीके संस्कार प्रथम गर्भधारणके समय किये जाते हैं।

संस्कार मुख्यतः त्रैवर्णिकोंके लिये कहे हुए हैं। स्त्री, शूद्र आदिकोंके लिये अमन्त्रक संस्कार निर्दिष्ट हैं। गूँगों और पागलोंके संस्कार न करे—ऐसा शङ्खस्मृतिमें आया है। गर्भाधान-संस्कारसे उत्पन्न हुए पुत्रको ब्रह्मविद्याका अधिकार प्राप्त होता है। पुंसवनसे गर्भ पुँलिङ्गमें परिणत होता है। सीमन्तोन्नयनसे माता-पिताद्वारा प्राप्त पाप शिशुको भोगने नहीं पड़ते। रेत, रक्त, गर्भाशय इत्यादिसे उत्पन्न हुए पञ्चविध पाप जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन इत्यादि संस्कारोंसे नष्ट होते हैं। गर्भाधानादि अष्ट संस्कारोंसे द्विज पवित्र होते हैं।

संस्कारके विधायक अङ्ग

संस्कार मनुष्यके अन्तरकी श्रद्धा-भावना, मानवी स्वभाव और अति मानवशक्तिसे सम्बन्धित हैं। संस्कार विविध सत्त्वके मिश्रण हैं। अग्नि, प्रार्थना, आशीर्वाद, अभिषेक, दिशानिर्देश, प्रतीकत्व, कालज्ञान और सामाजिक आशय—ये संस्कारके विविध अङ्ग हैं। इनकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

१. अग्नि—प्रत्येक संस्कार अग्निकी साक्षीमें होता है। भारतीय दैवतशास्त्रमें इन्द्रके साथ अग्निका महत्त्व है। ऋग्वेदमें अग्निको गृहपति, अतिथि और देव एवं मानवको जोड़नेवाला कहा गया है। अग्नि मानवद्वारा दिया हुआ हविर्भाग देवताओंको पहुँचाते हैं। अतः संस्कारोंमें प्रथम स्थण्डिलपर अग्निस्थापन करते हैं। प्रत्येक संस्कारके अग्निके नाम भिन्न-भिन्न हैं। अग्निमुखसम्बन्धी कृत्य होनेपर प्रधान देवताके लिये हवन करके संस्कारोंके अग्रिम कृत्य सम्पन्न होते हैं।

२. प्रार्थना—संस्कारके प्रसङ्गमें जिस देवताकी पूजा की जाती है एवं जिस देवताके निमित्त होम किया जाता है, उस देवताकी प्रार्थना की जाती है। उपनयनमें ब्रह्मचारी सद्गुणोंकी प्राप्ति और दुर्गुणोंके निवारणार्थ प्रार्थना करता है। वेदोक्त सुप्रसिद्ध गायत्रीमन्त्र भी सविताकी प्रार्थना ही है। बटु अग्निमें आहुति देते समय अग्निको सम्बोधित करते हुए कहता है—'हे अग्ने! तुम मुझे मेधा प्रदान करो, बुद्धि दो, मुझे तेजस्वी करो, दीप्तिमान् बनाओ।' विवाह-संस्कारमें वर जिस समय वधूके साथ सप्तपदी करता है, उस समय वह विष्णुकी प्रार्थना करता है कि 'वधूका प्रथम पदन्यास ईशके लिये, दूसरा पदन्यास ऊर्जाके लिये, तीसरा पदन्यास समृद्धिके लिये समर्थ हो' इत्यादि। गर्भाधान-संस्कारमें भी देवोंकी प्रार्थना की जाती है कि 'पत्नीके गर्भधारणमें सहायता करें।' प्रत्येक शिशु-संस्कारमें शिशुको आयुष्य, आरोग्य, अभिवृद्धि इत्यादि बातें मिलें; अतः उन-उन देवताओंकी प्रार्थना होती है।

३. आशीर्वाद—प्रत्येक संस्कारमें गुरुजनों एवं ब्राह्मणोंका आशीर्वाद लिया जाता है। इस आशीर्वादका शुभ परिणाम होता है। संस्कार व्यक्तिको ही नहीं, अपितु उसके परिवारको भी आयु-आरोग्य आदिका लाभ कराते हैं। पत्नीको वस्त्र भेंट करते समय पति उसको आशीर्वाद देता है कि तुम दीर्घायु होओ, वैभव और संततिसम्पन्न होओ। जातकर्मके समय पिता अपने पुत्रको आशीर्वाद देता है—**'अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव।'** (पा०गृ०सू० १।१६।१४) अर्थात् हे शिशो! तुम पत्थर-जैसे सुदृढ़, परशु-जैसे सुतीक्ष्ण और सुवर्ण-जैसे कान्तिमान् होओ।

४. अभिषेक—ब्राह्मणोंद्वारा मन्त्रोंके उच्चारणके साथ यजमानके मस्तकपर किया हुआ जलका प्रोक्षण सामान्यरूपसे अभिषेक कहलाता है। स्नानको भी अभिषेक कहा जाता है। स्नानको पुण्यप्रद एवं जीवनदायक माना गया है। पवित्र जलमें दिव्य शक्ति निहित रहती है। उसमें अशुभ प्रभाव और भूत-पिशाचका निराकरण करनेकी क्षमता होती है।

जातकर्म, चूडाकर्म और उपनयन-संस्कारके पूर्वमें बटुको स्नान कराना अति आवश्यक माना गया है। समावर्तन-संस्कार भी एक प्रकारका स्नान-संस्कार है। वर-वधूको विवाहसे पूर्व माङ्गलिक स्नान कराया जाता है। वह स्नान उनके भावी शुभ मङ्गलार्थ होता है। संस्कार समाप्त होनेपर ब्राह्मण पुरोहित संस्कारित व्यक्तिका कलशजलसे अभिषेक करते हैं; यह यश, श्री, विद्या और ब्रह्मवर्चसकी प्राप्तिके लिये होता है।

५. दिशानिर्देश—भिन्न-भिन्न दिशाओंमें विभिन्न देवताओंका आधिपत्य होता है, ऐसा पुराणग्रन्थोंमें वर्णित है। पूर्व दिशा प्रकाश, उष्णता, जीवन, सुख और समृद्धिकी दिशा है। पश्चिम दिशा अन्धकार, शीत, मृत्यु और विनाशकी दिशा है। दक्षिण दिशा यमदेवकी दिशा है। उत्तर दिशा अध्यात्म और मरणोत्तर स्वर्गगतिकी दिशा है। आसन कैसे रखे और कौन-सी दिशाकी ओर मुख करके संस्कार करे—इसका विचार मङ्गल कार्योंमें अवश्य किया जाता है, संस्कार्य व्यक्तिको पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके आसनपर बिठाया जाता है। इसका आशय बैठनेवालेको जीवन एवं प्रकाशकी प्राप्ति कराना है। प्रदक्षिणामें सूर्यमार्गका अनुसरण किया जाता है। ऐसी प्रदक्षिणा पूर्वसे लेकर पश्चिमकी ओर होती है, मृतककी अन्त्यक्रियामें प्रदक्षिणाकी गति विपरीत होती है।

६. प्रतीकत्व—संस्कारमें प्रतीकवाद स्थान-स्थानपर दिखता है। प्रतीकवादका उद्देश्य भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुणोंकी प्राप्ति है। यह मुख्यतः सादृश्यपर आधारित है। सादृश्य वस्तुद्वारा सादृश्य बात उत्पन्न होती है। संस्कारमें जलपूर्ण कलशकी स्थापना करते हैं। यह कलश पूर्ण जीवनका प्रतीकरूप है। पत्थरको दृढ़ताका प्रतीक माना गया है, अतः वधूको विवाह-होमके समय एक पत्थरपर खड़ा करके इस मन्त्रका उच्चारण किया जाता है—'इममश्मानमारोहाश्मेव त्वं स्थिरा भव'। हे वधू! तू इस पत्थरपर आरोहण कर और मेरे जीवनमें एवं संसारमें पत्थर-जैसी स्थिर होओ। वधूको ध्रुवदर्शन कराते हैं। यह शुभ कार्य उसके परिवारके लिये तथा अपने ध्रुवत्वके लिये होता है। लावा और चावल—ये बहुसंतति-सम्पत्तिके प्रतीक हैं। वर घृतपात्रमें अपने दक्षिण हस्तका अङ्गुष्ठ डुबाकर वधूके हृदयप्रदेशपर घृतका टीका करता है, जिसको समञ्जन कहते हैं। यह स्नेह और प्रेमका प्रतीक है। हृदयस्पर्श अनुचित्तका प्रतीक है। उपनयन-संस्कारमें पिता अपने पुत्रके हृदयपर हाथका स्पर्श करके कहता है—'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु' (पा०गृ०सू० १।८।८)। अर्थात् मैं अपने व्रतके स्थानपर तेरा अन्तःकरण रखता हूँ। तेरा यह चित्त मेरे चित्तका अनुसरण करनेवाला हो। इसी प्रकार आरती करना आयुष्य एवं माङ्गल्यका प्रतीक है। इस प्रकार विविध कर्मोंके प्रतीक विविध शुभ फलोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले हैं।

७. कालज्ञान—संस्कारकृत्योंके लिये तिथि, नक्षत्र इत्यादि दिनशुद्धि अपेक्षित होती है। ग्रहोंकी अनुकूलता भी आवश्यक होती है। विशिष्ट कृत्यके लिये उस कृत्यका आशय ध्यानमें रखकर विशिष्ट तिथि, वार, नक्षत्र इत्यादि शुभ माने जाते हैं। देवनक्षत्र शुभ संस्कारके लिये स्वीकार्य हैं, किंतु मृत्यु, यमघंट इत्यादि अशुभ योग वर्ज्य हैं। बटुको अपने उपनयनके लिये गुरुबलकी आवश्यकता होती है। विवाहके पूर्व 'वर-वधू-पत्रिका-मेलन' भी ग्रह-नक्षत्रपर आधारित है। विवाह लग्नके अष्टम स्थानमें पापग्रह न हो, ऐसा कहा गया है। उपनयन और विवाह—इन संस्कारोंमें गुरु और शुक्रका अस्त निषिद्ध है। उपनयनमें अनध्याय-तिथि वर्जित है। कृष्णपक्षमें चतुर्दशी और अमावास्या तिथि विवाहमें अनुक्त है। इस प्रकार विविध संस्कारोंके लिये मुहूर्तसम्बन्धी कई विधान शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

८. सामाजिक आशय—संस्कारके प्रारम्भमें गृहको स्वच्छ, अलंकृत एवं संस्कारसम्पन्न बनाना शुभ होता है। गृहद्वारपर गणेशजीके चित्रकी स्थापना करे, तोरण बाँधे, द्वारके समक्ष माण्डव बाँधकर सजाये। भूमि स्वच्छ करके उसपर शुद्ध जलसे प्रोक्षण कर विविध रंगोंसे रंगोली बनाये। कुमकुमसे स्वस्तिक, कमल, शङ्ख इत्यादि शुभ चिह्नोंकी रंगोली चित्रित करे। संस्कार्य व्यक्तिको नूतन वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित करे। अन्य जन भी माङ्गलिक वस्त्रादि धारण करें। ये सब कार्य सामाजिक और माङ्गलिक कृत्य हैं। ऐसे कृत्यसे संस्कार-समारम्भका वातावरण आनन्दप्रद रहता है।

संस्कारोंका प्रयोजन—प्रत्येक संस्कार भिन्न-भिन्न उद्देश्य लिये हुए होते हैं। संस्कारोंका धर्मशास्त्रीय प्रयोग समान होनेपर भी उसके कतिपय लौकिक अङ्ग भी होते हैं। संस्कारमें संस्कार्य व्यक्तिको अनेक शुभ फल प्राप्त हों तथा अशुभ फलोंका निवारण हो, इसलिये संस्कारप्रयोगमें विविध कृत्य ग्रथित हैं।

अशुभ प्रभावका प्रतिकार—शुभ कार्योंमें अमङ्गलकी भी आशङ्का रहती है, अतः अशुभ प्रभावके निवारणके लिये संस्कारोंमें कुछ विशेष कृत्य भी किये जाते हैं,

यथा—शान्ति-पौष्टिक कर्म। आसुरी शक्तियाँ संस्कार्य व्यक्तिपर अमङ्गल प्रभाव पैदा न करें, इसलिये उन्हें दधि-माष-भक्त बलि प्रदान कर शान्त किया जाता है। इसी प्रकार विनायकशान्ति भी की जाती है। शिशुजन्म-प्रसङ्गमें पिता रोगकारक भूत-प्रेतको कहता है कि तुमलोग मेरे पुत्रको रोगादिद्वारा पीडा मत पहुँचाओ। तुमलोग चले जाओ, मैं तुम्हारे प्रति आदरभाव रखूँगा (पा०गृ०सू० १।१५।२०, गोभिलगृह्यसूत्र २।७।१७)।

मुण्डन-संस्कारमें बटुके कटे हुए बाल गोमयके पिण्डमें अदृश्य करके गोष्ठमें गाड़ते हैं अथवा नदीमें विसर्जित करते हैं।

सर्षप (सरसों)-से भूत-प्रेतादि भयाक्रान्त होते हैं, इसीलिये संस्कारक्षेत्रमें सरसोंके दाने फेंककर भूतादिका अपसारण किया जाता है।

'यदत्रसंस्थितं दूतम्' इत्यादि मन्त्रसे भूत-प्रेतादिको भगाया जाता है। जातकर्म-संस्कारके समयमें शिशुका पिता कहता है कि **'शण्डा मर्क्का उपवीरः'** इत्यादि। भूत-प्रेत! तुमलोग यहाँसे अदृश्य हो जाओ (पा०गृ०सू० १।१६।१९, आप०गृ०सू० १।१५)। चतुर्थीकर्ममें वधूका पति उसे भूत-प्रेतादि बाधा न करें, इसलिये अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओंका आवाहन करता है।

शुभ प्रभावका आकर्षण—*संस्कारोंमें शुभ प्रभावका* आकर्षण किया जाता है। इसके लिये कई देवताओंकी स्तुति, प्रार्थना तथा मन्त्रजप इत्यादि किये जाते हैं। गर्भाधानके तथा विवाहके प्रधान देवता प्रजापति और उपनयनके प्रधान देवता बृहस्पति हैं। उन प्रसङ्गोंमें उन देवताओंके सूक्तोंद्वारा उनसे अभीष्ट शुभ फलकी प्रार्थना की जाती है।

शुभ वस्तुके स्पर्शसे मङ्गल परिणाम प्राप्त होता है, अतः सीमन्तोन्नयन नामक संस्कारके समय औदुम्बर-वृक्षकी शाखा गर्भवती स्त्रीकी ग्रीवापर स्पर्श कराते हैं (पा०गृ०सू० १।१५।४५)। जिस प्रकार औदुम्बरवृक्षपर विपुल फल आते हैं, उसी प्रकार गर्भवती स्त्रीको अनेक संतानें होवें—ऐसी कामना इस कृत्यकी है। मनुष्यका श्वासोच्छ्वास उसके जीवनका प्रतीक माना जाता है। नवजात-शिशुके श्वास-प्रश्वास सुचारु रीतिसे चलें, इसीलिये उसका पिता अपना श्वास तीन बार शिशुपर छोड़ता है।

सांस्कृतिक प्रयोजन—शास्त्रज्ञोंने संस्कारोंमें उच्चतर धर्म एवं पवित्रताके समावेशकी शक्तिका प्रतिपादन किया है। भगवान् मनु कहते हैं—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
(मनु० २।२६)

अर्थात् द्विज गर्भाधानादि शारीरिक संस्कार वैदिक कर्मके आधारपर करें। इससे संस्कार्य व्यक्तिके इहलोक एवं परलोक—दोनों ही शुभ और प्रशस्त होते हैं।

याज्ञवल्क्य ऋषि संस्कारोंसे 'बीज' और 'गर्भवास'-की शुद्धि और पवित्रता मानते हैं। जातकर्मादि संस्कारोंसे अशुद्धताका निवारण होता है। शरीर आत्माका निवासस्थान होता है और यह शरीर संस्कारोंसे शुद्ध होता है। भगवान् मनु कहते हैं—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥
(मनु० २।२८)

अर्थात् स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रैविद्यव्रत, यज्ञ, देव-ऋषि-तर्पण, प्रजोत्पत्ति एवं पञ्च महायज्ञ—इनके योगसे मानवदेह ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होती है।

नैतिक प्रयोजन—मनुष्यके ४० भौतिक संस्कारोंका कथन करके *गौतम ऋषि आगे कहते हैं कि दया, क्षमा,* अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा—ये ८ आत्मगुण मुख्य संस्कार हैं। यदि व्यक्तिने ४० संस्कारोंके सविधि अनुष्ठान किये, किंतु ८ आत्मगुण आत्मसात् नहीं किये तो उसे ब्रह्मसांनिध्य प्राप्त नहीं होता।

संस्कारोंको केवल संस्काररूपमें करना—ऐसी धारणा संस्कार-विधानमें नहीं है, अपितु संस्कारके परिपाकसे नैतिक गुणोंकी अभिवृद्धि होती है। अतः संस्कारमें जीवनके प्रत्येक सोपानके लिये व्यवहारके नियम धर्मशास्त्रज्ञोंने निर्धारित किये। गर्भिणीधर्म, अनुपनीतधर्म, ब्रह्मचारीधर्म, स्नातकधर्म, गृहस्थधर्म इत्यादि उसके लिये ही कहे हैं। प्राचीन कालमें बालकद्वारा विधि-नियमोंका अनुपालन कराकर उसको प्रगतिशील एवं परिष्कृत जीवन-यापन करनेके लिये अधिकारी और समर्थ किया जाता था। विवाह-संस्कार मानवीय सभ्यताका एक

विकसित स्वरूप है। यह संस्कार नवदम्पतिको दिया जानेवाला उपदेश होता है, जिससे उनकी स्वार्थपरायणता नष्ट हो और उन्हें ऐसा प्रतीत हो कि वे समाजके लिये उपकारक हैं।

आध्यात्मिक प्रयोजन—शास्त्रीय संस्कारोंसे उत्पन्न होनेवाले नैतिक गुणोंसे संस्कार्य व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास हो—ऐसी भी अपेक्षा होती है। संस्कारित जीवन भौतिक धारणा और आत्मवादके मध्यका माध्यममात्र है। यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टिसे शरीरको निःसार माना गया है, फिर भी शरीर 'आत्ममन्दिर' है, साधनानुष्ठानका माध्यम है, इसलिये बड़ा मूल्यवान् है। यह आत्ममन्दिर संस्कारोंसे परिष्कृत (शुद्ध) होकर परमात्माका निवासस्थान बन सके, यही संस्कारोंका आशय है।

इस प्रकार संस्कार आध्यात्मिक शिक्षणके सोपान हैं। सुसंस्कारी व्यक्तिका सम्पूर्ण जीवन संस्कारमय ही है और सम्पूर्ण दैहिक क्रिया आध्यात्मिक विचारोंसे अनुप्राणित होती है। संस्कारी व्यक्तिको यह विश्वास होता है कि विधियुक्त संस्कारके अनुष्ठानसे वह देहबन्धनसे मुक्त होकर मृत्युसागरसे पार हो सकता है। समाजके श्रेष्ठ जन सविधि संस्कारोंका पालन करते हैं, अतः इतर जन भी उनका अनुसरण कर सुखी होते हैं—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।' (गीता ३। २१)

~~o~~

संस्कार और उसका मनोवैज्ञानिक आधार

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी०लिट्०)

महाप्रभु वल्लभाचार्यका वाक्य है—'जीवाः स्वभावतो दुष्टाः' अर्थात् जीव स्वभावसे दोषयुक्त होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी इसी बातको कुछ और स्पष्ट करते हैं—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥

जीव वैसे तो परमात्माका अंश होनेके कारण शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य है, किंतु धरतीपर जन्म लेनेके साथ ही माया उस जीवको अपने जालमें लपेट लेती है, यह जाल मलोंसे भरा हुआ है, इसमें नाना प्रकारके दोष—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अमर्ष, मद, मात्सर्य आदि हैं। गोस्वामीजीने अपनी बातको बादलसे गिरनेवाली बूँदके बिम्बद्वारा समझाया कि जैसे भूमिके स्पर्शसे पहले वह बूँद पवित्र और स्वच्छ है परंतु धरतीपर गिरते ही वह दोषयुक्त हो गयी, मैली हो गयी। मनोविज्ञान और मानवशास्त्र—इन दोषोंको जीवकी मूल प्रवृत्ति कहते हैं। हालाँकि भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकोंने मूल प्रवृत्तियोंकी संख्या और पहचान भिन्न-भिन्न रूपोंमें की है। फ्रायडने तो सेक्स (रति)-प्रवृत्तिपर इतना जोर दिया है कि मनुष्यके सभी सचेतन और अचेतन व्यवहारके मूलमें वह उसीको निर्णायक मानता है, परंतु अन्य मानवशास्त्रियों और मनस्तत्त्वविदोंने भूख (आहार), काम, सिसृक्षा (बच्चे पैदा करनेकी चाह), होड़ (मात्सर्य), प्रभुत्वकामना (युयुत्सा), भय (रक्षा-प्रवृत्ति), गौरव (अहंकार), लोभ (संग्रह या तृष्णा), आराम (आलस्य, निद्रा) और जिज्ञासाको मनुष्यकी मूल प्रवृत्ति माना है। भूख, नींद, डर, मैथुन-जैसी वृत्तियोंके स्तरपर मनुष्य जानवरों-जैसा ही है, शायद उनसे भी अधिक हिंसक आक्रामक और विध्वंसक।

विचार करनेवाली बात यह है कि इतने दोषोंसे भरे हुए इस मनुष्यदेहको तुलसीदासजीने *'साधन धाम, विबुध दुर्लभ तनु'* कहा है। इतना ही नहीं, इसे 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।' अर्थात् मनुष्ययोनिसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है—ऐसा कहा गया है।

ऐसी क्या विशेषता मनुष्यमें है कि इतने विकारोंके बावजूद उसे सबसे बड़ा कहा गया? नीतिवाक्य उत्तर देता है—'धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥' अर्थात् वह विशेषता है—धर्म। धर्मसे विहीन मानव पशुके समान है।

यहाँ मुश्किलकी बात यह है कि धर्म शब्दको आजकल अंग्रेजोंके 'रिलीजन' शब्दके अर्थों (पन्थों)-में समझा जाने लगा है। वास्तवमें धर्म शब्दका प्राचीन प्रयोग समग्र जीवन-व्यापारके अभ्युदय-निःश्रेयसके भावमें हुआ है। अभ्युदय और पारमार्थिक कल्याणकी दिशामें किया गया प्रत्येक कर्म, भले ही वह राजनीतिक हो या आर्थिक अथवा सामाजिक, धर्मकी ही परिधिमें आता है। मनोवैज्ञानिकोंसे पूछें तो वे इसे

जीवनमूल्य और स्थायीभाव कहेंगे।

संस्कारद्वारा उचित प्रकारसे संस्कृत होकर जीव अपनेको भगवत्प्राप्तिके योग्य बना सकता है और संस्कार ही वे तथ्य हैं, जो जीवनको गतिशील बनाते हैं।

भारतके ऋषि-मुनि, संत, साधकों और तपस्वियोंने समाधिके द्वारा उस विराट्का साक्षात् किया तथा मनुष्यके संस्कारोंका विधान व्यापक पृष्ठभूमिमें प्रतिष्ठित किया है। यहाँ भारतीय हिंदुओंके संस्कार-विमर्शपर विचार करना प्रासङ्गिक है।

'मेदिनीकोश' के अनुसार 'संस्कार' शब्दका अर्थ है—प्रतियत्न, अनुभव अथवा मानसकर्म। 'न्यायशास्त्र' के मतानुसार गुणविशेषका नाम संस्कार है, जो तीन प्रकारका होता है—वेगाख्य संस्कार, स्थितिस्थापक संस्कार और भावनाख्य संस्कार।

काशिकावृत्तिके अनुसार उत्कर्षके आधानको संस्कार कहते हैं—'उत्कर्षाधानं संस्कारः।' संस्कारप्रकाशके अनुसार अतिशय गुणको संस्कार कहा जाता है—'अतिशयविशेषः संस्कारः।' संस्कारकी तीन प्रक्रियाएँ हैं—दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्ति।

अन्नमेंसे भुसके तिनकों, खरपतवारके दानों और मिट्टीके कणोंको निकालना दोषमार्जन है। कूटना-पीसना तथा अग्निपर पकाना अतिशयाधान है एवं नमक या मीठा मिलाना हीनाङ्गपूर्ति है। इसी प्रकार कपासमेंसे मिट्टी, बिनौला आदि निकालना दोषमार्जन है। सूत कातना, कपड़ा बुनना तथा काट-छाँटकर सिलाई करना अतिशयाधान है। बटन आदि लगाना हीनाङ्गपूर्ति है।

जीवनमें संस्कारोंका इतना महत्त्व है कि महर्षि आश्वलायनने तो यहाँतक कह दिया है कि—'संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम्।' अर्थात् जिसे संस्कार प्राप्त नहीं हो सके, उसका जन्म निरर्थक है। जीवनको सार्थक बनानेके लिये संस्कार आवश्यक हैं। संस्कारके अभावमें मनुष्य पशुके समान जीता है। संस्कार व्यक्तिके सम्पूर्ण व्यक्तित्वको प्रभावशाली बनाते हैं।

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विचार करें तो संस्कार मनमें प्रस्थापित आदर्श हैं, जो जीवन-व्यवहारके नियामक और प्रेरक होते हैं। मनुष्य अपने जीवनमें सत्-असत्का निर्णय इन आदर्शोंके आधारपर ही करता है। मनुष्यमें मानवोचित गुण-कर्म-स्वभावकी प्रेरणा इन्हीं संस्कारोंकी देन है। यदि चरित्र वृक्ष है तो संस्कार उसका बीज है, अवचेतन मन संस्कार नामक इस बीजका क्षेत्र है और अनुकूल परिवेश उसका हवा-पानी तथा धूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अवचेतन मनमें प्रतिष्ठित संकल्पका नाम संस्कार है। इस संकल्पमें अपरिमित सम्भावनाएँ निहित होती हैं। ये संकल्प इतने शक्तिशाली होते हैं कि केवल एक जन्ममें ही नहीं, जन्मान्तरमें भी गतिशील होते हैं। संस्कार मनका उदात्तीकरण करते हैं एवं कर्मशुद्धि, भावशुद्धि और विचारशुद्धिके साथ ही अभ्युदय तथा निःश्रेयसके हेतु होते हैं।

संस्कारके महत्त्वको जान लेनेके बाद अब प्रश्न यह है कि संस्कारोंका स्रोत क्या है और ये मनुष्यको कहाँसे प्राप्त होते हैं? संस्कारोंका एक महत्त्वपूर्ण स्रोत आनुवंशिकता है। आनुवंशिकता चरित्रका निर्णायक तत्त्व माना जाता है।

माता-पितासे केवल शरीर ही प्राप्त नहीं होता, मन भी प्राप्त होता है और संस्कार भी प्राप्त होते हैं। जैसे आचार-विचार, प्रवृत्ति-अभ्यास, आस्था तथा आदतें माता-पिताकी होती हैं, प्रायः वैसा ही स्वभाव और आदतें संतानमें भी देखी जाती हैं तो उसे 'आनुवंशिक-संस्कार' कहा जाता है।* योद्धाका बेटा योद्धा हो सकता है, भजनानन्दी माँ-बापके संस्कार उनकी संतानपर होते हैं। हिरण्यकशिपुके प्रह्लाद-जैसे विपरीत उदाहरण भी देखे जाते हैं, परंतु प्रह्लादको भक्तिके संस्कार माता कयाधूसे और कयाधूको नारदसे मिले। इस प्रकार संस्कारोंका एक और महत्त्वपूर्ण स्रोत हमारे समक्ष माँके रूपमें स्पष्ट हो जाता है।

जब बालक माँके गर्भमें आता है, तभीसे माँ अपने सत्संकल्पोंसे बालकके संस्कारोंकी रचना करने लग जाती है। मनोवैज्ञानिकोंका 'सामाजिक समायोजन' माँके इस संकल्पके आगे कुछ बौना-सा प्रतीत होता है। इस कारण भी कि मनोवैज्ञानिक जीवका मौलिक स्वरूप उसकी प्रवृत्तियोंमें देखते हैं। प्रवृत्तिको प्राणीका मूलरूप बतलाते हैं, जबकि भारतकी मेधा और समाधि सूक्ष्म अनुभूति कहती है कि जीवात्मा शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य है, जो दोष हैं, ये तो मायाजन्य

* जातिगत संस्कार आनुवंशिकताकी श्रेणीमें ही आते हैं। आधुनिक जैव-प्रौद्योगिकी संस्कारका स्रोत 'गुणसूत्र' बतलाती है।

हैं, मिथ्या आरोप हैं, जिसे वह सच मान रहा है।

इस तथ्यको हम इस पौराणिक कथाके माध्यमसे अधिक स्पष्टरूपमें समझ सकते हैं। महाराज कुवलयाश्वका जब विवाह हुआ तो उनकी पत्नी मदालसाने एक शर्त रख दी कि मैं जो भी करूँ, आप मुझे टोकना मत। राजाने शर्त मान ली। कालान्तरमें महारानीके बेटा हुआ। रानीका पुत्र रो रहा था, तब उसे चुप करानेके लिये माँ लोरी गा रही है—रे तात, तू रो रहा है। बावले!

प्रकट कर रहा है, दुःख मान रहा है। तू सपनेको सच समझ रहा है। जिसे तू जागना समझता है, वह तो मोहकी निद्रा है। मोहकी नींदसे जागेगा तो तू अपनेको पहचान लेगा कि तू तो पूर्ण है, तू तो शुद्ध-बुद्ध है, तू निरञ्जन है, निर्विकार है। तू मायासे भिन्न है, मायिक नहीं है। तू पञ्चतत्त्वोंसे निर्मित देह नहीं है, यह नाम तो काल्पनिक है, इसलिये हे वत्स! चुप रह और इन बातोंपर विचार कर—

> शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
> कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
> पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
> नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥
> (मार्क०पु० २५।११)

लोरी गा-गा करके ही माँने संस्कार दे दिये। संस्कार क्या है? माँका संकल्प है, जिसे वह बालकके अन्तर्मनमें प्रतिष्ठित कर रही है। बालकके संस्कार बन गये, बड़ा हुआ तो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार पानेके लिये वह राजमहल छोड़कर चल दिया।

मदालसाके दूसरा बेटा हुआ, फिर तीसरा बेटा हुआ। माँ मदालसाकी वे ही लोरियाँ और वे ही संस्कार। दूसरे और तीसरे पुत्र भी वनको चले गये। इसे मनोवैज्ञानिक सामाजिक समायोजनमात्र कहेंगे। क्या यह मात्र सामाजिक सरोकार है?

मदालसाने तीन पुत्रोंको आत्मसाक्षात्का संस्कार दिया। महाराज कुवलयाश्व विचलित हो गये, चौथा पुत्र हुआ तो वे हाथ जोड़कर महारानीके सामने खड़े हो गये—कल्याणि! मुझे तुम्हारी शर्त याद है। परंतु प्रिये! मुझे अपने राज्यकी चिन्ता सता रही है। यदि चौथा पुत्र भी विरक्त हो गया, तब इसका क्या होगा? मदालसाने पतिकी चिन्ता समझी और मुसकरा दी। माँ चौथे पुत्रको पालनेमें झुलाती तो लोरी गाती—वत्स! क्यों रोता है? संसारमें जो भी कुछ है—तेरा ही तो है, तू राजा है, इस सबका स्वामी है। तुझे क्या कमी है? मदालसा लोरी गाती—वत्स! रोना नहीं, राज्य करते हुए सुहृदोंको प्रसन्न रखना, साधुओंकी रक्षा करना, यज्ञोंका सम्पादन करना, दुष्टोंका दमन करना तथा गो-ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये प्राणोंका उत्सर्ग करनेकी जरूरत हो तो प्राणोंका भी मोह मत करना—

> राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
> साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
> दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
> गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥
> (मार्क०पु० २६।४१)

प्रत्येक माँके अपने बालकके सम्बन्धमें कुछ संकल्प होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं कि माँके इन संकल्पोंके द्वारा गर्भस्थ शिशुके संस्कार बनते हैं। प्रह्लादका भक्ति-संस्कार माँके गर्भमें हुआ था एवं अभिमन्युका शौर्य-संस्कार भी माँके गर्भमें हुआ था।

कंसके भयसे सतायी हुई माँ देवकीने अपने गर्भमें 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' के संकल्पको

देखा था। भागवत दशम स्कन्ध, तीसरे अध्यायके श्लोक ३१में देवकी और वसुदेव—दोनोंके ये संकल्प अध्ययन करने योग्य हैं—**'बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्॥'** वही परम पुरुष परमात्मा आप मेरे गर्भवासी हुए, यह कैसी अद्भुत बात है!

एक पुरानी उक्ति कही जाती है, जिसमें बताया गया है कि आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु—ये पाँच चीजें गर्भमें ही रच जाती हैं—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

इस विचारसे गर्भमें रचे गये संस्कारोंको जीवनका निर्णायक माना गया है। गर्भिणी माँका संकल्प इतना महिमामय है।

पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि माँ संस्कारके रूपमें जीवनकी आधारशिलाको प्रतिष्ठित करती है। ध्रुवकी माँ सुनीतिने छोटेसे बालकको कितना प्रबल संस्कार दिया था। जीजाबाईका नाम इतिहासमें इसीलिये प्रसिद्ध है कि उसने छत्रपति शिवाजीमें ऐसे संस्कार रचे थे। बौद्धधर्मके क्षेत्रमें कुमारजीवका नाम प्रसिद्ध है। इनके पिता कुमारायण, किसी देशके राजाके अमात्य थे। किसी बातपर वे राजासे रुष्ट हो गये तो भारतवर्षकी सीमा छोड़कर कूचा देश (मध्य एशिया) पहुँचे। वहाँका राजा उनसे इतना प्रभावित हुआ कि अपनी बहन 'जीवा' की शादी उनके साथ कर दी। जीवा हीनयानके सर्वास्तिवाद-सम्प्रदायकी विदुषी थी। अपने बेटेको वह उद्भट बौद्ध आचार्य बनाना चाहती थी। यह बेटा आगे चलकर कुमारजीव (पिता कुमारायणका कुमार तथा माँ जीवाका जीव शब्द) नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसकी साधना और प्रतिभाका प्रसार कश्मीरसे मध्य एशियातक हुआ। चीनके बौद्ध दार्शनिक भी उससे प्रभावित हुए।

आनुवंशिकता और माँके अतिरिक्त संस्कारका तीसरा स्रोत बालकका वह प्राकृतिक तथा सामाजिक परिवेश है, जिसमें वह जन्म लेता है, पलता है और बढ़ता है। प्राकृतिक (भौगोलिक) परिवेश उसके आहार-व्यवहार, शरीरके रूप-रंगका निर्णायक होता है, आदतें बनाता है। सामाजिक परिवेशके अन्तर्गत परिवार, मुहल्ला, गाँव और विद्यालयके साथी, सहपाठी, मित्र, पड़ोसी तथा अध्यापकगण आते हैं। बालक समाजमें जैसे आचरण और स्वभावकी सङ्गतिमें आता है, वैसे ही संस्कार उसके मनपर बद्धमूल हो जाते हैं। प्रत्येक समाजकी एक जीवन-पद्धति होती है, जिसके पीछे उस समाजकी परम्परा और इतिहास होते हैं। यह समाज रीति-रिवाज बनाता है, सांस्कृतिक प्रशिक्षण देता है, स्थायीभाव जगाता है, अन्तश्चेतना तथा पाप-पुण्यकी अवधारणाकी रचना करता है। उसी क्रममें भारतवर्षमें सोलह संस्कारोंकी परम्परा है, जो मनुष्य और मनुष्यके बीच, मनुष्य और प्रकृतिके बीच सम्बन्धसूत्र बुनते हैं। प्रत्येक धर्म-संस्कृतिमें विवाह आदिके विधान वहाँके परिवेश और इतिहासकी देन होते हैं और इस विधानके पीछे धार्मिक आस्था जुड़ी हुई होती है। पवित्र भावों और आस्थाका यह सूत्र अपने पूर्वजोंके प्रति कृतज्ञता और पूज्यभावसे प्रेरित होता है। यह सूत्र सामाजिक आचरणका नियमन करता है।

साहित्य-संस्कृतिके विविध रूप, तीर्थ आदि, अनुष्ठान, महान् ग्रन्थ, महापुरुषों और संतोंके उपदेश भी परिवेशसे प्राप्त संस्कारोंकी श्रेणीमें ही आते हैं। वर्तमानमें संचार-माध्यमोंका बाजारीकरण और संचार-माध्यमोंके द्वारा बाजारका हस्तक्षेप भी संस्कार और संस्कृतिपर आक्रमण और आघातके रूपमें उपस्थित हुआ है। बाजार न तो मनुष्यको *मननशील मानता है और न सामाजिक;* नरसे नारायणत्वकी यात्राका पथिक होना भी उसकी दृष्टिमें नहीं है। धर्म, धर्मपूर्वक अर्थ, धर्मार्थपूर्वक काम और धर्मार्थकामपूर्वक मोक्ष-जैसे पुरुषार्थ बाजारके लिये बेईमानी हैं। बाजारका एकमात्र पुरुषार्थ है—मुनाफा और मनुष्य उसके लिये उपभोक्तामात्र है। यही संस्कार और संस्कृति बाजार-संघर्षका कारण है। जो लोग सत्ताके शीर्षपर हैं, वे किसी-न-किसी कारणसे बाजारकी सत्ताके आगे नतमस्तक हो चुके हैं। बाजार उच्छृङ्खल है—***'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।'*** यह परिवेश-प्राप्त संस्कारोंकी पृष्ठभूमि है।

अब संस्कारोंके एक और महत्त्वपूर्ण स्रोतपर विचार करें। एक ही माता-पिताके अनेक संतानें होती हैं, जिन्हें

परिवेश भी एक-जैसा ही मिलता है, परंतु उनके अभ्यास, आचरण और स्वभावमें भिन्नता क्यों है? इसका कारण पूर्वजन्मके संस्कारके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इस प्रकार पूर्वजन्म संस्कारोंका एक और महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

संस्कार आरोपित नहीं होते। लेनिनने सोचा था कि ब्रेनवाशिंग करके चरित्रको ढाला जा सकता है, परंतु संस्कारोंकी रचना बाहरसे आरोपित करके सम्भव होती तो सोवियत साम्राज्य ऐसे भड़भड़ाकर क्यों गिर पड़ता? संस्कार बलपूर्वक या तर्क-वितर्कसे नहीं बनाये जा सकते। आचरण ही आचरणको प्रेरित करता है। डॉ० सम्पूर्णानन्दने अपने एक लेखमें लिखा था कि समाज और राज्यका दायित्व है कि वे ऐसी परिस्थितियोंकी रचना करें, जिनमें सत्संकल्प, सदाशयता और सदाचार फूले-फलें और कुत्सित भाव नष्ट हो सकें।

संस्कार ही मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और प्रकृतिके बीच भाव-सम्बन्धकी रचना करते हैं। अपने स्वजन, परिवार, समाज और राष्ट्रपर न्योछावर होनेका भाव संस्कारोंसे ही प्राप्त होता है। सैनिक वीरताके साथ युद्ध करता है, यह ऊर्जा संस्कारसे ही तो मिलती है। कलाकौशल, ज्ञान-विज्ञानका अधिष्ठान संस्कार ही करते हैं। संस्कार ही समाजको अपराधसे बचाते हैं। अज्ञान, अभाव, अन्यायके विरुद्ध संघर्षके संकल्पका स्मरण करानेके लिये ही तो यज्ञोपवीतके तीन तन्तु और उनकी ग्रन्थि होती है।

संस्कारोंको हम धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, व्यावसायिक तथा सौन्दर्यबोधके रूपमें वर्गीकृत कर सकते हैं। दया, करुणा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, धर्म, पापबोध, सहिष्णुता, समानता, साहस, साधना, श्रम, संतोष, विनय, स्वाध्याय, अभय, आत्मसम्मान, अतिथि-संस्कार, इन्द्रियनिग्रह, विराग, धैर्य, क्षमा, अस्तेय, अक्रोध, परदुःखकातरता, वीरता, प्रेम आदि संस्कारजन्य गुण हैं। विद्या, काव्य, कला-कौशल आदि अतिशयाधानरूप संस्कारकी श्रेणीमें आते हैं।

~~~0~~~

आदर्श जीवनकी विशाल पृष्ठभूमि—हमारे वैदिक संस्कार

(आचार्य श्रीश्रीकान्तमणिजी शास्त्री 'विकल', साहित्याचार्य, एम्०ए०)

मानव-जीवनको परिष्कृत बनानेवाली वैदिक विधि-विशेषका नाम 'संस्कार' है। जैसे तूलिकाके बार-बार फेरनेसे चित्र सर्वाङ्गपूर्ण बन जाते हैं, उसी भाँति विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठानद्वारा शम-दमादि गुणोंका विकास होता है। संस्कारोंका मूलोद्देश्य तीन रूपोंमें परिलक्षित होता है—(१) दोषमार्जन, (२) अतिशयाधान तथा (३) हीनाङ्गपूर्ति। खानसे निकला हुआ लोहा अत्यन्त मलिन होता है। प्रथमतः सफाईद्वारा उसका 'दोषमार्जन' करते हैं, फिर आगकी नियमित आँच (ताप)-में तपाकर उससे इस्पात तैयार किया जाता है और उस इस्पातसे फिर अभिलषित वस्तुओंका निर्माण किया जाता है, जिसे 'अतिशयाधान' कहते हैं। फिर उस वस्तुमें प्रयोगमें आने लायक जो कमी होती है, उसकी पूर्ति की जाती है। यह क्रिया 'हीनाङ्गपूर्ति' कहलाती है।

ठीक इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिहेतु हमारे महर्षियोंने जीवनको अपने लक्ष्य (मोक्ष)-तक पहुँचानेहेतु विविध संस्कारोंकी शास्त्रीय व्यवस्था दी है।

गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन आदि संस्कारोंसे दोषमार्जन; उपनयन, ब्रह्मव्रत आदि संस्कारोंसे अतिशयाधान एवं विवाह, अग्न्याधानादि संस्कारोंसे हमारे जीवनकी हीनाङ्गपूर्ति होती है। इस प्रकार संस्कारोंकी अनेक विधियोंद्वारा मानव अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें समर्थ होता है।

संस्कारोंकी विविध संख्याएँ

संस्कारोंकी गणनामें विभिन्न मत देखे जाते हैं—महर्षि गौतमने ४०, अङ्गिराने २५ तथा स्मृतिकार व्यासने १६ संस्कार बतलाये हैं, किंतु १६ संस्कार सम्पन्न करनेका अन्तर्निवेश बहुधा प्राप्त होता है, जो निम्न है—

आधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामकरणं अन्नप्राशनं चौलं उपनयनम्। ब्रह्मव्रतं वेदव्रतं समावर्तनमुद्वाहः, अग्न्याधानं दीक्षा महाव्रतं संन्यासः॥ (मीमांसादर्शन)

इन संस्कारोंमें गर्भाधानसे लेकर उपनयनपर्यन्त ८ संस्कार प्रवृत्तिमार्गी एवं शेष ब्रह्मव्रतसे संन्यासपर्यन्त ८
~~~

संस्कार निवृत्तिमार्गी हैं। भगवान् मनुजीके स्पष्ट वचन हैं—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥
(मनु० २।२६—२८)

अर्थात् द्विजातियोंके शरीर-संस्कार वेदोक्त पवित्र विधियोंद्वारा अवश्य करने चाहिये; क्योंकि ये संस्कार तो इस मानवलोकके साथ-साथ परलोकमें भी परम पावन हैं, गर्भावस्थाके आधान, पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन तथा जन्मके पश्चात् जातकर्म, चूडाकर्म और उपनयनादि संस्कारोंके समय प्रयुक्त हवनादि विधियोंद्वारा जन्मदाता पिताके वीर्य एवं जन्मदात्री माताके गर्भजन्य समस्त दोषोंका शमन हो जाता है तथा वेदमन्त्रोंके प्रभावसे नवजात शिशुके अन्तःकरणमें शुभ विचारों तथा प्रवृत्तियोंका उदय होता है। इसके साथ ही उपनयनके प्रयोजनीय वेदारम्भादि संस्कारोंद्वारा विविध हवनीय विधियोंसे त्रयी विद्या (ऋक्०, यजु०, सामवेद)-के स्वाध्याय, गृहस्थाश्रममें पुत्रोत्पादनद्वारा तीन ऋणों (पितृ, ऋषि एवं देव)-के अपाकरण तथा पञ्च महायज्ञ एवं अग्निष्टोमादि यज्ञोंके अनुष्ठानसे यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति (सद्गति या मोक्ष)-का अधिकारी बनाया जाता है। यहाँ इन संस्कारोंके मूलोद्देश्य एवं विधियोंका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन—'गर्भाधान' पहला संस्कार है। गर्भाधानके पश्चात् तीसरे, चौथे एवं छठेसे आठवें महीनेके मध्य गर्भ विनष्ट होनेके ये दो समय अति प्रबल होते हैं। अतः इन दोनों क्षणोंमें गर्भिणीके गर्भरक्षाकी नितान्त आवश्यकता होती है। गर्भग्रहणके तीसरे माससे दस दिनके मध्य 'पुंसवन-संस्कार' सम्पन्न होता है; क्योंकि गर्भाशयस्थित भ्रूणमें पुत्र है या पुत्री ? इसका निश्चय प्रायः चौथे महीनेतक नहीं होता, अतएव वंशपरम्पराके अभिलाषी दम्पती वृद्धिश्राद्ध, माङ्गलिक हवनादि करते हैं। पुरुष पत्नीको गर्भमें पुत्र होनेका निश्चय कराता हुआ कहता है कि 'मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, वायु आदि देव सभी पुरुष हैं, तुम्हारे गर्भमें भी पुरुष आया है' आदि पतिवाक्य सुनकर गर्भिणीका मानस खिल उठता है और उसके उस समयके वमन, आलस्य, अवसाद आदि समस्त दोष अपने-आप मिटने लगते हैं और उसकी पावन कोखमें पुरुष जातिका आविर्भाव होता है। गर्भग्रहणके बाद छठे मासमें सीमन्तोन्नयन-संस्कारका विधान है। चरुपाक, वृद्धिश्राद्धके पश्चात् उदुम्बर (गूलर)-के दो फल (टहनी वृन्तसहित) लेकर दूर्वा, रोचन, तुलसीपत्र, सरसों आदि माङ्गलिक द्रव्योंके साथ रेशमी वस्त्रमें बाँधकर पत्नीके गलेमें बाँधता हुआ पति कुशगुच्छसे पत्नीके सीमन्त (माँग)-को विभाजित करता है और पत्नीको आश्वस्त करता है—'तुम्हारी आनेवाली संतान दीर्घजीवी होगी' आदि।

(४) जातकर्म—शिशुके भूमिष्ठ होनेपर इस संस्कारको करनेका विधान है। इस संस्कारद्वारा मातृ-पितृज शारीरिक दोषोंका शमन होता है, पिता सुवर्णद्वारा घिसे मधु और घृतको शिशुको प्राशन कराता हुआ पुत्रके कानके पास अन्न-प्रशस्तिपरक मन्त्र पढ़ता है, जिसका भाव है—अन्न ही आयु, बल और तेज है, बृहस्पति आदि देव तुझे दीर्घ जीवन दें आदि।

(५) नामकरण—दस रात्रियोंके बीत जानेपर इस संस्कारके करनेका विधान है। देवपूजा, ग्रह-शान्तिके पश्चात् कुलपुरोहित एवं कुलवृद्ध या पिताद्वारा यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। पिता आदि जातकके कानमें नाम सुनाते हैं। 'जन्माङ्गचक्र' भी इस अवसरपर प्रस्तुत किया जाता है तथा बालकको सूर्यदर्शन भी कराया जाता है। सूर्यदर्शनसे जातकको अखण्ड तेज एवं बल मिलता है।

(६) अन्नप्राशन—छठा संस्कार 'अन्नप्राशन' है। पुत्रका छठे, आठवें—सम मासोंमें एवं कन्याका पाँचवें, सातवें—विषम मासोंमें अन्नप्राशन किया जाता है। पूजन-हवनादि माङ्गलिक विधियोंके पश्चात् कुलवृद्ध, पितामह, पिता शिशुको अपनी गोदमें लेकर स्वर्ण-रजत मुद्राओंद्वारा क्षीरादि मिष्टान्न (भोज्य पदार्थ) शिशुके मुखमें प्राशन कराते (चटाते) हैं।

(७) चौल या चूडाकरण—इस संस्कारकी सम्पन्नताहेतु हमारे ज्योतिषग्रन्थोंमें अनेक विधि-निषेधके नियम बताये गये हैं, यथा—उत्तरायण सूर्यकी उपस्थिति तथा शुक्र, गुरुकी बाल-वृद्धत्वनिवृत्ति आदि।

गर्भावस्थामें शिशुके सिरपर जो केश उत्पन्न होते हैं, उन्हें उस्तरेसे छीलकर चूडाकरणके समय शिशुको संस्कारसम्पन्न बनाते हुए हवन होता है एवं मन्त्रद्वारा सूर्य-प्रार्थना की जाती है, जिसका भाव है—'जिस क्षुधिति (छुरे)-द्वारा सूर्यने बृहस्पतिका एवं पवनदेवने इन्द्रका मुण्डन (संस्कार) किया था, उसी ब्रह्मरूपी क्षुधितिसे मैं तुम्हारा केशमुण्डन कर रहा हूँ। सभी सूर्य, इन्द्र, पवनादि देव तुझे चिरायु, बल और तेज प्रदान करें।'

(८) उपनयन—प्राचीन कालमें द्विजातिके बालक इसी संस्कारके द्वारा गुरुकुलमें उपनीत हो (आचार्यके समीप उपस्थित होकर) वेदारम्भ (ज्ञानार्जन) करते थे।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१।२।३९)-में निर्देश है—

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यका प्रथम जन्म माताके गर्भसे और द्वितीय जन्म उपनयन-संस्कारद्वारा होता है, अतएव वे द्विज ('द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जातः') कहे जाते हैं। गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं विविध ज्योतिषग्रन्थोंमें प्रत्येक द्विजवर्णकी प्रकृतिके अनुसार उपनयन करनेके निर्देश मिलते हैं। यथा—

'वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्।'
'गर्भाष्टमेऽब्दे ब्राह्मणं गर्भैकादशे राजन्यं गर्भद्वादशे वैश्यम्।'

शमदमादिस्वभावयुक्त ब्राह्मणके लिये आठवें वर्ष वसन्तमें, शौर्य-तेज-चण्डादिस्वभाववाले क्षत्रियवर्णके लिये ग्रीष्मकालमें गर्भसे ग्यारहवें वर्षमें तथा कृषि-गोरक्षा-वाणिज्यरत वैश्यके लिये गर्भसे बारहवें वर्ष शरत्कालमें उपनयन करनेका विधान है।

यज्ञोपवीत—यज्ञसूत्र निरन्तर हमें अपने धर्म, जाति एवं प्रवर, ऋषियों, पुरुषोंके उपकारका स्मरण दिलाते हैं। हमारे यज्ञसूत्रमें सभी देवोंका निवास होता है, अतएव यथाधिकार यज्ञोपवीत धारण करना परमावश्यक है।

(९) ब्रह्मव्रत—गुरुकुलमें गुरुसेवार्थ धारण किया जानेवाला (अन्तेवासी शिष्यका) यह अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत है। इस संस्कारमें उपनीत बटु आचार्यगृहमें गुरुका अन्तेवासी बनकर अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता हुआ परमात्मपथमें अग्रसर होनेके लिये अपने पुरुषार्थ (नियम-संयम)-की प्रतिज्ञा करता है। इस कार्यमें बटुकके लिये (१) ब्रह्मचर्य-पालन एवं (२) गुरुसेवा (शुश्रूषा) प्रमुख होते हैं। सनत्सुजातीयमें गुरुसेवाके चार पाद कहे गये हैं—

(क) प्रथम पाद—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते॥

भीतर-बाहरकी शुचिताका अवलम्बन कर शिष्यवृत्तिद्वारा आचार्यसे जो विद्यार्जन किया जाता है, वही ब्रह्मचर्यव्रतका प्रथम पाद है।

(ख) द्वितीय पाद—

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते॥

गुरुके समान ही गुरुपत्नी एवं गुरुपुत्रमें भी सद्वृत्ति (सदाचार)-का पालन करना, [ब्रह्मचर्यव्रतका] द्वितीय पाद है।

(ग) तृतीय पाद—

आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन। यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥

आचार्यद्वारा अपने प्रति उपकारको समझकर एवं उनके द्वारा प्राप्त वेदज्ञानसे अपनेको सम्भावित (सम्मानित) समझकर हृदयमें उत्पन्न हर्ष, प्रसन्नता और कृतार्थता (-का मूलभाव) ही ब्रह्मचर्य [व्रत]-का तृतीय पाद है।

(घ) चतुर्थ पाद—

आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते॥

प्राण, धन, मन, वाणी एवं सत्कर्मके द्वारा आचार्यका प्रिय (आदर, सम्मान), हित करना ही [ब्रह्मचर्यव्रतका] चतुर्थ पाद है।

(१०) वेदारम्भ या वेदव्रत—षोडश संस्कारोंमें दसवें संस्कारका नाम 'वेदव्रत-संस्कार' है। प्राचीन कालमें यह वेदाध्ययन करनेका एक अति प्रशस्त भारतीय संस्कार था।

महर्षि वसिष्ठका स्पष्ट निर्देश है—

पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः।
यच्छाखाकर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा॥

अर्थात् जिस कुलमें जो शाखा तथा जो गृह्यसूत्र व्यवहार-परम्परासे चल रहा हो, उस वंशमें उसी शाखासे वेदारम्भ होना चाहिये।

(११) समावर्तन—यह संस्कार आचार्य-गृह (गुरुकुल)-में विद्या समाप्तकर गृहस्थाश्रममें प्रवेशके समय एक विशेष अनुष्ठानके रूपमें किया जाता है। श्रुतिका आदेश है—**'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।'**

आचार्य (वेदकी शिक्षा देनेवाले)-को दक्षिणारूपमें यथाशक्ति (यथोचित) धन देकर प्रजातन्त्र (संतानपरम्परा)-की रक्षाके लिये स्नातक 'द्विज' गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे। इस विषयमें महर्षि याज्ञवल्क्यका भी स्पष्ट निर्देश है—

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा॥
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।

(याज्ञ० १।३।५१-५२)

समग्र अथवा एक या दो वेद अध्ययन कर अस्खलित ब्रह्मचारी सुलक्षणा स्त्रीसे उद्वाह (विवाह) करे।

समावर्तन (गृह-प्रत्यागमन)-के समय शिष्यके लिये दिया गया आचार्यका उपदेश आज भी गुरुकुल (विश्वविद्यालयों)-के लिये एक आदर्श अनुकरणीय शिक्षा है। यथा—**'सत्यं वद'**—सत्य बोलो, **'धर्मं चर'**—अपने कर्तव्यों—धर्मोंका पालन करो आदि।

(१२) विवाह—मनुसंहिताके निर्देशानुसार अस्खलित ब्रह्मचारी गुरुकी आज्ञासे यथाविधि समावर्तनका व्रत-स्नान कर द्विज स्नातक होकर सुलक्षणा एवं सवर्णा कन्याका पाणिग्रहण करे—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

(मनु० ३।४)

विवाह गृहस्थाश्रमका सर्वप्रमुख संस्कार है। इस संस्कारके प्रमुख तीन उद्देश्य होते हैं—(१) अनर्गल प्रवृत्तिका निरोध, (२) पुत्रोत्पादनद्वारा वंशकी रक्षा एवं (३) भगवत्प्रेमका अभ्यास।

मनुजीने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

(मनु० ६।३५-३६)

ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन ऋणोंका शोधन कर अपना चित्त मोक्षमें लगाना चाहिये। तीन ऋणोंसे विना छुटकारा पाये मुक्तिमार्गका आश्रय लेनेसे मानवका पतन हो जाता है। अतएव स्वाध्यायद्वारा ऋषि-ऋण, यज्ञ-साधनद्वारा देव-ऋण और पुत्रोत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे सद्गृहस्थ मुक्त होते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारीके समस्त ऋण ज्ञानयज्ञमें लय हो जाते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

(याज्ञ० १।३।५२)

गृहस्थ बननेके लिये मनके अनुरूपा, भिन्नगोत्रीया, अपनेसे अल्पवयस्का एवं अनन्यपूर्विका (पहले किसीके साथ अविवाहिता) कन्याका पाणिग्रहण करे। इस संदर्भमें मनु आदि अनेक आचार्योंके वचन प्राप्त होते हैं।

सभी देश-जातियोंमें वैवाहिक विधियोंमें बहुत ही असमानता दिखायी पड़ती है। उनमें भोगवृत्तिकी प्रमुखता और अतिनिकटताका अनार्ष नियम भी अपनाया जाता है, किंतु भारतीय संस्कृतिमें विवाह गुरु, देव, अग्नि और ऋषि-महर्षियोंका आशीर्वचन प्राप्त कर उनकी प्रदक्षिणा करके शाखोच्चार, प्रतिज्ञा, सूर्य-ध्रुवदर्शन, सप्तपदी-प्रदक्षिणा एवं सिन्दूर-दान-सदृश अतिविशिष्ट वैदिक विधियोंद्वारा जीवनपर्यन्त अटूट बन्धनके रूपमें सम्पन्न होते हैं। ऋषियोंने धर्मशास्त्रोंमें आठ प्रकारके विवाह गिनाये हैं, जिनमें प्रथम चार विवाह उत्तम और पश्चात् चार विवाह अधम या निम्न स्तरके कहे गये हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

(मनु० ३।२१)

(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य,

(५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस और (८) पैशाच —ये ८ प्रकारके विवाह हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

(१) ब्राह्म विवाह—कन्याको यथाशक्ति वस्त्रालङ्कारसे सज्जितकर विद्यासम्पन्न और शीलवान् वरको घरपर बुलाकर वैदिक विधिपूर्वक कन्यादान करना 'ब्राह्म विवाह' है।

(२) दैव विवाह—ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंमें कर्मकर्ता ऋत्विक्को अलङ्कारादिसे विभूषिता कन्याका दान 'दैव विवाह' है।

(३) आर्ष विवाह—यज्ञादि धर्मकार्योंके लिये एक या दो जोड़ी गाय अथवा बैल लेकर ऋत्विक्को कन्यादान करना 'आर्ष विवाह' है।

(४) प्राजापत्य विवाह—'तुम दोनों मिलकर गृहस्थ-धर्मका पालन करो'—इस प्रकार कहकर कन्यार्थी वरको शास्त्रविधिसे कन्यादान करना 'प्राजापत्य विवाह' है।

(५) आसुर विवाह—कन्या या उसके कुटुम्बियोंको धन-सम्पत्ति देकर कन्याका क्रय करना 'आसुर विवाह' है।

(६) गान्धर्व विवाह—वर और कन्याके पारस्परिक प्रेम और शर्त (शपथ)-पर जो विवाह सम्पन्न होता है, उसे 'गान्धर्व विवाह' कहते हैं। स्वयंवर-प्रथा इसीके अन्तर्गत है।

(७) राक्षस विवाह—कन्याका बलपूर्वक हरण कर विवाह करना 'राक्षस विवाह' है।

(८) पैशाच विवाह—निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला या किसी अन्य प्रकारसे उन्मत्ता-प्रमत्ता कुमारीके साथ एकान्तमें सम्बन्धद्वारा किया गया विवाह 'पैशाच विवाह' है।

मनुजीने कहा है—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजाः।
निन्दितैर्निन्दिताः नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥

(मनु० ३।४२)

अर्थात् अनिन्दित (प्रशस्त) स्त्री-विवाहसे अनिन्दित (उत्तम) संतानें और निन्दित (कलङ्कित) विवाहसे कलङ्कित संतानें ही उत्पन्न होंगी। अतएव निन्दित विवाहोंका परित्याग करना चाहिये।

(१३) अग्न्याधान—इस संस्कारमें द्विजदम्पती सायं-प्रातः श्रौताग्निमें हवनकर अग्निदेवका पूजन करते हैं। भगवान् मनुने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० ३।७६)

अर्थात् अग्निमें दी हुई सविधि आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है और उनसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न तथा अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। यज्ञ-हवनादि कर्मसे प्रसन्न हुए इष्ट देवता यजमान गृहस्थको अभिलषित पदार्थोंकी पूर्ति करते हैं—जैसा गीता (३।१२)-में कहा गया है—'**इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।**' इन्हीं अनेक कारणवश गृहस्थाश्रमीको 'अग्न्याधान-संस्कार' द्वारा अग्निदेवसे बल, तेज एवं दीर्घ आयु प्राप्त करनेका विधान है।

(१४) दीक्षा—गुरुद्वारा गृहस्थाश्रमी शिष्यको किसी शुभ मुहूर्तमें इष्ट देवताके पूजन, ध्यान एवं जपका सविधि उपदेश देनेको 'दीक्षा-संस्कार' की संज्ञा दी जाती है।

(१५) महाव्रत—पंद्रहवें संस्कारका नाम महाव्रत है। गुरुदीक्षाके पश्चात् वानप्रस्थके नियम-संयमोंका पालन करनेहेतु धारण किया जानेवाला सङ्कल्पपूर्वक किया गया व्रतादि अनुष्ठानविशेष 'महाव्रत-संस्कार' कहा जाता है।

(१६) संन्यास—ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रमोंके धर्मोंका अनुपालन कर द्विजके लिये चतुर्थाश्रम—संन्यास धारण करनेकी विधि है। संन्यास आश्रमके पृथक् धर्म हैं, जिनका अनुपालन उसके लिये आवश्यक होता है। ऐसे क्षीणकल्मष मुमुक्षुके लिये विधि-निषेधका प्रपञ्च बाधक नहीं, बाह्य पूजोपचारकी अनिवार्यता नहीं। गृहस्थ-वानप्रस्थाश्रमोंके शिखा-सूत्रादि ज्ञानके समस्त बाह्य साधन उनके लिये गौण हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्मीभूत आत्मज्ञानी सर्वत्र सभीमें प्रभुसत्ताका दर्शन करते हैं—वे कर्मफलकी समस्त वासनाएँ भूल कर विश्वप्राणियोंके कल्याणमें संलग्न हो जाते हैं और फिर कुटीचक, बहूदक एवं हंसकी श्रेणियाँ क्रमशः पार करते हुए जीवन्मुक्त 'परमहंस' की कोटिमें पहुँचे संन्यासी ब्रह्मकी निर्मल ज्योतिमें अपना पृथक् अस्तित्व विलीन कर देते हैं।

इस प्रकार हमारे संस्कार हमें मानवकी कोटिमें बहुत ऊँचाईपर ले जाकर देवत्व और फिर ईश्वरत्वकी उच्चकोटितक पहुँचानेमें समर्थ हैं।

आख्यान—

दूसरोंका अमङ्गल चाहनेमें अपना अमङ्गल पहले होता है

'देवराज इन्द्र तथा देवताओंकी प्रार्थना स्वीकार करके महर्षि दधीचिने देह-त्याग किया। उनकी अस्थियाँ लेकर विश्वकर्माने वज्र बनाया। उसी वज्रसे अजेयप्राय वृत्रासुरको इन्द्रने मारा और स्वर्गपर पुनः अधिकार किया।' ये सब बातें अपनी माता सुवर्चासे बालक पिप्पलादने सुनीं। अपने पिता दधीचिके घातक देवताओंपर उन्हें बड़ा क्रोध आया। 'स्वार्थवश ये देवता मेरे तपस्वी पितासे उनकी हड्डियाँ माँगनेमें भी लज्जित नहीं हुए!' पिप्पलादने सभी देवताओंको नष्ट कर देनेका सङ्कल्प करके तपस्या प्रारम्भ कर दी।

पवित्र नदी गौतमीके किनारे बैठकर तपस्या करते हुए पिप्पलादको दीर्घकाल बीत गया। अन्तमें भगवान् शङ्कर प्रसन्न हुए। उन्होंने पिप्पलादको दर्शन देकर कहा—'बेटा! वर माँगो।'

पिप्पलाद बोले—'प्रलयङ्कर प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो अपना तृतीय नेत्र खोलें और स्वार्थी देवताओंको भस्म कर दें।'

भगवान् आशुतोषने समझाया—'पुत्र! मेरे रुद्ररूपका तेज तुम सहन नहीं कर सकते थे, इसीलिये मैं तुम्हारे सम्मुख सौम्यरूपमें प्रकट हुआ। मेरे तृतीय नेत्रके तेजका आह्वान मत करो। उससे सम्पूर्ण विश्व भस्म हो जायगा।'

पिप्पलादने कहा—'प्रभो! देवताओं और उनके द्वारा सञ्चालित इस विश्वपर मुझे तनिक भी मोह नहीं। आप देवताओंको भस्म कर दें, भले विश्व भी उनके साथ भस्म हो जाय।'

परमोदार मङ्गलमय आशुतोष हँसे। उन्होंने कहा—'तुम्हें एक अवसर और मिल रहा है। तुम अपने अन्तःकरणमें मेरे रुद्ररूपका दर्शन करो।'

पिप्पलादने हृदयमें कपालमाली, विरूपाक्ष, त्रिलोचन, अहिभूषण भगवान् रुद्रका दर्शन किया। उस ज्वालामय प्रचण्ड स्वरूपके हृदयमें प्रादुर्भाव होते ही पिप्पलादको लगा कि उनका रोम-रोम भस्म हुआ जा रहा है। उनका पूरा शरीर थर-थर काँपने लगा। उन्हें लगा कि वे कुछ ही क्षणोंमें चेतनाहीन हो जायँगे। आर्तस्वरमें उन्होंने फिर भगवान् शङ्करको पुकारा। हृदयकी प्रचण्ड मूर्ति अदृश्य हो गयी। शशाङ्कशेखर प्रभु मुसकराते हुए सम्मुख खड़े थे।

'मैंने देवताओंको भस्म करनेकी प्रार्थना की थी, आपने मुझे ही भस्म करना प्रारम्भ किया।' पिप्पलाद उलाहनेके स्वरमें बोले।

शङ्करजीने स्नेहपूर्वक समझाया—'विनाश किसी एक स्थलसे ही प्रारम्भ होकर व्यापक बनता है और सदा वह वहींसे प्रारम्भ होता है, जहाँ उसका आह्वान किया गया हो। तुम्हारे हाथके देवता इन्द्र हैं, नेत्रके सूर्य, नासिकाके अश्विनीकुमार, मनके चन्द्रमा। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय तथा अङ्गके अधिदेवता हैं। उन अधिदेवताओंको नष्ट करनेसे शरीर कैसे रहेगा। बेटा! इसे समझो कि दूसरोंका अमङ्गल चाहनेपर पहले अपना ही अमङ्गल होता है। तुम्हारे पिता महर्षि दधीचिने दूसरोंके कल्याणके लिये अपनी हड्डियाँतक दे दीं। उनके त्यागने उन्हें अमर कर दिया। वे दिव्यधाममें अनन्त कालतक निवास करेंगे। तुम उनके पुत्र हो। तुम्हें अपने पिताके गौरवके अनुरूप सबके मङ्गलका चिन्तन करना चाहिये।'

पिप्पलादने भगवान् विश्वनाथके चरणोंमें मस्तक झुका दिया।

संस्कारका अर्थ एवं उसकी उपादेयता

(डॉ० श्रीजितेन्द्रकुमारजी)

'संस्कार' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भाव और करणमें 'घञ्' प्रत्यय करके भूषण अर्थमें 'सुट्' का आगम करनेपर सम्पन्न होता है। मण्डित, भूषित, अलंकृत करनेके लिये अथवा सुन्दर, व्यवस्थित, गुणवान् एवं सुदृढ़ बनानेके लिये या सजाने और सँवारनेके लिये अथवा दोषोंको दूर करके गुणोंका आधान करनेके लिये किया जानेवाला कर्म, क्रिया, विधि, पद्धति, सरणि या कार्य संस्कार कहलाता है। आचार्य चरक कहते हैं—**'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'** (चरकसंहिता, विमान० १। २७) अर्थात् दुर्गुणों, दोषोंका परिहार तथा गुणोंका परिवर्तन करके भिन्न एवं नये गुणोंका आधान करनेका नाम संस्कार है। निर्गुणको सगुण बनाना, विकारों एवं अशुद्धियोंका निवारण करना तथा मूल्यवान् गुणोंको सम्प्रेषित अथवा संक्रमित करना संस्कारोंका कार्य है। निम्न उदाहरणसे यह बात समझी जा सकती है—

जंगलमें एक शुष्क वृक्षका ठूँठ निर्जीव खड़ा रहता है। लकड़हारा उसको काट लाता है और उसे बढ़ईको सस्ते मूल्यमें बेच देता है। बढ़ई उसको काटता है, छीलता है, तराशता है और उसके समस्त दोषों एवं गाँठोंको दूर करके अपने उपादानोंसे उसमें गुणोंको सँजोता है, उसे संस्कार देता है, उसकी गुणवत्ता बढ़ाता है, उसको प्रयोगके योग्य बनाता है, उसकी उपादेयता एवं आवश्यकताको सिद्ध करता है तथा उसका मूल्य बढ़ाता है। कुछ दिन पूर्व जो निर्जीव-सा पड़ा था, अब वह जीवन्त हो उठता है, सजीव लगने लगता है, उसमें मानो प्राणोंका संचार होने लगता है। ऐसे ही संस्कारित वस्तु आकर्षक और मोहक लगने लगती है। संस्कृत करनेकी यह क्रिया ही संस्कार नामसे जानी जाती है। किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तुके अवगुणों और अशुद्धियोंको अपास्त करके उसमें गुणोंका सम्प्रेषण या संक्रमण करना, उसकी उपयोगिता और मूल्यका संवर्धन करना संस्कार कहा जाता है।

लोहा, ताँबा, चाँदी, सोना आदि सभी धातुएँ यहाँतक कि पत्थर भी खदानमेंसे लानेपर तुरंत प्रयोग करनेयोग्य नहीं होते, किंतु जब वे ही पाषाण तथा धातु शिल्पीके पास आते हैं तो वह उन्हें काटकर, छीलकर, तराशकर, अग्निमें तपाकर सुन्दर, सुयोग्य, चमकदार तथा आकर्षक मूर्ति अथवा आभूषण बना देता है, तब वे उपादेय हो जाते हैं, मूल्यवान् और अमूल्य हो जाते हैं। संस्कारित हो जानेसे उनकी गुणवत्ता बढ़ जाती है। जब यही अर्थ मानवके साथ प्रयुक्त होता है तो मानव संस्कारोंसे गुणवान्, मूल्यवान् एवं उपयोगी बन जाता है।

व्यक्तिमें जो कार्य संस्कारका है, समाजमें वही कार्य संस्कृतिका है। संस्कार व्यष्टिको सुधारते हैं तो संस्कृति समष्टिको सुधारती है। पशुसे मानव बनानेका कार्य संस्कार करते हैं और समूहसे समाजमें परिवर्तित करनेका कार्य संस्कृति करती है। संस्कृति समष्टिमें परिष्कार करती है तथा संस्कार व्यष्टिमें। बिना व्यष्टिके समष्टि सम्भव नहीं, इसलिये संस्कारोंके अभावमें संस्कृतिका स्थान और आधार भी कुछ नहीं हो सकता। अतः संस्कृतिको जीवित रखनेके लिये संस्कारोंकी अपरिहार्यरूपसे आवश्यकता है। संस्कार, संस्कृतिके आधारभूत केन्द्र अथवा उद्गम-स्थल या मूलस्रोत अथवा उत्स हैं। दार्शनिक भाषामें इनका सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेकका सम्बन्ध है, जिसके होनेपर जो हो, वह अन्वय और जिसके न रहनेपर जो न रहे, वह व्यतिरेकीभाव-सम्बन्ध कहलाता है। संस्कारोंके रहनेपर संस्कृति रहेगी और संस्कारोंके न रहनेपर संस्कृति भी नहीं रहेगी, यह सुनिश्चित तथ्यगत सत्य है। अतः संस्कार नींवके पत्थर हैं, जिनकी आधारशिलापर संस्कृतिका विशाल भवन खड़ा किया जाता है। संस्कृतिका अस्तित्व संस्कारोंसे अनुप्राणित है।

मीमांसादर्शनके (३। १। ३) सूत्रकी व्याख्यामें शबर स्वामीने 'संस्कार' शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य' अर्थात् संस्कार वह है, जिसके होनेसे कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्यके योग्य हो जा-

हैं। तन्त्रवार्तिकके अनुसार 'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते' अर्थात् संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं, जो योग्यता प्रदान करती हैं। वह योग्यता दो प्रकारकी होती है—१-पापमोचनसे उत्पन्न योग्यता तथा २-नवीन गुणोंसे उत्पन्न योग्यता। संस्कारोंसे नवीन गुणोंकी प्राप्ति तथा तप एवं संस्कारोंसे पापोंका मार्जन और परिष्कार होता है।

वीरमित्रोदयमें संस्कारकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—'यह एक विलक्षण योग्यता है, जो शास्त्रविहित क्रियाओंके करनेसे उत्पन्न होती है। वह योग्यता दो प्रकारकी है—१-जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य क्रियाओंके योग्य हो जाता है। यथा—उपनयन-संस्कारसे वेदारम्भ होता है तथा २-दोषसे मुक्त हो जाता है। यथा—जातकर्म-संस्कारसे वीर्य एवं गर्भाशयका दोषमोचन होता है।'

मनुष्य माताके गर्भसे शिशुके रूपमें जब जन्म लेता है, तब वह अपने साथ दो प्रकारके संस्कारोंको लेकर आता है। एक प्रकारके संस्कार वे हैं, जो वह जन्म-जन्मान्तरोंसे अपने साथ लेकर आता है और दूसरे प्रकारके संस्कार वे हैं, जिन्हें वह अपने माता-पितासे संस्कारोंके रूपमें वंशानुक्रमसे प्राप्त करता है। ये संस्कार अच्छे और बुरे—दोनों हो सकते हैं। वैदिक विचारधारामें मनुष्य-जन्मका उद्देश्य शुभ संस्कारोंद्वारा अन्तः एवं बाह्य—दोनों प्रकारके मैलोंको धोना है, उसे निखारते जाना है। पिछला मैल कैसे धोया जाय और नया रंग कैसे चढ़ाया जाय—यह सब कुछ इस जन्मके संस्कारोंद्वारा हो सकता है। इस जन्ममें शरीरके साथ सम्बद्ध होकर ही तो आत्मा पकड़में आती है। जिस समय, जिस क्षण आत्मा शरीरके बन्धनको प्राप्त हुई, उसी समयसे, उसी क्षणसे वैदिक विचारधारा उसपर उत्तम संस्कार डालना शुरू कर देती है और उस क्षणतक डालती रहती है, जबतक 'आत्मतत्त्व' शरीरको छोड़कर फिर तिरोहित नहीं हो जाता। यदि शुभ-संस्कारोंकी व्यवस्था नहीं होगी तो अशुभ-संस्कार तो स्वतः पड़नेकी प्रतीक्षाभर कर रहे होते हैं। जैसे ही व्यक्ति शिथिल हुआ, ये अशुभ-संस्कार अपना प्रभाव और प्रताप दिखाने लगते हैं। अतः हमारे ऋषियों और मुनियोंद्वारा जीवनके बीजवपन और अंकुरणसे लेकर मृत्युपर्यन्त अर्थात् गर्भाधान-संस्कारसे अन्त्येष्टि-संस्कारतककी व्यवस्था सुनिश्चित की गयी है। मानव-धर्मशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि मनुने लिखा है—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥

(मनु० २।१६)

मनुष्योंके शरीर और आत्माको उन्नत करनेके लिये मन्त्रोच्चारणपूर्वक यथाविधि निषेकसे लेकर श्मशान अर्थात् गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त जिसके संस्कार होते हैं, वही शास्त्रका अधिकारी होता है।

वस्तुतः बालकके निर्माणकी प्रक्रिया गर्भाधानसे प्रारम्भ हो जाती है। जैसे—मकान बनानेसे पहले उसकी योजना बनाकर उसके लिये अपेक्षित उत्तम प्रकारकी सामग्रीका होना नितान्त आवश्यक है, वैसे ही उत्तम संतान प्राप्त करनेके लिये उसके उपादान रज-वीर्यका उत्तम कोटिका होना नितान्त आवश्यक है। चरकसंहितामें उक्त बातको निम्न प्रकारसे व्यक्त किया गया है—

'यथा हि बीजमनुपतप्तमुप्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयेते॥' (शारीरस्थान ८।२०)

अर्थात् जिस प्रकारका अच्छा या बुरा बीज बोया जायगा, फल भी वैसा ही होगा। जैसे व्रीहिको बोनेसे व्रीहि और जौको बोनेसे जौ उत्पन्न होता है, वैसे ही स्त्री-पुरुषका रज-वीर्य जैसा होगा, वैसी ही शुभाशुभ संतान होगी।

गर्भाधान-संस्कार बालक नहीं, अपितु सुयोग्य बालक बनानेका संस्कार है। इसलिये इस संस्कारमें धर्मका भाव यथावत् आवश्यकरूपसे बना रहना चाहिये। गर्भाधानकी क्रियाके समय माता-पिताकी शारीरिक तथा मानसिक स्थिति जैसी शुद्ध और पवित्र होगी, बालकका शरीर और मन भी वैसा ही बनेगा। अतः गर्भाधानके समय माता-पिताके मनका स्वस्थ एवं धर्मान्वित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीको लक्ष्य कर सुश्रुतसंहितामें लिखा गया है—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

(शारीरस्थान २।४६)

अर्थात् स्त्री-पुरुष जैसे आहार-विहार और चेष्टा आदिसे युक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, संतान भी वैसी ही होती है। इसलिये स्त्री-पुरुषको संतानोत्पत्तिके लिये गर्भाधानमें सर्वथा निर्दोष हो प्रवृत्त होना चाहिये।

गर्भाधान एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं सूक्ष्म प्रभावोत्पादक संस्कार है। इतिहासमें आता है कि अपने समान गुणयुक्त संतान उत्पन्न करनेके लिये सपत्नीक श्रीकृष्णने बदरिकाश्रममें बारह वर्षतक तप किया था—

'व्रतं चचार धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्।'

(महा०, अनु० १३९।१०)

इस तपके कारण उन्हें प्रद्युम्न-जैसा पुत्र प्राप्त हुआ, जो दूसरे श्रीकृष्णके समान ही था।

अभिमन्युको गर्भावस्थामें ही चक्रव्यूह तोड़नेका ज्ञान पिता अर्जुनद्वारा गर्भस्थ माताको सुनाते हुए प्राप्त होनेकी कथा प्रसिद्ध है और चक्रव्यूहसे बाहर निकलनेकी बात सुनते हुए माताके सो जानेके कारण अभिमन्युको इसका ज्ञान नहीं हो सका तथा वही अभिमन्युकी मृत्युका कारण भी बना।

इससे स्पष्ट है कि अपेक्षित गुणोंसे युक्त संतान उत्पन्न करना माता-पिताके उत्तम भावोंपर निर्भर है।

महाकवि कालिदास रघुवंशमें राजा रघुके अनेक गुणोंका वर्णन करते हुए सबसे प्रथम—जन्मकी शुद्धिको सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानकर कहते हैं—'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' जो जन्मसे जीवनपर्यन्त शुद्ध और पवित्र हैं, उनका वर्णन कर रहा हूँ। जन्मशुद्धि क्या है? गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन-प्रभृति शिष्ट क्रियाओं-प्रक्रियाओंसे उत्पन्न संस्कार ही जन्मशुद्धिके कारक तत्त्व हैं। इनके अभावमें जन्मशुद्धि पूर्ण नहीं होती। जन्मपूर्वके संस्कारविशेषके द्वारा समुद्भूत शुद्धि ही यहाँ कालिदासको विवक्षित है। उद्भवके पश्चात् परिवेशजन्य एवं परिवारद्वारा प्रदान किये जानेवाले संस्कार भी शुद्धिको सम्पादित करनेमें अथवा अलंकृत करनेमें समर्थ होते हैं।

इस प्रकार जन्मसे पुनीत पुत्र 'पुनातीति पुत्रः' पवित्र करनेवाला होनेके कारण पुत्र है—इस प्रकारकी व्युत्पत्ति तथा 'पुम्' नामक नरकसे त्राण करानेवाला होनेके कारण पुत्र है—ऐसा निर्वचन प्राप्त होता है। इसलिये सभी गृहस्थजनोंको जन्मशुद्धिकी आशासे उत्तम संतानके लिये प्रयत्न करना चाहिये और स्वयं माता-पिताको भी जन्मसे शुद्ध होना चाहिये। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें महान् दार्शनिक प्लेटोने अभिव्यक्त किया है—'यदि किसी बच्चेको सुधारना चाहते हो तो उसके दादाको सुधारो।' तभी उत्पन्न होनेवाली संतान आजन्म शुद्ध, वंशप्रतिष्ठाको बढ़ानेवाली तथा दायित्वनिर्वहणमें दक्ष हो सकती है। इस प्रकार जन्मशुद्धिकी अपेक्षा रखनेवाले जागरूक लोगोंको कुलकी स्त्रियोंकी भी देख-भाल और रक्षा बड़े प्रयत्नसे करनी चाहिये, तभी सभी प्रकारसे संरक्षित, पालित-पोषित कुलकी स्त्रियाँ शुद्ध होकर पतिका अनुगमन करती हुई भावदोष एवं स्पर्शदोषके नितान्त अभावमें सर्वथा पिताके समान ही पुत्रको उत्पन्न करनेमें सफल होती हैं—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं
तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः
प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥

(रघुवंश ५।३७)

अर्थात् जैसे एक दीपकसे जलाये जानेपर दूसरे दीपकोंमें भी ठीक वैसी ही लौ और ज्योति होती है, वैसे ही अज भी रूप, गुण और बल—सभी बातोंमें रघु-जैसे ही थे, वे किसी भी बातमें कम नहीं थे।

वैदिक साहित्यमें विवाहका उद्देश्य उत्तम पुत्र-प्राप्तिको स्वीकार किया गया है न कि भोग-विलासको। तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्लीके ग्यारहवें अनुवाकमें आचार्य वेद पढ़ाकर अन्तेवासीको उपदेश करते हैं कि आचार्यके लिये प्रिय धनको प्राप्त करके प्रजातन्तुका व्यवच्छेदन न कर—'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।'

मनुष्यके उत्पन्न होनेमात्रसे कुलका कोई उपकार

कहलाता है। पारस्करगृह्यसूत्रके अनुसार—

'अथ पुंसवनं पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा।'

वस्तुतः यह संस्कार भ्रूणपुष्टिके लिये किया जाता है।

सीमन्तोन्नयन—गर्भिणी स्त्रीके मनको सन्तुष्ट करने, शरीरके आरोग्य एवं गर्भकी स्थिरता और उत्कृष्टताके निमित्त सीमन्तोन्नयन नामक तीसरा संस्कार गर्भाधानके बाद चौथे, छठे या आठवें मासमें किया जाता है। आश्वलायन-गृह्यसूत्रने चौथे मासकी बात कही है—

'चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्।'

इस संस्कारमें पति गर्भस्थ शिशुके स्वास्थ्यकी कामना करता हुआ अपनी पत्नीके बालोंको सँवारता है। सौभाग्यवती वृद्धा एवं कुलीन स्त्रियाँ गर्भिणीको आशीर्वाद देती हैं। इस अवसरपर खिचड़ी खानेका रिवाज है।

जातकर्म—यह संस्कार शिशुके जन्मके बाद नाल काटनेसे पहलेका है। मन्त्रोंको पढ़ते हुए असमान-मात्रामें मिले हुए घी तथा शहदको सोनेकी शलाकासे शिशुको चटाया जाता है। उसी शलाकासे बालककी जीभपर मधु एवं घृतके मिश्रणसे 'ॐ' लिखना चाहिये तथा उसके दायें कानमें पिता 'वेदोऽसीति' (तेरा गुप्त नाम वेद) है, ऐसा कहे। इस संस्कारमें पिता नाल-छेदन करता है, शिशुको आशीर्वाद देता है, उसका सिर सूँघता है और कहता है कि मेरे अङ्ग-अङ्गसे तुम्हारा जन्म हुआ है, हृदयसे तुम उत्पन्न हुए हो, पुत्र नामसे तुम मेरी आत्मा हो, सौ वर्षतक जीवित रहो—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

पिता बार-बार आशीर्वाद देता है—पत्थरके समान दृढ़ हो, परशुके समान शत्रुओंके लिये ध्वंसक बनो, शुद्ध सोनेके समान पवित्र रहो—

'अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तुतं भव।'

नामकरण—नाम व्यक्तिकी पहचान है। जन्मके दसवें, बारहवें या किसी भी शुभ दिन बालकका नामकरण-संस्कार किया जाता है। मनुजी (२।३०-में) कहते हैं—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥

कुछ ग्रन्थ दसवें दिन [अशौचनिवृत्तिके अनन्तर] नामकरणकी बात कहते हैं—'दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति।'

जीवनमें नामका विशेष महत्त्व है। अतः बहुत सोच-विचारकर सुन्दर, सार्थक, माङ्गलिक एवं प्रभावशाली नाम रखना चाहिये। धर्मशास्त्रोंने नामको समस्त व्यवहारोंका हेतु बताया है। नाम शुभका वहन करनेवाला तथा भाग्यका कारण है। मनुष्य नामसे ही कीर्ति प्राप्त करता है। अतः नामकरणकी क्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः
शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिर्लभते मनुष्य-
स्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥

निष्क्रमण—जन्मके कुछ मासतक बालकको घरसे बाहर नहीं निकाला जाता है। अतः जब जन्मसे दूसरे या चौथे मासमें बालकको पहली बार सूर्यदर्शनके लिये घरसे बाहर निकालते हैं, तब उस आयोजनको निष्क्रमण-संस्कार कहते हैं—

'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।'

इस संस्कारके समय बालकको अपने बड़ोंका आशीर्वाद मिला करता था—'त्वं जीव शरदः शतम्।' अब इस संस्कारका महत्त्व इसलिये घट गया; क्योंकि अधिकतर बालकोंका जन्म प्रायः घरके बाहर ही होता है।

अन्नप्राशन—पाँचवेंसे आठवें महीनेके मध्य जब बालकको पहली बार विधिवत् अन्नयुक्त भोजन कराया जाता है, तब किये जानेवाले इस धार्मिक आयोजनको अन्नप्राशन-संस्कार कहते हैं। मनु चौथे मासमें निष्क्रमण तथा छठे मासमें अन्नप्राशनका आदेश करते हैं—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥

आश्वलायन भी छठे महीनेमें दही, शहद एवं घीमिश्रित भोजन खिलानेकी बात कहते हैं—

'षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्। दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्॥'

मुण्डन या चूडाकर्म—प्रथम या तृतीय वर्षमें बालकके प्रथम बार सिरके बाल उतारनेके अनुष्ठानको चूडाकर्म-संस्कार कहते हैं। इसे किसी देवी-देवताके स्थान या पवित्र नदियोंके तटपर सम्पन्न करनेकी परम्परा है। विभिन्न धर्मशास्त्रोंमें प्रथम या तृतीय वर्षमें मुण्डन करनेपर जोर दिया गया है। यथा—'तृतीये वर्षे चौलम्। सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्।'

मनु प्रथम या तृतीय वर्षमें मानते हुए इसे द्विजातियोंके लिये वेदानुकूल धार्मिक संस्कार मानते हैं—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥

(मनु० २।३५)

कर्णवेध या कर्णछेदन—इस संस्कारमें बालकोंके कान तथा बालिकाओंके कान और नासिकाका वेधन किया जाता है। यह संस्कार तीसरे या पाँचवें वर्षमें किया जाता है—

'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा।'

उपनयन—इसे यज्ञोपवीत-संस्कार भी कहते हैं। 'उपनयन' शब्दका अर्थ समीप ले जाना है। जब बालकको गुरुके समीप ले जाते थे, तब गुरु उसका उपनयन-संस्कार करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यबालकका क्रमशः आठवें, ग्यारहवें तथा बारहवें वर्षमें यह संस्कार होना चाहिये। यह समय गर्भाधान तथा जन्म दोनोंमेंसे किसीसे भी गिना जा सकता है—

'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्।'

मनु पाँचमे चौबीस वर्षकी अवस्थातक इस संस्कारका हो जाना आवश्यक मानते हैं। तदनन्तर उसकी 'व्रात्य' संज्ञा होती है।

वेदारम्भ—गुरुके पास बैठकर वेदोंका अध्ययन प्रारम्भ करनेका कार्य ही इस संस्कारका प्रयोजन है।

केशान्त—मनुके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको क्रमशः सोलहवें, बाईसवें तथा चौबीसवें वर्षमें केशान्तकर्म अथवा क्षौर (मुण्डन) कराना चाहिये—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥

आजकल इस संस्कारका आयोजन प्रायः नहीं दीखता है।

समावर्तन—विद्याध्ययनके उपरान्त विद्यार्थीके घर लौटनेके समय यह संस्कार आचार्यके घर अथवा गुरुकुलमें ही होता था। आजकलका दीक्षान्तसमारोह समावर्तन-संस्कारका ही अनुकरण-सा है। इसके बाद शिष्यको गृहस्थाश्रममें जानेकी अनुमति मिल जाती थी। स्नातक उपाधि-प्राप्त शिष्यका यह कर्तव्य होता था कि वह अपनी सामर्थ्यके अनुरूप गुरुदक्षिणा दे।

विवाह—पचीस वर्षकी आयु होनेके बाद गृहस्थाश्रममें जानेके लिये स्त्री एवं पुरुषके सम्बन्धोंको धार्मिक और सामाजिक वैधता प्रदान करनेवाले संस्कारको विवाह कहते हैं। विवाहोपरान्त गृहस्थधर्मका पालन करते हुए संतानोत्पत्ति करना शास्त्रीय नियम है। मानवके जीवनमें यह सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार है। भारतीय परम्परामें ब्राह्म आदि आठ प्रकारके विवाह बताये गये हैं।

अन्त्येष्टि—यह मानवका अन्तिम संस्कार है। मृत व्यक्तिकी दाहक्रियासे लेकर तेरहवें दिनतककी समस्त क्रियाएँ इसी संस्कारके अन्तर्गत आती हैं। प्रारम्भिक संस्कार जहाँ ऐहिक जीवनको पवित्र और सुखी बनानेके निमित्त किये जाते हैं, वहाँ यह अन्तिम संस्कार परलोकसुधारके लिये किया जाता है।

उपसंहार—आजके व्यस्त जीवन एवं वैज्ञानिक सोचने अनेक संस्कारोंको पूर्णतः भुला दिया है। यह महान् भयकी सूचना है। नामकरण, विवाह एवं अन्त्येष्टि-जैसे कुछ संस्कार आज भी पूर्ण श्रद्धा तथा सामर्थ्यके अनुसार मनाये जाते हैं। संस्कारोंके आयोजनोंका एक निश्चित विधि-विधान है, उसे जाननेके लिये जिज्ञासुओंको गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा मन्वादि स्मृतियोंका अवलोकन करना चाहिये।

~~~0~~~
~~~

'संस्कार जगाओ-संस्कृति बचाओ'

(सुश्री गीताजी मूँदड़ा)

किसी पेड़के पत्तों एवं फूलोंकी सफाईसे वह पेड़ हरा-भरा नहीं होता, बल्कि उसकी जड़ोंको पोषण मिलनेपर ही पेड़ बड़ा होगा, फूलेगा-फलेगा। ऐसे पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित वृक्षके नीचे पथिक कुछ देर विश्राम करता है, उसके फलोंसे पथिककी भूख मिटती है, ठीक इसी प्रकार व्यक्तिको समाजका अच्छा नागरिक बनानेके लिये अगर बचपनसे ही उसके क्रिया-कलापोंको सही दिशा मिल जाय तो समाजको एक अच्छा नागरिक मिलेगा।

यथा बीज तथा निष्पत्ति—बबूलका बीज बोकर आमके पेड़की आशा नहीं की जा सकती। बच्चेके अन्तःकरणमें रोपा गया बीज प्रस्फुटित होकर समाजहितमें कोई फल देता है तो वह उसके संस्कारी होनेका प्रतीक है। मनुष्यका आचरण उसके व्यक्तित्वकी व्याख्या करता है। संस्कार उस नींवका नाम है, जिसपर व्यक्तित्वकी इमारत खड़ी होती है। एक सुसंस्कारित व्यक्ति अपनी अवधारणाओंसे और एक गुणवान् व्यक्ति अपने चरित्रसे जाना जाता है।

संस्कारसम्पन्न संतान ही गृहस्थाश्रमकी सफलताका सच्चा लक्षण है। हर माँ-बाप चाहते हैं कि उनकी संतान उनकी अपेक्षाके अनुसार बने; परंतु कई बाहरी परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक प्रदूषण, उपभोक्ता संस्कृति-जैसे कारण आजकी युवा पीढ़ी एवं बच्चोंको अपनी गिरफ्तमें लिये हुए हैं। खान-पान, रहन-सहन, तौर-तहजीब, चिन्तन-मनन सभी क्षेत्रोंमें पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता हावी होती जा रही है। कुसंस्कारोंकी बाढ़में डूबनेसे पहले ही हमें सचेत होना पड़ेगा।

घर संस्कारोंकी जन्मस्थली है। अतः संस्कारित करनेका कार्य हमें अपने घरसे प्रारम्भ करना होगा। संस्कारोंका प्रवाह हमेशा बड़ोंसे छोटोंकी ओर होता है। बच्चे उपदेशसे नहीं अनुकरणसे सीखते हैं। बालककी प्रथम गुरु माता अपने बालकमें आदर, स्नेह एवं अनुशासन-जैसे गुणोंका सिञ्चन अनायास ही कर देती है। परिवाररूपी पाठशालामें बच्चा अच्छे और बुरेका अन्तर समझनेका प्रयास करता है। जब इस पाठशालाके अध्यापक अर्थात् माता-पिता, दादा-दादी संस्कारी होंगे, तभी बच्चोंके लिये आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। आजकल परिवारमें माता-पिता—दोनोंकी व्यस्तताके कारण बच्चोंमें धैर्यपूर्वक सुसंस्कारोंके सिञ्चन-जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य उपेक्षित हो रहा है। आज अर्थकी प्रधानता बढ़ रही है। कदाचित् माता-पिता भौतिक सुख-साधन उपलब्ध कराकर बच्चोंको सुखी और खुश रखनेकी परिकल्पना करने लगे हैं—इस भ्रान्तिमूलक तथ्यको जानना होगा, अच्छा संस्काररूपी धन ही बच्चोंके पास छोड़नेका मानस बनाना होगा एवं इसके लिये माता-पिता स्वयंको योग्य एवं सुसंस्कृत बनावें। उन्हें विवेकवती बुद्धिको जाग्रत् कर अध्यात्म-पथपर आरूढ़ होना होगा।

आजकी उद्देश्यहीन शिक्षापद्धति बालकका सही मार्ग प्रशस्त नहीं करती। शीघ्र पैसा कमानेके आसान तरीके अपनाकर आजकी युवा पीढ़ी परिश्रम एवं धैर्यसे दूर होती जा रही है। सात्त्विक प्रवृत्तियोंके दमनके कारण नैतिकतासे विश्वास हटता जा रहा है। मर्यादा और अनुशासनका लोप हो रहा है। व्यक्तिका हृदय संकुचित एवं नेत्र विशाल हो गये हैं। अन्तःकरणकी शक्तिको पहचाननेके लिये आवश्यक ज्ञानकी उपेक्षा हो रही है, सादगीका अभाव है। आधुनिक युगकी तथाकथित संस्कृति अपना जाल फैला रही है। इस चुनौतीपूर्ण वातावरणमें सुसंस्कारोंका प्रत्यारोपण कठिन कार्य है, परंतु असम्भव नहीं है। आज भी हमारी भारतीय संस्कृतिमें कर्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, उदारता आदि मानवीय मूल्य निहित हैं। आवश्यकता है तो बस, थोड़ेसे समन्वयकी। हमारी संस्कृति क्या है? इसे एक छोटेसे उदाहरणसे हम समझ सकते हैं।

हमें भूख लगती है हम भोजन करते हैं—यह है प्रकृति। दूसरोंका छीनकर खा जाते हैं—यह है विकृति। हम भोजन कर रहे हैं, एक भूखा व्यक्ति आता है, पहले हम उसे खिलाते हैं, फिर स्वयं खाते हैं—यह है संस्कृति। प्रकृतिमें विकार आ जानेपर संस्कारोंकी आवश्यकता होती है। संस्कार और संस्कृति एक ही धागेकी दो गाँठें हैं। संस्कारकी पैदावार बचपनमें होती है और संस्कृतिकी रक्षा युवावस्थामें। जो व्यवहार अनुकरणीय एवं प्रेरक होता है, वही आचार-व्यवहार-परम्परा बनकर संस्कृति कहलाती है। संस्कार मानव-जीवनको परिष्कृत करनेवाली आध्यात्मिक

और वैज्ञानिक योजना है। संस्कारोंका तात्पर्य केवल पूजन, अर्चन या श्लोक कण्ठस्थ करना नहीं, बल्कि बालकोंमें स्वयंके प्रति, परिवारके प्रति तथा समाज एवं राष्ट्रके प्रति कर्तव्यकी भावना जाग्रत् करना है।

यदि सरल भाषामें समझनेका प्रयत्न करें तो व्यक्तिमें अनुशासित और सर्वजनहिताय सुन्दर जीवनप्रणालीके विकास एवं दैनिक जीवनचर्यामें उसके समावेशकी प्रक्रियाको ही संस्कार कहा जा सकता है। दैनिक जीवनमें नियमितता लाना, व्यवहारमें सद्गुणोंका समावेश करना एवं धैर्यपूर्वक हर स्थितिमें धर्मयुक्त व्यवहार करना संस्कारित जीवनका द्योतक है। दुर्गुणोंको हटाकर सद्गुणोंका आह्वान करनेका नाम संस्कार है। शुभ संस्कार, शुभ प्रवृत्ति एवं शुभ रुचि अच्छे कर्मोंका फल है। जैसे भोजनसे शरीर बनता है, वैसे ही कर्मोंके फलसे संस्कार बनते हैं। हम अन्यसे अपने प्रति जैसे व्यवहारकी अपेक्षा करते हैं, वैसा ही व्यवहार हम उसके प्रति करें, यह धर्म है। बालक अपने जन्मके साथ ही संस्कार लेकर आता है। संस्कारोंके चार स्रोत प्रतीत होते हैं। यथा—

१-जन्म-जन्मान्तरोंसे संचित संस्कार, २-वंशपरम्परासे एवं अपने माता-पितासे प्राप्त संस्कार, ३-वातावरणसे प्राप्त संस्कार तथा ४. क्रियमाण कर्मजन्य संस्कार।

ये संस्कार अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। संस्कारोंपर सर्वाधिक प्रभाव वातावरणका पड़ता है। अच्छे संस्कार लेकर सुसंस्कृत परिवारमें जनमा बच्चा भी वातावरणके प्रभावसे बिगड़ सकता है। उसी प्रकार वातावरण ऐसा हो, जिसमें अच्छे संस्कारोंके पनपनेका पूर्ण अवसर हो तो बुरे संस्कार भी दूर हो सकते हैं, चाहे वे पूर्वजन्मके हों अथवा वंशपरम्पराके। सत्सङ्गतिका महत्त्व हमारे शास्त्रोंमें वर्णित है। भारतीय संस्कृति एवं सोलह संस्कार मानवके नवनिर्माणके सतत प्रयत्नरूप हैं।

वैदिक संस्कारपद्धतिने हमें ऐसी वैज्ञानिक पद्धति प्रदान की है, जिसके द्वारा पिछले जन्मके कर्मजन्य संस्कार एवं वंशानुक्रमद्वारा प्राप्त संस्कारोंको धोकर मानवको सुसंस्कारोंसे युक्तकर उसका नवनिर्माण किया जा सकता है। ये सोलह संस्कार जीवनको दिशा-निर्देश देते हैं। हमारी आदर्श जीवनपद्धति कैसी हो? हमारी संस्कारपद्धतिमें संस्कारित एवं मर्यादित जीवन जीनेकी कला निहित है। लुप्त हो रहे संस्कारोंकी पुनर्स्थापनाकी आज महती आवश्यकता है। जिन कर्मोंको व्यक्ति बार-बार करता है, वैसी ही उसकी आदत हो जाती है, संस्कार गहरे हो जाते हैं। अच्छे कर्मोंको बार-बार करनेसे अच्छी आदतें विकसित होती हैं, इसके लिये घर-परिवार एवं आस-पासका वातावरण अनुकूल होना आवश्यक है।

सुसंस्कारोंके लिये आवश्यक हैं—१-सुसंगति, २-सुपाठ्य पठनसामग्री—सत्साहित्य और ३-मानवीय गुणोंके विकासमें सहायक कलाओंको सीखनेहेतु उचित मार्गदर्शन एवं सहयोग। कलाके विकाससे संस्कृति समृद्ध होती है, मनकी कोमल, सुन्दर एवं अछूती भावनाओंकी अभिव्यक्ति कलाद्वारा होती है। संगीत, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला; जिसमें भी बालककी रुचि हो, उस कलाके विकासमें अभिभावकोंको सहयोगी बनना चाहिये।

घरमें माता-पिताके ध्यान देनेयोग्य बातें— १-बड़ोंका आचरण अनुकरणीय हो। २-दैनिक जीवन नियमित एवं मर्यादित हो। ३-व्यवहारमें सद्गुणोंका समावेश हो, सिर्फ भौतिक सुख-सुविधा नहीं बल्कि बच्चोंको चाहिये प्रेम, स्नेह, विश्वास, सकारात्मक भावना, संरक्षात्मक वातावरण। ४-बच्चोंसे अधिक अपेक्षा न करें, बल्कि उन्हें प्रोत्साहन देते रहें। ५-बच्चोंके साथ पारिवारिक चर्चाएँ करें। दिनमें कम-से-कम एक बार सभी एकत्र होकर एक-दूसरेसे अनौपचारिक चर्चा करें। ६-पारिवारिक कार्यक्रम शादी-विवाह, जन्मदिन आदि मनानेमें भारतीय पद्धतिको प्रोत्साहन दें। ७-घरमें दादा-दादी एवं नाना-नानी कहावतों, कहानियों तथा संस्मरणोंके माध्यमसे सफलताके कई ऐसे सूत्र सिखा देते हैं, जो पुस्तकोंमें नहीं होते। अतः बड़ोंके सांनिध्यमें बालक उनके अनुभवोंसे लाभ ले सकते हैं।

इस प्रकार हर माता-पिताको व्रत लेना होगा कि अपनी संतानोंमें ऐसे संस्कारोंका आधान करें, जो उत्कृष्ट कोटिके हों। भावी पीढ़ीको मनसा-वाचा-कर्मणा सशक्त बनानेहेतु उनमें शक्ति, भक्ति और युक्तिका संगम करना है। प्रत्येक व्यक्ति अपना आँगन स्वच्छ रखना सीख ले और दूसरोंको भी प्रेरणा दे तो पूरा समाज स्वच्छ एवं प्रकाशवान् हो जायगा। आवश्यकता है प्रत्येक व्यक्तिकी सहभागिताकी।

[संस्कार-सौरभ]

~~~~~~~~
~~~~~~~~

संस्कारकी महत्ता

(आचार्य श्रीआद्याचरणजी झा)

सम्+कृ+घञ्=वृद्धि, मोऽनुस्वारः (पा०सू०)-के अनुसार संस्कार (पुँल्लिङ्ग) शब्द बना है। इसका अर्थ है—प्रतियत्न, अनुभव, वेगाख्य-संस्कार, स्थितिस्थापक-संस्कार, पृथिव्यादि पदार्थ-संस्कार, जन्मजात-संस्कार।

भाषापरिच्छेदके अनुसार संस्कार कहीं स्थिति-स्थापक—जन्मजात, कहीं वेगजन्य, कहीं कर्मजन्य, कहीं अतीन्द्रिय—इन्द्रियोंसे परे, कहीं मानसिक स्पन्दनजन्य, कहीं भावनाजन्य, कहीं स्मरणजन्य और कहीं प्रत्यभिज्ञाजन्य होते हैं। ये गहन चिन्तनात्मक संस्कार हैं। अतीन्द्रिय-संस्कार वंशानुगत होते हैं और सामान्यतः इन्द्रियजन्य होते हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और इन दसोंपर सद्यः नियन्त्रण रखनेवाला ग्यारहवाँ मन है। यह अपने गुणसे सभीका सञ्चालक है। मन जहाँ ले जायगा, ये दस इन्द्रियाँ भी वहीं पहुँच जायँगी। यह तो सर्वथा स्पष्ट है। इस शाश्वत सत्यका द्रष्टा निर्द्वन्द्व निर्विकार आत्मा है। आत्ममनःसंयोगजन्य प्रबलतम भावनाजन्य संस्कार अपना विशाल हाथ फैलाये रहता है। फलतः भाषापरिच्छेदके उक्त सभी संस्कारोंपर मनका पूर्ण नियन्त्रण तो है ही।

नहीं चाहते हुए भी वर्तमान चाकचिक्यको देखकर बिना देखे हुए भी भावनाके स्पन्दनमें ये कैसे प्रविष्ट हो जाते हैं—यह समझना दुरूह है। अतएव भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—'""मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥' उक्त विषमस्थितिमें संस्कारोंको पावन रखना अतिशय कठिन है।

सम्भवतः इसी परिप्रेक्ष्यमें शास्त्रकारोंने मानवमात्रके लिये संस्कारोंका विधान किया है। महर्षि याज्ञवल्क्यके अनुसार विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, वेदारम्भ एवं समावर्तन—ये संस्कार हैं। उक्त विधान क्रमबद्ध संस्कार-निर्माणके सोपान हैं। ये संस्कार यत्र-तत्र कुछ परिवर्तनके साथ सबके लिये समान हैं। बिना संस्कारके भारतीय भव्य भावनाकी जड़ सुदृढ़ नहीं हो सकती है, किंतु अनुभवसे यह स्पष्ट है कि प्रतिमाह, प्रतिपक्ष, प्रतिदिन तथा प्रतिक्षण संस्कार—भारतीय संस्कार बड़े वेगसे लुप्त होते जा रहे हैं। यह बड़े ही दुःखकी बात है।

संस्कारोंसे सुसंस्कृत संतानें होंगी, इसमें दो मत नहीं है। इसे वैदिकी प्रक्रिया भी कहा जाता है। लौकिक प्रक्रियामें विवाह गार्हस्थ्यजीवनका प्रवेशद्वार है। इसके बाद ही मानवमात्रको अपना-अपना अग्रिम मार्ग—कार्य निश्चित करना है कि वे अपनी जीवनयात्राको किस तरह, किस दिशामें और कैसे ले जायँगे; इसके साथ ही वे अपने पारिवारिक दायित्वका निर्वहण कैसे करेंगे इत्यादि। श्रेय-मार्गका चयन करना संस्कारजन्य ही है।

बात आजसे लगभग ५० वर्ष पुरानी है, तब प्रथमा परीक्षाके पाठ्यक्रममें वाल्मीकीय रामायणमें प्राप्त महर्षि नारद-वाल्मीकिसंवादके चुने हुए २५ पद्योंको कण्ठस्थ करना अनिवार्य था, जिनमें भगवान् श्रीरामके गुण, धर्म आदिका परिचय है। इसी प्रकार उन दिनों मध्यमा परीक्षामें श्रीरामचरितमानसका सुन्दरकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड परीक्षामें था, किंतु स्वतन्त्र भारतमें ये विषय हटा दिये गये। उस समय प्रत्येक उच्च विद्यालयमें श्रीमद्भगवद्गीताके ११वें अध्यायके ५ श्लोकोंकी वन्दना सभी छात्रों तथा शिक्षकोंके लिये अनिवार्य थी, किंतु कहना न होगा कि स्वतन्त्र भारतमें वे सब भी हटा दिये गये।

तात्पर्य यह है कि पहले हमें हमारी आर्य परम्पराका ज्ञान कराया जाता था और हममें अपनी संस्कृतिके अच्छे संस्कार भरे जाते थे, किंतु विडम्बना है कि आज यह सब नहीं रह सका है। इसीलिये संस्कारोंके प्रति भी आस्था कम होती जा रही है। यह अत्यन्त दुःखका विषय है। इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा।

संस्कार—मनोविज्ञान और योगशास्त्रके आलोकमें
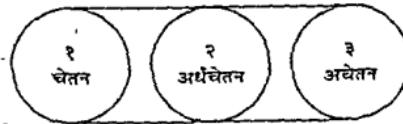
(डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी 'आनन्द', एम्०ए०, एम्०एड०, पी-एच्०डी०, डॉ०लिट्०, व्याकरणाचार्य)

तन्त्रशास्त्र, योगशास्त्र एवं आधुनिक मनोविज्ञान वाह्य आचारों एवं वाह्य भूमिकाओंके स्तरोंपर नहीं, प्रत्युत संस्कारोंके सूक्ष्म स्तरोंपर परिवर्तन, परिशोधन एवं परिष्करण चाहते हैं, अतः ज्ञानकी इन विज्ञानगर्भित शाखाओंमें संस्कारोंका सर्वाधिक महत्त्व है।
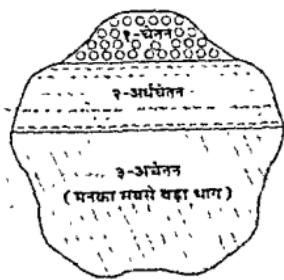
१. मनोविज्ञान और संस्कार

आधुनिक मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञानने मनस्तत्त्वके अन्तर्गर्भित स्तरों एवं तन्निहित संस्कारोंकी दिशामें क्रान्तिकारी प्रयोग किये हैं।

असामान्य मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञानके अद्यतन शोधोंने यह पाया कि मनके तीन स्तर हैं और प्रत्येक प्राणी इन तीनों स्तरोंपर सोचता है, आचरण करता है और उन्हींमें जीता है। उसके सारे व्यक्तित्वके ये ही तीन स्तम्भ हैं—

क-मनकी रचनाका स्थूल रूपरेखीय पक्ष

१-जागृतिकी अवस्थामें अनुभव एवं संवेदन करनेवाले मनका हिस्सा।

२-स्वप्नावस्थामें अचेतन मनसे प्रभावित मनका हिस्सा।

३-दमित वासनाओं, कुण्ठाओं एवं संस्कारोंसे भरा हुआ, गुप्त एवं चेतन स्तरपर न आनेवाला हिस्सा।

अचेतन मन—जागरणकी स्थितिमें अज्ञात, किंतु समस्त मानसिक अवस्थाओंका संचालक, प्रेरक एवं मनोविकृतियोंका जन्मदाता तथा स्वप्नमें, सहज क्रियाओंमें एवं सम्मोहनकी अवस्थामें प्रकट होनेवाला मनका सर्वोच्च भाग अर्थात् अचेतन मन समुद्रमें तैरते हुए बर्फके डूबे हुए ९/१० भागके समतुल्य है। मनका यह भाग चेतन मनद्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों, अवरोधों एवं अंकुशोंके कारण छिप-छिपकर व्यक्त होता है। यह मन अकारण किये जानेवाले कार्यों यथा—नाखून चबाना, पैर हिलाना, चाभीका गुच्छा हिलाना, तिनके तोड़ना, अकारण कोई रेखा खींचना आदिका संचालक है। फोबिया, दुश्चिन्ता, घोर नैराश्य, घोर औदासीन्य, कुण्ठा, पागलपन एवं अन्य सभी प्रकारकी मनोविकृतियोंका प्रधान कारक, संचालक तथा प्रेरक यही अचेतन मन है। यही मनका अचेतन स्तर है।

ख-मनकी संरचनाका गत्यात्मक पक्ष

इस दृष्टिसे मन अहंके स्तरत्रयमें विभाजित है—१-इदम्, २-अहम् और ३-परम अहम्।

१. **इदम्**—इदम् अचेतन मनका स्तर है। इसे धर्म, अनुशासन, मर्यादा, न्याय, नैतिकता एवं औचित्य-अनौचित्यका ज्ञान नहीं है। इसका स्वभाव है—इच्छाकी पूर्ति। इस इच्छाकी पूर्तिके लिये इसे किसी भी कानून, नियम एवं प्रतिबन्धकी परवाह एवं उसका भय नहीं है। यह विचारों एवं आचरणका निर्बन्ध, स्वच्छन्द एवं अनियन्त्रित पाशविक स्तर है। यह मन एवं चेतनाका निकृष्टतम स्तर है। क्योंकि हठपूर्ण व्यवहार एवं अपराधियोंमें इसका प्राधान्य होता है। अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, आपराधिक कृत्य, चोरी, हिंसा आदि सभी जघन्य अपराधों एवं स्वच्छन्द प्रवृत्तियोंका उत्प्रेरक या संचालक यही 'इदम्' या 'इड' है। इसका मुख्य निवास मनके अचेतन स्तरमें है। इसमें बिना किसी प्रतिबन्ध एवं व्यवधानके मात्र आनन्द या सुख

उद्दाम वासना रहती है। इसमें नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं संवैधानिक नियमोंके प्रति कोई आस्था नहीं होती। यह मनुष्यकी पाशविक अवस्थाका प्रतिनिधि है।

२. अहम्—यह मनके चेतनस्तरका स्वामी, सञ्चालक एवं नियामक है। इसका सम्बन्ध बाह्य वातावरण, समाज, धर्म, नैतिकता, मानवीय मूल्य, कानून एवं सामाजिक व्यवस्थासे जुड़ा है। अतः यह 'अहम्' भय, मर्यादा, धर्म, पाप-पुण्य, दण्ड, असम्मान, सजा आदिसे भयभीत होकर 'इदम्' पर अंकुश बनाये रखता है और व्यक्तिको नियन्त्रित, अनुशासित, मर्यादित एवं सभ्य जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य करता है। 'इदम्' के विकसित (परिष्कृत) होनेपर ही 'अहम्' का उदय होता है। 'अहम्' पूर्णतः नैतिक एवं परिशुद्ध नहीं रहता, बल्कि इसमें बाह्य विश्वके प्रतिबन्ध एवं 'इदम्' की निर्बन्ध स्वच्छन्दताके मध्य एक समझौता, समायोजन एवं सामञ्जस्य बना रहता है।

३. परम अहम्—यह 'अहम्' का भी नियामक, नियन्त्रक एवं स्वामी होता है। यह सामान्यतः 'इदम्' को कभी स्वेच्छाचारिता नहीं करने देता। यह अधिकांश-रूपसे कठोर, नियन्त्रक, निश्चल, शासक एवं अपरिवर्तनीय दृढ़ संकल्पोंवाली उच्च वैचारिक चेतना है। 'अहम्' के विकसित होनेपर ही 'परम अहम्' का आविर्भाव होता है।

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे संस्कारोंके प्रकार

(क) इदम्के संस्कार—निकृष्टतम असमाजोपयोगी, अनैतिक, अनियन्त्रित, पाशविक, मनोरोगात्मक, मनोविकृति उत्पन्न करनेवाले संस्कार।

(ख) अहम्के संस्कार—मध्यमार्गीय समाजोपयोगी एवं मिश्रित, सामञ्जस्यवादी, समायोजनपरक संस्कार।

(ग) परम अहम्के संस्कार—नैतिक, सामाजिक, विश्वहितैषी, आदर्श, नियन्त्रित, मर्यादानुशासित, सद्गुणात्मक, उच्च विचारोंसे ओतप्रोत, धर्म, नैतिकता, सामाजिकता, कानून, पाप-पुण्य, न्याय-अन्यायमें पूर्ण आस्थावाले संस्कार।

आधुनिक मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञानकी दृष्टि—मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिक भी योगियोंकी भाँति मानते हैं कि वृत्तियोंके दमन, शमन, प्रतिगमन आदिसे इच्छाएँ नष्ट नहीं होतीं; प्रत्युत वे चित्तमें संस्कार बनकर बद्धमूल हो जाती हैं।

योगशास्त्र एवं आधुनिक फ्रायडियन मनोविज्ञान—दोनों ही संस्कारोंका शोधन चाहते हैं। वे जड़को शुद्धि चाहते हैं, बीजको शुद्ध करना चाहते हैं, पेड़की टहनियों-पत्तोंको नहीं।

२. योग और संस्कार

योगशास्त्र मानता है कि चित्तकी वृत्तियोंसे संस्कारोंका निर्माण होता है। संस्कार ही बीज है। संस्काररूप बीजसे ही चित्तरूपी पौधा अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, सुरभित एवं फलान्वित होता है। समस्त चित्तवृत्तियोंका निरोध करके 'परवैराग्य' ही एकमात्र साधन है। उसके निरन्तर अभ्याससे जो संस्कार शेष रह जाते हैं, वही असम्प्रज्ञात समाधिकी अवस्था है। योगसूत्रमें कहा भी गया है—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (१।१८)। ये 'संस्कारशेष' चित्तके प्रकृतिमें लय होनेपर ही नष्ट होते हैं। वृत्तियोंके रुकनेपर भी संस्कार नहीं रुकते; बल्कि वे चित्तमें बने रहते हैं। निरोध (परवैराग्य)-के संस्कार भी चित्तके ही धर्म हैं। निर्बीजसमाधिमें व्युत्थान (एकाग्रता)-के संस्कार अभिभूत रहते हैं, किंतु निरोध (परवैराग्य)-के संस्कार आविर्भूत होते हैं। निरोधके संस्कारसे चित्तमें प्रशान्ति प्रवाहित होती है—'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (३।१०)। ऋतम्भराप्रज्ञोत्पन्न संस्कार व्युत्थानके संस्कारोंके प्रतिबन्धक होते हैं (योगसूत्र १।५०), पर वैराग्यद्वारा ऋतम्भराप्रज्ञासे उत्पन्न संस्कारोंका भी निरोध होनेपर (समस्त संस्कारोंके निरुद्ध हो जानेपर) 'निर्बीजसमाधि' होती है—'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (योगसूत्र १।५१)।

योगवासिष्ठके अनुसार चित्तके दो कारण हैं—वासना और प्राण। इनमेंसे एकके नष्ट होनेपर दूसरा नष्ट हो जाता है—'तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः।' योगवासिष्ठकार कहते हैं—

> द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने।
> एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥

जबतक मन विलीन नहीं हो जाता, तबतक वासनाका क्षय नहीं होता, अतः तबतक चित्त शान्त नहीं रह पाता—

> यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः।
> न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥
> (योगवासिष्ठ)

चित्त (मन)-का सुषुम्णामें प्रवाह होनेपर मनका उन्मूलन अवश्य हो जाता है—

'सुषुम्णावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी॥'

योगिराज ब्रह्मानन्दगिरिने 'ज्योत्स्ना' में वासनाको 'भावना' नामक संस्कार कहा है—'वासना भावनाख्यः संस्कारः।'

संस्कारके चार बीज हैं—१. संवेदन—विषयोपभोग, २. भावना—विषयोंके नष्ट होनेपर उनका बार-बार चिन्तन, ३. वासना—विषयोंके बार-बार अनुस्मरणसे चित्तमें विषयोंके दृढस्थितिरूप संस्कार तथा ४. कलना—मृत्युकालमें वासनावश भावी शरीरके लिये होनेवाली स्मृति। इनमें 'संवेदन' एवं 'भावना' (संस्कार) ही प्रधान हैं। भावना ही संस्कारोंको जन्म देती है।

विवेकप्रवाही चित्तमें भी व्युत्थानकी वृत्तियाँ पूर्ववर्ती व्युत्थानके संस्कारोंसे उठती हैं और आती-जाती रहती हैं।

'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥'

(योगसूत्र ४।२७)

अर्थात् विवेक—ज्ञानके शैथिल्यकी दशामें व्युत्थानज संस्कारोंसे तदनुरूप वृत्तियाँ भी उत्पन्न होती रहती हैं।

संस्कारोंके साक्षात्कारका फल—संस्कारोंका साक्षात्कार कर लेनेपर उसे अपने पूर्वजन्मोंकी स्मृति हो उठती है—**'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्'** (योगसूत्र ३।१८)। योगिराज जैगीषव्य एवं आवट्यने अपने अनेक जन्मोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

संस्कारोंके प्रकार—संस्कारोंके मुख्यतः दो प्रकार हैं—१. धर्माधर्मरूप, २. ज्ञानरागादिवासनारूप (नागोजिभट्ट) अर्थात् १. स्मृतिमात्रोत्पादक एवं २. जाति-आयु-विकारज (भोजवृत्ति)। ये द्विविध वासना-संस्कार स्मृत्युत्पादक एवं जन्म-आयुभोगके कारण हैं। (योगचन्द्रिका)

संस्कार वासनारूपात्मक हुआ करते हैं—**'द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः'** (भोजवृत्ति)। संस्कार पूर्वजन्म-परम्परामें सञ्चित चित्तके धर्म हैं—**'संस्काराश्चित्त-धर्माः पूर्वजन्मपरम्परासञ्चिताः सन्ति'** (योगसुधाकर)। पूर्वजन्मोंके कर्मो (धर्माधर्मो)-से (१) स्मृति एवं क्लेशोंके कारणरूप, तथा (२) कर्मविपाक होनेपर जन्म, आयु, सुख-दुःखके कारणरूप एवं धर्माधर्मात्मक द्विविध संस्कार चित्तमें (टेपमें अङ्कित गीत आदिकी भाँति) सूक्ष्मरूपमें अङ्कित रहते हैं।

ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न संस्कार—ये व्युत्थानज संस्कारोंके प्रतिबन्धक संस्कार होते हैं—**'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'** (योगसूत्र १।५०)। ऋतम्भराके संस्कारोंसे समाधिप्रज्ञा होती है। इसके संस्कार व्युत्थानज संस्कारों एवं वासनाओंको हटा देते हैं। निर्विचारसमाधिसे ऋतम्भरा प्रज्ञा और उससे 'निरोध संस्कार' जन्म लेते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञासे आविर्भूत संस्कारोंके भी निरुद्ध होनेपर 'निर्बीजसमाधि' होती है। निर्बीजसमाधिकी दशामें चित्तमें कोई वृत्ति नहीं रहती, प्रत्युत उसमें वृत्तियोंके प्रतिबन्धक 'संस्कारशेष' संस्कार रहते हैं।

चित्तवृत्ति, वासना और संस्कार—वृत्तियाँ संस्कारोंकी निमित्तकारण हैं और चित्त संस्कारोंका उपादान-कारण है। वृत्तियाँ भी क्लिष्टाक्लिष्टरूपमें विभक्त हैं। तदनुसार क्लिष्ट-वृत्तियोंसे क्लिष्ट-संस्कार और अक्लिष्ट-वृत्तियोंसे अक्लिष्ट-संस्कार बनते हैं। ऐसे चित्तमें व्युत्थानके संस्कार होते हैं। व्युत्थान एवं एकाग्रताकी समस्त वृत्तियोंके निरोध होनेपर निरोधके संस्कार बनते हैं। व्युत्थानकी वृत्तियाँ—व्युत्थानके संस्कार, समाधिकी वृत्तियाँ—समाधिके संस्कार, एकाग्रताकी वृत्तियाँ—एकाग्रताके संस्कार, परवैराग्यकी वृत्तियाँ—परवैराग्यके संस्कार—यह क्रम रहता है। परवैराग्यमें सर्ववृत्तिनिरोध, परवैराग्यके संस्कारोंका अभाव, परवैराग्यकी वृत्तियोंका भी निरोध, गुण-वैतृष्ण्य तथा सर्वसंस्कार-प्रवाहका निरोध होता है। असम्प्रज्ञात समाधिमें परवैराग्यकी वृत्तियोंका भी निरोध होनेपर परवैराग्यके संस्कार तो शेष रह ही जाते हैं, किंतु चित्तका प्रकृतिमें लय हो जाने एवं परवैराग्यके संस्कारोंका भी लय हो जानेपर उत्पन्न अवस्था ही कैवल्य है।

योग, समाधि एवं कैवल्यमें भेद—योग एवं समाधि तो चित्तके धर्म हैं। व्यासजी कहते हैं—**'योगः समाधिः। स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः॥'**

योग एवं समाधिका लक्ष्य है—कैवल्य। कैवल्य चितिकी प्रतिष्ठा, स्वरूपावस्थान एवं पुरुषार्थशून्य गुणोंका प्रतिप्रसव है—**'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति'** (योगसूत्र ४।३४)। ध्यातव्य बिन्दु यह है कि सम्प्रज्ञात समाधि, जिसमें चित्तकी जो एकाग्रावस्था रहती है (निरोधमुखी), वह वृत्तिके साथ रहती है वृत्त्यतीत नहीं है, किंतु 'असम्प्रज्ञातसमाधि'में अक्लिष्ट वृत्तियोंको ग्रहण करके क्लिष्टवृत्तियोंका निरोध करना होता है और फिर परवैराग्यको ग्रहण करके अक्लिष्ट

वृत्तियोंका भी निरोध करना होता है। योग एवं समाधि (सम्प्र० समाधि) सवृत्तिक हैं। असम्प्रज्ञातसमाधि सवृत्तिक न रहकर भी संस्कारोपमित है, किंतु कैवल्य १-चित्त, २-चित्तकी क्लिष्टाक्लिष्टवृत्तियों एवं ३-संस्कारों—तीनोंमें अतीत है। कैवल्य संस्कारोंका श्मशान है। यह संस्कारातीत, चित्तातीत एवं प्रकृत्यातीत अवस्था है। पुरुषार्थसे शून्य गुणोंका अपने कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाना ही 'कैवल्य' है। गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये है। भोगापवर्ग ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ-सिद्धिके लिये ही 'गुण' शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदिमें परिणत होते हैं। जिस पुरुषका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया, उसके प्रति इन गुणोंका कोई कार्य शेष नहीं रहता, अतः वे अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। गुणोंका कारणमें प्रतिप्रसव या चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है—'कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (योगसूत्र ४।३४)। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगसूत्र १।३)।

योग और सांख्यके कैवल्यमें प्रकृतिका लय नहीं है किंतु शैवों, शाक्तों, वेदान्तियों एवं तान्त्रिकोंकी मुक्तिमें प्रकृतिका भी लय आवश्यक है—'प्रथमं प्रकृतिं मनसा विभाव्य तामपि स्वात्मनि स्वात्मानं तस्यां मिथो विलाप्य तत एकोऽवशिष्यते।' 'मुक्तः शुद्धः पूर्णः प्रत्यगात्मैव भवति प्रत्यगात्मैव भवति।' (शक्तिसूत्र, अगस्त्य)।

सारांश यह है कि जबतक चित्त है; तबतक संस्कारोंको नष्ट नहीं किया जा सकता। भले ही चित्तकी समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायँ, किंतु तब भी संस्कारोंकी सत्ता बनी ही रहती है। चित्तवृत्तियाँ संस्कारोंकी निमित्तकारण हैं, किंतु उनका उपादानकारण चित्त है। अतः निमित्तकारणके न रहनेपर भी चित्तरूप उपादानकारणके रहते संस्कार बने ही रहते हैं।

३. धार्मिक संस्कार

भारतीय संस्कृतिमें गर्भाधानादि १६ संस्कार प्राचीन-कालसे स्वीकृत रहे हैं, किंतु अन्य संस्कारोंका भी उल्लेख मिलता है—१. सप्त पाकयज्ञसंस्था (हुत, प्रहुत, आहुत, शूलगव, बलिहरण, प्रत्यवरोहण तथा अष्टकाहोम), २. सप्त हविर्यज्ञसंस्था (अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयणेष्टि, निरूढपशुबन्ध तथा सौत्रामणी), ३. सप्त सोमयज्ञ-संस्था (अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम), वानप्रस्थ, संन्यास तथा शौच, संतोष, तप एवं स्वाध्याय तथा गर्भाधानादि १६ संस्कार।

धार्मिक संस्कार बाह्य एवं स्थूल संस्कार हैं। यौगिक संस्कार सूक्ष्म एवं शाश्वत संस्कार हैं, ये सार्वभौम संस्कार हैं। अतः इस लेखमें इन्हीं सूक्ष्म संस्कारोंपर प्रकाश डाला गया है।

~~~ ० ~~~

'संस्कारके मोती'

(श्रीरामनिवासजी मिश्र)

शक्तिमान सर्वेश्वरकी जब जनपर करुणा होती।
बरसा करते घर-आँगनमें सुसंस्कारके मोती॥
पुण्य पूर्वजोंका प्राणोंमें दिव्य संस्कार भर देता।
कलियुगमें भी आ विराजते सतयुग द्वापर त्रेता॥
संस्कारसे शक्ति प्राप्तकर मानव उन्नत प्राणी है।
देव-दनुज सब रहे लालायित धरा-धाम कल्याणी है॥
ध्रुव प्रह्लाद और अर्जुन-सुतकी कथा प्रकट करती है।
माताके गर्भस्थलमें ही प्रेरक शिक्षा मिलती है॥
संस्कारसे दीक्षित होकर गौतम-गांधी आये थे।
गाँव, समाज, देशसेवाका अनुपम पाठ पढ़ाये थे॥
सुसंस्कारके प्रतिफलमें दानव भी मानव बन जाते हैं।
वैर, द्वेष ईर्ष्यादि भूलकर हृदयहार हो जाते हैं॥
'निश्चय' विनय यही है प्रभुसे संस्कार सब पा जायें।
ऊँच-नीच कटुता हम भूलें प्रेमभाव ही अपनायें॥

~~~ ० ~~~

भारतीय संस्कृति और संस्कार

(श्रीओमप्रकाशजी सोनी)

'संस्कृति' जीवन जीनेकी एक पद्धतिका नाम है। संस्कृति और सभ्यता दो अलग-अलग शब्द हैं। सभ्यता वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान आदि पक्षोंतक ही सीमित है, जबकि संस्कृति चिन्तनसे लेकर जीवन-व्यवहार एवं मानवीय संवेदनासे लेकर समष्टिगत एकता-जैसे पक्षोंको स्पर्श करती है। सभ्यता वह है जो हमारे पास है, संस्कृति वह है जो हम स्वयं हैं।

भारतीय संस्कृतिमें श्रेष्ठताका मापदण्ड है—'तुम क्या हो?' जबकि पश्चिमी संस्कृतिमें श्रेष्ठताका मापदण्ड है—'तुम्हारे पास क्या है?' भारतीय संस्कृति सुखमय जीवन जीनेकी कला सिखाती है। यह मानव-जीवनको उत्कृष्ट मूल्योंके प्रति समर्पित करना सिखाती है। जीवन तो पशु भी काट लेते हैं, शरीरको नियन्त्रित कर लेते हैं; पर मनको नियन्त्रित करना, उसे विचार और श्रद्धाद्वारा संचालित करना तथा मानवताके उच्च आदर्शकी ओर निर्बाध गतिसे अग्रसर रहनेके लिये प्रेरित करना—ये भारतीय संस्कृतिके कुछ विशिष्ट गुण हैं।

पाश्चात्य उपभोग-प्रधान सभ्यता आज जहाँ अर्थपर जोर देती है, वहाँ कामरूपी धुरीपर ही उसका समग्र चिन्तन चलता है। धर्म अर्थात् नीतिमत्ता, संवेदना, वर्जनाएँ, जीवनको दिशा देनेवाला तत्त्वज्ञान वहाँ न होनेसे भव-बन्धनोंसे जकड़ा मानव भोगजन्य कष्टोंको पाता हुआ दुःखी नजर आता है। आधुनिक सभ्यताएँ नैतिक बन्धनोंसे परे धर्मरहित अर्थ एवं कामकी प्राप्ति—उपार्जनहेतु प्रेरित करती हैं—परिणाम सामने है।

स्वामी विवेकानन्दने कहा था—पाश्चात्य मनोविज्ञानने हमें पशुप्रवृत्तियोंका गुलाम बनाकर स्वच्छन्द जीवन जीने, अनैतिक आचरण करनेके लिये खुली छूट दे दी, पर अंकुश लगाने एवं जीवनको सही ढंगसे जीनेका शिक्षण भारतीय संस्कृतिसे ही मिलता है।

श्रीअरविन्दने मनुष्यको दो-तिहाई पशु-प्रवृत्तियोंको लेकर आया जीवधारी माना है एवं उसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह मानवका सौभाग्य है कि यह कर्मयोनिमें आया है, ताकि कर्म करके वह अपनी विगत पशु-प्रवृत्तियोंको मिटा सके।

मानवजातिकी सुख-शान्ति एवं प्रगतिकी सर्वोपरि आवश्यकताका महत्त्व हमारे तत्त्वदर्शी पूर्वज, ऋषि-महर्षि भली प्रकार समझते थे। इसके लिये उन्होंने निःस्वार्थ भावसे प्रबल प्रयत्न भी किये, अपने जीवनको इन्हीं उपायोंकी खोजमें समर्पित कर दिया। हमारे सारे शास्त्र इसी प्रयोजनकी पूर्तिके लिये प्रकट हुए हैं। योगाभ्यास, उपासना, तपश्चर्या, इन्द्रिय-निग्रह, संयम, सदाचार, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा, देवदर्शन, दान-पुण्य, कथा-प्रवचन, यज्ञ-अनुष्ठान आदिका जितना भी कलेवर हमें दृष्टिगोचर होता है, उसके मूलमें एक ही प्रयोजन संनिहित है कि व्यक्ति अधिकाधिक निर्मल, उदार, सद्गुणी, संयमी एवं परमार्थपरायण बनता जाय। ये प्रयोजन हमारी चेतनाको उस स्तरतक विकसित करनेका प्रयत्न करते हैं, जिसे अपनानेपर जीवन अधिक पवित्र, उत्फुल्ल एवं लोकोपयोगी बन सके।

मानवकल्याणकी महान् परम्पराओंमें जितने भी आयोजन एवं अनुष्ठान हैं, उनमें सबसे बड़ी परम्परा संस्कारों एवं पर्वोंकी है। संस्कारों, धर्मानुष्ठानोंद्वारा व्यक्ति एवं परिवारको तथा पर्व-त्योहारोंके माध्यमसे समाजको प्रशिक्षित किया जाता है। इन पुण्य परम्पराओंपर जितनी ही बारीकीसे हम ध्यान देते हैं, उतना ही अधिक उसका महत्त्व एवं उपयोग विदित होता है और ज्ञात होता है कि इन संस्कारोंका उद्देश्य गृहस्थ जीवन, पारिवारिक जीवन और सामाजिक जीवनको कल्याणकारी मार्गपर प्रशिक्षित करना है।

बालकके गर्भमें प्रवेशसे लेकर जीवन-यापनकी विविध परिस्थितियोंमेंसे गुजरते हुए शरीर छोड़नेतक विविध अवसरोंपर 'संस्कारों' का आयोजन करनेका हमारे धर्मशास्त्रोंमें विधान है। इन विधानोंसे व्यक्तिकी अन्तश्चेतनापर एक विशेष प्रभाव पड़ता है और उसका सुसंस्कारी बनना सरल हो जाता है। संस्कारसम्बन्धी विशिष्ट प्रयोजनोंके लिये विशिष्ट शक्तिसम्पन्न वेदमन्त्रोंके पाठका विधान है, जिनमें अपनी विशिष्ट क्षमता होती है। उन मन्त्रोंकी उपासना एवं

वैज्ञानिक पद्धतिसे हुई है कि विधिवत् सम्वर-उच्चारण किये जानेपर वे आकाशतत्त्वमें एक विशिष्ट विद्युत्-प्रवाह तरङ्गित करते हैं। उनका जीवनपर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा उस मन्त्रका उद्देश्य होता है। मन्त्रोंकी शक्ति प्रसिद्ध है। वेदमन्त्रोंका किस प्रयोजनके लिये और किस प्रकार प्रयोग किया जाय, इसका निर्धारण गृह्यसूत्रों एवं कर्मकाण्ड-प्रयोजनके लिये विनिर्मित ग्रन्थोंमें हुआ है। याज्ञिक विधानके साथ-साथ मन्त्रोंकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। जिस प्रकार बिजली, भाप, अणु, रसायन, पदार्थ-विद्या आदिका अपना विज्ञान है, उसी प्रकार मन्त्रशास्त्र एवं यज्ञादि कर्मकाण्डोंका भी अपना विज्ञान है। यदि कोई उसका प्रयोग ठीक प्रकारसे कर सके तो मनुष्यके ऊपर असाधारण प्रभाव पड़ सकता है।

संस्कारोंकी प्रक्रियाको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक उसका वैज्ञानिक स्वरूप, जो मन्त्रोच्चारण, यज्ञानुष्ठान आदि कर्मकाण्डके रूपमें प्रयुक्त होता है तथा दूसरा जो मन्त्रोंकी व्याख्या तथा विधि-विधानोंके रहस्योद्घाटनके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। संस्कारोंमें प्रयुक्त होनेवाली कर्मकाण्ड-प्रक्रियाका प्रत्येक अङ्ग अपने-आपमें रहस्यपूर्ण है। उसमें बड़ा महत्त्व एवं मर्म छिपा पड़ा है। आज सुसंस्कृत संस्कृतिकी आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है। इटलीमें मेंडले नामक विद्वान्ने संस्कारशास्त्रपर आधारित शास्त्रकी नींव डाली, जिसे 'यूजेनिक्स' कहा गया। इंग्लैण्डके विद्वान् 'सर फ्रानिक्स गाल्टन' ने अपनी सम्पत्तिका बड़ा भाग लंदन विश्वविद्यालयको इस क्षेत्रमें शोधके लिये दिया। इस क्षेत्रमें शोध कर रहे विद्वानोंका कहना है कि संततिको सुसंस्कारी एवं शालीन बनानेमें प्रत्यक्ष उपदेशों, प्रशिक्षणोंका कम, धार्मिक संस्कारोंका अधिक योगदान होता है।

मनोवैज्ञानिकोंका ध्यान धार्मिक संस्कारोंकी ओर आकर्षित हुआ है। 'यूजेनिक्स' के शोधमें लगे वैज्ञानिकोंने विश्वभरमें प्रचलित सभी धर्म-सम्प्रदायोंमें किये जानेवाले संस्कारोंका गहन अध्ययन किया। हिन्दूधर्मके संस्कारोंकी पृष्ठभूमि बहुत सूक्ष्मरूपसे बनी है, इसमें व्यक्तित्वके समग्र विकासकी पूरी-पूरी सम्भावना है।

संस्कार मात्र कर्मकाण्ड नहीं, आत्मनिर्माणके सशक्त माध्यम हैं। इनका मानवीय चेतनासे गहरा सम्बन्ध है। इनके माध्यमसे शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक परिष्कारकी प्रक्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। संस्कारोंके अनुष्ठानसे व्यक्तिमें दैवी गुणोंका आविर्भाव हो जाता है।

संस्कारोंका प्रारम्भ अभ्याससे होता है। संस्कार डालना पड़ता है; क्योंकि दोषोंका परिशोधन प्रयासपूर्वक ही होता है। ये 'संस्कार' जितनी छोटी आयुमें या जितने जल्दी किये जा सकें, उतने ही सफल होते हैं। संस्कारोंका कार्य एवं उद्देश्य गुणोंका अधिकतम विकास करना है। दोषोंका परिष्कार या परिहार करनेकी क्षमता मानव-जीवनमें ही है; क्योंकि मनुष्योंमें गुण-दोषोंको परखनेकी बुद्धि होती है। संस्कारोंका सर्वाधिक महत्त्व चित्त-शुद्धिमें है। मनकी मलिनता ही सबसे अधिक दुःखदायी है। कायाकी मलिनता तो साबुन-पानीसे धोयी जा सकती है, पर मन तो न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है। इन्द्रियोंका प्रेरक भी मन ही है। इसकी शुद्धि सुसंस्कारोंसे ही सम्भव है।

प्रसिद्ध लोकोक्ति है—'धन चला गया, कुछ नहीं गया। स्वास्थ्य चला गया, कुछ चला गया। चरित्र चला गया तो समझो सब कुछ चला गया।' चरित्र-निर्माणका मूल आधार संस्कार ही हैं। मनोविज्ञानी फ्रांसिस मेरिलिके ग्रन्थ 'द सीक्रेट सेल्फ' के अनुसार जिस प्रकारके संस्कारोंका संचय हम करते हैं, उसीके अनुरूप चरित्र बनता-ढलता चला जाता है।

आज सब ओर भौतिकवादकी ध्वनि सुनायी दे रही है। पाश्चात्य दृष्टिकोणको अपनाकर हमने अपने धार्मिक विचारोंको खो दिया है। धर्म, रीति-रिवाज, व्रत, त्योहार, संस्कार, साधना, यज्ञ आदिपर हमारी आस्था कम हो रही है, हम इसका उपहास करते हैं। यही कारण है कि हम दुःखी रहते हैं। हमारे धर्मकी प्रत्येक प्रक्रियामें अवश्य कुछ रहस्य छिपा रहता है। यह अन्धविश्वासपर आधारित नहीं है। यह प्रक्रिया बुद्धि और तर्ककी कसौटीपर खरी उतरती है। हम इसे बाह्य दृष्टिसे देखते हैं, गहराईतक पहुँचनेका प्रयत्न नहीं करते, इसलिये नासमझीके कारण ही इसकी उपेक्षा करते हैं। अब समय आ गया है कि हम इसको

समझें और पुनः इसे जीवन-विकासके लिये काममें लायें। भारतीय धर्मके अनुसार सोलह संस्कार मुख्य हैं, इन्हें 'षोडश संस्कार' भी कहते हैं, ये आज भी उपयोगी हैं। उदाहरणके लिये सीमन्त-संस्कारके समय उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रोंमें गर्भवतीके रहन-सहन, आहार-विहारसे सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण मौजूद हैं। इसी प्रकार अन्नप्राशनमें भोजनकी, विवाहमें दाम्पत्य-जीवनकी आवश्यक शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। भारतीय संस्कृतिके आदिप्रवक्ता भगवान् मनुका कथन है कि संस्कार शरीरको शुद्ध करके उसे आत्माके निवासके लिये उपयुक्त बनाते हैं और मीमांसाशास्त्रका मत है कि संस्कारके द्वारा मनुष्य किसी उद्देश्यविशेषके उपयुक्त बनता है। [संस्कार-सौरभ]

संस्कारतत्त्व-मीमांसा

(एकराट् पं० श्रीश्यामजीतजी दुबे 'आथर्वण')

आचार-विचारकी प्रेरणा देनेवाले, यथोचित मार्गदर्शन करनेवाले तथा कर्म-सम्पादनकी मर्यादा स्थिर करनेवाले सूक्ष्मसूत्र; जिनकी अमिट छाप होती है, संस्कार कहे जाते हैं। संस्कार प्राकृतिक एवं क्रिया-सापेक्ष होते हैं। जीव जन्म-जन्मान्तरोंसे इन्हें वहन करता आया है। संस्कारोंसे भूतका ज्ञान होता है, वर्तमान घटित होता है तथा भविष्यका सम्पूर्ण दृश्य निर्मित होता है। संस्कार स्थायी चिह्न हैं। कर्म-संस्कार जो कि क्रियाके वास्तविक कारक हाथ (करतल)-में होते हैं। संस्कार दो हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म-संस्कार जीवके सूक्ष्म शरीरमें होते हैं। स्थूल-संस्कार स्थूल शरीरमें ही करतलगत होते हैं। स्थूलतर संस्कारके प्रतीक शरीरके नवद्वार हैं। स्थूलतम संस्कार सम्पूर्ण शारीरिक परिमाप एवं परिमाणमें संहित होते हैं। स्थूल संस्कारोंसे सूक्ष्म संस्कारोंका ज्ञान होता है। बिना स्थूलके सूक्ष्मको जानना शक्य नहीं है। करतलके स्थूल संस्कारोंका मूल सूक्ष्म शरीरमें समाश्रित होता है। सूक्ष्म संस्कारोंसे ही जीवके क्रिया-कलापोंका निदर्शन होता है। करतलकी बनावट-विस्तार एवं भारीपनके अतिरिक्त उसमें संचित रेखाएँ सूक्ष्म संस्कारोंकी अभिव्यक्ति हैं। करतलगत रेखा-जाल जीवके आद्यन्त जीवनका भव्य मानचित्र है। जैसे भवन-निर्माणके पूर्व उसका एक मानचित्र तैयार किया जाता है और तदनुरूप भवन बनता है, वैसे ही जीवके जीवन-क्षेत्रमें पदार्पण करनेके पूर्व उसका मानचित्र—भाग्य, उसकी हथेलीमें अङ्कित हो जाता है। जीवका जीवन इस रेखाचित्रका प्रतिफल है। *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ'* के अनुसार सब कुछ विधाताके हाथ (अधिकार)-में है। ये नियम हथेलीमें रेखाकार-रूपमें दिखते हैं। हथेलीमें विश्व प्रतिष्ठित है—रेखाएँ नदियाँ हैं, ग्रहोंके उभार स्थान पर्वत हैं, चारों अङ्गुलियोंके छोर देवतीर्थ, मणिबन्ध ब्रह्मतीर्थ, अङ्गुष्ठ एवं तर्जनीके मध्य पितृतीर्थ, कनिष्ठिकाके नीचे करपार्श्वमें कायतीर्थ तथा करमध्यमें अग्नितीर्थ है, चारों अङ्गुलियोंके १२ पोर तथा अँगूठेके २ पोर—कुल मिलाकर १४ पोर ही १४ भुवन हैं, करतलमध्यका अवतल भाग समुद्र है। हथेलीमें चारों दिशाएँ हैं—अङ्गुलियोंकी ओर पूर्वदिशा, मणिबन्धकी ओर पश्चिमदिशा, अँगूठेकी ओर उत्तरदिशा तथा नीचे दक्ष (बल)-भागकी ओर दक्षिणदिशा। हथेलीमें द्वादश राशियाँ हैं—अङ्गुलियोंके ४×३=१२ पोर मेषादि-मीनपर्यन्त द्वादश राशियाँ हैं। करतलमें नवग्रह स्थित हैं—कनिष्ठिकाके मूलमें बुध, अनामिकाके मूलमें सूर्य, मध्यमाके मूलमें शनि, तर्जनीके मूलमें बृहस्पति, अङ्गुष्ठके मूलमें शुक्र तथा दक्षभागमें बुधके नीचे मंगल एवं मंगलके नीचे चन्द्रमा प्रतिष्ठित हैं। मणिबन्धपर्यन्त अग्नितीर्थमें राहु और पितृतीर्थमें केतु हैं। कायतीर्थको प्रजापतितीर्थ कहा गया है।

सांख्य-दृष्टिसे पञ्चधप्रदेश पञ्चतत्त्वोंके स्थान हैं—बुध, शनि, सूर्य, गुरु एवं शुक्रके नग्र क्रमशः पृथ्वी, वायु, अग्नि, आकाश एवं जलके प्रतिदर्श हैं। बुधके नीचेसे बृहस्पतितक जानेवाली हृदयरेखा—मन है, बृहस्पतिमूलसे दक्ष मध्यके छोरकी ओर जानेवाली मस्तिष्क रेखा—बुद्धि है तथा गुरुमूलसे शुक्रको घेरते हुए मणिबन्धतक जानेवाली

वैज्ञानिक पद्धतिसे हुई है कि विधिवत् सस्वर उच्चारण किये जानेपर वे आकाशतत्त्वमें एक विशिष्ट विद्युत्-प्रवाह तरङ्गित करते हैं। उनका जीवनपर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा उस मन्त्रका उद्देश्य होता है। मन्त्रोंकी शक्ति प्रसिद्ध है। वेदमन्त्रोंका किस प्रयोजनके लिये और किस प्रकार प्रयोग किया जाय, इसका निर्धारण गृह्यसूत्रों एवं कर्मकाण्ड-प्रयोजनके लिये विनिर्मित ग्रन्थोंमें हुआ है। याज्ञिक विधानके साथ-साथ मन्त्रोंकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। जिस प्रकार बिजली, भाप, अणु, रसायन, पदार्थ-विद्या आदिका अपना विज्ञान है, उसी प्रकार मन्त्रशास्त्र एवं यज्ञादि कर्मकाण्डोंका भी अपना विज्ञान है। यदि कोई उसका प्रयोग ठीक प्रकारसे कर सके तो मनुष्यके ऊपर असाधारण प्रभाव पड़ सकता है।

संस्कारोंकी प्रक्रियाको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक उसका वैज्ञानिक स्वरूप, जो मन्त्रोच्चारण, यज्ञानुष्ठान आदि कर्मकाण्डोंके रूपमें प्रयुक्त होता है तथा दूसरा जो मन्त्रोंकी व्याख्या तथा विधि-विधानोंके रहस्योद्घाटनके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। संस्कारोंमें प्रयुक्त होनेवाली कर्मकाण्ड-प्रक्रियाका प्रत्येक अङ्ग अपने-आपमें रहस्यपूर्ण है। उसमें बड़ा महत्त्व एवं मर्म छिपा पड़ा है। आज सुसंस्कृत संस्कृतिकी आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है। इटलीमें मेंडले नामक विद्वान्ने संस्कारशास्त्रपर आधारित शास्त्रकी नींव डाली, जिसे 'यूजेनिक्स' कहा गया। इंग्लैण्डके विद्वान् 'सर फ्रानिक्स गाल्टन' ने अपनी सम्पत्तिका बड़ा भाग लंदन विश्वविद्यालयको इस क्षेत्रमें शोधके लिये दिया। इस क्षेत्रमें शोध कर रहे विद्वानोंका कहना है कि संततिको सुसंस्कारी एवं शालीन बनानेमें प्रत्यक्ष उपदेशों, प्रशिक्षणोंका कम, धार्मिक संस्कारोंका अधिक योगदान होता है।

मनोवैज्ञानिकोंका ध्यान धार्मिक संस्कारोंकी ओर आकर्षित हुआ है। 'यूजेनिक्स' के शोधमें लगे वैज्ञानिकोंने विश्वभरमें प्रचलित सभी धर्म-सम्प्रदायोंमें किये जानेवाले संस्कारोंका गहन अध्ययन किया। हिन्दूधर्मके संस्कारोंकी पृष्ठभूमि बहुत सूझबूझसे बनी है, इसमें व्यक्तित्वके समग्र विकासकी पूरी-पूरी सम्भावना है।

संस्कार मात्र कर्मकाण्ड नहीं, आत्मनिर्माणके सशक्त माध्यम हैं। इनका मानवीय चेतनासे गहरा सम्बन्ध है। इनके माध्यमसे शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक परिष्कारकी प्रक्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। संस्कारोंके अनुष्ठानसे व्यक्तिमें दैवी गुणोंका आविर्भाव हो जाता है।

संस्कारोंका प्रारम्भ अभ्याससे होता है। संस्कार डालना पड़ता है; क्योंकि दोषोंका परिशोधन प्रयासपूर्वक ही होता है। ये 'संस्कार' जितनी छोटी आयुमें या जितने जल्दी किये जा सकें, उतने ही सफल होते हैं। संस्कारोंका कार्य एवं उद्देश्य गुणोंका अधिकतम विकास करना है। दोषोंका परिष्कार या परिहार करनेकी क्षमता मानव-जीवनमें ही है; क्योंकि मनुष्योंमें गुण-दोषोंको परखनेकी बुद्धि होती है। संस्कारोंका सर्वाधिक महत्त्व चित्त-शुद्धिमें है। मनकी मलिनता ही सबसे अधिक दुःखदायी है। कायाकी मलिनता तो साबुन-पानीसे धोयी जा सकती है, पर मन तो न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है। इन्द्रियोंका प्रेरक भी मन ही है। इसकी शुद्धि सुसंस्कारोंसे ही सम्भव है।

प्रसिद्ध लोकोक्ति है—'धन चला गया, कुछ नहीं गया। स्वास्थ्य चला गया, कुछ चला गया। चरित्र चला गया तो समझो सब कुछ चला गया।' चरित्र-निर्माणका मूल आधार संस्कार ही हैं। मनोविज्ञानी फ्रांसिस मेरिलिके ग्रन्थ 'द सीक्रेट सेल्फ' के अनुसार जिस प्रकारके संस्कारोंका संचय हम करते हैं, उसीके अनुरूप चरित्र बनता-ढलता चला जाता है।

आज सब ओर भौतिकवादकी ध्वनि सुनायी दे रही है। पाश्चात्य दृष्टिकोणको अपनाकर हमने अपने धार्मिक विचारोंको खो दिया है। धर्म, रीति-रिवाज, व्रत, त्योहार, संस्कार, साधना, यज्ञ आदिपर हमारी आस्था कम हो रही है, हम इसका उपहास करते हैं। यही कारण है कि हम दुःखी रहते हैं। हमारे धर्मकी प्रत्येक प्रक्रियामें अवश्य कुछ रहस्य छिपा रहता है। यह अन्धविश्वासपर आधारित नहीं है। यह प्रक्रिया बुद्धि और तर्ककी कसौटीपर खरी उतरती है। हम इसे बाह्य दृष्टिसे देखते हैं, गहराईतक पहुँचनेका प्रयत्न नहीं करते, इसलिये नासमझीके कारण ही इसकी उपेक्षा करते हैं। अब समय आ गया है कि हम इसको

समझें और पुनः इसे जीवन-विकासके लिये काममें लायें। भारतीय धर्मके अनुसार सोलह संस्कार मुख्य हैं, इन्हें 'षोडश संस्कार' भी कहते हैं, ये आज भी उपयोगी हैं। उदाहरणके लिये सीमन्त-संस्कारके समय उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रोंमें गर्भवतीके रहन-सहन, आहार-विहारसे सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण मौजूद हैं। इसी प्रकार अन्नप्राशनमें भोजनकी, विवाहमें दाम्पत्य-जीवनकी आवश्यक शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। भारतीय संस्कृतिके आदिप्रवक्ता भगवान् मनुका कथन है कि संस्कार शरीरको शुद्ध करके उसे आत्माके निवासके लिये उपयुक्त बनाते हैं और मीमांसाशास्त्रका मत है कि संस्कारके द्वारा मनुष्य किसी उद्देश्यविशेषके उपयुक्त बनता है। [संस्कार-सौरभ]

~~o~~

संस्कारतत्त्व-मीमांसा

(एकराट् पं० श्रीश्यामजीतजी दुबे 'आथर्वण')

आचार-विचारकी प्रेरणा देनेवाले, यथोचित मार्गदर्शन करनेवाले तथा कर्म-सम्पादनकी मर्यादा स्थिर करनेवाले सूक्ष्मसूत्र; जिनकी अमिट छाप होती है, संस्कार कहे जाते हैं। संस्कार प्राकृतिक एवं क्रिया-सापेक्ष होते हैं। जीव जन्म-जन्मान्तरोंसे इन्हें वहन करता आया है। संस्कारोंसे भूतका ज्ञान होता है, वर्तमान घटित होता है तथा भविष्यका सम्पूर्ण दृश्य निर्मित होता है। संस्कार स्थायी चिह्न है। कर्म-संस्कार जो कि क्रियाके वास्तविक कारक हाथ (करतल)-में होते हैं। संस्कार दो हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म-संस्कार जीवके सूक्ष्म शरीरमें होते हैं। स्थूल-संस्कार स्थूल शरीरमें ही करतलगत होते हैं। स्थूलतर संस्कारके प्रतीक शरीरके नवद्वार हैं। स्थूलतम संस्कार सम्पूर्ण शारीरिक परिमाप एवं परिमाणमें संहित होते हैं। स्थूल संस्कारोंसे सूक्ष्म संस्कारोंका ज्ञान होता है। बिना स्थूलके सूक्ष्मको जानना शक्य नहीं है। करतलके स्थूल संस्कारोंका मूल सूक्ष्म शरीरमें समाश्रित होता है। सूक्ष्म संस्कारोंसे ही जीवके क्रिया-कलापोंका निदर्शन होता है। करतलकी बनावट-विस्तार एवं भारीपनके अतिरिक्त उसमें संचित रेखाएँ सूक्ष्म संस्कारोंकी अभिव्यक्ति हैं। करतलगत रेखा-जाल जीवके आद्यन्त जीवनका भव्य मानचित्र है। जैसे भवन-निर्माणके पूर्व उसका एक मानचित्र तैयार किया जाता है और तदनुरूप भवन बनता है, वैसे ही जीवके जीवन-क्षेत्रमें पदार्पण करनेके पूर्व उसका मानचित्र—भाग्य, उसकी हथेलीमें अङ्कित हो जाता है। जीवका जीवन इस रेखाचित्रका प्रतिफल है। *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ'* के अनुसार सब कुछ विधाताके हाथ (अधिकार)-में है। ये नियम हथेलीमें रेखाकार-रूपमें दिखते हैं। हथेलीमें विश्व प्रतिष्ठित है—रेखाएँ नदियाँ हैं, ग्रहोंके उभार स्थान पर्वत हैं, चारों अङ्गुलियोंके छोर देवतीर्थ, मणिबन्ध ब्रह्मतीर्थ, अङ्गुष्ठ एवं तर्जनीके मध्य पितृतीर्थ, कनिष्ठिकाके नीचे करपार्श्वमें कायतीर्थ तथा करमध्यमें अग्नितीर्थ है, चारों अङ्गुलियोंके १२ पोर तथा अँगूठेके २ पोर—कुल मिलाकर १४ पोर ही १४ भुवन हैं, करतलमध्यका अवतल भाग समुद्र है। हथेलीमें चारों दिशाएँ हैं—अङ्गुलियोंकी ओर पूर्वदिशा, मणिबन्धकी ओर पश्चिमदिशा, अँगूठेकी ओर उत्तरदिशा तथा नीचे दक्ष (बल)-भागकी ओर दक्षिणदिशा। हथेलीमें द्वादश राशियाँ हैं—अङ्गुलियोंके ४×३=१२ पोर मेषादि-मीनपर्यन्त द्वादश राशियाँ हैं। करतलमें नवग्रह स्थित हैं—कनिष्ठिकाके मूलमें बुध, अनामिकाके मूलमें सूर्य, मध्यमाके मूलमें शनि, तर्जनीके मूलमें बृहस्पति, अङ्गुष्ठके मूलमें शुक्र तथा दक्षभागमें बुधके नीचे मंगल एवं मंगलके नीचे चन्द्रमा प्रतिष्ठित हैं। मणिबन्धपर्यन्त अग्नितीर्थमें राहु और पितृतीर्थमें केतु हैं। कायतीर्थको प्रजापतितीर्थ कहा गया है।

सांख्य-दृष्टिसे पञ्चग्रहप्रदेश पञ्चतत्त्वोंके स्थान हैं—बुध, शनि, सूर्य, गुरु एवं शुक्रके नग्र क्रमशः पृथ्वी, वायु, अग्नि, आकाश एवं जलके प्रतिदर्श हैं। बुधके नीचेसे बृहस्पतितक जानेवाली हृदयरेखा—मन है, बृहस्पतिमूलसे दक्ष मध्यके छोरकी ओर जानेवाली मस्तिष्क रेखा—बुद्धि है तथा गुरुमूलसे शुक्रको घेरते हुए मणिबन्धतक जानेवाली

जीवन (लग्न)-रेखा—अहंकार है। अष्टधा प्रकृति—आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि, मन, बुद्धि (महत्तत्त्व) एवं अहंकारका निवास हथेलीमें है। तात्त्विक दृष्टिसे अँगूठा पुरुष (परम तत्त्व) है। वाक्य है—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' (कठोपनिषद् २।१।१२, १३)। हथेलीके अन्य अवयव प्रकृति हैं। पुरुष-तत्त्व शासक, बली, नियन्ता, पोषक, रक्षक तथा विष्णुरूप है। तात्पर्य यह कि अँगूठा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

कर्म-संस्कारोंसे खचित व्यक्तिका हाथ जीवन-दर्पण है, अखिल विश्व है, ब्रह्माण्ड है, भूमण्डल है, तत्त्वदर्शन है। इसलिये इसे भगवान् कहते हैं। वेदवचन है—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥

(अथर्ववेद ४।१३।६)

हथेलीका वह भाग, जो रोमरहित, सुन्दर एवं चमकयुक्त है, हस्त (हाथ या कर) कहा जाता है। हाथमें विश्व है, भगवान्‌में विश्व है, इसलिये हाथ ही भगवान् है। इससे हाथका महत्त्व प्रतिपादित होता है। मनुष्यके हाथको भगवान् क्यों कहा गया है? हाथ एक होकर अनेक भागो (अवयवों)-वाला है। हाथमें दीप्ति एवं गति (क्रियाशीलता) है। हाथमें कर्म-संस्कार रेखाचित्रके रूपमें हैं। इसलिये ये कर्म-संस्कार भगवान्‌में हैं। भगवान् अविनाशी हैं। फलतः ये कर्म-संस्कार अविनाशी हैं। हथेलीमें बड़ी और स्पष्ट रेखाओंके अतिरिक्त अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओंका एक सुव्यवस्थित जाल होता है। हाथका मांस कट जाय, घाव हो जाय तो कालान्तरमें घाव सूखने, भरनेपर वे रेखाएँ पुनः वैसे ही पूर्ववत् बन जाती हैं। यह संस्कारोंके अविनाशी होनेका प्रमाण है। व्यक्तिके पुरुषार्थसे क्षुद्रवत् कुछ रेखाएँ उभरती एवं अस्त होती रहती हैं। यह संस्कारोंकी ईषत् परिवर्तनशीलताका साक्ष्य है, जिससे सूचना मिलती है कि वे संस्कार हैं। रेखाएँ भूत एवं भविष्यकी सूचक हैं। इसलिये ये संस्कार हैं। स्थायी एवं अस्थायी, पुष्ट एवं अपुष्ट—अचर एवं चर—ये दो संस्कार हैं। मूलप्रकृति अचर-संस्कार है। विकृत प्रकृति—प्रकृतिगत संसर्ग—सत्सङ्ग एवं कुसंग-दुस्संग—चर-संस्कार हैं। चर-संस्कार क्षणिक प्रभावी होते हैं। सुदीर्घकालीन संसर्गसे चर-संस्कार अचर-संस्कार बन जाते हैं।

मनुष्य प्रकृतिभूत है। इसीलिये जो प्रकृति करती है, उसीका अनुकरण मनुष्य भी करता है। विमानमें ब्लैक बॉक्स होता है। विमानके नष्ट हो जानेके बाद भी यह सुरक्षित रहता है तथा इसीसे सम्पूर्ण वैमानिक सूचना प्राप्त होती है। यह विमानका संस्कार-पटल है। श्रवणपट्टिका (आडियो टेप, डिस्क) एवं दृश्यपट्टिका (वीडियो टेप, डिस्क) भी क्रमशः व्यक्तिके भाषण एवं दर्शनके संस्कार हैं। मनुष्यकृत होनेसे ये मनुष्यद्वारा नश्यमान है। प्राकृतिक संस्कारोंको केवल प्रकृति ही मिटा सकती है, मनुष्य कदापि नहीं बदल सकता। कुत्तेकी पूँछ टेढ़ी होती है, मनुष्य इसे सीधा नहीं कर सकता। थोड़े समयके लिये वह उसे हाथसे पकड़कर सीधा रख सकता है, हाथ हटाते ही वह पुनः टेढ़ी हो जायगी—यह निश्चित है।

मनुष्यके हाथमें सदाचार-दुराचार, क्रूर-सौम्य, पण्डित-मूर्ख, धनाढ्य-दरिद्र, पुत्रवान्-संततिहीन, दीर्घायु-अल्पायु, कर्मठ-आलसी एवं पाप-पुण्यकी रेखाएँ होती हैं। इन्हें कोई हटा नहीं सकता। जैसी रेखा (संस्कार) होगी, व्यक्ति वैसा होगा ही। यत्किञ्चित् परिवर्तन पुरुषार्थ-उद्योग एवं सुसंग-कुसंगसे होता है।

संस्कारको प्रारब्ध भी कहते हैं। संस्कार (प्रारब्ध)-के सामने किसीकी नहीं चलती। संस्कारके दो भेद हैं—कुसंस्कार (देश-काल, पात्रके विरुद्धके आचार) तथा सुसंस्कार (देश-काल, पात्रके अनुकूल आचार)। ये सबमें न्यूनाधिक रूपमें पाये जाते हैं। ये भी अपरिवर्त्य हैं।

व्यक्तिकी जन्मकुण्डली संस्कारोंका पिटारा है। १२ भाव, १२ राशियाँ एवं ९ ग्रह—ये कुल ३३ सूत्र (देवता) हैं, जो संस्कारोंके निर्माता, नियन्ता, पोषक, पूरक, नाशक एवं विच्छेदक हैं। इनकी अभिव्यक्ति ३३ बीज (व्यञ्जन)-युक्त वाणीद्वारके द्वारा कालज्ञ पुरुष करता है। ग्रहोंकी दशान्तर्दशा एवं गोचर-स्थितिके फलस्वरूप ये संस्कार अपनेको क्रियाके रूपमें व्यक्तिद्वारा प्राकट्यको प्राप्त होते हैं। दुस्संग एवं सुसंग—इसमें उत्प्रेरकमात्र होते हैं।

सद्धर्म एवं दानसे संस्कारोंमें सुगन्ध आती है। व्यक्तिमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, दया, उदारता, प्रेम, राग, ग्लानि, क्षमा, कार्पण्य, दैन्य, दान आदि भाव होते हैं। इन भावोंका उदात्तीकरण करनेके लिये ऋषियोंने संस्कारकी व्यवस्था दी है। विश्वके हर समाज, परिवारमें भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें ऐसी व्यवस्थाएँ हैं। शैशवावस्थासे लेकर यौवनके उच्छ्वासतक संस्कारोंका प्रभाव अमिटरूपसे पड़ता है। संस्कारशून्यपर संस्कार डालना उचित एवं प्रभावकारी होता है। संस्कारयुक्तपर अन्य संस्कारोंका आरोपण करना अभीष्टप्रद नहीं होता। संस्कारोंपर संस्कारोंका आघात होनेसे विकृति आती है। कुसंस्कारोंको मिटाना सम्भव हो तो उन्हें मिटाकर नये संस्कार देना फलप्रद होता है। व्यक्ति एवं समाजको संस्कारयुक्त करना ऋषियोंका उद्देश्य था।

संस्कारको वहन करनेवाला जीव है। संस्कारको बनाने, सँवारने, पोषण एवं नाश करनेवाला कर्म है। जीवका कर्मसे अभिन्न सम्बन्ध है। जीव, कर्म और संस्कार परस्पर सम्बद्ध हैं। स्थूल शरीरसे कर्म होता है। सूक्ष्म शरीरमें संस्कार होते हैं। कारण शरीरमें जीव रहता है। जीव कर्ता होनेसे सुख-दुःखका भोक्ता है। जीव जब एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है—मृत्युके उपरान्त जन्म ग्रहण करता है तो उसके पूर्वशरीरके संस्कार उसके नये शरीरमें स्थानान्तरित हो जाते हैं। जैसे किरायेदार अपने पुराने किरायेके आवासको छोड़कर दूसरे मकानमें जाता है तो वह पहलेवाले घरके सभी सामान अपने साथ लेकर नये भवनमें प्रवेश करता है। जीव किरायेके घर (शरीर)-में रहता है। इस शरीरका स्वामी ईश्वर है, जीव नहीं। जब जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीर (योनि)-में जाता है तो उसका सब सामान (कर्म-संस्कार) उसके साथ ही होता है। नाना योनियोंको ग्रहण करता हुआ जीव संस्कारोंकी गठरी सिरपर रखे हुए रहता है।

संस्कार त्रिगुणात्मक होते हैं। त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति ही संस्कार है। स्थूल शरीरमें २३ विकृतियाँ—(५ भूत + ५ तन्मात्राएँ+ ५ कर्मेन्द्रियाँ + ५ ज्ञानेन्द्रियाँ + १ मन + १ अहंकार + १ महत्तत्त्व) होती हैं। सूक्ष्म शरीरमें १८ विकृतियाँ (५ तन्मात्राएँ + १० इन्द्रियाँ + १ मन + १ अहंकार + १ महत्तत्त्व) होती हैं; क्योंकि ५ भूतोंका विलय ५ तन्मात्राओंमें हो जाता है। कारण शरीरमें ३ विकृतियाँ (मन+अहंकार+महत्तत्त्व) होती हैं; क्योंकि तन्मात्राओंका विलय तामस अहंकारमें, कर्मेन्द्रियोंका विलय राजस अहंकारमें तथा ज्ञानेन्द्रियोंका विलय मनमें हो जाता है। जीवमें मन (ज्ञान), अहंकार (भोक्ता-कर्ताका भाव) तथा महत्तत्त्व (बुद्धि)-का भाव सतत होता है। इन तीनोंके न होनेपर जीव; जीव नहीं रहता, वह मुक्त (ईश्वर) होता है। ईश्वर इन विकृतियोंसे परे होता है। इसलिये उसमें कर्म-संस्कार नहीं होते। संस्कारका सम्बन्ध जीवसे है। ईश्वरका संस्कारोंसे कोई लेना-देना नहीं। संस्कार जीवकी प्रकृतिमें सात्त्विक, राजस एवं तामस गुणोंके रूपमें विद्यमान होते हैं। संस्कार नष्ट होते हैं, निष्काम तपसे। सूर्यके पास निष्काम तप है। इसलिये सूर्य भगवान् हैं। सूर्यकी भगवत्ता उसके अकाम तपमें है। सूर्य जीवोंका अधिपति है। सूर्यमण्डल गोलोक है। गो—प्रकाश, रश्मि—ज्ञान। परम ज्ञानकी स्थितिमें होना गोलोकमें वास करना है। यहाँ संस्कार नहीं तो सुख-दुःख भी नहीं है, केवल आनन्द है। जीवको इसकी झलकमात्र मिलती है। हम संस्कारयुक्त जीव संस्कारमुक्त ईश्वरको नमन करते हैं।

~~○~~

यह कभी मत समझो कि भगवान्‌के घर, भगवान्‌के हृदयमें हमारे लिये जगह नहीं है। हमको तो वे अपने हृदयमें ही रखते हैं और वे सदा हमारे हृदयमें रहते हैं, पर सहसा प्रत्यक्ष नहीं होते, इसमें भी उनका कोई मङ्गलमय रहस्य ही है। अतएव सदा, सर्वप्रकारसे उल्लसित और प्रफुल्लित हृदयसे उनका मङ्गल-स्मरण करते रहो। समर्पण तो वे अपनी चीजका आप ही करा लेंगे, हमारी ओरसे समर्पणकी तैयारी होनी चाहिये। मनुष्यका कभी भी भरोसा नहीं करना चाहिये। क्षणभङ्गुर प्राणीमें क्या सामर्थ्य है? यह तो सब श्रीभगवान्‌की महिमा है, जो नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं, अज हैं, अविनाशी हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और परम सुहृद् हैं।

~~○~~

जीवन (लग्न)-रेखा—अहंकार है। अष्टधा प्रकृति—आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि, मन, बुद्धि (महत्तत्त्व) एवं अहंकारका निवास हथेलीमें है। तात्त्विक दृष्टिसे अँगूठा पुरुष (परम तत्त्व) है। वाक्य है—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' (कठोपनिषद् २।१।१२, १३)। हथेलीके अन्य अवयव प्रकृति हैं। पुरुष-तत्त्व शासक, बली, नियन्ता, पोषक, रक्षक तथा विष्णुरूप है। तात्पर्य यह कि अँगूठा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

कर्म-संस्कारोंसे खचित व्यक्तिका हाथ जीवन-दर्पण है, अखिल विश्व है, ब्रह्माण्ड है, भूमण्डल है, तत्त्वदर्शन है। इसलिये इसे भगवान् कहते हैं। वेदवचन है—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥

(अथर्ववेद ४।१३।६)

हथेलीका वह भाग, जो रोमरहित, सुन्दर एवं चमकयुक्त है, हस्त (हाथ या कर) कहा जाता है। हाथमें विश्व है, भगवान्में विश्व है, इसलिये हाथ ही भगवान् है। इससे हाथका महत्त्व प्रतिपादित होता है। मनुष्यके हाथको भगवान् क्यों कहा गया है? हाथ एक होकर अनेक भागों (अवयवों)-वाला है। हाथमें दीप्ति एवं गति (क्रियाशीलता) है। हाथमें कर्म-संस्कार रेखाचित्रके रूपमें हैं। इसलिये ये कर्म-संस्कार भगवान्में हैं। भगवान् अविनाशी हैं। फलतः ये कर्म-संस्कार अविनाशी हैं। हथेलीमें बड़ी और स्पष्ट रेखाओंके अतिरिक्त अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओंका एक सुव्यवस्थित जाल होता है। हाथका मांस कट जाय, घाव हो जाय तो कालान्तरमें घाव सूखने, भरनेपर वे रेखाएँ पुनः वैसे ही पूर्ववत् बन जाती हैं। यह संस्कारोंके अविनाशी होनेका प्रमाण है। व्यक्तिके पुरुषार्थसे क्षुद्रवत् कुछ रेखाएँ उभरती एवं अस्त होती रहती हैं। यह संस्कारोंकी ईषत् परिवर्तनशीलताका साक्ष्य है, जिससे सूचना मिलती है कि वे संस्कार हैं। रेखाएँ भूत एवं भविष्यकी सूचक हैं। इसलिये ये संस्कार हैं। स्थायी एवं अस्थायी, पुष्ट एवं अपुष्ट—अचर एवं चर—ये दो संस्कार हैं। मूलप्रकृति अचर-संस्कार है। विकृत प्रकृति—प्रकृतिगत संसर्ग—सत्सङ्ग एवं कुसंग-दुस्संग—चर-संस्कार हैं। चर-संस्कार क्षणिक प्रभावी होते हैं। सुदीर्घकालीन संसर्गसे चर-संस्कार अचर-संस्कार बन जाते हैं।

मनुष्य प्रकृतिभूत है। इसीलिये जो प्रकृति करती है, उसीका अनुकरण मनुष्य भी करता है। विमानमें ब्लैक बॉक्स होता है। विमानके नष्ट हो जानेके बाद भी यह सुरक्षित रहता है तथा इसीसे सम्पूर्ण वैमानिक सूचना प्राप्त होती है। यह विमानका संस्कार-पटल है। श्रवणपट्टिका (आडियो टेप, डिस्क) एवं दृश्यपट्टिका (वीडियो टेप, डिस्क) भी क्रमशः व्यक्तिके भाषण एवं दर्शनके संस्कार हैं। मनुष्यकृत होनेसे ये मनुष्यद्वारा नश्यमान हैं। प्राकृतिक संस्कारोंको केवल प्रकृति ही मिटा सकती है, मनुष्य कदापि नहीं बदल सकता। कुत्तेकी पूँछ टेढ़ी होती है, मनुष्य इसे सीधा नहीं कर सकता। थोड़े समयके लिये वह उसे हाथसे पकड़कर सीधा रख सकता है, हाथ हटाते ही वह पुनः टेढ़ी हो जायगी—यह निश्चित है।

मनुष्यके हाथमें सदाचार-दुराचार, क्रूर-सौम्य, पण्डित-मूर्ख, धनाढ्य-दरिद्र, पुत्रवान्-संततिहीन, दीर्घायु-अल्पायु, कर्मठ-आलसी एवं पाप-पुण्यकी रेखाएँ होती हैं। इन्हें कोई हटा नहीं सकता। जैसी रेखा (संस्कार) होगी, व्यक्ति वैसा होगा ही। यत्किञ्चित् परिवर्तन पुरुषार्थ-उद्योग एवं सुसंग-कुसंगसे होता है।

संस्कारको प्रारब्ध भी कहते हैं। संस्कार (प्रारब्ध)-के सामने किसीकी नहीं चलती। संस्कारके दो भेद हैं—कुसंस्कार (देश-काल, पात्रके विरुद्धके आचार) तथा सुसंस्कार (देश-काल, पात्रके अनुकूल आचार)। ये सबमें न्यूनाधिक रूपमें पाये जाते हैं। ये भी अपरिवर्त्य हैं।

व्यक्तिकी जन्मकुण्डली संस्कारोंका पिटारा है। १२ भाव, १२ राशियाँ एवं ९ ग्रह—ये कुल ३३ सूत्र (देवता) हैं, जो संस्कारोंके निर्माता, नियन्ता, पोषक, पूरक, नाशक एवं विच्छेदक हैं। इनकी अभिव्यक्ति ३३ बीज (व्यञ्जन)-युक्त वार्णीद्वारके द्वारा कालज्ञ पुरुष करता है। ग्रहोंकी दशान्तर्दशा एवं गोचर-स्थितिके फलस्वरूप ये संस्कार अपनेको क्रियाके रूपमें व्यक्तिद्वारा प्राकट्यको प्राप्त होते हैं। दुस्संग एवं सुसंग—इसमें उत्प्रेरकमात्र होते हैं।

सद्धर्म एवं दानसे संस्कारोंमें सुगन्ध आती है। व्यक्तिमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, दया, उदारता, प्रेम, राग, ग्लानि, क्षमा, कार्पण्य, दैन्य, दान आदि भाव होते हैं। इन भावोंका उदात्तीकरण करनेके लिये ऋषियोंने संस्कारकी व्यवस्था दी है। विश्वके हर समाज, परिवारमें भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें ऐसी व्यवस्थाएँ हैं। शैशवावस्थासे लेकर यौवनके उच्छ्वासतक संस्कारोंका प्रभाव अमिटरूपसे पड़ता है। संस्कारशून्यपर संस्कार डालना उचित एवं प्रभावकारी होता है। संस्कारयुक्तपर अन्य संस्कारोंका आरोपण करना अभीष्टप्रद नहीं होता। संस्कारोंपर संस्कारोंका आघात होनेसे विकृति आती है। कुसंस्कारोंको मिटाना सम्भव हो तो उन्हें मिटाकर नये संस्कार देना फलप्रद होता है। व्यक्ति एवं समाजको संस्कारयुक्त करना ऋषियोंका उद्देश्य था।

संस्कारको वहन करनेवाला जीव है। संस्कारको बनाने, सँवारने, पोषण एवं नाश करनेवाला कर्म है। जीवका कर्मसे अभिन्न सम्बन्ध है। जीव, कर्म और संस्कार परस्पर सम्बद्ध हैं। स्थूल शरीरसे कर्म होता है। सूक्ष्म शरीरमें संस्कार होते हैं। कारण शरीरमें जीव रहता है। जीव कर्ता होनेसे सुख-दुःखका भोक्ता है। जीव जब एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है—मृत्युके उपरान्त जन्म ग्रहण करता है तो उसके पूर्वशरीरके संस्कार उसके नये शरीरमें स्थानान्तरित हो जाते हैं। जैसे किरायेदार अपने पुराने किरायेके आवासको छोड़कर दूसरे मकानमें जाता है तो वह पहलेवाले घरके सभी सामान अपने साथ लेकर नये भवनमें प्रवेश करता है। जीव किरायेके घर (शरीर)-में रहता है। इस शरीरका स्वामी ईश्वर है, जीव नहीं। जब जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीर (योनि)-में जाता है तो उसका सब सामान (कर्म-संस्कार) उसके साथ ही होता है। नाना योनियोंको ग्रहण करता हुआ जीव संस्कारोंकी गठरी सिरपर रखे हुए रहता है।

संस्कार त्रिगुणात्मक होते हैं। त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति ही संस्कार है। स्थूल शरीरमें २३ विकृतियाँ—(५ भूत + ५ तन्मात्राएँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + ५ ज्ञानेन्द्रियाँ + १ मन + १ अहंकार + १ महत्तत्त्व) होती हैं। सूक्ष्म शरीरमें १८ विकृतियाँ (५ तन्मात्राएँ + १० इन्द्रियाँ + १ मन + १ अहंकार + १ महत्तत्त्व) होती हैं; क्योंकि ५ भूतोंका विलय ५ तन्मात्राओंमें हो जाता है। कारण शरीरमें ३ विकृतियाँ (मन+अहंकार+महत्तत्त्व) होती हैं; क्योंकि तन्मात्राओंका विलय तामस अहंकारमें, कर्मेन्द्रियोंका विलय राजस अहंकारमें तथा ज्ञानेन्द्रियोंका विलय मनमें हो जाता है। जीवमें मन (ज्ञान), अहंकार (भोक्ता-कर्ताका भाव) तथा महत्तत्त्व (बुद्धि)-का भाव सतत होता है। इन तीनोंके न होनेपर जीव; जीव नहीं रहता, वह मुक्त (ईश्वर) होता है। ईश्वर इन विकृतियोंसे परे होता है। इसलिये उसमें कर्म-संस्कार नहीं होते। संस्कारका सम्बन्ध जीवसे है। ईश्वरका संस्कारोंसे कोई लेना-देना नहीं। संस्कार जीवकी प्रकृतिमें सात्त्विक, राजस एवं तामस गुणोंके रूपमें विद्यमान होते हैं। संस्कार नष्ट होते हैं, निष्काम तपसे। सूर्यके पास निष्काम तप है। इसलिये सूर्य भगवान् है। सूर्यकी भगवत्ता उसके अकाम तपमें है। सूर्य जीवोंका अधिपति है। सूर्यमण्डल गोलोक है। गो—प्रकाश, रश्मि—ज्ञान। परम ज्ञानकी स्थितिमें होना गोलोकमें वास करना है। यहाँ संस्कार नहीं तो सुख-दुःख भी नहीं है, केवल आनन्द है। जीवको इसकी झलकमात्र मिलती है। हम संस्कारयुक्त जीव संस्कारमुक्त ईश्वरको नमन करते हैं।

~~~ o ~~~

यह कभी मत समझो कि भगवान्‌के घर, भगवान्‌के हृदयमें हमारे लिये जगह नहीं है। हमको तो वे अपने हृदयमें ही रखते हैं और वे सदा हमारे हृदयमें रहते हैं, पर सहसा प्रत्यक्ष नहीं होते, इसमें भी उनका कोई मङ्गलमय रहस्य ही है। अतएव सदा, सर्वप्रकारसे उल्लसित और प्रफुल्लित हृदयसे उनका मङ्गल-स्मरण करते रहो। समर्पण तो वे अपनी चीजका आप ही करा लेंगे, हमारी ओरसे समर्पणकी तैयारी होनी चाहिये। मनुष्यको कभी भी भरोसा नहीं करना चाहिये। क्षणभङ्गुर प्राणीमें क्या सामर्थ्य है? यह तो सब श्रीभगवान्‌की महिमा है, जो नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं, अज हैं, अविनाशी हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और परम सुहृद् हैं।

~~~ o ~~~

गृहस्थमें नारीधर्मकी शिक्षा

ससुरालमें जब लड़की जाय तो उसे बड़े शील-स्वभावसे रहना चाहिये; क्योंकि जब नव-वधूको देखनेके लिये नातेदार तथा अड़ोस-पड़ोसकी स्त्रियाँ आती हैं तो उन सबकी दृष्टि इसीपर रहती है कि वधूका बोलना, उठना-बैठना, आँचल, लाज, चतुराई आदि कैसे हैं। बहूको चाहिये कि वह सबसे पहले उठे और सबसे पीछे सोवे, भोजन भी सबसे पीछे करे; पतिकी गुप्त बात किसीसे न कहे और निर्वस्त्र होकर न नहावे। प्रथम छोटे-छोटे काम करने लगे, फिर धीरे-धीरे बड़े कामोंमें हाथ डाले तथा परिवारमें सचेत होकर चले। जो वचन भाँवर फिरते समय अपने पतिको दिये थे, उनका सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। पतिको दिये गये वचन ये हैं—

(१) किसी दूसरेके घरमें निवास न करूँगी। (२) बहुत न बोलूँगी। (३) किसी परपुरुषसे बातें न करूँगी। (४) पति-सेवामें मन लगाऊँगी। (५) बिना पतिकी आज्ञाके कहीं नहीं जाऊँगी। (६) बाग या जंगलमें अकेली कभी नहीं जाऊँगी आदि।

ससुरालमें सास, बड़ी ननद, छोटी ननद, जेठानी, देवरानी आदिसे यथायोग्य सम्मान, श्रद्धा-भक्ति, स्नेह और प्रेमके साथ बात-चीत करे। सबका सम्मान करे। तिरस्कार या अवज्ञा किसीकी न करे। बड़ोंकी आज्ञा माने तथा किसीकी कभी निन्दा न करे। जब कभी ससुरालसे माताके घर आवे तो वहाँ पतिके घरकी तथा सास-ननद आदिकी कोई बुराई न करे; क्योंकि एक तो इसको सुननेसे माता-पिताको दुःख होगा; दूसरे ससुरालवाले सुन पायँगे तो उस (वधू)-पर कोप करेंगे और अपना नेह हटा लेंगे। सास, देवरानी, जेठानी आदिसे कभी अलग रहनेका विचार न करे। सासका अपनी मातासे भी अधिक सम्मान करे; क्योंकि वह उसके प्राणनाथकी भी पूज्या है। दूसरे, एक दिन वह भी सास बनेगी और यदि वह अपनी सासके साथ कठोरताका व्यवहार करेगी तो उसकी पुत्र-वधू भी उसके आचरणसे शिक्षा लेकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करेगी। स्त्रीको अपने मैके और ससुरालके लिये यह याद रखना चाहिये—

भाइ बहिन भावज सँग प्रीती। सहित सनेह करहु यह रीती॥
बैर भाव जो घरमें राखत। ताको उत्तम कोउ न भाषत॥
सहनसील निज करहु स्वभावा। जो सब नर-नारीको भावा॥
मैके रह प्रसन्न सब काजी। पति-गृह सास-ससुर हों राजी॥

अंग-भंग, काना, बधिर, कूबड़, लँगड़ देखि।
कीजै नहिं उपहास कछु, आपन हित अवरेखि॥

मातु-पिता सम सास-ससुरमें। कीजै भाव जाय पतिपुरमें॥
सेवाविधि मर्यादि समेता। नारि-धर्म कह बुद्धि निकेता॥
अति आदर करु जेठ-जेठानी। बालक सम देखहु देवरानी॥
बहिन समान ननद को जानौ। शुद्ध भाव सबही में आनौ॥
सब की सेवा पति के नाता। दरसावहु गुण-गणकी बाता॥

जो स्त्री ससुरालमें जाकर इस रीतिसे बर्ताव नहीं करती, उसके लिये ससुरालवाले ताने दिया करते हैं—

मैके पसु यह रही चरावत। नारि-धर्म कछु एक न आवत॥

अतएव हमेशा मीठे वचन बोले। बिना सोचे कोई बात न कहे। मीठा वचन सबको प्रिय होता है—

कागा काकौ धन हरै, कोयल काकौ देय।
मीठे वचन सुनाइ कै, जग अपनो करि लेय॥

अहितकारक तथा कटुवचन तो कभी किसीको कहे ही नहीं; क्योंकि वचनका घाव इतना गहरा होता है कि जन्मभर भरता ही नहीं—

नायक शर घन तीर, काढ़त कढ़त शरीर तें।
कुवचन तीर अधीर, कढ़त न कबहूँ उर गड़े॥

सदा प्रिय बोले। बोल-चालके इन नियमोंको सदा ध्यानमें रखे—(१) बहुत न बोले, (२) बिलकुल चुप भी न रहे, (३) समयपर बोले, (४) दोके बीचमें बिना पूछे कभी न बोले, (५) बिना सोचे-समझे न बोले, (६) शीघ्रतासे न बोले, (७) ऊट-पटाँग न बोले, (८) उलाहनेभरी और मतभेदी बात कभी न बोले, (९) सदा धर्मयुक्त यथार्थ बात बोले, (१०) दूसरेको जो बुरी लगे, ऐसी बात कभी न बोले, (११) ताना न मारे, व्यङ्ग्य न कसे, (१२) हँसी-दिल्लगी न करे,

(१३) दूसरोंकी बुराई या निन्दा न करे, (१४) सत्य, कोमल, मधुर एवं हितकी बात बोले, (१५) अपनी प्रशंसा अपने मुखसे न करे, (१६) बात-चीतमें हठ न करे इत्यादि।

स्त्रियाँ गहना पहनना तो खूब चाहती हैं, पर गुणवती स्त्रीको गहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है और न शृङ्गारकी। अपने पतिको मोहित करनेके लिये उसके सद्गुण ही सच्चे शृङ्गार और गहने हैं। स्त्रीको चाहिये कि वह ऐसे शृङ्गार करे और गहने पहने—

मिस्सी—मिस (बहाना बनाना) छोड़ दे;

पान या मेंहदी—जगमें अपनी लाली बनाये रखनेकी चेष्टा करे;

काजल—शीलका जल आँखोंमें रखे;

बेंदी—बदी (शरारत)-को तजनेका प्रयत्न करे;

नथ—मनको नाथे, जिससे किसीकी बुराई न हो;

टीका—यशका टीका लगावे, कलङ्क न लगने दे;

बँदनी—पति और गुरुजनोंकी वन्दना करे;

पत्ती—अपनी पत (लाज) रखे;

कर्णफूल—कानोंसे दूसरेकी प्रशंसा सुनकर फूले;

हँसली—सबसे हँसमुख रहे;

मोहनमाला—सबके मनको मोह ले;

हार—अपने पतिसे सदा हार (पराजय) स्वीकार करे;

कड़े—किसीसे कड़ी (कठोर) बात न बोले,

बाँक—किसीसे बाँकी—तिरछी न रहे, सदा सीधी चाल चले;

दूआ—सबके लिये दुआ (आशीर्वाद) करे;

छल्ले—छलको छोड़े;

पायल—सब बड़ी-बूढ़ियोंके पैर लगे।

स्त्रीके जो आठ अवगुण—साहस, झूठ, चपलता, छल, भय, मूर्खता, अपवित्रता और निर्दयता—बताये गये हैं, उनको यथासाध्य छोड़नेका प्रयत्न करना चाहिये।

स्त्रीको चाहिये कि वह अपने घरका काम समयके अनुसार बाँट ले। मोटेरूपमें एक साधारण-सा कार्यक्रम इस प्रकार बनाया जा सकता है—

(१) प्रातःकाल उठकर शौच, स्नान करना, घरकी सफाई करना, सामानकी देख-भाल करना आदि	...२ घंटे
(२) पूजा-पाठ	... १ घंटे
(३) विद्याकी चर्चा	... २ घंटे
(४) भोजन बनाना, खाना	... ३ घंटे
(५) सखी-सहेलियोंमें बैठना	... १ घंटे
(६) शिल्प-विद्या	... २ घंटे
(७) शामका भोजन बनाना, खाना	... ३ घंटे
(८) बाल-शिक्षा और परीक्षा	... २ घंटे
(९) नौकरोंका काम देखना, घरका सामान जाँचना, हिसाब लिखना आदि	... २ घंटे
(१०) शयन	... ६ घंटे
	२४ घंटे

इस प्रकार अपने सुविधानुसार एक निश्चित कार्यक्रम बना लेना चाहिये। इससे समयकी बचत होती है तथा काम भी समयपर ठीक ढंगसे होता है।

स्त्रीके लिये परिश्रमी होना बहुत आवश्यक है। बिना परिश्रम किये शरीरमें नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। स्त्रियोंके लिये घरका काम करना, गेहूँ पीसना आदि सर्वोत्तम व्यायाम हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ घरके कामको हेय समझती हैं, यह बहुत बुरा है। घरका काम करनेमें सर्वदा गौरव-बुद्धि होनी चाहिये। याद रखना चाहिये कि जो स्त्री घरके काम करनेमें लज्जाबोध करती है, वह अपने स्त्रीत्वको खो बैठती है।

स्त्रीको चाहिये कि अपने पतिकी आमदनीके अनुसार खर्च करे, प्रतिमास कुछ बचानेका प्रयत्न रखे। आमदनीसे अधिक, उधार लेकर तो कभी भी खर्च न करे। जो गृहस्थ उधार लेकर खर्च करते हैं, उनका अपना जीवन तो सदा दुःखी रहता ही है, ऋणभारसे दबे हुए उनके बच्चे भी बहुत क्लेश भोगते हैं। पालन भी ठीक ढंगसे नहीं हो पाता। लौकिक इन वचनोंपर सदा ध्यान देना चाहिये—

अपनी पहुँच बिचारिकै करतब करिये दौर।
तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर॥

कारज वाही को सरै, करै जो समय निहार।
कवहुँ न हारै खेल, जो खेलै दाँव विचार॥

अधिक खर्च होनेमें अधिकतर स्त्रियोंकी विलासिता, फैशन तथा दूसरोंकी देखा-देखी करना ही प्रधान कारण होता है। अतएव इससे वचना चाहिये। स्त्रियोंको चटोरपनसे भी सदा बचना चाहिये।

जीभ न जाके यस रहै, सो नारी मतिहीन।
धन, लज्जा, आरोग्यता, करै प्रतिष्ठा छीन॥
रिनी दुखी निजको करै, नारि चटोरी जोय।
झूठ डाह कपटादि सब, अवगुन ताके होय॥

चटोरपन गृहस्थको निर्धन कर देता है और निर्धनकी कोई बात नहीं पूछता। जिसपर बीतती है, वही भोगता है। सम्पत्तिमें हजार सङ्गी हो जाते हैं, पर विपत्तिमें कोई भी पास नहीं फटकता। वृक्षके नीचे निवास करना, घासपर सोना, छाल और पत्ते पहनकर लज्जाकी रक्षा करना अच्छा है; परंतु निर्धन होकर बन्धुवर्गमें रहना अच्छा नहीं। इसलिये स्त्रीको चाहिये कि वह अपनी तथा अपनी संतानकी जीभपर काबू रखे, आवश्यकतासे अधिक कपड़ा न खरीदे तथा देखा-देखी गहने आदि न बनवाये। जहाँतक हो, बाजारसे उधार वस्तु कभी न खरीदे; नगद पैसा देकर चीजें लेवे। उधार चीजें खरीदनेसे एक तो बाजारसे महँगे भावपर चीजें मिलती हैं दूसरे खर्चका कोई हिसाब नहीं रहता कि कितना हो गया।

नारी गृहस्थाश्रमकी मूलभित्ति है। वह अपने आचरणका प्रभाव पत्नीरूपसे पतिपर तथा मातृरूपसे भावी सन्ततिपर डालती है। अतएव उसका सदाचार एवं शिष्टाचारसे सम्पन्न होना देश एवं समाजकी उन्नतिके लिये कितना आवश्यक है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं।

~~~ o ~~~

शुभ संस्कार ही मानवकी असली पहचान

(श्री १०८ श्रीनारायणदास प्रेमदासजी उदासीन)

प्रकृतिके आँचलमें सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति, तृष्णा-तृप्ति, रोष-मुसकान आदिकी अनुभूति मानव-मनको होती आयी है। इन अनुभूतियोंसे हमारा सम्पूर्ण जीवन जुड़ा हुआ है। दिनके बाद रात, पतझड़के बाद बहार, गरमीके बाद सर्दी, जन्मके बाद मृत्यु आदि सभी उस प्रकृतिके अभिन्न अङ्ग हैं। मनुष्यके शुभ और अशुभ संस्कार भी उस कड़ीमें उसे मानवता या दानवताका पद प्रदान करते हैं। यह क्रम अनादिकालसे ही चलता आ रहा है। सत्ययुगमें एक ओर भक्त प्रह्लाद थे तो दूसरी ओर हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु-जैसे दानव। त्रेतायुगमें भगवान् श्रीराम-जैसे मर्यादापुरुषोत्तम मानवलीला कर रहे थे तो दूसरी ओर रावण-कुम्भकर्ण-जैसे दानव भी कम शक्तिवाले नहीं थे। द्वापरयुगमें भगवान् श्रीकृष्ण-जैसे कर्मयोगी वीर पुरुष थे तो दूसरी ओर कंस और शिशुपाल-जैसे दुष्टोंकी कोई कमी नहीं थी। इनमेंसे महाभागवत श्रीप्रह्लाद आदि अपने-अपने सुसंस्कारोंके वलपर पूजित हुए और हिरण्यकशिपु आदि अपने कुसंस्कारोंके प्रभावसे दानव कहलाये और विनाशको प्राप्त हुए। आज इस कलियुगमें विडम्बना है कि संस्कारोंका परिज्ञान न होने तथा उनकी अवहेलनासे विश्व तथा भारतकी जो स्थिति है, वह सामने ही है।

शुभ अथवा अशुभ संस्कारोंकी प्राप्ति हमें अपने जन्मके पहले ही माताके गर्भधारण करनेके समयसे प्रारम्भ हो जाती है। जिस प्रकार बीजके बोते ही उससे वैसे ही फल—वस्तुकी इच्छा की जाती है, ऐसे ही बालककी उत्पत्तिके पहले उसके माता-पिता और परिवारजन शुभ संस्कारोंसे सम्पन्न उसके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगते हैं। वह बच्चा ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों उसपर अपनी माताके संस्कारोंका असर होने लगता है, बादमें पिता और परिवारके अन्य सदस्योंका। उसके पश्चात् अड़ोस-पड़ोसके वातावरण और अपने बालमित्रोंका भी उसके जीवनपर प्रभाव होने लगता है। आरम्भसे अन्ततक शिक्षक और उस विद्याकी छाप भी उसपर छा जाती है। इस प्रकार जीवनके कई पड़ाव पार करते हुए अन्ततः मनुष्यके जीवनमें संगका असर साफ-साफ दृष्टिगोचर होने लगता है। यथा—
~~~

सज्जन दुर्जन संग को बूँद स्वाति कर मान।
चातक मुख पड़ प्यास हर नाग कंठ विष जान॥

आधुनिक युगमें हम शुभ संस्कारोंसे दूर होते जा रहे हैं, यह बड़े कष्टकी स्थिति है। आजका मानव अपने जीवनमें मानवताके शिखरसे इतना नीचे गिर चुका है कि उसका उत्थान बड़ी ही कठिनतासे होनेवाला है। वर्तमानमें हम प्रत्येक कार्यको धनके तराजूपर ही तौलकर देखते हैं, उसकी गुणवत्ता, क्षमता या नैतिकताको कोई भी श्रेय नहीं देता, परिणामस्वरूप हम अपने लक्ष्यसे कोसों दूर रह जाते हैं। इसी क्रममें हम अपने शुभ संस्कारोंको पीछे छोड़ते हुए आगे भागनेवालोंके पीछे-पीछे दौड़ लगाकर उनसे भी आगे निकलनेकी होड़ लगा रहे हैं। इस भौतिक अन्धानुकरणने हमारी बुद्धि, विचारशक्ति एवं विवेक ज्ञानको कुण्ठित कर दिया है; यह भारतीय संस्कारोंपर आस्था न होनेका ही परिणाम है। इसीलिये कहा गया है कि—

कर विचार परिणाम पर, पीछे कर तू कर्म।
सुखी रहे जीवन सदा, पाले जो निज धर्म॥

आचार, विचार, व्यवहार और कर्मसे ही मानवताकी जड़ मज़बूत हुआ करती है। आचार अर्थात् आचरणकी उत्पत्ति चरित्रसे होती है। मानवका चरित्र ही उसके सम्पूर्ण जीवनका दर्पण हुआ करता है। लेकिन आज हम उस चरित्रपर कितने खरे उतरे हैं, यह प्रश्न प्रत्येक मनुष्यको अपने-आपसे पूछना चाहिये। विचारका गठन मनमें हुआ करता है अर्थात् मनमें जैसा भाव उत्पन्न होता है, वैसा ही हमारे जीवनमें कर्ममार्ग बन जाता है, उस कर्ममार्गपर हम कितना आगे बढ़ रहे हैं, इस संदर्भमें भी जिज्ञासु अपने मनसे स्वयं पूछ सकता है। व्यवहारकी प्रत्युत्पत्ति संगतिसे हुआ करती है अर्थात् जीवनके व्यवहारमें जिस-जिस व्यक्तिसे काम पड़ता है, उसके गुण-दोषसे हम अछूते नहीं रह सकते। यही कारण है कि हम अपने जीवनमें वस्तुविशेष या उस मानवका सही आकलन नहीं कर पाते कि उसका वास्तविक स्वरूप और मूल्य कितना हो सकता है। यथा—

हीरा कुछ कहता नहीं, अपने मुख से दाम।
मानव तो हर चीज का, रखता दाम से काम॥

आजकल हम मनुष्यके कुल, धर्म, विद्या, चरित्र आदि सभी शुभ संस्कारोंको ताकपर रखकर आदर्शके प्रतिमान तथा हितैषीके रूपमें उस व्यक्तिका चयन कर लेते हैं, जो सिर्फ हमारी हाँ-में-हाँ करता हुआ चल सके; किंतु हम यह भूल जाते हैं कि वह अपने मधुर असत्परामर्शसे हमें विचलित कर संस्कारभ्रष्ट कर सकता है। अतः हमें बहुत सावधान रहनेकी तथा असत्सङ्गसे सर्वथा दूर रहनेकी आवश्यकता है। हमारे जीवनमें दैनिक शुभ कर्मोंका भी आगमन हुआ करता है, जिसका उदय हमारे अपने परिवारके सदस्योंद्वारा कुलधर्म तथा पूर्वजन्मके संस्कारोंपर आधारित हुआ करता है। यद्यपि हमारे शुभ संस्कार पूर्वजन्मके कर्मों तथा इस जन्मकी संगतिसे जुड़े हुए हैं; फिर भी उसे पानेके लिये हमें अपना जीवन निःस्वार्थ होकर बिताना पड़ेगा। ऐसा निःस्वार्थ जीवन जीनेके लिये मनुष्यको बहुत कुछ त्याग करना पड़ेगा और शुभ संस्कारोंकी सानपर खरा उतरना पड़ेगा, तभी आत्मोन्नति हो सकेगी और सच्चा कल्याण सधेगा।

शुभ कर्मसे ही मानवताके संस्कार सुदृढ़ हुआ करते हैं और शुभ संस्कार ही हमारी पहचान बनते हैं। अतः हमें इन सभी बातोंको ध्यानमें रखते हुए निरन्तर उस दिशामें आगे बढ़ते हुए अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। हमारे जीवनमें कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं, जब हमारा अन्तःकरण अतिविचलित हो जाता है। ऐसे समयमें हमें धैर्यसे काम लेना चाहिये और अपने मनमें यह धारणा सुनिश्चित कर लेनी चाहिये कि हमें अपने मार्गपर अटल रहना है—

सत्य कर्मके मार्ग में, कंटक आते महान्।
लेकिन जो डरता नहीं, खरा उसे पहचान॥

हमें दूसरोंकी ओर कम बल्कि अपने अंदरकी ओर अधिक देखना चाहिये और अपने कर्तव्यपर दृष्टि रखते हुए अपनी मनःस्थितिको सन्तुलित रखना चाहिये। यदि हम ऐसा जीवन जी सकें तो फिर वह दिन दूर नहीं, जब श्रीपरमात्माकी कृपा हमारे ऊपर अनायास ही हो जाय—

असंभव भी संभव बने, यदि कृपा हो जाय।
ज्यों मोती बने सीप में, पत्थर हीरा कहलाय॥

संस्कार और संस्कृति—सम्बन्धोंके अन्तःसूत्र

(डॉ० श्रीश्यामसनेहीलालजी शर्मा, एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच०डी०, डी०लिट्०)

पुरोवाक्—संस्कार और संस्कृति—इन दोनों सामाजिक उपादानोंका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। दोनों ही मानवके शरीर, आत्मा और व्यवहारके परिशोधन या परिमार्जनके आन्तरिक और बाह्य पक्षोंसे सम्बद्ध हैं। भारतीय संस्कृति सदासे ही संस्कार और सदाचारसे अनुप्राणित रही है। संस्कार एक ओर जहाँ शरीर और आत्माको सुसंस्कृत कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्तिमें सहायक बनते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे योग्य तथा चरित्रवान् संतानोंके निर्माणका मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। संस्कृति जब भी जीवनके शोधन या परिमार्जनकी क्रियासे जुड़ती है, तब उसके मूलमें शास्त्रोक्त संस्कारोंकी सम्पन्नता ही होती है। इस प्रकार संस्कार और संस्कृति—दोनोंका लक्ष्य मानवके तन-मन और आचार-विचारका शोधन है और इसी बिन्दुपर दोनों एक साथ दिखायी देते हैं।

संस्कार और संस्कृति—'संस्कार' और 'संस्कृति' शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी इन दोनों उपादानोंके पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध और समान लक्ष्यको प्रमाणित करता है। 'संस्कार' शब्द संस्कृत भाषाकी 'कृ' धातु से निष्पन्न है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'घञ्' प्रत्ययके योगसे 'संस्कार' शब्द बनता है। 'कृ' धातुका अर्थ है 'करना' और 'सम्' उपसर्गका अर्थ 'सम्यक् रूपसे' या 'भलीभाँति' है। इस प्रकार निष्पन्न संस्कार शब्दका अर्थ पूरा करना, सुधारना, सज्जित करना, माँजकर चमकाना, शृङ्गार, सजावट आदि है। इसीसे सम्बद्ध शब्द 'संस्कृत' है जो 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्त' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न है और जिसका अर्थ भी पूरा किया हुआ, माँजकर चमकाया हुआ, सुधारा हुआ, सिद्ध, सुनिर्मित तथा अलंकृत आदि होता है। इसी संस्कृत विशेषणकी संज्ञा संस्कृति है। संस्कृति शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषणभूत अर्थमें 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करनेसे निर्मित होता है, जिसका अर्थ भूषणभूत सम्यक् कृति है। इसीलिये 'भूषणभूत सम्यक् कृति' या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। यह संशोधित या परिमार्जित करनेके भावकी सूचक संज्ञा है। उपर्युक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ-संधान संस्कार, संस्कृत और संस्कृतिके पारस्परिक सम्बन्धोंको स्पष्टरूपसे संसूचित करता है। संस्कार संस्कृतिकी केन्द्रीय चेतना है। भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्ममें संस्कारोंका विशिष्ट महत्त्व है। संस्कारसम्पन्न व्यक्ति ही सुसंस्कृत, सभ्य, शिष्ट, सदाचारी और चारित्रिक दृष्टिसे उत्तम माना जाता है, जबकि संस्कारविहीन व्यक्ति अधोगतिको प्राप्त करता है। ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयकी सिद्धिके लिये मानवका संस्कार-सम्पन्न होना अपरिहार्य है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

(मनुस्मृति २।२६)

मनुने संस्कारोंको सम्पादित करनेका निर्देश देते हुए स्पष्ट कहा है कि संस्कार इस जन्म और परजन्ममें पवित्र करनेवाला है—'पावनः प्रेत्य चेह च।' यही नहीं, संस्कारसम्पन्नतासे बुरे संस्कारोंका शमन और श्रेष्ठ संस्कारोंका जन्म होता है।

सामान्यतः संस्कार शब्दका अर्थ शरीरसम्बन्धी और आत्मासे सम्बद्ध दोषोंके आहरणसे है। शारीरिक और मानसिक मलोंके अपाकरणके बिना आध्यात्मिक पूर्णताकी योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती, जो संस्कारोंका कार्य और संस्कृतिका चरम ध्येय है; क्योंकि संस्कृतिका सम्बन्ध भी किसी-न-किसी रूपमें मानव-व्यवहारके परिशोधन या परिमार्जनके आन्तरिक और बाह्य पक्षोंसे अवश्य जुड़ता रहा है।

संस्कृतिकी अवधारणा और संस्कार—जिन शाब्दिक उपादानोंसे संयुक्त होकर 'संस्कृति' शब्दका निर्माण हुआ है, उसे देखते हुए लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अभ्युदयके उपयुक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि,

अहंकार आदिको भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें संस्कृति कही जायँगी। ये भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ संस्कारित मनकी ही चेष्टाएँ हैं; क्योंकि संस्कारोंसे ही व्यक्तिको शास्त्रीय आचार-विचार और व्यवहारकी प्रबल प्रेरणा मिलती है और वह अध्यात्ममार्गका अनुगामी बनकर भगवद्भक्तिपरायण होता है। संस्कारोंसे शुचिता, पवित्रता, सदाशयता, उदात्तता तथा सात्त्विक गुणोंकी सहज प्रतिष्ठा होती है। इससे मानव-जीवन अत्यन्त मर्यादित, संयमित और आचारनिष्ठ बनता है। अतः संस्कृतिके स्वरूप-निर्माणमें संस्कारोंकी भूमिका निर्विवाद है। संस्कारोंके सुविहित शास्त्रीय विधानद्वारा निर्मल किये गये तन और मनके द्वारा ही जीवन-शोधनकी क्रिया सम्भव है, जो संस्कृतिकी विशिष्ट पहचान है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि 'संस्कार' और 'संस्कृत' शब्द तो संस्कृतसाहित्यमें बहुप्रयुक्त हैं, पर संस्कृति शब्दका प्रयोग वहाँ अपेक्षाकृत कम हुआ है। आज जिस अर्थमें 'कल्चर' के पर्यायके रूपमें संस्कृति शब्दका प्रयोग हो रहा है, इस अर्थमें संस्कृति शब्द प्राचीन संस्कृत साहित्यमें व्यवहृत नहीं मिलता। संस्कृति शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थवाला है, कल्चरसे वह भाव व्यक्त नहीं होता। कल्चर शब्द लैटिन भाषाके 'कुलतुरा' शब्दसे उद्भूत है, जिसका अर्थ है पौधा लगाना या पशुओंका पालन करना। कल्चर शब्द कल्टीवेशनका समानार्थक है। कल्टीवेशनका अर्थ कृषि-कर्मके साथ उन्नति और संवर्धन है।

संस्कृतिको मानवप्रज्ञाकी आन्तरिक चेतनाका अमृतमय विकास मानते हुए जब उसका सम्बन्ध आदर्श, आस्था, मानवता, विश्वबन्धुत्व और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व-जैसे महत् मूल्योंसे जुड़ता है तब उसके मूलमें संस्कारोंकी सत्प्रेरणा संनिहित रहती है; क्योंकि संस्कार सदाचार, सद्विचार और शास्त्रीय आचारके घटक हैं। संस्कार ही सद्विचार और सदाचरणके नियन्ता हैं। संस्कृतिने यदि मानवको पशुधर्मसे ऊपर उठाया है और इतना साधनसम्पन्न बनाया है कि स्वर्गके देवता भी ईर्ष्या करने लगें, तो संस्कारोंने उसे यह शक्ति दी है जिससे वह अपने कर्तव्य और कर्मको विधिपूर्वक करनेमें समर्थ हो सके। संस्कारोंसे सत्प्रेरणा पाकर ही संस्कृति मानवमें विद्यमान उसके अन्तःसौन्दर्यको दीप्त करनेवाली प्रक्रिया कहलाती है, जिसके आश्रयसे मानवको अपने जीवनके उच्चतम ध्येय एवं पवित्र संकल्पोंको प्राप्त करनेका दिग्बोध होता है। संस्कार तन-मनके मलोंको दूर करते हैं, तो संस्कृति अवगुणोंका परिमार्जन करती है। वस्तुतः संस्कृति सामाजिक जीवनका वह व्यापक धर्म है, जिसमें समाजकी समग्र साधना, आकाङ्क्षा एवं उपलब्धि आ जाती है।

संस्कृति आन्तरिक तत्त्व होते हुए भी धर्म, दर्शन, कला, चिन्तन, अध्यात्म, समाज, नीति आदिके रूपमें अपने-आपको अभिव्यक्त करती है। संस्कृतिका सीधा सम्बन्ध संस्कारसे है। संस्कार वस्तुको चमकाते और श्रेष्ठ बनाते हैं, उसके भीतरकी गरिमाको उद्घाटित करते हैं, तो संस्कृति जातीय संस्कारोंको उत्तम बनाने, परिष्कार करने एवं संशोधित करनेकी क्रिया है।

संस्कृति मानवीय कृति है। मानव गतिशील प्राणी है, इसीलिये संस्कृति भी निरन्तर प्रगतिशील है। जो आज की अनुभूति है वह कल संस्कारके रूपमें अवशिष्ट रह जायगी और कलकी अनुभूति सम्भवतः दूसरे प्रकारकी होगी, इसलिये दृष्टिकोण भी बदल जायगा। संस्कृति मनुष्यके दैनिक व्यवहारमें, कलामें, साहित्यमें, धर्ममें, मनोरंजन और आनन्दमें पाये जानेवाले रहन-सहन और विचारके तरीकोंमें मानव-प्रकृतिकी अभिव्यक्ति है। मनुष्यके लौकिक, पारलौकिक सर्वाभ्युदयके अनुकूल ऐसे आचार-विचारको संस्कृति कहा जा सकता है जो संस्कार-सम्पन्नताद्वारा परिशुद्ध कर लिया गया हो।

संस्कार और संस्कृतिके आयाम—जो [illegible] शास्त्रविहित विधिसे सम्पन्न संस्कारोंद्वारा होता है [illegible] कार्य संस्कृतिकी पहचान बनता है अर्थात् संस्कृति [illegible] भाव, कर्म, वृत्ति, प्रकृति, मन, चित्त, बुद्धि और [illegible] सभीका संस्कार करती है। संस्कार और संस्कृति [illegible] जीवनचर्या और बुद्धि-सम्पदाको प्रदर्शित करते हैं।

संस्कृतिका गहरा सम्बन्ध धर्म, दर्शन और [illegible] साथ भी है। अतः [illegible]

नैतिकताके साथ जुड़ता है। अपने व्यापक अर्थमें धर्म मानवके समूचे शुभाचरणको समेट लेता है। वह समस्त मानवताका ज्योतिर्मय आचार-कलश है। वह श्रद्धासिक्त कार्योंके प्रति मानवकी आचारनिष्ठा है। वह जीवन्त आस्थाका पुष्ट कर्मरूप है।

संस्कृति मानवका समग्र संस्कार करती है। मानवकी सभी वृत्तियोंका परिष्कार, परिमार्जन संस्कृतिके माध्यमसे होता है। अत: संस्कारों (गर्भाधान, जातकर्मादि)-की सम्पन्नताको शरीर और आत्माकी परिशुद्धतासे जोड़ते हुए शास्त्रोंने संस्कारोंके करनेके व्यापक नियमोंका निर्देश किया है। इतना ही नहीं, संस्कारसम्पन्न मानव दया, करुणा, अहिंसा, मानवता, आदर्श, आस्था, दान, सत्य, प्रेम, उदारता, त्याग और बन्धुत्व-जैसे महनीय गुणोंसे संयुक्त होता है। संस्कार मानव-स्वभावपर शासन करता है। मानव-हृदयको मृदुल एवं पावन बनानेकी क्षमता संस्कारोंमें है। मानव-हृदय संस्कारोंसे ही उदार और विशाल बनता है। इसी दृष्टिसे संस्कार, संस्कृति और धर्ममें गहरा सम्बन्ध है।

नैतिकताका आधार नीति है, जो करणीय-अकरणीयका भेद बताकर करणीयका निश्चय कराती है। जीवनके विविध क्षेत्रोंमें संस्कारित मानवने जो अनुभव अर्जित किये हैं, उन्हींके आलोकमें युग-युगमें मनीषी आचार्योंने नीतिका निर्धारण किया है और बताया है कि व्यक्ति और समाजके कल्याणके लिये क्या करनेयोग्य है और क्या न करनेयोग्य। इस नीतिसे जो कर्तव्यभाव मानवजातिमें विकसित होता है, वही नैतिकता है। व्यापक रूपसे समाजकी स्थिति एवं रक्षाके लिये किया जानेवाला प्रयत्नविशेष शील किंवा नैतिकता है। यह शील संस्कारका ही एक घटक है। अत: संस्कार और संस्कृतिके विविध आयामोंके साथ नैतिकताका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

वर्तमान परिदृश्यमें संस्कार और संस्कृति—यह निर्विवाद है कि उत्तम संस्कारसे श्रेष्ठ संस्कृतिका स्वरूप बनता है, इसीलिये भारतीय धर्मशास्त्रोंमें संस्कारसम्पन्न व्यक्तिके अभ्युदय और संस्कारविहीन व्यक्तिके पतनकी बात बार-बार कही गयी है। संस्कारोंसे शुचिता, पवित्रता, सदाशयता तथा सात्त्विक गुणोंकी सहज प्रतिष्ठा होती है, पर आधुनिक सभ्यताके दबावमें मानव संस्कारहीन होकर तीव्र गतिसे पतनोन्मुख हो रहा है।

आज स्वार्थ, भौतिक सुख, धन, पद, प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण और परम्परागत शास्त्रीय मूल्य अर्थहीन हो गये हैं। ऐसे समयमें जब तथाकथित भौतिक विचारधारासे प्रभावित तथा मानसिक रूपसे अपरिपक्व लोग जीवनके शाश्वत मूल्योंसे विमुख होकर एक ऐसी संस्कारहीन संस्कृतिका पोषण कर रहे हैं तो सच्ची उन्नति होना कैसे सम्भव है? यह तो अधोगतिका मार्ग है। मनुष्यको इस अधोगामितासे रोकनेके लिये शास्त्रोक्त संस्कारोंकी विधिसम्मतताको स्वीकार करना ही होगा, तभी संस्कृतिका उदात्तस्वरूप बना रह सकता है।

~~~ o ~~~

अपने चरित्रका निर्माण करो

यदि तुम अपनी गलतियोंके नामपर, घर जाकर सिरपर हाथ रख जन्मभर रोते रहोगे तो उससे तुम्हारा उद्धार नहीं होनेका, बल्कि उससे तुम और भी दुर्बल हो जाओगे। यदि कोई कमरा हजारों वर्षोंसे अन्धकारपूर्ण हो और तुम उसमें जाकर रोने-धोने लगे—हाय! बड़ा अँधेरा है तो क्या उसमेंसे अँधेरा चला जायगा? सारे जीवन यदि तुम अफसोस करते रहो—अरे, मैंने अनेक दुष्कर्म किये, बहुत-सी गलतियाँ कीं तो उससे क्या लाभ? हममें बहुत-से दोष हैं—यह किसीको बतलाना नहीं पड़ता। दोष-दुर्गुण दूर करनेका दृढ़तासे उपाय करो, ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो, एक क्षणमें सब अशुभ चला जायगा। अपने चरित्रका निर्माण करो और अपने प्राकृत स्वरूपको—उसी ज्योतिर्मय, उज्ज्वल, नित्यशुद्ध स्वरूपको प्रकाशित करो तथा प्रत्येक व्यक्तिमें उसी आत्माको जगाओ।

~~~ o ~~~

आख्यान—

सर्वहितकारी संस्कार—अतिथि-सत्कार

(डॉ० सुश्री विजयलक्ष्मीसिंहजी)

अतिथि-सत्कार ऐसा परम हितकारी संस्कार है, जिसके अनुपालनमात्रसे उत्तम गति प्राप्त करना सम्भव है। यहाँ महाभारतमें वर्णित अतिथि-सत्कारका एक ऐसा आख्यान प्रस्तुत है, जिसमें एक कबूतरने अतिथिके भोजनके लिये अग्निमें अपनी ही आहुति दे दी—

किसी बड़े जंगलमें एक बहेलिया रहता था। वह प्रतिदिन जाल लेकर वनमें जाता और पक्षियोंको मारकर उन्हें बाजारमें बेच दिया करता था। उसके इस भयानक तथा क्रूर कर्मके कारण उसके मित्रों तथा सम्बन्धियों—सबने उसका परित्याग कर दिया था, किंतु उस मूढ़को अन्य कोई वृत्ति अच्छी ही नहीं लगती थी।

एक दिन वह वनमें घूम रहा था, तभी बड़ी तेज आँधी उठी और देखते-देखते मूसलाधार वृष्टि होने लगी। आँधी और वर्षाके प्रकोपसे सारे वनवासी जीव त्रस्त हो उठे। ठंडसे ठिठुरते और इधर-उधर भटकते हुए बहेलियेने शीतसे पीड़ित तथा भूमिपर पड़ी हुई एक कबूतरीको देखा और उसे उठाकर अपने पिंजरेमें डाल लिया। चारों ओर गहन अन्धकारके कारण बहेलिया एक सघन पेड़के नीचे पत्ते बिछाकर सो गया।

उसी वृक्षपर एक कबूतर निवास करता था, जो दाना चुगने गयी, अभीतक वापस न लौटी अपनी प्रियतमा कबूतरीके लिये विलाप कर रहा था। उसका करुण विलाप सुनकर पिंजरेमें बंद कबूतरीने उसे अभ्यागत बहेलियेके आतिथ्य-सत्कारकी सलाह दी और कहा—'प्राणनाथ! मैं आपके कल्याणकी बात बता रही हूँ, उसे सुनकर आप वैसा ही कीजिये, इस समय विशेष प्रयत्न करके एक शरणागत प्राणीकी आपको रक्षा करनी है। यह व्याध आपके निवासस्थानपर आकर सर्दी और भूखसे पीड़ित होकर सो रहा है, आप इसकी सेवा कीजिये, मेरी चिन्ता न कीजिये।' पत्नीकी धर्मानुकूल बातें सुनकर कबूतरने विधिपूर्वक बहेलियेका सत्कार किया और उससे कहा—'आप हमारे अतिथि हैं, बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

इसपर बहेलियेने कबूतरसे कहा—इस समय मुझे सर्दीका कष्ट है, अतः हो सके तो ठंडसे बचानेका कोई उपाय कीजिये।

कबूतरने शीघ्र ही बहुत-से पत्ते लाकर बहेलियेके पास रख दिये और यथाशीघ्र लुहारके घरसे अग्नि लाकर पत्तोंको प्रज्वलित कर दिया। आग तापकर बहेलियेकी शीतपीड़ा दूर हुई। तब उसने कबूतरसे कहा कि मुझे भूख सता रही है, इसलिये कुछ भोजन करना चाहता हूँ।

यह सुनकर कबूतर उदास होकर चिन्ता करने लगा। थोड़ी देर सोचकर उसने सूखे पत्तोंमें पुनः आग लगायी और हर्षित होकर बोला—मैंने ऋषियों, महर्षियों, देवताओं और पितरों तथा महानुभावोंके मुखसे सुना है कि अतिथिकी पूजा करनेमें महान् धर्म होता है। अतः आप मुझे ही ग्रहण करनेकी कृपा कीजिये।

इतना बोलकर तीन बार अग्निकी परिक्रमा करके वह कबूतर आगमें प्रविष्ट हो गया। महात्मा कबूतरने देह-दानद्वारा अतिथि-सत्कारका ऐसा उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया कि व्याधने उसी दिनसे अपना निन्दित कर्म छोड़ दिया। कबूतर तथा कबूतरी—दोनोंको आतिथ्यधर्मके अनुपालनसे उत्तमलोक प्राप्त हुआ। दिव्य रूप धारण कर श्रेष्ठ विमानपर बैठा हुआ वह पक्षी अपनी पत्नीसहित स्वर्गलोक चला गया और अपने

सत्कर्मसे पूजित हो, वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगा—

ततः स्वर्गं गतः पक्षी विमानवरसंस्थितः।
कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे स सह भार्यया॥

(महा०, शान्ति०, १४८।१६)

संस्कार-परिपालनमें कालज्ञान

(श्रीसीतारामजी शर्मा)

समय-समयपर विभिन्न आध्यात्मिक उपायोंद्वारा मनुष्यको सुसंस्कृत बनानेकी महत्त्वपूर्ण संस्कारपद्धति भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने निर्दिष्ट की है, जो मुख्यतः कालपर आधारित है। कालको भगवान्‌का स्वरूप बताया गया है। कालकी गतिसे ही सब कुछ सञ्चालित एवं नियन्त्रित होता है। मूलरूपसे सर्वथा अविभाज्य काल-तत्त्वको सुचारु जीवनचर्याके लिये सूर्य-चन्द्रमाके परिभ्रमणके अनुसार विभाजित किया गया है। तदनुसार संवत्सर, अयन आदि भेद होते हैं। संवत्सरके पूर्व युग, मन्वन्तर, कल्प आदिकी भी गणना होती है। यहाँ संवत्सर आदिका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

संवत्सर—सौर, सावन, बार्हस्पत्य, चान्द्र और नाक्षत्र-भेदसे संवत्सर पाँच प्रकारका होता है। सौरमें जन्मसम्बन्धी कार्य, सावनमें यज्ञादि, बार्हस्पत्यमें तीर्थयात्राएँ, चान्द्रमें सर्व-कर्म और नाक्षत्रमें आयुनिर्णय आदि करने उचित हैं।

अयन—तीन-तीन ऋतुओंके अर्थात् छः-छः मासके सौम्य और याम्य—दो अयन होते हैं। सौम्यायनमें विवाह आदि एवं याम्यायनमें भैरव, नरसिंह तथा त्रिविक्रम आदिकी प्रतिष्ठा शुभ कही गयी है। सूर्य जब मकरराशिमें प्रवेश करता है तबसे उत्तरायण होता है और सूर्यके कर्क-राशिमें प्रवेश करनेपर दक्षिणायन होता है।

ऋतु—सौर और चान्द्रभेदसे दो-दो मासकी छः ऋतुएँ होती हैं। उनमें श्रौत-स्मार्तकी सब क्रियाएँ चान्द्रमें और अन्य संस्कारकर्म सौरमें किये जाते हैं।

मास—सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र—चार प्रकारके मास हैं। एक संक्रान्तिसे दूसरी संक्रान्तितकका सौर, ३० दिनका सावन, दो पक्षोंका चान्द्र और चान्द्रके २७ नक्षत्रोंके योगका नाक्षत्रमास होता है। उनमें भी अमान्त और पूर्णिमान्त—दो भेद हैं। अमान्तमें वैदिक कार्य और पूर्णिमान्तमें स्मार्त कार्य किये जाते हैं।

अधिमास—३२ महीने, १६ दिन और ४ घड़ीके अन्तरपर अधिमास आता है। यदि किसी वर्ष दो अधिमास आ जायँ तो पहला श्रेष्ठ और दूसरा मलिम्लुच होता है। इसमें सभी शुभ कर्म एवं संस्कार वर्जित हैं। परंतु किसी प्रकारका काम्य या सदनुष्ठान पहलेसे ही आरम्भ किया जा चुका हो और उसकी समाप्तिके समय यदि अधिमास आ जाय तो समापन नहीं रोका जाता।

संक्रान्ति—सूर्यके मेषादि राशिमें योगसे संक्रान्ति होती है। सौर वर्षमें ये बारह होती हैं। इनमें छः उत्तरायण और छः दक्षिणायनकी हैं। सामान्यरूपसे संक्रान्तिकी पूर्वापरकी १६-१६ घड़ियाँ पुण्यकाल होती हैं। यदि रात्रिके पूर्वभागमें संक्रान्ति हो तो तत्सम्बन्धी दान-पुण्य एवं संस्कारादि कार्य पूर्वदिनमें अन्यथा परदिनमें करने चाहिये।

पक्ष—शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष—इनमें शुक्लपक्षमें शुभ और कृष्णपक्षमें तदनुकूल उग्र कर्म किये जाते हैं।

दिन—चान्द्र, सौर, सावन और नाक्षत्र भेदसे चार प्रकारका होता है।

तिथि—एक अमाके अन्तसे दूसरी अमाके आरम्भपर्यन्त तीसवाँ भाग तिथि होती है। प्रतिपदा, द्वितीया आदि तिथियाँ होती हैं। सूर्योदयकी तिथि यदि दोपहरतक न रहे तो वह खण्डा होती है। उसमें संस्कारादि वर्जित हैं। सूर्योदयसे सूर्यास्तपर्यन्त रहनेवाली तिथियाँ अखण्डा होती हैं। यदि गुरु-शुक्रका अस्त, बालत्व और वृद्धत्व न हो तो उसमें संस्कार आरम्भ करना अच्छा है। संस्कारसम्बन्धी जिस कर्मके लिये शास्त्रोंमें जो समय नियत हो, उस समय यदि संस्कारकी तिथि मौजूद हो तो उसी दिन उस तिथिमें संस्कारसम्बन्धी कार्य करने चाहिये।

जो तिथि संस्कारके लिये आवश्यक नक्षत्र और योगसे युक्त हो, वह यदि तीन मुहूर्त हो तो भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ होती है। जन्म और मरणमें तात्कालिक तिथि ग्राह्य मानी गयी है। विशेषकर देवकार्योंमें सूर्योदयकी तिथि उपयोगी होती है। मन्वादि, युगादि, ग्रहणद्वय, व्यतीपात और वैधृतिमें तत्कालव्यापिनी तिथि ली जाती है।

वार—आजके सूर्योदयसे आरम्भ होकर आगामी सूर्योदयपर्यन्तकी ६० घड़ियोंका एक वार होता है। वारोंका गणनाक्रम सूर्य, सोम, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि है। मुहूर्त-ग्रन्थोंमें वार-प्रवृत्ति देशभेदके अनुसार कभी सूर्योदयसे पहले और कभी पीछे बतलायी गयी है। वास्तवमें सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त यथार्थ है।

नक्षत्र—नक्षत्र अथवा तदधिष्ठाता देवताका पूजन करके संस्कार किया जाता है। अश्विनीके अधिष्ठाता अश्विनीकुमार, भरणीके यम, कृत्तिकाके अग्नि आदि हैं। नाक्षत्रादि संस्कार अनिष्टकारी देवताकी शान्ति अथवा अभीष्टदाता ग्रहकी प्रसन्नताहेतु किये जाते हैं।

उपयुक्त मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण आदि संस्कारानुष्ठानमें सहयोग करते हैं।

संस्कारानुष्ठानहेतु कालज्ञानकी अत्यन्त आवश्यकता है। इनके लिये शास्त्रोंमें जो समय नियत किये गये हैं, उस समयके अनुसार ही अनुष्ठान किये जाने चाहिये, जिससे यथोचित फलोंकी प्राप्ति हो सके। सभी धर्मोंमें संस्कारोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कार मनुष्यको परिष्कृत करते हैं। संस्कार मनुष्यके शरीर तथा मनपर ही नहीं, सूक्ष्म अन्तःकरणपर भी प्रभाव डालते हैं। इनके प्रभावसे मनुष्यको गुण-कर्म-स्वभावकी दृष्टिसे समुन्नत स्तरकी ओर उठनेमें सहायता मिलती है। कालगणनाके अनुसार किये हुए संस्कारोंद्वारा मनुष्य देवत्वकी प्राप्ति कर सकता है। ऋषि-मुनियोंने विविध संस्कारोंका समय-निर्धारण बहुत ही सूक्ष्म साधनाके आधारपर किया है। कालके यथोचित परिपालनसे ही संस्कारमें पूर्णता आती है। इस दृष्टिसे प्रत्येक संस्कारका काल नियत है। अतः उस नियत कालका ज्ञान रखना आवश्यक है। मनमाने समयपर संस्कार-कर्म करनेसे व्यक्ति संस्कारच्युत हो जाता है।

~~~o~~~

'संस्कार' मानवके लिये अपरिहार्य

(डॉ० श्रीरामेश्वरप्रसादजी गुप्त)

'रत्न' का मूल्य उसके संस्कारित होनेपर ही होता है, अन्यथा उसकी गणना सामान्य पत्थरमें ही प्रायः होती है। इसी प्रकार संस्कारित होनेपर ही मनुष्य ओज, तेज और यशःपूत बनता है। इसीलिये पण्डितवर्गोंने कहा है—

संस्कारशौचेन परमपुनीते
शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः॥

वस्तुतः मनुष्यको सही मानव या शान्त, सुशिक्षित, शीलवान् एवं सभ्य मानव बनानेमें संस्कारोंकी प्रमुख भूमिका होती है। शारीरिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिसे पुष्ट एवं परिपूर्ण बनाने तथा मानवता सिखानेके सशक्त, सार्थक एवं समर्थ साधन या माध्यम संस्कार ही होते हैं। महर्षि अङ्गिराने स्पष्ट किया है कि विधिपूर्वक सम्पन्न किये गये संस्कारोंसे संस्कृत व्यक्ति परम तत्त्वको या परमानन्दको प्राप्त करता है, जैसे कि अनेक रंगोंसे विधिपूर्वक सुसज्जित चित्र आह्लाद देनेमें समर्थ होता है—

चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

'संस्कार' दोषपरिमार्जन हेतु एवं व्यक्तिमें गुणोंके आधानके लिये अपरिहार्य हैं। जैसे मिट्टीको घड़ेका सौन्दर्य एवं स्वर्णको नाना आभूषणोंके रूपका सौन्दर्य तत्सम्बन्धित संस्कार ही प्रदान करते हैं, उसी प्रकार मानवको उसकी वाणी, व्यवहार, बोल-चाल, उठने-बैठने, अनुशासनमें रहने एवं शील आदिका सौन्दर्य 'मानवीय संस्कार' ही प्रदान करते हैं।

मानवमात्रका संस्कारित होना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा या साक्षरता और संस्कारमें संस्कार ही अपरिहार्य एवं महत्त्वपूर्ण है। राक्षसराज रावण ज्योतिष, साहित्य, कर्मकाण्ड, वेद एवं राजनीतिका परम ज्ञाता था। वह तपस्वी एवं उत्तम या कुलीन वंशका भी था—

खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति धर्म मैं जानत अहऊँ॥
* * * *
उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥
(रा०च०मा० ६।२२।४; ६।२०।३)

किंतु सर्वनीतियोंमें पारङ्गत एवं तपस्वी होनेपर भी संस्कारोंसे रहित होनेके कारण अत्यन्त विद्वान् तथा ज्ञानसम्पन्न 'रावण' को राक्षसत्व ही मिला और वह हेय राक्षसकोटिमें ही परिगणित हुआ; जबकि 'राम' सुसंस्कृत होनेके कारण एवं संस्कारोंके अनुसार सदाचार एवं शीलसम्पन्न होनेसे विश्ववन्द्य बन गये। राजा दशरथने रामसहित सभी पुत्रोंके जन्मसे लेकर सभी संस्कार सुरुचित रूपमें सम्पन्न कराये थे—

नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥
* * * *
कनछेदन उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
(रा०च०मा० १।१९७।३; १।२०४।३)
~~~

उक्त संस्कारोंकी सम्पन्नताके कारण ही रामादि चारों भाइयोंमें शील आदि सद्गुणोंकी सहज सम्पन्नता थी—

चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥
(रा०च०मा० १।१९८।६)

स्पष्ट है कि संस्कारोंसे मनुष्यमें मानवताका आधान होता है एवं समस्त गुणोंमें परम श्रेष्ठ शील नामक गुणका सञ्चार होता है।

सोलह संस्कारोंमें सर्वप्रधान एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रथम संस्कार **'गर्भाधान-संस्कार'** है। क्षेत्रकी शुद्धिमें बीजारोपणसे सुफलप्रदायी संतानका जन्म होता है। गर्भाधान पत्नी-पतिका समागम या भोग नहीं है, अपितु सात्त्विक वंशपरम्पराको संधारण करनेका संयमपूर्ण सतोगुणी सुयत्न है। आदर्श और अमल विचारोंसे समन्वित पति-पत्नी तपःपूत होकर जब संतानकी कामनासे गर्भाधान-संस्कारमें संरत होते हैं, तो वे मनस्वी, यशस्वी तथा श्रेष्ठ संतानकी उपलब्धिके कारण बनते हैं। परम मनस्वी एवं तेजस्वी प्रह्लादकी माँके संयमका फल ही उन्हें प्रह्लादके रूपमें प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार राजर्षि एवं प्रकाण्ड विद्वान्, पण्डित, दार्शनिक राजा भर्तृहरि अपने माता और पिताके सदाचरणपूर्ण पवित्र संयमके परिपाकके रूपमें प्रकट हुए थे, जिन्होंने समस्त विश्वको अपनी सुकीर्तिसे सुवासित किया था। गर्भाधान-संस्कारके लिये अच्छे विचार, पावन एवं निश्छल मानसिकता, तपःपूत चिन्तन एवं संयमशक्ति अपरिहार्य तत्त्व हैं, जिनसे शीलवान् संतानकी उपलब्धि होती है। प्रायः सभी प्रमुख स्मृतियों तथा गृह्यसूत्रोंमें उक्त संस्कारकी सात्त्विक सम्पन्नताके सूत्र समुपलब्ध हैं।

'पुंसवन-संस्कार' गर्भस्थ जीवको सत्त्व या आत्मिक बलसे संयुक्त करनेके लिये होता आया है। इसमें माङ्गलिक मन्त्रानुष्ठानोंसे गर्भस्थ जीवको ऊर्जा और तेज प्रदान करनेका सुयत्न होता है।

'सीमन्तोन्नयन-संस्कार' क्षेत्रकी पुनः शुद्धि तथा गर्भगत बालककी समुचित रक्षा या योग तथा क्षेमके लिये सम्पन्न किया जाता है। इसमें गर्भवती स्त्रीकी प्रसन्नताहेतु भी उपक्रम करणीय हैं, जिससे कि गर्भस्थ शिशुमें प्रसन्नता एवं आनन्दका सहज आधान हो सके। इस संस्कारमें सद्विचारसे परिपूर्ण माता स्वस्थ चिन्तनोपेत होकर अपने चतुर्मुखी आनन्दपूर्ण वातावरणसे गर्भस्थ शिशुको शिक्षा, ज्ञान, सुचिन्तन, विवेक एवं प्रतिभासे सम्पन्न बनानेका उपक्रम करती है। अर्जुनपुत्र अभिमन्युने गर्भमें इसी संस्कारके माध्यमसे अपने पिता अर्जुन और माता सुभद्रासे शिक्षा प्राप्तकर चक्रव्यूहके छः द्वारोंके भेदनमें दक्षता प्राप्त की थी। माता-पिता और वातावरणकी प्रसन्नता तथा माता-पिताके सुविचारोंका प्रभाव गर्भस्थ शिशुपर पूर्णरूपसे होता है। यही प्रभाव जातकको जीवनभर प्रभावी बनाता है। अतः गर्भस्थ शिशुके कल्याणहेतु माता-पिताकी मानसिकताका निर्विकार होना अत्यन्त आवश्यक है। उस समय माता-पिताको लोभ, क्रोध, वासना, अहङ्कार, कलह, चिन्ता, शोक आदिसे दूर रहना चाहिये; जो गर्भस्थ शिशुके हितमें होता है।

'जातकर्म-संस्कार' जातकके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्यके लिये तथा पवित्रता और स्वच्छता-संधारणके लिये अपरिहार्य होता है।

नामका प्रभाव जातकपर अवश्य होता है, अतः **'नामकरण-संस्कार'** में चित्तमें रमनेवाले आदर्श महापुरुषोंके नामपर विचार करके जातकका नामकरण किया जाता है। इस संस्कारके दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं—आयु और तेजकी वृद्धि तथा सांसारिक व्यवहारकी सिद्धि। स्मृतिकारोंने इस संस्कारकी सम्पन्नताका समय जन्मके दसवें दिनसे लेकर एक वर्षपर्यन्त निर्धारित किया है।

नामकरणके पश्चात् जातकका **'निष्क्रमण-संस्कार'** करनेका विधान है। सुखद वातावरण, सूर्यका समुचित प्रकाश एवं वायुकी स्वच्छता आदिकी प्राप्ति इस संस्कारका उद्देश्य है।

'अन्नप्राशन-संस्कार' जातककी छः माहकी अवस्था सम्पूर्ण होनेपर करणीय है। इस संस्कारके पश्चात् जातकको 'सात्त्विक अन्न' अल्प मात्रामें प्रदान किया जाता है। यह संस्कार जातककी दैहिक पुष्टि एवं उसके संवर्धनहेतु होता है।

'चूडाकरण-संस्कार' बालकके बल तथा बुद्धिकी वृद्धिके लिये होता है। इसका ध्येय स्वच्छता, पवित्रता, सौन्दर्यवर्धन एवं पुष्टि भी मान्य है। उसमें शिखाका रखना ज्ञानशक्तिकी चैतन्यता तथा ज्ञानवृद्धिहेतु माना गया है, क्योंकि शिखाकी सुस्थिति बुद्धिचक्रके समीप होती है।

'कर्णवेध-संस्कार' मनकी एकाग्रता एवं चित्तकी सुस्थिरताहेतु परिगणित है।

चूडाकरण एवं कर्णवेधके पश्चात् महत्त्वपूर्ण एवं

परमोपयोगी 'उपनयन-संस्कार' आता है। इसे यज्ञोपवीत-संस्कार भी कहते हैं। यह संस्कार व्यक्तिको द्विजन्मा कोटिमें परिगणित कराता है। यह संस्कार ब्रह्मतत्त्वज्ञानप्राप्तिका मूल द्वार कहा गया है। जीवनको व्यवस्थित करने एवं लक्ष्यको प्राप्त करनेहेतु यह संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय है। इस संस्कारकी सम्पन्नताका समय आचार्योंने जातककी ८ वर्षकी आयुसे मान्य किया है।

'उपनयन-संस्कार' के सन्मार्गको 'वेदारम्भ-संस्कार' प्रशस्त करता है। इसमें ब्रह्मचारी नाना प्रकारकी विद्याओंमें निष्णात हो जाता है। इसके पश्चात् 'समावर्तन-संस्कार' होता है। शिक्षा या विद्याप्राप्तिके पश्चात् ब्रह्मचारीको इस संस्कारके माध्यमसे सुज्ञानके अनुसार आचरणके लिये प्रेरणापूर्ण उद्बोधन प्राप्त होता है। 'समावर्तन-संस्कार' में आचार्य अपने शिष्योंको सदाचरणहेतु सुन्दर तथा सुबोध सूक्तियोंद्वारा सदुपदेश देकर शिष्योंका मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह दीक्षान्त उपदेश होता है। इसका सार्वभौम महत्त्व उपनिषद्के प्रस्तुत कथनमें सहज ही स्पष्ट है। आचार्य शिष्यको निर्देश करते हैं—'**सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। "यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।**' इत्यादि।

समावर्तन संस्कारोपरान्त मानव-जीवनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं पुरुषार्थकी उपलब्धिका प्रमुखाधार 'विवाह-संस्कार' है। विवाह-संस्कारमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'सप्तपदी' है। सप्तपदीके सुवाक्योंका अनुकरण एक दम्पतीको सहज ही पुरुषार्थचतुष्टयकी उपलब्धि करानेमें सम्यक् साधन बनता है एवं नर-नारीके जीवनको धन्य बनाता है।

'पारस्करगृह्यसूत्र' में उल्लिखित सप्तपदीका चिन्तन सत्त्व, शौर्य, क्षमता एवं सन्मार्गकी प्रेरणा प्रदान करता है। उक्त गृह्यसूत्रमें सप्तपदीके वचन अवलोकनीय हैं—

'**एकमिषे, द्वे ऊर्जे, त्रीणि रायस्पोषाय, चत्वारि मायोभवाय, पञ्च पशुभ्यः, षड् ऋतुभ्यः, सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव।**'

मानव-जीवनको सौन्दर्य प्रदान करनेवाली सप्तपदीकी ये सप्तरश्मियाँ परम मनोरम हैं, जो सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचारकी प्रेरणा देकर मानव-जीवनको कृतकृत्य कर आनन्दरूप मोक्षका अनुगमन कराती हैं। उक्त पंक्तियोंका तात्पर्य है कि 'यरवधूका अग्निप्रदक्षिणा करनेके लिये तत्पर प्रथम पद सात्त्विक अन्नके अर्जनके लिये हो, द्वितीय पद (सत्कर्मसे प्राप्त सदन्नके उपभोगसे) ऊर्जा प्रदान करे, तृतीय पद संतोषरूपी सुधनसे परितृप्त करे, चतुर्थ पद संसारमें असंसारी निर्लिप्तभावरूपी सम्पदासे संतृप्त करे, पञ्चम पद जीवधारियोंसे स्नेह, सहृदयता उत्पन्न कराये, षष्ठ पद ऋतुओंके अनुसार समयोचित संयम प्रदान करे तथा सप्तम पद हममें एवं सभी मानवोंमें मैत्रीभाव उत्पन्न कराये।' 'विवाह-संस्कार' की उक्त सप्तपदीके चिन्तनमें परम कल्याणकारी एवं मानवके लिये हितकारी तथा शाश्वत रूपसे आह्लादकारी अनुकरणीय तत्त्व विद्यमान हैं।

विवाह-संस्कारके पश्चात् उक्त मनोरम चिन्तनसे उपेत व्यक्ति अपने गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका निःस्पृहरूपसे परिपालन करता हुआ अपनी आयुके पचास वर्षोंतक धर्म, अर्थ और कामका सदाचारपूर्वक सञ्चयन कर पुनश्च मोक्षके प्रति ध्यान केन्द्रित करनेके लिये उद्यत होता है, तब उसके लिये 'वानप्रस्थ-संस्कार' से संस्कारित होनेका विधान है। निःस्पृहता एवं अनासक्ति इस संस्कारका आधार है।

वानप्रस्थ-संस्कारके संयमसे संन्यास-आश्रमकी भूमिका तैयार होती है। 'संन्यास-संस्कार' आत्माको परमात्मासे मिलानेका श्रेयस्कर कार्य करता है। इस संस्कारसे त्याग एवं अनासक्तिका भाव उदित होता है और व्यक्ति परम शान्तिको प्राप्त करता है। जैसा गीतामें उल्लेख है कि—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२।७१-७२)

अन्तिम संस्कार 'अन्त्येष्टि-संस्कार' है। वस्तुतः इसमें जीवकी सद्गतिका विधान है। जैसे प्राणीका जन्म मङ्गलमय मान्य है, उसी प्रकार प्राणीकी मृत्यु भी मङ्गलमय सुमान्य है। श्रद्धाके साथ किया गया अन्तिम संस्कार जीव और उसके परिवारके श्रेयके लिये होता है। दान और पिण्डदान—ये दो जीवकी शान्तिके हितकारक साधन कहे गये हैं।

निष्कर्षतः मानव-जीवन सम्पूर्ण कर्मभूमि [illegible] पुरुषार्थ-चतुष्टयकी उपलब्धि, परम शान्ति और सद्गतिके लिये संस्कारोंसे सुसंस्कारित होना अनिवार्य एवं आवश्यक है।

संस्कार, संस्कृति और साधना

(वैद्य श्रीबद्रीनारायणजी शास्त्री)

जिस प्रकार विश्वात्माका खेल यह संसार है, वैसे ही शरीर और जीवात्माका संगम हमारा व्यक्तित्व है। इसमें शरीर विश्व-प्रकृतिका प्रतिनिधि है। संसारकी सत्ता तो दीखती है पर यही सब कुछ नहीं, इसके पीछे परमात्माकी सत्ता है। इसी प्रकार शरीरकी सत्ता दीखती है पर वही अन्तिम सत्ता नहीं, उसका स्वामी जीवात्मा है।

विश्वका स्वामी विश्वात्मा है तथा शरीरका स्वामी जीवात्मा। विश्व विश्वात्माके लिये तथा शरीर जीवात्माके लिये है। मकान उसके मालिकके लिये होता है, मालिक मकानके लिये नहीं। भोजन हमारे लिये है, हम भोजनके लिये नहीं। विश्व और शरीर परिवर्तनशील हैं, परमात्मा और जीवात्मा अपरिवर्तित अजर, अमर, अनादि और अनन्त हैं। संसार है—यह सत्य है, हम संसारमें हैं—यह भी वास्तविकता है, हम चाहें या न चाहें इसमें रहनेको बाध्य हैं। शरीर है—यह असत्य नहीं। हम इस शरीरमें निवास कर रहे हैं—यह भी सत्य है, पर यह शरीर ही हमारा साध्य नहीं—यह भी यथार्थ है। सत्य है कि एक दिन इस शरीरको अनिवार्यत: छोड़ना पड़ेगा, इस ममताके संसारको छोड़ना पड़ेगा। यही यथार्थवादी विचार हमारी संस्कृतिका आधार है। हमारे सम्पूर्ण क्रिया-कलाप इस मौलिक विचारको केन्द्र बनाकर ही क्रियान्वित होने चाहिये। इस विचारमें त्याग और भोग—दोनोंका समन्वय है। भौतिक विकास और आध्यात्मिक उत्कर्ष दोनोंका सामञ्जस्य है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, भुक्ति और मुक्ति, प्रेय और श्रेय तथा विद्या और अविद्याकी इस संगम-स्थलीपर हमारी संस्कृतिका भव्य प्रासाद खड़ा है। पशुजीवन निरा प्रकृतिपरक है, प्रवृत्तिमय है, उसमें कोई विकास नहीं, वह सदासे एक-सा है किंतु मानव-जीवन प्रकृतिपरक प्रवृत्तियोंपर संस्कृतिका सौध बनाता है, वह उसे संस्कारित करता है। वह प्रकृति और संस्कृतिका संगम है। मानव-जीवन संस्कारोंसे समृद्ध होता है और उसे भव्य उत्कर्षकी ओर ले जाता है। वह प्रकृतिको संस्कारोंसे अलंकृत करता है, उसे अपनी चेतनासे जाग्रत् कर जगमगाता है और उसमें सद्भावनाओंके रंग भरता है।

स्वर्ण प्राकृतिक है, स्वर्णकार अपनी चेतनासे, अपनी कलासे उसमें सौन्दर्य भरता है, उसे अलंकारका स्वरूप प्रदान करता है। वैद्य लोहे-जैसी धातुको संस्कारित कर भस्म बनाता है, उसमें अपार शक्ति भर देता है और उसे अमूल्य बना देता है। माली उपवनके झाड़-झंखाड़ साफ करके वृक्षोंको अपनी कलासे चमत्कृत करता है, उनमें सौन्दर्य भरता है और उनको सजाता है।

संस्कार प्रकृतिका परिमार्जन करते हैं, उसका शोधन करते हैं, प्राकृतिक प्रवृत्तियोंका उन्नयन करते हैं, उनको मर्यादित करते हैं—संयमित करते हैं, जिससे नैतिकताकी अभिव्यक्ति होती है। वे कण्टकाकीर्ण भूमिको स्वच्छ, निरापद, आलोकित और प्रशस्त बनाते हैं। दोषोंका निराकरण कर गुणोंका आधान करते हैं। नरको नारायण बनाना, पुरुषको पुरुषोत्तम बनाना वैदिक संस्कृतिका मौलिक संदेश है। चन्द्रमा षोडश कलाओंसे सम्पन्न होकर पूर्ण होता है तथैव मानव-जीवन षोडश संस्कारोंसे समृद्ध होता है, परिपूर्ण होता है।

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, दीक्षान्त, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि-संस्कार आयुक्रमसे व्यक्तित्वको आलोकित करते हैं।

यहाँपर संक्षेपमें नामकरण-संस्कारपर विचार प्रस्तुत हैं। सम्पूर्ण परिवार और समाज नवजात शिशुका अभिनन्दन करता है, उसे गौरवमण्डित करता है। नवजीवनकी यह अर्चना यथार्थपर आधारित है। नामकरणद्वारा नवागतको माता-पिता नाम प्रदान करते हैं। समाज उस नामको स्वीकृति देता है। वह समाजका मान्य सदस्य बनता है और परम्परागत सम्पदाका अधिकारी बनता है।

नाम माता-पिताके विचारोंकी सामाजिक अभिव्यक्ति है, वे नवागतसे क्या चाहते हैं? यह समाजको अपने किन गुणोंसे विभूषित करे? उसका चारित्रिक आदर्श क्या हो? ये सम्पूर्ण महत्त्वाकाङ्क्षाएँ केवल नाममें साकार हो जाती हैं।

मानवके व्यक्तित्वको गौरवमण्डित करना समाजका पावन कर्तव्य है। व्यक्ति और समाजका समन्वय अनिवार्य है। वस्तुतः व्यक्ति वन्दनीय है, अर्चनीय है; क्योंकि व्यक्ति समाजका मूल है।

व्यक्तित्वका विकास परिवारका विकास है। परिवारोंका विकास समाजको विकसित करता है। विकसित समाज राष्ट्रका उन्नयन करता है और राष्ट्र उन्नत होकर विश्वविकासकी प्रतिष्ठापना करनेमें सक्षम होता है।

व्यक्ति संस्थाएँ बनाता है। संस्थाओंसे व्यक्तिका निर्माण नहीं होता। व्यक्तित्वकी महिमा महान् है। संस्कार व्यक्तिका विकास करते हैं।

संस्कार अहंकारोंका सामञ्जस्य करते हैं। क्षुद्र स्वार्थोंसे भरा अहंकार समाज और राष्ट्रके लिये घातक है। आध्यात्मिक साधक अहंकारको मिटानेका प्रयास करता है। दार्शनिक अहंकारको ही सिद्धिमें सर्वाधिक बाधक मानते हैं।

दार्शनिक पद्धतिमें साधक अपनी वृत्तियोंको प्रत्याहारद्वारा अन्तर्मुखी करता है। विश्वकी प्रत्येक वस्तुसे अपनी अहंजन्य ममताको हटाता है। वह शरीरसे भी ममत्वको मिटा देता है, अपने-आपमें स्थित हो जाता है। स्वमें स्थित होकर अहंकारको समाप्त कर देता है। उस स्थितिमें जीवात्मा-परमात्माका योग होता है, वह ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त कर लेता है। संस्कार भी अहंकारोंका परिशोधन करते हैं। संस्कारोंद्वारा अहंकारोंके परिमार्जनकी पद्धति दार्शनिक विद्यासे श्रेष्ठ है। व्यक्ति परिवारमें, परिवार समाजमें, समाज राष्ट्रमें तथा राष्ट्रिय अहंकार विश्वमें व्याप्त हो जाता है। अब वह समग्र विश्वको अहं मानता है। विश्व उसका अपना बन जाता है। उसका ममत्व अपने परिवारसे ही नहीं पूरे विश्वसे हो जाता है। इस विराट् रूपमें अहंकार नहीं रहता है, बल्कि समष्टिका रूप धारण कर लेता है। नामकरणके अवसरपर माता-पिता नवजात शिशुको आशीर्वाद देते हैं। समग्र समाज उसे आशीर्वाद देकर गौरवान्वित करता है। समाजके द्वारा नवागतकी महिमाका स्वीकरण और अभिनन्दन माता-पिताके अहंकारको रुष्ट नहीं करता है। बालककी अर्चनामें वे अपने-आपको अर्चित मानते हैं। उसके गौरवमें स्वयंको गौरवमण्डित करते हैं। अहंकारका इससे अच्छा परिशोधन क्या हो सकता है? गौरव देनेसे गौरव मिलता है और अहंकार गुरुतामें विलीन हो जाता है। व्यक्तिका गौरव ही समाजका गौरव बन जाता है। शिशुको गौरव प्रदान कर सभी हर्षित होते हैं, उल्लाससे नाच उठते हैं।

संस्कारोंका सामाजिक संस्करण पर्व है। पर्व जन-जनमें सांस्कृतिक संस्कारोंका जागरण करते हैं। परम्पराओंको प्रेरित करते हैं। संस्कृति परम्पराओंके रूप—लोकजीवनको प्रभावित करती है। पर्व पावन परम्पराओंके प्रेरक हैं। वे लोकजीवनकी नीरसताको सरस बनाते हैं, उसमें उल्लास और आह्लाद भर देते हैं। लोकजीवन ही संस्कृतिका साकार रूप धारण कर लेता है। संस्कार व्यक्तित्वके जीवनक्रमका अनुसरण कराते हैं और पर्व, व्रत, त्योहार कालक्रमके अनुसार भावनाएँ जगाते हैं। संस्कार व्यक्तिको जगाते हैं, जबकि पर्व सम्पूर्ण समाजको। पर्व, उत्सव, त्योहार, व्रत, मेले और तीर्थयात्राओंके रूपमें संस्कृति सनातन है। व्रत संयमित जीवनका प्रेरक है, अनुशासनका प्रतीक है।

पर्वोंके उल्लासमें जो संस्कृति मुखरित होती है, वह होलीके विमुक्त गायनमें झंकृत है। धूलिवन्दनके रूपमें वह कण-कणकी अर्चना करती है तो नवरात्रियोंमें शक्तिसाधनामें रत होकर कौमार्यकी वन्दना कराती है, मातृत्वकी भावना जगाती है।

अक्षयतृतीया परशुरामजीके ओजस्वी जीवनकी याद दिलाती है। वटसावित्रीव्रत पतिव्रताके पावन संकल्पका व्यक्तीकरण है। गङ्गादशहरा तीर्थयात्राओंका प्रतीक है। व्यासपूर्णिमा गुरुचरणोंमें अभिवन्दन सिखाता है तथा रक्षाबन्धनका पर्व भाई-बहिनके पावन प्रेमको जगाता है। जन्माष्टमी महापुरुषोंके पदचिह्नोंपर चलनेकी प्रेरणा देती है तो गणपतिचतुर्थी राष्ट्रिय अधिपतिकी प्रथम पूजनीयताका प्रतिपादन है। पितृपक्ष पूर्वजों एवं वयोवृद्धोंके प्रति श्रद्धाका सम्प्रेषण करता है। इस प्रकार प्रत्येक पर्व पावन संस्कारोंका प्रेरक है। इस प्रकार संस्कार संस्कृतिके द्वार हैं तथा पर्व, व्रत और त्योहार जनजीवनके प्रेरक और अनुरंजक हैं। भारतीय जनजीवन इनसे अनुप्राणित होकर नरसे नारायण बननेकी साधनामें रत होकर उन्नति और प्रगतिकी ओर बढ़ता रहे, ऐसी अभिलाषा है। [संस्कार-दीप]

~~~○~~~
~~~

संस्कारोंकी नामावली

(डॉ० श्रीजयनारायणजी मिश्र)

संस्कार-विमर्शक प्रधान ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न प्रकार एवं नामोंसे संस्कारोंकी नामावली दी गयी है, जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है—

आश्वलायनगृह्यसूत्र—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. चूडाकरण, ८. उपनयन, ९. समावर्तन और १०. अन्त्येष्टि।

बौधायनगृह्यसूत्र—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. उपनिष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूडाकरण, १०. कर्णवेध, ११. उपनयन, १२. समावर्तन और १३. पितृमेध।

पारस्करगृह्यसूत्र—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूडाकरण, १०. उपनयन, ११. केशान्त, १२. समावर्तन और १३. अन्त्येष्टि।

वाराहगृह्यसूत्र—१. जातकर्म, २. नामकरण, ३. दन्तोद्गमन, ४. अन्नप्राशन, ५. चूडाकरण, ६. उपनयन, ७. वेदव्रत, ८. गोदान, ९. समावर्तन, १०. विवाह, ११. गर्भाधान, १२. पुंसवन और १३. सीमन्तोन्नयन।

वैखानसगृह्यसूत्र—१. ऋतुसंगमन, २. गर्भाधान, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. विष्णुबलि, ५. जातकर्म, ६. उत्थान, ७. नामकरण, ८. अन्नप्राशन, ९. प्रवासागमन, १०. पिण्डवर्धन, ११. चौलक, १२. उपनयन, १३. पारायण, १४. व्रतबन्धविसर्ग, १५. उपाकर्म, १६. उत्सर्जन, १७. समावर्तन और १८. पाणिग्रहण।

गौतमधर्मसूत्र—गौतमधर्मसूत्रमें 'चत्वारिंशत् संस्काराः अष्टौ आत्मगुणाः' कहकर संस्कारोंकी एक लम्बी सूची दी गयी है—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चौल, ८. उपनयन, ९—१२. वेदव्रत, १३. स्नान, १४. सहधर्मिणीसंयोग, १५—१९. पञ्च महायज्ञ (देव, पितृ, मनुष्य, भूत एवं ब्रह्म), २०—२६. सप्त पाकयज्ञसंस्था (अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजी), २७—३३. सप्त हविर्यज्ञसंस्था (अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रहायणेष्टि, निरूढपशुबन्ध तथा सौत्रामणी), ३४—४०. सप्त सोमयज्ञसंस्था (अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम), दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा—आठ आत्मगुण।

महर्षि अङ्गिराद्वारा प्रतिपादित संस्कार—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. विष्णुबलि, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चौल, १०. उपनयन, ११—१४. चार वेदव्रत, १५. समावर्तन, १६. विवाह, १७. पञ्च महायज्ञ, १८.आग्रयण, १९. अष्टका, २०. श्रावणी २१. आश्वयुजी २२. मार्गशीर्षी, २३. पार्वण, २४. उत्सर्ग तथा २५. उपाकर्म।

महर्षि व्यासनिर्दिष्ट षोडश संस्कार—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूडाकरण, ९. कर्णवेध, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. केशान्त, १३. समावर्तन, १४. विवाह, १५. विवाहाग्निपरिग्रह और १६. त्रेताग्निसंग्रह।

इस तरह हिन्दूशास्त्रोंने संस्कारोंका गम्भीरतासे विमर्श किया है और उनकी उपादेयता सिद्ध करके विश्वगुरुकी प्रतिष्ठा प्राप्त की है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २।२०)

संस्कारोंसे मण्डित सनातनधर्मकी अपनी विशेष महिमा है, किंतु दिव्य भूमि भारत-देश आज संस्कारविहीनोंका देश होने जा रहा है। यह बहुत बड़ी चिन्ताकी बात है। हमारी पहचान हमारी धरोहर है। हमारा आचार हमारी संस्कृति है, हमारी वेश-भूषा हमारी वाणी है। हमारे सांस्कृतिक आधार आप्तवाक्य और वेदादि महान् ग्रन्थ हैं। ४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मन्वादि स्मृतियाँ, ईशादि उपनिषद्, १८ पुराण, रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, गीतादि धर्मग्रन्थ एवं गुरुजन, संत-महात्मा—किसीने भी धर्मविरुद्ध आचरणकी अनुमति नहीं

दी। किसीने आचारविहीन जीनेका आदेश नहीं दिया; फिर कहाँसे ये गर्हित विचार और व्यवहार आ गये, जिसके कारण हमारी पीढ़ी संस्कारोंका नाम भी नहीं जानती। यह दोष कहाँसे आ गया? यह विमर्श्य है, चिन्तनीय है। यदि समय रहते इस ओर हम सचेत नहीं हुए तो वह दिन दूर नहीं, जब हम अपने सनातन गौरवको सर्वथाके लिये भुला डालेंगे।

हम ऋषियोंकी संतान हैं, हमें सदसद्विवेचनी बुद्धि पूर्वजोंसे प्राप्त है। यदि कुसंगमात्रसे परहेज कर लिया जाय और हम अपनी आर्य-परम्पराका स्मरण करें तथा तदनुरूप सदाचारका पालन करें तो हम पुनः गौरवान्वित हो जायँगे। अन्य धर्मावलम्बी हमारी तरह परमुखापेक्षी, परधर्मसेवी एवं अपसंस्कृतिके अनुयायी नहीं बन रहे हैं। वे कट्टरपन्थी कहलाकर भी गौरवका अनुभव करते हैं और एक हम हैं, जो स्वधर्मके अनुष्ठानमें लज्जाका अनुभव करते हैं। इसीलिये वैभवशाली संस्कृतिसम्पन्न होनेपर भी हम उपहासके पात्र बन बैठे हैं। इसलिये हमें चाहिये कि हम गीता (३। ३५)-के इस वाक्यका सदा स्मरण करें और आचरणमें लायें—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'

~~ o ~~

आख्यान— आत्म-प्रशंसासे पुण्य नष्ट हो जाते हैं

महाराज ययातिने दीर्घकालतक राज्य किया था। अन्तमें सांसारिक भोगोंसे विरक्त होकर अपने छोटे पुत्र पूरुको उन्होंने राज्य दे दिया और वे स्वयं वनमें चले गये। वनमें कन्द-मूल खाकर क्रोधको जीतकर वानप्रस्थाश्रमकी विधिका पालन करते हुए पितरों एवं देवताओंको संतुष्ट करनेके लिये वे तपस्या करने लगे। वे नित्य विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते थे, जो अतिथि-अभ्यागत आते, उनका आदरपूर्वक कन्द-मूल-फलसे सत्कार करते और स्वयं कटे हुए खेतमें गिरे अन्नके दाने चुनकर तथा स्वतः वृक्षसे गिरे फल लाकर जीवननिर्वाह करते थे। इस प्रकार पूरे एक सहस्त्र वर्ष तप करनेके बाद महाराज ययातिने केवल जल पीकर तीस वर्ष व्यतीत कर दिये। फिर एक वर्षतक केवल वायु पीकर रहे। उसके पश्चात् एक वर्षतक वे पञ्चाग्नि तापते रहे। अन्तके छः महीने तो वायुके आहारपर रहकर, एक पैरसे खड़े होकर वे तपस्या करते रहे।

इस कठोर तपस्याके फलसे राजा ययाति स्वर्ग पहुँचे। वहाँ देवताओंने उनका बड़ा आदर किया। वे कभी देवताओंके साथ स्वर्गमें रहते और कभी ब्रह्मलोक चले जाते थे। उनका यह महत्त्व देवताओंकी ईर्ष्याका कारण हो गया। ययाति जब कभी देवराजके भवनमें पहुँचते, तब इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठते थे। देवराज इन्द्र उन परम पुण्यात्माको अपनेसे नीचा आसन नहीं दे सकते थे, परंतु स्वर्गमें आये मर्त्यलोकके एक जीवको अपने सिंहासनपर बैठाना इन्द्रको बुरा लगता था। इसमें वे अपना अपमान अनुभव करते थे। देवता भी चाहते थे कि किसी प्रकार ययातिको स्वर्ग-भ्रष्ट कर दिया जाय। इन्द्रको देवताओंका भाव भी ज्ञात हो गया।

एक दिन ययाति इन्द्रभवनमें देवराज इन्द्रके साथ एक सिंहासनपर बैठे थे। इन्द्रने अत्यन्त मधुर स्वरमें कहा—'आप तो महान् पुण्यात्मा हैं। आपकी समानता भला कौन कर सकता है? मेरी यह जाननेकी बहुत इच्छा है कि आपने कौन-सा ऐसा तप किया है, जिसके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ इच्छानुसार रह लेते हैं।

ययाति बड़ाई सुनकर फूल गये और वे इन्द्रकी मीठी वाणीके जालमें आ गये। वे अपनी तपस्याकी प्रशंसा करने लगे। अन्तमें उन्होंने कहा—'इन्द्र! देवता, मनुष्य, गन्धर्व और ऋषि आदिमें कोई भी तपस्यामें मुझे अपने समान दीख नहीं पड़ता।'

बात समाप्त होते ही देवराजका भाव बदल गया। कठोर स्वरमें वे बोले—'ययाति! मेरे आसनसे उठ जाओ। तुमने अपने मुखसे अपनी प्रशंसा की है, इससे तुम्हारे वे सब पुण्य नष्ट हो गये, जिनकी तुमने चर्चा की है। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, ऋषि आदिमें किसने कितना तप किया है—यह बिना जाने ही तुमने उनका तिरस्कार किया है, इससे अब तुम स्वर्गसे गिरोगे!'

आत्म-प्रशंसाने ययातिके तीव्र तपके फलको नष्ट कर दिया। वे स्वर्गसे गिर गये। उनकी प्रार्थनापर देवराजने कृपा करके यह सुविधा उन्हें दे दी थी कि वे सत्पुरुषोंकी मण्डलीमें ही गिरें। सत्सङ्ग-प्राप्तिके परिणामस्वरूप वे पुनः शीघ्र ही स्वर्ग जा सके। (महाभारत, आदिपर्व)

~~ o ~~

काले पत्थर और भोजनका धागा—एक संस्कार-कथा

(डॉ० श्रीभीमाशंकरजी देशपाण्डे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०)

भारतीय समाज धर्मप्रधान है। यहाँ संस्कारोंका विशेष महत्त्व है—वे संस्कार चाहे शरीर एवं अन्तःकरणकी शुद्धि-सम्बन्धी हों अथवा भाव-भक्तिसम्बन्धी हों। भावभक्ति-सम्बन्धी एक संस्कार-कथा यहाँ प्रस्तुत है—

दक्षिण भारतका श्रीक्षेत्र श्रीराघवेन्द्रस्वामीजीके लिये प्रसिद्ध है। द्वैतमतके अनेक भक्तगण यहाँ दर्शनके लिये आते हैं और उनका अभीष्ट यहाँ दर्शनमात्रसे पूर्ण होता है।

एक समयकी बात है, इस पीठके एक उत्तरकालीन पीठाधीश भ्रमणके लिये निकले। घूमते-घूमते सायंकाल वे एक छोटे-से ग्राममें आये। सायंकालीन सन्ध्याका समय होनेके कारण वे किसी उपयुक्त स्थानकी तलाशमें थे। संयोगसे उस गाँवमें ब्राह्मणका केवल एक ही मकान था। वे उस घरकी ओर आये।

घरमें केवल एक वृद्धा थी। जो अपने इकलौते पुत्रके साथ वहाँ रहती थी। पीठाचार्य स्वामी घरमें आये तो वृद्धाने उनका यथायोग्य आतिथ्य किया। वृद्धाका पुत्र दिनभर खेतीका काम करता और रात्रिके समय घर लौटता था। उसका नाम जितपा था।

स्वामीजीने रात्रिमें वहाँ विश्राम किया। दूसरे दिन प्रातःकाल जितपा खेतमें कामपर गया। दोपहर लगभग डेढ़ बजे वह वापस आया। सबके साथ प्रसाद ग्रहण करनेके लिये उसे बुलाया गया। सब लोगोंने देखा कि स्नान करके जितपाने खूँटीपर टँगे यज्ञोपवीतको धारण किया, तदनन्तर ही वह भोजनके लिये बैठा। भोजनके बाद पुनः उसने यज्ञोपवीतको उसी खूँटीपर लटका दिया और कामपर चला गया।

जितपाकी इस चेष्टासे स्वामीजी अत्यन्त विस्मित हुए। रात्रिके समय उसके खेतसे वापस आते ही स्वामीजीने उसे अपने पास बुलाया और उससे पूछताछ की। तब सरल भावसे जितपाने कहा—'गुरुदेव! वह भोजनका धागा है। नित्य भोजन करते समय गलेमें डालकर भोजन करनेको मुझसे कहा गया है। इसीलिये भोजन करते समय मैं पहन लेता हूँ। भोजनके बाद खूँटीपर लटका देता हूँ, इससे यह सुरक्षित रहता है, नहीं तो कामके समय धागा टूट जायगा तो नित्य नया कहाँसे लाऊँगा?'

इस धागेको यज्ञोपवीत या जनेऊ कहते हैं—यह भी उसे ज्ञात नहीं था। वह उसे केवल भोजनका धागा ही कहा करता था।

उसकी बात सुनकर स्वामीजी बड़े विस्मित हुए। उन्होंने पूछा कि घरमें पूजाके विग्रह तो होंगे? यदि वे हैं तो कहाँ रखे हैं?

जितपाने सहजभावसे कहा—वे सब एक टोकरीमें डालकर सुरक्षित रखे हुए हैं। अन्य कामोंमें सब समय चला जाता है। पूजाके लिये समय ही नहीं मिलता। उन विग्रहोंमें छोटे-छोटे गोल, चिकने, काले पत्थर भी हैं। उसके मस्तिष्कमें शालग्रामकी कल्पना भी नहीं थी। स्वामीजीने उन विग्रहों एवं काले गोल पत्थरों (शालग्राम)-को मँगवाया।

गुरुजीने कहा—देखो, जितपा! तुम मेरी बात ध्यानसे सुनो। ये जो गोल-गोल काले पत्थर तुम देख रहे हो, ये भगवान् शालग्राम हैं, भगवान् नारायणकी ही यह मूर्ति है, इसलिये तुम इनकी पूजा किया करो। तुम जैसे नित्य स्नान करते हो, उसी प्रकार इन शालग्रामको भी स्नान कराना, गन्ध, पुष्प, तुलसी समर्पण करना और तुम जो भी अन्न ग्रहण करते हो, उसका प्रथम इनको भोग चढ़ाना, तदनन्तर स्वयं खाना। तुम्हें कोई मन्त्र याद न हो, पूजा न आती हो तो कोई बात नहीं; निराश न होना, केवल भावभक्ति जरूर रखना। श्रद्धा रहे तो किसी मन्त्र या उपचारकी उतनी आवश्यकता नहीं रहती। भक्तिभावसे इतना जरूर करते रहना। इसमें तुम्हारा विशेष समय भी नहीं लगेगा। इतना प्रण स्वीकार करो। तुम्हारा कल्याण हो जायगा और विशेष बात यह है कि जिसे तुम 'भोजनका धागा' कह रहे हो; इसका नाम जनेऊ या यज्ञोपवीत है, यह बड़ा पवित्र है, इसमें देवता वास करते हैं, इसे कभी भी शरीरसे नहीं निकालना। टूट जाय तो दूसरा पहनना।

ऐसा बताकर स्वामीजी वहाँसे निकल पड़े। स्वामीजीकी बातें जितपाको अच्छी लगीं। अतः उनकी आज्ञाके अनुसार उसने क्रम आरम्भ किया, स्नानके पश्चात् शालग्रामकी

पूजा की, गन्ध, पुष्प और तुलसी अर्पण किये। एक थालीमें एक रोटी और थोड़ी-सी सब्जी रखकर वह भगवान्‌से भोगके लिये प्रार्थना करने लगा। दो-तीन घंटे बीत गये, पर भगवान्‌ने खानेका नाम नहीं लिया। वह चिन्तामें पड़ गया। उसने तो भगवान्‌के भोजनके पश्चात् स्वयं खानेका निश्चय किया था। गुरुके समक्ष शपथ ली थी और गुरुको वचन भी दिया था। अब क्या हो! वह बड़ा दुःखी हो गया। पूरा दिन काम छोड़कर वह यही चिन्ता करता रहा।

उसकी माँने उसे समझानेका प्रयत्न किया कि 'नैवेद्य परोसनेके पश्चात् पानी फिरानेसे भगवान्‌को भोग लगानेकी क्रिया पूर्ण हो जाती है, सब ऐसा ही करते हैं। तुम क्यों हठ कर रहे हो? क्या भगवान् कभी आकर भोग लगाते हैं? अतः उठो, चलो भोजन करो। पूरा दिन तुम्हें ऐसे ही बीत गया है।' परंतु माताके इस प्रकार कहनेपर भी उसे उनकी बातोंपर विश्वास नहीं हुआ। भगवान्‌के खानेके बाद ही स्वयं खानेका आदेश उसे याद आता था। भगवान्‌के भोजनके पश्चात् ही मैं स्वयं खाऊँगा, यह उसका प्रण था। इसी विचित्र अवस्थामें तीन दिन बीत गये।

आखिर उसने आत्मसमर्पण एवं शरीरत्याग करनेका निर्णय लिया। उसकी विचित्र स्थिति हो गयी। सहसा शालग्रामके समूहमें एकका मुख खुलनेका उसे आभास हुआ। जितपाको महान् आश्चर्य हुआ। उसने जल्दीसे रोटीका एक निवाला उस खुले हुए मुँहमें रख दिया। फिर वह मुख बंद हो गया। अब तो ऐसा क्रम नित्य होने लगा। जितपा बहुत प्रसन्न था। भगवान् अभी एक निवाला ही खा रहे हैं, आगे पेट भरकर जरूर खायेंगे। उसे ऐसा विश्वास उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार एक वर्षका समय बीत गया। उसका यह क्रम बराबर जारी रहा। अब गुरुकी आज्ञासे वह यज्ञोपवीत शरीरपर ही रखता था। एक दिन, उसके गुरु उस ग्रामको आनेके लिये निकले हैं—यह वार्ता उसे मिलते ही वह ग्रामके प्रवेशद्वारपर खड़ा हो गया। वह गुरुके दर्शनके लिये आतुर था। समयपर गुरुदेव सपरिवार पधारे। उन्होंने जितपाको दूरसे ही देखा। उसका तेज कुछ और ही प्रतीत होता था। गुरुका स्वागत करनेमें उसे बड़ा आनन्द हुआ। जितपामें हुए इस परिवर्तनको देखकर स्वामीजीको भी बड़ा आश्चर्य हुआ। अब उसकी कान्ति कुछ अलग-सी थी।

उसने स्वामीजीको सब वृत्तान्त कह दिया। आपके भगवान् तीन दिन रूठ गये थे। उन्होंने मुझे खूब सताया। तीसरे दिनसे वे केवल एक निवाला ही खाने लगे। यह कहते हुए उसे बड़ा हर्ष हो रहा था। गुरु सोचने लगे कि लगता है इसे भ्रम हो रहा है। भोगमें चढ़ाये गये पदार्थ भगवान् प्रत्यक्ष कैसे खायेंगे? यदि यह सत्य बोल रहा है तो इसकी परीक्षा करनी पड़ेगी। यह बड़ी विचित्र घटना है?

तदनन्तर उसकी परीक्षा लेनेके लिये स्वामीजीने उसे अपने समक्ष भगवान्‌को खिलानेकी आज्ञा दी। वे आसनपर समीपमें ही विराजमान थे। जितपाने नित्यके अनुसार भोग चढ़ाया और हाथ जोड़कर भोग स्वीकार करनेकी मन-ही-मन प्रार्थना करने लगा, लेकिन यह क्या! आज न शालग्रामका मुख खुला न ही निवाला ग्रहण किया गया। जितपा इस घटनासे बहुत व्यथित हुआ। उसने प्राण-त्याग करनेकी प्रतिज्ञा की। वह खिन्न हो गया। भगवान् अपने संस्कारी भक्तोंका दुःख नहीं देख सकते। शीघ्र ही उस शालग्रामसमूहमेंसे एकका मुख खुल गया। जितपाको बड़ा हर्ष हुआ। उसने एक निवाला जल्दीसे मुँहमें रख दिया, निवाला रखते ही वह बंद हो गया।

यह घटना देखकर स्वामीजी जितपाके सम्मुख नतमस्तक हो गये और कहने लगे—'हम विविध पक्वान्न बनाकर भोग चढ़ाते हैं, परंतु इतनी योग्यता हम नहीं पा सके। लगता है जितपाकी भावभक्तिका संस्कार बहुत ऊँचे दर्जेका है। यह धन्य है, इसीकी भक्ति धन्य है, इसके बुलानेपर भगवान् आते हैं और प्रेमसे भोग प्राप्त करते हैं।' उन्होंने जितपाके मस्तकपर हाथ रखा और आशीर्वाद प्रदान किया। यही जितपा आगे चलकर जितामित्रार्यके नामसे विख्यात विद्वान् पण्डित हुए। उन्होंने द्वैतसिद्धान्तके अनेक टीकाग्रन्थ लिखे। दक्षिण भारतमें भीमा और कृष्णा नदीके संगमपर आज भी उनकी समाधि स्थित है। यहाँ उत्सव-महोत्सव होता है। केवल भक्तिभावके संस्कारसे ही जीवनमें यह सौभाग्य प्राप्त होता है—इसका यह अन्यतम उदाहरण है।

~~~ o ~~~
~~~

जीवनमें संस्कारोंकी उपादेयता

संस्कारकी आवश्यकता एवं उपयोगिता

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०, डी०एस्-सी०)

संसारकी प्रत्येक वस्तु स्वयंको दिव्य, भव्य तथा आकर्षकरूपमें प्रस्तुत करनेके लिये संस्कारकी अपेक्षा रखती है। संस्कारका अर्थ है—परिमार्जित रूपमें प्रस्तुति। भू-संस्कारमें भूमिको झाड़-पोंछ, गोमयादिसे लीपकर उसका संस्कार किया जाता है। यज्ञवेदीको तृण, कीट आदिसे मुक्तकर उसे अपेक्षित रूपमें षट्कोण, अष्टदलकमलादिसे अलङ्कृत कर उसका संस्कार किया जाता है। धान्यका संस्कार उसे तुषादिसे पृथक् कर किया जाता है। भूगर्भसे निकलनेवाली सोना-चाँदी आदि धातुओंको धो-साफकर उनकी गर्भजन्य मलिनता दूर की जाती है। अग्निमें तपाकर उनके शेष दोषोंको हटा, सुहागेके प्रयोगद्वारा उनकी त्रुटि दूरकर उन्हें वह रूप दिया जाता है, जिसके लिये यह सूक्ति 'सोनेमें सुहागा' प्रचलित हुई है। इसके पश्चात् विभिन्न अलङ्कारोंके रूपमें इनका प्रयोग (निर्माण) कर और पालिशद्वारा चमकाकर उन्हें धारण कर अपने सौन्दर्यको अभिवर्धित किया जाता है। उबटन आदिके प्रयोगद्वारा शरीरका संस्कार किया जाता है। दही, मेथी, मुल्तानी मिट्टी आदिके द्वारा केशोंका परिशोधनात्मक संस्कार होता है। तेल-कंघीद्वारा केशसंस्कार, चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यके लेपन तथा वस्त्राभूषण-माल्य आदि धारण कर शरीरको संस्कृत किया जाता है। अमरकोष (२।१३४)-के अनुसार यह संस्कार अधिवासन कहा जाता है—

'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्॥'

संस्कार, सद्विचार और सदाचारसे ही मानव वाग्मयमें मानव कहलानेका अधिकारी बनता है। सभ्य समाज ऐसे ही व्यक्तिको समादृत करता है और ऐसा ही व्यक्ति अभ्युदयको प्राप्त होता है।

असंस्कृत, असद्विचारी और कदाचारी व्यक्ति किसी भी समाजमें सम्मान नहीं पाता; बल्कि ऐसे व्यक्तिको देखकर प्रायः सभ्यजन यही कहते सुने जाते हैं—यह संस्कारहीन व्यक्ति है, यदि इसे समुचित संस्कार मिले होते तो इसका आचार, व्यवहार सभ्य और संस्कृत समाजके अनुरूप होता। यही सब दृष्टिगत रखकर विद्वानोंने एकमतसे स्वीकार किया है कि मानव-जीवनके सर्वाङ्गीण विकासमें संस्कारोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिये मानव-जीवनमें संस्कारोंकी आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है, जिससे वह दोषमुक्त हो पूर्ण मानव बनकर ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी बन सके। दूसरे शब्दोंमें संस्कारद्वारा दोषका अपसारण, गुणाधान तथा न्यूनताकी पूर्ति कर मानवको; जो ईश्वरका अंश है, सही अर्थोंमें अंशीका अंश कहलानेका अधिकारी बनाया जाता है। जिस प्रकार भूगर्भसे निकले स्वर्णको पहले मिट्टी आदि मलोंसे मुक्त किया जाता है, फिर सुहागेके सहकारसे उसमें गुणाधान किया जाता है और अग्निमें तथा कसौटीपर कस उसे आभूषणके योग्य बनाया जाता है अथवा जैसे खेतमें उत्पन्न अन्नको पहले तुष आदि दोषोंसे मुक्तकर फिर कूट-पीसकर उसे खानेयोग्य बनाया जाता है और उसमें घी, नमक आदिद्वारा अवशिष्ट कमियोंकी पूर्ति की जाती है, उसी प्रकार संस्कारद्वारा मानवको दोषरहित, गुणसम्पन्न तथा सभी प्रकारकी कमियोंसे शून्य एक पूर्ण मानव बनाया जाता है।

भगवान् मनुने लिखा है—द्विजातियोंको वैदिक कर्मों (विधानों)-द्वारा शरीरके गर्भाधानादि संस्कार करने चाहिये; क्योंकि ये इहलोक और परलोक—दोनोंमें पापोंका नाश करनेवाले हैं—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

संस्कार क्यों करने चाहिये, इस सम्बन्धमें भगवान् मनु अपनी स्मृतिमें कहते हैं—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

(मनु० २।२७)

अर्थात् गार्भिक (गर्भशुद्ध्यर्थ किये जानेवाले हवनादि कर्म), जातकर्म, चूडाकर्म (मुण्डन) तथा उपनयनादि संस्कारोंके करनेसे द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)-के गर्भ (क्षेत्र) तथा बीजके कारण आये अथवा सम्भावित दोष दूर हो जाते हैं।

सभी जानते हैं कि यदि कृषिभूमिकी मिट्टी निर्बल हो या उसमें डाला जानेवाला बीज घुनका खाया हुआ हो तो उपज भी हीनसत्त्व तथा सदोष होगी, अतः उसका संस्कारद्वारा उपचार कर आगत दोषोंको मिटाना ही संस्कारका प्रथम उद्देश्य है।

संस्कारद्वारा जब दोषोंका परिमार्जन हो जाता है, तब वेदाध्ययन, व्रत, होम, देव-ऋषि-पितृतर्पण, पुत्रोत्पादन ज्योतिष्टोमादि महायज्ञोंद्वारा जातकके शरीरको ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाया जाता है—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥
(मनु० २।२८)

भारतीय आर्ष मनीषाने मानवकी जन्मसे मरणपर्यन्तकी कालावधिमें करणीय जिन संस्कारोंका विधान किया है, वे इस प्रकार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, भूम्युपवेशन, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि-संस्कार आदि।

गर्भाधान—जीव गर्भाधानद्वारा ही देहधारण कर संसारमें जन्म लेता है। यह संस्कार गर्भगत बालककी गर्भवासजन्य मलिनता तथा बीजदोषकी निवृत्ति कर प्रभविष्णु संतान प्राप्त करनेके लिये किया जाता है।

पुंसवन—गर्भाधानके दूसरे या तीसरे मासमें जब गर्भके लक्षण प्रकट हो जायँ, तब उत्तम संतानप्राप्तिकी कामनासे नान्दीश्राद्ध, गणपत्यादि पूजनकर वटारोह, वटाङ्कुर, कुशाग्रभाग, सोमलता, सोमलताके अभावमें गुडूची (गिलोय) या ब्राह्मीको जलके साथ पीस-छानकर इस रसको गर्भिणीके दक्षिणनासारन्ध्रसे पिलाया जाता है। उत्तम बालकका जन्म हो, इस दृष्टिसे यह संस्कार होता है।

आयुर्वेदके अनुसार गर्भस्थजीवके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके लक्षण प्रायः चौथे मासमें प्रकट होते हैं। अतः उस समय इस संस्कारको करना चाहिये।

सीमन्तोन्नयन—सीमन्तोन्नयन-संस्कार गर्भावस्थामें चौथे मासमें सम्पन्न होता है। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें इसका स्पष्ट निर्देश इस प्रकार है—

'चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्।'
(१।१४।१२)

छठे या आठवें मासमें भी यह होता है। इस संस्कारमें हवन कर, देवदारु पीठपर गर्भिणीको बिठाकर दो फल, सुवर्णयुक्त गूलरकी शाखा ३, कुशोंकी तीन गण्डियाँ, श्वेत सेहीका काँटा, पीले सूतसे लिपटा तगुआ तथा पीपलकी लकड़ीकी खूँटी—इन सबसे स्त्रीकी माँग काढ़कर उसके बालोंसे बाँध दे। गर्भिणीके बालोंको दो भागोंमें बाँटते समय निम्न मन्त्रोंका पाठ होता है—'ॐ भूर्विनयामि। ॐ भुवर्विनयामि। ॐ स्वर्विनयामि।'

इसके पश्चात् गर्भिणीको गर्भस्थ शिशुकी पुष्टिके लिये घी डालकर खिचड़ी खिलायी जाती है। गर्भस्थ शिशु और गर्भिणीकी दीर्घायुके लिये आशीर्वाद दिया जाता है।

जातकर्म—नालच्छेदनसे पहले शिशुका जातकर्म-संस्कार किया जाता है—

'प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।'
(मनु० २।२९)

इस संस्कारमें नान्दीश्राद्ध, नालच्छेदन, मेधाजनन तथा आयुष्यकर्म—चार मुख्य हैं। नालच्छेदनसे पूर्व दाहिने हाथकी अनामिका अँगुलीमें स्वर्ण लगाकर विषम मात्रामें गोघृत और मधु मिलाकर 'ॐ भूस्त्वयि दधामि', 'ॐ भुवस्त्वयि दधामि', 'ॐ स्वस्त्वयि दधामि', 'ॐ भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि'—इन मन्त्रोंसे थोड़ा-थोड़ा चार बार इस दृष्टिसे चटाया जाता है, जिससे वह बुद्धिमान् और यशस्वी हो। इस समय 'ॐ अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।' आदि आठ मन्त्र जातकके दाहिने कानमें सुनाये जाते हैं। तदनन्तर नाल छेदकर माँ दू-

स्तनको धोकर उसका दूध शिशुको पिलाती है। सूतिकागारकी रक्षाके लिये अग्नि, जलपूरित घट आदि स्थापित कर देव-ब्राह्मणादिका आशीर्वाद दिलाया जाता है। इस अवसरपर पिता भी शिशुके मङ्गलकी कामना करता है। सूतक नालच्छेदनके पश्चात् आरम्भ होता है। जैसा कि लिखा है—

यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम्।
छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते॥

(संस्कारप्रकाशमें जैमिनिका वचन)

नामकरण—जातकका नामकरण-संस्कार जन्मसे दसवें या बारहवें दिन करना चाहिये। यहाँ दशम दिनसे तात्पर्य अशौच-निवृत्तिके बादसे है। भगवान् मनुने शुभ तिथि, मुहूर्त और नक्षत्रमें नामकरणके सम्बन्धमें कहा है—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥

(मनु० २।३०)

नामकरण किस प्रकारका होना चाहिये, इस सम्बन्धमें मनुस्मृति (२।३१-३२)-में कहा गया है—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥
शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद् राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥

अर्थात् ब्राह्मणका मङ्गलवाचक, क्षत्रियका बलवाचक, वैश्यका धनयुक्त एवं शूद्रका सेवापरक नामकरण करना चाहिये। ब्राह्मणका नाम शर्मान्त (कल्याण या मङ्गलसूचक), क्षत्रियका वर्मान्त (रक्षापरक), वैश्यका गुप्तान्त (पुष्टियुक्त) एवं शूद्रका दासान्त होना चाहिये।

स्त्रियोंका नाम उच्चारणमें सुकर, सुन्दर अर्थवाला, चित्तको प्रसन्न करनेवाला, मङ्गलसूचक, अन्तिमाक्षर दीर्घ वर्णवाला एवं आशीर्वादात्मक होना चाहिये—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥

(मनु० २।३३)

नामकरणके दो उद्देश्य हैं—आयु तथा तेजकी वृद्धि एवं सांसारिक व्यवहारार्थ संज्ञारूपमें उसकी स्थापना—

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा।
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥

(स्मृतिसंग्रह)

इसके साथ ही लौकिक मान्यता है—जैसा नाम वैसा काम अर्थात् नामके द्वारा तद्वत् गुणाधानका प्रयास भी इसका एक प्रमुख कारण है।

इस संस्कारमें भी नान्दीश्राद्ध, स्वस्तिवाचन, गणेश, मातृकादिका पूजन कर माताकी गोदीमें लेटे बालकके दक्षिणकर्णमें निजकुलदेवतापरक, मासपरक, नक्षत्रपरक तथा व्यवहारपरक—चार नाम सुनाये जाते हैं।

निष्क्रमण—जन्मसे चौथे मासमें यह संस्कार किया जाता है—

'चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।'

(मनु० २।३४)

इस अवसरपर भी नान्दीश्राद्ध, गणेश-मातृकादिका पूजन, पुण्याहवाचन आदिके बाद 'सविता प्रीयताम्' कहकर वस्त्राभूषणसज्जित बालकको घरसे बाहर लाकर भगवान् सूर्यका दर्शन कराया जाता है, साथ ही भगवद्विग्रहके सामने दण्डवत् प्रणामकी मुद्रामें लिटाया जाता है। इस अवसरपर पुरोहितादि बालकको इस प्रकार आशीर्वाद देते हैं—

अप्रमत्तं प्रमत्तं वा दिवा रात्रावथापि वा।
रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः॥

भूम्युपवेशन—पाँचवें मासमें भूम्युपवेशन नामक संस्कार होता है। शुभ दिन, शुभ नक्षत्रादिमें पृथ्वी और वराहका पूजन कर बालककी कमरमें सूत्र बाँधकर पृथ्वीपर बिठाते हैं और पृथ्वीसे इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

रक्षैनं वसुधे देवि सदा सर्वगतं शुभे।
आयुःप्रमाणं सकलं निक्षिपस्व हरिप्रिये॥

इस अवसरपर पुस्तक, कलम, मशीन आदि विभिन्न वस्तुएँ बालकके सामने रखी जाती हैं। वह जिस वस्तुको सबसे पहले उठाता है, वही उसकी आजीविकाका साधन होगा—यह मानकर उसी प्रकारकी विद्या उसे पढ़ायी जाती है।

अन्नप्राशन—इस संस्कारके द्वारा माताके गर्भमें मलिन भक्ष्यजन्य जो दोष बालकमें आ जाते हैं, उनका नाश हो जाता है। छठे मासमें जब बालकमें पाचन-शक्ति कुछ-कुछ आने लगती है, तब उसे धीरे-धीरे स्तनपानसे विरत कर अन्नाश्रित बनानेकी दिशामें प्रवृत्त करनेके लिये यह संस्कार सम्पादित होता है। भगवान् मनुने यह संस्कार जन्मसे छठे मासमें या कुलरीतिके अनुसार सम्पादित करनेका निर्देश देते हुए कहा है—

'षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥'

(मनु० २। ३४)

इस अवसरपर भी पूर्ववत् नान्दीश्राद्ध, पूजन, हवनादि कृत्य कर स्थापित कलशोंके जलसे माँ-सहित बालकका अभिषेचन किया जाता है और बालकके सब पापोंके नाशके लिये प्रार्थना की जाती है।

चूडाकरण—मनुस्मृति (२। ३५)-में वेदाज्ञानुसार प्रथम अथवा तृतीय वर्षमें चूडाकरण (मुण्डन)-का विधान किया गया है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥

इस अवसरपर बालकके सिरके बालोंके तीन भाग कर उन्हें मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस्तरे (छुरे)-से मूँड़कर कुशा एवं गोमयपिण्डपर रखा जाता है और अपने-अपने गोत्रकी-रीतिके अनुसार एक, दो, तीन या पाँच शिखा छोड़ मुण्डन कर्म सम्पन्न कर गोबरसहित केशोंको नदीके तट या गोशालामें गाड़ दिया जाता है। कहीं-कहीं कुलदेवको ये बाल समर्पित कर फिर उन्हें विसर्जित किया जाता है।

आचार्य चरकने आरोग्यकी दृष्टिसे केश, श्मश्रु तथा नखादिके कर्तनका महत्त्व बताते हुए कहा है कि इससे आयु, पुष्टि, पवित्रता और सौन्दर्यमें अभिवृद्धि होती है—

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम्॥

(च० सू० ५। ९९)

मुण्डनके अवसरपर शिखा इसलिये छोड़ी जाती है, जिससे धर्मानुष्ठान सम्पादनमें बाधा न आये। बिना यज्ञोपवीत और शिखाके जो कर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है। कहा गया है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

कर्णवेध—कर्णवेध-संस्कारका जहाँ धार्मिक दृष्टिसे महत्त्व है, वहीं उत्तम आरोग्यके लिये भी कर्णवेधका विशेष महत्त्व है। आयुर्वेदके अनुसार कानोंमें छेद करनेसे एक ऐसी नस विंध जाती है, जिससे अन्त्रवृद्धि (हार्निया) रोग नहीं होता। सुश्रुतसंहिता आदिमें इसका विस्तारसे वर्णन है। कर्णेन्द्रियका वीर्यवाहिनी नाडियोंसे सम्बन्ध होनेके कारण पुंस्त्व नष्ट करनेवाले रोगोंसे भी रक्षा होती है। इस संस्कारको छः माससे लेकर सोलहवें मासतक कुलक्रमागत आचारके अनुसार किया जाता है। सूर्यकी किरणें कानोंके छिद्रसे प्रविष्ट होकर बालक-बालिकाको पवित्र करती हैं और तेजसम्पन्न बनाती हैं। प्रायः स्वर्णशलाका या रजतशलाकासे कान छेदनेका विधान है। सर्वप्रथम दायें कानका अभिमन्त्रण कर छेद करना चाहिये फिर बायें कानका। बालिकाका पहले बायें फिर दायें कानके वेधके साथ उसके नासिकाके वेधका भी विधान है।

उपनयन—गर्भसे आठवें वर्षमें ब्राह्मणका, ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रियका तथा बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार किया जाना चाहिये—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(मनु० २। ३६)

यही नहीं, ब्रह्मतेजाभिलाषी ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बलाभिलाषी क्षत्रियका छठे वर्षमें, धनाभिलाषी वैश्यका आठवें वर्षमें उपनयन करनेका विधान भगवान् मनुने किया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० २। ३७)

ब्राह्मणका सोलहवें वर्षतक, क्षत्रियका बाईसवें वर्षतक

संस्कार और उनकी वैज्ञानिक भूमिका

(प्रो० डॉ० श्रीश्याम शर्माजी वाशिष्ठ, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, शास्त्री, काव्यतीर्थ)

'सम्+कृ+घञ् (अ)' से संस्कार शब्द बनता है। जिसका सामान्य अर्थ है—पूर्ण करना, पुनर्निर्माण करना, संशोधन, सुधारना, सँवारना एवं शुद्ध करना आदि। अतएव संस्कारकी परिभाषा है—'गुणान्तराधानं संस्कारः' अर्थात् किसी वस्तु या व्यक्तिमें अन्य गुणों एवं योग्यताओंका आधान करना संस्कार है। महर्षि जैमिनिके अनुसार संस्कार वह है, जिससे कोई व्यक्ति या वस्तु किसी कार्यके योग्य हो जाती है, **'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य।'**

संस्कार, वैज्ञानिक अवधारणाके रूपमें विकसित भारतीय जीवनपद्धतिकी सर्वाधिक स्पृहणीय, सर्वस्वीकृत एक महत्त्वपूर्ण आनुष्ठानिक प्रक्रिया है। संस्कारोंके द्वारा वस्तु या प्राणीको और अधिक संस्कृत, परिमार्जित एवं उपादेय बनाना ही इसका मुख्य उद्देश्य है अर्थात् संस्कार पात्रता पैदा करते हैं। सभ्यता, संस्कृति एवं प्रज्ञाके विकासके साथ-साथ भारतीय मनीषियोंने मनुष्य-जीवनको अधिकाधिक क्षमतासम्पन्न, संवेदनशील, भावप्रवण एवं उपयोगी बनानेके लिये ही संस्कारोंकी अनिवार्यता स्वीकार की है।

संस्कारोंके मुख्यतः तीन उद्देश्य माने गये हैं—(१) दोषमार्जन, (२) अतिशयाधान और (३) हीनाङ्गपूर्ति। अर्थात् प्रकृतिप्रदत्त पदार्थोंमें यदि कोई दोष हो तो उसका निवारण करना दोषमार्जन है, जैसे दर्पणपरसे धूल-मिट्टीको साफ करना। प्राकृत पदार्थको और भी अधिक उपयोगी बनानेके लिये देश-काल एवं परिस्थितिके अनुसार अपेक्षित गुणों एवं तत्त्वोंका विन्यास करना अतिशयाधान है, जैसे—खानसे निकले हुए रत्नोंको काटना—तराशना, चमकाना आदि, और यदि प्राकृत पदार्थमें कोई त्रुटि हो, कमी हो या सुधारका अवकाश हो तो वह सुधार हीनाङ्गपूर्ति करना है, जैसे—पुराने बहुमूल्य किसी शिल्पको सुधार-सँवारकर उपयोगी एवं आकर्षक बना देना।

संस्कारोंकी प्रक्रियाद्वारा उक्त कार्य विशुद्ध वैज्ञानिक भूमिकाके रूपमें ही किये जाते हैं। उदाहरणार्थ मिट्टीका बर्तन बनानेके लिये जैसे अच्छी जगहसे ही अच्छी मिट्टी इकट्ठी की जाती है, फिर उसे साफ कर कूटा, पीटा, छाना जाता है, तब मुलतानी मिट्टी आदि मिलायी जाती है, सींच दी जाती है और फिर चाकसे बर्तन बनाया जाता है। अन्तमें उसके हीनाङ्ग—छिद्र आदिको ठोककर पकाया जाता है, तभी उसमें पात्रता आती है। ऐसे ही अच्छी किस्मकी कपाससे धागा तैयार करके वस्त्र आदि बनाया जाता है। यही प्रक्रिया सभी भौतिक पदार्थोंके साथ होती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकारके संस्कारोंसे वस्तुको परिमार्जित कर उसे उपयोगी बनाया जाता है। देखा गया है कि इस जगत्‌में मनुष्य प्रत्येक पदार्थका संस्कार करके ही प्रयोग करता है।

भौतिक पदार्थोंका ही नहीं, अपितु समस्त प्राणि-जगत्, पशुपक्षी भी अपनी-अपनी तरहसे संस्कार करते हैं। मनुष्य तो स्वयं चैतन्य है। उसका जन्म अपनी जननीकी कोखमें प्राकृत रूपमें ही हुआ है, पर उसके प्राकृत जीवनको अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत, संवेदनशील एवं लक्ष्योन्मुख बनानेके लिये संस्कारोंकी मर्यादा निर्धारित है।

संस्कारोंका आध्यात्मिक दृष्टिसे जो गौरव है सो तो है ही, वैज्ञानिक मनीषाने भी इस रहस्यको समझा है। इसी कारण संस्कार मनुष्यके जीवनचक्रको व्यवस्थित करते तथा शरीर-मन-बुद्धिके स्वस्थ विकास, जीवनमें सद्गुणोंके आधान तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके विधायक एवं सर्वाङ्गीण उन्नति तथा निःश्रेयसके विधायकके रूपमें प्रतिष्ठित हैं। भारतीय ऋषि-महर्षियोंका यह दृढ़ विश्वास था कि शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक दृष्टिसे मनुष्यको जैसा चाहें, वैसा बना सकते हैं और उसमें अपनी इच्छाके अनुरूप गुणोंका आधान भी कर सकते हैं। संस्कारोंका विस्तार इसी चिन्तनके अनुरूप हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में इस विषयपर व्यापक प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद तथा तन्त्रशास्त्रमें भी इस दिशामें महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये गये। अतः यह सुनिश्चित है कि मनुष्यको वैयक्तिक एवं

सामाजिक दृष्टिसे उपयोगी बनाना तथा लौकिक-पारलौकिक दृष्टिसे उसे सफलताकी ओर अग्रसर करना ही संस्कारोंका प्रमुख उद्देश्य रहा है।

संस्कारोंका विस्तृत विवेचन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंके साथ-साथ आयुर्वेद एवं पुराण आदिमें भी मिलता है। धर्मशास्त्रोंमें विशेषत: पारस्कर, सांख्यायन, आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रोंमें इनकी संख्या पृथक्-पृथक् मिलती है। गौतमसूत्र (८वें अध्याय)-में ४८ संस्कारोंका परिगणन हुआ है। जबकि सुमन्तुने २५ संस्कारोंका उल्लेख किया है। व्यासस्मृतिमें १६ संस्कारोंका विवरण है। वे इस प्रकार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, वपनक्रिया या चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन (व्रतादेश), वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, विवाहाग्निपरिग्रहण तथा त्रेताग्निसंग्रह—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः।

(व्यासस्मृति १।१३—१५)

अन्य गृह्यसूत्रोंमें इन संस्कारोंके कुछ नाम भिन्न हैं; जैसे—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास एवं अन्त्येष्टि। इनमें प्रथम तीन—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन प्रसवसे पूर्वके हैं, जो मुख्यतः माता-पिताद्वारा किये जाते हैं। अग्रिम छः—जातकर्मसे कर्णवेधतक बाल्यावस्थाके हैं, जो परिवार-परिजनके सहयोगसे सम्पन्न होते हैं। अग्रिम तीन—उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन विद्याध्ययनसे सम्बद्ध हैं, जो मुख्यतः आचार्यके निर्देशानुसार सम्पन्न होते हैं। विवाह, वानप्रस्थ एवं संन्यास—ये तीन संस्कार तीन आश्रमोंके प्रवेशद्वार हैं तथा व्यक्ति स्वयं इनका निष्पादन करता है और अन्त्येष्टि जीवनयात्राका अन्तिम संस्कार है, जिसे पुत्र-पौत्र आदि पारिवारिक जन तथा इष्ट-मित्रोंके सहयोगसे किया जाता है।

उक्त सभी संस्कार कर्मकाण्डबहुल होते हुए भी मूलतः वैज्ञानिक चिन्तनपर आधारित हैं, जो मनोविज्ञान, शरीरशास्त्र, समाजशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष एवं भौतिक विज्ञानसे सम्मत एवं सोद्देश्य प्रायोजित होते हैं। उदाहरणके लिये गर्भाधानको ही लें, जो स्त्री-पुरुषसे सम्बद्ध है। स्त्री शब्दकी व्युत्पत्ति है—'स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्यां सा स्त्री' अर्थात् स्त्री वह क्षेत्र है, जहाँ रज-वीर्यरूप अंश वृद्धिको प्राप्त होता है। यह दोषमार्जक क्षेत्रीय संस्कार है। अत: कहा है—

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥

(स्मृतिसंग्रह)

मनोविज्ञान एवं चिकित्साशास्त्र यही मानते हैं कि स्त्री-पुरुष जिस भावसे सहवास करते हैं, जैसा आहार-विहार करते हैं, गर्भपर वैसा ही प्रभाव पड़ता है। अतएव गर्भाधानसे पूर्व उत्तम गर्भके लिये प्रार्थना की जाती है—ऐसा बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।२१)-का निर्देश है। वेद एवं मनुस्मृति आदिमें ही नहीं, सुश्रुतसंहिता (शारीरस्थान अध्याय १०) आदिमें इसपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है और आधुनिक विज्ञान भी इस संस्कारके महत्त्वको स्वीकारता है।

पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन गर्भस्थ शिशुमें इच्छित गुणोंके आधानकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। दो-तीन मासके गर्भके लक्षण स्पष्ट होनेपर गर्भस्थ शिशुकी रक्षाके लिये 'अनवलोभन' की क्रिया भी होती थी और छठे या आठवें मासमें सीमन्तोन्नयनके द्वारा गर्भकी शुद्धि होती है। आधुनिक चिकित्साशास्त्रके अनुसार भी चार मासके गर्भके बाद शिशुके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनने लगते हैं। हृदयमें स्पन्दन, चेतनाका नवोन्मेष और इच्छाएँ पैदा होती हैं। गर्भका यह बहुत महत्त्वका काल होता है, यही दोहद-काल भी कहलाता है, जब गर्भिणीको प्रसन्न एवं प्रफुल्लित रखनेके प्रयत्न किये जाते हैं। इसी कालमें गर्भके माताके लिये रुचिकर आहार-विहार आदिके साथ-साथ औषधि-सेवनका भी विधान है।

गर्भस्थ शिशुकी चेतना एवं इच्छाएँ माताके माध्यमसे

व्यञ्जित होती हैं। गर्भमें मन-बुद्धिका नवाङ्कुरण होता है। अतएव इस कालावधिमें गर्भस्थ शिशुपर गहरे संस्कार पड़ते हैं। यही गर्भका शिक्षण-काल है। माता जो कुछ सोचती है, सुनती है, ध्यान करती है, वह शिशुतक सम्प्रेषित होता है। इसीसे आधुनिक विज्ञान जिसे मिथक मानता था, अब उसे सत्य मानकर स्वीकार करने लगा है। मनोविश्लेषक फ्रायडने भी माना कि जब बच्चा माँकी गोदमें अँगूठा चूस रहा होता है, तभीसे उसपर वे संस्कार पड़ रहे होते हैं, जो उसके भावी जीवनका निर्माण करते हैं। नारदजीके द्वारा प्रह्लादको उपदेश और अभिमन्युको चक्रव्यूह-भेदनकी शिक्षा इसी कालमें प्राप्त हुई थी। इस कालमें सुन्दर, प्रेरक कथा-कहानी सुनने एवं अच्छा आहार-विहार करनेकी व्यवस्था दी गयी है। विज्ञान भी मानता है कि उक्त तीनों संस्कारोंके माध्यमसे शिशुके गुणसूत्रों एवं जीन्सको प्रभावित किया जा सकता है।

बाल्यावस्थाके छहों संस्कार भी पूर्णतः विज्ञानानुमोदित एवं तर्कसंगत हैं। जैसे जातकर्ममें सुवर्णशलाका या अङ्गुलीसे घृत-शहद चटाना दोषनिवारण, शुद्धीकरण एवं पवित्रताके लिये पदार्थ-विज्ञानपर आधारित है। ऐसे ही मेधावी एवं दीर्घायुष्य होनेके लिये शिशुके कानमें '**ॐ अग्निरायुष्मान्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि॥**' (पारस्करगृह्यसूत्र १।१६।६)—इस मन्त्रके साथ ऐसे ही आठ मन्त्र पढ़े जाते हैं और शिशुके अङ्गोंका स्पर्श किया जाता है। यह स्पर्श-विज्ञान एवं ध्वनि-विज्ञान-सम्मत क्रिया है। नामकरण भी शिशुके तेजोमय होने एवं अभ्युन्नतिकी दृष्टिसे वृत्तियोंकी अनुकूलताके लिये ही किया जाता है, जो अङ्कशास्त्र, ज्योतिष एवं मनोविज्ञानके आधारपर होता है। निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण एवं कर्णवेध भी पूर्णतः पदार्थविज्ञान एवं शरीरशास्त्रसम्मत हैं, जो पञ्चभूत एवं पर्यावरणकी अनुकूलता, आहार-विहारकी प्रासङ्गिकता, नाड़ी-संस्थानके विकास एवं स्वास्थ्यकी दृष्टिसे रखकर ही निरूपित किये गये हैं। चिकित्सा-ग्रन्थोंमें इसके भौतिक पक्षको भी विस्तारसे व्याख्यायित किया गया है।

विद्याध्ययन एवं ब्रह्मचर्याश्रमसे सम्बद्ध उपनयन, वेदारम्भ एवं समावर्तन-संस्कार भी वैज्ञानिक चिन्तनपर आधारित हैं, जो समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र एवं मनोविज्ञानको दृष्टिमें रखकर सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व-निर्माणके लिये विहित हैं। शास्त्रोंमें विद्याध्ययनको शिक्षणके अतिरिक्त स्नातकका जन्मकाल भी कहा गया है—'**जन्म द्विधा, जन्मना विद्यया च।**' उपनयनके समय आचार्य शिशुको गर्भके रूपमें धारण करता है—'**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**' (अथर्व० ११।५।३)। ऋग्वेद (१।१४९।४)-में कहा है—'**अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्। होता यजिष्ठो अपां सधस्थे॥**' अर्थात् विद्या, यश, श्रीरूप तीन दीप्तियोंको धारण किये हुए, समस्त लोकोंको दीप्तिमान् करता हुआ द्विज बना यजनशील स्नातक जलाशयके निकट समाधिस्थ होता है। आपस्तम्बके अनुसार '**स हि विद्यातः तं जनयति, तदस्य श्रेष्ठं जन्म। मातापितरौ तत् शरीरमेव जनयतः।**' अर्थात् वह (स्नातक) विद्यासे जो जन्म प्राप्त करता है, श्रेष्ठ होता है। माता-पिता तो शरीरको ही जन्म देते हैं। उपनयनके समय ही आचार्य शिष्यसे कहता है '**मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु**' (पा०गृ० २।२।१८)। अर्थात् तेरे हृदयको मैं अपने हृदयमें धारण करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्तका अनुसरण करे, आदि।

मनुस्मृति (४।९२)-में विधान है कि '**ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत**' यह निर्देश वैज्ञानिक होनेके कारण मानवमात्रके लिये उपयोगी है; क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिसे हमारे शरीरमें अनेक अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ हैं। उनमें सबमें मुख्य है पीनियल ग्रन्थि, जो पिट्यूटरीमें भी महत्त्वपूर्ण है। उक्त ग्रन्थिसे ब्राह्ममुहूर्तमें मेलाटोनिन रसायन बनता है, जो मानसिक शान्ति, वृद्धावस्था-नियन्त्रण, दीर्घायुष्य, स्वास्थ्य, स्फूर्ति एवं प्रसन्नताको बढ़ानेवाला होता है। अतएव ब्राह्ममुहूर्तमें उठना भारतीय संस्कार-परम्पराका अङ्ग है।

समावर्तन-संस्कार अध्ययनोपरान्त करणीय दीक्षान्त संस्कार है। तैत्तिरीयोपनिषद् (शीक्षावल्ली, एकादश अनु०)-में इस अवसरपर '**वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।**

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।' इत्यादि उपदेश प्राप्त होते हैं, जो शिक्षाशास्त्रियोंके अनुसार आज भी अक्षरशः प्रासङ्गिक हैं और जो स्नातकमें नैतिकता, सहिष्णुता, अनुशासनके प्रशिक्षणके द्वारा उसे उन्नतिशील एवं चरित्रवान् नागरिक बनानेके लिये सोद्देश्य प्रयास ही होते हैं। तत्त्वतः उपनयन आदि संस्कार जहाँ गुरु-शिष्य सम्बन्धोंके रूपमें एक चैतन्य-केन्द्रसे चैतन्य-प्रवाहकी प्रक्रिया है, वहीं व्यक्तित्व-निर्माणकी कार्यशाला भी है। इसीके द्वारा जीवनमें आत्मानुशासन, श्रमशीलता, श्रद्धापरायणताका प्रक्षेप कर वासनाओंसे मुक्ति प्रदान कर सुदृढ़ व्यक्तित्वको व्यावहारिक रूपसे नये साँचेमें ढाला जाता है। ज्ञानपरक इन संस्कारोंसे जहाँ सामुदायिकता एवं संवेदनशीलताका संचार किया जाता है, वहीं जीवनमें धार्मिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक शक्तिको गत्यात्मकता प्रदान कर बालकोंको संकल्पशील बनानेका महनीय कार्य होता है।

विवाह-संस्कार गृहस्थ-धर्मका आधार है। यह स्त्री-पुरुषको एकात्म करनेकी प्रक्रिया है। इसके द्वारा कामुकतासे मुक्त होने, मर्यादाशील बनने तथा एक युग्मके रूपमें संयमपूर्वक मन-वाणी-कर्मसे एकरूप होनेके लिये प्रतिबद्धताकी दीक्षा दी जाती है।

उक्त सभी संस्कार धर्मशास्त्रीय होनेपर भी विज्ञान-सम्मत हैं। इसी तरह वानप्रस्थ एवं संन्यास भी भारतीय परम्पराके अनुरूप लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टिसे पूर्ण व्यावहारिक हैं। अन्त्येष्टि इस जीवनयात्राके संवरणका आत्मिक कल्याणसे सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक संस्कार है। निष्कर्षतः उक्त सभी संस्कार एक ओर जहाँ जीवन जीनेकी कला सिखाते हैं या व्यक्तित्वका निर्माण करते हैं, वहीं दूसरी ओर वैज्ञानिक दृष्टिसे शरीर, मन, बुद्धि एवं चेतनाके स्तरपर नैतिकतासे ओत-प्रोत संकल्पशील समाजको मानवताके लिये प्रतिबद्ध भी बनाते हैं। इसीलिये ये संस्कार आज भी वरेण्य हैं और सुतरां उपादेय ही बने रहेंगे।

~~~o~~~

सद्विचार और सद्व्यवहारका आधार—संस्कार

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

जैसे पर्वतसे नदियाँ निकलती हैं और सूर्यसे प्रकाश निकलता है, ठीक उसी प्रकार शुभ संस्कारोंसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सद्विचार और सद्व्यवहारका प्रादुर्भाव होता है।

शास्त्रोंमें भक्ति, मुक्ति, शक्ति, शान्ति, सदाचार, सद्विचार, सद्व्यवहार, समता, मानवता, रति और विरति (निर्वेद)—इन सबके स्फुरण और जागरणका मूल कारण शुभ संस्कारोंको ही माना गया है।

दीपक जहाँ जलता है, वहाँ प्रकाश अवश्य होता है, स्रोत जहाँ फूटता है, जलधारा वहाँसे अवश्य बहती है, पुष्प जहाँ खिलता है, सुगन्ध वहाँसे निश्चय ही प्रसारित होती है। इसी प्रकार मानव-जीवनको उच्च, उदात्त, श्रेष्ठ बनानेवाले शुभ संस्कारोंके धारण, पोषण और परिपालनसे फलाकाङ्क्षारहित निष्काम कर्मयोगकी भावना अवश्य ही सुदृढ़ होती है। साधना, आराधना और उपासनाको बल प्राप्त होता है तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनमें अनुदिन गति, प्रगति और उन्नति होती है।

यह वह दिव्य भूमि, देवभूमि भारतभूमि है, जहाँ धनसे अधिक धर्मको, भोगसे अधिक योगको तथा सद्विचार और सद्व्यवहारके मूलाधार शुभ संस्कारोंको सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। यह वह ज्ञानभूमि भारतभूमि है, जहाँके आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, अमलात्मा, शुद्धात्मा, योगीन्द्र, मुनीन्द्र, ऋषियों, महर्षियोंने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के गीत गाये हैं, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का माङ्गलिक उद्घोष किया है। इतना ही नहीं, यह वह धर्मभूमि भारतभूमि है, कर्मभूमि भारतभूमि है, जहाँके जीवनको सर्वतोमुखी सुखी बनानेके लिये, जीवनमें सरलता, सरसता, समरसता और उदारता लानेके लिये जन्मसे पूर्व गर्भाधानसे लेकर शरीरान्तको अन्त्येष्टि-
~~~

क्रियातकको शुभ संस्कारसमन्वित बनानेका प्रावधान किया गया है।

मिठाईसे मिठास, खटाईसे खटास, इक्षुदण्ड (गन्ना)-से रस और दुग्धसे घृत निकल जानेपर—जैसे ये सभी वस्तुएँ निःसार, तेजहीन, खोखली और चूर-चूर हो जाती हैं; उसी प्रकार मानव-जीवनसे सद्विचार और सद्व्यवहारके आधारभूत शुभ संस्कारोंके निकल जानेपर अथवा शिथिल हो जानेपर मानव-जीवनमें हताशा, निराशा, ओज-तेज-विहीनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता आ जाती है, फिर संस्कारोंके लोप होनेके दुष्परिणामोंकी कल्पना ही अत्यन्त भयदायक है।

स्वस्थ, सशक्त, जागरूक, उन्नतिशील, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक जीवन-यापनके लिये सद्विचार और संस्कार—ये दोनों रथके दो चक्रोंकी भाँति अत्यावश्यक और परम उपयोगी माने जाते हैं।

संस्कारोंकी सुदृढ़तासे ही सशक्त व्यक्तित्वका निर्माण तथा देश, राष्ट्र, समाज—सबका सर्वाङ्गीण कल्याण किया जा सकता है। इसीलिये हमारा यह सत्य, सनातन, पुरातन वैदिक धर्म सद्विचार और संस्कार—इन दोनोंसे सम्पुटित होकर ज्ञान और निष्कामकर्म—इन दोनोंकी समानरूपसे शिक्षा देता है।

प्राचीन भारतीय गुरुकुल शिक्षा-प्रणालीकी यह विशेषता रही है कि गुरुजन अपने शिष्योंको वही शिक्षा देते थे, जो संस्कारोंके माध्यमसे उनके रग-रग, रोम-रोम, अणु-परमाणुमें समाहित हो जाय। तभी तो तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्लीमें आचार्य अपने शिष्यसे कहते हैं—

'यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।'

(अनुवाक ११)

जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये; दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे (आचरणोंमेंसे भी) जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुमको सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।

सद्गुरुका आचार्य नाम भी सर्वथा अन्वर्थक है। महर्षि आपस्तम्बने अपने धर्मसूत्रमें आचार्यका यह लक्षण बतलाया है कि शिष्यगण जिसके संस्कारयुक्त चरित्रसे प्रभावित होकर अपने रहन-सहन, आचार-विचार, मन्त्र-साधना, भाषा-भाव और सभ्यता-संस्कृतिको संस्कारित कर सकें, उस संस्कारसमन्वित चरित्रवान् विद्वान्को आचार्य कहा जाता है। यथा—'यस्मात् धर्मान् आचिनोति स आचार्यः' (१।१।१४)।

संस्कारोंका प्रभाव जन्म-जन्मान्तरतक रहता है। संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ एक ९० वर्षके वयोवृद्धको गीताके श्लोक शुद्ध न पढ़ पानेपर बहुत दुःखी देखकर एक सहृदय दयालु आचार्यने उनको संस्कृत व्याकरणका ग्रन्थ लघुसिद्धान्तकौमुदी पढ़ाना प्रारम्भ किया। उन ९० वर्षकी अवस्थावाले मरणासन्न वृद्धको व्याकरण पढ़ाता हुआ देखकर लोगोंने आचार्यसे पूछा कि आप इनको व्याकरण क्यों पढ़ा रहे हैं? आचार्यने बड़ी विनम्रतापूर्वक सबको बताया कि मैं इनको पढ़ा नहीं रहा हूँ, बल्कि संस्कृत भाषा पढ़नेके इनमें संस्कार डाल रहा हूँ, जिससे अगले जन्ममें इस संस्कारके प्रभावसे ये संस्कृत भाषाका पाण्डित्य अर्जित कर सकें।

गीता (८।६)-में भी भगवान्ने कहा है कि—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा [illegible]॥

अर्थात् अन्त समयमें व्यक्ति जि[illegible] संस्कार[illegible] होकर शरीर-त्याग करता है, उस[illegible] अगला जन्म [illegible]

योगदर्श[illegible])-में [illegible]

[illegible] भाव [illegible] लेनेसे [illegible] है [illegible] लेकर [illegible] जन्मसे लेकर [illegible]

पालन, पोषण और धारणपर बल दिया गया है।

वेदान्त-दर्शन (४।१।१)-में कहा गया है—'आवृत्ति-रसकृदुपदेशात्॥' अर्थात् स्वाध्याय तथा उपासना आदि शुभ संस्कारोंकी आवृत्ति बार-बार करते रहना चाहिये।

प्रश्न आया कि इन शुभ संस्कारोंकी आवृत्ति कबतक करते रहना चाहिये। उत्तरमें कहा गया है—'आ प्रायणात्' (४।१।१२) अर्थात् जीवनकी अन्तिम श्वासतक इन शुभ संस्कारोंकी पुनरावृत्ति करते रहना चाहिये।

फिर प्रश्न आया कि आजीवन इन शुभ संस्कारोंके धारण, पोषण, परिपालनसे क्या लाभ होगा? महर्षि वेदव्यासजीका उत्तर है—'अनावृत्तिः शब्दात्' (४।४।२२)। सारांश यह है कि जो इन शुभ संस्कारोंका आवर्तन दृढ़तासे अपने जीवनमें करता रहता है, उसके सभी दुःखोंकी आमूलचूल निवृत्ति हो जाती है और वह परमानन्दस्वरूप मुक्तिकी उपलब्धि करके कृतकृत्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है। उसका फिर संसारमें आगमन नहीं होता।

भारतीय संस्कृति और सनातनधर्ममें इन संस्कारोंको इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि इन संस्कारोंकी गरिमा-महिमा, सत्ता-महत्ता, उपयोगिता-आवश्यकताको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत करनेके लिये जगन्नियन्ता, जगदाधार, सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान्, स्वयंप्रकाशमान प्रभु परमात्मा स्वयं कभी मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके रूपमें अवतरित होकर और कभी लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट होकर 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्' (श्रीमद्भा० ५।१९।५)-के रूपसे लोगोंको शुभ संस्कारोंके धारण और परिपालनकी शिक्षा देते हैं।

शुभ संस्कारोंके प्रभावसे ही वाल्मीकि मार-काट, लूट-पाटको छोड़कर महर्षि बन गये और विभीषण बन गये राक्षससे रामदास। अच्छे संस्कारोंके कारण ही शबरी भीलनीसे 'भामिनी' कहकर पुकारी गयी और नारद हो गये दासीपुत्रसे देवर्षि।

इन शुभ संस्कारोंमें संयम करनेसे अष्ट सिद्धियाँ और नौ निधियाँ साधकको दासी बन जाती हैं और धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टयको साधक जब चाहे, जहाँ चाहे, जैसे चाहे, प्राप्त कर सकता है। तभी तो सविधि सभी संस्कारोंसे समन्वित जीवन-यापन करनेवाले हनुमान्जीके लिये—*'गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥'* बन गया अर्थात् विषने अमृतका, शत्रुने मित्रका, समुद्रने गोपदका और अग्निने दाहकता छोड़कर शीतलताका रूप धारण कर उनके कार्यमें सहयोग किया।

एक शिल्पकार, कलाकार, मूर्तिकार संगमरमर पत्थरकी एक मूर्ति बना रहा था। मूर्तिकी सुन्दरताको देखकर लोग मूर्तिनिर्माता शिल्पकारकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। मूर्तिकारने नम्रतापूर्वक कहा—भइया! तुमलोग हमारी व्यर्थ प्रशंसा क्यों कर रहे हो? मैं इस मूर्तिको नहीं बना रहा हूँ। मूर्ति तो पहलेसे ही इस पत्थरमें विद्यमान है, किंतु दिखायी नहीं पड़ रही है। मैंने तो मूर्तिमें लगे हुए मलबेको अपनी छेनी और बसूलीसे हटाकर पहले इसका 'मलापनयन-संस्कार' और फिर इसपर रंग-रौगन लगाकर इसका 'अतिशयाधान-संस्कार' मात्र किया है। इतना ही नहीं, कुछ वस्तुएँ—वस्त्रादिक बाहरसे लाकर इसे पहनाकर 'हीनाङ्गपूर्ति' नामक इसका तीसरा संस्कार भी किया है।

ठीक इसी प्रकार हमलोग भी मलापनयन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्ति नामक इन संस्कारत्रयके द्वारा अपने आत्मस्वरूपके दर्शनमें बाधक मल, विक्षेप एवं आवरणको दूरकर सम्पूर्ण आधियों, व्याधियों और उपाधियोंसे मुक्त हो सकते हैं। शुभ संस्कारोंके प्रभावसे भक्त भगवान्‌को, नर नारायणको, आत्मा परमात्माको और जीव ब्रह्मको सरलता, सुगमतासे प्राप्त कर लेता है।

अन्तमें यही कहना है कि पूज्य है यह देश, धन्य है यह धरती और प्रशस्य है यह भारतीय संस्कृति, जहाँ व्यष्टि-समष्टि—सबको सुखी, निरामय और भद्र बनानेके लिये सद्विचार और सद्व्यवहारके आधार—शुभ संस्कारोंको सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है।

आख्यान—

तीन संस्कारी प्राणी

(श्रीसुदर्शनसिंहजी 'चक्र')

अनेक बार किसी छोटे-से कारणसे योगभ्रष्ट महापुरुष पशु-पक्षी आदि शरीरोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। जडभरतजीको मृग बनना पड़ा था। एक ऐसी भी कथा सुनी है कि महादानी बलि कुछ दिन गधा बनकर रहे थे। जब भी कोई महापुरुष किसी तिर्यक् योनिमें आते हैं, तब उन्हें पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रहती है। भोगयोनिमें होनेपर भी उनका संयम-साधन उस योनिके अन्य जीवोंसे पृथक् दीखता है। गजेन्द्रको पूर्वजन्मके साधनसे ही ग्राहके द्वारा ग्रस्त होनेपर भगवान्‌का स्मरण हुआ। भगवान्‌की स्मृति तो कहीं भी हो, निष्फल जाती नहीं। हम यहाँ तीन ऐसे ही दिव्य संस्कारसम्पन्न प्राणियोंकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे—

(१)

अयोध्यामें श्रीकनकभवनविहारीजीकी सेवामें अयोध्याकी रानीसाहिबाकी ओरसे एक घोड़ी रहती थी। यात्रा-उत्सवादिमें उसका उपयोग होता था। कनकभवनमें रहते-रहते ही वह बुढ़िया हो गयी। एक बार रानीसाहिबा मन्दिरमें श्रीकनकभवनविहारीजीके दर्शन करने आयीं। उन्होंने घोड़ीको देखकर साथके अपने मुख्य सेवकको आदेश दिया—'यह घोड़ी बुढ़िया हो गयी। इसे अब जमींदारीपर भेज दो और यहाँ प्रभुकी सेवामें कोई अच्छा घोड़ा पहुँचा दो।'

राजमहलसे दूसरा घोड़ा मन्दिरमें आ गया। घोड़ीको जमींदारीपर भेजनेके लिये रेलद्वारा कई स्टेशन भेजना था। जो घोड़ी कभी अड़ती नहीं देखी गयी थी; वह, जब लोग स्टेशन ले जाने आये तो भूमिमें लेट गयी। किसी प्रकार भी उठाये उठती ही नहीं थी। अश्वशालाके सेवकोंने बताया 'जबसे इसके बाहर भेजनेकी चर्चा हुई है, तबसे इसने दाना-घास तो क्या, जलतक नहीं पिया है। इसकी आँखोंसे बराबर आँसू बह रहे हैं।'

बेचारे मूक प्राणीकी वेदना कौन समझता? रस्सियोंसे बाँधकर, ठेलेपर लादकर घोड़ीको स्टेशन पहुँचाया गया। उसे मालगाड़ीके पशु ढोनेवाले डिब्बेमें बंद कर दिया गया। रस्सियाँ खोल दी गयीं। दाना-घास और जल रख दिया गया। स्टेशन-मास्टरने किराया लेकर उसको भेजनेकी बिल्टी काट दी।

मन्दिरके महन्तजीको बड़ी दया आयी घोड़ीपर। उन्होंने रानीसाहिबाके पास कहलवाया—'घोड़ी उपवास कर रही है। वह बाहर जाकर मर जायगी। इतने दिन वह श्रीकनकभवनविहारीजीकी सेवामें रही। अब बूढ़ी होनेपर उसे अयोध्याकी दिव्य भूमिसे निकाला न जाय।'

बात रानीसाहिबाके ध्यानमें भी आ गयी। उन्होंने कह दिया—'घोड़ी चली न गयी हो तो उसे रोक लिया जाय।'

महन्तजी स्वयं स्टेशन गये। पहले वे वहाँ गये, जहाँ घोड़ी मालके डिब्बेमें बंद थी। उनको देखकर उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा वेगसे चलने लगी। तब महन्तजीने उसे पुचकारा, आश्वासन दिया और वे स्टेशनमास्टरके पास आये। स्टेशनमास्टरने कहा—'घोड़ीकी दशा देखकर मुझे भी बहुत दुःख हुआ; किंतु मैं कर ही क्या सकता था? मालगाड़ी तो चली गयी है। घोड़ी जिस डिब्बेमें थी, मैंने उसके गार्डको बिल्टी-नम्बर आदि दे दिये हैं। घोड़ी तो चली गयी।'

जब महन्तजीने बताया कि घोड़ी गयी नहीं तो स्टेशनमास्टरको बड़ा आश्चर्य हुआ। मालगाड़ीके गार्डकी भूलसे ट्रेनमें वह डिब्बा जोड़ा ही नहीं गया था। उस मूक प्राणीकी पुकार और कोई सुने या न सुने, पर कनकभवनमें जो उसके स्वामी आराध्यपीठपर विराजमान हैं, उन्होंने सुन ली थी। आवश्यक लिखा-पढ़ीके काम पूरे हो गये। मालके डिब्बेसे उतारनेपर घोड़ी दौड़ती-भागती सीधे कनकभवनमें अपने स्थानपर आकर खड़ी हुई।

उस भाग्यशाली पशुने जीवनभर कनकभवनकी पशुशालामें निवास किया और श्रीअवधधाममें जब उसने देहत्याग किया, तब उसका शरीर सरयूजीमें प्रवाहित किया गया।

(२)

गङ्गातटपर राजघाटमें जब श्रीअच्युतमुनिजी महाराज रहते थे, तब उनकी कुटियाके पास एक कुत्ता रहता था। लोग कहते थे—'यह बहुत ही निकम्मा कुत्ता है। किसीको भूँकता ही नहीं।' कुत्तोंसे भी झगड़ते उसे किसी दिन नहीं देखा गया। वहाँ संतों तथा सेवकोंके जूठे टुकड़े, जो नित्य

जाते, वही खाकर चुपचाप पड़ा रहता था।

श्रीअच्युतमुनिजीसे जब कोई पूछता—'महाराज! एकादशी आज है या कल?' तो वे सेवकोंसे पूछते कि 'कुत्तेने आज भोजन किया या नहीं?' बात यह थी कि कुत्ता एकादशीको कुछ भी नहीं खाता था। अनेक बार उसे परीक्षाके लिये एकादशीको दूध-मिठाइयाँ आदि दी गयीं; पर उसने उन्हें सूँघातक नहीं। किस दिन एकादशी है, इसका उसे किसी अलक्ष्य संस्कारसे ही ज्ञान हो जाता था।

मरनेके दिन वह कुत्ता आकर श्रीअच्युतमुनिजी महाराजके चरणोंमें लोटने लगा। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि कभी वह ऐसा नहीं करता था। महाराजने उसे पुचकारा। कुछ क्षण बाद वह उठा और श्रीगङ्गाजीमें जाकर स्नान करने लगा। स्नान करते-करते वह गङ्गाजीमें ही किनारे थोड़े जलमें लोट गया और वहीं उसने शरीर छोड़ दिया।

(३)

करह (ग्वालियर)-के श्रीबाबाजीके यहाँ पहले एक कटी पूँछका कुत्ता रहता था। महाराजजी उसे बंडा भगत कहा करते थे। भगवान्‌का भोग लगनेपर उसके लिये पत्तल लगाकर रखी जाती थी। वह नित्य प्रातः-सायं दूसरे साधुओंके समान महाराजजीके चरणोंमें दण्डवत् करता-सा लेट जाता था।

उन दिनों एक सज्जन महाराजजीके लिये गाँवसे दूध और रोटी लाते थे। उनके कई गाय-भैंसें थीं। महाराजजी उनका दूध तो बंडाको पिला देते और रोटी स्वयं खाते। एक दिन उन्होंने कहा—'मैं इस कुत्तेके लिये दूध नहीं लाता। आप नहीं पीते तो दूसरे संतोंको क्यों नहीं दे देते?'

महाराजजीने कहा—'इस प्रकार मत बोलो। बंडा भी संत ही है।'

दूसरे दिन उनका दूध बंडाके सामने रखा गया तो वह उठकर अन्यत्र जा बैठा। उन सज्जनको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत पुचकारनेपर भी बंडाने उनका दूध स्वीकार नहीं किया।

दो-चार दिन इस घटनाको बीते और बिना किसी कारणके उनकी एक भैंस मर गयी। तीन-चार दिनका अन्तर पड़ा और दूसरी मरी। अब वे बहुत घबराये। महाराजजीके पास आकर रोने लगे। महाराजजीने कहा—'अपराध तो तुमने बंडा भगतका किया है, उससे क्षमा माँगो।' बंडाके सामने दूध रखकर हाथ जोड़कर वे रो पड़े। अब बंडाने उठकर चुपचाप दूध पी लिया। फिर उनका कोई पशु मरा नहीं।

एक दिन बंडा असमयमें आकर महाराजजीके पैरोंके पास लोटने और कूँ-कूँ करने लगा। महाराजने कहा—'तू क्या चाहता है? कहाँ जाना चाहता है? अच्छा जा।'

बंडाको अनुमति मिल गयी। आश्रमके बाहर जाकर वह भूमिपर लेट गया। सूर्यनारायणकी ओर देखते हुए उसने शरीर छोड़ दिया। महाराजने बंडाकी देहको समाधि दी और उसका भण्डारा भी कराया।

~~~o~~~

पृथ्वी किसके प्रभावसे टिकी है ?

दोषहेतूनशेषांश्च वश्यात्मा यो निरस्यति। तस्य धर्मार्थकामानां हानिर्नाल्पापि जायते॥
सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः। मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता॥
ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे। सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥

(विष्णु० ३।१२।४०—४२)

जो मनको वशमें रखनेवाला पुरुष दोषके समस्त हेतुओंको त्याग देता है, उसके धर्म, अर्थ और कामकी थोड़ी-सी भी हानि नहीं होती। जो विद्या-विनय-सम्पन्न, सदाचारी प्राज्ञ पुरुष पापीके प्रति पापमय व्यवहार नहीं करता, कटु वचन बोलनेवालेके प्रति भी प्रिय भाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मैत्रीसे द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठीमें रहती है। जो वीतराग महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादिके वशीभूत नहीं होते तथा सर्वदा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उनके प्रभावसे ही पृथ्वी टिकी हुई है।

~~~o~~~

आख्यान—

तीन संस्कारी प्राणी

(श्रीसुदर्शनसिंहजी 'चक्र')

अनेक बार किसी छोटे-से कारणसे योगभ्रष्ट महापुरुष पशु-पक्षी आदि शरीरोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। जडभरतजीको मृग बनना पड़ा था। एक ऐसी भी कथा सुनी है कि महादानी बलि कुछ दिन गधा बनकर रहे थे। जब भी कोई महापुरुष किसी तिर्यक् योनिमें आते हैं, तब उन्हें पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रहती है। भोगयोनिमें होनेपर भी उनका संयम-साधन उस योनिके अन्य जीवोंसे पृथक् दीखता है। गजेन्द्रको पूर्वजन्मके साधनसे ही ग्राहके द्वारा ग्रस्त होनेपर भगवान्‌का स्मरण हुआ। भगवान्‌की स्मृति तो कहीं भी हो, निष्फल जाती नहीं। हम यहाँ तीन ऐसे ही दिव्य संस्कारसम्पन्न प्राणियोंकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे—

(१)

अयोध्यामें श्रीकनकभवनविहारीजीकी सेवामें अयोध्याकी रानीसाहिबाकी ओरसे एक घोड़ी रहती थी। यात्रा-उत्सवादिमें उसका उपयोग होता था। कनकभवनमें रहते-रहते ही वह बुढ़िया हो गयी। एक बार रानीसाहिबा मन्दिरमें श्रीकनकभवनविहारीजीके दर्शन करने आयीं। उन्होंने घोड़ीको देखकर साथके अपने मुख्य सेवकको आदेश दिया—'यह घोड़ी बुढ़िया हो गयी। इसे अब जमींदारीपर भेज दो और यहाँ प्रभुकी सेवामें कोई अच्छा घोड़ा पहुँचा दो।'

राजमहलसे दूसरा घोड़ा मन्दिरमें आ गया। घोड़ीको ज़मींदारीपर भेजनेके लिये रेलद्वारा कई स्टेशन भेजना था। जो घोड़ी कभी अड़ती नहीं देखी गयी थी; वह, जब लोग स्टेशन ले जाने आये तो भूमिमें लेट गयी। किसी प्रकार भी उठाये उठती ही नहीं थी। अश्वशालाके सेवकोंने बताया 'जबसे इसके बाहर भेजनेकी चर्चा हुई है, तबसे इसने दाना-घास तो क्या, जलतक नहीं पिया है। इसकी आँखोंसे बराबर आँसू बह रहे हैं।'

बेचारे मूक प्राणीकी वेदना कौन समझता? रस्सियोंसे बाँधकर, ठेलेपर लादकर घोड़ीको स्टेशन पहुँचाया गया। उसे मालगाड़ीके पशु ढोनेवाले डिब्बेमें बंद कर दिया गया। रस्सियाँ खोल दी गयीं। दाना-घास और जल रख दिया गया। स्टेशन-मास्टरने किराया लेकर उसको भेजनेकी बिल्टी काट दी।

मन्दिरके महन्तजीको बड़ी दया आयी घोड़ीपर। उन्होंने रानीसाहिबाके पास कहलवाया—'घोड़ी उपवास कर रही है। वह बाहर जाकर मर जायगी। इतने दिन यह श्रीकनकभवनविहारीजीकी सेवामें रही। अब बूढ़ी होनेपर उसे अयोध्याकी दिव्य भूमिसे निकाला न जाय।'

बात रानीसाहिबाके ध्यानमें भी आ गयी। उन्होंने कह दिया—'घोड़ी चली न गयी हो तो उसे रोक लिया जाय।'

महन्तजी स्वयं स्टेशन गये। पहले वे वहाँ गये, जहाँ घोड़ी मालके डिब्बेमें बंद थी। उनको देखकर उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा वेगसे चलने लगी। तब महन्तजीने उसे पुचकारा, आश्वासन दिया और वे स्टेशनमास्टरके पास आये। स्टेशनमास्टरने कहा—'घोड़ीकी दशा देखकर मुझे भी बहुत दुःख हुआ; किंतु मैं कर ही क्या सकता था? मालगाड़ी तो चली गयी है। घोड़ी जिस डिब्बेमें थी, मैंने उसके गार्डको बिल्टी-नम्बर आदि दे दिये हैं। घोड़ी तो चली गयी।'

जब महन्तजीने बताया कि घोड़ी गयी नहीं है स्टेशनमास्टरको बड़ा आश्चर्य हुआ। मालगाड़ीके गार्डकी भूलसे ट्रेनमें वह डिब्बा जोड़ा ही नहीं गया था। उस मूक प्राणीकी पुकार और कोई सुने या न सुने, पर कनकभवनमें जो उसके स्वामी आराध्यपीठपर विराजमान हैं, उन्होंने सुन ली थी। आवश्यक लिखा-पढ़ीके काम पूरे हो गये। मालके डिब्बेसे उतारनेपर घोड़ी दौड़ती-भागती सीधे कनकभवनमें अपने स्थानपर आकर खड़ी हुई।

उस भाग्यशाली पशुने जीवनभर कनकभवनके प्राङ्गणमें निवास किया और श्रीअवधधाममें जब उसने देहत्याग किया, तब उसका शरीर सरयूजीमें प्रवाहित किया गया।

(२)

गङ्गातटपर राजघाटमें जब श्रीअच्युतमुनिजी महाराज रहते थे, तब उनकी कुटियाके पास एक कुत्ता रहता था। लोग कहते थे—'यह बहुत ही निकम्मा कुत्ता है। किसीको भूँकता ही नहीं।' कुत्तोंसे भी झगड़ते उसे किसी दिन नहीं देखा गया। वहाँ संतों तथा सेवकोंके जूँठे टुकड़े, जो नित्य

जाते, वही खाकर चुपचाप पड़ा रहता था।

श्रीअच्युतमुनिजीसे जब कोई पूछता—'महाराज! एकादशी आज है या कल?' तो वे सेवकोंसे पूछते कि 'कुत्तेने आज भोजन किया या नहीं?' बात यह थी कि कुत्ता एकादशीको कुछ भी नहीं खाता था। अनेक बार उसे परीक्षाके लिये एकादशीको दूध-मिठाइयाँ आदि दी गयीं; पर उसने उन्हें सूँघातक नहीं। किस दिन एकादशी है, इसका उसे किसी अलक्ष्य संस्कारसे ही ज्ञान हो जाता था।

मरनेके दिन वह कुत्ता आकर श्रीअच्युतमुनिजी महाराजके चरणोंमें लोटने लगा। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि कभी वह ऐसा नहीं करता था। महाराजने उसे पुचकारा। कुछ क्षण बाद वह उठा और श्रीगङ्गाजीमें जाकर स्नान करने लगा। स्नान करते-करते वह गङ्गाजीमें ही किनारे थोड़े जलमें लोट गया और वहीं उसने शरीर छोड़ दिया।

(३)

करह (ग्वालियर)-के श्रीबाबाजीके यहाँ पहले एक कटी पूँछका कुत्ता रहता था। महाराजजी उसे बंडा भगत कहा करते थे। भगवान्‌का भोग लगनेपर उसके लिये पत्तल लगाकर रखी जाती थी। वह नित्य प्रातः-सायं दूसरे साधुओंके समान महाराजजीके चरणोंमें दण्डवत् करता-सा लेट जाता था।

उन दिनों एक सज्जन महाराजजीके लिये गाँवसे दूध और रोटी लाते थे। उनके कई गाय-भैंसें थीं। महाराजजी उनका दूध तो बंडाको पिला देते और रोटी स्वयं खाते। एक दिन उन्होंने कहा—'मैं इस कुत्तेके लिये दूध नहीं लाता। आप नहीं पीते तो दूसरे संतोंको क्यों नहीं दे देते?'

महाराजजीने कहा—'इस प्रकार मत बोलो। बंडा भी संत ही है।'

दूसरे दिन उनका दूध बंडाके सामने रखा गया तो वह उठकर अन्यत्र जा बैठा। उन सज्जनको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत पुचकारनेपर भी बंडाने उनका दूध स्वीकार नहीं किया।

दो-चार दिन इस घटनाको बीते और बिना किसी कारणके उनकी एक भैंस मर गयी। तीन-चार दिनका अन्तर पड़ा और दूसरी मरी। अब वे बहुत घबराये। महाराजजीके पास आकर रोने लगे। महाराजजीने कहा—'अपराध तो तुमने बंडा भगतका किया है, उससे क्षमा माँगो।' बंडाके सामने दूध रखकर हाथ जोड़कर वे रो पड़े। अब बंडाने उठकर चुपचाप दूध पी लिया। फिर उनका कोई पशु मरा नहीं।

एक दिन बंडा असमयमें आकर महाराजजीके पैरोंके पास लोटने और कूँ-कूँ करने लगा। महाराजने कहा—'तू क्या चाहता है? कहाँ जाना चाहता है? अच्छा जा।'

बंडाको अनुमति मिल गयी। आश्रमके बाहर जाकर वह भूमिपर लेट गया। सूर्यनारायणकी ओर देखते हुए उसने शरीर छोड़ दिया। महाराजने बंडाकी देहको समाधि दी और उसका भण्डारा भी कराया।

पृथ्वी किसके प्रभावसे टिकी है ?

दोषहेतूनशेषांश्च वश्यात्मा यो निरस्यति। तस्य धर्मार्थकामानां हानिर्नाल्पापि जायते॥
सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः। मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता॥
ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे। सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥
(विष्णु० ३।१२।४०—४२)

जो मनको वशमें रखनेवाला पुरुष दोषके समस्त हेतुओंको त्याग देता है, उसके धर्म, अर्थ और कामकी थोड़ी-सी भी हानि नहीं होती। जो विद्या-विनय-सम्पन्न, सदाचारी प्राज्ञ पुरुष पापीके प्रति पापमय व्यवहार नहीं करता, कटु वचन बोलनेवालेके प्रति भी प्रिय भाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मैत्रीसे द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठीमें रहती है। जो वीतराग महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादिके वशीभूत नहीं होते तथा सर्वदा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उनके प्रभावसे ही पृथ्वी टिकी हुई है।

वैदिक संस्कारोंकी गरिमा

(स्वामी श्रीनिगमानन्दजी सरस्वती, एम्०ए०)

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च॥

(महा०, शान्ति० मोक्ष० २३५।२४)

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंपर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुषको इहलोक और परलोकमें कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती।

संस्कारका सहज, सरल, सूक्ष्म अर्थ है—शुद्धि, परिमार्जन तथा उत्थानहेतु यथार्थ क्षमता प्राप्त करनेकी क्रिया। संस्कारद्वारा चेतन और अचेतन—दोनों ही अपने पूर्ण रूपमें विकसित होकर मूल्यवान् बनते हैं।

खानसे निकला लोहपिण्ड जब यन्त्रोंसे संस्कृत होकर बाहर आता है तो व्यवहारजगत्‌में उसकी उपयोगिता और मूल्य; दोनों ही पूर्वसे अधिक हो जाते हैं। इसका अनुभव साधारण बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति भी कर सकता है। इसी प्रकार मानवके सुसंस्कृत होनेपर उसका गौरव बढ़ जाता है। सनातनधर्ममें प्राणी गर्भसे लेकर मृत्युके पश्चात् भी शुभ संस्कारोंसे प्रभावित रहता है तथा उसका आगामी जीवनपर भी प्रभाव देखनेमें आता है। इसके अनेक प्रमाण वैदिक धर्मग्रन्थोंमें देखनेको मिलते हैं। महर्षि व्यास, मुनिराज नारद, महर्षि अगस्त्य, महाभागवत प्रह्लाद आदिके जीवनमें शुभ संस्कारोंका प्रभाव स्पष्ट रूपसे दिखलायी देता है।

विश्वके प्रायः हर धर्म-जातिमें प्राणीके उत्थानहेतु संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं, पर उनका रूप एक-दूसरेसे भिन्न होता है। पूर्व और पश्चिमके संस्कार भिन्न-भिन्न हैं। उसके अनुसार उनके जीवनलक्ष्यकी प्राप्तिके पथ भी भिन्न हैं। वैदिक सनातनधर्ममें संस्कारोंका विशेष महत्त्व है। इस कारण इन्हें अनिवार्य रूपसे उचित समयपर सम्पन्न करनेका विधान है। श्रीरामचरितमानस (१।१९३; २।१०।६)-में वर्णन आता है—

नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥

करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥

सनातन धर्म पृथ्वीके सभी धर्मोंसे प्राचीन है। विश्वके सारे धर्म सनातनधर्मके ही अङ्ग हैं। इसमें जो मानवीय संस्कार हैं, वे अति प्राचीन और विशेष मूल्यवान् हैं। सनातनधर्ममें प्राणी गर्भसे लेकर अनेक जन्मोंतक संस्कार-शृङ्खलामें बद्ध रहता है। इसका समापन, उत्थान-पतन एवं अन्त भूमिमें ही होता है। उसकी उन्नति, अवनति संस्कारोंके शुभ और अशुभरूपोंसे प्रभावित होती है, इसका संकेत वैदिक धर्मग्रन्थोंमें पाया जाता है। सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करनेपर संस्कारकी शृङ्खलाका रूप स्पष्ट समझमें आ जाता है। जिसके द्वारा मानव अपने सहजस्वरूपको प्राप्तकर अक्षय आनन्दमें निमग्न हो कृतार्थ होता है।

संस्कारोंका चक्र—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

(कठोपनिषद् २।२।७)

जिसका जैसा कर्म होता है और शास्त्रादिके श्रवणद्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है, उसीके अनुसार शरीर धारण करनेके लिये कितने ही जीवात्मा तो नाना प्रकारकी जङ्गम योनियोंको प्राप्त हो जाते हैं और दूसरे स्थावर भावको प्राप्त होते हैं।

संस्कारोंके अमूल्य रूपका प्रभाव उपर्युक्त मन्त्रमें समाया है, जिसकी समता विश्वसाहित्यमें नहीं मिलती। श्रीमद्भगवद्गीता (७।१९)-में भी संस्कारका गौरव कितना मूल्यवान् है, सहज ही समझमें आ जाता है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

बहुत जन्मोंके अनन्तर अन्तिम जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार समझकर मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

शुभ संस्कारोंका विकास मानव-मनमें धीरे-धीरे होता है। अन्तमें यह पूर्णताकी प्राप्ति कराने तक हो जाता है, जहाँ सभी प्रकारके दुःखोंका अन्त हो जाता

संस्कारोंके उपदेष्टा भगवान् वेदव्यासद्वारा भागवद्धर्मका उपदेश

'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥'

महर्षि सान्दीपनिद्वारा कृष्ण-सु॰

ऋषि-यज्ञ

देव-यज्ञ

पितृ-यज्ञ

मनुष्य-यज्ञ

भूत-यज्ञ

गृहस्थोंद्वारा नित्य करणीय पञ्च महायज्ञ

है। जो प्राणी प्रभुकृपासे सनातन वैदिक संस्कारोंसे संस्कृत हो गया, वही विश्वके कल्याणकी भावनासे कर्तव्यपथमें उतरकर विश्वबन्धुत्वके भावसे सबके हित-चिन्तनकी अभिलाषा रखता है, वह सभी आसक्तियोंसे रहित होकर प्रभुके चरणोंमें अनुराग रखता है, वह सभीमें अपने इष्टका दर्शन करता है तथा उसका किसीसे कोई विरोध नहीं होता—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(रा०च०मा० ७।११२ ख)

बुद्धिमान् माँ-बापद्वारा बचपनमें जिसके उचित संस्कार किये गये हों, वह बालक कुल, जाति, धर्म और देशका नाम उजागर करता है तथा अपने कर्तव्यका समुचित निर्वाह करता रहता है।

सामान्यत: प्राणी किसी जाति-धर्ममें पैदा होनेसे ऊँच-नीच नहीं होता, वह तो अपने अच्छे-बुरे क्रिया-कलापों, आचरण आदिसे ही महान् एवं क्षुद्र बनता है। वन्दनीय होना और निन्दनीय बनना संस्कारोंकी ही देन है। उचित संस्कार ही मानवको जीवन-यात्रामें सफलतापूर्वक लक्ष्यकी प्राप्ति कराता है। सदाचारवान् व्यक्ति संसारमें सुख-समृद्धिकी ही सृष्टि कर धन्य होते हैं। सदाचार परम धर्म है। इसके विषयमें सभीका एक मत है।

आचार: परमो धर्म: सर्वेषामिति निश्चय:।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति॥

(वसिष्ठस्मृति ६।१)

आचार सभीका परम धर्म है, यह निश्चित है। जो हीन आचरणवाला है, वह संसारमें भी नष्ट हो जाता है तथा मरकर परलोकमें भी। संस्कारोंका उचित प्रवेश मनुष्यके उत्थान-पतनके मार्गको प्रशस्त करता है। जीवनमें कुसंस्कार और सुसंस्कारके प्रवेशसे ही व्यक्ति वन्दनीय और निन्दनीय होता है। संस्कारोंका गौरव असीम है। हीन आचरणवाले कुसंस्कारीका उद्धार होना कठिन है—

नैनं तपांसि न ब्रह्म नाग्निहोत्रं न दक्षिणा:।
हीनाचारमितो भ्रष्टं तारयन्ति कथञ्चन॥

(वसिष्ठस्मृति ६।२)

हीन आचरणवालेको तप, वेद, अग्निहोत्र और दक्षिणा किसी प्रकारसे भी नहीं तार सकते। इसके विपरीत श्रद्धालु और असूया दोषसे रहित सत्संस्कारसम्पन्न व्यक्ति सदाचारद्वारा सौ वर्षतक जीता है और अपने जीवनलक्ष्यको प्राप्त कर धन्य हो जाता है—

सर्वलक्षणहीनोऽपि य: सदाचारवान्नर:।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनु० ४।१५८)

यह सब संस्कारोंकी महत्ताका ही प्रबल पक्ष सिद्ध करता है।

मानव-जीवनके चरम उत्कर्षस्वरूपकी प्राप्तिके लिये ही हमें यह देवदुर्लभ मनुष्यशरीर मिला है, जिसकी महिमा प्रात:स्मरणीय संतशिरोमणि तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानस (७।४३।७)-में कही है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

इस प्रकार हमें यह अमूल्य शरीर प्राप्त है, इसे पाकर हम अपने अजर-अमर स्वरूपको प्राप्त करनेपर ही धन्य हैं, नहीं तो महान् अनर्थ है। श्रुतिमें कहा गया है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा:
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केनोपनिषद् २।५)

अर्थात् यदि इस मनुष्यशरीरमें ब्रह्मको जान लिया, तब तो बहुत कुशल है। यदि इस शरीरके रहते ब्रह्मको नहीं जान पाया तो महान् विनाश है। यही सोचकर बुद्धिमान् पुरुष प्राणी-प्राणीमें परब्रह्म पुरुषोत्तमको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमर हो जाते हैं।

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

(रा०च०मा० १।११२।२)

आत्मारामको जानो, तभी क्लेशोंका अन्त होगा अन्यथा नहीं; वह प्रभु ही अन्तरात्मा है। उसीकी प्राप्ति मानवतनका लक्ष्य है। इसी लक्ष्यको प्राप्त करनेकी क्षमताहेतु सनातनधर्ममें संस्कारोंद्वारा मानवप्राणीको दिशा-ज्ञान दिया जाता है। स्वरूपकी प्राप्तिमें ही ये सब सार्थक हैं। यह समझकर श्रुतिके इस महान् लाभप्रद उपदेशके

पालनमें पूर्ण समर्पण करके जुट जाओ, अपनेको जान लो और अमृतपान कर अमर हो जाओ।

> एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
> एकं रूपं बहुधा यः करोति।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
>
> (कठोपनिषद् २।२।१२)

अर्थात् जो सब प्राणियोंका अन्तर्यामी, अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला परमात्मा अपने एक ही रूपको बहुत प्रकारसे बना लेता है, उस अपने अंदर रहनेवाले परमात्माको जो ज्ञानी पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा अटल रहनेवाला परमानन्दस्वरूप वास्तविक सुख मिलता है; दूसरोंको नहीं।

शुभ संस्कारोंसे ही ऐसी बुद्धि बनती है और शुभ कर्मकी दृढ़ता प्राप्त होती है। अतः अच्छे संस्कार बन सकें, इसके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये।

~~o~~

संस्कारोंकी महिमा—एक दृष्टान्तबोध

(श्रीकृष्णचन्द्रजी टवाणी, एम्०कॉम०)

संस्कारका अर्थ होता है—शुद्ध करना, साफ करना, चमकाना और भीतरी रूपको प्रकाशित करना। संस्कारोंका विशेष उद्देश्य मानसिक और आध्यात्मिक परिशुद्धिमें है। जिस व्यक्तिका संस्कार किया जाता है, उसके मन और आत्मापर अच्छा प्रभाव पड़ता है। जब हम किसी व्यक्तिके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि यह मनुष्य सुसंस्कृत है या उसके संस्कार अच्छे हैं, तब हमारा आशय उस व्यक्तिकी बाहरी बातों या व्यवहारोंसे उतना नहीं होता, जितना कि उसकी सद्भावना, सच्चरित्रता तथा मन और आत्माकी पवित्रतासे होता है, जिसकी प्रेरणासे वह व्यक्ति सत्कार्य करता है और अपने सद्गुणोंका परिचय देता है।

संस्कृति हमारे आन्तरिक गुणोंका समूह है, यह प्रेरक शक्ति है, हमारे सामाजिक व्यवहारोंको निश्चित करती है और हमारे साहित्यका निर्माण करती है। संस्कृति हमें बतलाती है कि हम अपनी सूक्ष्म वित्तवृत्तियोंका कितना विकास कर पाये हैं और पशुजीवनसे कितना ऊँचा उठ सके हैं।

ममता प्राणिमात्रका स्वाभाविक गुण है; पर एक आदमीकी ममता उसके अपने परिवारतक ही सीमित रहती है, दूसरेकी अपने परिवारसे बाहरके भी दुःखी बालक या [illegible] पहुँचती है और तीसरेकी ममता अपने शत्रुओंसे भी सद्व्यवहार करनेको प्रेरित करती है। इसमें अवश्य ही पहलेसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा व्यक्ति अधिक संस्कृत कहा जायगा।

संस्कृत व्यक्ति शिक्षा, साहित्य, कला-कौशल आदिकी उपेक्षा नहीं करता, वह इन्हें अपनी व्यक्तिगत इच्छाओंकी पूर्ति या ख्यातिके साधनके रूपमें भी नहीं देखता है, उसके लिये तो ये चीजें उसके धन आदिकी तरह समाजके हित या सुखके लिये साधनमात्र हैं। साधारण जन भी 'संस्कृतव्यक्ति' कहला सकता है, यदि उसमें सहानुभूति, उदारता, प्रेम, परोपकार आदि भावनाओंका विकास हो गया हो, यदि वह दूसरोंका कष्टनिवारण करनेके लिये स्वयं दुःख झेलनेको तैयार हो, उसका हृदय मानवसेवाके लिये बेचैन हो और वह प्राणियोंमें अपनी ही आत्माका अनुभव करता हो।

हमारी यह संस्कृति मानवसंस्कृति है, हमें चाहिये कि उसके विकास और प्रचार-प्रसारमें—मानवताको ऊँचा उठानेमें अधिक-से-अधिक योगदान देकर अपना जीवन सफल करें।

आजका युवावर्ग जो कि आधुनिक भौतिकी होड़में दूषित वातावरणसे ग्रस्त एवं पाश्चात्य जीवननीतिके अन्धानुकरणकी दौड़में व्यस्त है, उसके लिये सर्वप्रथम यह जरूरी है कि वह जीवनमें संस्कारोंकी आवश्यकताको जाने, दैनिक जीवनमें नियमितता लाये और व्यवहारमें सद्गुणोंका समावेश करे। भगवान् श्रीरामका जीवन कितना आदर्शमय था। [illegible] दिया है—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
(रा०च०मा० १।२०५।७)

बालक अपने जन्मके साथ दो प्रकारके संस्कार लेकर आता है। एक संस्कार तो वे हैं, जिन्हें वह जीवनमें अपने जन्म-जन्मान्तरोंसे साथ लाता है एवं दूसरे वे, जिन्हें वह अपने माता-पितासे वंशपरम्पराके रूपमें प्राप्त करता है। ये संस्कार अच्छे-बुरे—दोनों प्रकारके हो सकते हैं। तीसरे संस्कार वे होते हैं, जिन्हें बालक जन्मके बाद अपने वातावरणसे प्राप्त करता है।

बालक अपने परिवारमें जैसा नित्यप्रति देखता है, जैसे कार्य उसके अभिभावक करते हैं, वह भी प्राय: वैसा ही करने लग जाता है। यदि बालक यह देखता है कि परिवारके सभी लोग रात्रिमें विलम्बसे सोते हैं और सुबह विलम्बसे जगते हैं तो वह भी विलम्बसे जगनेका आदी हो जाता है। यदि परिवारके लोग सुबह जल्दी जागते हैं तो वह भी जल्दी जगेगा।

जिस परिवारमें सुबह उठते ही, बिना नहाये ही चाय पीनेकी परम्परा है तो उस परिवारके बालकोंमें भी यह आदत बन जायगी, किंतु जिस परिवारके लोग उठनेके पश्चात् पहले नित्यकर्म आदि करते हैं तो बालक भी उसीका अनुकरण करेगा। इसे एक उदाहरणसे समझाया जाता है—

एक फोटोग्राफरके मनमें विचार आया कि वह अपने स्टूडियोमें एक सुन्दर एवं सुसंस्कृत बालकका फोटो लगाये। अनेक गाँवों एवं नगरोंमें घूमनेके पश्चात् उसे एक गाँवमें एक दसवर्षीय बालक सबसे सुन्दर लगा। उसने उसके माता-पितासे पूछकर उसका फोटो ले लिया तथा उसे अपने स्टूडियोमें लगा दिया। दो दशक पश्चात् उसके मनमें विचार आया कि संसारके सबसे कुरूप व्यक्तिका चित्र भी संग्रह कर स्टूडियोमें लगाया जाय। इसके लिये उसे सर्वप्रथम जेलोंमें जाकर अपराधियोंसे मिलना पड़ा, जो हत्या एवं अन्य कुकृत्योंके परिणामस्वरूप कारावास भुगत रहे थे। फलत: वह एक जेलमें पहुँचा एवं वहाँ उसने एक युवकको देखा जो समयसे पूर्व ही प्रौढ़ और कुरूप लग रहा था तथा वह दुर्गन्धयुक्त परिस्थितियोंमें बैठा था। फोटोग्राफरको लगा—इससे कुरूप एवं बीभत्स व्यक्ति दूसरा नहीं हो सकता। उसने उसका फोटो लेना चाहा। फोटो लेनेका उद्देश्य जानकर वह व्यक्ति रो पड़ा। कारण पूछनेपर उस व्यक्तिने बताया कि जब वह दस वर्षका बालक था, तब एक फोटोग्राफर उसका फोटो उतारकर इसलिये ले गया था कि वह उसे बहुत सुन्दर एवं सुसंस्कृत लगा था, किंतु बादमें मैं अपने घरके कुसंस्कारों तथा कुसङ्गतिके प्रभावसे रास्तेसे भटक गया। उच्छृङ्खल जीवनके कारण मुझमें सब प्रकारके दुर्गुण आ गये। कुछ वर्ष बाद ही बच्चे मुझे देखकर डरने लगे और मैं समाजमें घृणाकी दृष्टिसे देखा जाने लगा। परिणामस्वरूप प्रतिदिन झगड़ने, चोरी करनेका मेरा नियम हो गया था और आप आज मुझे इस स्थितिमें देख रहे हैं। अस्तु, मेरे बचपनके कुसंस्कारोंने ही मेरी यह दशा कर दी है। मुझे तो यह लगता है कि बालकोंको संस्कारित करनेमें माता-पिताकी अहम भूमिका होती है।

उसकी बात सुनकर फोटोग्राफर भौंचक्का-सा रह गया और किंकर्तव्यविमूढ़-सा होकर बिना फोटो लिये ही वापस चला आया।

इसलिये बालकोंको संस्कारित करनेके लिये अभिभावकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये, वरना युवा पीढ़ी विलासिताका जीवन जीना ही पसंद करेगी। बिना परिश्रम शीघ्र ही पैसा कैसे प्राप्त हो सकता है—आज हर युवाके दिमागमें यही बात है। हमारे बालक तभी संस्कारित हो सकते हैं, जबकि हम स्वयं संस्कारित होंगे। माँ ही बालकोंकी प्रथम गुरु होती है। इसलिये विशेषरूपसे माताओंद्वारा बालकोंको संस्कारित किया जाना चाहिये। घरसे बाहर बालकोंको संस्कारित करनेमें विद्यालय, गुरुजन एवं पाठ्य पुस्तकोंका भी बड़ा महत्त्व है। इन तीनोंके द्वारा भी बालकोंको उत्तम संस्कार प्रदान किये जा सकते हैं। भावी पीढ़ीको मनसा-वाचा-कर्मणा सशक्त बनानेहेतु प्रारम्भसे ही विद्यालयोंमें नैतिक शिक्षाका अध्यापन अनिवार्य होना चाहिये। समाजके प्रत्येक घटकको इस कार्यमें अपनी सहभागिता निभानेहेतु अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिये, तभी हमारे समाज एवं देशका उत्थान हो सकता है।

है, जो शान्त, सन्तुष्ट और आनन्दमय हो। आदर्श जीवन-शैलीमें संयम और सादगीका विशेष मूल्य है तथा अनुशासन और विनयका बहुत महत्त्व है, ऐसा होना सुसंस्कारोंपर ही निर्भर है। सुसंस्कारोंके बिना व्यक्तिका जीवन दिग्भ्रान्त—नाविकविहीन जहाजके समान दुविधामयी स्थितिमें विस्तृत सागरमें डगमगाता रहता है।

सुसंस्कारोंका अर्थ होता है स्वभाव, व्यवहार, आचरण अथवा जीवनका वह कार्य जिससे मानवकी योग्यता, मानवता, कर्तव्यपरायणता आदिका बोध होता है। इतिहास साक्षी है कि सुसंस्कारी व्यक्ति ही महापुरुष हुए हैं। संस्कारोंके लिये मन, वचन और कर्म—इन तीनोंकी पवित्रता और एकरूपता अपेक्षित है। साधारणतया जब व्यक्ति अनैतिक, अविश्वासी, कामलोलुप, क्रोधी, पाखण्डी तथा मानसिक विकारसे ग्रस्त हो जाता है, तब उसे कुसंस्कारी कहा जाता है। इसके विपरीत संस्कारी व्यक्तिमें स्वधर्मपालन, परोपकारिता, सहिष्णुता, नम्रता आदि महान् गुण होते हैं, इसीलिये वह महान् कहलाता है।

धार्मिक ग्रन्थोंके अनुसार सुसंस्कृत व्यक्तिको चाहिये कि वह जितेन्द्रिय, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, लोभहीन, सदाचारपरायण और सर्वभूतहितैषी बनकर अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम-क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओंको अवश्य जीते।

बालकपर ही देश, जाति, धर्म तथा संस्कृतिका भविष्य निर्भर है। संस्कारोंसे ही बालक सद्गुणी, सुविचारसम्पन्न, सत्कर्मी, सेवापरायण, साहसी, आदर्शभूत, अनुशासनप्रिय एवं संयमी बनता है। इनके संस्कारी बननेसे समाज तथा देश भी वैसा बनेगा, जबकि इनके संस्कारहीन होनेपर स्वयं इनकी तथा समाज एवं देशकी दुर्दशा हो जाती है। बालक अनुकरणप्रिय होता है, हम उसे जैसा सिखायेंगे, वैसा ही वह सीखेगा। हमारे ऋषि-मुनियोंका कहना है कि बालक गर्भमें भी सीखा करता है।

सुसंस्कृत व्यक्तिमें छः प्रकारकी शुद्धियाँ स्वयं प्रविष्ट हो जाती हैं; यथा—मनकी शुद्धि, वाणीकी शुद्धि, अन्नशुद्धि, हस्तशुद्धि (प्रतिग्रह न लेना तथा हाथोंद्वारा शुभकर्म करना), कच्छशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि।

आचार-विचार और संस्कारका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें संस्कारोंपर विशेष बल दिया गया है।

आज सुसंस्कारोंके अभावमें न तो आश्रमधर्म रहा और न वर्णधर्म ही, लोक और वेद दोनोंकी मर्यादा नष्ट होती जा रही है। न कोई लोकाचार मानता है और न वेदोक्त धर्म ही। शास्त्र और सुमार्ग क्षीण हो रहे हैं। यद्यपि यह नैराश्यकी ही स्थिति है, किंतु यदि सन्मार्गका आश्रय लिया जाय तो इस विषम परिस्थितिसे हम अपनेको उबार सकते हैं। सुसंस्कार आत्मोत्थानके मूल कारण हैं, इनके सम्पादन तथा सद्वृत्त एवं सदाचारके सेवनसे इस लोकमें उन्नति, यश, प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है और पारलौकिक कल्याणका मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

~~o~~

अकिञ्चनता

तपःसञ्चय एवेह विशिष्टो धनसञ्चयात्॥
त्यजतः सञ्चयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवाः। न हि सञ्चयवान् कश्चित् सुखी भवति मानद॥
यथा यथा न गृह्णाति ब्राह्मणः सम्प्रतिग्रहम्। तथा तथा हि संतोषाद् ब्रह्मतेजो विवर्धते॥
अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयन्। अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि जितात्मनः॥

(पद्म०, सृष्टि० १९। २४६—२४९)

इस लोकमें धन-सञ्चयकी अपेक्षा तपस्याका सञ्चय ही श्रेष्ठ है। जो सब प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं। मानद! संग्रह करनेवाला कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। ब्राह्मण जैसे-जैसे प्रतिग्रहका त्याग करता है, वैसे-ही-वैसे संतोषके कारण उसके ब्रह्म-तेजकी वृद्धि होती है। एक ओर अकिञ्चनता और दूसरी ओर राज्यको तराजूपर रखकर तौला गया तो राज्यकी अपेक्षा जितात्मा पुरुषकी अकिञ्चनताका ही पलड़ा भारी रहा।

~~o~~

संस्कार, सदाचार और सद्वृत्त

(श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु)

संस्कार, सदाचार और सद्वृत्तका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सत्क्रियाओंसे आत्मिक परिष्करणके निमित्त विशेष कर्मानुष्ठान ही संस्कार हैं। सात्त्विक संस्कार-प्राप्त्यर्थ शास्त्रोक्त नियमोंका पालन अनिवार्य है। कायिक, वाचिक और मानसिक संस्कारत्रयमें मानसिक संस्कार श्रेष्ठ है। भारतीय सनातन संस्कृतिमें संस्कारोंपर बहुत बल दिया गया है। गौतमधर्मसूत्रमें ४८ संस्कार बताये गये हैं तथा सुमन्तुने २५ संस्कार बताये हैं, पर महर्षि व्यासदेवने स्वकीय स्मृतिमें अत्यन्त उपयोगी प्रमुख १६ संस्कारोंका वर्णन किया है। जिस कर्तव्यकर्मसे समाजकी श्रीवृद्धि होती है और सत्प्रवृत्तिकी सृष्टि होती है, वह संस्कार कहा जाता है। गृह्यसूत्रोंमें गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिक्रियातक विविध संस्कारोंका वर्णन है।

संस्कार होनेपर 'द्विज' संज्ञा होती है। गर्भाधानादि संस्कारोंसे शून्य व्यक्ति द्विज नहीं हो सकता—

'संस्कारात् द्विज.।' (बौधायनगृह्यपरिभाषासूत्र)

सत्पुरुषोंके आचारका नाम ही सदाचार है, जो धर्मका मूल है—

'धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥'

(मनुस्मृति ४।१५५)

परस्त्रीको मातृवत्, परद्रव्यको मिट्टीकी भाँति तथा सर्वभूतोंमें आत्मदर्शी ही यथार्थदर्शी पण्डित है—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥

(चाणक्यनीति १२।१४)

संस्कारवान् तथा सदाचारी व्यक्ति सतत सबके मङ्गलकी ही अभिलाषा रखते हैं। उनका यह सहज स्वभाव रहता है कि सभी प्राणी आनन्दसे रहें, नीरोग रहें तथा कोई भी स्वप्नमें दुःखका भी भागी न बने—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

संस्कृत जीवन—मैत्रीपूर्ण व्यवहार ही अनेक समस्याओंका, मङ्गलविधायक और कल्याणकारक है। अलौकिक-संस्कार हमें यह अच्छी शिक्षा देते हैं कि सब लोग ऐसे सत्पथपर मिलकर चलें, अभ्युदयकारक सत्य एवं कल्याणकारी वाणी बोलें, एक-दूसरेके मनकी बातको जानकर तदनुकूल आचरण करें, जिस प्रकार देवता मर्यादाको समझते हुए अपना-अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार हम सब मानव भी न्यायोचित भागको ही ग्रहण करें, किसी अन्यके भागका धन अन्यायसे ग्रहण न करें। हम सभीके सङ्कल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार समान हों, कपटपूर्ण न हों। हमारा हृदय समान हो अर्थात् सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित होकर समभावमें स्थिर हो, हमारा मन समान हो अर्थात् सद्भाववाला हो और सबका सहभाव हो—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋग्० १०।१९१।२, ४)

भारतीय संस्कृतिमें सद्वृत्तका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसके निर्माणकी प्राथमिक शिल्पी माता ही है।

जो व्यक्ति गुरुजनोंको नित्य नमस्कार करनेके संस्कारवाला तथा वयोवृद्धोंका सेवाकारी होता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बलकी अनुदिन वृद्धि होती रहती है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनुस्मृति २।१२१)

इस आर्यावर्तमें जन्म लेनेवाले अग्रजन्मा पुरुषोंसे ही पृथ्वीके सभी लोगोंको अपने-अपने सद्वृत्तोंकी शिक्षा लेनी चाहिये—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २।२०)

संस्कार, सदाचार और सद्वृत्तका पारस्परिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रित ही है। महर्षि अङ्गिराका शौनकजीको आत्मतत्त्वके बारेमें निम्नोक्त सन्देश दिया हुआ—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(मुण्डकोपनिषद् ३।२।३)

अर्थात् यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है; यह जिसको स्वीकार कर लेता है; उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देता है।

संस्कार, सदाचार और सद्वृत्तकी चरमोपलब्धि सर्वत्र परमात्मदर्शन ही है। मनुष्य-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता संस्कारोंपर अवलम्बित है। मनुष्यके अधःपतनके हेतु उसके कुसंस्कार, कदाचार और असद्वृत्त ही हैं। महाभारतमें यथार्थ ही कहा गया है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(उद्योग०, प्रजागरपर्व ३६।३०)

अर्थात् सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये।

पुराणोंमें संस्कार, सदाचार और सद्वृत्तसम्बन्धी विविध आख्यान वर्णित हैं। पद्मपुराणमें माता-पिता (पितरों)-की सेवाके संस्कारको सर्वश्रेष्ठ बताया गया है—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥
पितरो यस्य तृप्यन्ति सेवया च गुणेन च।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते॥
सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात्सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
(सृ० ५२।९—११)

पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे पिता-माता संतुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गङ्गा-स्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है, इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये।

मनुष्य-जीवनके अनुकरणीय तथा अनुपाल्य आदर्श संस्कारोंमें गुरुजनोंका अभिवादन एवं माता-पिता आदि वयोवृद्ध गुरुजनोंकी भक्ति और सेवाका संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सत्य, तपस्या, सम्यक् ज्ञान एवं नित्य ब्रह्मचर्यपालन—इन सत्संस्कारोंसे आत्मसाक्षात्कार होता है—

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।'
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।५)

आत्मज्ञानार्जन, मनकी प्रशान्ति और वेदाभ्यासरूप सुसंस्कारसम्पन्न होनेके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये—

'आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥'
(मनुस्मृति १२।९२)

सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, सार-असार तथा अच्छी-बुरी विवेचना करनेकी शक्ति जिसमें नहीं रहती, वह मनुष्यपदवाच्य नहीं हो सकता। विवेक ही मनुष्यका अमूल्य वित्त है। विवेकी व्यक्ति सुशील एवं संस्कारसम्पन्न होते हैं। धर्म, सत्य, बल, वृत्ति और श्रीप्रभृति—ये सब शीलमें ही प्रतिष्ठित हैं। सुशीलता ही मनुष्यत्वका प्रकृष्ट परिचायक सर्वोत्तम आभूषण है। वेद यथार्थ ही सदुपदेश दे रहे हैं—'**मनुर्भव**' अर्थात् मननशील और संस्कारसम्पन्न होइये तथा मनुष्यत्वकी रक्षा कीजिये। गुरु-वाणीमें कहा गया है—

मातृभूमातृभक्तो यः स्वकर्तव्यरतः सदा।
वशे कृत्वेन्द्रियाणीह सुसंस्कारसमन्वितः॥
न वृथा परविद्वेषं वृणोति हि कदाचन।
मनुष्यः स प्रशस्योऽत्र गण्यमान्योऽप्यकिञ्चनः॥

जो माता [पिता] तथा पृथ्वीमाताका भक्त है, सदा अपने कर्तव्यमें परायण रहता है, अच्छे संस्कारोंसे सम्पन्न है तथा जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर रखा है और जो किसीके साथ कभी भी द्वेष नहीं रखता, वह मनुष्य अकिञ्चन होते हुए भी प्रशंसनीय और गण्यमान्य है।

संस्कारोंसे युक्त होनेपर ही मनुष्य संस्कृत, सदाचारी, वृत्तवान् तथा प्रभुपरायण हो सकता है। इस प्रकार भारतीय धर्म एवं हिन्दूसंस्कृतिमें संस्कार, सदाचार और सद्वृत्तोंका अपार महत्त्व है। सुसंस्कृत व्यक्तिके निर्माणसे ही देश-समाजका कल्याण होना सम्भव है। कुसंस्कारों, कदाचारों तथा दुर्वृत्तोंसे निवृत्त होनेके लिये भगवान्‌से सदा प्रार्थना करते रहना चाहिये।

संस्कारोंका महत्त्व और उनका जीवनपर प्रभाव

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम०ए०, पी-एच०डी०)

जीवनमें हमें जो कुछ वास्तवमें बनना या पूर्ण विकसित होकर समाजमें अपना महत्त्वपूर्ण पद, नौकरीमें स्थान, सामाजिक जीवनमें प्रतिष्ठा, राजनीतिमें नेतृत्व, व्यापारमें समृद्धि, यश और प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करना चाहिये, उसकी तुलनामें हम केवल अर्द्धजाग्रत् ही हैं।

खेद है कि हम समझदार कहलाकर भी अपने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक संस्कारोंसे अनभिज्ञ हैं और उन्हें न जानकर अपनी छिपी हुई शक्तियोंका केवल अल्पांश ही उपयोग कर रहे हैं। हम ईश्वरके पुत्र, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, परम तेजस्वी आत्मा हैं, भगवान्‌ने हमारे गुप्त मनमें उन समस्त सद्गुणोंके संस्कार बीजरूपमें जमा रखे हैं, जिनसे जीवन सफल और यशस्वी बनता है। अपने छिपे हुए या सोये हुए संस्कारोंपर विश्वास कर, निरन्तर उन्हें पहचान कर, उनका पूर्ण विकास कर ही हम प्रसिद्धिके चरम शिखरपर पहुँच सकते हैं। अपने-आपको बढ़ाकर हम स्वयं ही ऊँचे उठ सकते हैं।

इन संस्कारोंको विकसित करनेपर ही विकास और उन्नतिकी असीमित सम्भावनाएँ हमारे शरीर, मस्तिष्क और आत्मामें निहित हैं। आप तथा आपके सम्पर्कमें रहनेवाले आपके बहुत-से मित्र, सम्बन्धी, बाल-बच्चे, धर्मपत्नी, पड़ोसी अपने शुभ संस्कारोंसे परिचित नहीं हैं। वे अज्ञान और आलस्यके कारण अपनी छोटी-छोटी सीमाओं या थोड़ी-सी उपलब्धियोंसे ही संतुष्ट हो जाते हैं, जबकि विकास करनेके लिये उनके गुप्त मनमें सोये हुए शुभ सात्त्विक संस्कार व्यर्थ ही पड़े रहते हैं। इन संस्कारोंको जानने, शिक्षण करने और विकसित करनेकी बड़ी आवश्यकता है।

मनुष्यको ईश्वरने अपने उत्तम गुणोंसे परिपूर्ण करके भेजा है। विधाता सर्वोत्कृष्ट प्राणी होनेके कारण उसमें उत्तम शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक गुण बीज रूपमें रखे गये हैं। प्रत्येक सद्गुणकी जड़ हमारे गुप्त मनमें जमायी गयी है। ये जड़ें अत्यन्त गहरी हैं और इन्हें ही संस्कार कहते हैं। संस्कारोंके बीज कई पीढ़ियों, माता-पिता तथा उनके परिवारके पूर्वजोंसे हमारे गुप्त मनमें आते हैं। ये संस्कार ही हमारे विकासके चिह्न हैं। यही हमारी वे सम्पदाएँ हैं, जिनसे हर प्रकारका विकास सम्भव है; अतः अपने उच्च संस्कारोंमें विश्वास कीजिये।

कई बार साधारण-से परिवार और मामूली वातावरणमें पला-पनपा बालक अपने अंदर किसी विशेष गुण या विशेषताका अनुभव करता है और उधर ही स्वतः धीरे-धीरे विकसित होता जाता है। बाह्य वातावरण बहुत कम उसकी सहायता करता है, यह उसके शुभ संस्कारोंका ही परिणाम है। संस्कार उच्च गुण एवं कर्मकी प्रेरणा देनेवाला बीज है। इस केन्द्रबिन्दुसे ही उन्नति होती है। प्राणिमात्र ईश्वरके पुत्र हैं, आत्मरूप हैं। सुख-शान्ति, आरोग्य और आनन्दके स्वामी हैं। ईश्वर अदृश्यरूपसे सबमें समाया हुआ है। वह शील, गुण और शक्तिका पुञ्ज है। उसकी सूक्ष्म सहायता गुप्त रूपसे हमें सदा ही मिलती रहती है। स्वस्थ शरीर, जाग्रत् बुद्धि और शान्त मन हमें आत्माकी ओर चलाते हैं। यह सब हमारे ईश्वरीय शुभ संस्कारोंका ही प्रभाव है। हमारे उच्च संस्कार केवल इस जन्मकी कमाई नहीं हैं, पूर्वजोंके शुभ कार्योंके फल हैं। अभ्याससे इन संस्कारोंको निखारा जा सकता है। ज्ञानवान् वह है जो अपने शुभ संस्कारोंसे परिचित है, दिव्य और पवित्र लक्ष्यको जानता है। पूर्वसंचित शुभाशुभ कर्मोंका नाश देता है।

स्वभावसे ही मनुष्य ऊँचा उठना और आगे बढ़ना चाहता है। पशु और मनुष्यमें इन उच्च संस्कारोंको विकसित कर ऊँचा उठना ही अन्तर है। पशु जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं, मनुष्य अपने संस्कारोंको पहचान कर विकास कर रहा है।

कई बार हमारी आत्मा हमें शुभ संकेत देती है, पवित्र भावनाएँ अंदरसे उठती हैं, उत्तम विचार और दिव्य संस्कार मस्तिष्कमें जागकर हमें कुछ सात्त्विक संदेश देना चाहते हैं। ये पवित्र संस्कार भगवान्‌के दिये हुए दिव्य संकेत हैं कि हम मौजूदा स्थितिसे ऊँचे उठें, आगे बढ़ें, जिससे उपयोगी कार्योंमें प्रवृत्त करते-करते देवत्वके सर्वोच्च शिखरपर आसीन हों। इस भावनाको अन्तः-निरीक्षण बढ़ाते

हैं। अपनी आत्माके संकेतको सुनना, समझकर क्रियान्वयन (अर्थात् अभ्यासद्वारा उसपर अमल) करना उन्नतिका उपाय है। प्रत्येक श्रेष्ठ कर्मके मूलमें शुभ संस्कार ही जड़ रूपसे विद्यमान हैं। खेद है कि हम अपनी इस जड़ (संस्कार)-को नहीं पहचानते, अपना आत्म-विश्लेषण नहीं करते, आत्माकी आवाज नहीं सुनते, व्यर्थ ही आलस्यमें पड़े रहते हैं। शुभ संस्कार दबे पड़े रहते हैं।

हम प्रायः दूसरोंकी दृष्टिमें अपने-आपको भरमानेकी कोशिश करते हैं, अपने असली स्वरूपको देखनेसे वञ्चित रह जाते हैं। आत्मोन्नति तभी सम्भव है, जब हम अपने शुभ संस्कारोंको समझें और निरन्तर अभ्यास और संयमद्वारा अपने गुणोंको विकसित करें। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने दैवी सम्पदा (अर्थात् दैवी संस्कारों)-का उल्लेख किया है। ये वे दैवी संस्कार हैं, जो जन्मसे ही हमें मिले हैं। यह वह आचारसंहिता है, जिसे हमें अपने आचरणमें विकसित करना चाहिये। उस कसौटीपर हमें अपनेको परखना चाहिये कि हम अपने अंदर कितने सात्त्विक संस्कारोंको जाग्रत् कर सके हैं। आज हमारी क्या स्थिति है? हमें किन-किन दिशाओंमें अपनी योग्यताएँ विकसित करनी हैं? कौन-कौन व्यक्ति, परिस्थिति या वातावरण हमारे शुभ संस्कारोंके विकासमें सहायक हो सकता है? भगवान्ने दैवी संस्कारोंके ये लक्षण बताये हैं—अभय, सात्त्विक वृत्ति, ज्ञानयोगमें स्थिति, दान, मन और शरीरपर पूर्ण नियन्त्रण, यज्ञ अर्थात् समाजके हितके लिये किये गये निःस्वार्थ कर्म, स्वाध्याय अर्थात् उत्तमोत्तम धर्मग्रन्थोंका अध्ययन, तप अर्थात् कर्तव्यमार्गमें आवश्यक कष्ट सहना और अनुशासनमें रहना, कष्ट सहकर भी परोपकार करना, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका अभाव, त्याग, शान्ति, उदारता एवं दया, तृष्णाका अभाव, मृदुता, बुरा काम करनेमें लाज, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, शत्रुताका अभाव तथा अपने-आपमें पूज्यताके अभिमानका अभाव। दैवी संस्कारोंका अर्थ देवताओं-जैसी श्रेष्ठ मनोवृत्ति है। अपने दैनिक जीवनमें निरन्तर अभ्यासद्वारा इन संस्कारोंको विकसित करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने जिस आसुरी सम्पदाका उल्लेख किया है, वह हमारे दूषित संस्कार ही हैं। भाग्यवान् तो वे हैं जो आसुरी संस्कारोंसे मुक्त हैं, किंतु जिन्हें विवेक जाग्रत् होनेसे आसुरी संस्कारोंका ज्ञान हो गया है, जो नीर-क्षीर-विवेक कर सकते हैं, उन्हें दूषित संस्कारों (अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह, दम्भ, पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और मूढ़ता)-को दूर करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। इसका उपाय यह है कि हम सात्त्विक संस्कारोंका अभ्यास करें, दृढ़तापूर्वक अपने मनको उनमें लगायें, बार-बार कठोरता और संयमपूर्वक शुभ संस्कारोंको अपने दैनिक व्यवहार और क्रियाओंमें स्पष्ट करें। प्रारम्भमें शुभ संस्कारोंका विकास कुछ धीमी गतिसे होगा, किंतु दीर्घकालीन अभ्यासद्वारा वे हमारे व्यक्तित्वके अङ्ग बन जायँगे। आसुरी संस्कारोंवाले लोग कभी न पूरी होनेवाली कामनाओंको मनमें बसाये रहते हैं। एकके बाद दूसरी कामना मनुष्यको जीवनभर व्यर्थ दौड़ाती है और उसे अपने ध्येयसे दूर कर देती है। दृढ़तापूर्वक अपनी विवेकबुद्धिसे इच्छाओंको जाँचना चाहिये और अभ्यासद्वारा श्रेयका मार्ग अपनाना चाहिये। [संस्कार-सौरभ]

याद रखो

१-किसीको नीचा दिखानेकी चाह या चेष्टा न करो, किसीकी अवनति या पतनमें प्रसन्न न होओ, न किसीकी अवनति या पतन चाहो ही। किसीकी निन्दा-चुगली, दोष-प्रकाशन न करो।

२-मान-प्रतिष्ठाके लिये त्यागका स्वाँग मत धारण करो। सच्चा त्याग करो। त्यागमें भाव प्रधान है, बाहरी क्रिया नहीं।

३-मौन साधन करो—परंतु याद रखो, असली मौन तो मनका है। मनमें विषय-चिन्तन बंद हो जाना चाहिये।

४-गिरे हुए, रोगी, प्रलोभनमें पड़े हुए, अपराधी, विपत्तिग्रस्त और अपमानित नर-नारियोंके साथ कभी दुर्व्यवहार मत करो। उनसे सहानुभूतिका बर्ताव करो। उन्हें सच्चा सुखी बनानेकी चेष्टा करो।

संस्कारोंका महत्त्व और उनका जीवनपर प्रभाव

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

जीवनमें हमें जो कुछ वास्तवमें बनना या पूर्ण विकसित होकर समाजमें अपना महत्त्वपूर्ण पद, नौकरीमें स्थान, सामाजिक जीवनमें प्रतिष्ठा, राजनीतिमें नेतृत्व, व्यापारमें समृद्धि, यश और प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करना चाहिये, उसकी तुलनामें हम केवल अर्द्धजाग्रत् ही हैं।

खेद है कि हम समझदार कहलाकर भी अपने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक संस्कारोंसे अनभिज्ञ हैं और उन्हें न जानकर अपनी छिपी हुई शक्तियोंका केवल अल्पांश ही उपयोग कर रहे हैं। हम ईश्वरके पुत्र, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, परम तेजस्वी आत्मा हैं, भगवान्ने हमारे गुप्त मनमें उन समस्त सद्गुणोंके संस्कार बीजरूपमें जमा रखे हैं, जिनसे जीवन सफल और यशस्वी बनता है। अपने छिपे हुए या सोये हुए संस्कारोंपर विश्वास कर, निरन्तर उन्हें पहचान कर, उनका पूर्ण विकास कर ही हम प्रसिद्धिके चरम शिखरपर पहुँच सकते हैं। अपने-आपको बढ़ाकर हम स्वयं ही ऊँचे उठ सकते हैं।

इन संस्कारोंको विकसित करनेपर ही विकास और उन्नतिकी असीमित सम्भावनाएँ हमारे शरीर, मस्तिष्क और आत्मामें निहित हैं। आप तथा आपके सम्पर्कमें रहनेवाले आपके बहुत-से मित्र, सम्बन्धी, बाल-बच्चे, धर्मपत्नी, पड़ोसी अपने शुभ संस्कारोंसे परिचित नहीं हैं। वे अज्ञान और आलस्यके कारण अपनी छोटी-छोटी सीमाओं या थोड़ी-सी उपलब्धियोंसे ही संतुष्ट हो जाते हैं, जबकि विकास करनेके लिये उनके गुप्त मनमें सोये हुए शुभ सात्त्विक संस्कार व्यर्थ ही पड़े रहते हैं। इन संस्कारोंको जानने, विश्वास करने और विकसित करनेकी बड़ी आवश्यकता है।

मनुष्यको ईश्वरने अपने उदात्त गुणोंसे परिपूर्ण करके भेजा है। विश्वका सर्वोत्कृष्ट प्राणी होनेके कारण उसमें उच्चतम शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक गुण जड़ रूपमें रखे गये हैं। प्रत्येक सद्गुणकी जड़ हमारे गुप्त मनमें जमायी गयी है। ये जड़ें अत्यन्त गहरी हैं और इन्हें ही संस्कार कहते हैं। संस्कारोंके बीज कई पीढ़ियों, माता-पिता तथा उनके परिवारके पूर्वजोंसे हमारे गुप्त मनमें आते हैं। ये संस्कार ही हमारे विकासके चिह्न हैं। यही हमारी वे सम्पदाएँ हैं, जिनसे हर प्रकारका विकास सम्भव है; अतः अपने उच्च संस्कारोंमें विश्वास कीजिये।

कई बार साधारण-से परिवार और मामूली वातावरणमें पला-पनपा बालक अपने अंदर किसी विशेष गुण या विशेषताका अनुभव करता है और उधर ही स्वतः धीरे-धीरे विकसित होता जाता है। बाह्य वातावरण बहुत कम उसकी सहायता करता है, यह उसके शुभ संस्कारोंका ही परिणाम है। संस्कार उच्च गुण एवं कर्मकी प्रेरणा देनेवाला बीज है। इस केन्द्रबिन्दुसे ही उन्नति होती है। प्राणिमात्र ईश्वरके पुत्र हैं, आत्मरूप हैं। सुख-शान्ति, आरोग्य और आनन्दके स्वामी हैं। ईश्वर अदृष्टरूपसे सबमें समाया हुआ है। वह शील, गुण और शक्तिका पुञ्ज है। उनकी सूक्ष्म सहायता गुप्त रूपसे हमें सदा ही मिलती रहती है। स्वस्थ शरीर, जाग्रत् बुद्धि और शान्त मन हमें आत्माकी ओर चलाते हैं। यह सब हमारे ईश्वरीय शुभ संस्कारोंका ही प्रभाव है। हमारे उच्च संस्कार केवल इस जन्मकी कमाई नहीं हैं, पूर्वजोंके शुभ कार्योंके फल हैं। अभ्याससे इन संस्कारोंको निखारा जा सकता है। ज्ञानवान् वह है जो अपने शुभ संस्कारोंसे परिचित है, दिव्य और पवित्र लक्ष्यको जानता है। पूर्वसंचित शुभाशुभ कर्मोंका नाम दैव है।

स्वभावसे ही मनुष्य ऊँचा उठना और आगे बढ़ना चाहता है। पशु और मनुष्यमें इन उच्च संस्कारोंको विकसित कर ऊँचा उठना ही अन्तर है। पशु जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं, मनुष्य अपने संस्कारोंको पहचान कर विकास कर रहा है।

कई बार हमारी आत्मा हमें शुभ संकेत देती है, पवित्र भावनाएँ अंदरसे उठती हैं, उत्तम विचार और दिव्य संस्कार यकायक जागकर हमें कुछ सात्त्विक संदेश देना चाहते हैं। ये पवित्र संस्कार भगवान्के दिये हुए दिव्य संकेत हैं कि हम मौजूदा स्थितिसे ऊँचे उठें, आगे बढ़ें, किसी उपयोगी क्षेत्रमें उन्नति करते-करते श्रेष्ठताके सर्वोच्च शिखरपर आसीन हों। इस साधनाको आत्म-निरीक्षण कहते

हैं। अपनी आत्माके संकेतको सुनना, समझकर क्रियान्वयन (अर्थात् अभ्यासद्वारा उसपर अमल) करना उन्नतिका उपाय है। प्रत्येक श्रेष्ठ कर्मके मूलमें शुभ संस्कार ही जड़ रूपसे विद्यमान हैं। खेद है कि हम अपनी इस जड़ (संस्कार)-को नहीं पहचानते, अपना आत्म-विश्लेषण नहीं करते, आत्माकी आवाज नहीं सुनते, व्यर्थ ही आलस्यमें पड़े रहते हैं। शुभ संस्कार दबे पड़े रहते हैं।

हम प्रायः दूसरोंकी दृष्टिमें अपने-आपको भरमानेकी कोशिश करते हैं, अपने असली स्वरूपको देखनेसे वञ्चित रह जाते हैं। आत्मोन्नति तभी सम्भव है, जब हम अपने शुभ संस्कारोंको समझें और निरन्तर अभ्यास और संयमद्वारा अपने गुणोंको विकसित करें। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने दैवी सम्पदा (अर्थात् दैवी संस्कारों)-का उल्लेख किया है। ये वे दैवी संस्कार हैं, जो जन्मसे ही हमें मिले हैं। यह वह आचारसंहिता है, जिसे हमें अपने आचरणमें विकसित करना चाहिये। उस कसौटीपर हमें अपनेको परखना चाहिये कि हम अपने अंदर कितने सात्त्विक संस्कारोंको जाग्रत् कर सके हैं। आज हमारी क्या स्थिति है? हमें किन-किन दिशाओंमें अपनी योग्यताएँ विकसित करनी हैं? कौन-कौन व्यक्ति, परिस्थिति या वातावरण हमारे शुभ संस्कारोंके विकासमें सहायक हो सकता है? भगवान्ने दैवी संस्कारोंके ये लक्षण बताये हैं—अभय, सात्त्विक वृत्ति, ज्ञानयोगमें स्थिति, दान, मन और शरीरपर पूर्ण नियन्त्रण, यज्ञ अर्थात् समाजके हितके लिये किये गये निःस्वार्थ कर्म, स्वाध्याय अर्थात् उत्तमोत्तम धर्मग्रन्थोंका अध्ययन, तप अर्थात् कर्तव्यमार्गमें आवश्यक कष्ट सहना और अनुशासनमें रहना, कष्ट सहकर भी परोपकार करना, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका अभाव, त्याग, शान्ति, उदारता एवं दया, तृष्णाका अभाव, मृदुता, बुरा काम करनेमें लाज, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, शत्रुताका अभाव तथा अपने-आपमें पूज्यताके अभिमानका अभाव। दैवी संस्कारोंका अर्थ देवताओं-जैसी श्रेष्ठ मनोवृत्ति है। अपने दैनिक जीवनमें निरन्तर अभ्यासद्वारा इन संस्कारोंको विकसित करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने जिस आसुरी सम्पदाका उल्लेख किया है, यह हमारे दूषित संस्कार ही हैं। भाग्यवान् तो वे हैं जो आसुरी संस्कारोंसे मुक्त हैं, किंतु जिन्हें विवेक जाग्रत् होनेसे आसुरी संस्कारोंका ज्ञान हो गया है, जो नीर-क्षीर-विवेक कर सकते हैं, उन्हें दूषित संस्कारों (अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह, दम्भ, पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और मूढ़ता)-को दूर करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। इसका उपाय यह है कि हम सात्त्विक संस्कारोंका अभ्यास करें, दृढ़तापूर्वक अपने मनको उनमें लगायें, बार-बार कठोरता और संयमपूर्वक शुभ संस्कारोंको अपने दैनिक व्यवहार और क्रियाओंमें स्पष्ट करें। प्रारम्भमें शुभ संस्कारोंका विकास कुछ धीमी गतिसे होगा, किंतु दीर्घकालीन अभ्यासद्वारा वे हमारे व्यक्तित्वके अङ्ग बन जायँगे। आसुरी संस्कारोंवाले लोग कभी न पूरी होनेवाली कामनाओंको मनमें बसाये रहते हैं। एकके बाद दूसरी कामना मनुष्यको जीवनभर व्यर्थ दौड़ाती है और उसे अपने ध्येयसे दूर कर देती है। दृढ़तापूर्वक अपनी विवेकबुद्धिसे इच्छाओंको जाँचना चाहिये और अभ्यासद्वारा श्रेयका मार्ग अपनाना चाहिये। [संस्कार-सौरभ]

याद रखो

१-किसीको नीचा दिखानेकी चाह या चेष्टा न करो, किसीकी अवनति या पतनमें प्रसन्न न होओ, न किसीकी अवनति या पतन चाहो ही। किसीकी निन्दा-चुगली, दोष-प्रकाशन न करो।

२-मान-प्रतिष्ठाके लिये त्यागका स्वाँग मत धारण करो। सच्चा त्याग करो। त्यागमें भाव प्रधान है, बाहरी क्रिया नहीं।

३-मौन साधन करो—परंतु याद रखो, असली मौन तो मनका है। मनमें विषय-चिन्तन बंद हो जाना चाहिये।

४-गिरे हुए, रोगी, प्रलोभनमें पड़े हुए, अपराधी, विपत्तिग्रस्त और अपमानित नर-नारियोंके साथ कभी दुर्व्यवहार मत करो। उनसे सहानुभूतिका बर्ताव करो। उन्हें सच्चा सुखी बनानेकी चेष्टा करो।

स्वाध्याय एवं सद्ग्रन्थसेवनका संस्कार

(श्रीगङ्गाधरजी गुरु)

अज्ञानरूपी भीषण आपन्निमग्न दु:स्थितिमें पड़े हुए मानवोंको सत्यदर्शी वैदिक ऋषि अन्तेवासियोंके माध्यमसे श्रेष्ठ उपदेशपूर्वक मानवताके श्रेय:पथका प्रदर्शन करा रहे हैं—

'स्वाध्यायान्मा प्रमद:' अर्थात् 'स्वाध्यायसे कभी न चूको' (तैत्तिरीयोपनिषद् १।११)।

स्वाध्यायका निगूढ़ार्थ स्वात्माध्ययन ही है। स्वयं ही स्वयंका अध्ययन करना चाहिये। अन्त:स्थित आत्माको भलीभाँति जानना ही स्वाध्याय एवं सद्ग्रन्थसेवन-संस्कारका सदुद्देश्य है। दूसरोंके हितके लिये सत्-शास्त्रों (वेदोपनिषत्पुराणादि सद्ग्रन्थों)-का पठन-पाठन, भगवन्नाम-जप आदि स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ हैं। द्रव्यमय यज्ञमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है; अत: वह करणसापेक्ष है। ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता है; अत: वह करणनिरपेक्ष है। इसलिये द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्धविच्छेद हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी करना और जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य सत्ता ही नहीं रहती—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(गीता ४।३३)

स्वाध्याय और सद्ग्रन्थसेवनका अभ्यास वाङ्मय तप कहा गया है—

'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥'

(गीता १७।१५)

मानवके अन्त:करणमें संनिहित दानविक वृत्तिको यत्नपूर्वक संशोधित-परिमार्जित कर जो मनोहर, मधुमय देवत्वका सुरम्य शतदल प्रस्फुटित करता है, वह संस्कार कहा जाता है। जहाँ उसकी महती तथा शाश्वत प्रतिष्ठा होती है, वहीं वसुमती (पृथ्वी) भाग्यवती कहलाती है। श्रुतिका सदुपदेश है—

'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।'

(तैत्तिरीयोपनिषद्, शीक्षावल्ली, नवम अनुवाक)

यथायोग्य सदाचारका पालन और शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (यह सब अवश्य करना चाहिये); सत्यभाषण और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); तपश्चर्या और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); इन्द्रियोंका दमन और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); मनका निग्रह और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); अग्नियोंका चयन और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); अग्निहोत्र और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); अतिथियोंकी सेवा और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); मनुष्योचित लौकिक व्यवहार और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); गर्भाधान-संस्काररूप कर्म और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); शास्त्रविधिके अनुसार संतानोत्पत्ति और वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये) तथा कुटुम्बवृद्धिका कर्म और शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये)।

जीवनमें स्वाध्याय एवं वेदादि सद्ग्रन्थसेवनका सुसंस्कार डालकर मानवात्माको सदैव सुसंस्कृत करना ही मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है। वयोवृद्धसे भी ज्ञानवृद्ध श्रेष्ठतर कहलाता है—

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिर:।
बालोऽपि य: प्रजानाति तं देवा: स्थविरं विदु:॥

(महाभारत, वनपर्व, तीर्थयात्रापर्व १३३।११)

जिस देशके नागरिकवृन्द स्वाध्याय एवं सद्ग्रन्थ-सेवन रूप सुसंस्कारसे सुसंस्कृत होते हैं, वहाँ शान्ति-

सौभाग्यलक्ष्मी विराजित रहती है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह आर्षवचन याद करते हुए ब्रह्मचर्य और तपस्यासे मृत्युञ्जयी होना चाहिये। श्रुतिका सदुपदेश है—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।'

(अथर्ववेद ११।५।१९)

ब्रह्मचर्य, संयम-साधना, सेवा-निष्ठा, सदाचार एवं ज्ञानप्रद सद्ग्रन्थाध्ययनमें अपने अमूल्य समयका विनियोग करना ही सुखप्राप्तिका हेतु है। जीवनमें स्वाध्याय एवं सद्ग्रन्थसेवनका संस्कार महत्त्वपूर्ण है। किसी भी देश, समाज एवं व्यक्तिका निर्माण मुख्यतः संस्कारपर ही निर्भर है। जीवनकी सर्वाङ्गीण सफलताके निमित्त संस्कारसम्पन्न होनेकी आवश्यकता अपरिहार्य है। वेद-वेदान्त, रामायण, महाभारत एवं पुराणोंके स्वाध्याय तथा ज्ञानप्रद सत्साहित्य, सद्ग्रन्थसेवनरूप संस्कारकी चरमोपलब्धि—सर्वत्र परमात्मदर्शन ही है। सङ्कल्पोंके त्यागसे कामपर और कामनाके त्यागसे क्रोधपर, अर्थको अनर्थ समझकर लोभपर और तत्त्वके विचारसे भयपर जय प्राप्त करनी चाहिये। वेदान्तचिन्तन और अध्यात्मविद्यासे शोक एवं मोहपर, महापुरुषोंकी उपासनासे दम्भपर, मौनसे योगके विघ्नोंपर और शरीर, प्राणादिको चेष्टारहित करके हिंसापर जय प्राप्त करनी चाहिये। दयाके द्वारा आधिभौतिक दुःखपर, समाधिसे आधिदैविक दुःखपर, योगशक्तिसे आध्यात्मिक दुःखपर एवं सात्त्विक आहार, स्थान, सङ्गादिके द्वारा निद्रापर जय प्राप्त करनी चाहिये। सत्त्वगुणसे रजोगुण और तमोगुणपर तथा उपरतिसे सत्त्वगुणपर जय प्राप्त करनी चाहिये। श्रीगुरुकी भक्तिसे व्यक्ति इन सभी दोषोंपर सहज ही विजय प्राप्त कर सकता है—

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥

(श्रीमद्भा० ७।१५।२२—२५)

बाल्यावस्थासे ही प्राचीन भारतीय संस्कृतिके प्रदर्शक एवं सनातनधर्मके परमादरणीय सद्ग्रन्थ श्रीमद्भागवत, गीता, रामायण तथा महाभारतको स्वाध्यायका अनिवार्य जीवनाङ्ग बनाना चाहिये। पातञ्जलयोगदर्शन (२।४४)-में यथार्थ ही कहा गया है—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः॥' अर्थात् स्वाध्यायसे इष्टदेवताकी भलीभाँति प्राप्ति हो जाती है। शास्त्राभ्यास, मन्त्र-जप और अपने जीवनके अध्ययनरूप स्वाध्यायके प्रभावद्वारा योगी जिस इष्टदेवका दर्शनाभिलाषी होता है, उसीका दर्शन हो जाता है।

प्राणी जो कुछ कर्म करता है एवं अपनी इन्द्रियों और मन-बुद्धिसे जो कुछ उपलब्धि करता है, वे सब उसके अन्तःकरणमें संस्कारके रूपमें सञ्चित रहते हैं। इन्द्रियोंका असंयम आपद्-विपत्पन्थ है, उस पथपर भूलसे भी पाँव नहीं रखना चाहिये। इन्द्रियोंपर संयम ही सम्पत्तिका कल्याणकारी अभीष्ट मार्ग है, अतः इसी मार्गका अनुसरण करना चाहिये—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

मानव-जीवनमें प्रमादको मृत्यु बतलाया गया है—'प्रमादं वै मृत्युः'। हमारा हृदय ही सभी खजानोंका खजाना है, सभी पूँजियोंकी पूँजी है। यदि हृदय सुसंस्कृत है, संस्कारोंसे सुरक्षित है तो सब कुछ सुरक्षित है। अतः कोषोंके कोष हृदयको सुरक्षित रखना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिकी शाश्वत-सनातन महनीयता हमारे धर्मशास्त्रोंमें ही संनिहित है। महर्षि मनुके मतमें जो द्विजाति वेदाध्ययन त्यागकर अन्यत्र श्रम करता है, वह शूद्र-पदवाच्य होता है।

सार्वजनीन मङ्गलविधान वेद ही सभी धर्मोंके मूल हैं, अतः अधिकारानुसार नित्य ही वेदाध्ययन करना कल्याणकारी है—इसमें संदेह नहीं। वेदका स्वाध्याय करनेवाले संस्कारी मनुष्योंकी दुर्गति कदापि नहीं होती। 'अनन्ता वै वेदाः'—वेदकी साङ्गोपाङ्ग महिमाका वर्णन करनेकी शक्ति ही कहाँ? वेदके स्वाध्यायसे स्वतः शारीरिक एवं मानसिक मलोंका अपाकरण हो जाता है। कौषीतकिब्राह्मण (३।२६)-का वचन है—

'न वा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति।'

अर्थात् संस्कारहीन मनुष्योंद्वारा प्रदत्त वस्तुएँ देवता ग्रहण नहीं करते।

जगत्के इतिहासमें महर्षि शङ्ख और लिखितका उपाख्यान प्रसिद्ध है। शङ्ख और लिखितका स्वाध्याय—सद्ग्रन्थसेवनका संस्कार तथा उनकी धर्ममर्यादाएँ अनुकरणीय हैं। दोनोंकी अस्तेय एवं धर्मनिष्ठाकी अन्तिम कोटिकी स्थिति महाभारतमें द्रष्टव्य है। हमारी सनातन संस्कृतिमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संयम, नियम, अस्तेय तथा अपरिग्रहादि सुसंस्कार कहे गये हैं। भारतीय संस्कृति सत्य-धर्मप्रतिष्ठित है—'**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।**' स्वाध्याय एवं सद्ग्रन्थ-सेवनरूप संस्कार ही साम्यधर्मसंस्थापक है। स्वाध्याय एवं सद्ग्रन्थसेवनरूप संस्कारके अभावमें समाजमें साम्य-संस्थापनकी योजना आकाश-कुसुमकी भाँति निरर्थक ही है। अतः सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायपर निष्ठा रखते हुए तदनुकूल कर्तव्यका निर्वाह कर आत्मोद्धारमें प्रवृत्त रहना चाहिये।

~~०~~

संस्कार-दर्शन

(आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको बताया—'तुम मेरे भक्त हो और सखा भी, इसलिये तुम्हें मैंने गुह्य, उत्तम और तत्त्वस्वरूप उस सनातन योगका उपदेश दिया है, जो मैंने सूर्यको बताया था।' अर्जुन आश्चर्यचकित होकर बोले—'सूर्यका जन्म तो आपके जन्मके बहुत पहले ही हुआ था, इसलिये यह कैसे माना जाय कि आपने यह विद्या सूर्यको दी थी?' भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन! मेरे और तुम्हारे—दोनोंके अनेक जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ, किंतु तुम नहीं जानते।' इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरके होने और उनके जाननेकी क्षमता प्रमाणित होती है। इसका कारण यह है कि जहाँ योग और तन्त्र-साधनाका उपयोग होता है, वहाँ इस प्रकारकी ज्ञानशक्ति प्राप्त होती ही है।

महर्षि पतञ्जलिकृत 'योगदर्शन' के विभूतिपादमें ऐसी अनेक सिद्धियोंका सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवरण उपलब्ध है। इस व्यावहारिक पक्षका ज्ञान और उपयोग सिद्ध पुरुषोंको प्राप्त होता है और वे अन्य लोगोंको भी इसका ज्ञान देनेमें सक्षम होते हैं।

संस्कार-साक्षात्कार या संस्कार-दर्शन योगकी विभूतियोंमेंसे एक विभूति है। आचार्य पतञ्जलिने इस संस्कार-दर्शनके विषयमें कहा है—'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥' अर्थात् संस्कारोंके साक्षात्कारसे जन्म-जन्मान्तरका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ संस्कारका थोड़ा अलग अर्थ है। सामान्य तौरपर संस्कारका अर्थ शोधन, उन्नयन या पवित्रीकरण माना जाता है, किंतु योग और तन्त्रके क्षेत्रमें संस्कारका अर्थ है—'कर्माशय' अर्थात् प्रतिकर्मके बीजोंका अवस्थान। नियमतः प्रत्येक कर्मका प्रतिकर्म, प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होती है।

उदाहरणके लिये रबरकी गेंदको यदि मुट्ठीमें दबाया जाय तो वह पुनः अपनी पूर्वावस्थामें पहुँचनेके लिये उसी शक्तिका विपरीतार्थक उपयोग करती है। गेंद दीवारपर फेंकी जानेपर पुनः वापस लौट आती है। पूर्वावस्थामें पहुँचने अथवा फेंके जानेपर वापस लौटनेकी जो प्रारम्भिक स्थिरावस्था है, वही प्रतिक्रियाका बीज कही जा सकती है। मानसिक जगत्में भी ऐसा ही होता है। जब हम किसीको पीड़ा पहुँचाते हैं तो पीड़ित पक्ष प्रतिक्रिया करता है, किंतु यदि किसी कारणसे वह प्रतिक्रिया नहीं कर सका तो प्राकृतिक नियमके अनुसार जबतक पीड़कको ठीक उसी प्रकार उतना ही या उससे अधिक पीड़ा प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक यह प्रतिक्रिया बीजरूपमें स्थित रहती है। प्रतिक्रियाके स्थित रहनेका स्थान कहीं बाहर नहीं, बल्कि मनुष्यके मनमें ही होता है। अभुक्त कर्मोंके प्रतिकर्मोंका बीज मानव-मनमें जहाँ रहता है, उसे ही कर्माशय कहते हैं। जबतक कर्माशय पूर्णतः इन प्रतिक्रियाके बीजोंसे रहित नहीं हो जाता, तबतक जन्म, मरण और पुनर्जन्मका चक्र और इस प्रकार सुख-दुःखका चक्र चला करता है। पुराने बीजोंका स्थान नूतन शुभाशुभ कर्मोंके बीज लेते रहते हैं।

इसीलिये तन्त्र कहता है—

यावन्न क्षीयते कर्म शुभं चाशुभमेव च।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि॥

इस संदर्भमें श्रीमद्भगवद्गीतामें फलाकाङ्क्षाका त्याग, कर्तृत्वाभिमानका त्याग और सर्वकर्म-ब्रह्मार्पण—ये तीन उपाय बताये गये हैं।

संस्कारोंके साक्षात्कार या दर्शनसे जन्म-जन्मान्तरका स्वरूप उजागर हो जाता है; क्योंकि उसमें ही कृतकर्म और होनेवाले प्रतिकर्मके बीज उसी प्रकार छिपे रहते हैं, जिस प्रकार बरगद-जैसे विशाल वृक्षका पूरा स्वरूप उसके अति सूक्ष्म छोटे बीजमें छिपा रहता है। आजकल भौतिक सत्यापनका माध्यम 'जीन्स' कुछ इसी प्रकारकी स्थूल प्रक्रिया है। संस्कार-दर्शन उससे भी अति सूक्ष्म मानस बीजोंसे परिचित होनेका यौगिक तान्त्रिक विज्ञान है।

यह कैसे सम्भव होता है? साधक साधनाके माध्यमसे अपने मनको सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर बनाता जाता है। जब वह कर्माशयसे भी सूक्ष्म स्थितिमें पहुँच जाता है तो सहज ही कर्माशयके बीजोंके स्वरूपको देखकर पूर्वजन्मोंका और आगे होनेवाले जन्मोंके स्वरूपका परिचय प्राप्त कर लेता है। यह बीज शक्तिकण होनेके कारण वर्ण (रङ्ग) और तरङ्गकी संकुचित अवस्थामें (ज्वार-भाटाकी तरह) रहता है। इन्हीं वर्णों और तरङ्गोंके आधारपर उनका पूर्वापर इतिहास जाना जाता है।

'संस्कारों' के इन अर्थोंमें और संस्कारोंके शुद्धीकरणके अर्थोंमें मात्र समझनेका अन्तर है। जिस प्रकार प्रतिक्रिया सम्पन्न हुए बिना कर्माशय प्रतिक्रियारहित अर्थात् शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार असंस्कृत कर्मको सुसंस्कृत करनेकी विधि भी वैदिक परम्परामें स्थूल पद्धतिके रूपमें उपलब्ध है।

सिद्ध योगी संस्कार-दर्शनका उपयोग साधकको उपयुक्त साधना सिखानेके लिये तथा उसे प्रेरणा देनेके लिये करता है। उपयुक्त साधनाके माध्यमसे साधक मनको 'सूच्यग्र' अथवा 'कुशाग्र' करते-करते स्वयं अपनेको जान लेता है और उससे भी आगे जाकर आत्मोपलब्धि-स्वरूप साक्षात्कार करता हुआ अपनेको परम चेतनसत्तामें समाहित कर देता है।

संस्कार-दर्शनका बहुत सीमित रूपमें उपयोग, अब मनोविज्ञानके क्षेत्रमें आ गया है। अनेकानेक शारीरिक-मानसिक व्याधियोंके निदानके लिये हिप्नोटिज्मका प्रयोग करके रोगीको उस व्याधिके मूलमें पहुँचाकर उसके निराकरणका उपाय बताया जाता है। रोगी स्वयं उन विस्मृत कारणोंका विवरण दे देता है, जो उसकी व्याधिके मूलमें रहते हैं। योग और तन्त्रकी दृष्टिमें यह विद्या रोगीको अन्य क्षेत्रोंमें हानि भी पहुँचाती है, फिर भी संस्कार-दर्शन एक वास्तविकता है।

'संस्कार' ही मनुष्यके कर्मस्वरूप तथा तज्जन्य सुख-दुःखकी प्राप्तिका पथ प्रशस्त करते हैं। पहले जन्मोंका कर्मफल सुख-दुःखके रूपमें तो मनुष्य भोगता ही है, इस जन्ममें भी शुभाशुभ कर्म अभुक्त होनेसे अगले जन्म-ग्रहणके आधार बनते हैं। इसीलिये पतञ्जलि (साधनपाद १३-में) कहते हैं—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥'

संस्कार—कर्माशय जहाँ एक ओर कर्मोंकी सामान्य रूपरेखा निर्धारित करते हैं, वहीं दूसरी ओर वृत्ति और व्यवसायका भी रूप निर्धारित करते हैं। यहाँ वृत्तिका अर्थ है मनकी सहज गति— "Mental Tendency"। यह देखा जाता है कि किसीमें काम, किसीमें क्रोध, किसीमें लोभ, किसीमें ज्ञान, किसीमें कर्म, किसीमें भक्ति आदिकी एक विशेष वृत्ति प्रबल रहती है। इसके अतिरिक्त उसकी और भी सहयोगी वृत्तियाँ साथ रहती हैं। फिर प्रायः वह कर्मानुसार जिस व्यवसायमें लगता है, उसके भी कर्म संस्कारोंका निरूपण करते हैं। उचित साधनाके माध्यमसे साधकको जब इन स्थितियोंका पता लग जाता है तो वह उनसे उबरनेके लिये प्रयास करता है। ब्रह्म-साधना उसे हीनताओंसे उबारनेमें अत्यन्त सहायक होती है। इससे स्वरूप-परिचितिमें उसे सहायता मिलती है और वह शुभ-अशुभ दोनोंसे ऊपर उठ जाता है।

संस्कारोंके दर्शनकी प्रक्रियाकी चर्चामें पतञ्जलि कहते हैं—'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥' (विभूतिपाद १९) अर्थात् दूसरेके चित्तकी वृत्तिका साक्षात् करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। 'प्रत्यय' का विविध अर्थ लिया जाता है—व्यवहारतः—वृत्तिविशेष या कर्मफलविशेषपर मानसिक

एकाग्रताका प्रतिफलन इसका अर्थ है अर्थात् मनुष्यके अंदर यदि क्रोध उत्पन्न हुआ तो यदि वह स्वयं या कोई व्यक्ति जो उचित एकाग्रताकी क्षमता रखता है, उस क्रोध-वृत्तिपर संयम—एकाग्रताका प्रक्षेपण करे तो क्रोधके मूलकारणको परत-दर-परत खोजते हुए देख सकता है। पूर्ण एकाग्रतामें कुशाग्र मन-बुद्धि परचित्त या स्वचित्तके क्षेत्रमें प्रवेश कर जाती हैं और वहाँकी स्थितिको देख सकती हैं, सुनियन्त्रित कर सकती है। यहाँ 'ज्ञान' शब्दमें नियन्त्रणकी शक्तिका भी अर्थ समाहित है। सम्पूर्ण योग और तन्त्रकी साधना, मन एवं बुद्धिको कुशाग्र बनानेकी ही आधारशिलापर टिकी रहती है।

एक उदाहरण कुछ हदतक इस तथ्यको स्पष्ट कर सकता है। आप एक व्यक्तिको कोई कर्म निष्पादित करते देखें—ध्यानपूर्वक किंतु पूर्वाग्रहविमुक्त दृष्टिसे देखें तो कर्मके पीछे उसकी क्या मानसिक स्थिति है, स्पष्ट झलक जायगी। कर्ममें वह कितना दत्तचित्त है, कितना समर्पित है और उसका हेतु क्या है—यह जान लेना कोई कठिन कार्य नहीं है, किंतु निर्णयकी सत्यता 'मन' की पारदर्शिता और पूर्वाग्रहरहित स्थितिपर उसी प्रकार निर्भर करती है, जिस प्रकार दर्पणकी स्वच्छता और गुणवत्तासे प्रतिफलित आकृतिका अंदाज मिलता है।

इसी क्रममें अगला सूत्र स्थितिको और भी स्पष्ट करता है—'न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥' अर्थात् चित्तका प्रथम दृष्ट्या दर्शन मात्र चित्तकी विशेष स्थितिका होता है, उसके आलम्बन या आधारका नहीं। अतः संस्कारोंतक पहुँचनेके लिये और अधिक निर्मलीकृत तथा सूच्यग्र मनकी आवश्यकताके साथ तदर्थ संकल्पजनित शक्तिकी भी आवश्यकता होती है। तब वह चित्तका आलम्बन भी उसकी दृष्टिमें आ जाता है।

संस्कार-दर्शन एक विभूति है, एक सिद्धि है जिसका उपयोग सिद्ध योगी साधककी क्रमोन्नतिके लिये पग-पगपर करता चलता है। इस दिशा-निर्देशके आधारपर जब साधक निर्विकार मनसे अपने चित्तके अंदर पड़े हुए संस्कारोंको देख लेनेकी क्षमता पा जाता है, तब अपना अगला लक्ष्य पाना उसके लिये सुलभ हो जाता है; क्योंकि तब उसके संस्कार भोग, सुख या दुःख उसको अपने परम लक्ष्यसे विचलित नहीं कर पाते। सभी संस्कारोंका ऊर्ध्व ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित होना सभी मनुष्योंका लक्ष्य है—यही उनका गौरव है, इसीलिये मनुष्यका जीवन मिला है। सिद्धि और विभूति मानवका लक्ष्य नहीं है, किंतु पाथेयके रूपमें वह सहज उपलब्ध अवस्था है, जिसे पानेके बाद भी साधक अपने चरम और परम लक्ष्यको भूलता नहीं, बल्कि और दृढ़तासे उसकी ओर बढ़ता जाता है।

~~~o~~~

संस्कारहीनताके भयंकर दुष्परिणाम

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

पूरे संसारको धर्म और अध्यात्मका शाश्वत संदेश देनेके कारण 'जगद्गुरु' के रूपमें चर्चित धर्मप्राण भारत आज स्वयं मर्यादाहीनता, स्वच्छन्दता, भ्रष्टाचार, अनाचार आदिसे घिरकर नैतिकताके ह्रासके घोर सङ्कटमें ग्रस्त हुआ दिखायी दे रहा है। आज यह आकलन किया जाने लगा है कि भारत भ्रष्टाचारके मामलेमें कहीं संसारभरमें सबसे आगे तो नहीं है ? जब भारतके विभिन्न क्षेत्रोंके अग्रणी कहे जानेवाले कुछ महानुभावोंके भ्रष्टाचार, अनाचार तथा अन्य कदाचरणके मामले समाचारपत्रोंमें प्रकाशित होते हैं तो विदेशोंमें रहनेवाले भारतीयोंका सिर शर्मसे झुक जाता है। हमारी इस दयनीय दुर्दशाका एकमात्र मूल कारण यही है कि हम अपने प्राचीन धार्मिक संस्कारोंसे कटकर अन्य देशोंके कुसंस्कारोंकी मृगमरीचिकामें जकड़ते जा रहे हैं। सत्-संस्कारोंके कारण ही, धर्माचरणमें अग्रणी रहनेके कारण ही भारत जगद्गुरुके रूपमें प्रसिद्ध था। भारत अध्यात्मविद्याका उद्गम-स्थल होनेके कारण ही विश्वमें सम्मान पाता था, किंतु जबसे धर्मनिरपेक्षताके नामपर हमारे बालकों, किशोरों तथा युवकोंको नैतिक और धार्मिक संस्कारोंसे वञ्चित किया गया है, तभीसे नैतिक संस्कारोंका सङ्कट उत्पन्न होना शुरू हुआ है। इतना ही नहीं, संस्कारहीनताके कारण समाजका हर वर्ग किसी-न-किसी समस्या या व्याधिसे ग्रसित होता जा रहा है।

धर्म और संस्कृतिपर आघात

अपने माता-पिता तथा पारिवारिक जनों एवं संत-
~~~

महात्माओंसे प्राप्त दृढ़ संस्कारोंके कारण मुसलमानोंके शासनकालमें भी अधिकांश हिन्दुओंने अपने धर्म तथा अपनी सभ्यता-संस्कृतिपर तनिक भी आँच नहीं आने दी। धर्म, संस्कृति तथा संस्कारोंकी रक्षाके लिये हिन्दू निरन्तर संघर्षरत रहे। अंग्रेजोंके शासनकालमें भी हिन्दुओंने प्राण-पणसे सत्यकी रक्षा की।

विदेशी ईसाई पादरी जब हिन्दुओंके धर्मान्तरणमें सफल नहीं हुए, तब लार्ड मैकालेने सुनियोजित ढंगसे भारतकी शिक्षा-प्रणालीमें परिवर्तन कराकर, देववाणी संस्कृत तथा हिन्दी भाषाकी जगह अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी प्रणालीके स्कूल-कॉलेजोंका जाल फैलाकर हिन्दुओंको अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृतिसे वञ्चित करनेका अभियान चलाया। देखते-ही-देखते अंग्रेजी शिक्षा-प्रणालीने अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया तथा हिन्दुओंकी वेश-भूषा, आचार-विचार, खान-पान बदलने लगे। शिक्षित कहे जानेवाले वर्गके हृदयमें राष्ट्रभक्तिकी जगह राजभक्तिकी भावना पैदा होने लगी।

इस बदलावके बावजूद भारतीयताके पुजारी अनेक राष्ट्रनेता अंग्रेजोंके शासनके विरुद्ध संघर्षरत रहे। सन् १८५७ ई०में तो गोभक्त भारतीय सैनिकोंने अंग्रेजोंके विरुद्ध केवल इसलिये विद्रोह किया था कि अंग्रेज गोमाताकी चर्बीसे युक्त अपवित्र कारतूसोंका प्रयोग कराकर उनका धर्म भ्रष्ट करनेपर उतारू थे। मंगल पाण्डेने गोभक्तिके संस्कारोंके कारण इस क्रान्तिमें पहला बलिदान दिया। बादमें तात्या टोपे, नानासाहब पेशवा, महारानी लक्ष्मीबाई, वीर कुँवरसिंह, बहादुरशाह जफर-जैसे हजारों संस्कारित हिन्दुस्तानी राष्ट्रभक्तोंने अंग्रेजोंसे संघर्ष करते हुए बलिदान दिये। इसके बाद भी अनेक क्रान्तिकारियोंने शस्त्र उठाकर अंग्रेजोंसे संघर्ष किया।

गांधीजी, महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, स्वामी श्रद्धानन्दजी, भाई परमानन्दजी, वीर सावरकर, सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, सुखदेव, राजगुरु, अशफाकुल्ला खाँ-सरीखे हजारों राष्ट्रभक्तोंने प्राण-पणसे स्वाधीनता-आन्दोलनके यज्ञमें अपने-अपने तरीकेसे आहुतियाँ दीं। पुरीके जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, पूज्य श्रीराधाबाबा, भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, बाबा राघवदास-जैसी धार्मिक विभूतियोंने अंग्रेजी शासनका इसी आधारपर विरोध किया था कि यह हमारे देश, धर्म तथा संस्कृतिके लिये घातक है। इन सबने जेल यातनाएँतक सहन की थीं।

स्वाधीनता-संग्रामके राष्ट्रनायक नेता खुलकर कहा करते थे—'देशके स्वाधीन होनेके बाद गोहत्या बंद की जायगी, अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा देशकी मान्यताओंको संरक्षण दिया जायगा तथा विदेशी भाषाकी जगह 'हिन्दी' राष्ट्रभाषाका स्थान प्राप्त करेगी।'

नैतिक संस्कारोंसे वञ्चित किये गये

देश स्वाधीन हुआ। मुस्लिम लीगकी कुटिल नीतिके कारण खण्डित होनेके बाद स्वाधीनता मिली, भारतमाताके टुकड़े कर पाकिस्तानका निर्माण किया गया। उस समय सबसे पहले आध्यात्मिक विभूति स्वामी करपात्रीजी महाराजने देश अखण्ड हो, गोहत्या बंद हो-जैसी माँगोंको लेकर धर्मयुद्ध आरम्भ किया।

भारतीयताके पुरोधा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, महामना मालवीयजी आदिने अंग्रेजी भाषाकी जगह हिन्दी-संस्कृतको स्थान दिये जानेकी माँग की। अंग्रेजी शिक्षा-प्रणालीकी जगह भारतीयतापर आधारित शिक्षा-प्रणाली शुरू करनेकी माँग की गयी, किंतु अंग्रेजीदाँ नेताओंके दुराग्रहपर अंग्रेजी भाषाको लादे रखा गया। हिन्दी-संस्कृतकी उपेक्षा जारी रही। परिणामतः अंग्रेजोंके संस्कारों तथा उनकी परम्पराओंका ही निरन्तर पोषण किया जाता रहा।

भारत सरकारने धर्मनिरपेक्षताके नामपर बालकोंकी पाठ्यपुस्तकोंसे देशके ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं, शिवाजी, महाराणाप्रताप, गुरु गोविन्दसिंह आदि राष्ट्रपुरुषों, वीर-वीराङ्गनाओंकी जीवनियाँ, उनके प्रेरक प्रसङ्ग हटाकर राष्ट्रभक्तिके, धर्मभक्तिके संस्कार देनेवाले स्रोतोंसे बालकोंको वञ्चित कर दिया। अनेक पाठ्यपुस्तकोंमें तो आर्य बाहरसे आये, हमारे पूर्वज जंगली थे, वे कच्चा मांस खाते थे, वेदकालमें गोमांस भक्षण किया जाता था—जैसी अनर्गल एवं निराधार बातें शामिल की गयीं। बादमें एक षड्यन्त्रके अन्तर्गत राष्ट्रवीरोंको आतङ्कवादी, मुगलोंसे अपनी संस्कृति एवं धर्मकी रक्षाके लिये संघर्ष करनेवाले सिख गुरुओंको

लुटेरा तथा विद्रोही-जैसे अपमानजनक शब्दोंसे सम्बोधित कर घोर अनर्थ किया गया। इस प्रकार देशकी युवा पीढ़ीको अपने धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा संस्कारोंसे वञ्चित करनेका दुष्कृत्य शुरू किया गया।

महिला-मुक्ति या संस्कारोंका उन्मूलन

हमारे समस्त धर्मशास्त्रोंमें बालकों, किशोरों, युवकों, वृद्धों, स्त्री-पुरुषों—सभीके दायित्वोंका निर्धारण कर उन्हें पग-पगपर संस्कारित होनेकी प्रेरणा दी गयी है। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, ऋषि-मुनियों तथा धर्माचार्यों आदिके जीवन इस बातके साक्षी हैं कि उन्होंने स्वयं अपने हाथोंसे माता-पिताकी सेवा की और उन्हें सम्मान दिया। धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है—'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।**' अर्थात् माता-पिता साक्षात् देवस्वरूप हैं। उनका आदर-सम्मान तथा सेवा सर्वोपरि धर्म—कर्तव्य है।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें स्त्रियोंको पूर्ण सम्मान देनेकी प्रेरणा दी गयी है। मनुस्मृति (३।५६)-में कहा गया है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

जहाँ नारियोंका सम्मान किया जाता है, उनकी पूजा की जाती है, वहाँ देवता रमण करते हैं। जहाँ स्त्रियोंका आदर नहीं होता, वहाँ समस्त कर्म निष्फल हो जाते हैं। स्त्रियोंका उत्पीड़न करने, अपमान करने, उन्हें सतानेको घोरतम पाप-कर्म निरूपित करते हुए मनुस्मृति (३।५७)-में कहा गया है—

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥

जहाँ स्त्रियाँ दुःखित होती हैं, सतायी जाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है। जहाँ स्त्रियाँ दुःखमें नहीं होतीं, वह कुल सदा वृद्धिको प्राप्त होता है। जिस नारीको हमारी संस्कृतिमें सम्माननीय स्थान दिया गया, उसे आजके विकृत वातावरणमें 'भोग्या-वस्तु'के रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है। विदेशी कुसंस्कारोंसे ग्रस्त तथाकथित आधुनिकतावादियोंने महिला-मुक्तिके नामपर भारतीय महिलाओंको मर्यादाएँ त्यागकर सुन्दरियोंकी प्रतियोगिताओंकी पद्धतिमें खड़ा करनेका दुष्प्रयास किया है। कुछ महिलाएँ विश्वसुन्दरी-प्रतियोगिताओं, फैशन-परेडों आदिमें शामिल होनेको तत्पर रहती हैं। विज्ञापनोंके नामपर महिलाओंके अर्द्धनग्न चित्रोंका प्रकाशन-प्रसारण इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि देवीरूपा नारियोंको प्रदर्शनकी वस्तु बनाकर रख दिया गया है।

और-तो-और तथाकथित शिक्षित एवं आधुनिक परिवारोंमें जब भ्रूण-हत्याका घोरतम पापकर्म होता है, तब वृद्ध सासें तथा माताएँ भी मौन बनी पापकी भागी बनती हैं। परम विरक्त संत स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज कहा करते थे कि अजन्मी मासूम कन्याओंके हत्यारोंके घरका पानी पीना भी घोर पाप है।

आज पूरे देशमें प्रतिदिन लाखों अजन्मी कन्याओंकी भ्रूणमें ही नृशंस तरीकेसे हत्या कर दी जाती है।

संयुक्त परिवार क्यों टूट रहे हैं?

मनुस्मृति (३।६०)-में सुखी, संतुष्ट तथा समृद्ध परिवारकी पहचान बताते हुए कहा गया है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

जिस कुलमें पत्नीसे पति प्रसन्न है और पतिसे पत्नी प्रसन्न है, दम्पती एक-दूसरेको संतुष्ट रखते हैं, निश्चय जानो कि उस कुलमें सुख-समृद्धिका, कल्याणका सर्वदा निवास रहता है।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थोंके माध्यमसे संस्कारित हमारा समाज युग-युगोंसे प्रत्येक क्षेत्रमें सुखी-समृद्ध रहा। ऐसी स्थितिमें देशके स्वाधीन होनेके बाद छद्म धर्मनिरपेक्षताके नामपर बालकोंको धार्मिक शिक्षासे, नैतिक संस्कारोंसे वञ्चित करके उनके साथ घोर अन्याय किया गया है।

संस्कारका महत्त्व निम्न शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—'जिसका संस्कार किया जाता है, उसमें गुणोंका आधान अथवा उसके दोषोंको दूर करनेके लिये जो कर्म किया जाता है, उसे संस्कार कहते हैं।'

संस्कारोंके कारण ही धर्मप्राण भारतमें बड़े-बड़े मातृ-पितृभक्त, गुरुभक्त, धर्मभक्त, राष्ट्रभक्त, समाजभक्त, राष्ट्रसेवी, बलिदानी वीर-वीराङ्गनाओंने आदर्श इतिहासकी रचना की।

जबसे संस्कारोंके महत्त्वकी उपेक्षा की गयी, तभीसे समाजमें तरह-तरहकी विकृतियाँ पैदा हुई हैं।

मातृ-पितृ-भक्तिके संस्कार

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने अपने पिता महाराज दशरथके आज्ञानुसार राजगद्दीकी जगह वनगमन कर पिताकी आज्ञाके पालनका अनूठा आदर्श उपस्थित किया था। श्रवणकुमारने संस्कारोंके कारण ही अन्धे एवं वृद्ध माता-पिताको काँवरमें बिठाकर तीर्थयात्रा करायी थी। धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा इतिहासमें ऐसे अनेक आदर्श पुत्रोंके प्रकरण मिलते हैं, जिन्होंने माता-पिताकी सेवा करके अपना जीवन सफल बनाया।

'पद्मपुराण' के भूमिखण्ड (६३।३-४, १३)-में कहा गया है—

पतितं क्षुधितं वृद्धमशक्तं सर्वकर्मसु।
व्याधितं कुष्ठिनं तातं मातरं च तथाविधाम्॥
उपाचरति यः पुत्रस्तस्य पुण्यं वदाम्यहम्।
विष्णुस्तस्य प्रसन्नात्मा जायते नात्र संशयः॥
नास्ति मातुः परं तीर्थं पुत्राणां च पितुस्तथा।
नारायणसमावेताविह चैव परत्र च॥

'यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढ़ी हो गये हों तथा माता भी इसी अवस्थामें हों, उस समयमें भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, मैं उसके पुण्यका वर्णन करता हूँ—उस पुत्रपर निःसंदेह भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। पुत्रोंके लिये माता-पितासे बढ़कर दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। वे इस लोक और परलोकमें भी श्रीनारायणके समान हैं।'

इसी प्रकार पद्मपुराणमें ही कहा गया है—

'जो पुत्र अङ्गहीन, दीन, वृद्ध, दुःखी तथा रोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह कीड़ोंसे भरे हुए दारुण नरकमें पड़ता है। जो पुत्र कटु वचनोंद्वारा माता-पिताको दुःखी करता है, वह पापी बाघकी योनिमें जन्म लेकर घोर दुःख उठाता है।'

हमारे धर्मशास्त्रोंमें बालकोंको वृद्धजनोंका अभिवादन करनेका संस्कार देनेके लिये कहा गया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनु० २।१२१)

वृद्धोंका अभिवादन करनेवालेकी आयु, विद्या, यश तथा शक्तिमें वृद्धि होती है।

हमारे प्रवचनकर्ता, संत-महात्मा, धर्माचार्य, धर्मशास्त्रोंके उपर्युक्त उद्धरण देकर युवा पीढ़ीको माता-पिताकी सेवाके संस्कार देते थे, किंतु आज संस्कारहीनताके कारण माता-पिता एवं वृद्धोंकी उपेक्षा ही नहीं, अपितु उत्पीड़नतक किया जाने लगा है। संस्कारहीनताके कारण संयुक्त परिवार टूटने लगे हैं। वृद्ध माता-पिताका परिवारमें कभी सम्मान होता था—सेवा होती थी, अब उन्हें भार समझा जाने लगा है। जगह-जगह वृद्धाश्रम खुलने लगे हैं।

वृद्धाश्रम क्यों?

इस प्रकरणमें मुझे एक घटना याद आ रही है—

सन् १९९२ ई०में हरिद्वारमें सप्तसरोवर मार्गपर वृद्धाश्रमका निर्माण कराया गया था, जिसके उद्घाटन समारोहमें उद्घाटनकर्ताने कहा—'मैं आप सब संतोंकी आज्ञा लेकर भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि स्वामीजीद्वारा बनवाया गया यह वृद्धाश्रम कभी न भरे, हमेशा खाली रहे'—सुनते ही सभी स्तब्ध रह गये।

उन्होंने आगे कहा—'वृद्धाश्रमकी कल्पना करके ही मेरा तो हृदय दुःखित हो उठता है। हमारे भारतमें वृद्धजनोंका, माता-पिताका देवताओंकी तरह सम्मान किया जाता था। कहा गया है कि वह परिवार क्या जिसमें वृद्ध माता-पिताकी सेवा नहीं होती हो। वह सभा क्या जिसमें वृद्धजन उपस्थित न हों। आज माता-पिताकी सेवाके संस्कार कहाँ गये? वृद्ध माता-पिताको उनके बेटे घरमें आदरके साथ न रखकर वृद्धाश्रममें कैसे भेज देते हैं—यह कल्पना करके ही मेरा हृदय द्रवित हो उठता है। यह प्रवृत्ति हमारी संस्कारहीनताकी परिचायिका है।'

विदेशोंमें भी भारतकी संयुक्त परिवार-प्रणालीकी सराहना की जाती है। विदेशी यह जानकर हतप्रभ रह जाते हैं कि भारतके हिन्दू समाजके लोग अपने माता-पिताकी जीवनभर सेवा-शुश्रूषा करनेमें गर्वका अनुभव करते हैं। वे यह जानकर आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि हिन्दू युवक जीवनपर्यन्त अपनी पत्नीके साथ सुखी जीवन बिताता है; तलाककी स्थिति कभी आती ही नहीं।

उद्घाटनकर्ताके बाद संस्थापक महोदयने भी कहा कि वे स्वयं यह चाहते हैं कि इस वृद्धाश्रममें संतानसे तिरस्कृत वृद्ध नहीं, अपितु साधना-उपासना एवं सेवाकी आकाङ्क्षा रखनेवाले वृद्धजन आयें। यहाँ भागीरथीके

पावन तटपर रहकर साधना एवं गङ्गामें स्नानकर अपना जीवन सार्थक करें।

यह हमारी संस्कारहीनताका ज्वलन्त प्रमाण है कि पिता चार-चार बेटोंको अपनी सीमित आयमेंसे कटौती करके, ऋणतक लेकर उच्च-से-उच्च शिक्षा दिलाता है, उन्हें योग्य बनाता है, किंतु वे चारों बेटे अपने पिता-माताको पास रखनेके लिये तैयार नहीं होते। वृद्ध माता-पिता उन्हें भार दिखायी देने लगते हैं।

कुछ परिवारोंमें तो बेटेका विवाह होते ही माँ-बापसे अलग रहनेकी तैयारी की जाने लगती है। संस्कारहीन बहुएँ वृद्ध सास-ससुरकी संस्कारकी शिक्षाएँ सुनने-माननेको तैयार नहीं होतीं। पश्चिमी देशोंकी विकृतियाँ उनपर इस कदर हावी हो उठती हैं कि वे सास-ससुरकी मर्यादाओंका पालन करनेकी सलाहको अनुचित हस्तक्षेप बताकर विद्रोहपर उतारू हो उठती हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती हैं कि सास-ससुरको परिवारसे अलग हो जानेको बाध्य होना पड़ता है।

कहाँ ले जायगी यह संस्कारहीनता?

तेजीसे बढ़ रही संस्कारहीनताका परिणाम जहाँ संयुक्त परिवारोंके टूटनेके रूपमें सामने आ रहा है, वहीं पति-पत्नी भी अकेले आनन्दपूर्वक, सुखी-समृद्ध नहीं रह पाते। छोटी-छोटी बातोंपर हुआ विवाद तलाकका रूप लेने लगा है। तलाकके अधिकांश आवेदनोंमें दहेजके नामपर धन माँगने-जैसे आरोप लगाये जाते हैं।

दूरदर्शनपर ऐसे धारावाहिक (सीरियल) दिखाये जाने लगे हैं, जिनमें युवक-युवतियोंके विवाहपूर्व सम्बन्ध दिखाये जाते हैं। और-तो-और बुआसे, मामाके पुत्रोंतकसे अवैध सम्बन्ध दिखाकर उन्हें 'प्रेम' के रूपमें प्रदर्शित किया जाता है। अवैध सम्बन्धोंको 'प्रेम' प्रदर्शित करके युवा पीढ़ीको संस्कारहीन बनाया जा रहा है। ठगी, चोरी तथा भ्रष्टाचारके नये-नये तरीके इन धारावाहिकोंमें प्रदर्शित करनेके कारण युवकोंको एक प्रकारसे अपराधोंका प्रशिक्षण प्राप्त हो रहा है।

हत्याओं, डकैतियों तथा ठगीमें पकड़े गये अनेक अपराधियोंने पुलिसके समक्ष यह स्वीकार किया कि उन्हें धारावाहिकोंमें ऐसे दुष्कृत्य करनेका उकसावा मिला है।

संस्कारहीनता पैदा करनेमें जहाँ दूरदर्शनके कुछ धारावाहिकोंकी भूमिका है, वहीं उपन्यासों एवं कहानियोंके नामपर प्रकाशित होनेवाले भौंड़े साहित्यकी भी कम भूमिका नहीं है।

लगभग ९० वर्षपूर्व वयोवृद्ध सम्पादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजीने अश्लील साहित्यके विरुद्ध अभियान चलाया था। उन्होंने उसे ''घासलेटी साहित्य' बताते हुए लिखा था—ऐसी गंदी पुस्तकोंसे हमारी युवा पीढ़ीका मन-मस्तिष्क दूषित होता है। ऐसी पुस्तकोंको साहित्य कदापि नहीं कहा जा सकता। साहित्य तो हित करनेवाले विचारोंके संग्रहको कहा जाता है।

गांधीजीने भी चतुर्वेदीजीके आन्दोलनका समर्थन करते हुए 'हरिजन-सेवक' नामक पुस्तकमें लेख लिखकर विचारोंको प्रदूषित करनेवाली पुस्तकोंपर प्रतिबन्धका समर्थन किया था।

आज संस्कारहीनताके ऐसे दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं, जिन्हें देखकर हृदय काँप उठता है। पिताद्वारा सम्पत्तिके लिये पुत्रकी हत्या तथा पुत्रद्वारा पिताकी हत्या किये जानेकी घटनाएँ सामने आ रही हैं। जीवनभर पतिके साथ रहनेका सङ्कल्प लेनेवाली पत्नी मर्यादा-हीनताका शिकार बनकर परपुरुषोंसे सम्बन्ध बनानेमें नहीं हिचकिचा रही है। इतना ही नहीं; समाचारपत्रोंमें जब 'पत्नीने प्रेमीके साथ षड्यन्त्र रचकर पतिकी हत्या करा डाली' जैसा समाचार प्रकाशित होता है तो हृदय काँप उठता है कि संस्कारहीनताका इससे घृणित परिणाम और क्या होगा?

देशके स्वाधीनता-आन्दोलनका नेतृत्व तपे हुए तपस्वी नेताओंके हाथोंमें था। वे देशको विदेशी विधर्मी अंग्रेजोंके चंगुलसे मुक्त कराकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके आदर्श राज्यकी तरह स्वराज देनेका सपना देखते थे। गांधीजीने इसीलिये 'रामराज्य' का नाम दिया था।

क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद तथा पं० रामप्रसाद बिस्मिल आदि क्रान्तिकारियोंने अंग्रेजी शासनको उखाड़ फेंकनेके लिये शस्त्रास्त्र आदि साधनोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे काकोरी रेलवे स्टेशनपर सरकारी खजाना लूटा था, किंतु उन्हें अपने माता-पितासे ऐसे संस्कार मिले थे कि वे लूटके एक पैसेको भी अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधापर खर्च करनेको तत्पर नहीं हुए थे।

एक बार चन्द्रशेखर आजादके एक क्रान्तिकारी साथीने आजादकी माँकी दयनीय आर्थिक हालतको देखते हुए कुछ रुपये भेजनेकी पेशकश की। आजादको पता चला तो क्रोधमें बोले—'खबरदार, यह धन देशकी स्वाधीनताके संघर्षके लिये इकट्ठा किया गया है। इसमेंसे एक नया पैसा भी माँको न भेजा जाय।' ये क्रान्तिकारी भूखे रहकर, चने चबाकर भी अपने नैतिक स्तरको ऊँचा बनाये रहे। इन क्रान्तिकारियोंने गीता, रामायण तथा अन्य सद्ग्रन्थोंसे नैतिक संस्कार प्राप्त किये थे।

असहयोग आन्दोलनके दौरान भी गांधीजीके अनुयायियोंने अनेक नैतिक मानदण्डोंकी रक्षाका परिचय दिया। उस जमानेके नेता खादी पहनते थे—सादा, सरल, सात्त्विक जीवन बिताते थे। उनके ऐसे संस्कार थे कि वे ईमानदारीके पथसे डिग ही नहीं सकते थे।

देशके स्वाधीन होनेके बाद धर्मनिरपेक्षताके नामपर बालकों एवं युवा पीढ़ीको धर्म और नैतिकताके संस्कार देने बंद कर दिये गये।

शनैः-शनैः सत्तापर संस्कारहीन, सिद्धान्तहीन नेताओंका कब्जा होने लगा। सत्तामें बैठे बड़े नेताओंने आर्थिक घोटाले शुरू कर दिये। सुख-सुविधाओंने उन्हें ऐसा अन्धा बना डाला कि उन्हें अपने देशकी त्याग-तपस्याकी महान् सभ्यता-संस्कृति 'दकियानूसी' दिखायी देने लगी। भारतको पश्चिमी देशोंकी आर्थिक एवं भौतिक समृद्धिकी होड़में लानेके नामपर नैतिक-अनैतिकका भेद समाप्त कर डाला गया।

धर्मप्राण भारतकी दयनीय स्थितिका एकमात्र कारण धर्मसे विमुखता और संस्कारहीनता ही है। धर्मसम्राट् स्वामी करपात्रीजी महाराज ठीक ही कहा करते थे—'धर्म-नियन्त्रित राजनीति ही कल्याणकारी होती है।' राजनेताओंने पुरातनवादी बताकर उनके इस कथनकी अवहेलना की। अब धर्मविहीन राजनीतिका दुष्परिणाम सारा देश भोग रहा है।

~~~०~~~

चरित्र-निर्माणमें संस्कारोंका अवदान

(श्रीरामगोपालजी शर्मा 'बाल', एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत, दर्शन), एल्-एल्०बी०, साहित्यरत्न)

भारतीय संस्कृतिमें चरित्र और संस्कार—दोनों ही व्यापकरूपमें प्रचलित शब्द हैं। प्राचीन कालमें जब बालक विद्यार्थीके रूपमें गुरुकुलमें रहकर शिक्षा प्राप्त करता था, तब वहाँ उसे विद्याध्ययनके साथ ही संयम, नियम, त्याग-तपस्या, धर्म-कर्म, आचार-विचार, सत्य-परोपकार, ब्रह्मचर्य-व्रत-पालनकी शिक्षा सिद्धान्त एवं व्यवहारके रूपमें दी जाती थी। शिक्षा मानवका आन्तरिक संस्कार है, जिसके कारण बालकोंमें धार्मिक, नैतिक, अनुशासित एवं मर्यादापूर्ण जीवन जीनेके संस्कारोंका रोपण स्वयमेव होता रहता था, किंतु कालान्तरमें ऐसा दुर्योग आया कि भारतपर विदेशी आक्रान्ताओंका आधिपत्य होते ही हमारी शिक्षाके सुसंस्कारोंको सुनियोजित तरीकेसे नष्ट-भ्रष्ट करनेका षड्यन्त्र किया गया। हम पहले तो राजनीतिक सत्ताके अभावमें गुलाम बने, किंतु बादमें शनैः-शनैः हमें मानसिक गुलामीकी जंजीरोंमें जकड़ दिया गया। विडम्बना है कि आज हम अपनी संस्कृति, संस्कार, सदाचार, धार्मिक आचार-विचार—सभीको हेय दृष्टिसे देखने लगे हैं। यहाँतक कहा जाने लगा है कि रूढ़िगत धर्म और धार्मिक मान्यताओंके कारण ही इस देशका पतन हुआ है। गुलामीकी शिक्षा और उससे पनपे कुसंस्कारोंके साथ पाश्चात्य संस्कृतिके प्रदूषणसे नयी पौधको भ्रमित किया जा रहा है। भारतका इतिहास बहुत पुराना नहीं है तथा धार्मिक मान्यताओंका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है—ऐसी अनर्गल बातोंका प्रचार-प्रसार इसलिये हो रहा है कि हम अपनी महिमामयी सनातन संस्कृतिको और अपने गौरवको भुला सकें।

प्रायः देखा गया है कि सुसंस्कारों अथवा कुसंस्कारोंके निर्माणमें वातावरण सबसे अधिक सहायक होता है। मनुष्य जैसे संसर्गमें रहेगा, प्रायः उसीके अनुरूप उसके संस्कारोंका, चरित्रका निर्माण होगा। वातावरण या संगतिसे व्यक्तिके संस्कार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इस सम्बन्धमें एक छोटी-सी कहानी है कि एक हाट या बाजारमें एक बहेलिया दो तोते बेचने आया। संयोगसे उस राज्यके राजा
~~~

भी उधरसे निकल रहे थे। राजाने बहेलियेसे तोतेका मूल्य पूछा। बहेलियेने कहा—महाराज! तोतेसे ही पूछ लीजिये। राजाने एक तोतेसे कुछ प्रश्न किये, तोतेने राजाके प्रश्नोंका सटीक उत्तर दिया तो राजाने अच्छा मूल्य देकर वह तोता खरीद लिया। फिर दूसरेका मूल्य पूछा—बहेलियेने कहा—राजन्! उससे भी पूछ लीजिये। चूँकि राजा पहले तोतेकी बातोंसे संतुष्ट थे, इसलिये बिना चर्चा किये उसी मूल्यपर दूसरेको भी उन्होंने खरीद लिया। महलमें दोनोंके पिंजरोंको टाँग दिया गया। कुछ दिनोंतक राजा विद्वान् तोतेसे सत्सङ्ग करते रहे। फिर एक दिन दूसरे तोतेसे कुछ प्रश्न किये तो उसने राजाको अपशब्दोंमें उत्तर दिया। राजा क्रुद्ध होकर पिंजरेमेंसे उस दुष्ट तोतेको पकड़कर कटारसे मारना ही चाहते थे कि विद्वान् तोतेने कहा—

गवाशनानां स शृणोति वाक्य-
महं हि राजन् वचनं मुनीनाम्।
न चास्य दोषो न च मद्गुणो वा
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥
(सुभाषितरत्नभाण्डागार)

महाराज! हम दोनों भाई हैं। हम दोनों भाइयोंके पिंजरे एक ही बाड़ेमें अलग-अलग टँगे हुए थे। मेरे पिंजरेके पास साधु लोगोंका प्रतिदिन सत्सङ्ग होता था। अतः मुझे सत्सङ्ग सुननेको मिला, किंतु दूसरे छोरपर टँगे पिंजरेके पास कसाइयोंका बाड़ा था, उसमें मेरे भाईको प्रतिदिन गालियाँ सीखनेको मिलीं, इस तरह मुझमें कोई विशेष गुण नहीं है और न मेरे भाईमें कोई दुर्गुण है, संसर्गके कारण हम दोनोंके स्वभावमें भिन्नता है। राजाने यह सुनकर दुष्ट प्रकृतिके तोतेको पिंजरेसे उड़ा दिया।

यह कहानी छोटी-सी है, किंतु इससे संस्कारोंके निर्माणकी तथा उनकी प्रबलताकी बात स्पष्ट होती है। किस मनुष्यमें कितने कुसंस्कार हैं, इसकी पहचान उसके कदाचारी मित्रोंको देखकर ही की जा सकती है। यदि सङ्गदोषके कारण बालक झूठ बोलना सीख गया है तो उसे झूठ बोलनेसे रोकनेके लिये अधिक प्रयास करना पड़ेगा। मनुष्यमें किसके दोषसे किस अवगुणका आरम्भ होता है, इस सम्बन्धमें संस्कृतकी सुप्रसिद्ध उक्ति है—

दुःशीलो मातृदोषेण पितृदोषेण मूर्खता।
स्त्रीणां सङ्गदोषेण दारदोषैर्दरिद्रता॥

अर्थात् मनुष्यमें माँके दोषसे दुःशीलता, पिताके दोषसे मूर्खता, कुसङ्गसे उच्छृङ्खलता तथा स्त्रीके दोषसे दरिद्रता आती है।

इस प्रकार मनुष्यके चरित्रनिर्माणमें आधारभूमिके रूपमें जो मुख्य तत्त्व माने जाते हैं, उनमें संस्कार एक प्रमुख तत्त्व है।

मनुष्यके हृदयमें जो भाव उठते हैं, वे इन छः बातोंसे परिलक्षित होते हैं—वचन, बुद्धि, स्वभाव, चरित्र, आदर तथा व्यवहार। चरित्र शब्द सामान्यरूपसे व्यवहार, आदत, चाल-चलन एवं स्वभाव आदिका वाचक है। चरित्र-निर्माणके लिये अनुशासनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन कालमें अनुशासनको संयम या मर्यादा भी कहा जाता था। भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर, गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह—सभीका जीवनचरित्र आत्मसंयमकी भित्तिपर आधारित रहा है। चरित्रनिर्माणके लिये वर्षों साधना करनी पड़ती है और उसे नष्ट करनेके लिये क्षणमात्रका समय ही पर्याप्त है। यदि चरित्र बिगड़ जाय तो फिर समझना चाहिये कि हजारों-हजार जन्म बिगड़ गये। इसलिये चरित्रनिर्माणपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है—

ऊँचे गिरिसे जो गिरै, मरै एक ही बार।
जो चरित्रगिरिसे गिरै, बिगरै जन्म हजार॥

चरित्र और आदर्शकी शिक्षा हमारे देशमें सबसे पहले परिवारसे प्रारम्भ होती है। परिवारमें माता-पिता, भाई-बहन तथा अन्य सम्बन्धी बालकको संस्कृतिके विभिन्न उपकरण जैसे रीति-रिवाजों, परम्पराओं, मूल्यों, विश्वासों, धर्म और नैतिकता आदिकी व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करते हैं। परिवारमें बालक विभिन्न संस्कारोंको सीखकर सुसंस्कृत बनता है। हिन्दूसमाजमें बालकको सुसंस्कृत बनानेके लिये उसके अनेक प्रकारके संस्कार किये जाते हैं। बालकको वेदाध्ययनमें प्रवृत्त करनेके लिये ही उपनयन-संस्कारकी व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक देशकी संस्कृतिमें योगदान करनेवाले महापुरुषोंमें उनके बाल्यकालमें परिवारका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। शिवाजीपर बाल्यकालमें माता जीजाबाईद्वारा प्रतिरोपित संस्कारोंके कारण उनमें धार्मिक एवं राष्ट्रिय गुणोंका विकास हुआ। जन्मजात संस्कारोंके कारण ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु आदिने जिस उदात्त आचरणका परिचय दिया, उसे त्याग-तपस्याकी पराकाष्ठा कहा जा सकता है।

मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार, मनुष्यके चरित्रकी नींव उसके जीवनके कुछ वर्षोंमें ही पड़ जाती है। शैशवावस्थामें

बालकके मनपर आचार-विचारके विषयमें जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे ही आगे चलकर चरित्रके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं। चरित्रके निर्माणमें शिक्षा सर्वाधिक सहायक होती है। यह शिक्षा अधिकतर अनौपचारिक होती है। बालकका चरित्रनिर्माण उपदेशोंसे इतना अधिक प्रभावित नहीं होता, जितना कि परिवार, पास-पड़ोस, समूह आदिमें उसके सामने उपस्थित होनेवाले उदाहरणोंके द्वारा होता है।

तत्वज्ञोंका कथन है कि निरन्तर धारण किया गया विचार ही कृत्य बन जाता है और सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित होता रहता है। सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित होनेवाले कृत्य ही संस्कार बनते हैं। जो अवचेतन मनके माध्यमसे मनुष्यके मन और मनोवृत्तिको प्रभावित एवं नियन्त्रित करनेके साथ ही उसे निर्देशित भी करते हैं। आगे चलकर संस्कारोंकी यही दृढ़ता चरित्रमें परिवर्तित हो जाती है। मनुष्यका स्वभाव तो सहजात होता है, किंतु चरित्र अर्जित किया जाता है। चरित्रका निर्माण व्यक्ति अपनी सहज प्रवृत्तियोंको बुद्धिद्वारा नियन्त्रित और संस्कारित करके करता है। स्वभावके उपादानसे चरित्रनिर्माणको नैतिकता कहते हैं। मनुष्यके चरित्रका प्रदर्शन व्यवहाररूपमें होता है। व्यवहार चरित्रका बाह्य रूप है, दोनों एक-दूसरेको प्रभावित करते हैं। नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे चरित्र जीवनमें सबसे अधिक महत्त्वकी चीज होती है।

यदि आज भी हम अपने बालकोंको वेदवर्णित संस्कार-विधिके अनुसार सुसंस्कृत करें तो बालक महान् बन सकते हैं। किंतु विडम्बना है कि आज जब माता-पिता ही संस्कारशून्य हो गये हैं तो फिर बालकोंके सुधरनेकी आशा कैसे की जा सकती है! किसी भी मनुष्यके चरित्रनिर्माणके दो आधार हैं—१-सत्संगति तथा २-सुसंस्कार। यदि संस्कार पूर्वजन्मके सत्कर्मोंकी अर्जित सम्पत्ति है तो सत्सङ्गति वर्तमान जीवनकी दुर्लभ विभूति है। संसारमें चरित्रवान् व्यक्ति समाजकी शोभा है। सद्व्यवहारका जीवनमें उतर आना ही सच्चरित्रता है। इसीलिये संस्कारद्वारा तराशी गयी पत्थरकी मूर्तिके विषयमें किसी शायरका कथन है कि तराशा गया पत्थर ही ख़ुदा बन जाता है—

सुनो! शायास, दुनियामें तरक्की इसको कहते हैं।
न तराशे थे तो पत्थर थे, जो तराशे तो खुदा निकले॥

इस प्रकार चरित्रके निर्माणमें संस्कारोंका सर्वोपरि अवदान है।

~~○~~

सर्वसिद्धिदायक संस्कार—माता-पिताकी सेवा

[महाभारतका एक आख्यान]

(डॉ० श्रीमती विजयलक्ष्मीसिंहजी)

धर्मका तत्त्व बड़ा ही अद्भुत और विलक्षण है। शास्त्रोक्त संस्कारोंके द्वारा मनुष्य अपने जीवनमें लक्ष्योंकी सिद्धि कर पाता है, किंतु माता-पिताकी सेवा ऐसा विलक्षण संस्कार है, जिसके बलपर समस्त सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। पुराणेतिहास ग्रन्थोंमें इस सम्बन्धमें अनेक आख्यान आये हैं। यहाँ एक ऐसे वेदज्ञ और धर्मशील ब्राह्मणका आख्यान प्रस्तुत है जो कठोर तपस्यासे भी तबतक सिद्धियाँ प्राप्त नहीं कर सका, जबतक उसने माता-पिताकी सेवासे उन्हें संतुष्ट नहीं कर लिया। दूसरी तरफ पशुओंका मांस बेचनेवाले व्याधने केवल माता-पिताकी सेवासे ही सब कुछ पा लिया। महाभारतमें वर्णित ब्राह्मण और व्याधका आख्यान संक्षेपमें इस प्रकार है—

कौशिक नामक एक वेदज्ञ, तपस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण था। एक दिन वृक्षके नीचे बैठकर वेदपाठ करते समय उसके ऊपर एक बगुलीने बीट कर दिया। ब्राह्मणने क्रुद्ध दृष्टिसे बगुलीको देखा तो वह निष्प्राण होकर भूमिपर गिर पड़ी।

इस घटनासे द्रवीभूत वह ब्राह्मण पश्चात्ताप करते हुए गाँवमें भिक्षाटनक्रममें एक घरके सामने जा पहुँचा। घरके भीतरसे एक स्त्रीने उत्तर दिया—ठहरो आती हूँ, किंतु तभी पतिके घर आ जानेसे वह उनकी सेवामें लग गयी। कुछ देर बाद याद आनेपर लज्जित होती हुई वह भिक्षा लेकर बाहर निकली और ब्राह्मणसे क्षमा माँगने लगी, लेकिन ब्राह्मणको अत्यन्त क्रोधमें भरा देखकर वह बोली—हे तपस्वी! मैं बगुली नहीं हूँ, जो तुम्हारी इस क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। यदि तुम धर्मका तात्त्विक ज्ञान पाना चाहते हो तो मिथिलामें रहनेवाले व्याधके पास जाओ।

उस स्त्रीकी बात सुनकर मन-ही-मन चकित हुआ ब्राह्मण कौशिक कौतूहलवश मिथिलामें खोजता-पूछता एक कसाईखानेमें जा पहुँचा। ब्राह्मणको आया देखकर व्याध तुरंत पास आकर अभिवादन करके बोला—भगवन्! आपका स्वागत है। उस पतिव्रता स्त्रीने आपको भेजा है और आप जिस उद्देश्यसे यहाँ आये हैं, यह सब मैं जानता हूँ। यह कसाईखाना आपके ठहरनेयोग्य स्थान नहीं है। यदि आपकी रुचि हो तो आप हमारे घर चलें।

व्याधकी बात सुनकर विस्मित हुआ ब्राह्मण उसके साथ घर गया। वहाँ व्याधने ब्राह्मणका विधिवत् सत्कार करनेके उपरान्त उसे धर्मकी गूढ़ता तथा परमात्माकी प्राप्तिके उपाय आदि विभिन्न विषयोंका उपदेश दिया तथा घरके भीतर ले जाकर अपने माता-पिताको दिखाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया

और फिर ब्राह्मणदेवतासे कहा—

भगवन्! ये माता-पिता ही मेरे प्रत्यक्ष धर्म औ परम देवता हैं। इन्हींकी सेवाके प्रभावसे मुझे यह सि प्राप्त हुई है। समस्त संसारके लिये इन्द्र आदि देवता जै पूजनीय हैं, उसी प्रकार मेरे लिये ये वृद्ध माता-पिता आराधनी हैं। मैं नाना प्रकारके उपहार फल-फूल, रत्न आदिसे इन्हें संतुष्ट करता हूँ। चारों वेद, अग्नि और यज्ञ—सब कुछ मे लिये ये माता-पिता ही हैं। मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र और सुहृद्—सब इन्हींकी सेवाके लिये हैं। स्त्री-पुत्रोंके साथ मैं प्रतिदि इनकी सेवा करता हूँ। मैं स्वयं इन्हें नहलाता हूँ, इनके चर धोता हूँ और परोसकर भोजन कराता हूँ। मैं सदा इनके मनो अनुकूल बोलता हूँ और कभी अप्रिय नहीं बोलता। इनक यदि प्रिय हो तो मैं अधर्म भी कर सकता हूँ। इस प्रक माता-पिताके सेवारूप धर्मको ही महान् मानकर मैं सदा उसक पालन करता हूँ। उन्नति चाहनेवाले पुरुषके पाँच ही गुरु हैं—माता, पिता, अग्नि, परमात्मा और गुरु। जो इन सबके प्र उत्तम आचरण करेगा, उस गृहस्थके द्वारा सब अग्नियों सेवा सम्पन्न होती रहेगी। यही सनातनधर्म है।

हे ब्राह्मण! इस प्रकार माता-पिताकी सेवा ही मेरी तपस्य है। इसी तपस्याके प्रभावसे मुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है आपने अपने माता-पिताकी उपेक्षा की है। आप उनसे बिन आज्ञा लिये वेदाध्ययनके लिये घरसे निकल पड़े और आपके वियोगजनित शोकसे वे दोनों वृद्ध अन्धे हो गये हैं। धर्म निरत रहते हुए भी माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है। अतः आ घर जाकर उनकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न करें। मैं इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं देखता—'अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कञ्चन' (महा०, वन० २१५।१३)।

व्याधकी बातें सुनकर कौशिक ब्राह्मण घर जाकर माता-पिताकी सेवामें लग गये और उनके आशीर्वादसे उन्होंने अपने उद्देश्यमें सफलता प्राप्त की। वस्तुतः जिस पुत्रसे माता-पिता सदा संतुष्ट रहते हैं, वह इहलोक और परलोकमें शाश्वत यश और धर्म प्राप्त करता है।

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' (माता देवता है, पिता देवता है)—इस श्रुतिवचनको हृदयङ्गम करके जो कोई भी अपने माता-पिताकी सेवा करता है तो इस एकमात्र सेवा-संस्कारके बलपर वह अपने जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य—निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है।

जीवनमें संस्कारोंकी आवश्यकता क्यों ?

(डॉ० श्रीविपुलशंकरजी पण्ड्या)

संस्कार क्या है ?—सामान्यतया जो कार्य व्यक्तिको सुसंस्कृत अथवा सभ्य बनाता है, उसे 'संस्कार' कहते हैं। संस्कारका अर्थ है—शुद्धता या परिमार्जन। जैसे एक साधारण पत्थर (हीरा) कुशल जौहरीके द्वारा तराशे जानेपर सुन्दर, दिव्य और बेशकीमती बन जाता है, जैसे खदानसे निकला अनगढ़ पत्थर कारीगरके शिल्पकर्मद्वारा एक आकर्षक एवं बहुमूल्य रत्न एवं देवविग्रह बन जाता है, उसी प्रकार संस्कारोंसे मानव-जीवन सुसंस्कृत एवं श्रेष्ठ बन जाता है। संस्कारके द्वारा यह सुनिश्चित किया जाता है कि व्यक्ति अपने दायित्वोंका निर्वहण जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सक्रियतासे करता रहे तथा नैतिकताके आधारपर उन्हें व्यावहारिक जीवनमें इस्तेमाल करे। संस्कार दैनिक जीवनकी वह प्रक्रिया है, जिसे अपनाकर मनुष्य अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें सफल होता है। जीवन-मूल्योंके आधारपर धर्मके दस लक्षण बताये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६।९२)

धैर्य, क्षमा, दुष्प्रवृत्तियोंका दमन, अचौर्य, शुद्धता, इन्द्रियसंयम, बुद्धि, विद्या, सत्य तथा अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं। यदि मनुष्य इन गुणोंको अपने जीवनमें अपना ले तो वह सुसंस्कृत एवं दैवीसम्पदासे युक्त हो जाता है। शिक्षाके साथ संस्कारोंका महत्त्व निर्विवाद है। बिना संस्कारके शिक्षा अधूरी रह जाती है। स्वामी विवेकानन्दने कहा था कि शिक्षा मात्र सूचनाओंका संग्रह नहीं है, जो ठूँस-ठूँसकर हमारे मस्तिष्कमें भर दी जाय, हमें जीवन-निर्माण करनेवाली तथा संस्कारित शिक्षाकी परम आवश्यकता है।

कोई उम्र नहीं व्यक्तित्व-निर्माणकी—षोडश संस्कारोंकी बात यदि छोड़ दी जाय तो संस्कार प्राप्त करनेकी कोई उम्र नहीं होती। बाल, युवा तथा वृद्ध—सभीको संस्कार दिये जा सकते हैं, किंतु सर्वोत्कृष्ट उम्र है बाल्यावस्था; क्योंकि वही समय भावी जीवनका आधार बनता है। बालकमें हृदयङ्गम करनेकी जो ऊर्जा, उत्साह तथा उमङ्ग होती है, वह अन्य उम्रवर्गमें नहीं होती।

संस्कार-प्रक्रियाका आरम्भ गर्भावस्थासे पाँच वर्षतक माता-पिताद्वारा घरपर ही लालन-पालनद्वारा, फिर विद्यालयमें शिक्षकद्वारा, अनुशासनके द्वारा और फिर आजीवन स्वाध्यायप्रक्रियाके साथ अध्ययन, चिन्तन एवं अनुसन्धानके द्वारा होता है। बालकके माता-पिता ही उसके प्रथम गुरु हैं। परिवार ही संस्कारतीर्थ है। जीवनके प्रारम्भिक दिनोंमें बच्चेको जो संस्कार दिये जाते हैं, वे आजीवन उसका मार्गदर्शन करते हैं। माँ कौसल्याके दिये संस्कारोंने ही श्रीरामको मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम बना दिया, जीजाबाईके दिये संस्कारोंने शिवाजीको राष्ट्रनायक बना दिया तथा माँ कयाधूने प्रह्लादको भक्तशिरोमणि एवं महाभागवत बना दिया। प्राचीन कालमें लोरी, बोधकथा तथा वीरों और वीराङ्गनाओंकी शिक्षाप्रद कहानियाँ सुनाकर बच्चोंको संस्कारित किया जाता था। मार्कण्डेयपुराणमें प्राप्त माता मदालसाद्वारा अपने पुत्रोंको लोरीमें दी गयी संस्कारोंकी शिक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। यहाँ केवल एक श्लोक दिया जा रहा है, जिसमें अपने पुत्र अलर्कको बहलाती हुई मदालसाने कहा—बेटा! तू अपने मनमें सदा श्रीविष्णुभगवान्का चिन्तन करना, उनके ध्यानसे अन्तःकरणके काम-क्रोध आदि छहों शत्रुओंको जीतना, ज्ञानके द्वारा मायाका निवारण करना और जगत्की अनित्यताका विचार करते रहना—

सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तः षडरीञ्जयेथाः।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः॥

(मार्कण्डेयपुराण २६।३७)

संस्कार देनेके उपाय

१. पारिवारिक परिवेश—संस्कारोंका निर्माण,

कुछ पारिवारिक वातावरणपर निर्भर है। भारतमें संयुक्त-परिवारप्रथाका प्रचलन बच्चोंको संस्कारित करनेका सर्वोत्तम माध्यम था। तब परिवारमें बच्चा कर्तव्यपालन, माता-पिता तथा बड़ोंका सम्मान करना स्वतः सीख जाता था, किंतु आज वैयक्तिक परिवार-प्रणालीने इस संस्कारशिक्षाको संकुचित कर दिया है।

कुछ अन्य पारिवारिक परिवेश भी बच्चोंको संस्कारित करनेमें सहायक सिद्ध हो सकते हैं; जैसे—(क) सूर्योदयके पूर्व जागरणका अभ्यास, (ख) नित्यक्रियाके पश्चात् भगवान्‌की प्रार्थना, ध्यान तथा महापुरुषोंके चित्रोंको नमन करना आदि। जिन परिवारोंमें आपसी प्रेम, सहनशीलता, अनुशासन, विनयशीलता एवं कर्तव्यबोधका वातावरण होता है, वहाँ बच्चे भी सहज ही पूर्ण संस्कारित हो जाते हैं।

२. शिक्षा—शिक्षा संस्कारोंकी जननी है। बच्चोंको अच्छे सुसंस्कृत विद्यालयोंमें भेजना चाहिये, जिससे कि उन्हें संस्कारयुक्त शिक्षा मिल सके। हितोपदेशमें कहा गया है—

> विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
> पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

अर्थात् विद्या विनय प्रदान करती है, विनयसे व्यक्ति पात्रता प्राप्त करता है और पात्रता या योग्यतासे ही सच्ची सम्पत्ति प्राप्त होती है और फिर धर्ममय सुखी जीवन व्यतीत करता है। सद्विद्याके अर्जनमें ही संस्कारोंका पर्यवसान है। ऐसा विद्याभ्यासी ही गुणी, सच्चरित्र और सदाचारपरायण रहता है।

३. स्वाध्याय—बच्चोंको संस्कारित करनेके लिये सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी भावनाको जाग्रत् करना आवश्यक है। बच्चोंको सत्साहित्यका पठन करनेकी प्रेरणा देनी चाहिये। प्रेरणादायक साहित्यका पठन उनके चारित्रिक विकासमें सहायक होता है। स्वाध्यायसे सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति होती है, सदाचरणमें वृद्धि होती है, दुराग्रह दूर होता है तथा बोधकथाओंके पठनसे उनमें उन्नत भावोंका संचरण होता है। महापुरुषोंकी कहानियाँ, सत्कथाएँ, भक्तों और वीरोंके चरित्रोंका पाठ तथा स्मरण लाभकारी होता है।

४. सत्सङ्ग—संस्कारनिर्माणका यह सशक्त माध्यम है। अच्छे व्यक्तियों, साधु-संतों एवं सत्पुरुषोंकी सङ्गति जीवनको ऊँचा उठाती है। कबीरदासजीने बताया है कि क्षणभरका सत्सङ्ग भी बड़े-से-बड़े अपराधोंको हर लेता है—

> एक घड़ी आधी घड़ी, आधी से पुनि आध।
> कबिरा संगत साधु की हरे कोटि अपराध॥

संस्कारित बच्चा ही बड़ा होकर सफल होता है, पारिवारिक जीवनको सौहार्दमय बनाता है और राष्ट्रके विकासमें सहायक होता है; अतः बच्चोंको सुसंस्कृत करने तथा उन्हें अच्छे विचारोंसे पोषित करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।
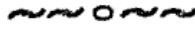
~~~ ० ~~~

भगवान्‌का स्वरूप

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
> (ना०पू० ४६।१७)

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान तथा सम्पूर्ण वैराग्य—इन छःका नाम 'भग' है।

> उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
> (ना०पू० ४६।२१)

जो सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयको, आवागमनको तथा विद्या और अविद्याको जानता है, वही भगवान् कहलाने योग्य है।

~~~ ० ~~~

नारीका संस्कारपूर्ण आचरण

[किसके साथ कैसा वर्ताव करना चाहिये ?]

[परिवारमें नारीको किस प्रकारका व्यवहार परस्पर करना चाहिये, जिससे सद्भाव, सौहार्द, सुख-शान्ति और स्नेहभाव बना रहे, इसका उपदेशात्मक लेख प्रस्तुत है—]

सास-ससुर—हिन्दू-शास्त्रानुसार वस्तुतः माता-पिताकी अपेक्षा भी अधिक पूजनीय और श्रद्धाके पात्र हैं; क्योंकि वे आत्माकी अपेक्षा भी अधिक प्रियतम पतिको जन्म देनेवाले उनके पूजनीय माता-पिता हैं। अपने हाथों उनकी सेवा करना, आज्ञा मानना, उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करना, उनकी अनुचित बातको भी सह लेना तुम्हारा धर्म है। सास-ससुर असलमें मानके भूखे होते हैं। जिन सास-ससुरने पाल-पोसकर तुम्हारे स्वामीको आदमी बनाया है, वे स्वाभाविक ही यह चाहते हैं कि बहू-बेटे हमारी आज्ञा माननेवाले हों और हमारे मनके विरुद्ध कुछ भी न करें। तुम्हें ऐसा कोई भी काम या आचरण नहीं करना चाहिये, जो उनको बुरा लगता हो। कहीं जाना हो तो पहले साससे पूछ लो। कपड़ा-लत्ता मँगाना हो तो पतिसे सीधा न मँगवाकर सासकी मारफ़त मँगवाओ। साससे बिना पूछे या उनके मना करनेपर कोई काम मत करो। रुपये-पैसेका हिसाब-किताब सासके पास रहने दो। रोज कुछ समयतक सासके पाँव दबा दिया करो और पतिको भी ऐसा कोई काम करनेसे सम्मानपूर्वक समझाकर रोक दो, जो उनके माता-पिताके मनके विरुद्ध हो। बस, तुम्हारे इन आचरणोंसे वे प्रसन्न हो जायँगे। वस्तुतः सास-ससुरको साक्षात् भगवान् लक्ष्मी-नारायण समझकर उनकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा करनी चाहिये। तुम सेवा तथा सद्व्यवहार करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करोगी तो तुम्हारा परम कल्याण होगा।

जेठ—भगवान्‌ने जिनको तुम्हारे स्वामीसे बड़ा और उनका भी पूजनीय बनाकर भेजा है, वे चाहे विद्या-बुद्धिमें हीन ही क्यों न हों, तुम्हारे लिये सदा ही आदर, सम्मान तथा सेवाके पात्र हैं। उनका हित करना, सेवा करना और उन्हें सुख पहुँचाना तुम्हारा धर्म है।

देवर—देवरको छोटा भाई मानकर उसका हित करना तथा उससे पवित्र सद्व्यवहार करना चाहिये। देवरसे हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये और अपने पतिसे समय-समयपर कहकर देवरके मनकी बात करानी चाहिये, जिससे प्रेम बढ़े।

जेठानी-देवरानी—जेठानीको बड़ी बहिन और देवरानीको छोटी बहिन मानकर उनके प्रति यथायोग्य आदर-श्रद्धा, स्नेह और प्रेम रखना चाहिये। अपना स्वार्थ छोड़कर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा उनके बच्चोंको अपने बच्चोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय जानकर उन्हें खाने-पीने, पहननेकी चीजें अच्छी और पहले देनी तथा उनका लाड़-प्यार करना चाहिये।

ननद—ननद तुम्हारी सासकी पुत्री और तुम्हारे स्वामीकी सगी बहिन है। उसका आदर-सत्कार सच्चे मनसे करना चाहिये और विवाहित हो तो अपनी शक्तिभर उसे खूब देना चाहिये। मातापर लड़कीका विशेष अधिकार होता है और माताका भी स्वाभाविक ही विशेष प्यार उसपर होता है, इसलिये माताके बलपर वह (ननद) तथा पुत्री-स्नेहके कारण उसकी माँ (तुम्हारी सास) तुम्हें कुछ कह दे या बर्तावमें कभी रूखापन करे तो भी तुम्हें परिस्थिति समझकर उनसे प्रेम ही करना चाहिये तथा सदा सद्व्यवहार ही करना चाहिये।

नौकर-नौकरानी—इनके प्रति विशेष प्यार और आदर रखना चाहिये। बेचारे तुम्हारी सेवा करते हैं, तुम्हारे सामने बोलनेमें संकोच करते हैं। इनको समयपर अच्छा खाना-पीना देना चाहिये। रोग-क्लेशसे पूरी सार-सँभाल रखनी चाहिये। अपने बर्तावसे इनके मनमें यह जँचा देना चाहिये कि ये इस घरके ही सदस्य हैं, पराये नहीं। जब ये तुम्हारे घरको अपना घर तथा तुम्हारे हानि-लाभको अपना हानि-लाभ मानने लगेंगे तो तुम्हारे जीवनका भार बहुत कुछ हलका हो जायगा। कभी भूल होनेपर कुछ डाँटोगी तो ये यही समझेंगे कि हमारी माँ हमारे

लिये हमें डाँट रही हैं। नौकरोंसे गाली-गलौज करना तो बहुत बड़ी नीचता है।

अतिथि-अभ्यागत—सेवा तो नारी-जातिका स्वाभाविक गुण है। अतिथि-अभ्यागतकी शास्त्र-सम्मत सेवा करनेमें महान् पुण्य तथा निष्काम सेवा होनेपर भगवत्प्राप्ति और लोकमें यश होता है। अवश्य ही लुच्चे-लफंगोंसे सदा बचना चाहिये तथा अकेलेमें तो किसी पुरुषसे कभी मिलना ही नहीं चाहिये।

आत्मीय-स्वजन—परिवारके कोई सगे-सम्बन्धी कुछ दिनके लिये घरमें आ जायँ तो भार न समझकर उनका आदर-सत्कार करना चाहिये। ऐसा व्यवहार करना चाहिये, जिससे वे बहुत सुन्दर भाव लेकर अपने घर लौटें। उनको ऐसी एक आदर्श शिक्षा मिले कि दूर-सम्पर्कीय आत्मीय स्वजनोंके साथ गृहस्थको कैसा सुन्दर, आदरपूर्ण तथा मधुर बर्ताव करना चाहिये। जरा-सा भी उनका असत्कार हो जायगा तो तुम्हारे लिये कलङ्ककी बात होगी।

विपत्तिग्रस्त स्वजन—ऐसा अवसर भी आता है कि जब कोई असहाय, अभागा व्यक्ति दरिद्रताका शिकार होकर या किसी विपत्तिमें पड़कर अपने किसी आत्मीय-स्वजनके घर पहुँच जाता है तो देखा गया है कि ऐसी अवस्थामें लोग उसका जरा भी सत्कार नहीं करते और लापरवाही दिखाते हैं। यह बड़ा ही निष्ठुर व्यवहार है और महान् अधर्म है। याद रखना चाहिये कि दिन पलटनेपर तुम्हारी भी यही दशा हो सकती है। ऐसा समझकर उसका विशेष आदर-सत्कार करना तथा अपनी शक्तिभर नम्र भावसे उसकी सहायता करनी चाहिये, अहसान जताकर नहीं।

बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

पड़ोसी—पड़ोसियोंको अपने सद्व्यवहारसे अपना सच्चा मित्र बना लेना धर्म तो है ही, स्वार्थ भी है। बुरे समयमें मित्र पड़ोसियोंसे बड़ी सहायता मिलती है और वैरी पड़ोसीसे विपत्ति बढ़ जाया करती है। अतएव उनके प्रति सदा सम्मान, सत्य, प्रेम तथा उदारताका व्यवहार करना चाहिये। सम्मान, सत्य, प्रेम तथा हित करनेपर वैरी भी अपने हो जाया करते हैं।

इस प्रकारके व्यवहारसे भगवान् भी प्रसन्न होते हैं और उनकी सन्निकटता प्राप्त होती है।

बच्चोंके प्रति माँका उत्तरदायित्व

(श्रीरामनिवासजी लखोटिया)

सुसम्पन्न, सुशिक्षित और तथाकथित अच्छे स्तरके परिवारोंमें एक बहुत बड़ी समस्या जो उभरकर सामने आयी है, वह है बच्चोंमें असंतोषकी भावना और आमोद-प्रमोद एवं उपभोग आदिके प्रति आवश्यकतासे अधिक झुकाव तथा सहनशीलताकी कमी। आजसे लगभग २५-३० वर्ष पूर्वके बच्चोंमें और आजके बच्चोंमें एक स्पष्ट अन्तर दिखायी दे रहा है। समृद्ध परिवारका बच्चा आज घड़ी पहनकर विद्यालयमें जाता है और यदि उसके पिताकी आमदनीमें या पदमें कोई विशेष तरक्की हो गयी हो तथा जिसका बच्चोंको पता चल गया हो तो वह मोबाइल फोन लेकर विद्यालय जाता है। जहाँ कुछ बच्चे अपने विद्यालय बसोंमें जाते हैं, वहीं कई बच्चे मोटरकारोंमें जाते हैं। माता-पिताओंका और विशेषकर बच्चोंकी माताओंका क्या उत्तरदायित्व है, इस बारेमें प्रस्तुत लेखमें मैंने अपने अनुभव और अनुभूतिके आधारपर विवेचन किया है। मुझे विश्वास है कि यदि इन सुझावोंको व्यावहारिक स्तरपर अमल किया गया तो परिवारमें सामञ्जस्य बढ़ेगा, मधुरता बढ़ेगी और बच्चोंमें सहनशीलता एवं धैर्यके गुण और अधिक विकसित होंगे।

सहनशीलता एवं संतोष—उच्च वर्गके परिवारोंके बच्चोंमें ही नहीं, बल्कि मध्यम श्रेणीके और कमजोर वर्गके बच्चोंमें भी यह देखनेमें आता है कि उनमें पहलेकी अपेक्षा बहुत कम सहनशक्ति है। छोटी-छोटी बातपर बच्चे गुस्सा उठते हैं। इसलिये माताओंको चाहिये कि वे बच्चोंको सहनशीलताकी कहानियाँ सुनायें और इस गुणसे जीवनमें किस प्रकार मधुरता आती है, यह बतायें। जैसे व्यावहारिक तौरपर बच्चोंको यह सिखलाना चाहिये कि हमारे परिवारमें भी तो क्वार्टर्समें नौकर रहते हैं, पर नौकर और उनके बच्चे पंखेसे ही काम चलाते हैं और कई बार पंखा नहीं भी चलता, विशेषकर जब बिजली चली जाती है। जेनरेटर या इन्वर्टरकी सुविधा नौकरोंके कमरे या क्वार्टर्समें नहीं होती, तो भी वे अपना गुजारा करते हैं। उनके भी तो बच्चे हैं

और वे भी तो इंसान हैं। हम अपने बच्चोंको नौकरोंके बच्चोंको देखनेके लिये भी कहें। इसके अतिरिक्त छोटी-छोटी बातपर बच्चे झगड़ने लगते हैं; क्योंकि उनमें सहनशीलताकी कमी होती जा रही है। माताओंका यह कर्तव्य है कि वे बच्चोंके सामने अपने पति या सास-ससुर और बड़ोंसे कभी भी किसी प्रकारका झगड़ा नहीं करें। इससे बच्चोंपर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है और ऐसी नकारात्मक छाप बच्चेके मस्तिष्कपर पड़ती है, जिसका निवारण होना बादमें बहुत ही कठिन हो जाता है।

सृजनात्मकता—आजके बच्चोंकी संवेदनशीलता और सृजनशीलता धीरे-धीरे उपभोक्तावादके कारण कम हो रही है। बड़ी आयुके व्यक्तियोंका तो जीवन-यापन यान्त्रिक हो ही रहा है; क्योंकि वे केवल रुपये और धनके पीछे ही दौड़ रहे हैं, पर उनके साथ-साथ बच्चोंका भी जीवन केवल कम्प्यूटर गेम्स या टी०वी०सीरियल्सके आगे-पीछे मँडरा रहा है। सही अर्थमें चेतनाकी दुनियामें जाकर प्राकृतिक छटाका सुख जो बच्चोंको मिलना चाहिये, वह बच्चोंको हम नहीं दे पाते और अपनी अनावश्यक जरूरतोंकी पूर्तिकी चिन्तामें ही रात-दिन खोकर निराशा और ऊबभरा जीवन व्यतीत करने लगते हैं। इसलिये महिलाओं और विशेषकर माताओंका यह कर्तव्य बनता है कि वे भी अपनी अनावश्यक ज़रूरतोंमें कमी करें और जहाँतक सम्भव हो विदेशी कारखानोंमें निर्मित सामानोंका कम-से-कम उपयोग करें। केवल उन्हीं चीजोंको खरीदें या इस्तेमाल करें, जो अत्यन्त आवश्यक हैं तथा रचनात्मक और सृजनात्मक कार्यमें खुद भी लगें एवं बच्चोंको भी लगायें।

भारतीय संस्कृतिका प्रतिष्ठापन—माताओंका यह कर्तव्य है कि वे भारतीय संस्कृतिके मूलभूत सिद्धान्तोंका पुनः प्रतिष्ठापन घरमें रामायण, महाभारत और भारतके सपूतोंकी कहानियाँ सुनाकर करवायें। हमारी परम्परा थी—बड़ोंका आदर करना, अपनी आवश्यकताएँ कम रखना, मर्यादामें रहना, अपनी भाषा और अपने लोगोंसे प्रेम करना एवं उनकी निःस्वार्थ सेवा करना। आज ये सांस्कृतिक मूल्य लुप्त होते जा रहे हैं। जहाँ आज कम्प्यूटर और इण्टरनेटके प्रभावसे हमारा तकनीकी ज्ञान बढ़ रहा है, वहीं इनसे एकाकीपन और अकेले रहनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। अन्य व्यक्तियोंके बारेमें सोच-विचार ही नहीं है, इसलिये पहले माताएँ अपने-आपको सुधारें। तब वे बच्चोंमें भी भारतीय संस्कृतिके मूल्योंका बीजारोपण कर सकेंगी। भारतीय कहलानेमें विद्यार्थी आजकल गर्व महसूस नहीं करते। ऐसे वातावरणमें माताओंका कर्तव्य है कि वे अच्छी-अच्छी प्रेरक गाथाएँ बच्चोंको पढ़ायें और खुद भी पढ़ें, जिससे भारतीय भाषा, वेश-भूषा एवं खान-पानमें बच्चे गौरव महसूस करें।

स्वदेशी भाषामें बोलचाल—माताएँ या घरके पुरुषवर्ग व्यापार या व्यवसाय चलाने और रुपया कमानेके लिये अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाका ज्ञान अर्जित करें और उनका ऐसा प्रयोग करनेमें कोई बुराई नहीं है। लेकिन हमारी आपसी बोल-चाल—पति और पत्नी, माता और बच्चे, भाई-भाई, सास-ससुर और परिवारके अन्य सदस्योंके बीच जो हमारी बातचीत हो, वह हमारी मातृभाषामें या हिन्दीमें ही हो। यह नितान्त अनावश्यक है कि हम अधिकतर अपने बच्चोंके साथ अंग्रेजीमें ही बोलें और इसमें गर्व महसूस करें। इससे अधिक शर्मनाक बात और कोई हो नहीं सकती कि बच्चे अपनी भाषा बोलनेमें शर्म महसूस करते हैं।

टेलीविजनका सदुपयोग—टेलीविजनपर कई अच्छे कार्यक्रम भी आते हैं तो कई ऐसे भी आते हैं जो परिवारमें विघटन पैदा करते हैं और तनावको बढ़ाते हैं। सबसे बड़ी बुराई जो टी०वी०से हुई है, वह है उपभोक्तावादको प्रोत्साहन मिलना। किसी वस्तुकी आवश्यकता हो या नहीं, उसे विज्ञापनके माध्यमसे इस तरहसे बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जा रहा है कि उसे देखनेवाला अपनी सोचको बंद करके यह समझता है कि जो टी०वी०का विज्ञापन कहता है, वही सच है और वह उसी चीजकी माँग करने लगता है। विलासी संस्कृति पनप रही है, जिसका एकमात्र आधार है, भोग और अधिक भोग। भोगके इस रोगसे माताएँ भी ग्रस्त हैं। इसलिये यदि उन्हें अपने बच्चोंका भविष्य सुधारना है तो स्वयंपर भी नियन्त्रण करना होगा और टी०वी०के अच्छे कार्यक्रम, जिससे हमारे बच्चोंके चरित्रका उत्थान हो और सृजनात्मक प्रवृत्तिको बढ़ावा मिले, ऐसे ही कार्यक्रम दिखाने होंगे। माताएँ अपने घरमें टी०वी० देखनेकी नीति बनाकर बच्चोंको समझा सकती हैं

वे ऐसे कार्यक्रम न देखें, जिनमें अनावश्यक मार-काट और विलासिताका प्रदर्शन हो।

खान-पानमें सुधार—आज कोला, पेप्सी, पिज्जा, बर्गर-जैसे बासी खाद्य ही खानेमें माताएँ और साथ-साथ उनके बच्चे भी अपनी शान समझते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश घरोंमें कई बार घरके सादे भोजनको जो एक तरफ तो स्वास्थ्यवर्धक एवं लाभदायक है और दूसरी ओर सस्ता भी है, उसे छोड़कर येन-केन-प्रकारेण कोला आदि बासी पानी पीने अथवा बासी खाना खानेमें ही वे अधिक रुचि लेते हैं। इससे बच्चेके स्वास्थ्यपर भी कुप्रभाव पड़ता है। इसलिये माताओंको चाहिये कि वे पौष्टिक एवं सात्त्विक खान-पानमें स्वयं रुचि लें और बच्चोंको भी रुचि लेनेको कहें।

व्यायाम और योगशिक्षा—माताओंके लिये अति आवश्यक है कि वे स्वयं प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व उठें और अपने बच्चोंको भी उठाएँ। जहाँतक सम्भव हो, उन्हें प्रातःकाल खुली हवामें घूमनेके लिये प्रोत्साहित करें। इसलिये माताएँ खुद भी योग सीखें और बच्चोंको भी सिखाएँ। आवासीय कॉलोनियोंमें जगह-जगह योगके केन्द्र बने हुए हैं, जिनसे माताएँ योगासन, प्राणायाम आदि सीख सकती हैं और अपने बच्चोंको भी सिखाकर उनके आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यमें बढ़ोतरी कर सकती हैं। [संस्कार-सौरभ]

~~~०~~~

संस्कार एवं संस्कृति

(डॉ० श्रीओम्‌प्रकाशजी द्विवेदी)

वैदिक ऋषियोंद्वारा प्रतिष्ठित संस्कार मानव-जीवनके अलङ्कार हैं। पवित्र संस्कारोंके आचरणसे हम श्रेष्ठत्वको प्राप्त होते हैं। संस्कार हमारे शरीर, मन, बुद्धि एवं चित्तपर पड़े मलको स्वच्छकर हमारे हृदयमें शुभता एवं दिव्यताका प्रवेश कराते हैं। जिस प्रकार चित्रको अनेक रंगोंसे चमका दिया जाता है, उसी प्रकार वैदिक विधिद्वारा किये गये संस्कारोंसे हमारे भीतर एवं बाहर देवत्व चमकने लगता है, जिससे लोकमें सुयश और परलोकमें सद्गतिकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यका स्वभाव दो प्रकारका होता है—१-दैवी-स्वभाव तथा २-आसुरीस्वभाव। दैवीसंस्कार-सम्पन्न जनोंके शील एवं सदाचारसे समाजकी रक्षा होती है, किंतु कुसंस्कारोंमें लिप्त व्यक्ति समाजके विनाशक होते हैं। अतः शास्त्रोंका अनुपम उपदेश है—'रामादिवद् वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्।'

भगवान् श्रीरामके संस्कारोंका वर्णन श्रीरामचरितमानस (१।२०४।३-४)-में बड़े मनोरम ढंगसे किया गया है—

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥

विद्यार्थीके लिये गुरुजनोंकी सेवा, विद्याध्ययन, सद्गुणोंका ग्रहण तथा नैतिक गुणोंका पालन अनिवार्य इतिकर्तव्य होती रही है। शिक्षा पूर्ण होनेपर समावर्तन-संस्कार सम्पन्न होता है। गुरुजन आशीर्वाद एवं शिक्षा देकर गुरुकुलसे विदाई करते हैं। समावर्तन-संस्कारके समय दी गयी शिक्षाको बालक जीवनभर स्मरण करता है तथा तदनुसार आचरण करता है। गुरु स्नातकको उपदेश देते हैं—'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। ...मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।' इत्यादि (तैत्ति०उप०)। शिक्षा-दीक्षा पूर्ण होनेके अनन्तर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेशके लिये उसका विवाह-संस्कार सम्पन्न होता है।

इस प्रकार सभी संस्कार नये-नये कर्तव्योंके लिये दीक्षास्वरूप हैं। इन प्रक्रियाओंके द्वारा मनुष्यमें नयी-नयी शक्तियोंकी उद्भावनाएँ की जाती हैं।

संस्कार हमारे हृदयको विशाल बनाकर हमें परिष्कृत बनाते हैं तथा अन्तः एवं बाह्य सौन्दर्यको बढ़ाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इन्हें अन्तर्मुखी बनाकर शुद्ध करना संस्कारोंका मुख्य प्रयोजन है।

भगवान् शिवने पार्वतीजीको इन्द्रियोंकी सार्थकताका वर्णन बड़े सुन्दर ढंगसे किया है—

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥
~~~

(रा०च०मा० १।११३।२—५)

इन्द्रियोंको शुद्ध एवं अन्तर्मुखी करनेके उपायके श्रीवाल्मीकिजीने श्रीरामचन्द्रजीको १४ स्थान उनके हेतु बताये हैं, जिनका दिव्य-मनोहारी वर्णन चरितमानसके अयोध्याकाण्ड (१२९।३—६)-में हैं। इस प्रकरणके अध्ययन-मननसे भगवत्प्रेमकी हो सकती है और इन्द्रियनिग्रह भी सहज ही सकता है—

र्वाहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥
त करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा॥
ाम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥

यह प्रसङ्ग नित्य स्मरणीय एवं आचरणीय है। यदि कार अन्तःकरणमें स्थित हो गये तो समझना चाहिये मग्ररूपसे संस्कारोंकी प्रतिष्ठा हो गयी।

हमारे स्थूल शरीरमें अन्नदोष, प्रमाद इत्यादिके कारण त्रता बनी रहती है। अतः संस्कारोंद्वारा शरीरको शुद्ध भगवान्‌का भजन करना चाहिये। प्रेम, भक्ति एवं पूर्ण के साथ पुकार करनी चाहिये—

गति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(रा०च०मा० ७।४९।६)

यह वसिष्ठजीका अमृतवचन है। इन्द्रियाँ भगवान्‌की न्मुख हों, इसका सुन्दर वर्णन शास्त्रोंमें है। श्रीमद्भागवत ।१०।३८)-में जड़तासे मुक्त होनेपर यमलार्जुनने न् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

अर्थात् हे भगवन्! वाणी आपके गुणानुवादमें, श्रवण के कथाश्रवणमें, हाथ आपकी सेवामें, मन चरणकमलोंके ामें, सिर आपके निवासभूत सारे जगत्‌को प्रणाम में तथा नेत्र आपके चैतन्य-विग्रह—संतजनोंके दर्शनमें रहें, यही मेरी अभिलाषा है।

एक बार ब्रह्माजीके पास देव, दनुज एवं मानव शिक्षाहेतु उपस्थित हुए। ब्रह्माजीने एक अक्षर 'द' से सबको शिक्षा दी। फिर पूछा—क्या, समझ गये? सबने कहा—हाँ प्रभो! हम समझ गये। देवताओंने कहा—हमें आपने दमका उपदेश दिया है, हम भोगोंसे विरत रहें। दानवोंने कहा—हमें आपने दयाकी शिक्षा दी है, हम हिंसासे विरत रहें। मनुष्योंने कहा—आपने हमें दान देते रहनेकी शिक्षा 'द' से दी है। अतः शास्त्रोंके संस्कारपूर्ण उपदेशोंको हृदयङ्गम करके हमें जीवनको सुखी बनाना चाहिये।

संस्कार मानव-जीवनके मूल हैं। संस्कारोंमें उच्चरित मन्त्रोंसे तरङ्गें—ध्वनियाँ उत्पन्न होनेसे हमारे शरीरके अवयव, कोष, चक्र, प्राण, वायु, अणु-परमाणु सब सक्रिय हो जाते हैं और हमारी सुप्त ऊर्जाशक्ति जाग्रत् होती है।

आज विज्ञान तरङ्गोंके प्रभावका विशेष अध्ययन कर रहा है। सत्सङ्गसे उत्तम प्रभाव तरङ्गोंके द्वारा ही सम्भव है। शुभ वाणीके प्रभावसे हम दूसरोंको कोई कार्य करनेके लिये उत्साहित कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताके माध्यमसे कर्मक्षेत्रमें उतारा, उन्हें निष्काम-कर्मकी शिक्षा दी और 'समत्वं योग उच्यते' की दिव्य भावना उनके हृदयमें भर दी। गीता, मानस आदि शास्त्रोंके अध्ययनसे हमारा धार्मिक संस्कार दृढ़ होता है। अविद्या, अज्ञान आदि दोष निर्मूल होते हैं, हम सात्त्विक गुणोंके महत्त्वको समझने लगते हैं। उनका आचरण जीवनभर करनेका प्रयास करते हैं। सात्त्विक पथपर चलनेसे जीवन ज्योतिष्मान् बनता है। संस्कारी साधुपुरुषकी विद्या ज्ञानके लिये, धन दानके लिये और शक्ति परोपकारके लिये होती है। संस्कार शोभन कर्मोंके द्वारा हमारे स्वभावको निर्मल बनाकर हमें ऊर्ध्वगामी बनाते हैं और विकृति जीवनस्तरको निम्नगामी बनाकर नरककी ओर ले जाती है। अतः संस्कारोंके द्वारा जीवनमें आनन्दरस, सत्य एवं सौन्दर्यकी अनुभूति करें, जीवन सफल बनावें, यशके भागी बनें और संस्कारसम्पन्न सनातनधर्म एवं संस्कृतिकी रक्षा करें।

वे ऐसे कार्यक्रम न देखें, जिनमें अनावश्यक मार-काट और विलासिताका प्रदर्शन हो।

खान-पानमें सुधार—आज कोला, पेप्सी, पिज्जा, बर्गर-जैसे बासी खाद्य ही खानेमें माताएँ और साथ-साथ उनके बच्चे भी अपनी शान समझते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश घरोंमें कई बार घरके सादे भोजनको जो एक तरफ तो स्वास्थ्यवर्धक एवं लाभदायक है और दूसरी ओर सस्ता भी है, उसे छोड़कर येन-केन-प्रकारेण कोला आदि बासी पानी पीने अथवा बासी खाना खानेमें ही वे अधिक रुचि लेते हैं। इससे बच्चेके स्वास्थ्यपर भी कुप्रभाव पड़ता है। इसलिये माताओंको चाहिये कि वे पौष्टिक एवं सात्त्विक खान-पानमें स्वयं रुचि लें और बच्चोंको भी रुचि लेनेको कहें।

व्यायाम और योगशिक्षा—माताओंके लिये अति आवश्यक है कि वे स्वयं प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व उठें और अपने बच्चोंको भी उठाएँ। जहाँतक सम्भव हो, उन्हें प्रातःकाल खुली हवामें घूमनेके लिये प्रोत्साहित करें। इसलिये माताएँ खुद भी योग सीखें और बच्चोंको भी सिखाएँ। आवासीय कॉलोनियोंमें जगह-जगह योगके केन्द्र बने हुए हैं, जिनसे माताएँ योगासन, प्राणायाम आदि सीख सकती हैं और अपने बच्चोंको भी सिखाकर उनके आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यमें बढ़ोत्तरी कर सकती हैं। [संस्कार-सौरभ]

~~~ o ~~~

संस्कार एवं संस्कृति

(डॉ० श्रीओ३म् प्रकाशजी द्विवेदी)

वैदिक ऋषियोंद्वारा प्रतिष्ठित संस्कार मानव-जीवनके अलङ्कार हैं। पवित्र संस्कारोंके आचरणसे हम श्रेष्ठत्वको प्राप्त होते हैं। संस्कार हमारे शरीर, मन, बुद्धि एवं चित्तपर पड़े मलको स्वच्छकर हमारे हृदयमें शुभ्रता एवं दिव्यताका प्रवेश कराते हैं। जिस प्रकार चित्रको अनेक रंगोंसे चमका दिया जाता है, उसी प्रकार वैदिक विधिद्वारा किये गये संस्कारोंसे हमारे भीतर एवं बाहर देवत्व चमकने लगता है, जिससे लोकमें सुयश और परलोकमें सद्गतिकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यका स्वभाव दो प्रकारका होता है—१-दैवीस्वभाव तथा २-आसुरीस्वभाव। दैवीसंस्कार-सम्पन्न जनोंके शील एवं सदाचारसे समाजकी रक्षा होती है, किंतु कुसंस्कारोंमें लिप्त व्यक्ति समाजके विनाशक होते हैं। अतः शास्त्रोंका अमृतमय उपदेश है—'रामादिवद् वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्।'

भगवान् श्रीरामके संस्कारोंका वर्णन श्रीरामचरितमानस (१।२०४।३-४)-में बड़े मनोरम ढंगसे किया गया है—

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥

विद्यार्थीके लिये गुरुजनोंकी सेवा, विद्याध्ययन, सद्गुणोंका सञ्चय तथा सात्त्विक गुणोंका पालन अनिवार्य दैनिकचर्या होती रही है। विद्या पूर्ण होनेपर समावर्तन-संस्कार सम्पन्न होता है। गुरुजन आशीर्वाद एवं शिक्षा देकर गुरुकुलसे विदाई करते हैं। समावर्तन-संस्कारके समय दी गयी शिक्षाको बालक जीवनभर स्मरण करता है तथा तदनुसार आचरण करता है। गुरु स्नातकको उपदेश देते हैं—'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। ""मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।' इत्यादि (तैत्ति०उप०)। शिक्षा-दीक्षा पूर्ण होनेके अनन्तर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेशके लिये उसका विवाह-संस्कार सम्पन्न होता है।

इस प्रकार सभी संस्कार नये-नये कर्तव्योंके लिये दीक्षास्वरूप हैं। इन प्रक्रियाओंके द्वारा मनुष्यमें नयी-नयी शक्तियोंकी उद्भावनाएँ की जाती हैं।

संस्कार हमारे हृदयको विशाल बनाकर हमें चरित्रवान् बनाते हैं तथा अन्तः एवं बाह्य सौन्दर्यको बढ़ाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इन्हें अन्तर्मुखी बनाकर शुद्ध करना संस्कारोंका मुख्य प्रयोजन है।

भगवान् शिवने पार्वतीजीको इन्द्रियोंको वशमें करनेका वर्णन बड़े सुन्दर ढंगसे किया है—

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥
~~~

जिन्ह हरिभगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥

(रा०च०मा० १।११३।२—५)

इन्द्रियोंको शुद्ध एवं अन्तर्मुखी करनेके उपायके रूपमें श्रीवाल्मीकिजीने श्रीरामचन्द्रजीको १४ स्थान उनके निवासहेतु बताये हैं, जिनका दिव्य-मनोहारी वर्णन श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्ड (१२९।३—६)-में द्रष्टव्य है। इस प्रकरणके अध्ययन-मननसे भगवत्प्रेमकी जागृति हो सकती है और इन्द्रियनिग्रह भी सहज ही सध सकता है—

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय बिसेषी॥
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥

यह प्रसङ्ग नित्य स्मरणीय एवं आचरणीय है। यदि ये संस्कार अन्त:करणमें स्थित हो गये तो समझना चाहिये कि समग्ररूपसे संस्कारोंकी प्रतिष्ठा हो गयी।

हमारे स्थूल शरीरमें अन्नदोष, प्रमाद इत्यादिके कारण अपवित्रता बनी रहती है। अत: संस्कारोंद्वारा शरीरको शुद्ध करके भगवान्‌का भजन करना चाहिये। प्रेम, भक्ति एवं पूर्ण निष्ठाके साथ पुकार करनी चाहिये—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(रा०च०मा० ७।४९।६)

यह वसिष्ठजीका अमृतवचन है। इन्द्रियाँ भगवान्‌की ओर उन्मुख हों, इसका सुन्दर वर्णन शास्त्रोंमें है। श्रीमद्भागवत (१०।१०।३८)-में जड़तासे मुक्त होनेपर यमलार्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

अर्थात् हे भगवन्! वाणी आपके गुणानुवादमें, श्रवण आपके कथाश्रवणमें, हाथ आपकी सेवामें, मन चरणकमलोंके स्मरणमें, सिर आपके निवासभूत सारे जगत्‌को प्रणाम करनेमें तथा नेत्र आपके चैतन्य-विग्रह—संतजनोंके दर्शनमें लगे रहें, यही मेरी अभिलाषा है।

शास्त्रोंके अनुशीलनसे हमारे संस्कार दृढ़ होते हैं। एक बार ब्रह्माजीके पास देव, दनुज एवं मानव शिक्षाहेतु उपस्थित हुए। ब्रह्माजीने एक अक्षर 'द'-से सबको शिक्षा दी। फिर पूछा—क्या, समझ गये? सबने कहा—हाँ प्रभो! हम समझ गये। देवताओंने कहा—हमें आपने दमका उपदेश दिया है, हम भोगोंसे विरत रहें। दानवोंने कहा—हमें आपने दयाकी शिक्षा दी है, हम हिंसासे विरत रहें। मनुष्योंने कहा—आपने हमें दान देते रहनेकी शिक्षा 'द' से दी है। अत: शास्त्रोंके संस्कारपूर्ण उपदेशोंको हृदयङ्गम करके हमें जीवनको सुखी बनाना चाहिये।

संस्कार मानव-जीवनके मूल हैं। संस्कारोंमें उच्चरित मन्त्रोंसे तरङ्गें—ध्वनियाँ उत्पन्न होनेसे हमारे शरीरके अवयव, कोष, चक्र, प्राण, वायु, अणु-परमाणु सब सक्रिय हो जाते हैं और हमारी सुप्त ऊर्जाशक्ति जाग्रत् होती है।

आज विज्ञान तरङ्गोंके प्रभावका विशेष अध्ययन कर रहा है। सत्सङ्गसे उत्तम प्रभाव तरङ्गोंके द्वारा ही सम्भव है। शुभ वाणीके प्रभावसे हम दूसरोंको कोई कार्य करनेके लिये उत्साहित कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताके माध्यमसे कर्मक्षेत्रमें उतारा, उन्हें निष्काम-कर्मकी शिक्षा दी और 'समत्वं योग उच्यते' की दिव्य भावना उनके हृदयमें भर दी। गीता, मानस आदि शास्त्रोंके अध्ययनसे हमारा धार्मिक संस्कार दृढ़ होता है। अविद्या, अज्ञान आदि दोष निर्मूल होते हैं, हम सात्त्विक गुणोंके महत्त्वको समझने लगते हैं। उनका आचरण जीवनभर करनेका प्रयास करते हैं। सात्त्विक पथपर चलनेसे जीवन ज्योतिष्मान् बनता है। संस्कारी साधुपुरुषकी विद्या ज्ञानके लिये, धन दानके लिये और शक्ति परोपकारके लिये होती है। संस्कार शोभन कर्मोंके द्वारा हमारे स्वभावको निर्मल बनाकर हमें ऊर्ध्वगामी बनाते हैं और विकृति जीवनस्तरको निम्नगामी बनाकर नरककी ओर ले जाती है। अत: संस्कारोंके द्वारा जीवनमें आनन्दरस, सत्य एवं सौन्दर्यकी अनुभूति करें, जीवन सफल बनावें, यशके भागी बनें और संस्कारसम्पन्न सनातनधर्म एवं संस्कृतिकी रक्षा करें।

गृहस्थधर्म और संस्कार

(श्रीरणवीरसिंहजी कुशवाह)

हिन्दूसंस्कृति बहुत विलक्षण है। इसके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक हैं और सभी सिद्धान्तोंका एकमात्र उद्देश्य है मनुष्यका कल्याण करना। मानवका कल्याण सुगमता एवं शीघ्रतासे कैसे हो—इसके लिये जितना गम्भीर विचार और चिन्तन भारतीय संस्कृतिमें किया गया है, उतना अन्य किसी धर्म या सम्प्रदायमें नहीं।

जन्मसे मृत्युपर्यन्त मानव जिन-जिन वस्तुओंके सम्पर्कमें आता है और जो-जो क्रियाएँ करता है, उन सबको हमारे देवतुल्य मनीषियोंने बड़े ही वैज्ञानिक ढंगसे सुनियोजित, मर्यादित एवं सुसंस्कृत किया है, ताकि सभी मनुष्य परम श्रेयकी प्राप्ति कर सकें।

मानव-जीवनमें संस्कारका बड़ा महत्त्व है। संस्कारसम्पन्न संतान ही गृहस्थाश्रमकी सफलता और समृद्धिका रहस्य है। प्रत्येक गृहस्थ अर्थात् माता-पिताका परम कर्तव्य बनता है कि वे अपने बालकोंको नैतिक बनायें और कुसंस्कारोंसे बचाकर बचपनसे ही उनमें अच्छे आदर्श तथा संस्कारोंका ही बीजारोपण करें। घर ही संस्कारोंकी जन्मस्थली है। अतः संस्कारित करनेका कार्य अपने घरसे ही प्रारम्भ करना चाहिये; क्योंकि संस्कारोंका प्रवाह सदैव बड़ोंसे छोटोंकी ओर उसी प्रकार होता है, जैसे पानीका वेग सदैव नीचेकी ओर ही होता है।

संस्कार क्या हैं—इस शब्दको जनसाधारणकी भाषामें समझनेके लिये यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिमें विद्यमान अनुशासन, संयमित आचरण, व्यवहार, सद्गुण, धैर्य और धर्मयुक्त आचार-विचार ही संस्कार हैं। मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन आचार-विचारमय होता है। इसलिये संस्कृतिके क्षेत्रमें मानव-जीवनके समस्त क्षेत्र आ जाते हैं। प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें शास्त्रके अनुसार आचरण करना ही संस्कृति है।

गृहस्थाश्रममें पति, पत्नी, पिता-पुत्र, ज्येष्ठ भ्राता, लघु भ्राता, बहन आदिका परस्पर आदर्श व्यवहार और स्नेह बिना सुसंस्कृत हुए सम्पन्न नहीं हो सकता। पत्नीके लिये पातिव्रतधर्म, सतीत्वकी श्रेष्ठता और पतिके लिये पत्नीका साक्षात् गृहलक्ष्मीरूप तथा पुत्रके लिये **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'** का पवित्र सदुपदेश आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनसे अन्य संस्कृतियोंके सामने हमारा चरित्र तथा अध्यात्म सदैव उन्नत रहा है।

आज अर्थप्रधानताकी बाढ़में माता-पिताका यह विशेष दायित्व बन जाता है कि वे स्वयंको योग्य तथा सुसंस्कृत बनायें और उद्देश्यहीन शिक्षापद्धतिसे अपने बालकोंको बचाकर उनका उचित मार्गदर्शन करें।

बालक उपदेशकी अपेक्षा अनुकरणसे विशेष प्रभावित होते हैं और वैसा ही सीखते हैं। बालकको प्रथम गुरु माता होती है, जिसके द्वारा आदर, स्नेह, अनुशासन-जैसे गुणोंकी शिक्षा सहज ही दी जा सकती है। घरसे लेकर पाठशालाके अध्यापक अर्थात् माता-पिता, दादा-दादी यदि संस्कारी होंगे, तभी बालकोंके लिये आदर्श उपस्थित होगा और बालक नैतिक, सदाचारी, धार्मिक प्रवृत्तिवाले तथा सुसंस्कारी बन सकेंगे, परंतु आजके परिवेशमें माता-पिता स्वयंको इतना व्यस्त समझते हैं कि धैर्यपूर्वक सुसंस्कारोंकी शिक्षाके लिये उन्हें समय ही नहीं है या यह कहना उचित होगा कि इस विषयपर बालकोंकी उपेक्षा हो रही है।

आज बालकोंमें हिंसा तथा व्यभिचारकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस विषयपर विचार करनेकी विशेष आवश्यकता है। इसकी उपेक्षासे संस्कारोंका चिन्तन नहीं हो रहा है। युवावर्ग परिश्रम और धैर्यसे दूर हो रहा है। समाजमें सात्त्विक प्रवृत्तियोंका दमन किया जा रहा है, जिससे नैतिक मूल्यों और नैतिकतापरसे विश्वास उठता जा रहा है। मर्यादा और अनुशासनका लोप होकर हृदय एवं मस्तिष्क संकुचित तथा कुण्ठाग्रस्त हो गये हैं।

अन्तःकरणकी शक्तिको पहचाननेके लिये आवश्यक ज्ञानकी उपेक्षा हो रही है और हम पाश्चात्त्य संस्कृतिकी ओर बढ़ रहे हैं। सादगीका अभाव तथा नशेकी प्रवृत्तिके दास बन रहे हैं। इस चुनौतीपूर्ण परिप्रेक्ष्यमें सुसंस्कारोंका प्रत्यारोपण कठिन कार्य अवश्य है, परंतु असम्भव नहीं।

बालक अपने पूर्वके जन्म-जन्मान्तरोंसे सञ्चित संस्कार लेकर पैदा होता है। यहाँ अपने माता-पिताकी वंशपरम्परा एवं वातावरणसे भी संस्कार प्राप्त करता है। ये संस्कार अच्छे या बुरे—दोनों प्रकारके हो सकते हैं; क्योंकि संस्कारोंपर विशेष प्रभाव वातावरणका पड़ता है। ऐसा भी प्रायः देखनेमें आता है कि अच्छे संस्कार लेकर पैदा

होनेवाला बालक भी परिवार और वातावरणके प्रभावसे विकारग्रस्त हो जा रहा है। साथ ही उसका आध्यात्मिक पतन भी हो रहा है। यदि सभी लोग संस्कारोंके अनुरूप गृहस्थाश्रममें रहते हुए अपने कर्तव्य-कर्मोंका उचितरूपसे पालन करें तो निश्चय ही समाज, देश एवं मानवजातिका कल्याण अवश्य होगा; इसमें संदेह नहीं।

वृद्धपूजा हमारी संस्कृतिकी एक बड़ी विशेषता रही है। हमारी संस्कृतिमें पहलेसे ही गृहस्थधर्ममें चला आ रहा है कि प्रात: उठते ही शय्यात्याग करनेके बाद प्रत्येक बालक-बालिकाको अपने परिवारके बड़ों, वृद्धोंका अभिवादन करना चाहिये और यथासमय उनकी सेवा करनी चाहिये।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन:।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

महाराज मनुद्वारा उपर्युक्त श्लोकमें दर्शाया गया है कि इससे चार लाभ बिना मूल्यके ही मिल जाते हैं—आयु, विद्या, यश और शक्ति।

यह हमारे सद्विचार और संस्कारका ही सिद्धान्त है जो अन्य किसी धर्म तथा संस्कृतिमें नहीं मिलता। भारतीय संस्कृतिमें कर्तव्यपरायणता, व्यक्तित्वविकास, सहिष्णुता, उदारता आदिकी कमी नहीं, आवश्यकता है तो बस, थोड़ेसे समन्वयकी। सात्त्विक गुण, सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन एवं सुसङ्गति—ये उचित मार्ग-दर्शनमें पूर्ण सहयोगी हैं। अत: हमें इन्हें अपने जीवनमें उतारना चाहिये।
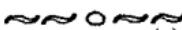
प्रत्येक घरमें दादा-दादी या माता-पिता आध्यात्मिक एवं नैतिकतासे ओत-प्रोत कहानियां, गीता, रामायण तथा महाभारत-जैसे ग्रन्थों और महापुरुषोंके जीवनचरित्रोंसे सम्बन्धित वार्तालाप करें। इन सबके माध्यमसे संस्कारके कई ऐसे सूत्र मिल जाते हैं, जो परिवारकी जीवन-धाराको बदलनेमें सक्षम होते हैं। बड़ोंके सांनिध्यद्वारा बालक उनके अनुभवोंसे लाभान्वित होते हैं।

माता-पिताद्वारा घरमें ध्यान देनेयोग्य कुछ बातें—बड़ोंका आचरण मर्यादित हो। व्यवहार सरल, नम्र, मृदु तथा सद्गुणोंसे पूर्ण हो। उन्हें यह चाहिये कि वे अपने बच्चोंको केवल भौतिक सुख-सुविधा नहीं, अपितु प्रेम, स्नेह, विश्वास, सकारात्मक भावना तथा सुसंस्कृत वातावरण प्रदान करें। इस प्रकार प्रत्येक माता-पिताको यह सङ्कल्प लेना चाहिये कि वे अपनी संतानोंमें ऐसे संस्कारोंका समावेश करें, जो उनके सर्वाङ्गीण अभ्युदयमें सहयोगी हों। भावी पीढ़ीको मान-मर्यादा, मन, कर्म, वचनसे सशक्त एवं प्रभावी बनानेके लिये उनमें भक्ति, शक्ति और युक्तिका सञ्चार करायें और दूसरोंको भी प्रेरणा दें। इसमें प्रत्येक व्यक्तिकी सहभागिता आवश्यक है।

हम दूसरे लोगोंसे अपने प्रति जैसे व्यवहारकी अपेक्षा करते हैं, ठीक वैसा ही व्यवहार हमें भी उनके प्रति करना चाहिये। यही धर्म है एवं संस्कारयुक्त जीवनशैलीका मूलभूत आधार है।

संस्कार जीवनमें मर्यादा ही नहीं, आनन्दकी अभिवृद्धि भी करते हैं तथा अमर्यादित जीवनशैलीको त्यागनेका मार्ग प्रशस्त करते हैं—यह हमारे शास्त्रोंका सार है। आचार-विचार, सदाचारकी ऐसी शिक्षा अन्यत्र कहाँ मिलेगी? इस विषयपर गहन विचारकी आवश्यकता है। हमें यह प्रयत्न करना होगा कि हम अपनी भारतीय संस्कृतिको युगों-युगोंतक स्थायित्व प्रदान कर सकें।
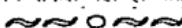
सूक्ति-सुधा

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च। तान् सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥
असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात्। धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥

(महा०, वन० १।२६; १२।८)

जिनके विद्या, कुल और कर्म—ये तीनों शुद्ध हों, उन साधु पुरुषोंकी सेवामें रहे। उनके साथ बैठना, उठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठ है। दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य किसी कार्यमें सफल नहीं हो पाते।

पश्चिमी अन्धानुकरणके दुष्परिणाम

(डॉ० श्रीमती मधुजी पोद्दार)

भारत एक धर्मप्रधान देश है। यहाँ धर्मका अर्थ किसी मत, पन्थ या सम्प्रदायसे नहीं है। धर्मका अर्थ है जो धारण करनेयोग्य है, जिसे धारण किया जा सके, जिसे धारण करनेसे समाज संगठित होकर सुचारुरूपसे चल सके—**'धारणाद् धर्ममित्याहुः'**। शास्त्रोंमें धर्मके दस लक्षण कहे गये हैं; जैसे—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

इन सामान्य धर्मोके अतिरिक्त वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी विशेष धर्म दूसरे हैं।

प्राचीन कालसे ही भारतीय जीवनपद्धति धर्मके इन्हीं लक्षणोंपर आधारित रही है तथा यही धर्म मानवको पशुसे अलग करता है। धर्मविहीन मानवको पशुके समान माना गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

धर्मसे ही किसी देशकी सभ्यता तथा संस्कृतिका विकास होता है और उस देशकी पहचान वहाँकी संस्कृतिसे होती है। सभ्यताका अर्थ है भौतिक विकास, जबकि संस्कृतिका अर्थ है उस देशमें रहनेवाले लोगोंकी आध्यात्मिक सोच, चिन्तन, मान्यताएँ, परम्पराएँ एवं संस्कार और उन संस्कारोंपर आधारित जीवनशैली। पश्चिमी देशोंकी संस्कृति भोगयुक्त एवं भौतिकताप्रधान रही है, जबकि भारतकी संस्कृति वैराग्य, त्याग एवं आध्यात्मिकताप्रधान है। भारतीय चिन्तनमें आत्मिक अभ्युदयको विशेष महत्त्व दिया गया है। भारतीय संस्कृति आदिकालसे ही वैदिक ज्ञानपर आधारित रही है, जिसमें स्वके बारेमें न सोचकर पूरी मानवजातिके कल्याणके बारेमें सोचा गया है—पूरी धरतीको एक कुटुम्ब माना गया है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'। शरीरको नाशवान् एवं आत्माको अमर माना गया है। भारतीय चिन्तनके अनुसार शरीरको भोगोंसे अस्थायी सुख मिलता है, जबकि अध्यात्मसे स्थायी शान्ति। वेदोंपर आधारित इस चिन्तनमें शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये आयुर्वेद और योगासनको अपनाया गया तो मानसिक विकासके लिये प्राणायाम, ध्यान, तप, समाधि एवं भक्तिको। माता-पिता, गुरु तथा अतिथिको देवरूप समझकर पूज्य माना गया है, प्रकृतिके विभिन्न रूपों जैसे—नदियों, पर्वतों एवं वृक्षोंमें देवत्वकी प्रतिष्ठा की गयी है। गौ इत्यादि भी पूज्य हैं। मानव 'सादा जीवन उच्च विचार'के सिद्धान्तसे अनुप्राणित था। शासन भी धर्मपर आधारित रहा। इसी वजहसे भारत सदासे विश्वगुरु रहा और भारतकी संस्कृति सदियोंसे अमिट रही। पर यह हमारा दुर्भाग्य है, आज जब विश्वके अनेक देशोंमें भारतीय दर्शन, चिन्तन, संस्कृति, वेद, ज्ञान, आयुर्वेद तथा योग इत्यादिको अपनाया जा रहा है, भारतमें इसे काल्पनिक, असत्य, अवैज्ञानिक तथा रूढ़िवादी कहकर तिरस्कृत किया जा रहा है। यह एक अजीब विडम्बना है कि आज भारतमें भौतिकताप्रधान पश्चिमी जीवन-शैलीका अन्धानुकरण हो रहा है एवं प्राचीन भारतीय ज्ञानपर पश्चिमकी मोहर लगनेके बाद उसे सत्य, वैज्ञानिक तथा आधुनिक कहकर गर्वके साथ अनुसरण किया जा रहा है। योगसे योगा, आयुर्वेदसे आयुर्वेदा होनेपर हम उसे सही मान रहे हैं। यह हमारी वैचारिक दुर्बलता ही है।

आज अपनी भारतीय संस्कृतिकी अवहेलना, संस्कारोंकी उपेक्षा एवं पश्चिमी जीवनशैलीके अन्धानुकरणसे समाजमें अनेक दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। जैसे कि आहारप्रणालीमें बदलावसे अनेक बीमारियाँ, शिक्षापद्धतिमें बदलावसे अनेक मानसिक कुरीतियाँ और पाश्चात्त्य रहन-सहनसे अनेक सामाजिक कुरीतियाँ उत्पन्न हो गयी हैं।

सर्वप्रथम अगर हम अपनी आहारप्रणालीमें बदलाव तथा उससे उत्पन्न समस्याओंपर विचार करें, तो पाते हैं

कि प्राचीन कालमें जब हम वैदिक संस्कृति एवं अपनी शारीरिक संरचना जो शाकाहारके अनुकूल है, उसके आधारपर दूध, घी, तेल, दाल, अनाज, सब्जी, फल इत्यादिका सन्तुलित शाकाहारी भोजन लेते थे तो स्वस्थ और दीर्घायु होते थे, परंतु जैसे-जैसे मानवने तथाकथित वैज्ञानिक दुष्प्रचारोंके आधारपर पश्चिमका अन्धानुकरण करके मांसाहार लेना शुरू किया, वह अनेक रोगोंसे ग्रस्त हो गया।

पश्चिमी देशोंने शाकाहारको कुपोषणका कारण बताकर, मांसाहारको सस्ता तथा पौष्टिक भोजन कहकर प्रचारित किया, जिसे आधुनिकताके नामपर अधिक-से-अधिक लोग अपनाने लगे। जबकि शोधोंद्वारा भी यह प्रमाणित हो गया है कि मांसाहार न तो सस्ता है और न ही पौष्टिक, बल्कि इसमें पाये जानेवाले तत्त्वोंसे हृदयरोग, डायबिटीज, उच्च रक्तचाप, पथरी, विभिन्न प्रकारके कैंसरसहित १६० बीमारियोंकी सम्भावना बढ़ जाती है।

इसी तरह पश्चिमी देशोंने मीडियाकी मददसे हमारे परम्परागत भोजनको वसायुक्त एवं हानिकारक तथा पिज्जा, बर्गर एवं डिब्बा-बंद भोजनको आधुनिक तथा पौष्टिक बताकर प्रचारित कर दिया, जिससे हमारे देशमें फास्टफूड संस्कृतिको बढ़ावा मिला। आज उसके दुष्परिणाम स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं; क्योंकि इसी फास्टफूडकी वजहसे लोगोंमें बचपनसे ही मोटापा बढ़ रहा है, जो डायबिटीज, उच्च रक्तचाप तथा हृदयरोग-जैसी घातक बीमारियोंके लिये जिम्मेदार है। साथ ही यह एनीमिया तथा कुपोषण भी बढ़ा रहा है। आज हम इन्हीं विदेशी कम्पनियोंके मायाजालसे प्रभावित होकर अपने परम्परागत पेय पदार्थों (लस्सी, शरबत इत्यादि)-को छोड़कर पेप्सी, कोक और मिनरल वाटर इत्यादिका प्रयोग कर रहे हैं, जिससे रोगप्रतिरोधक क्षमता कम हो ही रही है, साथ ही आँतों तथा हड्डियोंकी बीमारियाँ, दमा और एसिडिटी-जैसी बीमारियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। विभिन्न शोधोंने यह साबित कर दिया है कि पेप्सी एवं कोक आदिमें इतना अधिक एसिड है, जिसमें हड्डीतक घुल सकती है तो फिर आमाशय और आँतोंका तो कहना ही क्या!

पश्चिमी अन्धानुकरण और आधुनिकीकरणके नामपर शराबकी बढ़ी प्रवृत्तिने पेट, आमाशय, मूत्राशय इत्यादिके अल्सर एवं कैंसर-जैसे रोगोंमें बढ़ोत्तरीके साथ दुर्घटनाओं एवं उससे उत्पन्न विकलाङ्गताकी घटनाओंमें भी वृद्धि कर दी है।

भोजनमें आये बदलावसे उत्पन्न विभिन्न दुष्प्रभावोंके बाद अगर हम अपनी जीवनशैली तथा रहन-सहन और दिनचर्यामें आये बदलावपर नजर डालते हैं तो उससे उत्पन्न समस्याएँ भी स्पष्ट हो रही हैं। अपनी प्राचीन संस्कृतिके आधारपर हम प्रातः सूर्योदयसे पहले उठकर शौच तथा स्नानसे निवृत्त होकर सन्ध्या-वन्दन इत्यादिके अनन्तर प्रातः-भ्रमणपर जाते थे, प्राणायाम और योगासन करके अपने शरीर तथा मनको स्वस्थ एवं शान्त रखते थे, भोजन स्वच्छ रसोईमें शान्तचित्तसे आसनपर बैठकर ग्रहण करते थे, रोजकी दिनचर्याको ईमानदारी, सचाई इत्यादिके आधारपर चलाते थे और हमारा पहनावा हमारे देशकी संस्कृति तथा पर्यावरणके अनुकूल होता था, हमारी शिक्षा गुरुकुलमें वैदिक ज्ञानके आधारपर होती थी, हमारे पर्व और उत्सव एकता एवं भाई-चारेके संदेशके साथ पारम्परिक रूपसे मनाये जाते थे, परंतु आज पश्चिमकी भौतिकतावादी संस्कृतिके वशीभूत होकर आधुनिकताकी अन्धी दौड़में हम अपनी प्राचीन संस्कृति तथा परम्पराओंकी राहसे भटककर एवं पश्चिमी दुष्प्रचारसे प्रभावित होकर अपनी जीवनशैलीमें बदलाव करके विभिन्न समस्याओंको आमन्त्रित कर रहे हैं।

आज हमारे पर्वों और उत्सवों एवं संस्कारोंमें बाजारीकरण हावी हो गया है और पश्चिमी त्योहार, जैसे कि वैलेंटाइन डे, मदर्स डे इत्यादिको बड़े धूमधामसे मनाया जा रहा है। पहले तो बच्चेके जन्मके समय प्रसवके बाद महिला तथा बालकको अलग कमरेमें रखा जाता था, जिससे आनेवाले लोगोंकी वजहसे बच्चेको कोई बीमारी न लगे, जबकि आज आगन्तुक आते ही बच्चेको चूमते हैं, जिससे नवजात शिशु ज्यादा बीमार होते हैं और पैदा होनेके बाद

दवाइयोंपर निर्भर हो जाते हैं। पहले जन्मदिनपर माता-पिता दीपक जलाकर, भगवान्‌की पूजाकर बच्चेको आशीर्वाद देते थे, पर अब पश्चिमी संस्कृतिकी नकल करके केक काटते हैं तथा दीया जलानेके स्थानपर मोमबत्ती बुझाते हैं।

शिक्षापद्धतिमें आये बदलावसे तो अनेक सामाजिक समस्याएँ पैदा हो रही हैं। पहले गुरुकुलमें विभिन्न वर्गोंके बालकोंको एक रूपसे—एक परिवारकी भाँति, वर्णाश्रमव्यवस्थाके अनुसार वैदिक शिक्षा दी जाती थी। जबकि आज मैकाले-शिक्षापद्धतिने ऐसे संस्कार पैदा कर दिये हैं, जो अपनी भारतीय संस्कृति, वेदों, पुराणों इत्यादिको रूढ़िवादी, काल्पनिक तथा अवैज्ञानिक कहकर तिरस्कृत कर रहे हैं। आजकी शिक्षासे बेरोजगारी बढ़ रही है, सहनशीलता कम हो रही है। संयुक्त परिवारकी जगह एकल परिवारकी प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिससे बच्चे रिश्तों तथा सम्बन्धोंकी अहमियतको भूल रहे हैं, उनमें स्वार्थ, अकेले रहनेकी आदत, चिड़चिड़ापन एवं अवसाद-जैसी समस्याएँ बढ़ रही हैं। आजके बच्चे रिश्तोंको भी धनके तराजूपर तौलते हैं एवं बूढ़े माँ-बाप या रिश्तेदारोंको बोझ समझने लगे हैं। इसीलिये आज *समाजमें धनको सर्वोपरि मानते हुए बेईमानी तथा भ्रष्टाचार* बढ़ रहा है, चारित्रिक पतन हो रहा है। हिंसा, बलात्कार, अपहरण इत्यादिकी घटनाएँ बढ़ रही हैं। पहले चरित्रको धन तथा स्वास्थ्यसे ऊपर स्थान दिया जाता था, जबकि आजकी सोच और मानसिकतामें चरित्र नामकी कोई वस्तु नहीं रह गयी है। इन सब बातोंपर बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है। हमें अपनी संस्कार-सम्पन्न गौरवमयी सुदीर्घ परम्पराको समझना होगा और तदनुकूल आचरण करके पुनः विश्वके सामने एक उच्च आदर्श प्रस्तुत करना होगा।

~~o~~

संस्कार, सदाचार और सद्वृत्त

(श्रीरामेश्वरजी तिवारी)

हमारे ऋषि-मुनि इस चेतना-जगत्‌के विलक्षण अनुसंधानकर्ता थे, उन्होंने जन्मके पूर्वसे लेकर मरणोत्तरकाल-पर्यन्त जीवनको संस्कारोंकी विज्ञानसम्मत प्रक्रियाके साथ इस प्रकार एकरूपतासे जोड़ दिया कि जीवनयात्रामें निरन्तर परिशोधन और प्रगति हो, किसीका भी अनिष्ट न हो, आत्मसत्ता कषायमुक्त होकर मोक्षको प्राप्त हो एवं संस्कारोंसे भरा यह ऋषिजीवन हमारी संस्कृतिका मेरुदण्ड बना रहे।

मानवको पुरुषार्थपरायण बनानेवाला यह ऋषिजीवन संस्कृतिका प्राण है एवं मानवमात्रके लिये प्रेरणाका अनन्त स्रोत है। हमारे ऋषि जो पूर्ण संस्कारी पुरुष थे, जिन्हें हमारे वेदोंने 'अमृतपुत्र' कहकर सम्मानित किया है, उन्होंने सृष्टिके सूक्ष्म-स्थूल पदार्थ; जैसे—पञ्चतत्त्व, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदिके विषयमें विचार करते हुए पाप-पुण्य, धर्म-कर्म, जीवात्मा-परमात्मा आदितक पहुँचकर इन्हीं भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियोंको सामाजिक जीवनके उपयुक्त बनानेकी कलाको संस्कार-संस्कृति नाम दिया अर्थात् भौतिक अथवा लौकिक उन्नतिकी अवहेलना न कर जीवनको सुखी-सम्पन्न बनानेका मार्ग बड़ी स्पष्टतासे समझाया है, पर अन्तिम लक्ष्य सदैव आध्यात्मिक उन्नतिको ही समझा है या यूँ कहना उचित होगा कि विज्ञानके नियमोंको ही आध्यात्मिक धारासे जोड़कर मनुष्यको भौतिकवादके दोषोंसे बचाकर समस्त सांसारिक कार्योंको करते हुए आत्मकल्याणके ध्येयको भूलने नहीं दिया।

गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक जो संस्कार प्रचलित हैं, इनका मुख्य उद्देश्य यही है कि इनके द्वारा संस्कारित किये जानेवाले व्यक्तिपर, दर्शकोंपर कल्याणकारी प्रभाव पड़े। इन संस्कारोंके समय प्रयोग किये जानेवाले वैदिक मन्त्रोंमें एक प्रकारकी सूक्ष्म शक्ति पायी जाती है एवं प्राप्त होनेवाली शिक्षाएँ भी उच्चकोटिकी दी गयी हैं, जिससे लोगोंपर बहुत ही उत्तम मनोवैज्ञानिक प्रभाव

पड़ सकता है, किंतु उन्हें उनका आशय समझकर उपयुक्त ढंगसे सम्पन्न किया जाय। जिस समय समाजमें संस्कारोंका वास्तविक रूपसे प्रचार था एवं ऋषियोंद्वारा संस्कार विधानपूर्वक सम्पन्न किये जाते थे, उस कालमें ऐसे-ऐसे प्रतिभाशाली एवं अध्यात्मज्ञानसे सम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं, जिनका नाम तथा यश आज भी स्थिर है।

संस्कारोंका उद्देश्य व्यक्तिको तथा उसके द्वारा समाजको धर्मपरायण एवं कर्तव्यनिष्ठ बनाना है तथा ये ही दो बातें किसी भी मनुष्यको सुसंस्कृत या संस्कारी कहलानेका अधिकार देती हैं, इसलिये हमारी प्राचीन संस्कृतिके सभी आदर्श एवं विधि-विधान ऐसे रखे गये हैं कि उनके द्वारा मनुष्यकी भौतिक उन्नति होनेके साथ-साथ मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे भी उनका उत्थान हो, अतः इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि मानवके चरित्रनिर्माण एवं मनोभूमिको सुसंस्कृत तथा सद्वृत्तसम्पन्न बनानेके लिये ये संस्कार हमारे ऋषियोंकी महान् देन हैं।

महर्षि व्यासद्वारा निर्दिष्ट षोडश संस्कार— हिंदूधर्मका आधार ही अध्यात्मज्ञान एवं मनोविज्ञान है। प्रत्येक बात रहस्यात्मक गुप्त तथ्योंपर आधारित है। दैनिक आचार-विचार एवं परम्पराका विचार कर व्यासजीने जिन १६ संस्कारोंको मान्यता दी है, उनका प्रभाव गर्भाधानकालसे ही शिशुपर पड़ना प्रारम्भ हो जाता है। माता-पिताके अन्तरङ्ग विचार जैसे होंगे, वैसे ही विचार बालकमें भर जाते हैं। अतः शिशुके जन्मसे पूर्व ही यानी गर्भाधानसे ही संस्कारको सँभालनेकी ओर ध्यान दिया गया है। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक १६ संस्कार मन्त्रोंसहित करनेका विधान है।

ये संस्कार शाश्वत नियमोंके आधारपर रहनेसे इनके कालबाह्य होनेकी सम्भावना नहीं। इस प्रकार इन संस्कारोंके विधानसे जीवन संतुलित एवं संयमित रहता है। इन संस्कारोंमें वेदमन्त्रोंके उच्चारणद्वारा बालकके मनपर जो पवित्र भाव अङ्कित हो जाते हैं, उनके प्रभावसे वह सभ्य, सुसंस्कृत और सदाचार-सम्पन्न बन जाता है।

जिस प्रकार दीपककी बत्ती छोटी होनेपर भी बहुत प्रकाश देती है, वैसे ही संस्कार भी अपना अस्तित्व प्रकट करते हैं। इन सभी संस्कारोंको सम्पन्न करनेवाले यज्ञदेव भारतीय संस्कृतिके प्रतीकरूप हैं। जन्मसे लेकर अन्त्येष्टितक पूरे संस्कारोंमें हवन-कर्म आवश्यक है। प्राचीन समयमें घर-घरमें यज्ञ होते थे, जिनमें कपूरके साथ समिधाएँ—सूखी लकड़ियाँ (ताग, बबूल, उदुम्बर, नीम, अशोक, पीपल, पलाश, चन्दन, देवदारु, आम, तगर, जामुन आदि) एवं सूखा हुआ गायका गोबर—इनकी गायके घीके साथ आहुति देनेसे वायुशुद्धि, देवताओंके मन्त्रोंसे आत्मशुद्धि तथा यज्ञकी भस्म शरीरपर मलनेसे शरीरशुद्धि होती थी और देहका संस्कार भी हो जाता था। इसीलिये हमारी संस्कृतिमें गायत्रीको माता तथा यज्ञको पिता कहा गया है।

संस्कारोंमें यज्ञोपवीत-संस्कारका असाधारण महत्त्व है। यज्ञोपवीत-सूत्र धारण करनेका तात्पर्य है दायित्वोंको स्वीकारना। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर यह डोरोंका समूहमात्र है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर कर्तव्यों एवं दायित्वोंका हार है। दिव्य मन्त्रोंसे सम्पन्न सूत्रोंको माध्यम बनाकर हर समय कन्धेपर धारण करना अर्थात् अपने उत्तरदायित्वको स्मरण रखना है। उच्च भावनाओंके साथ वेदमन्त्रोंके माध्यमसे, अग्निदेवताकी साक्षीमें यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, जिससे मनुष्यके सुप्त मानसपर एक विशेष छाप पड़ती है कि यह सूत्र यज्ञमय एवं पवित्र है; इसलिये हमें सब प्रकारकी अपवित्रताओंसे बचना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य पवित्र जीवन व्यतीत करता है।

मानवकल्याणकी महान् परम्पराओंमें जितने भी आयोजन एवं अनुष्ठान हैं, उनमें सबसे बड़ी परम्परा संस्कारों एवं पर्वोंकी है। संस्कार तथा धर्मानुष्ठानोंद्वारा व्यक्ति एवं परिवारको और पर्व-त्योहारोंके माध्यमसे समाजको प्रशिक्षित किया जाता रहा है। हमारे संस्कारोंमें धर्मके अन्तर्गत उन सिद्धान्तोंको स्थान दिया गया है, जिनसे हमारा नैतिक एवं आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन भी उन्नत बनता है।

इस प्रकार संस्कारोंका मुख्य उद्देश्य है आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन-भावोंकी वृद्धि करना। अतः कोई भी संस्कार करानेके लिये समय एवं परिस्थितियोंके अनुरूप यज्ञ अथवा दीपयज्ञके साथ संस्कार कराये जाते हैं। प्रारम्भमें मङ्गलाचरण, स्वस्तिपाठ, भगवत्स्मरण, पञ्चाङ्गकर्म एवं रक्षासूत्र-बन्धनके साथ देवपूजन आदि कराये। तदुपरान्त संस्कारके विशेष कार्यको सम्पन्न कराये।

यदि हम अपनी इस ऋषि-परम्पराको बचाना चाहते हैं तो हमें अपने संस्कारोंमें घुसे हुए दोषोंको दूरकर पूरी श्रद्धासे इस परम्पराको ग्रहण करना होगा। इस प्रकार हमारा हर संस्कार—त्योहार, व्रतोत्सव-पर्व आदि न केवल व्यक्तिके लिये बल्कि सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र, विश्व तथा समूचे प्राणिवर्गके लिये हितकारी सिद्ध हो सकता है। जिसका मुख्य उद्देश्य जन-जनमें नैतिकता एवं सच्चरित्रताके भावोंको उत्पन्न करना ही होना चाहिये, ताकि व्यक्ति मानवी गरिमाके अनुरूप श्रेष्ठताके साथ जुड़ा रहे।

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥

(अथर्व० २।११।४-५)

अर्थात् हे नर! तू विद्वान् है, शरीररक्षक है, अपनेको पहचान। तू शुक्र है, तू तेजस्वी है, आनन्दमय है, ज्योतिष्मान् है। अतः श्रेष्ठोंतक पहुँच तथा बराबरवालोंसे आगे बढ़।

सुसंस्कृत समाजकी अभिनव रचनाके लिये हमें संस्कारोंकी संस्कृतिका प्रचलन करना ही चाहिये। केवल इसी माध्यमसे जनसाधारणमें धर्म, विवेक, कर्तव्य एवं सद्भावको आशाजनक ढंगसे जगाया जा सकता है।

संस्कार-सम्पन्नताका अर्थ है सुसंस्कारिता, सज्जनता, शालीनता, मर्यादाओंका परिपालन, वर्जनाओंसे बचे रहनेका अनुशासन आदि। इन्हीं विशेषताओंके कारण मनुष्य सच्चे अर्थोंमें मनुष्य बनता है, उसके चिन्तन, चरित्र और व्यवहारमें उत्कृष्टताका समावेश रहता है। गुण, कर्म, स्वभावकी दृष्टिसे वह ऊँचाईपर बना रहता है; इसलिये संस्कारप्रक्रियाको प्राणवान् बनाना ही आजकी आवश्यकता है।

~~~0~~~

संस्कारोंकी आवश्यकता क्यों ?

(श्रीदीनानाथजी झुनझुनवाला)

हमारा हर विचार, कथन और काम हमारे मन-मस्तिष्कपर एक प्रभाव छोड़ता है, जिसे संस्कार कहते हैं और इन संस्कारोंका समष्टिरूप ही चरित्र कहलाता है। यह चरित्र ही निश्चित करता है कि आनेवाले समयमें हमारा उद्धार होगा या पतन, केवल जीवित अवस्थामें ही नहीं, मृत्युके बाद भी।

एक विद्वान्ने कहा है कि व्यक्तित्व-निर्माणकी प्रक्रियामें सकारात्मक चिन्तन और नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्योंका संयोजन ही संस्कार कहलाता है। इन संस्कारोंकी जड़ें अतीतमें जमती हैं, वर्तमानमें विकास पाती हैं और भविष्यमें पल्लवित-पुष्पित होती हैं। हमारे नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक गौरवकी जड़ें अत्यन्त मजबूत हैं, लेकिन आज पाश्चात्त्य संस्कृतिकी चकाचौंध हमें विवेकहीन बनाती जा रही है। हमारा युवा-वर्ग पश्चिमकी हर चीजको बिना विवेकके अच्छा कहकर उसका अन्धानुसरण करने लगा है। क्या हमें नहीं लगता कि हमारी संस्कृतिकी बागडोर वर्तमानमें ही हमसे टूटने लगी है तो फिर भविष्यमें इसमें कैसे फूल खिलेंगे और फल लगेंगे? हमें इस सांस्कृतिक प्रदूषणको रोकनेका प्रयास करना है।

हमारे ऋषियोंने कहा है कि धर्म आचरणमें पलता है एवं सेवासे व्यापक होता है। अतः उन्होंने 'आचारः परमो धर्मः' की व्यवस्था दी। यह भी कहा कि चरित्र मनुष्यकी सबसे बड़ी शक्ति एवं सम्पदा है। अनन्त सम्पदाओंका स्वामी होनेपर भी अगर मनुष्य चरित्रहीन है तो वह विपन्न ही माना जायगा। हमारा धर्म हमें एवं हमारे जीवनको समग्रतामें जीना सिखाता है। धर्मकी शिक्षा दिये बिना किसीको शिक्षित करनेका अर्थ उसे एक चतुर शैतान बनाना है।
~~~

जीवन केवल शिक्षाप्राप्तिके लिये नहीं, बल्कि विवेकपूर्वक आत्माके गुणोंके विकासके लिये है। प्राप्त शिक्षाका दुरुपयोग न होने पाये, इसके लिये शिक्षित मानवका दीक्षित होना अनिवार्य है। श्रीरामचरितमानसमें एक दोहा है, जिसका एक चरण है—*'साधक सिद्ध सुजान।'* प्रश्न है कि जब साधकसे सिद्ध हो गया तो फिर तुलसीदासजीने 'सुजान' शब्द क्यों जोड़ा? कारण स्पष्ट है—रावण साधकसे 'सिद्ध' हो चुका था। अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ उसे प्राप्त थीं, लेकिन 'सुजान' यानी संस्कारित न होनेके कारण अपनी सिद्धियोंका दुरुपयोग कर बैठा और वह दुरुपयोग ही उसके सर्वनाशका कारण बना। अतः सिद्ध होनेके बाद 'सुजान' होना आवश्यक है। आजका संदर्भ लें तो सारे विश्वमें इतनी आणविक शक्ति मौजूद है कि हमारी धरतीको कई-कई बार नष्ट करनेकी क्षमता उसमें है। आणविक शक्तिका दुरुपयोग इतना भयङ्कर एवं प्रलयङ्कारी होगा कि सारी सभ्यता एवं संस्कृति हमेशा-हमेशाके लिये विलुप्त हो जायगी, उसके दुरुपयोगको रोकनेका एकमात्र उपाय सुजनता है।

पिता धन देता है अपने पुत्रको। अगर पुत्र संस्कारित नहीं है तो प्राप्त धनको वह नष्ट कर देगा। पुत्र अगर संस्कारित है और पितासे धन नहीं भी मिलेगा तो भी धन पैदा कर लेगा। अतः पुत्रको केवल धन देनेका महत्त्व नहीं, संस्कार देनेका महत्त्व है।

हमारे यहाँ संस्कारित और सदाचारी व्यक्ति उसीको कहा गया, जिसकी क्रियाएँ विकारके अधीन न होकर विचारके अधीन होती हैं। जो विवेकशील होता है उसकी इन्द्रियाँ उसके नियन्त्रणमें रहती हैं, नहीं तो जिस प्रकार दुष्ट घोड़े रथमें बैठे व्यक्तिको संकटमें डाल देते हैं, उसी प्रकार अनियन्त्रित इन्द्रियाँ मनुष्यको पतनकी ओर ले जाती हैं। जो शरीर, वाणी तथा मनसे संयत है तथा स्वार्थके लिये झूठ नहीं बोलता, ऐसे ही व्यक्तिको सदाचारी कहते हैं।

गुणसे रूपकी, दानसे धनकी तथा सदाचारसे कुलकी शोभा होती है। कमलकी प्रार्थनाके बिना ही सूर्य उसे विकसित कर देता है। कुमुदिनीकी प्रार्थनाके बिना ही चन्द्रमा उसे खिला देता है। सदाचारी स्वतः ही दूसरोंके हितके लिये उद्यम करते हैं, उन्हें किसीके द्वारा याचनाकी प्रतीक्षा नहीं रहती। सदाचारी एवं संस्कारित व्यक्तिकी पहचान उसके आचरणसे होती है।

एक बार स्वामी श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवजीसे किसीने पूछा कि महाराज, ऐसे लोग भी देखनेमें आते हैं, जिनको पूरी रामायण, श्रीमद्भागवत तथा गीता याद है, फिर भी उनका जीवन पवित्र नहीं है, ऐसा क्यों? इसपर श्रीरामकृष्णदेवजीने कहा कि तुमने निर्मल आकाशमें उड़ते हुए गिद्धको देखा है न! उड़ता तो निर्मल आकाशमें है, लेकिन उसकी दृष्टि कहाँ है—पृथ्वीपर पड़े हुए सड़े मांसपर। वह जैसे ही पृथ्वीपर पड़े सड़े मांसको देखता है, सीधे नीचे गोता लगाता है और सड़े मांसके पास पहुँच जाता है। इसलिये जैसी दृष्टि वैसी ही सृष्टिका निर्माण होता है। इसीलिये संतोंने कहा है कि अपनी दृष्टिको पावन रखो। नेत्र शुद्ध होंगे तो हृदयमें 'राम' प्रवेश करेगा और नेत्र अशुद्ध होंगे तो 'काम' प्रवेश करेगा।

हमारा न धनसे काम होता है न बलसे, न नामसे काम होता है और न यशसे। वरन् हमारी सच्चरित्रता ही कठिनाइयोंकी संगीन दीवारोंको तोड़कर अपना रास्ता सुगम बना लेती है। आचरणरहित विचार कितने अच्छे क्यों न हों, उन्हें खोटे मोतीकी तरह ही समझना चाहिये। हमारी सच्चरित्रता हमें आलस्य एवं अपव्यय-जैसे दुर्गुणोंसे बचाती है। जैसे फूटे घड़ेमें कुछ भी सञ्चय नहीं होगा, वैसे ही दुर्गुणोंके कारण कुछ भी उपलब्धि नहीं होगी। सदाचारी व्यक्ति शुद्ध होता है और जो शुद्ध होता है, वही बुद्ध होता है।

सच्चरित्रवान् एवं संस्कारित व्यक्ति समय और साधनका सदुपयोग करते हैं और दुश्चरित्र व्यक्ति इनका दुरुपयोग करते हैं। अतः हमें चाहिये कि समय और साधनका सदुपयोग करनेके लिये हम चरित्रवान् और संस्कार-सम्पन्न बनें।

आचार-विचार और संस्कार

(आचार्य पं० श्रीउमाशंकरजी मिश्र 'रमेन्दु')

वर्तमानमें मनुष्यकी बढ़ती हुई भोगवादी कुप्रवृत्तिके कारण आचार-विचार और संस्कारोंका उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है एवं स्वेच्छाचारकी कुत्सित मनोवृत्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, जिसका दुष्परिणाम अधिकांशतः नवयुवकों और नवयुवतियोंके साथ-साथ अभिभावकोंको भी भोगना पड़ रहा है। ऐसी भयावह परिस्थितिमें युवा पीढ़ीको स्वस्थ दिशाबोध प्रदान करनेके लिये आचार-विचार और संस्कारोंकी सूक्ष्म मीमांसा एवं तदनुसार आचरण पथ-प्रदर्शक होगा।

मानवके विधिबोधित क्रिया-कलापोंको आचारके नामसे सम्बोधित किया जाता है। आचार-पद्धति ही सदाचार या शिष्टाचार कहलाती है। इसीमें शौचाचार भी अन्तर्निहित है। अपकर्षकी श्रेणीमें आनेवाला कुत्सित और गर्हित व्यवहार स्वेच्छाचार या भ्रष्टाचार कहलाता है। मनीषियोंने पवित्र और सात्त्विक आचारको ही धर्मका मूल बताया है—'धर्ममूलमिदं स्मृतम्'। धर्मका मूल श्रुति-स्मृतिमूलक सदाचार ही है। सदाचारकी महिमा बतलाते हुए कहा गया है—

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति॥

(वसिष्ठस्मृति ६।१)

इतना ही नहीं, षडङ्ग-वेदज्ञानी भी यदि आचारसे हीन हो तो वेद भी उसे पवित्र नहीं बनाते—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'

आचार-विचार और संस्कार—ये क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म और प्रभावशाली हैं। सूक्ष्मका प्रभाव स्थूलसे अधिक होता है। इसीलिये संस्कारसे विचारशुद्धि और विचारशुद्धिसे आचारशुद्धि होती है। शुद्धाचार-सदाचारसे लोक-व्यवहार सुरभित हो जाता है। इस प्रकार इन सबके मूलमें संस्कारोंकी ही प्रतिष्ठा है।

सात्त्विक भाव-वृत्तियोंके मन्थनसे समुद्भूत विचार-पीयूष मानव-जगत्को जीवन्तता प्रदान करता है. विचारोंके अनुसार ही आचार-व्यवहार सम्पादित होता है। सत्सङ्गके संस्कारजनित विचार व्यवहार-जगत्में सौख्य, सौशील्य, मुदिता तथा प्रियता-जैसे अनेक सद्गुणोंका विकास करते हैं।

हमारे ऋषियों-मुनियोंने विचारधाराओंके परिशोधनका उत्तम उपाय भी हमें प्रदान किया है, जिसे विवेककी संज्ञा दी गयी है। कर्तव्याकर्तव्यमें विवेकका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विवेकको फलशालिनी क्रियाका अधिष्ठान कहा गया है। शास्त्र-श्रवण, सत्सङ्ग ही विवेकका आभूषण है। जो व्यक्ति स्पृहणीय गुण-गणसम्पन्न महात्माओं, मनीषियों एवं सत्पुरुषोंद्वारा सेवित सन्मार्गका अनुकरण करते हुए चलनेका सत्प्रयास करता है, उसकी विविध बाधाएँ उपशमित हो जाती हैं। शास्त्रानुसार संस्कारसम्पन्न आचरण करनेवाले और वासनानुसार व्यवहार करनेवाले मानवके स्वभाव और विचार पृथक्-पृथक् होते हैं। पहलेकी जीवनचर्या नियन्त्रित और दूसरेकी जीवनचर्या अनियन्त्रित होती है। तेज और तिमिरके समान उनका कभी भी समान अधिकरण नहीं हो सकता। आजकल समाजमें अनेक भ्रामक विचारोंका व्यापक कुप्रसार किया जा रहा है, जो हमारी संस्कृतिको क्षत-विक्षत करनेपर तुले हुए हैं। शास्त्रीय विचारधाराओंसे ही स्वार्थमयी, रागमयी एवं पाशविक विचारधाराओंका निवारण किया जा सकता है।

मानव-जीवनमें संस्कारोंका सनातन कालसे ही अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जैसे विविध रत्नोंमें निर्मलीकरण-संस्कारद्वारा चमत्कृति—प्रभा उत्पन्न की जाती है, वैसे ही संस्कारोंद्वारा वर्णादिकोंमें भी आचार-विचारकी दिव्य ज्योत्स्ना प्रस्फुटित की जाती है। बाल्यावस्थाके संस्कार अमिट होते हैं। मलापनयन एवं अतिशयाधानद्वारा बालकमें वैशिष्ट्य जाग्रत् किया जाता है।

संक्षेपमें हमारे श्रुति-स्मृतिमूलक संस्कार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्माका मलापनयन कर उनमें अतिशयाधान करते हुए किञ्चित् हीनाङ्गपूर्ति कर उन्हें विमल कर देते हैं। संस्कारोंकी उपेक्षा करनेसे समाजमें उच्छृङ्खलताकी वृद्धि हो जाती है, जिसका दुष्परिणाम सर्वगोचर एवं सर्वविदित है।

संस्कारोंका नैतिक स्वरूप

(डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या, डी०लिट्०)

कलको अच्छे आजमें बदलनेके लिये संस्कार दिशाबोध हैं। आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त करना मानव-जीवनका अभीष्ट है और कल्याणकी यह संकल्पना ही संस्कार है।

एकसे अनेककी ओर प्रवृत्त यह संसार यदि संस्कार-शून्य हो जाय तो द्वैतसे एककी ओरका समस्त आभामण्डल तिमिरतुल्य हो जाय। वस्तुतः इसी ब्रह्मतेजको संस्कारोंके माध्यमसे मानवदेहमें प्रतिष्ठापित कर जीवनको प्रकाशित एवं अनुकरणीय निर्मित किया जाना चाहिये। यथा—

'मनुर्भव जनय दैव्यं जनम्।'

अर्थात् मनुष्य बनो और अपने भीतर दिव्य जन्म ग्रहण करो। यह दिव्यता ही देवत्व है और यह देवत्व ही इस चराचर सृष्टिका अवलम्बन है।

आर्य-संस्कृतिमें संस्कारोंकी महत्ता सर्वोपरि है। यह न केवल कोरी कल्पना है और न ही मिथक, वरन् सत्य और यथार्थकी नींवपर खड़ा दिव्य भवन है, जहाँसे आदर्श तरङ्गित होता है, जो मानवदेहमें संगृहीत होकर शीलके रूपमें आचरणमें परिणत होता है। तब यह सुसंस्कृत जीवन 'मधुमतीं वाचमुदेयम्' (अथर्व० १६।२।२) अर्थात् 'सदा मधुर वचन बोलें' के रूपमें आत्मानुशासन प्रदान करता है। संस्कारोंका यह नैतिक स्वरूप है, जो विश्वपटलपर भारतीय संस्कृतिकी थाती है।

भारतको छोड़ विश्वके किसी भी भू-भागमें 'गर्भाधान'-को संस्कारकी संज्ञासे विभूषित नहीं किया गया है। इसे सामान्यतः देहधर्म ही स्वीकार किया गया है। क्या यह मात्र देहधर्म है? यदि ऐसा है तो पशु-पक्षियों और हममें अन्तर ही क्या रहा?

जिस देवभूमि भारतमें सङ्कल्पमात्रसे देवी पार्वती गणेशको उत्पन्न कर सकती हैं, पातिव्रत्यसे सावित्री सौ पुत्रोंका वरदान पा सकती हैं, कुन्तीके लिये सूर्यतेज सहनीय हो सकता है, मछली मत्स्यगन्धा उत्पन्न कर सकती है और सीता स्वयं भूमिजा बन सकती हैं, उस भारतभूमिमें गर्भाधान मात्र देहधर्म बनकर नहीं रह सकता। तथापि इसे स्त्री-पुरुषके ओजसे पृथक् नहीं किया जा सकता है, अतः इसे संस्कारके रूपमें प्रतिष्ठित किया गया है और 'विवाह' इसे नैतिक बल प्रदान करता है। यहाँ विवाह भी एक संस्कार है।

भारतीय संस्कृतिमें संस्कारोंके नैतिक स्वरूपकी जब चर्चा होती है तो पश्चिमवाले दाँतोंतले अङ्गुली दबा लेते हैं।

यहाँ हर संस्कारको मनानेके पीछे जहाँ उत्सव और आनन्दका उल्लास रहता है, वहीं उसमें गूढ़ रहस्य भी छिपा रहता है। मूलतः देह-पिण्डरूपी शिशुको परिमार्जित करना संस्कारोंका ध्येय है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

(मनुस्मृति २।२७)

जातकर्म, चूडाकरण, उपनयन आदि संस्कारोंसे बालकके गार्भिक एवं बैजिक दोष समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्यने भी संस्कारोंसे दोष दूर होना बताया है—

'एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्।'

(आचाराध्याय २।१३)

संस्कार मूलतः बीजको सौष्ठव प्रदान करते हैं, जो अङ्कुरित हो शिशुका शीलवर्द्धन करते हैं तथा उसे मानवमहिमासे मण्डित होनेमें सहायक होते हैं। गर्भावस्थासे मृत्युतक प्रायः सोलह संस्कारोंका वर्णन हमारी स्मृतियोंमें मिलता है, जिनसे दोषोंका परिमार्जन तथा शौचका आवर्तन होता है। जन्मोत्तर संस्कारोंमें नवजात शिशुके नालोच्छेदन अर्थात् जातकर्मसे लेकर ग्यारहवें दिन नामकरण, चौथे माह सूर्यदर्शन अर्थात् निष्क्रमण, छठे माह अन्नप्राशन, पहले या तीसरे वर्ष चूडाकर्म (शिखाधारण)-संस्कार किया जाता है। तदनन्तर आठवें वर्षमें उपनयन (यज्ञोपवीत), सोलहवें वर्षमें केशान्त तथा विद्याध्ययन कर स्नातक हो लौटनेपर समावर्तन-संस्कारसे परिमार्जित कर पच्चीसवें वर्षमें विवाह-संस्कारकर सद्गृहस्थकी भूमिका सौंपते हुए उसे नव सृजनकी नैतिक आज्ञा प्रदान की जाती है। ये ही हैं मोटे तौरपर संस्कारोंके परम्परागत नैतिक स्वरूप, जो उत्सवके रूपमें प्रतिपादित किये जाते हैं तथा सामूहिक-सामाजिक उपस्थिति एवं भागीदारीसे सुशोभित हो संरक्षण प्रदान करते हैं।

वस्तुतः यह सारा आत्मानुशासन हममें शीलकी अभिवृद्धि करता है, जो इस मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य

है। तभी तो सुपुत्रको अपने बीच पाकर प्रज्ञा मुदित होती है और कहती है—

'सुपुत्रः सप्तमो रसः।'

और यही शील माता-पिता तथा कुलको गौरवान्वित करता है—

सुशीलो मातृपुण्येन पितृपुण्येन पण्डितः।
औदार्यं वंशपुण्येन आत्मपुण्याद् धनार्जनः॥

विवाहेतर जीवनमें शीलके रूपमें सद्‌गृहस्थके लिये दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा इत्यादि आठ आत्मगुणसंस्कारोंका अनुपालन अभीष्ट है। तभी वह सद्‌गृहस्थ कहलाता है।

धैर्य, क्षमा, दान, सहिष्णुता, अस्तेय तथा अतिथि-सत्कार—ये सभी आत्मनियन्त्रित संस्कार हैं, जिनसे मनुष्य स्वयंको स्वस्तिहेतु निरूपित करता है तथा कल्याणका संवाहक अभिसंज्ञित होता है। यही शील है तथा यह शील ही मनुष्यको मनुष्यत्व प्रदान करता है। तभी तो कहा है—'शीलं सर्वस्य भूषणम्' (गरुडपुराण १।११३।१३)। भर्तृहरिने तो यहाँतक कहा है—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति॥

(नीतिशतक श्लोक १०९)

अर्थात् जिसके शरीरमें अखिल विश्वका अत्यन्त प्रिय 'शील' प्रतिष्ठित है, उसके लिये अग्नि जलके समान, समुद्र नदीके समान, इसी प्रकार सुमेरु शिलाके, सिंह मृगके, सर्प पुष्पमालाके समान तथा विष भी अमृतकी वर्षा करनेवाला हो जाता है। सुसंस्कारोंसे इस शीलको सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः संस्कार ही इसको सुलभ सीढ़ी है।

भारत संस्कारभूमि है। यह सुपुत्रवती है। संस्कारोंकी दिव्यता इसकी संतानमें अनुस्यूत है। सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीके एक-एक आचरणमें यह शील कीर्तिमान है।

रामायणका प्रसङ्ग है। सीता-हरणके बाद श्रीराम लक्ष्मणके साथ पम्पा और पम्पासे किष्किन्धा पहुँचते हैं। सुग्रीवसे उन्हें जानकारी मिलती है कि कुछ समय पूर्व आकाशमार्गसे कोई भयङ्कर राक्षस एक स्त्रीको बलात् लिये जा रहा था। छटपटाती हुई उस देवीने मुझे देख अपना उत्तरीय तथा कुछ आभूषण गिरा दिये। हमने उन्हें सँजोकर रखा है। मैं उन्हें अभी लाता हूँ आप पहचानिये, और जैसे ही

श्रीरामने उन्हें देखा, भावाविभूत हो लक्ष्मणसे बोले—

पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया।
उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद् भूषणानि च॥

(वा०रा० ४।६।२०)

'लक्ष्मण! देखो, राक्षसद्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताने यह उत्तरीय तथा ये गहने अपने शरीरसे उतारकर पृथ्वीपर डाल दिये थे।'

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणजी बोले—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले॥
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।

(वा०रा० ४।६।२२-२३)

भैया! मैं इन बाजूबन्दोंको तो नहीं जानता और न ही इन कुण्डलोंको कि ये किसके हैं; किंतु प्रतिदिन भाभीके चरणोंमें प्रणाम करनेके कारण मैं इन दोनों नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ।

वाह रे नररत्न! नित्य सांनिध्यके उपरान्त भी कभी सीताजीके पाँवोंसे ऊपर अपनी दृष्टि नहीं की। ऐसे शेषावतार लक्ष्मणजीको साक्षात् प्रणाम, शत्-शत् प्रणाम। यह है संस्कारका अमृतनिर्झर, जिसे आज भी पीते हम अघाते नहीं। संस्कारकी ऐसी प्रत्यक्ष मीमांसा अन्यत्र कहाँ मिलेगी? धन्य है भारत जो संस्कारोंकी अकूत खान है।

संस्कार मनुष्यके धर्म, आचरण, रहन-सहन और

आस-पास—सभीको प्रभावित करते हैं। इस प्रभावको गोस्वामी तुलसीदासजीके वर्णनमें देखें—

भक्तशिरोमणि हनुमान्‌जी सीतामैयाकी खोजमें लङ्का जाते हैं। रावणके भव्य भवनमें माताजीको न देख, अन्यत्र ढूँढ़ने चले। तभी उन्हें एक सुन्दर महल दिखायी दिया, जहाँ भगवान्‌का एक अलग मन्दिर बना हुआ था तथा रामायुधसे अङ्कित था, साथ ही वहाँ नन्हे-नन्हे तुलसीके पौधोंका समूह था, जिसे देख आञ्जनेय हर्षित हुए और विचार करने लगे—लङ्का तो राक्षसोंकी निवास-स्थली है, यहाँ सज्जनोंका निवास कैसे?

लंका निसिचर निकर निवासा । इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥

(रा०च०मा० ५।६।१)

और उन्होंने विभीषणजीसे बात करनेका मन बनाया; क्योंकि—*'साधु ते होइ न कारज हानी॥'*

अतः सज्जनता छिप नहीं सकती; क्योंकि वह संस्कारजन्य है। संस्कारोंका सौरभ कभी धूमिल नहीं होता; क्योंकि न तो सीमाएँ इसे बाँध सकती हैं, न दिशाएँ रोक सकती हैं।

इसी कारण नचिकेताके यमद्वारपर भूखे-प्यासे बैठे रहनेपर यमराजकी पत्नी बड़ी दुःखित होती हैं तथा पतिसे कहती हैं—'जिसके घरपर अतिथि ब्राह्मण भूखा बैठा रहता है, उसके सब सुख छिन जाते हैं तथा उसकी वाणीसे सौन्दर्य, सत्य और माधुर्य निकल जाते हैं। यज्ञादिक फल भी क्षीण हो जाते हैं तथा अतिथि-असत्कारसे पूर्वार्जित पुण्योंसे प्राप्त फलरूप पुत्र और पशु आदि भी नष्ट हो जाते हैं—

आशाप्रतीक्षे सङ्गतः सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूःश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

(कठोपनिषद् १।१।८)

अतिथि-असत्कारके दोषसे मुक्त होनेके लिये स्वयं यमराजने पाद्य-अर्घ्यसे नचिकेताका सत्कार किया और

क्षमा-याचना करते हुए प्रत्येक प्रतीक्षित रात्रिके लिये एक-एक वर माँगनेका इस प्रकार आग्रह किया—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥

(कठोपनिषद् १।१।९)

यह भी संस्कारोंकी ही शक्ति है कि नचिकेता सदेह मृत्युके द्वारतक पहुँच गये तथा उन्होंने गहन ज्ञान अर्जित किया। पिताके आज्ञापालनके सुसंस्कारने उन्हें यह अप्राप्य लाभ अर्जित करवाया।

संस्कारसे आचरण और आचरणसे चरित्र संवर्द्धित होता है। संस्कारसिञ्चित सत्यके धर्माचरणसे पाण्डवराज युधिष्ठिर सदेह स्वर्गारोहण कर सके। अतः संस्कारोंको आचरणमें उतारनेकी महती आवश्यकता है।

हमारे शास्त्रोंने हमें सावधान किया है कि हम सुसंस्कृत हों, स्थायी संस्कारोंको पुष्ट करें तथा आचरणमें शुचिता लायें।

संस्कारोंकी उपयोगिता

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम०ए०, पी-एच०डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य, पूर्वकुलपति)

शास्त्रविहित सम्यक् क्रियाविशेषको 'संस्कार' कहते हैं। संस्कारके द्वारा शारीरिक तथा मानसिक मलोंका अपाकरण होता है और उनमें विशिष्ट गुणोंका आधान किया जाता है। उदाहरणके लिये खानसे निकले सोनेको संस्कारके द्वारा सुसंस्कृत कर उसकी मलिनताको दूर करते हैं और उसको चमकीला बनाकर आभूषणोंके लिये उपयोगी बनाते हैं। इसी प्रकार काष्ठकी किसी वस्तुको या रेखाचित्रको उपयुक्त रंगोंके द्वारा आकर्षक एवं सुन्दर बनाकर इसमें गुणाधान कर उसके महत्त्वको बढ़ाते हैं। इस प्रकार संस्कारसे मलापनयन और अतिशयाधान दोनों सम्पादित होते हैं। प्राकृतिक जड़ पदार्थोंकी तरह संस्कारोंसे मनुष्यके भी दोषोंका अपाकरण और उसमें विशिष्ट गुणोंका अतिशयाधान किया जाता है।

संस्कारके द्वारा मनुष्यके जिन मलोंका अपाकरण होता है, उनके विषयमें भी कुछ विमर्श करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। विभिन्न व्याधियोंके मूल[1] तथा शारीरिक विकारोंको मल कहते हैं।

इन मलोंका परिशोधन संस्कारोंसे होता है। मनुष्यके शारीरिक मल हैं—१-वसा—चर्बी, २-वीर्य, ३-रक्त, ४-मज्जा, ५-मूत्र, ६-विष्ठा, ७-नेटा, ८-कानका मैल, ९-कफ, १०-आँसू, ११-दूषिका—नेत्रमल तथा १२-स्वेद—ये सभी बारह शारीरिक मल समुचित संस्कारसे हटाये जाते हैं। 'मलते धारयति शारीरिकदोषान् इति मलः।' 'मल्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय करनेपर 'मल' शब्द निष्पन्न होता है।

भगवान् मनुने कहा है कि दिनमें किये गये कर्मोंके मलको सायंकालीन संध्या-वन्दन-संस्कारसे निर्मूल करते हैं।[2]

इन मलोंका सम्यक् परिशोधन करनेसे शारीरिक और मानसिक स्वस्थताके साथ-साथ शारीरिक सुन्दरता भी बढ़ती है। इस प्रकार संस्कारजन्य गुणाधान भी शरीरमें होता है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी पारिभाषिक मल हैं—क्षात्रोचितकर्मका परित्याग कर क्षत्रियोंद्वारा भिक्षाचरण उनके लिये मल है। ब्राह्मणोंके द्वारा वेद-शास्त्रोंके विपरीत आचरण करना उनके लिये मल है।[3]

विहिताचारके अनुपालन करनेसे ये मल सभी मनुष्योंमें होते हैं, जिनका विहित आचरणोंसे अपाकरण करनेपर तत्संस्कारजन्य गुणोंका उनमें अतिशयाधान होता है। इससे सुस्पष्ट है कि विहित संस्कारोंसे मलापनयन एवं अतिशयाधान दोनों अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

इसलिये भगवान् मनुने गर्भाधानसे लेकर श्मशान (अन्त्येष्टि)-पर्यन्त सभी संस्कारोंका अवश्य कर्तव्यत्वेन निर्देश किया है।[4] वेदादि शास्त्रविहित मार्गसे जिसके गर्भाधान, पुंसवन आदि संस्कार होते हैं, उन द्विजोंके गर्भ, वीर्य आदि सभी दोष समूल नष्ट हो जाते हैं।[5]

इस तरहके अन्य संस्कारोंसे भी मनुष्योंको जीवनके सन्मार्गपर आरूढ़ किया जाता है। इससे संस्कारोंका अतीव महत्त्व सिद्ध होता है।

'संस्कार' संस्कृतका शब्द है। इसके व्युत्पत्तिजन्य अर्थसे भी यह तत्त्व प्रकट होता है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण[6] अर्थमें 'सुट्' का आगम तथा 'घञ्' प्रत्यय होनेसे 'संस्कार' शब्द निष्पन्न होता है। इस तरह ऐहलौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अभ्युदयके समुपयुक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदिके भूषणभूत सम्यक् सदाचरण संस्कार हैं। इस प्रकारके संस्कारोंसे शारीरिक, मानसिक आदि सभी परिशुद्धियाँ होती हैं, जिनसे मनुष्य प्रेय और श्रेय दोनोंको प्राप्त करता है। इन संस्कारोंका प्रभाव चूँकि अन्तःकरणपर भी पड़ता है, अतः उत्तम संस्कारोंसे अन्तःकरणको उत्कृष्ट बनाना चाहिये और

१. सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्॥ (माधवनिदान)
२. पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥ (मनु० २।१०२)
३. क्षत्रियस्य मलं भैक्ष्यं ब्राह्मणस्याव्रतं मलम्। (महाभारत, कर्णपर्व ४५।२३)
४. निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ (मनु० २।१६)
५. गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (मनु० २।२७)
६. 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' (पा०सू० ६।१।१३७), सुट्कात्पूर्वः (६।१।१३५)

निकृष्ट संस्कारोंसे उसे बचाना चाहिये। इसलिये शास्त्रका आदेश है कि जिसके सोलह या अड़तालीस संस्कार यथाविधि सम्पन्न होते हैं, वह ब्राह्मपदको प्राप्त होता है—'यस्यैते षोडश* अष्टचत्वारिंशद्वा सम्यक्संस्कारा भवन्ति स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।'

इनमें कुछ सत्कर्मानुष्ठानरूपी संस्कारोंसे अज्ञानादि दोषोंका अपनयन होता है और कतिपय विशिष्ट संस्कारकर्मोंसे पवित्रता, सद्विद्या आदि अतिशयाधान होता है। इस तरह संस्कार ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सिद्धियोंके अद्वितीय साधन हैं।

गर्भाधानादि संस्कारोंके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष—दोनों फल समयपर दृष्टिगोचर होते हैं। अभीष्ट फलके लिये संस्कारोंका समुचित विधान होना चाहिये।

त्रिकालज्ञ मनुजीका स्पष्ट निर्देश है कि विहित मन्त्रोंके द्वारा गर्भाधानके समय दम्पतीको विचार करना चाहिये कि रजोदर्शनसे लेकर सोलह अहोरात्र जो स्वाभाविक ऋतुकाल है, उनमें प्रथम चार रातें गर्भाधानके लिये सर्वथा वर्जित हैं। अवशिष्ट बारह रात्रियोंमें ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ भी निषिद्ध हैं। अतिरिक्त प्रशस्त दस रात्रियोंमें युग्म (सम—छठीं, आठवीं इत्यादि) रात्रियोंमें गर्भाधान करनेसे पुत्र और अयुग्म (पाँचवीं, सातवीं, नवमी, पंद्रहवीं) रात्रियोंमें गर्भाधानसे कन्या उत्पन्न होती है।** इस तरह सविधि गर्भाधान-संस्कार संतानका नियामक और नियन्त्रक भी होता है। इसके सम्यक् अनुपालनसे नियोजनरूप समस्याका अनायास समाधान भी हो जाता है।

इस प्रकार सभी अन्य संस्कारोंके भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष फल सविस्तर मनुस्मृति, आश्वलायनगृह्यसूत्र आदि ग्रन्थोंमें वर्णित हैं।

~~o~~

सभ्यता, संस्कृति और संस्कार

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीअमरनाथजी शुक्ल)

इस संसारमें अन्य जीवधारियोंकी अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी है। अन्य जीवोंका जन्मके बाद यथावत् प्राकृतिक विकास होता है, पर मानवशिशुमें जन्मसे पूर्व गर्भमें ही संस्कारोंका बीजारोपण आरम्भ हो जाता है और जन्मके बाद विविध प्रकारके संस्कारोंके कारण मन और बुद्धिका विकास होनेसे अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता सर्वोपरि हो जाती है।

शरीर, मन एवं वस्तुओंकी शुद्धिके लिये समय-समयपर जो शास्त्रनिर्दिष्ट कार्य किये जाते हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं। जीवनको संस्कारित करनेके साथ-साथ जड़ पदार्थों—जैसे जीर्ण मन्दिर, भवन आदिके पुनरुद्धारको भी संस्कार कहते हैं। जिस कार्यसे चैतन्य तथा जड़का परिमार्जन हो, उसके विकासका कारण हो, वह संस्कार कहलाता है।

मानव-जीवन-यात्राकी उपलब्धिके दो भाग हैं—सभ्यता और संस्कृति। सभ्यताका लक्षण है कि कोई व्यक्ति सभा या समाजमें दूसरोंके साथ कैसा व्यवहार करता है? बात-व्यवहार, खान-पान तथा उठने-बैठनेके तौर-तरीकोंसे सभ्यताका पता चलता है। सभ्यताका आकलन व्यक्तिके व्यवहारसे होता है और संस्कृतिका आकलन उसकी आन्तरिक भावनाओंसे। सभ्यता शरीर है तो संस्कृति उसकी आत्मा।

मानवीय साधनाके पाँच सोपान हैं—शरीर, आत्मा, मन, बुद्धि तथा अध्यात्म। इन्हीं साधनाओंकी परिणतिका नाम है संस्कृति। प्रत्येक देशकी सांस्कृतिक भिन्नताके कारणके मूलमें है संस्कारोंकी भिन्नता। तात्पर्य यह है कि संस्कारोंके कारण ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि निर्मित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं

* १-गर्भाधान, २-गर्भस्थिरीकरण—गर्भलम्भन (गर्भो लभ्यते येन कर्मणा तत् गर्भलम्भनं नाम कर्म), ३. पुंसवन (पुमान् येन सम्पद्यते लब्धो गर्भः, तत् पुंसवनं नाम कर्म), ४. अवरापतन—अनवलोभन (येन संस्कृतः सन् गर्भो नावलुभ्यते, नावस्रंस्यते तदनवलोभनं नाम कर्म), ५-सीमन्तोन्नयन (सीमन्तः केशवेशः यस्मिन् कर्मणि उन्नीयते तत् सीमन्तोन्नयनं नाम कर्म), ६-जातकर्म, ७-निष्क्रमण, ८-नामकरण, ९-अन्नप्राशन, १०-चौलकर्म—चूडाकरण, ११-कर्णवेध, १२-उपनयन, १३-वेदारम्भ—सावित्रीग्रहण, १४-समावर्तन, १५-विवाह, १६-अन्त्येष्टि—श्मशानान्तसंस्कार। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें प्रथम बारहवीं कण्डिकासे लेकर चौबीसवीं कण्डिकातक विहित मन्त्रोंके साथ इन संस्कारोंका सविधि प्रतिपादन किया गया है। कहीं-कहीं इन संस्कारोंके नामोंमें कुछ अन्तर भी है।

** ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥ (मनु० ३। ४६—४८)

कि सभ्यता, संस्कृति एवं संस्कारका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हैं। भारतीय संस्कृतिका मूलाधार धर्म है। सद्विचार, सत्कार्य, सद्व्यवहार, जो कुछ भी सात्त्विक रूपसे विचारणीय, करणीय, धारणीय है, वही धर्म है। ऐसे ही आचरणोंसे भारतीय संस्कृतिका निर्माण हुआ है और ये आचरण हमें जीवनमें भिन्न-भिन्न संस्कारोंसे प्राप्त होते हैं। ये संस्कार हमें शास्त्राचार, देशाचार और लोकाचारसे प्राप्त होते रहते हैं।

शास्त्रानुसार हमारे जीवनमें संस्कारोंकी भूमिका गर्भाधानसे प्रारम्भ होकर मृत्यूपरान्त अन्त्येष्टितक चलती रहती है। इन संस्कारोंमें वैज्ञानिक दृष्टि भी है। गर्भकालमें ही माताके आचार-विचारका प्रभाव गर्भस्थित जीवपर पड़ने लगता है। जीवके संस्कारित होनेका यह प्रथम सोपान है। भारतीय संस्कृतिमें शास्त्रानुसार १६ संस्कारोंका विधान है। हम देखते हैं कि जीवके जन्मके बाद उम्रके अनुसार जैसे-जैसे विकास होता है, वैसे-वैसे क्रमानुसार स्वयं उसके, समाज तथा राष्ट्रके हितार्थ उसे संस्कारोंसे सम्पन्न किया जाता है। यदि समय-समयपर उसे ये संस्कार न मिलते रहें तो वह संस्कारहीन हो जाता है।

संस्कारवान् बनानेकी प्रथम गुरु माता होती हैं। विद्यागुरु उसके जीवनमें शिक्षाके साथ-साथ सुसंस्कारोंकी भावना भरता है। शिक्षित होनेके साथ यदि उसमें अच्छे संस्कार न हुए तो शिक्षा व्यर्थ है।

मूलरूपसे कोई भी वस्तु—जड़ या चेतन अपने आन्तरिक गुणोंमें प्रकट नहीं होती है। उसे संस्कारित करनेके बाद ही उसके यथार्थ स्वरूप और गुणोंका प्रकटीकरण होता है। खदानसे निकली हुई धातु या पत्थर क्या है? यह तत्काल पता नहीं चलता। जब उसे साफ करके तराशने, तपानेके संस्कारकी प्रक्रियासे गुजारा जाता है, तब पता चलता है कि हीरा है, सोना है, लोहा है आदि। एक अनगढ़ पड़े हुए पत्थरको जब कलाकार अपनी छेनी-हथौड़ीसे तराशकर संस्कारित करता है तो उसमेंसे भगवान्‌का दिव्य स्वरूप प्रकट हो जाता है, वह पूजनीय हो जाता है। घूमती हुई चाकपर रखे हुए मिट्टीके लौंदेको जब कुम्हार अपनी बुद्धिके अनुसार संस्कारित करता है तो उसमेंसे विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। बढ़ई काष्ठको संस्कारित कर उसे मेज, कुर्सी, चौखट, दरवाजेका रूप देकर मूल्यवान् बना देता है। भगवान् जगन्नाथ, बलराम तथा सुभद्राका विग्रह तथा रथ काष्ठशिल्पीके हाथों संस्कारित होकर भगवान्‌की महिमा प्राप्त करता है। इसी प्रकार जब किसी पशु-पक्षीको विशेष प्रकारसे संस्कारित किया जाता है तो उसमें नया गुण प्रकट हो जाता है। टें-टें बोलनेवाला तोता 'राम-राम' बोलने लगता है। शेर, भालू-जैसे हिंसक पशु संस्कार पाकर अपने मूल स्वभावके विपरीत पालतू बन जाते हैं।

तात्पर्य यह कि संस्कार वह तत्त्व है, जिसका संयोग पाकर जीव या वस्तु सभ्य, श्रेष्ठ, सुन्दर, मूल्यवान् तथा उपयोगी हो जाती है। संस्कारवान् व्यक्ति ही अपने श्रेष्ठ संस्कारोंके कारण अपने देशकी संस्कृतिको अक्षुण्ण बनाये रखते हैं तथा अपने आचरणसे समाजमें सभ्य एवं सुसंस्कृत होनेका मान पाते हैं—ऐसा होनेके लिये सर्वप्रथम संस्कारसम्पन्न होना आवश्यक है। संस्कारसम्पन्न व्यक्ति अपने विकासके साथ-साथ नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आस्थाओंके प्रति समर्पित होनेके कारण अपने परिवेश तथा समाजके लिये प्रेरक तथा मार्गदर्शक बन जाता है और सर्वत्र आदर प्राप्त करता है।

इस वैश्विक उदारीकरणके युगमें भौतिक विकासकी चाहे जो उपलब्धियाँ हों, पर पारिवारिक रिश्तोंकी संवेदना, मान-मर्यादाकी रक्षा, व्यावहारिक, वैचारिक, चारित्रिक, धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र जिस अधोगतिको जा रहा है, उसके मूलमें यही है कि हममें धर्म, अध्यात्म, नैतिकता, संस्कृति तथा संस्कारोंका संज्ञान नहीं रह गया। संस्कारोंके ह्रासके कारण संस्कृतिका भी ह्रास हो रहा है। विधिका प्राकृतिक विधान है कि जिन संस्कारोंसे सम्पन्न होकर हम अपने जीवन, समाज तथा राष्ट्रका उत्थान कर सकते हैं, उन्हीं संस्कारोंसे विमुखता तथा दूरी पतनकी ओर ले जा रही है। संस्कारहीनताके कारण जब हम सदाचारकी ओर उन्मुख न होंगे तो निश्चय ही कदाचारकी ओर बढ़ेंगे, तब धर्म, सभ्यता तथा संस्कृतिका अवमूल्यन होगा।

इसलिये जिन सांस्कृतिक अवधारणाओंकी सम्पन्नताके लिये हमारे यहाँ संस्कारोंका विधान हुआ है, यदि हम उन्हींके अनुसार अपने मन, विचार और कर्मको बनायेंगे, तभी हम अपने धर्म तथा संस्कृतिकी रक्षा कर सकेंगे। अतः हमें जीवनमें होनेवाले संस्कारोंके प्रति निष्ठावान् होना चाहिये।

संस्कार वह मूल तत्त्व है, जो जीव और जड़को अंदर तथा बाहरसे परिमार्जित कर उनके गुण और स्वरूपको शुभ तथा श्रेष्ठ बनाता है; इससे शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है।

~~~o~~~
~~~

संस्कार और सदाचार

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, बी०एस्-सी०, एल्-एल्०बी०, एम०ए० (संस्कृत), पी-एच्०डी०)

'संस्कार मनुष्यके आचार-विचार और क्रियाकलापको सत्से सम्पृक्त रखनेका एक विशिष्ट साधन है। इससे मनुष्यके आत्मिक जीवनका विस्तार, मानसिक विकास और भौतिक समृद्धि होती है। संस्कारमें सदाचार गर्भित है। वास्तवमें जहाँ संस्कार है, वहाँ सदाचार है और जहाँ सदाचार है वहाँ संस्कार है। इन दोनोंका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। दोनों ही जीवनमूल्योंके स्थापत्यमें तथा समाज और राष्ट्रके सर्वतोमुखी विकासमें परोक्ष-अपरोक्षरूपसे अहम भूमिका निभाते हैं।

'कृ' धातुमें 'सम्' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय लगनेपर 'संस्कार' शब्द बनता है। संस्कारका शाब्दिक अर्थ है—पूरा करना, सुधारना, सज्जित करना, माँजकर चमकाना, शृङ्गार एवं सजावट आदि। इस प्रकार संस्कार मानव-जीवनको परिमार्जित, परिष्कृत और सुव्यवस्थित रखनेका एक उपक्रम है। धर्मशास्त्रोंमें संस्कार शब्द यज्ञमें पवित्र या निर्मल कार्यके अर्थमें प्रयुक्त है। इस दृष्टिसे संस्कार वह है, जिससे कोई पदार्थ एवं व्यक्ति किसी कार्यके लिये योग्य होता है अर्थात् संस्कार वे क्रियाएँ एवं रीतियाँ हैं, जो मनुष्यको योग्यता प्रदान करती हैं। वास्तवमें संस्कार एक विलक्षण योग्यता है, जो शास्त्रविहित क्रियाओंसे उत्पन्न होती है।

धर्मसूत्रों एवं शास्त्रोंमें संस्कारोंकी संख्या कहीं चालीस, कहीं अठारह, कहीं पचीस और कहीं सोलह मानी गयी है, किंतु इन सबमें मुख्यरूपसे सोलह संस्कारोंका ही उल्लेख है, जो गर्भाधानसे प्रारम्भ होकर अन्त्येष्टितक हैं। मनुष्यके गर्भमें आनेसे लेकर मृत्युपर्यन्त उसके जीवनके मुख्यत: सोलह पड़ाव होते हैं। जीवनका एक-एक पड़ाव एक-एक संस्कारसे संस्कारित रहता है। अस्तु, संस्कारबद्ध जीवन इहलोक और परलोक दोनोंके लिये कल्याणप्रद है।

प्रभुका सांनिध्य, सामीप्य प्राप्त करना ही प्रत्येक मनुष्यका परम लक्ष्य होता है। इस दृष्टिसे मानव-जीवनमें संस्कारोंका महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। इन संस्कारोंके माध्यमसे मानव-जीवनको जहाँ समानता तथा धर्मपरायणता आदिके सूत्रमें पिरोया जा सकता है, वहीं उसे सुसंस्कृत भी बनाया जा सकता है। प्राचीन कालमें इन संस्कारोंके पीछे यद्यपि एक व्यापक दृष्टिकोण था, पर शनैः-शनैः संस्कार-विधिमें भी विकृति आती गयी और आज जिस रूपमें यह विद्यमान है, उस रूपमें उसका पालन कठिन हो गया है।

वर्तमान जीवन होड़-दौड़से गुजर रहा है। मनुष्य कितना ही भौतिक विकास कर ले, कितनी ही ऊँचाई उड़ ले और गहराई नाप ले, यदि उसके जीवनमें सदाचारका अभाव है तो ये विकास, ऊँचाई तथा गहराई—सब-के-सब कागजकी पुड़ियाकी भाँति पानीकी बूँद पड़ते ही घुल जाते हैं, धरे-के-धरे रह जाते हैं। सदाचारके मूलमें आचार है। आचार एक ऐसा आधार-स्तम्भ है, जिसपर जीवनरूपी वृक्ष फलता-फूलता है। जीवनकी यथार्थताको प्रकट करनेका यह एक सशक्त साधन है।

आह्निक सदाचारके संदर्भमें कहा गया है कि ब्राह्ममुहूर्तमें व्यक्ति उठकर सर्वप्रथम अपने आराध्यका स्मरण करे, पश्चात् मल-मूत्र विसर्जन-शुद्धि, मन-वचन-कायकी शुद्धि, आचमन (कुल्ला), दन्तधावन, स्नान, तर्पण (सन्ध्या), वस्त्रधारण, तिलकधारण, होम, जप, मङ्गलदर्शन आदिका विधिवत् पालन करे। ऐसा करनेसे व्यक्तिकी दिनचर्या नियमित तथा स्वास्थ्यवर्धक होती है। श्रीमद्भागवत (७। ११। ८—११)-में तो तीस प्रकारके आचरणोंका उल्लेख मिलता है, जो मानव-समाजके लिये हितकारी—कल्याणकारी है। ये इस प्रकार हैं—सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शी महात्माओंकी सेवा, सांसारिक भोगोंसे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उलटा होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन, अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण।

यदि मनुष्य इनमेंसे किसी एकको भी अपने व्यवहारमें ले आता है और उसका सङ्कल्पपूर्वक पालन करता है तो एक-न-एक दिन शेष उल्लिखित गुण भी उसके जीवनमें समा जायँगे और इस प्रकार उसका जीवन पवित्रतासे भर जायगा। पवित्रताका होना ही सदाचार है।

मानव-जीवन गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त किसी-न-किसी रूपमें संस्कार और सदाचारसे संवेष्टित है। अस्तु, ये दोनों ही मानव-जीवनपर गहरा प्रभाव डालते हैं। ये मानवको असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, अनीतिसे नीतिकी ओर, असभ्यसे सभ्यकी ओर, अशिष्टसे शिष्टकी ओर तथा कृत्रिमसे सहजकी ओर ले जानेमें अर्थात् भौतिक-आध्यात्मिक—सभी रूपोंमें मानवके अभ्युदयमें अपनी प्रभावी भूमिकाका निर्वहण करते हैं। संस्कार-सदाचार—ये वे संवाहक हैं, जो जीवनरथको प्रशस्त पथपर चलाते हुए गन्तव्यतक ले जाते हैं।

संस्कार-सदाचार मनुष्यमें स्नेह, प्रेम, सौहार्द, दया, तप, त्याग, उदारता, सहिष्णुता, परोपकारिता आदि सिद्धान्तोंका बीज वपन करते हैं। ये मानव-ऊर्जाको विध्वंसकारी कार्योंकी अपेक्षा रचनात्मक कार्योंकी ओर रूपान्तरित किये रहते हैं।

इतना ही नहीं, सदाचारसे मण्डित संस्कारी जीवनमें न तो ईर्ष्या, जलन, दाह, कपट, मान-अभिमान, कलह तथा दुर्भावना आदि कुत्सित भाव रहते हैं और न ही माया और लोभके वशीभूत परनिन्दा और आत्मप्रशंसाकी भावना पायी जाती है, किंतु आज मानव-जीवन संस्कार-सदाचारसे विहीन होता दिखायी दे रहा है, जिसका प्रमाण है कि आज समाज और राष्ट्रमें जो होना चाहिये था, उसका सर्वथा अभाव परिलक्षित है। आज युवावर्ग सुशिक्षित तो है, किंतु सुसंस्कारी-सदाचारी नजर नहीं आता। चारित्रिक सुषमा तो उसमें लुप्त ही होती जा रही है। वास्तवमें वह चरित्रसे च्युत होकर अनुशासनहीन होता जा रहा है। आज युवावर्ग ही नहीं, हम सब भी भयभीत एवं अस्थिर हैं। इतना ही नहीं, हमारे जो आदर्श, मूल्य और शिष्टाचार हैं, वे सब अवमूल्यनके गर्तमें समा रहे हैं। इस सबसे हमारी जीवन-पद्धति प्रदूषित हो रही है।

धर्मशास्त्र कहते हैं कि जीवन यदि संस्कार और सदाचारसे रहित है तो वह पशुवत् है। मानव और पशुमें जो भेद परिलक्षित है, उसका मूल श्रेय इन्हीं दोनोंको है।

इस संसारमें मानव-जीवन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जब मानव-जीवन मिला है तो उसका ठीक-ठीक उपयोग करना अर्थात् संस्कार और सदाचारसे सम्पन्न होना ही परम श्रेयस्कर है।

~~~ ० ~~~

समयके सदुपयोगकी महत्ता समझिये

समयकी बरबादीका अर्थ है अपने जीवनको बरबाद करना। जीवनके जो क्षण मनुष्य यों ही आलस्य अथवा उन्मादमें खो देता है, वे फिर कभी लौटकर वापस नहीं आते। जीवनके प्यालेसे क्षणोंकी जितनी बूँदें गिर जाती हैं, प्याला उतना ही खाली हो जाता है। प्यालेकी वह रिक्तता फिर किसी भी प्रकार भरी नहीं जा सकती। मनुष्य जीवनके जितने क्षणोंको बरबाद कर देता है, उतने क्षणोंमें वह जितना काम कर सकता था, उसकी कमी फिर वह किसी प्रकार भी पूरी नहीं कर सकता।

जीवनका हर क्षण एक उज्ज्वल भविष्यकी सम्भावना लेकर आता है। हर घड़ी एक महान् मोड़का समय हो सकती है। मनुष्य यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि जिस समय, जिस क्षण और जिस पलको वह यों ही व्यर्थमें खो रहा है, वही क्षण, वही समय उसके भाग्योदयका समय नहीं है। क्या पता जिस क्षणको हम व्यर्थ समझकर बरबाद कर रहे हैं, वही हमारे लिये अपनी झोलीमें सुन्दर सौभाग्यकी सफलता लाया हो। समयकी चूक पश्चात्तापकी हूक बन जाती है। जीवनमें कुछ करनेकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे अपने किसी भी ऐसे कर्तव्यको भूलकर भी कलपर न टालें, जो आज किया जाना चाहिये। आजके कामके लिये आजका ही दिन निश्चित है और कलके कामके लिये कलका दिन निर्धारित है।

~~~ ० ~~~

आख्यान—

सदाचारका बल

वरुणा नदीके तटपर अरुणास्पद नामके नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा सदाचारी, संस्कारवान् तथा अतिथिवत्सल था। रमणीय वनों एवं उद्यानोंको देखनेकी उसकी बड़ी इच्छा थी। एक दिन उसके घरपर एक ऐसा अतिथि आया, जो मणि-मन्त्रादि विद्याओंका ज्ञाता था और उनके प्रभावसे प्रतिदिन हजारों योजन चला जाता था। ब्राह्मणने उस सिद्ध अतिथिका बड़ा सत्कार किया। बात-चीतके प्रसङ्गमें सिद्धने अनेक वन, पर्वत, नगर, राष्ट्र, नद, नदियों एवं तीर्थोंकी चर्चा चलायी। यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ।

उसने कहा कि मेरी भी इस पृथ्वीको देखनेकी बड़ी इच्छा है। यह सुनकर उदारचित्त आगन्तुक सिद्धने उसे पैरमें लगानेके लिये एक लेप दिया, जिसे लगाकर ब्राह्मण हिमालय पर्वतको देखने चला। उसने सोचा था कि सिद्धके कथनानुसार मैं आधे दिनमें एक हजार योजन चला जाऊँगा तथा शेष आधे दिनमें पुनः लौट आऊँगा।

अस्तु! वह हिमालयके शिखरपर पहुँच गया और उसने वहाँकी पर्वतीय भूमिपर पैदल ही विचरना शुरू किया। बर्फपर चलनेके कारण उसके पैरोंमें लगा हुआ दिव्य लेप धुल गया। इससे उसकी तीव्रगति कुण्ठित हो गयी। अब वह इधर-उधर घूमकर हिमालयके मनोहर शिखरोंका अवलोकन करने लगा। वह स्थान सिद्ध, गन्धर्व, किन्नरोंका आवास हो रहा था। इनके विहारस्थल होनेसे उसकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। वहाँके मनोहर शिखरोंको देखनेसे उसके शरीरमें आनन्दसे रोमाञ्च हो आया।

दूसरे दिन उसका विचार हुआ कि अब घर चलें। पर अब उसे पता चला कि उसके पैरोंकी गति कुण्ठित हो चुकी है। वह सोचने लगा—'अहो! यहाँ बर्फके पानीसे मेरे पैरोंका लेप धुल गया। इधर यह पर्वत अत्यन्त दुर्गम है और मैं अपने घरसे हजारों योजनकी दूरीपर हूँ। अब तो घर न पहुँचनेके कारण मेरे अग्निहोत्रादि नित्यकर्मोंका लोप होना चाहता है। यह तो मेरे ऊपर भयानक संकट आ पहुँचा। इस अवस्थामें किसी तपस्वी या सिद्ध महात्माका दर्शन हो जाता तो वे कदाचित् मेरे घर पहुँचनेका कोई उपाय बतला देते।' इसी समय उसके सामने वरूथिनी नामकी अप्सरा आयी। वह उसके रूपसे आकृष्ट हो गयी थी। उसे सामने देखकर ब्राह्मणने पूछा—'देवि! मैं ब्राह्मण हूँ और अरुणास्पद नगरसे यहाँ आया हूँ। मेरे पैरमें दिव्य लेप लगा हुआ था, उसके धुल जानेसे मेरी दूरगमनकी शक्ति नष्ट हो गयी है और अब मेरे नित्यकर्मोंका लोप होना चाहता है। कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे सूर्यास्तके पूर्व ही अपने घरपर पहुँच जाऊँ।'

वरूथिनी बोली—'महाभाग! यह तो अत्यन्त रमणीय

स्थान है। स्वर्ग भी यहाँसे अधिक रमणीय नहीं है, इसलिये हमलोग स्वर्गको भी छोड़कर यहीं रहते हैं। आपने मेरे मनको हर लिया है। मैं आपको देखकर कामके वशीभूत हो गयी हूँ। मैं आपको सुन्दर वस्त्र, हार, आभूषण, भोजन, अङ्गरागादि दूँगी। आप यहीं रहिये। यहाँ रहनेसे कभी बुढ़ापा नहीं आयेगा। यह यौवनको पुष्ट करनेवाली देवभूमि है।' यों कहते-कहते वह बावली-सी हो गयी और 'मुझपर कृपा कीजिये, कृपा कीजिये' कहती हुई उसका आलिङ्गन करने लगी।

तब ब्राह्मणने कहा—'अरी ओ दुष्टे! मेरे शरीरको न छू। जो तेरे ही जैसा हो, वैसे ही किसी अन्य पुरुषके पास चली जा। मैं कुछ और भावसे प्रार्थना करता हूँ और तू कुछ और भावसे मेरे पास आती है? मूर्खे! यह सारा संसार धर्ममें प्रतिष्ठित है। सायं-प्रातःका अग्निहोत्र, विधिपूर्वक की गयी इज्या ही विश्वको धारण करनेमें समर्थ है और मेरे उस नित्यकर्मका ही यहाँ लोप होना चाहता है। तू तो मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बता, जिससे मैं शीघ्र अपने घर पहुँच जाऊँ।' इसपर वरूथिनी बहुत गिड़गिड़ाने लगी। उसने कहा—'ब्राह्मण! जो आठ आत्मगुण बतलाये गये हैं, उनमें दया ही प्रधान है। आश्चर्य है, तुम धर्मपालक बनकर भी उसकी अवहेलना कैसे कर रहे हो? कुलनन्दन! मेरी तो तुमपर कुछ ऐसी प्रीति उत्पन्न हो गयी है कि सच मानो, अब तुमसे अलग होकर जी न सकूँगी। अब तुम कृपाकर मुझपर प्रसन्न हो जाओ।'

ब्राह्मणने कहा—'यदि सचमुच तुम्हारी मुझमें प्रीति हो तो मुझे शीघ्र कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे मैं तत्काल घर पहुँच जाऊँ।' पर अप्सराने एक न सुनी और नाना प्रकारके अनुनय-विनय तथा विलापादिसे वह उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करती गयी। ब्राह्मणने अन्तमें कहा—'वरूथिनि! मेरे गुरुजनोंने उपदेश दिया है कि परायी स्त्रीकी कदापि अभिलाषा न करे। गुरुजनोंद्वारा प्रदत्त संस्कार इस प्रकारके निन्द्य कर्मोंकी आज्ञा नहीं देते हैं, इसलिये तू चाहे विलख या सूखकर दुबली हो जा; मैं तो तेरा स्पर्श नहीं ही कर सकता, न तेरी ओर दृष्टिपात ही करता हूँ।'

यों कहकर उस महाभागने जलका स्पर्श तथा आचमन किया और गार्हपत्य अग्निको मन-ही-मन कहा—'भगवन्! आप ही सब कर्मोंकी सिद्धिके कारण हैं। आपकी ही तृप्तिसे देवता वृष्टि करते और अन्नादिकी वृद्धिमें कारण बनते हैं। अन्नसे सम्पूर्ण जगत् जीवन धारण करता है और किसीसे नहीं। इस तरह आपसे ही जगत्‌की रक्षा होती है। यदि यह सत्य है तो मैं सूर्यास्तके पूर्व ही घरपर पहुँच जाऊँ। यदि मैंने कभी भी वैदिक कर्मानुष्ठानमें कालका परित्याग न किया हो तो आज घर पहुँचकर डूबनेसे पहले ही सूर्यको देखूँ। यदि मेरे मनमें पराये धन तथा परायी स्त्रीकी अभिलाषा कभी भी न हुई हो तो मेरा यह मनोरथ सिद्ध हो जाय।'

ब्राह्मणके यों कहते ही उनके शरीरमें गार्हपत्य अग्निने प्रवेश किया। फिर तो वे ज्वालाओंके बीचमें प्रकट हुए मूर्तिमान् अग्निदेवकी भाँति उस प्रदेशको प्रकाशित करने लगे और उस अप्सराके देखते-ही-देखते वे वहाँसे

चले तथा एक क्षणमें घर पहुँच गये। घर पहुँचकर पुनः उन्होंने यथाशास्त्र सब कर्मोंका अनुष्ठान किया और बड़ी शान्ति एवं धर्म-प्रीतिसे संस्कारसम्पन्न हो जीवन व्यतीत किया। (मार्कण्डेयपुराण)

संतानोत्पत्तिका वैदिक विज्ञान

चराचर समस्त भूतोंका रस—सार अथवा आधार पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलका रस—उसपर निर्भर करनेवाली ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस—सार पुष्प है, पुष्पका रस फल है, फलका रस—आधार पुरुष है, पुरुषका रस—सार शुक्र है। प्रजापतिने विचार किया कि इस शुक्रकी उपयुक्त प्रतिष्ठाके लिये कोई आधार चाहिये; इसलिये उन्होंने स्त्रीकी सृष्टि की और उसके अधोभाग-सेवनका विधान किया। (यहाँ यदि यह कहा जाय कि इस पाशविक क्रियामें तो प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसके लिये विधान क्यों किया गया है, तो इसका उत्तर यह है कि यह विधान इसीलिये बनाया गया कि जिसमें पुरुषोंकी स्वेच्छाचारिताका निरोध हो और इस विज्ञानसे परिचित पुरुषोंके द्वारा केवल श्रेष्ठ संतानोत्पत्तिके लिये ही इसका सेवन किया जाय।) इसके लिये प्रजापतिने प्रजननेन्द्रियको उत्पन्न किया। अतएव इस विषयसे घृणा नहीं करनी चाहिये। अरुणके पुत्र विद्वान् उद्दालक और नाक-मौद्गल्य तथा कुमारहारीत ऋषिने भी कहा है कि बहुत-से ऐसे मरणधर्मा नाममात्रके ब्राह्मण हैं जो निरिन्द्रिय, सुकृतहीन, मैथुन-विज्ञानसे अपरिचित होकर भी मैथुन-कर्ममें आसक्त होते हैं। उनकी परलोकमें दुर्गति होती है। (इससे अशास्त्रीय तथा अबाध मैथुन-कर्मका पापहेतुत्व सूचित किया गया है।)

इस प्रकार मन्थ-कर्म करके ब्रह्मचर्यधारणपूर्वक पुरुषको पत्नीके ऋतुकालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि इस बीचमें स्वप्नदोषादिके द्वारा शुक्र-क्षरण हो जाय तो उसकी पुनःप्राप्ति तथा वृद्धिके लिये 'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः। इदमहं तद्रेत आददे।' तथा 'पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्।' इन मन्त्रोंका पाठ करे। (इससे स्वप्नदोषादि व्याधियोंका नाश होता है।)

यदि कदाचित् जलमें अपनी छाया दीख जाय तो 'मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणः सुकृतम्।' (मुझे तेज, इन्द्रियशक्ति, यश, धन और पुण्यकी प्राप्ति हो) इस मन्त्रको पढ़े। ऋतुकालकी तीन रात बीतनेपर जब पत्नी स्नान करके शुद्ध हो जाय, तब 'स्त्रियोंमें मेरी यह पत्नी लक्ष्मीके समान है, इसलिये निर्मल वस्त्र पहने हुए है' यह विचारकर उस यशस्विनी पत्नीके समीप जाकर 'हम दोनों संतानोत्पादनके लिये क्रिया करेंगे' कहकर आमन्त्रण करे। लज्जा अथवा हठवश स्त्री यदि मिथुन-धर्मके लिये अस्वीकार करे तो उसे आभरणादिद्वारा तथा अभिशापादिद्वारा प्रेरित करे। पुरुषके 'इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे' इस मन्त्रयुक्त अभिशापसे स्त्री अयशस्विनी—वन्ध्या हो जाती है, परंतु यदि स्त्री अपने स्वामीकी अभिलाषा पूर्ण करती है तो स्वामीके 'इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि' इस मन्त्रपाठपूर्वक उपगत होनेसे पत्नी निश्चय ही यशस्विनी—पुत्रवती होती है। मन्थोपासक अपनी पत्नीको कामनापरायण करना चाहे तो उस समय वह 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयि।' मन्त्रका जप करे।

यदि किसी कारणवश गर्भनिरोधकी आवश्यकता हो तो उस समय 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे' मन्त्रका जाप करे। ऐसा करनेपर पत्नी गर्भवती नहीं होगी* और यदि यह इच्छा हो कि पत्नी गर्भधारण करे तो उस समय 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि' इस मन्त्रका पाठ करे; इससे वह निश्चय ही गर्भवती हो जायगी।

यदि कभी अपनी भार्याके साथ किसी जारका सम्बन्ध हो जाय और उसे दण्ड देना हो तो पहले कच्ची मिट्टीके बरतनमें अग्नि स्थापन करके समस्त कर्मोंको विपरीत रीतिसे करे और कुछ सरके—तिनकोंके अग्रभागको

* आजकल गर्भनिरोधके लिये कैसी-कैसी तामसी क्रियाएँ की जाती हैं; पर ये होती हैं प्रायः असंयमकी वृद्धिके लिये। मूलतः यह वैदिक प्रक्रिया थी अपनी धर्मपत्नीको कभी गर्भधारण न कराना हो तो उसके लिये। संयमी पुरुष ही ऐसा कर सकते थे।

घीमें भिगोकर विपरीत क्रमसे ही उनका होम करे। आहुतिके पहले 'मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसौ' आदि मन्त्रोंका पाठ करके अन्तमें प्रत्येक बार 'असौ' बोलकर उसका नाम ले। इस प्रकार करनेसे वह पुण्यसे स्खलित होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

ऋतुमती पत्नीका त्रिरात्र व्रत (तीन रात्रियोंका पृथक् निवासादि) समाप्त होनेपर स्नान करनेके बाद उसे धान कूटना आदि गृहस्थीका काम करना चाहिये। तीन दिनोंतक उसे अलग रहना चाहिये, किसीका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र गौरवर्ण हो, एक वेदका अध्ययन करनेवाला हो और पूरे सौ वर्षोंतक जीवित रहे, उसको दूध-चावलकी खीर बनाकर उसमें घी मिलाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो कपिलवर्ण, दो वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्णायु पुत्र चाहता हो, उसको दहीमें चावल पकाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, वेदत्रयीका अध्ययन करनेवाले, पूर्णायु पुत्रकी इच्छा करता हो, उसे जलमें चावल पकाकर घी मिलाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो चाहता हो कि मेरे पूर्ण आयुवाली विदुषी कन्या हो, उसे तिल-चावलकी खिचड़ी बनाकर पत्नीसहित खाना चाहिये और जो चाहता हो कि मेरा पुत्र प्रसिद्ध पण्डित, वेदवादियोंकी सभामें जानेवाला, सुन्दर वाणी बोलनेवाला, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्ण आयुष्मान् हो, वह ओषधियोंका गूदा और चावलकी खिचड़ी पकाकर उसमें 'उक्षा'* अथवा 'ऋषभ'** नामक बल-वीर्यवर्द्धक ओषधि मिलाकर घृतसहित पति-पत्नी दोनों भोजन करें।

गर्भाधान करनेवालेको प्रातःकाल ही स्थालीपाकविधिके अनुसार घीका संस्कार (शोधन) करके और चरुपाक बनाकर 'अग्नये स्वाहा', 'अनुमतये स्वाहा' एवं 'देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा' इन मन्त्रोंसे अग्निमें आहुतियाँ देनी चाहिये। होम समाप्त करके चरुमें बचा हुआ भोजन करके शेष भोजन पत्नीको कराना चाहिये। फिर हाथ धोकर जलका कलश भरके 'उत्तिष्ठातोविश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह' मन्त्रके द्वारा पत्नीका तीन बार अभ्युक्षण (अभिषेचन) करना चाहिये।

तदनन्तर पति अपनी कामनाके अनुसार पत्नीको भोजन कराके शयनके समय बुलाकर कहे कि 'देखो, मैं अम (प्राण) हूँ और तुम प्राणरूप मेरे अधीन वाक् हो। मैं साम हूँ और तुम सामका आधाररूप ऋक् हो, मैं आकाश हूँ और तुम पृथिवी हो। अतएव आओ, तुम-हम दोनों मिलें, जिससे हमें पुत्र संतान और तदनुगत धनकी प्राप्ति हो।' इसके पश्चात् 'द्यावा पृथिवी' इत्यादि

---

* 'उक्षा' शब्दके कोषमें दो प्रकारके अर्थ मिलते हैं। कलकत्तेसे प्रकाशित 'वाचस्पत्य' नामक बृहत् संस्कृताभिधानमें उसे अष्टवर्गान्तर्गत 'ऋषभ' नामक ओषधिका पर्याय माना गया है—'ऋषभ ओषधौ च'। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सर मोनियर विलियम्सने अपने बृहत् संस्कृत-अंग्रेजी कोषमें इसे 'सोम' नामक पौधेका पर्याय माना है।

** 'ऋषभ' नामक ओषधिका आयुर्वेदके अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'सुश्रुतसंहिता' के 'सूत्रस्थान' नामक प्रथम खण्डके ३८ वें अध्यायमें (जो द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय भी कहलाता है) सैंतीस द्रव्यगणोंके अन्तर्गत उल्लेख हुआ है। 'भावप्रकाश' नामक प्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थमें उसका वर्णन इस रूपमें आया है—

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ। रसोनकन्दवत् कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ॥
........................ऋषभो वृषशृङ्गवत्। ....॥
ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि।
जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ। मधुरौ पित्तदाहघ्नौ कासवातक्षयापहौ॥

'जीवक और ऋषभक (ऋषभ) नामकी ओषधियाँ हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती हैं। इनकी जड़ लहसुनके सदृश होती है। दोनोंमें ही गूदा नहीं होता, केवल त्वचा होती है; दोनोंमें छोटी-छोटी पत्तियाँ होती हैं। इनमेंसे ऋषभ बैलके सींगकी आकृतिका होता है। इसके दूसरे नाम हैं—वृषभ, धीर, विषाणी, द्राक्ष आदि। जीवक और ऋषभ दोनों ही बलकारक, शीत, वीर्य और कफ बढ़ानेवाले, मधुर, पित्त और दाहका शमन करनेवाले तथा खाँसी एवं वातरोगका नाश करनेवाले हैं।'

ऋषभकी प्रसिद्ध अष्टवर्ग नामक ओषधियोंमें गणना है। भावप्रकाशकार लिखते हैं—

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके। अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः॥

मन्त्रसे सम्बोधन करके 'विष्णुर्योनिं' इत्यादि मन्त्रके अनुसार प्रार्थना करे 'भगवान् विष्णु तुम्हारी जननेन्द्रियको पुत्रोत्पादनमें समर्थ करें, त्वष्टा सूर्य रूपोंको दर्शनयोग्य करें, विराट् पुरुष प्रजापति रेत:सेचन करायें, सूत्रात्मा विधाता तुममें अभिन्नभावसे स्थित होकर गर्भ धारण करें। सिनीवाली नामकी अत्यन्त सुन्दर देवता तुममें अभेदरूपसे एवं पृथुष्टुका नामकी महान् स्तुतिशाली देवता भी तुममें हैं।' मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि 'हे सिनीवाली! हे पृथुष्टुके! तुम इस गर्भको धारण करो। दोनों अश्विनीकुमार अथवा चन्द्र-सूर्य तुम्हारे साथ रहकर इस गर्भको धारण करें।'

'दोनों अश्विनीकुमार हिरण्मय दो अरणियोंके द्वारा मन्थन करते हैं। मैं दसवें मासमें प्रसव होनेके लिये गर्भाधान करता हूँ। पृथ्वी जैसे अग्निगर्भा है, आकाश जैसे सूर्यके द्वारा गर्भवती है, दिशाएँ जैसे वायुके द्वारा गर्भवती हैं, मैं तुमको उसी प्रकार गर्भ अर्पण करके गर्भवती करता हूँ।' यों कहकर गर्भाधान करे।

तदनन्तर सुखपूर्वक प्रसव हो जाय, इसके लिये 'यथा वायुः' इत्यादि मन्त्रके द्वारा आसन्नप्रसवा पत्नीका अभिषेचन करे और कहे—'जैसे वायु पुष्करिणीको सब ओरसे हिला देता है, वैसे ही तुम्हारा गर्भ भी अपने स्थानसे खिसककर जेरके साथ बाहर निकल आये। तुम्हारे तेजस्वी गर्भका मार्ग रुका हुआ है और चारों ओर जेरसे घिरा है। गर्भके साथ उस जेरको भी वे निकाल बाहर करें और गर्भ निकलनेके समय जो मांस-पेशी बाहर निकला करती है, वह भी निकल जाय।'

जातकर्म

पुत्रका जन्म हो जानेपर अग्निस्थापन करके पुत्रको गोदमें ले और आज्यस्थालीमें दही मिला हुआ घृत रखकर उसे थोड़ा-थोड़ा लेकर यह कहता हुआ बार-बार अग्निमें होम करे कि 'इस अपने घरमें मैं पुत्ररूपसे बढ़कर सहस्रों मनुष्योंका पालन करूँ; मेरे इस पुत्रके वंशमें संतान-लक्ष्मी तथा पशु-सम्पत्ति लगातार बनी रहे; मुझमें (पितामें) जो प्राण (इन्द्रियाँ) हैं, वे सभी मन-ही-मन मैं तुम्हें (पुत्रको) दे रहा हूँ; मेरे इस कर्ममें कोई न्यूनाधिकता हो गयी हो तो विद्वान् एवं वाञ्छापूरक अग्नि उसे पूर्ण कर दें।'

तदनन्तर पिता बालकके दाहिने कानमें अपना मुख लगाकर 'वाक्, वाक्, वाक्' इस प्रकार तीन बार जप करे। तदनन्तर दधि, मधु और घृत मिलाकर पास ही रखे हुए सोनेके पात्रके द्वारा क्रमशः—

'भूस्ते दधामि', 'भुवस्ते दधामि', 'स्वस्ते दधामि', 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि॥'

—यों कहकर चार बार उसे चटाये। फिर पिता उस पुत्रका 'वेदोऽसि' बोलकर 'नामकरण' करे—'वेद' यह नाम रखे। उसका यह नाम अत्यन्त गोपनीय होता है। इसे सर्वसाधारणमें प्रकट नहीं करना चाहिये। इसके बाद गोदमें स्थित उस शिशुको माताकी गोदमें रखकर तथा स्तन देकर इस मन्त्रका पाठ करे—

'यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति॥'

अर्थात् 'हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूधका अक्षय भण्डार तथा पोषणका आधार है, जो रत्नोंकी खान है तथा सम्पूर्ण धन-राशिका ज्ञाता एवं उदार-दानी है और जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थोंका पोषण करती हो, तुम इस सत्पुत्रके जीवन-धारणार्थ उस स्तनको मेरी भार्यामें प्रविष्ट करा कर इस शिशुके मुखमें दे दो।'

तदनन्तर बालककी माताको इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—उसे सम्बोधन करके कहे, 'तुम ही स्तुतिके योग्य मैत्रावरुणी (अरुन्धती) हो; हे वीरे! तुमने वीर पुत्रको जन्म देकर हमें वीरवान्—वीर पुत्रका पिता बनाया है, अतः तुम वीरवती हो। इसे लोग कहें—'तू सचमुच अपने पितासे भी आगे बढ़ गया, तू निस्संदेह अपने पितामहसे भी श्रेष्ठ निकला।'

इस प्रकार विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न जो पुत्र होता है, वह श्री, यश और ब्रह्मतेजके द्वारा सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त कर लेता है। (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ६, चतुर्थ ब्राह्मण)

शुभ संतानप्राप्तिका शास्त्रीय उपाय

शङ्का—वर्तमानमें अशुभ संतानें बहुत उत्पन्न हो रही हैं, जिससे व्यक्ति, परिवार और समाजमें सर्वत्र अशान्ति व्याप्त हो रही है, इसका क्या कारण है? इससे बचकर शुभ संतानकी प्राप्तिका यदि कोई उपाय हो तो बतानेकी कृपा कीजिये।

समाधान—अशुभ विवाह, अशुभ रीतिसे गर्भाधान, अशुभ खान-पान, अशुभ शिक्षा-दीक्षा आदि कारणोंसे अशुभ संतान उत्पन्न होती है। इससे बचकर शुभ संतान उत्पन्न करनेका उपाय है—शास्त्रीय विधिसे शुभ विवाह, शुभ विधिसे गर्भाधान, शुभ खान-पान और शुभ शिक्षा-दीक्षा। इन्हींका यहाँ संक्षेपमें विवेचन किया जा रहा है—

शुभ विवाह—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥
सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत्॥

(मनु० ३।५, १२, ४२)

'जो अपने माता-पिताके समान गोत्र तथा पिण्डवाली न हो, ऐसी कन्या विवाह एवं मैथुनमें द्विजातियोंके लिये श्रेष्ठ होती है। द्विजातियोंके लिये अपनी जातिकी कन्या (शास्त्रविधिसे माता-पिताद्वारा किये गये) विवाहके लिये श्रेष्ठ होती है। अनिन्दित विवाहोंसे अनिन्दित संतान होती है तथा (प्रेम-विवाह आदि) निन्दित विवाहोंसे निन्दित संतान होती है, इसलिये निन्द्य विवाहोंका त्याग कर देना चाहिये।'

शुभ भावसे गर्भाधान—

यादृशेन हि भावेन योनौ शुक्रं समुत्सृजेत्॥
तादृशेन हि भावेन संतानं सम्भवेदिति।

(आदि० [illegible])

'जिस भावसे योनिमें वीर्य [illegible] भावसे युक्त संतान होती है।' इसलि[illegible] करते समय जैसे सुपुत्रकी [illegible] युक्त होना चाहिये। पुराणोंमें [illegible] मिलते हैं।

शुभ कालमें गर्भाधान—

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥

(मनु० ४।१२८)

'अमावास्या, अष्टमी, पौर्णमासी, चतुर्दशी—इन चार तिथियोंमें ऋतुकाल होनेपर भी द्विजको ब्रह्मचारी रहना चाहिये।'

इन निषिद्ध तिथियोंमें तथा सूर्य-चन्द्र-ग्रहणकालमें और सन्ध्याकालमें गर्भाधान करनेसे अशुभ संतान उत्पन्न होती है। संध्याकालमें गर्भधारणके कारण ही रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष आदि दुष्टोंकी उत्पत्ति हुई थी, ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। इसलिये इन अशुभ कालोंमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये।

गर्भकालमें माताकी भावना—जब गर्भमें संतान होती है, तब माता जैसी सात्त्विक, राजस, तामस भावनासे भावित रहती है, जैसा अच्छा-बुरा देखती, सुनती, पढ़ती, खाती-पीती है, उन सबका गर्भमें स्थित संतानपर प्रभाव पड़ता है। इसलिये गर्भवती स्त्रीको राजस-तामस भावोंसे बचकर सात्त्विक भावनाएँ करनी चाहिये। गंदे सिनेमा-टेलीविजन, पोस्टर न देखकर सात्त्विक देवदर्शन, संतदर्शन आदि ही करना चाहिये। गंदे गीत सुनना-गाना छोड़कर सात्त्विक भजन-कीर्तन ही सुनना-गाना चाहिये। गंदे उपन्यास पढ़ना-सुनना-सुनाना छोड़कर रामायण, भागवत आदि सात्त्विक ग्रन्थ ही पढ़ना-सुनना-सुनाना चाहिये। राजस-तामस, मांस-मदिरा-अंडा-प्याज-लहसुन, अति तीक्ष्ण मिर्च-मसाला छोड़कर सात्त्विक दूध-घी-दाल-रोटी आदि ही खाना-पीना चाहिये। गर्भकालीन भावनाका संतानपर प्रभाव पड़ता है, इसमें प्रमाण प्रह्लादजीका चरित्र है।

जन्मोत्तर शिक्षा—ऊपर लिखे गर्भकालमें माताको [illegible] जिन सात्त्विक भावोंके सेवन क[illegible] [illegible] है, उनका [illegible] तभी

चाहिये कि ये अभी छोटे बच्चे हैं, कुछ समझते ही नहीं, अतः जो देखते, सुनते, गाते हैं, उनका इनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। यद्यपि यह सत्य है कि ३-४-५ वर्षके बच्चे गंदे चित्रों तथा गंदे गीतोंका भाव बिलकुल नहीं समझते, फिर भी उसका प्रभाव तो पड़ता ही है। इसमें प्रत्यक्ष प्रबल प्रमाण यह है कि गंदे चित्रोंको देखने तथा गंदे गीतोंको गानेवाले बच्चोंको युवावस्थासे पूर्व ही वे बातें समझमें आने लगती हैं और वे वैसी चेष्टाएँ भी करने लगते हैं।

बच्चोंका हृदय गीली मिट्टीके लोंदेके समान होता है, उसे जैसे साँचेमें डाला जायगा वैसा बन जायगा। बाल्यावस्थामें डाले सात्त्विक संस्कारोंका कोई विरोधी संस्कार न होनेसे उनका इतना गहरा प्रभाव होता है कि वह जीवनभर नष्ट नहीं होता। यही कारण है कि राजस-तामस संस्कार बाल्यावस्थामें पड़ जानेके बाद सात्त्विक संस्कार बलपूर्वक डालनेपर भी उनका गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये प्रारम्भसे बच्चोंमें सात्त्विक संस्कार डालना चाहिये।

शुभ संतान-प्राप्तिके लिये ऊपर लिखी गयी सभी बातोंका पालन होना चाहिये। इसके अतिरिक्त शुभ संतानकी प्राप्तिके लिये जन्मान्तरीय कर्मरूप प्रारब्ध भी हेतु होता है, परंतु उसपर पुरुषका पुरुषार्थ कार्य नहीं कर सकता, इसलिये उसकी चर्चा नहीं की गयी है।

गर्भाधान-संस्कारका वैशिष्ट्य

(डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र, वेदाचार्य)

भारतीय संस्कृतिमें मानवका चरम लक्ष्य पूर्णता तथा आनन्दस्वरूपताको माना गया है। भारतीय दर्शनोंमें ज्ञानको पूर्णता तथा निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिका प्रमुख साधन निर्धारित किया गया है। ज्ञानके समुचित विकाससे युक्त होनेके कारण मानवीय समुदायको संस्कृतभाषामें 'समाज' संज्ञा (द्र० अमरकोष २।५।४२, पाणिनिसूत्र ३।६।६९)-से अभिहित किया गया है। भारतीय विचारदृष्टिसे उसी समाजकी सुदृढ़ता तथा पूर्णता मानी जाती है, जिसमें स्वास्थ्य, शिक्षा, धैर्य, बल, सम्पत्ति तथा भोग—इन छः पदार्थोंका समानरूपसे भलीभाँति ध्यान रखा जाता है। इस संदर्भमें तैत्तिरीयोपनिषद् (२।८।२)-का उपदेश है—

'युवा स्यात् साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।'

आनन्दकी धर्मरूपता

उक्त छः पदार्थोंमें किसी एककी अतिशयता अथवा किसी एककी हानिसे कोई भी समाज शिथिल तथा अपूर्ण हो जाता है, यह भारतीय दृष्टि है; क्योंकि ये छः पदार्थ ही समुदितरूपसे मानवके आनन्द हैं। भारतीय आर्य सामाजिक व्यवस्था इन छः पदार्थोंका समानरूपसे आदर करती है। अतः आचार्योंने समाजके स्वरूपमें पूर्णत्वके प्रापक ज्ञान-तत्त्वको आश्रय माना है, साथ ही न्यायदर्शनकी दृष्टिसे प्राप्तव्य आत्मगुण नामक धर्मतत्त्वके अन्तर्गत आनन्दको भी समाजके आश्रयके रूपमें स्वीकार किया है।

इस प्रकार ज्ञान तथा धर्मके द्वारा पूर्णता एवं आनन्दका विशिष्ट संतुलन भारतीय समाजकी विशेषता है। अन्य विचारकोंकी दृष्टिमें धर्म तथा व्यवहारका पार्थक्य है। अतः लौकिक व्यवहारमें प्रत्यक्षदृष्टके प्रति ही विश्वासके कारण आधुनिकोंकी दृष्टिमें शारीरिक विषयसुख ही आनन्द हैं एवं उस सुख-सुविधाके लिये ही समाजकी व्यवस्था निरूपित है, परंतु भारतीय संस्कृतिमें धर्मका व्यापक तथा व्यावहारिक स्वरूप है। भारतीय धर्म मात्र ईश्वर, अतीन्द्रिय तत्त्व अथवा परलोकके विषयमें ही सीमित नहीं है, अपितु मानवके प्रत्येक दैनन्दिन कार्यमें धर्मका सम्बन्ध भारतीय परम्परामें माना गया है। एतदर्थ महाभारतमें स्पष्ट उल्लेख है—

'लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।'

यह व्यावहारिक धर्म आत्मदर्शनका साधन है। फलतः भारतीय समाजव्यवस्था केवल विषयसुखकी सुविधाके लिये प्रवृत्त नहीं है, अपितु आनन्दमय पथसे आत्मदर्शनरूपी ज्ञानके चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है। अतः गागाभट्टने धर्मकी यह परिभाषा प्रस्तुत की है—

शुभ संतानप्राप्तिका शास्त्रीय उपाय

शङ्का—वर्तमानमें अशुभ संतानें बहुत उत्पन्न हो रही हैं, जिससे व्यक्ति, परिवार और समाजमें सर्वत्र अशान्ति व्याप्त हो रही है, इसका क्या कारण है? इससे बचकर शुभ संतानकी प्राप्तिका यदि कोई उपाय हो तो बतानेकी कृपा कीजिये।

समाधान—अशुभ विवाह, अशुभ रीतिसे गर्भाधान, अशुभ खान-पान, अशुभ शिक्षा-दीक्षा आदि कारणोंसे अशुभ संतान उत्पन्न होती है। इससे बचकर शुभ संतान उत्पन्न करनेका उपाय है—शास्त्रीय विधिसे शुभ विवाह, शुभ विधिसे गर्भाधान, शुभ खान-पान और शुभ शिक्षा-दीक्षा। इन्हींका यहाँ संक्षेपमें विवेचन किया जा रहा है—

शुभ विवाह—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥
सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत्॥

(मनु० ३।५, १२, ४२)

'जो अपने माता-पिताके समान गोत्र तथा पिण्डवाली न हो, ऐसी कन्या विवाह एवं मैथुनमें द्विजातियोंके लिये श्रेष्ठ होती है। द्विजातियोंके लिये अपनी जातिकी कन्या (शास्त्रविधिसे माता-पिताद्वारा किये गये) विवाहके लिये श्रेष्ठ होती है। अनिन्दित विवाहोंसे अनिन्दित संतान होती है तथा (प्रेम-विवाह आदि) निन्दित विवाहोंसे निन्दित संतान होती है, इसलिये निन्द्य विवाहोंका त्याग कर देना चाहिये।'

शुभ भावसे गर्भाधान—

यादृशेन हि भावेन योनौ शुक्रं समुत्सृजेत्॥
तादृशेन हि भावेन संतानं सम्भवेदिति।

(नारदपु० २।२७।२९-३०)

'जिस भावसे योनिमें वीर्य डाला जाता है, उसी भावसे युक्त संतान होती है।' इसलिये मनुष्यको गर्भाधान करते समय जैसे सुपुत्रकी इच्छा हो, वैसे शुभ भावसे युक्त होना चाहिये। पुराणोंमें तो इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

शुभ कालमें गर्भाधान—

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥

(मनु० ४।१२८)

'अमावास्या, अष्टमी, पौर्णमासी, चतुर्दशी—इन चार तिथियोंमें ऋतुकाल होनेपर भी द्विजको ब्रह्मचारी रहना चाहिये।'

इन निषिद्ध तिथियोंमें तथा सूर्य-चन्द्र-ग्रहणकालमें और सन्ध्याकालमें गर्भाधान करनेसे अशुभ संतान उत्पन्न होती है। संध्याकालमें गर्भधारणके कारण ही रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष आदि दुष्टोंकी उत्पत्ति हुई थी, ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। इसलिये इन अशुभ कालोंमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये।

गर्भकालमें माताकी भावना—जब गर्भमें संतान होती है, तब माता जैसी सात्त्विक, राजस, तामस भावनासे भावित रहती है, जैसा अच्छा-बुरा देखती, सुनती, पढ़ती, खाती-पीती है, उन सबका गर्भमें स्थित संतानपर प्रभाव पड़ता है। इसलिये गर्भवती स्त्रीको राजस-तामस भावोंसे बचकर सात्त्विक भावनाएँ करनी चाहिये। गंदे सिनेमा-टेलीविजन, पोस्टर न देखकर सात्त्विक देवदर्शन, संतदर्शन आदि ही करना चाहिये। गंदे गीत सुनना-गाना छोड़कर सात्त्विक भजन-कीर्तन ही सुनना-गाना चाहिये। गंदे उपन्यास पढ़ना-सुनना-सुनाना छोड़कर रामायण, भागवत आदि सात्त्विक ग्रन्थ ही पढ़ना-सुनना-सुनाना चाहिये। राजस-तामस, मांस-मदिरा-अंडा-प्याज-लहसुन, अति तीक्ष्ण मिर्च-मसाला छोड़कर सात्त्विक दूध-घी-दाल-रोटी आदि ही खाना-पीना चाहिये। गर्भकालीन भावनाका संतानपर प्रभाव पड़ता है, इसमें प्रमाण प्रह्लादजीका चरित्र है।

जन्मोत्तर शिक्षा—ऊपर लिखे गर्भकालमें माताकी भावना नामक शीर्षकमें जिन सात्त्विक बातोंके सेवन तथा राजस-तामस बातोंके त्यागका विधान किया गया है, उनका सेवन और त्याग संतानोंसे भी कराना चाहिये। तभी गर्भकालमें की गयी माताकी भावनाओंको प्रकट होनेमें सहायता होगी, नहीं तो राजस-तामसका सेवन करानेसे वे सात्त्विक भावनारूप बीज नष्ट हो जायँगे। यह नहीं समझना

चाहिये कि ये अभी छोटे बच्चे हैं, कुछ समझते ही नहीं, अत: जो देखते, सुनते, गाते हैं, उनका इनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। यद्यपि यह सत्य है कि ३-४-५ वर्षके बच्चे गंदे चित्रों तथा गंदे गीतोंका भाव बिलकुल नहीं समझते, फिर भी उसका प्रभाव तो पड़ता ही है। इसमें प्रत्यक्ष प्रबल प्रमाण यह है कि गंदे चित्रोंको देखने तथा गंदे गीतोंको गानेवाले बच्चोंको युवावस्थासे पूर्व ही वे बातें समझमें आने लगती हैं और वे वैसी चेष्टाएँ भी करने लगते हैं।

बच्चोंका हृदय गीली मिट्टीके लोंदेके समान होता है, उसे जैसे साँचेमें डाला जायगा वैसा बन जायगा। बाल्यावस्थामें डाले सात्त्विक संस्कारोंका कोई विरोधी संस्कार न होनेसे उनका इतना गहरा प्रभाव होता है कि वह जीवनभर नष्ट नहीं होता। यही कारण है कि राजस-तामस संस्कार बाल्यावस्थामें पड़ जानेके बाद सात्त्विक संस्कार बलपूर्वक डालनेपर भी उनका गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये प्रारम्भसे बच्चोंमें सात्त्विक संस्कार डालना चाहिये।

शुभ संतान-प्राप्तिके लिये ऊपर लिखी गयी सभी बातोंका पालन होना चाहिये। इसके अतिरिक्त शुभ संतानकी प्राप्तिके लिये जन्मान्तरीय कर्मरूप प्रारब्ध भी हेतु होता है, परंतु उसपर पुरुषका पुरुषार्थ कार्य नहीं कर सकता, इसलिये उसकी चर्चा नहीं की गयी है।

~~0~~

गर्भाधान-संस्कारका वैशिष्ट्य

(डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र, वेदाचार्य)

भारतीय संस्कृतिमें मानवका चरम लक्ष्य पूर्णता तथा आनन्दस्वरूपताको माना गया है। भारतीय दर्शनोंमें ज्ञानको पूर्णता तथा निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिका प्रमुख साधन निर्धारित किया गया है। ज्ञानके समुचित विकाससे युक्त होनेके कारण मानवीय समुदायको संस्कृतभाषामें 'समाज' संज्ञा (द्र० अमरकोष २।५।४२, पाणिनिसूत्र ३।६।६९)-से अभिहित किया गया है। भारतीय विचारदृष्टिसे उसी समाजकी सुदृढ़ता तथा पूर्णता मानी जाती है, जिसमें स्वास्थ्य, शिक्षा, धैर्य, बल, सम्पत्ति तथा भोग—इन छ: पदार्थोंका समानरूपसे भलीभाँति ध्यान रखा जाता है। इस संदर्भमें तैत्तिरीयोपनिषद् (२।८।२)-का उपदेश है—

'युवा स्यात् साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।'

आनन्दकी धर्मरूपता

उक्त छ: पदार्थोंमें किसी एककी अतिशयता अथवा किसी एककी हानिसे कोई भी समाज शिथिल तथा अपूर्ण हो जाता है, यह भारतीय दृष्टि है; क्योंकि ये छ: पदार्थ ही समुदितरूपसे मानवके आनन्द हैं। भारतीय *आर्य सामाजिक व्यवस्था* इन छ: पदार्थोंका समानरूपसे आदर करती है। अत: आचार्योंने समाजके स्वरूपमें पूर्णत्वके प्रापक ज्ञान-तत्त्वको आश्रय माना है, साथ ही न्यायदर्शनकी दृष्टिसे प्राप्तव्य आत्मगुण नामक धर्मतत्त्वके अन्तर्गत आनन्दको भी समाजके आश्रयके रूपमें स्वीकार किया है।

इस प्रकार ज्ञान तथा धर्मके द्वारा पूर्णता एवं आनन्दका विशिष्ट संतुलन भारतीय समाजकी विशेषता है। अन्य विचारकोंकी दृष्टिमें धर्म तथा व्यवहारका पार्थक्य है। अत: लौकिक व्यवहारमें प्रत्यक्षदृष्टके प्रति ही विश्वासके कारण आधुनिकोंकी दृष्टिमें शारीरिक विषयसुख ही आनन्द है एवं उस सुख-सुविधाके लिये ही समाजकी व्यवस्था निरूपित है, परंतु भारतीय संस्कृतिमें धर्मका व्यापक तथा व्यावहारिक स्वरूप है। भारतीय धर्म मात्र ईश्वर, अतीन्द्रिय तत्त्व अथवा परलोकके विषयमें ही सीमित नहीं है, अपितु मानवके प्रत्येक दैनन्दिन कार्यमें धर्मका सम्बन्ध भारतीय परम्परामें माना गया है। एतदर्थ महाभारतमें स्पष्ट उल्लेख है—

'लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।'

यह व्यावहारिक धर्म आत्मदर्शनका साधन है। फलत: भारतीय समाजव्यवस्था केवल विषयसुखकी सुविधाके लिये प्रवृत्त नहीं है, अपितु आनन्दमय पथसे आत्मदर्शनरूपी ज्ञानके चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है। अत: *गागाभट्टने* धर्मकी यह परिभाषा प्रस्तुत की है—

'अलौकिकश्रेयस्साधनत्वेन विहितक्रियात्वं विहितत्वं वा धर्मत्वम्।'

संस्कारोंका उद्देश्य तथा क्रम

धर्मकी व्यावहारिक स्थितिको प्रत्येक मानवमें प्रतिष्ठापित करनेके उद्देश्यसे भारतीय तत्त्वचिन्तकोंने प्रत्येक मानवके लिये संस्कारोंका विधान किया है। 'संस्कार' शब्दका अभिप्राय है—दोषापाकरणपूर्वक गुणाधान अर्थात् शुद्धिकी धार्मिक क्रियाओं तथा दैहिक, मानसिक एवं बौद्धिक परिष्कारके उद्देश्यसे किये जानेवाले अनुष्ठान, जिनके अनुपालनसे व्यक्ति समाजका पूर्णतः विकसित सदस्य हो सके। अतः संस्कारोंमें अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य संस्कार्यके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका परिष्कार, शुद्धि एवं पूर्णता है। वैदिक गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियोंकी मान्यता है कि संस्कारोंके सविधि अनुष्ठानसे विलक्षण तथा चिरस्थायी विशिष्ट व्यक्तिनिष्ठ गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। अतः मित्रमिश्रने संस्कारकी परिभाषा इस प्रकार प्रतिपादित की है—

'आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः।'

विभिन्न भारतीय आचार्योंकी दृष्टिमें संस्कारोंकी संख्या तथा क्रममें मतभेद है। गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियोंमें ग्यारहसे प्रारम्भकर चालीसतक संस्कारोंका परिगणन है; परंतु निबन्ध-ग्रन्थोंमें सार-संग्रहकी दृष्टिसे सोलह संस्कारोंको मुख्यतः माना गया है। इन सोलह संस्कारोंका क्रम इस प्रकार है—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूड़ाकरण, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि। यह संस्कारसमूह मानव-जीवनको शुद्ध करनेकी चरणबद्ध प्रक्रिया है। लौकिक जीवनमें मानुष-आनन्दका संचय करते हुए च्युतिरहित चरम लक्ष्यकी प्राप्ति संस्कारोंका फल है। इस संदर्भमें वीरमित्रोदयमें शङ्ख-लिखितका वचन उद्धृत है—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः।

गर्भाधान-संस्कारकी प्राथमिकता

संस्कारोंकी परिगणनामें गर्भाधान-संस्कार प्रथम है। इस संस्कारको प्राथमिकता देना भौतिकवादियोंकी दृष्टिसे भारतीय धर्मका आश्चर्यजनक प्रारम्भ माना जा सकता है। परंतु वस्तुतः यही संस्कार मानवके प्रादुर्भावमें प्राथमिक पवित्रता एवं शुद्ध भावनाका बीजारोपण करता है। अन्य समाजोंकी भाँति भारतीय समाजमें मानवके उद्भवको भौतिक पदार्थोंकी संयोगजन्य क्रिया अथवा विकारके रूपमें नहीं माना गया है, अपितु मानवीय उत्पत्तिको भारतीय ऋषियोंने धर्मकी दृष्टिसे प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार विश्वकी अन्य सभ्यताओंमें विवाहके नियम दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष फल (सामाजिक सुविधा, शारीरिक सुख तथा संतान-सुख आदि)-को आधार मानकर ही निरूपित हैं, परंतु भारतीय आर्षशास्त्रोंमें विज्ञान तथा दर्शन—दोनोंके समन्वयसे दृष्ट एवं अदृष्ट फलोंके आधारपर स्त्री-पुरुषोंके विवाह आदि पारस्परिक नियम निश्चित किये गये हैं। विवाहके अनन्तर भौतिकवादियोंकी दृष्टिमें गर्भाधानके संदर्भमें भी सृष्टिकी धाराका क्रमिक विकास तथा विस्तार ही एक उद्देश्य है, परंतु वैदिक संस्कृति इसके द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक द्विविध अभ्युन्नतिका मार्ग प्रशस्त करती है। पितृ-ऋणसे मुक्तिकी इच्छा गर्भाधान-संस्कारका पवित्र एवं आध्यात्मिक उद्देश्य है। पितृ-ऋणसे मुक्तिके अनन्तर ही मोक्षप्राप्ति सम्भव है। मनुस्मृतिका कथन है—'**ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्**'। इस कर्तव्यबुद्धिसे गर्भाधान-जैसा नैसर्गिक तथा नितान्त भौतिक कर्म भी पवित्र दायित्वका स्वरूप प्राप्त कर प्रकाशित हो उठता है।

गर्भाधानकी आधिदैविक भावना

वीरमित्रोदयमें गर्भाधानको क्षेत्रसंस्कार माना गया है। गर्भाधान-संस्कारके अनुष्ठानकी प्रक्रियामें अन्य पूर्वाङ्ग विधियोंके अनन्तर आचार्य पारस्करने पतिद्वारा समस्त हानियोंके निरासके लिये देवताओंसे प्रार्थनाके मन्त्रोंका उल्लेख किया है। इसमें पत्नीकी सर्वविध पुष्टिकी प्रार्थना पतिद्वारा की जाती है। पति-पत्नीके परस्पर अतिशय आत्मीय सम्बन्धकी प्रार्थना करते हुए पत्नीको पति यज्ञीय पाक खिलाता है। एतदर्थ पारस्करगृह्यसूत्र (१।११।५)-का मन्त्र है—

'प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधाम्यस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचम्।'

निश्छल प्रेमका यह पवित्र उत्कर्ष गर्भाधान-संस्कारको

अलौकिक स्वरूप प्रदान करता है। पति एक अन्य मन्त्रद्वारा पत्नीके हृदयका स्पर्श करते हुए उसके मनको समझनेकी कामना करता है।

इस प्रकार गर्भाधान-संस्कारमें देवोपासनाके द्वारा आध्यात्मिक विशुद्ध वातावरणकी पीठिका निर्मित करते हुए दम्पतीकी परस्पर दैहिक तथा मानसिक स्थितियोंको समन्वित किया जाता है। इस उत्तम सम्बन्ध तथा पवित्र आध्यात्मिक भावनासे भविष्णु गर्भको विकारोंसे विरहित, गुणयुक्त तथा तेजस्वी बनाया जाता है।

गर्भाधान-संस्कारका स्वरूप देवमूर्तियोंके प्रतिष्ठाकर्मकी भाँति आधिदैविक है। चैतन्यका अधिष्ठान मानव-शरीर देवायतन है। मन्दिरमें देवताके प्रतिष्ठापनके लिये जिस प्रकार मन्त्रोंसे शुद्धि की जाती है, उसी प्रकारके अनुष्ठानद्वारा गर्भाधान-संस्कारमें जीवमें चैतन्यरूपिणी महती शक्तिके प्रतिष्ठापनकी योग्यता उत्पन्न की जाती है। यह शब्दशक्तिके प्रवाह एवं संकल्पयुक्त क्रियाके द्वारा सम्पन्न होती है। भारतीय परम्परामें प्रत्येक जीवको परतत्त्वका अंशभूत तथा चिच्छक्तिसे सम्पन्न माना गया है। उस व्यष्टिगत चैतन्यका आवाहन तथा प्रतिष्ठापन इस प्राथमिक गर्भाधान-संस्कारमें किया जाता है। देवोपासनाकी यह भावना गर्भाधानको आधिदैविक रूप प्रदान करती है। मानव-सुलभ दोषोंके परिहारके लिये जिस प्रकार देवमूर्तियोंका संस्कार विहित है, उसी प्रकार धरित्रीके रत्नस्वरूप जीवको संस्कारके द्वारा निर्दोष तथा समाजमें विद्योतमान बनाया जाता है। मनुस्मृति (२।२७)-में गर्भाधान आदि संस्कारोंका यही प्रयोजन निर्दिष्ट है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

बीजगत तथा क्षेत्रगत दोषोंकी निवृत्तिके साथ जीवनको ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाना इन संस्कारोंका पावन उद्देश्य है।

गर्भाधान-संस्कारमें याज्ञिक दृष्टि और मन्त्रार्थ

वैदिक दृष्टिसे गर्भाधान-संस्कारका स्वरूप याज्ञिक है। शतपथब्राह्मण (१४।९।४।३)-में इसे वाजपेय यागके समान महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है—

'यावान् ह वै वाजपेयेन लोको भवति तावानस्य लोको भवति।'

इस संस्कारमें प्रयुक्त प्रत्येक अङ्ग यज्ञके साधन माने गये हैं तथा इस पुत्रमन्थकी याज्ञिक प्रक्रियाके द्वारा यजमानको सुकृत एवं उत्तम लोककी प्राप्ति होती है।

इस संस्कारमें पतिके द्वारा मन्त्रका पाठ होता है। पारस्कराचार्यने—'तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्॥ अथास्यै दक्षिणाꣳसमधि हृदयमालभते।'—इस सूत्रमें निर्देश किया है कि वधूको उद्वाह कर निर्दिष्ट ऋतुकालमें प्रवेशन अर्थात् अभिगमन करना चाहिये। वधूके दाहिने स्कन्धभागसे हृदयतकको वर अपने दाहिने हाथसे स्पर्श-आलिङ्गन करते हुए इस मन्त्रको उच्चरित करता है—

'यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्॥' (पा०गृ० १।११।९)

मन्त्रका भाव यह है—'चन्द्रमा मनसो जातः' इस श्रुतिके अनुसार विराट् पुरुषोत्तमके मनसे चन्द्रमाका उद्भव हुआ है। उस चन्द्रमामें तुम्हारा मन अधिष्ठित है, उसी प्रकार मेरे मनका भी वही चन्द्रमुख अधिष्ठान है, इसको अपने मनसे समझो। एक अधिष्ठानमें अधिष्ठित होनेपर अनेक भी एक हो जाते हैं। चन्द्रमा भगवान्‌की मानसिक सृष्टिमें आता है, अतः 'आत्मा वै पुत्रनामासि' यह श्रुति कहती है कि भगवान्‌के मनसे उत्पन्न हुआ पुत्र चन्द्रमा भगवान्‌का मन ही है। चन्द्रमा सत्त्वगुणसम्पन्न सुशीतल है, तदधिष्ठित तुम्हारा मन भी सत्त्वगुणसे सम्पन्न है, यह मैं जानता हूँ, ऐसा तुम भी मेरे मनको जानो। इस रीतिसे मेरा और तुम्हारा मन एकरूपताको प्राप्त होवे और हम दोनों भगवत्स्वरूपको जाननेमें सफल बनें। हम दोनों विवाहसूत्रमें बद्ध होकर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हुए हैं और इस एक धरित्रीके आधारमें अधिष्ठित भी हैं। यह मन्त्र विश्वबन्धुत्वका भी परिचायक है। पवित्र भावनाको लेकर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हम नेत्रोंसे, कानोंसे परिपुष्ट होकर देखते-सुनते हुए सौ वर्ष जीवनयात्राको चलायें।

शाखान्तरमें समावेशनके मन्त्र भिन्न हैं। उसमें पत्नीके अवयवोंको विष्णु आदि देवताओंसे कल्पित समझकर अभिगमन करनेको कहा गया है। उसमें 'सुमनस्यमानः' पदके द्वारा पूर्वोक्त तात्पर्य अभिव्यक्त होता है। इस मन्त्रमें 'सुसीमे' पदका शोभन सीमन्तवाली—यह अर्थ है। विवाहके

अवसरपर कन्याके सीमन्तमें वरने सिन्दूर लगाया है; यह सौभाग्यका सूचक है।

पत्नीको सुमधुर पाक खिलानेके मन्त्रमें भी दोनोंके प्राणोंके एकाकार होनेकी प्रार्थना पति करता है। अस्थि, मांस तथा त्वचाके भी अद्वैतकी कामना इस मन्त्रमें है।

गर्भाधान-संस्कारका काल तथा कर्तव्य

गर्भाधान-संस्कारके कालके विषयमें भी भारतीय आचार्योंने पर्याप्त विवेचन किया है। यद्यपि स्मृतिग्रन्थोंमें बालविवाहकी धारणा दृष्टिगोचर होती है, परंतु इसके आधारपर कतिपय आधुनिक विचारकोंके द्वारा बाल्यावस्थामें दाम्पत्यसम्बन्ध स्थापित करनेके विषयमें की जानेवाली आलोचना उचित नहीं है। वस्तुतः यह उनकी भ्रान्त धारणा है। आधुनिक युगमें विवाहके समयसे ही दाम्पत्यसम्बन्ध-स्थापनकी प्रथा प्रायः सर्वत्र प्रचलित दृष्टिगोचर होती है, परंतु भारतीय शास्त्रोंमें विवाह-संस्कार तथा गर्भाधान-संस्कारके कालके विषयमें अनेक स्थानोंपर यह स्पष्ट प्रतिपादित है कि ये दोनों संस्कार समकालिक नहीं हैं। दोनों संस्कारोंके लिये अलग-अलग वयःसीमा निर्धारित है। आचार्य आश्वलायनने विवाह-संस्कारके अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेका निर्देश दिया है। इस प्रकार विवाहके अनन्तर भारतीय दृष्टिमें सहशयन व्यक्तिका अधिकार नहीं, अपितु शास्त्रनियमित कर्तव्य है।

ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें महर्षि भावयव्य तथा उनकी पत्नी रोमशाके संवादके माध्यमसे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि विवाहके अनन्तर भी पत्नीकी प्रौढ़ता तथा शारीरिक अनुकूलताके अनुसार विलम्बसे गर्भाधान-संस्कारका काल निर्धारित किया जाता है। आचार्य सुश्रुतने गर्भाधान-संस्कारका काल वधूकी षोडश वर्षकी आयुके अनन्तर निर्धारित किया है। वाग्भटने भी इसी प्रकार प्रौढ़ताका समर्थन किया है। अतः यह प्रमाणित है कि भारतीय मनीषियोंकी दृष्टिमें दोनों संस्कारोंके समय भिन्न-भिन्न हैं। इन दोनोंका एक ही समय मानना उचित नहीं है।

विवाह-संस्कार सम्पन्न कर निर्दुष्ट ऋतुकालमें वर भार्याभिगमनका अधिकारी होता है। इस संस्कारको ऋतुशान्तिकर्म तथा समावेश-संस्कार नामसे भी व्यवहार करते हैं। वधूका प्रथम ऋतु होनेपर दिन, नक्षत्र, समय आदिका परीक्षण किया जाता है। दूषित दिन-नक्षत्र-वेलामें ऋतुमती होनेपर तदर्थ शान्तिकर्म किया जाता है। कहीं-कहीं ऋतुवेलासे लग्न निकालकर कुण्डली बना ली जाती है। जिस प्रकार उपनयनसे त्रैवर्णिक द्विज कहलाते हैं, वैसे ही कन्याका आर्तव दूसरा जन्म समझा जाता है। प्रथम ऋतुसमयको देखकर ऋतुशान्ति कर गर्भाधान-संस्कार किया जाता है। प्रथम ऋतुका समय निर्दुष्ट होनेपर केवल समावेश-संस्कारमात्र प्रचलित है।

समावेश-संस्कार ऋतुके स्नानानन्तर होता है। १६ दिन ऋतुकाल हैं। अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पर्व, अमावास्या, पूर्णिमा, सूर्यसंक्रमण, श्राद्धदिन, उसके पूर्वोत्तर दिन और नक्षत्रोंमें मघा, रेवती, मूल तथा मासोंमें कर्कराशिमें सूर्यके रहते हुए वर्जित है। वर्ज्य और अवर्ज्यका विचार करते हुए अभिगमन हो तो प्रजावृद्धिकी समस्या नहीं होगी।

विवाह-संस्कारके अनन्तर वर भार्याभिगमनका अधिकारी होता है। **'तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्'** इत्यादि वचनोंके द्वारा ऋषियोंने इस लौकिक कर्मकी स्वेच्छाको शास्त्रके माध्यमसे कर्तव्यकी परिधिमें नियमित किया है। भारतीय आर्ष-परम्पराका यह वैशिष्ट्य है कि इसमें मानवीय सम्बन्ध कर्तव्यके रूपमें विवेचित हैं, अधिकारके रूपमें नहीं। अतः भारतीय धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे गर्भाधान आदि संस्कार मुख्यतः कर्तव्य हैं, अधिकार नहीं। कर्तव्यसे सम्बद्ध अधिकार प्राप्त होते हैं। अतः शास्त्रोंमें जब कर्तव्यको परिभाषित किया जाता है तो उसके अधिकार स्वतः निश्चित हो जाते हैं। अन्य सभ्यताओंमें कर्तव्य तथा अधिकार एक साथ प्रवृत्त होते हैं, परंतु भारतीय परम्परामें अधिकार, कर्तव्यके अनन्तर उपस्थित होता है। इस कारण भारतीय सामाजिक मार्ग निर्द्वन्द्व तथा सुग्राह्य हो जाता है। भारतीय चिन्तनमें व्यक्तिके अधिकार उसके सामाजिक उत्तरदायित्वसे कथमपि पृथक् नहीं हो सकते। इस रीतिसे गर्भाधान-संस्कार भी नवदम्पतीकी वैयक्तिक सन्तुष्टिके लिये नहीं, अपितु अपने शास्त्रोक्त कर्तव्यके उत्तरदायित्वसे परिपूर्ण गौरवदायिनी सामाजिक प्रक्रियाके रूपमें उपदिष्ट है।

गर्भाधान-संस्कार एवं गर्भ-संरचना*

(श्रीरामानन्दजी जायसवाल)

जीवकी उत्पत्तिको 'गर्भोत्पत्ति' कहा जाता है। गर्भरूप व ऋतुस्नात-स्त्रीके आश्रयमें रहता है। ऋतुस्नानसे पूर्व ी 'रजस्वला' कहलाती है। अतः प्रथम रजस्वलाका स्वरूप तलाया जाता है। प्रायः बारह वर्षकी अवस्थासे प्रारम्भ कर पचास वर्षपर्यन्त प्रतिमास (चन्द्रमासके अनुसार २७- ८ दिनपर) स्त्रीके गर्भाशयसे स्वभावसे ही आर्तव या तका स्राव हुआ करता है और आर्तवस्रावके प्रथम दिनसे लह रात्रियोंको 'ऋतुकाल' माना जाता है और इनमें भी पिद्धेतर काल ही गर्भाधानके योग्य माना जाता है। रजस्वला ीके लिये शास्त्रोंमें विशिष्ट नियम प्रतिपादित हैं। उनकी वहेलनासे गर्भमें दोष—विकार आ जाते हैं।

रजस्वला स्त्रीको चाहिये कि वह चौथे दिन शुद्ध नेपर स्नान करे, नवीन वस्त्र एवं सुन्दर आभूषण पहने ौर सर्वप्रथम पतिका दर्शन करे। ऋतुस्नानके अनन्तर स्त्री र्वप्रथम जैसे पुरुषको देखती है, वैसा ही पुत्र उत्पन्न करती । इसलिये उसे पतिका ही दर्शन करना चाहिये। यदि पति स समय वहाँ न हों तो पुत्र आदि किसी प्रियजनका दर्शन रे। निषिद्ध तिथियों तथा निषिद्ध कालका परिहार कर शस्त रात्रियोंमें आधान होनेसे गर्भकी आयु, आरोग्य, सौभाग्य, श्वर्य तथा बलमें वृद्धि होती है।

गर्भकी प्रत्येक मासकी संरचना

पहला मास—गर्भाधानके अनन्तर शुक्र और रज जिस रूपमें संघटित होता है, उसी रूपमें बना रहता है। एक ताहतक गर्भ श्लेष्मसदृश रहता है और फिर प्रथम मासमें कललरूप हो जाता है, परंतु अव्यक्त रहता है अर्थात् उसमें त्री अथवा पुमान्‌का कोई लक्षण व्यक्त नहीं रहता। सलिये इसी मासमें स्त्रीत्व अथवा पुंस्त्वकी अभिव्यक्तिके र्व ही पुंसवनविधिका प्रयोग करे; क्योंकि पुंसवनरूपी पुरुषार्थ दि बलवान् होता है तो वह पूर्वजन्मकृत कर्मके बलको बा देता है अर्थात् यदि दैववश गर्भमें कन्या होनेवाली होती है तो विधिविहित पुंसवन-संस्कारसे पुमान् गर्भ हो जाता है।

दूसरा मास—दूसरे मासमें शुक्र एवं रजमें विद्यमान (और मातासे प्राप्त होनेवाले) पञ्च महाभूतोंका समुदाय वात, पित्त एवं कफके द्वारा पलता (शुष्क, पक्व तथा स्निग्ध होता) हुआ घन—कठोर या ठोस-सा हो जाता है।

तीसरा मास—तीसरे मासमें सिर, बाहु तथा सक्थियोंके पाँच पिण्ड एवं अङ्गुली आदि छोटे प्रत्यङ्ग बन जाते—कुछ-कुछ व्यक्त हो जाते हैं।

चौथा मास—चौथे मासमें सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्फुट—व्यक्त हो जाते हैं और हृदय व्यक्त हो जानेसे चेतना भी व्यक्त हो जाती है। (इसलिये चौथे मासमें) गर्भ नाना प्रकारकी वस्तुओंकी इच्छा करता है और इसीलिये नारी दो हृदयोंवाली 'दौहृदिनी' मानी जाती है। तत्कालीन विशिष्ट प्रकारकी इच्छा या अभिलाषाका नाम दौहृद या दोहद है। उक्त दोहदकी अवज्ञा (इच्छा पूर्ण न) होनेसे गर्भपर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः उन दिनों गर्भवती जिन-जिन विहित पदार्थोंका उपभोग करना चाहे, यथाशक्ति उपलब्ध कराना चाहिये।

पाँचवाँ मास—पाँचवें मासमें मन प्रबुद्ध हो जाता है।

छठा मास—छठे मासमें बुद्धि प्रबुद्ध हो जाती है।

सातवाँ मास—सातवें मासमें गर्भके प्रायः सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग पूर्णरूपसे व्यक्त हो जाते हैं।

आठवाँ मास—आठवें मासमें मातासे गर्भमें और गर्भसे मातामें ओजका सञ्चार होता रहता है। अतः वे दोनों बार-बार म्लान (अप्रसन्न) एवं मुदित (प्रसन्न) होते रहते हैं और इसीलिये आठवें मासमें जन्मा बच्चा अरिष्टयोगसे सम्पन्न होता है; क्योंकि ओज स्थिर नहीं होता। कौमारभृत्य (बालतन्त्र)-का मत है कि वह बच्चा नैर्ऋत्य नामक बालग्रहका भाग होता है, इसलिये नहीं जीता, तथापि शीघ्र उक्त ग्रहकी शान्तिके लिये शास्त्रविधिसे उपाय करना चाहिये। बालतन्त्रमें लिखा है कि भगवान् रुद्रने आठवें मासमें जन्मे बच्चे नैर्ऋत्य नामक ग्रहको दे दिये थे। अतः इस मासमें उक्त बालग्रहके निमित्त भातकी बलि देनी चाहिये।

नौवें अथवा दसवें मासमें प्रायः प्रसव हो जाता है। कभी-कभी ग्यारहवें अथवा बारहवें मासमें भी प्रसव होता है। इसके पश्चात् कोई विकार समझना चाहिये।

---

* जीवकी गर्भ-संरचनाके विषयमें उपनिषदों, विशेषरूपसे गर्भोपनिषद्, आयुर्वेदमें चरकसंहिताके शारीरस्थान, सुश्रुतसंहिता तथा श्रीमद्भागवत, गरुडपुराण (सारोद्धार) आदि पुराण-ग्रन्थोंमें विशेष वर्णन प्राप्त होता है।

जन्मसे पूर्वके संस्कार—गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन

(डॉ० श्रीनिवासजी आचार्य, एम्०ए० (संस्कृत, हिन्दी), साहित्यरत्न, एम्०एड्०, पी-एच्०डी०)

'संस्कार' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे बना है। शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें संस्कार शब्दका प्रयोग हुआ है; यथा—परिष्करण, संस्करण, भूषण, संस्कृति, स्मरण, शक्ति, शुद्धिक्रिया, पवित्रीकरण, शुचिता, मलापनयन, अतिशयाधान आदि। अद्वैतवेदान्तमें शारीरिक क्रियाओंके मिथ्यारोपको 'संस्कार' कहा गया है। वस्तुतः धर्मशास्त्रोंके अनुसार मानवके कायिक-वाचिक-मानसिक परिशुद्धिके लिये धार्मिक अनुष्ठानोंके द्वारा अपने अंदर उत्पन्न धर्मविशेष ही 'संस्कार' पदवाच्य है।

व्यक्तित्वके विकाससे संस्कृति और संस्कृतिका समारम्भ संस्कारोंसे होता है। संस्कारोंसे ही मानवशिशुमें मानवताका प्रथम उद्‌बोध होता है। गर्भाधानसे लेकर मृत्युतक संस्कार-विधानसे शरीर एवं मनकी शुद्धिके साथ उसके भावी जीवनकी प्रशस्त परम्परा बनती है। संस्कारके अनुसार जीवन-यापन करनेवाला ही मनुष्य-पदवाच्य है। संस्कारोंका उल्लंघन करनेके कारण ही मानवमें दानवत्वका सञ्चार होता है। संस्कारोंमें बताये गये सात्त्विक मार्गपर चलनेसे ही कल्याण होता है। जन्मसे पूर्व ही संस्कारोंकी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

नारी जन्मदात्री माँ होती है। वह शिशुकी प्रथम शिक्षिका भी है। वीर, साहसी, पवित्र एवं सर्वथा उन्नतिशील संतानका सृजन हो, इसके लिये प्रत्येक नारीके व्यावहारिक जीवनमें अन्तर्बाह्य पवित्रता बनाये रखनेके लिये संस्कारोंका बहुत बड़ा योगदान है। सामाजिक प्रगतिहेतु प्रत्येक परिवार एवं समाजका भी कर्तव्य है कि नारीको सभी दशाओंमें संस्कारोंपर प्रतिष्ठित रह सकने योग्य बनाये। इसीसे समाज एवं राष्ट्रकी भलाई है।

महर्षि अङ्गिराने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन एवं विष्णुबलिको जन्मसे पूर्वके संस्कारोंमें परिगणित किया है। विष्णुबलिके स्थानपर अनवलोभनको भी कुछ विद्वान् चतुर्थ संस्कारके रूपमें मानते हैं। यहाँ संक्षेपमें इनका वर्णन प्रस्तुत है—

गर्भाधान-संस्कार—माताके गर्भमें बीजके रूपमें शिशुका प्रतिष्ठापन ही 'गर्भाधान-संस्कार' है। यह संस्कार ऋतुकालमें निषिद्धेतर दिनोंमें पालनीय है। सुयोग्य संतानकी उत्पत्ति संस्कारोंसे युक्त गर्भाधानसे ही होती है। इस संस्कारके द्वारा गर्भदोषनिवारण, क्षेत्रमार्जन तथा वीर्यसम्बन्धी विकार दूर होता है। स्त्रीको गर्भधारणका सामर्थ्य प्रदान करनेके लिये बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।२१)-में निम्न प्रार्थनामन्त्रका विधान है—

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

अर्थात् देवि! जिसकी भूरि-भूरि स्तुति की जाती है, वह सिनीवाली (जिस अमावास्यामें चन्द्रमाकी एक कला शेष रहती है) तुम हो, तुम यह गर्भ धारण करो, धारण करो। देव अश्विनीकुमार (सूर्य और चन्द्रमा) अपनी किरणरूपी कमलोंकी माला धारण करके मुझसे अभिन्न रूपमें स्थित हो तुझमें गर्भका आधान करें।

गर्भाधानके लिये तिथि एवं नक्षत्रोंके शुभाशुभत्वका विचार भी शास्त्रोंमें किया गया है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्॥

(याज्ञ०स्मृति १।३।७९)

यहाँपर 'निशा' शब्दके प्रयोगसे गर्भाधानके लिये दिनमें स्त्रीगमन पापकर्मके रूपमें प्रसिद्ध है। प्रश्नोपनिषद (१।१३)-में उल्लेख है कि 'प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते'। भावनाके अनुसार संतानकी प्राप्ति होती है। परदारगमन पाप होता है। अतः इन नियमोंके पालक कदापि व्यभिचारी नहीं होते।

पुंसवन-संस्कार—'पुमान् प्रसूयते येन तत् पुंसवनमिति' जिस संस्कारके द्वारा निश्चितरूपसे पुत्रोत्पत्ति होती है, उसे 'पुंसवन-संस्कार' कहा गया है। गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो, इसलिये पुंसवन-संस्कारका विधान है। 'गर्भाद् भवेच्च पुंसूते पुंस्त्वरूपप्रतिपादनम्' (स्मृतिसंग्रह)। 'पुम्' नामक नरकसे त्राण करनेके कारण ही पुत्र नाम पड़ा।

महर्षि मनुने भी कहा है—'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते' (मनु० ९।१३७)। पुत्रसे लोकोंपर विजय और पौत्रसे आनन्त्यकी प्राप्ति होती है। गर्भस्थ शिशुमें पुरुषत्वके विकासके पहले गर्भके दूसरे या तीसरे महीनेमें अथवा गर्भके लक्षण स्पष्ट होनेके बाद ही पुंसवन-संस्कारका विधान बतलाया गया है। आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें उल्लेख है कि गर्भाधानके तीसरे महीनेमें पुनर्वसु नक्षत्रमें उपवासपूर्वक पत्नीको अपने करतलमें गण्डूषमात्र (चुल्लूभर) दधि रखकर उसमें सेमके दो बीज तथा एक जौका दाना डालकर उसे पीना चाहिये। क्या पी रही हो? यह प्रश्न पतिके पूछनेपर पत्नीका उत्तर होना चाहिये—पुंसवन। ऐसे तीन बार दधि पीनेका विधान है। पीते समय पुत्रकी कामनासे निम्नलिखित वैदिक मन्त्रका पाठ होता रहे, जिससे गर्भके पिण्डमें पुरुषके चिह्न उत्पन्न हों—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० १३।४)

सीमन्तोन्नयन-संस्कार—गर्भस्थितिके चौथे, छठे या आठवें महीनेमें गर्भकी शुद्धिके लिये 'सीमन्तोन्नयन-संस्कार' किया जाता है। इस संस्कारमें पति गर्भवती पत्नीके सीमन्त (माँग)-का निम्न मन्त्रसे गूलरकी डालीसे पृथक्करण करता है—

१. ॐ भूर्विनयामि, २. ॐ भुवर्विनयामि तथा ३. ॐ स्वर्विनयामि। साधारणतः गर्भके चार मासके बाद बालकके अङ्ग-प्रत्यङ्ग, हृदय आदि प्रकट हो जाते हैं। उसमें चेतना शक्तिका विकास होनेके साथ-साथ इच्छाएँ भी पैदा होती हैं, जो माताके हृदयमें पैदा होती हैं। उस समय मातापर जो संस्कार डाले जाते हैं, उनका प्रभाव बालकपर अनुभूत होता है। इस समय माताको अच्छी शिक्षा, सदुपदेश, सद्ग्रन्थ-पठन आदि तत्त्वोंकी जरूरत होती है। इन दिनों माताको बहुत ही प्रमुदित रहना चाहिये, तभी समाजमें प्रह्लाद-जैसे भक्त, अभिमन्यु-जैसे वीर और शिवाजी-जैसे देशप्रेमी पैदा होंगे।

इस संस्कारमें गर्भवतीको सुपाच्य पौष्टिक खीर खिलायी जाती है, जो पुष्टिवर्धक होती है। प्राचीन समयमें सीमन्तोन्नयन-संस्कारके अवसरपर वीणावादनपूर्वक सोमरागका गान आदि भी होता था, जो गर्भवतीको प्रफुल्लित करने तथा भक्तिका संस्कार भरनेका एक उत्तम साधन था।

विष्णुबलि—गर्भके आठवें मासमें यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारमें भगवान् विष्णुके लिये अग्निमें चौंसठ बलिरूप आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं। वैदिक सूक्तोंसे विष्णुकी स्तुति की जाती है। इस संस्कारके द्वारा गर्भस्थ शिशुकी सुरक्षा होती है और गर्भच्युतिका भय दूर होता है। गर्भमें शिशुकी सुरक्षाके लिये माङ्गलिक पूजन, हवन आदि कार्योंके बाद जल एवं औषधियोंकी प्रार्थना की जाती है।

धर्माचरण, सदाचारका पालन, पूजा, प्रार्थना आदि भारतीय संस्कृतिके आदर्श हैं। आध्यात्मिकता एवं नैतिकताके आधारपर संस्कारोंको अपनानेसे परिवार, समाज, देश, राष्ट्र एवं विश्वका कल्याण होगा, यह ध्रुव सत्य है।

~~~ ० ~~~

कुल, जननी और जन्मभूमिकी महिमा कौन बढ़ाता है?

समाहितो ब्रह्मपरो प्रमादी शुचिस्तथैकान्तरतिर्जितेन्द्रियः।
समाप्नुयाद् योगमिमं महामना विमुक्तिमाप्नोति ततश्च योगतः॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
(स्कन्द० मा० कुमा० ५५।१३९-१४०)

जो एकाग्रचित्त, ब्रह्मचिन्तनपरायण, प्रमादशून्य, पवित्र, एकान्तप्रेमी और जितेन्द्रिय है, वह महामना योगी इस योगमें सिद्धि प्राप्त करता है और उस योगके प्रभावसे मोक्षको प्राप्त हो जाता है। जिसका चित्त मोक्षमार्गमें आकर परब्रह्म परमात्मामें संलग्न हो सुखके अपार सिन्धुमें निमग्न हो गया है, उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी माता कृतार्थ हो गयी तथा उसे प्राप्त करके यह सारी पृथ्वी भी सौभाग्यवती हो गयी।

~~~ ० ~~~

विधान ११वें दिन सम्पन्न किया जाता है, किंतु पुराणोंके अनुसार भगवती षष्ठीदेवीका पूजन बालकके पिता एवं माताद्वारा ही छठे दिन किया जाता है, इसमें जननाशौचका विचार नहीं माना गया है।[1]

पूजनका समय—षष्ठीदेवीका पूजन प्रायः शामको करनेकी परम्परा है।

देवीपूजनमें प्रयुक्त होनेवाली सभी सामग्रियोंसे पूजन करना चाहिये। इसमें मुख्यरूपसे विघ्नेश, षष्ठीदेवी तथा जीवन्तिकादेवीका पूजन होता है। षष्ठीदेवीकी प्रतिमा किसी काष्ठपीठ या दीवालपर बनायी जा सकती है अथवा सुपारी, अक्षतपुञ्ज आदिपर भी पूजा हो सकती है।

कहीं-कहीं दीवालपर षष्ठीदेवीकी पुत्तलिका बनाकर प्रसूताके हाथका छापा लगा कागज पुत्तलिकाके नीचे चिपका दिया जाता है। ये छापे तेलसे प्रसूताद्वारा प्रसूतिपूर्व लगवाकर रख लिये जाते हैं। पुत्तलिकाको कौड़ी एवं वस्त्रोंद्वारा शृंगारित किया जाता है। यदि पुत्तलिका बनाना सम्भव न हो तो भगवती षष्ठीदेवीकी चाँदीकी प्रतिमा घी-गुड़से छापेवाले कागजके ऊपर चिपका दी जाती है। पूजनसे पूर्व नूतन प्रतिमाओंकी प्राणप्रतिष्ठा कर लेनी चाहिये।

सङ्कल्प—माता शिशुको अपनी गोदमें ले ले। पिता हाथमें जल, पुष्प एवं अक्षत लेकर भगवती षष्ठीदेवीके पूजनका इस प्रकार सङ्कल्प करे—

देशकालका उच्चारण करके गोत्र तथा अपना नाम बोलकर आगे कहे—'**अस्य शिशोरायुरारोग्यसकलारिष्टशान्तिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं विघ्नेशस्य जन्मदानां षष्ठीदेव्या जीवन्तिकायाश्च यथामिलितोपचारैः पूजनं करिष्ये।**' सङ्कल्प जल, पुष्प एवं अक्षत देवीके चरणोंमें समर्पित कर दे।

निम्न मन्त्रद्वारा षष्ठीदेवीका आवाहन करे—

आयाहि वरदे देवि षष्ठी देवीति विश्रुते।
शक्तिभिः सह पुत्रं मे रक्ष रक्ष वरानने॥

आवाहनका दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

मयूरवाहनां देवीं खड्गशक्तिधनुर्धराम्।
आवाहये देवसेनां तारकासुरमर्दिनीम्॥

तदनन्तर प्राणप्रतिष्ठा कर निम्न मन्त्रद्वारा भगवती षष्ठीका ध्यान करे—

देवीमञ्जनसङ्काशां चन्द्रार्धकृतशेखराम्।
सिंहारूढां जगद्धात्रीं कौमारीं भक्तवत्सलाम्॥
खड्गं खेटं च बिभ्राणामभयं वरदां तथा।
तारकाहारभूषाढ्यां चिन्तयामि नवांशुकाम्॥[2]

एक दूसरे ध्यानस्वरूपमें बताया गया है कि सुन्दर पुत्र, कल्याण तथा दया प्रदान करनेवाली ये प्रकृतिके छठे अंशसे उत्पन्न जगत्की माता हैं। श्वेत चम्पक-पुष्पके समान इनका वर्ण है, ये रत्नमय आभूषणोंसे अलंकृत हैं। इन परम चित्स्वरूपिणी भगवती देवसेना (षष्ठीदेवी)-की मैं आराधना करता हूँ—

षष्ठांशां प्रकृतेः शुद्धां सुप्रतिष्ठाञ्च सुव्रताम्।
सुपुत्रदाञ्च शुभदां दयारूपां जगत्प्रसूम्॥
श्वेतचम्पकवर्णाभां रत्नभूषणभूषिताम्।
पवित्ररूपां परमां देवसेनां परां भजे॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड ४३।४९-५०)

ध्यानके अनन्तर यथाविधि उपचारोंसे भगवतीका पूजन करना चाहिये। पूजनके अनन्तर '**ॐ ह्रीं षष्ठीदेव्यै स्वाहा**' देवीके इस अष्टाक्षरमन्त्रका यथाशक्ति जप करना चाहिये। इसके उपरान्त हाथमें पुष्प लेकर प्रार्थना करनी चाहिये—

नमो देव्यै महादेव्यै सिद्ध्यै शान्त्यै नमो नमः।
शुभायै देवसेनायै षष्ठीदेव्यै नमो नमः॥
वरदायै पुत्रदायै धनदायै नमो नमः।
सुखदायै मोक्षदायै षष्ठीदेव्यै नमो नमः॥
शक्तेः षष्ठांशरूपायै सिद्धायै च नमो नमः।
मायायै सिद्धयोगिन्यै षष्ठीदेव्यै नमो नमः॥
पारायै पारदायै च षष्ठीदेव्यै नमो नमः।

१-(क) जननाशौचमध्ये प्रथमषष्ठदशमदिनेषु दाने प्रतिग्रहे च न दोषः। अन्नं तु निषिद्धम्। (पारस्करगृह्य० पञ्चभाष्य १।१६)
(ख) सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः। तासां यागनिमित्तं तु शुद्धिर्जन्मनि कीर्तिता॥
प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा। त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि॥ (पा०गृ०सूत्र, पञ्चभाष्यमें व्यासजीका वचन)

२-जो कज्जलके समान कृष्णवर्णकी आभावाली हैं, अपने मस्तकपर अर्धचन्द्रको धारण किये हैं, सिंहपर आसीन हैं, अपने हाथोंमें खड्ग, खेट, अभयमुद्रा तथा वरदमुद्रा धारण किये हैं, तारकावलीके हारोंसे विभूषित हैं तथा नवीन वस्त्र धारण किये हैं, उन जगत्का धारण-पोषण करनेवाली, भक्तोंपर वात्सल्यभाव रखनेवाली कौमारी देवी षष्ठीका मैं ध्यान करता हूँ।

सारायै शारदायै च परायै सर्वकर्मणाम्॥
बालाधिष्ठातृदेव्यै च षष्ठीदेव्यै नमो नमः।
कल्याणदायै कल्याण्यै फलदायै च कर्मणाम्॥
प्रत्यक्षायै च भक्तानां षष्ठीदेव्यै नमो नमः।
पूज्यायै स्कन्दकान्तायै सर्वेषां सर्वकर्मसु॥
देवरक्षणकारिण्यै षष्ठीदेव्यै नमो नमः।
शुद्धसत्त्वस्वरूपायै वन्दितायै नृणां सदा॥
हिंसाक्रोधवर्जितायै षष्ठीदेव्यै नमो नमः।
धनं देहि प्रियां देहि पुत्रं देहि सुरेश्वरि॥
धर्मं देहि यशो देहि षष्ठीदेव्यै नमो नमः।
भूमिं देहि प्रजां देहि देहि विद्यां सुपूजिते॥
कल्याणं च जयं देहि षष्ठीदेव्यै नमो नमः।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्र०ख०, अ० ४३।५७—६६)

देवीको नमस्कार है। महादेवीको नमस्कार है। भगवती सिद्धि एवं शान्तिको नमस्कार है। शुभा, देवसेना एवं भगवती षष्ठीको बार-बार नमस्कार है। वरदान देनेवाली, पुत्र देनेवाली, धन देनेवाली, सुख प्रदान करनेवाली एवं मोक्षदाता भगवती षष्ठीको बार-बार नमस्कार है। मूलप्रकृतिके छठे अंशसे प्रकट शक्तिस्वरूपा भगवती सिद्धाको नमस्कार है। माया, सिद्धयोगिनी, स्वयं मुक्त एवं मुक्तिदात्री, सारा, शारदा और परादेवी नामसे शोभा पानेवाली भगवती षष्ठीको बार-बार नमस्कार है। बालकोंकी अधिष्ठात्री, कल्याणदात्री, कल्याणस्वरूपिणी एवं कर्मोंका फल प्रदान करनेवाली देवी षष्ठीको बार-बार नमस्कार है। अपने भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन देनेवाली तथा सबके लिये सम्पूर्ण कार्योंमें पूजा प्राप्त करनेकी अधिकारिणी स्वामी कार्तिकेयकी प्राणप्रिया देवी षष्ठीको बार-बार नमस्कार है। मनुष्य जिनकी नित्य वन्दना करते हैं और देवताओंकी रक्षामें जो तत्पर रहती हैं, उन शुद्धसत्त्वस्वरूपा देवी षष्ठीको बार-बार नमस्कार है। हिंसा और क्रोधसे रहित देवी षष्ठीको बार-बार नमस्कार है। हे सुरेश्वरि! आप मुझे धन दें, प्रिय पत्नी दें, पुत्र देनेकी कृपा करें, मुझे धर्म दें, यश दें, हे षष्ठीदेवि! आपको बार-बार नमस्कार है। हे सुपूजिते! आप मुझे भूमि दें, प्रजा दें, विद्या दें तथा कल्याण एवं जय प्रदान करें। हे षष्ठीदेवि! आपको बार-बार नमस्कार है।

देवीकी प्रार्थनाके कुछ अन्य मन्त्र इस प्रकार हैं—

षष्ठिदेवि नमस्तुभ्यं सूतिकागृहशालिनि।
पूजिता परया भक्त्या दीर्घमायुः प्रयच्छ मे॥
जननी जन्मसौख्यानां वर्धिनीधनसम्पदाम्।
साधनी सर्वभूतानां जन्मदे त्वां नता वयम्॥
गौरीपुत्रो यथा स्कन्दः शिशुत्वे रक्षितः पुरा।
तथा ममाप्यमुं बालं षष्ठिके रक्ष ते नमः॥
यथा दाशरथी रामश्चतुर्मूर्तिर्भवप्रदे।
त्वया संरक्षितस्तद्वद्बालं पाहि शुभप्रदे॥
विष्णुनाभिस्थितो ब्रह्मा दैत्येभ्यो रक्षितस्त्वया।
तथा मे बालकं रक्ष योगनिद्रे नमोऽस्तु ते॥
रक्षितौ पूतनादिभ्यो नन्दगोपसुतौ यथा।
तथा मे बालकं पाहि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते॥
यथा वृत्रासुरादिन्द्रो रक्षितोऽदितिबालकः।
त्वया तथा मे बालोऽयं रक्षणीयो महेश्वरि॥
यथा त्वयाञ्जनीपुत्रो हनुमान् रक्षितः शिशुः।
तथा मे बालकं रक्ष दुर्गे दुर्गार्तिहारिणि॥
रुद्रः स्वर्गाद्यथा देवि कश्यपादिसुतास्त्वया।
मातस्त्राहि तथा बालं विष्णुमाये नमोऽस्तु ते॥
सर्वविघ्नानपाकृत्य सर्वसौख्यप्रदायिनि।
जीवन्तिके जगन्मातः पाहि नः परमेश्वरि॥

श्लोकोंका भाव इस प्रकार है—सूतिकागृहमें निवास करनेवाली षष्ठीदेवी! आपको नमस्कार है। परम भक्तिसे पूजित होनेवाली आप मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें। हे जन्मदे! आप जन्मसम्बन्धी सुखोंकी जननी हैं, धनसम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली हैं, सभी प्राणियोंकी उत्पत्तिरूपा हैं, आपको हम प्रणाम करते हैं। हे षष्ठिके देवि! जिस प्रकार प्राचीन समयमें आपने पार्वतीपुत्र स्कन्दकी रक्षा की थी, उसी प्रकार मेरे इस बालककी रक्षा करें, आपको नमस्कार है। हे भवप्रदे! जिस प्रकार महाराज दशरथजीके पुत्र श्रीराम ही भरत आदि चार रूपोंमें होकर आपके द्वारा रक्षित हुए, उसी प्रकार हे शुभप्रदे! इस बालककी रक्षा करें। हे योगनिद्रे! जिस प्रकार आपने भगवान् विष्णुकी नाभिमें स्थित ब्रह्माजीकी दैत्योंसे

रक्षा की, उसी प्रकार मेरे बालककी भी रक्षा करें, आपको नमस्कार है। हे दुर्गे! जिस प्रकार पूतना आदिसे आपने नन्दगोपकुमारों (श्रीकृष्ण-बलराम)-की रक्षा की, वैसे ही मेरे बालककी भी रक्षा करें, हे देवि! आपको नमस्कार है। जिस प्रकार देवी अदितिके बालक इन्द्रकी आपने वृत्रासुरसे रक्षा की, उसी प्रकार हे महेश्वरि! मेरा यह बालक भी आपद्वारा रक्षणीय है। जिस प्रकार आपने अञ्जनीपुत्र शिशु हनुमान्‌की रक्षा की, उसी प्रकार हे दुर्गे! हे दुर्गार्तिहारिणि! मेरे बालककी रक्षा करें। जिस प्रकार रुद्र तथा कश्यप आदिके पुत्रोंकी आपने स्वर्गसे प्रकट होकर रक्षा की, हे मातः! उसी प्रकार मेरे बालककी रक्षा करें। हे विष्णुमाये! आपको नमस्कार है। हे परमेश्वरि! हे जीवन्तिके! आप सभी प्रकारके सुखोंको प्रदान करनेवाली हैं तथा जगत्‌की माता हैं, आप सभी विघ्नोंको दूर करके हमारी रक्षा करें।

प्रार्थनाके उपरान्त आरती करे। तदनन्तर हाथमें पुष्प लेकर निम्न मन्त्रसे भगवती षष्ठीदेवीको पुष्पाञ्जलि समर्पित करे—

श्रद्धया सिक्तया भक्त्या हार्दप्रेम्णा समर्पितः।
मन्त्रपुष्पाञ्जलिश्चायं कृपया प्रतिगृह्यताम्॥

निम्न मन्त्रसे क्षमा-प्रार्थना करे—

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वरि।
यत्पूजितं मया देवि परिपूर्णं तदस्तु मे॥
यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि प्रसीद परमेश्वरि॥

तदनन्तर दिक्पाल-पूजन करे। षष्ठी एवं दिक्पाल-पूजनके अनन्तर द्वारदेशमें दोनों दरवाजोंपर काजलसे दो-दो द्वारमातृकाओंकी प्रतिमा बनाकर उनका पूजन किया जाता है। द्वारमातृकाओंके नाम हैं—धिषणा, वृद्धिमाता, गौरी तथा पूतना। पञ्चोपचार पूजनकर निम्न मन्त्रसे बालकके दीर्घ आयु तथा अरिष्ट-निवारणके लिये प्रार्थना की जाती है—

धिषणा वृद्धिमाता च तथा गौरी च पूतना।
आयुर्दात्र्यो भवन्त्वेता अद्य बालस्य मे शिवाः॥

इस प्रकार षष्ठी-पूजन सम्पन्न कर रात्रिमें जागरण कर महोत्सव मनाना चाहिये। यह भी मान्यता है कि षष्ठीकी रात्रिमें बालकके लिये विशेष अरिष्ट-योग रहता है। अनेक भूतादि बाधाएँ उपस्थित होती हैं; अतः बालककी रक्षाके लिये हाथमें शस्त्र धारण कर पुरुषोंको रातभर बालककी रक्षा करनी चाहिये।* सूतिकागृहमें अखण्ड दीपक, शस्त्र आदि स्थापित करने चाहिये।

देवी षष्ठीके वात्सल्यकी कथा

भगवती षष्ठीदेवीकी वात्सल्य-महिमा एवं असीम अनुकम्पाकी एक विलक्षण कथा ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृति-खण्डके ४३वें अध्यायमें तथा श्रीमद्देवीभागवत (नवम स्कन्ध)-में वर्णित है। तदनुसार देवर्षि नारदजीने भगवान् श्रीनारायणसे भगवती 'षष्ठी', मङ्गलचण्डिका तथा देवी मनसाके प्राकट्यका प्रसङ्ग जाननेकी इच्छा जतायी थी, तब श्रीनारायणने सर्वप्रथम देवी षष्ठीकी यह कथा उन्हें सुनायी थी—

राजा स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रत एक प्रसिद्ध राजा हो चुके हैं। वे त्रिलोकके शासक थे; किंतु स्वभावसे योगिराज होनेके कारण विवाह नहीं करना चाहते थे। श्रीब्रह्माजीके समझानेसे उन्होंने रूपवती एवं गुणवती कन्या मालिनीसे विवाह कर उन्हें अपनी महारानी बना लिया। महारानी मालिनीके कई वर्षोंतक कोई संतान नहीं होनेसे कश्यप मुनिने राजा प्रियव्रतसे पुत्रेष्टियज्ञ करवाया। अग्निदेवद्वारा प्रदत्त प्रसादके प्रभावसे महारानी गर्भवती हुईं और यथासमय उन्होंने एक सुन्दर पुत्रको जन्म तो दिया, किंतु वह बालक मृत पैदा हुआ। यह जानते ही महारानी पुत्रशोकसे पीड़ित हो मूर्च्छित हो गयीं। राजा प्रियव्रत रोते-बिलखते हुए मृत बालकको लेकर श्मशान गये एवं वहाँ उसे छातीसे चिपकाकर दारुण विलाप करने लगे। उसी समय बालकोंकी अधिष्ठात्री देवी षष्ठी वहाँ एक भव्य विमानमें पधारीं। श्वेत चम्पाके समान वर्णवाली तथा आभूषणोंसे अलंकृत दिव्यशक्तिको देख राजाने बालकके शवको धरतीपर रख दिया एवं भगवतीको प्रणाम कर उनकी स्तुति की और उनसे कृपापूर्वक परिचय बतानेकी

* रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः। रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः॥
पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च नृत्यगीतैश्च योषितः। रात्रौ जागरणं कुर्युः........................॥
(पारस्करगृह्यसूत्रमें मिताक्षरामें मार्कण्डेयका वचन)

प्रार्थना की। भगवती षष्ठी राजाके व्यवहारसे प्रसन्न हो गयीं और उन्होंने कहा—'हे राजन्! मैं ब्रह्माकी मानसी कन्या, स्वामिकार्तिकेयकी पत्नी एवं मातृकाओंमें प्रसिद्ध 'षष्ठी' हूँ। मैं तुम्हारा कातर स्वर सुनकर यहाँ आयी हूँ।' राजाने पुनः देवीकी स्तुति की और पुत्रपर कृपाकी याचना की—उसे जीवित करनेकी प्रार्थना की। भगवती बोलीं—'राजन्! जीवनमें सुख, दुःख, भय, शोक, हर्ष, मङ्गल, राज-पाट, धन-धान्य, स्त्री, संतान—ये सभी कर्मके अनुसार प्राप्त होते हैं। कर्मोंके प्रभावसे ही किसीके यहाँ सुन्दर संतान तो किसीके यहाँ विकलाङ्ग, अङ्गहीन, कुरूप संतान तो किसीके यहाँ मृत संतान पैदा होती है। हे राजन्! कर्म अत्यन्त बलवान् है, उसका फल भोगना ही पड़ता है। श्रेष्ठ उपायों एवं भक्तिसे कर्मफलको निश्चितरूपसे टाला भी जा सकता है।' ऐसा कहकर भगवती षष्ठीने बालकको धरतीसे उठाकर अपनी गोदमें ले लिया और अपने महान् ज्ञानके प्रभावसे खेल-खेलमें उसे जीवित कर दिया। राजाने मृत बालकको देवीकी गोदमें किलकारियाँ भरते देख अत्यन्त उत्साहका प्रदर्शन किया तथा देवीकी स्तुति की। देवी षष्ठीने अपने पुत्रके

रूपमें राजाको वह सुन्दर बालक सौंपते हुए उनसे अपनी पूजा-आराधना सम्पूर्ण राज्य (त्रिलोक)-में प्रारम्भ करवानेका निर्देश दिया।

राजाने महलमें लौटकर प्रत्येक माहके शुक्लपक्षकी षष्ठीको यह त्योहार मनाये जानेकी आज्ञा प्रसारित करवा दी, तभीसे भगवती षष्ठीदेवीके पूजनका विधान प्रारम्भ हुआ।

~~०~~

नामकरण-संस्कार

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय')

चराचर जगत् नामरूपात्मक है। जगत्की कोई भी वस्तु नाम और रूपकी परिधिके परे नहीं। रूप चक्षुग्राह्य होता है और नाम श्रुतिसंवेद्य। रूपके साक्षात्कारसे किसी वस्तुका प्रथम आभास प्राप्त होता है तो नामसे उसका स्पष्ट अभिज्ञान। नामोच्चारण करते हुए उसकी गुणराशि भी स्पष्ट होती है; जैसे—अमृत, अमृता, धात्री, गङ्गा, शङ्कर आदि। 'नाम' शब्दका अर्थ ही है—'**नम्यते अभिधीयते अर्थोऽनेन इति नाम**' अर्थात् जिससे अर्थका अभिज्ञान हो, वही नाम है। रूप सम्मुख रहनेपर भी नाम जाने बिना स्पष्ट ज्ञान नहीं होता—

रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥
(रा०च०मा० १।२१।५, ८)

अतः जगत्-व्यापारमें नामका अत्यधिक महत्त्व है। यह वाणीगुणविशिष्ट मानवकी भाषिक संरचना है। मनुष्योंकी तो बात ही क्या? पशु-पक्षी भी अपना नाम सुनकर उल्लसित, उत्कण्ठित होते हैं। नामकी महिमासे अगुण-अगोचर भी सगुण-साकार हो जाता है। आचार्य बृहस्पति बताते हैं कि 'नाम अखिल व्यवहार एवं मङ्गलमय कार्योंका हेतु है। नामसे ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है, इसी कारणसे नामकर्म अत्यन्त प्रशस्त है'—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः
शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्य-
स्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥
(वीरमित्रोदय सं०प्र०)

भगवान् तथा संतोंके नामकी महिमा तो इतनी अधिक है कि नाम लेते ही पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है। जय श्रीराम, जय बजरङ्गी, जय माँ दुर्गे इत्यादि कहते ही हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गमें एक विशिष्ट प्रकारकी संतुष्टि एवं धीरताका त्वरित सञ्चार हो जाता है। अस्तु, धराधामपर अवतरित प्राणीकी पृथक् अस्तित्व एवं विशिष्ट स्वरूप

प्रदान करनेवाला पहला चरण है—नामकरण-संस्कार।

हिन्दू-शास्त्रोंमें वर्णित नामकरण-संस्कार वैज्ञानिक चिन्तनका प्रतिफल है। यह नवजात शिशुके आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अभ्युदयकी मङ्गलमयी प्रस्तावना है। इसके आनुवंशिक, सामाजिक और धार्मिक आधारबिन्दु हैं।

नामकरण-विधान—जननाशौचकी समाप्तिके पश्चात् मङ्गलवेलामें प्रसूताको पञ्चगव्यका प्राशन कराकर, जातकके पिताको स्वयं मङ्गलस्नान करके बच्चेको नहलाकर शुभ वस्त्र एवं मङ्गलतिलक धारण कर पवित्र आसनपर बैठकर आचमन, प्राणायाम आदिके उपरान्त गौरी-गणेश, नवग्रह तथा पञ्चदेवोंका विधिवत् पूजन और हवन-कर्म करना चाहिये।

यथासाध्य आचारानुसार काँसेके पात्रमें फैलाये गये चावलोंके ऊपर स्वर्ण-शलाकासे चार* नाम लिखकर **'मनो जूति०'** इस मन्त्रसे उनकी प्रतिष्ठा करे। तदनन्तर पूजनका सङ्कल्प करना चाहिये, पुनः घड़ी, घंटा, ढोलक, शङ्ख आदि वाद्योंको बजाकर, माताकी गोदमें पूर्वाभिमुख सुलाये हुए बच्चेके दायें कानमें तीन बार—'हे शिशु! तुम्हारा अमुक नाम है, तुम्हारा अमुक गोत्र है, तुम्हारे कुलदेवताका अमुक नाम है, तुम्हें उनकी भक्ति करनी चाहिये'—ऐसा कहना चाहिये। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको बालकद्वारा प्रणाम कराना चाहिये। ब्राह्मणोंद्वारा शिशुको दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया जाना चाहिये। इस क्रममें अधोलिखित मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—

ॐ अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम्॥

नाम-संरचना—नामकरण-प्रक्रियामें, नामके स्वरूपपर भी गृह्यसूत्रों एवं स्मृतिग्रन्थोंमें प्रकाश डाला गया है। मोटे तौरपर नामकरणमें अग्राङ्कित बातोंका विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये—

(क) नाम उच्चारण करनेमें सरल तथा श्रुतिमधुर होना चाहिये।

(ख) उसे लिङ्गभेदाववोधक होना चाहिये।

(ग) नाम यश, ऐश्वर्य और शक्तिका बोधक होना चाहिये।

(घ) उसे वर्णकी स्थितिका अभिज्ञापक भी होना चाहिये।

(ङ) उसे जन्मकालिक वार, नक्षत्र एवं उसके अधिदेवताका आशीर्वाद दिलानेवाला होना चाहिये।

(च) उसे कुलदेवताके प्रति भक्ति विज्ञापित करनेवाला होना चाहिये।

(छ) उसे किसी विशिष्ट संत-महापुरुषकी स्मृति दिलानेवाला होना चाहिये।

(ज) उसे राष्ट्रिय स्वाभिमान और अस्मिताको उद्दीप्त करनेवाला होना चाहिये।

जहाँतक बालक-बालिकाओंके नामकरणका प्रश्न है, उसमें निम्नाङ्कित भिन्नता बरती जाती थी, जिसका अनुपालन होना चाहिये—

(क) पारस्करगृह्यसूत्र (१।१७।१)-के अनुसार बालकका नाम दो या चार अक्षरोंका होना चाहिये। उसका प्रारम्भ व्यञ्जन वर्णसे होना चाहिये, इसमें अर्द्धस्वर होना चाहिये। नामका अन्त दीर्घ स्वर अथवा विसर्गके साथ होना चाहिये।

(ख) बालिकाओंका नामकरण विषम संख्यात्मक अक्षरोंवाला होना चाहिये, आकारान्त या ईकारान्त होना चाहिये, उसमें तद्धितका प्रयोग होना चाहिये—

'अयुजाक्षरमाकारान्तः स्त्रियै तद्धितम्॥'
(पा०गृ०सू० १।१७।३)

'त्र्यक्षरमीकारान्तं स्त्रियाः' (वी०मि०, सं०प्र०)।

मनुस्मृतिके अनुसार स्त्रीका नाम उच्चारणमें सुखकर, सरल, सुननेमें अक्रूर, स्पष्टार्थ, मनोहर, मङ्गलसूचक, दीर्घवर्णान्त और आशीर्वादात्मक होना चाहिये। (मनु० २।३३)

(ग) वर्णाश्रमी व्यवस्थाके प्रतिष्ठापक होनेके नाते ऋषियोंने बालकके नामकरणमें उसकी आनुवंशिक पृष्ठभूमिको दृष्टिपथमें रखनेका आदेश दिया है।

* शास्त्रोंमें चार प्रकारके नामका विधान आया है—(१) कुलदेवतासे सम्बद्ध, (२) माससे सम्बद्ध, (३) नक्षत्रमें सम्बद्ध तथा (४) व्यावहारिक—'तच्च नाम चतुर्विधम्। कुलदेवतासम्बद्धं माससम्बद्धं नक्षत्रसम्बद्धं व्यावहारिकं चेति।' (वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश)

मनुस्मृतिके अनुसार ब्राह्मणका नाम मङ्गल और आनन्दसूचक, क्षत्रियका नाम बल, रक्षा और शासन-क्षमताका सूचक, वैश्यका नाम धन-ऐश्वर्यसूचक और शूद्रका नाम आज्ञाकारितासूचक होना चाहिये।

पाश्चात्त्य-सभ्यताके अन्धानुकरणकी भाग-दौड़में आज तो नामकरण एक संस्कार नहीं रहकर वाचिक विकारका रूप धारण करता जा रहा है। प्रायः घर-घरमें रिंकी, रिंकू, डबलू, बबलू, पिन्टू, मिन्टू, जैक, जॉन, डॉली-जैसे नामोंकी आँधी बह रही है। पिता तो 'डैड' हो गये हैं तथा माता 'ममी' हो गयी हैं और यही कह-कहकर हम बड़ा गौरव महसूस कर रहे हैं।

क्या ही अच्छा होता हम सनातन हिन्दू-संस्कृति एवं हिन्दू-संस्कारोंके अक्षय विश्वकोश श्रीरामचरितमानसमें अभिचित्रित नामकरण-संस्कारसे प्रेरणा लेकर अपने जीवनको धन्य एवं सुरम्य बना पाते—

जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥
लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

(रा०च०मा० १।१९७।५—८, दोहा १९७)

~~~o~~~

नामकरण-संस्कार—शास्त्रीय अनुशीलन

(पं० श्रीलालकृष्ण कौशिक, एम्०ए० (संस्कृत, हिन्दी), एम्०कॉम०, एम्०एड्०, ज्योतिर्भूषण, धर्मशास्त्राचार्य)

देवगुरु बृहस्पतिने नामको जगत्‌के सम्पूर्ण व्यवहारहेतुका केन्द्र कहा है—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः
शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्य-
स्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥

(वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश)

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा।
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥

(स्मृतिसंग्रह)

सांसारिक जीवनमें वस्तुकी तरह व्यक्तिके स्वयंके परिचयहेतु भी नामकरण आवश्यक है। जीवमात्रके सम्यक् ज्ञानके लिये भाषामें संज्ञा शब्दकी अवधारणा है। वास्तवमें नामकरण व्यक्तिवाचक संज्ञा-निर्धारणका ही संस्कारित स्वरूप है। नामकरण-संस्कारहेतु हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने बड़ा ही वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म चिन्तन किया है ताकि प्रदत्ताभिधान (नामसंज्ञा)-से जातकके व्यक्तित्वका स्वरूप आत्मोन्नतिकारक एवं चरित्रवान् हो सके। सुविचारित नामकरणके पश्चात् जातक तदनुरूप बननेका आजीवन सतत प्रयास करता है। नामित व्यक्तिसे समाज भी तदनुरूप ही बननेकी अपेक्षा करता है। इसी कारणसे ब्राह्मणवर्णके नाम क्षमा, सत्य, शील, त्याग, आस्तिक्य, भक्ति, शान्ति, विनम्रता, संतोष, देवभक्ति आदि गुणाधारित होते थे। क्षत्रियवर्णके नाम वीरता, धैर्य, शौर्य, रणकौशल, निडरता आदि, वैश्यवर्णके नाम धन-सम्पत्ति, लक्ष्मी, ऐश्वर्यवान्, दया, दान आदि एवं शूद्रवर्णके नाम सेवा आदि गुणोंसे युक्त होते थे।

हमारे ऋषि-महर्षियोंने नामकरण-संस्कारमें कैसे, कब एवं कौन-सा नाम रखे, इसका विस्तृत शास्त्रीय विवेचन किया है। इसका सूत्रग्रन्थों, स्मृतिग्रन्थों, निबन्ध-ग्रन्थों एवं ज्योतिषीय मुहूर्तग्रन्थोंमें सम्यक् उल्लेख हुआ है।

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥

(मनुस्मृति २।३०)

'दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति॥' (पा०गृ०सू० १।१७।१)

मनुने १०वें, १२वें या शुभ नक्षत्र, तिथियुक्त मुहूर्तमें नामकरण करनेहेतु कहा है, जबकि पारस्करगृह्यसूत्रकारने इसे १०वें दिन करनेको कहा है। मदनरत्नमें इसका वर्णानुसार निर्धारण भी किया गया है—
~~~

द्वादशे दशमे वाऽपि जन्मतोऽपि त्रयोदशे।
षोडशे विंशती चैव द्वाविंशे वर्णतः क्रमात्॥

अर्थात् जन्मसे १०वें, १२वें या वर्णानुसार ब्राह्मणको १३वें दिन, क्षत्रियको १६वें दिन, वैश्यको २०वें दिन एवं शूद्रको २२वें दिन नामकरण-संस्कार करना चाहिये। मासान्त, सौवाँ दिन एवं वर्षान्त आदि गौणकालका भी उल्लेख है। धर्मसिन्धु (पूर्वार्द्ध परिच्छेद ३)-में इसे जातकर्मके तुरंत बाद या ब्राह्मणोंके लिये जन्मसे ११वें या १२वें दिन, क्षत्रियोंके लिये १३वें या १६वें दिन, वैश्योंके लिये १६वें या २०वें दिन एवं शूद्रोंके लिये २२वें दिन या मासान्तमें करनेका उल्लेख किया है।

नामकरण-संस्कारमें मलमास, गुरु-शुक्रास्त, सिंहस्थ गुरु, देवशयन, दक्षिणायन आदिका दोष नहीं है **'अत्र मलमास-गुरुशुक्रास्तादिदोषो नास्ति'** (धर्मसिन्धु), परंतु वैधृति, व्यतीपात, ग्रहण, संक्रान्ति, अमावास्या, भद्रा आदि कुयोग वर्जित हैं। अपराह्न एवं रात्रिकालका भी निषेध है। पूर्वाह्न श्रेष्ठ एवं मध्याह्न मध्यम है। मुहूर्तप्रकाशमें पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, चित्रा, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, मृगशिरा, मूल, उत्तरात्रय आदि ग्राह्य नक्षत्र माने गये हैं, अन्यत्र शतभिषा, श्रवण एवं रेवती भी ग्राह्य माने गये हैं। तिथि २, ३, ५, ७, १०, ११, १३ एवं कृष्णप्रतिपदा ग्राह्य हैं। स्थिर लग्न, स्थिर शुभ नवांश, शुभ गोचर चन्द्र एवं बुध, सोम, रवि, गुरु आदि वार प्रशस्त हैं।

अन्यत्रापि शुभे योगे वारे बुधशशाङ्कयोः।
भानोर्गुरोः स्थिरे लग्ने बालनामकृतिः शुभा॥

(मुहूर्तप्रकाश-संस्कारप्रकरण २९)

नामकरण-संस्कारकी क्रियाविधि—शुभ मुहूर्तमें सूतिका-स्नानके अनन्तर गृहशुद्धि करे। गणपत्यादि, ग्रह, मातृका तथा वरुणका पूजन करके नान्दीमुखश्राद्ध करे। बालकको स्नान कराकर नवीन वस्त्र पहनाये। स्वस्तिवाचनपूर्वक माताकी गोदमें स्थित पूर्वाभिमुख बालकके दाहिने कानमें **'अमुक शर्मासि, अमुक वर्मासि'** इत्यादि नाम तीन बार सुनाये। तदनन्तर ब्राह्मणभोजन कराना चाहिये। जनभाषामें इसे दशोंध्र या दशदिवसीय जननाशौच-निवृत्ति कहा जाता है। नामकरण-संस्कार चारों वर्णोंका होता है। स्त्री एवं शूद्रका अमन्त्रक एवं द्विजातियोंका समन्त्रक होता है।

नाम कैसा हो—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥
शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥
स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥

(मनुस्मृति २।३१—३३)

शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंश्रयम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥

(विष्णुपुराण ३।१०।९)

उपर्युक्त श्लोकोंसे तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणका नाम मङ्गलकारी एवं शर्मायुक्त, क्षत्रियका बल तथा रक्षासमन्वित, वैश्यका धन, पुष्टियुक्त, शूद्रका दैन्य और सेवाभावयुक्त हो। स्त्रियोंके नाम सुकोमल, मनोहारी, मङ्गलकारी तथा दीर्घवर्णान्त होने चाहिये; जैसे—यशोदा।

गृह्यसूत्रकार आचार्य पारस्करने कहा है कि बालकका नाम दो या चार अक्षरयुक्त, प्रथमाक्षर घोषवर्णयुक्त (वर्गका तीसरा, चौथा, पाँचवाँ वर्ण) मध्यमें अन्तःस्थ (य, र, ल, व आदि) एवं नामका अन्तिम वर्ण दीर्घ एवं कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो। यथा—देवशर्मा, शूरवर्मा आदि। कन्याका नाम विषमवर्णी तीन, पाँच, सात अक्षरयुक्त, दीर्घवर्णान्त एवं तद्धितान्त होना चाहिये* यथा—श्रीदेवी आदि।

धर्मसिन्धुकारने चार प्रकारके नाम बताये हैं—देवनाम, मासनाम, नक्षत्रनाम तथा व्यावहारिक नाम; यथा—रामदास, कृष्णानुज आदि देवता नाम हैं। चैत्रादि अमावस्यान्त मास नाम क्रमानुसार वैकुण्ठ, जनार्दन, उपेन्द्र, यज्ञपुरुष, वासुदेव, हरि, योगीश, पुण्डरीकाक्ष, कृष्ण, अनन्त, अच्युत तथा चक्री हैं। नक्षत्रनाम नक्षत्रोंके नामपर; यथा—अश्विनीसे आश्वयुक् तथा कृत्तिकासे कार्तिक आदि होते हैं। गौणनाम अवकहडाचक्रके अनुसार नक्षत्रपादसे निर्धारित होते हैं; यथा—

---

* द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्॥
अयुजाक्षरमाकारान्तःस्त्रियै तद्धितम्॥ (पा०गृ०सू० १।१७।२-३)

अश्विनीके चार चरणोंसे क्रमश: 'चू चे चो ला' से चूड़ामणि, चेतनप्रताप, चोलदास, लालचंद आदि निर्धारित होते हैं। कुछ ऋषियोंने नक्षत्रनामको केवल उपनयन-संस्कारतक ही उपयुक्त बताया है, जिसे माता-पिता ही जानें, अन्य नहीं। व्यवहार-नाम ही सर्वत्र प्रचलनमें रहना चाहिये।

विवाहे सर्वमाङ्गल्ये यात्रायां ग्रहगोचरे।
जन्मराशिप्रधानत्वं नामराशिं न चिन्तयेत्॥
देशे ग्रामे गृहे युद्धे सेवायां व्यवहारके।
नामराशिप्रधानत्वं जन्मराशिं न चिन्तयेत्॥

निर्णयसिन्धुकारने बालकका नाम मास, गुरु एवं कुलदेवताके नामपर भी करनेहेतु विकल्प लिखा है। देवमन्दिर, हाथी, घोड़ा, वृक्ष, वापी, सरोवर तथा राजप्रासादके नामकरणका भी शास्त्रोंमें विचार किया गया है। शास्त्रकारोंने कहा है कि माता-पिताको बालकके मूल नामको गुप्त रखना चाहिये, ताकि शत्रुके अभिचारादि कर्मोंसे बालककी रक्षा की जा सके। पिताको ज्येष्ठ पुत्रका नाम सम्बोधित नहीं करना चाहिये। अत: माता-पिताको भी व्यवहारनामसे सम्बोधित करना चाहिये। पिता ज्येष्ठ पुत्रका स्वकल्पित अन्य नाम रखे।

इस प्रकार हिन्दूधर्ममें नामकरण-संस्कारका गहन एवं वैज्ञानिक वर्णन उपलब्ध होता है।

जिस प्रकार क्षुद्र वस्तुएँ एवं हीरा आदि रत्न प्रस्तराकारमें प्राप्तिके पश्चात् संस्कारोंसे ही परिष्कृत होते हैं, उसी भाँति संस्कारोंसे ही व्यक्ति सुसंस्कृत बनता है। इन संस्कारोंके सम्यक् सम्पादनसे व्यक्ति ऐहिक एवं पारलौकिक फल प्राप्त करता है।

संस्कार प्राणीको सत्त्वगुणकी ओर ले जाते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति ही राष्ट्र एवं सभ्य समाजका सुनागरिक हो सकता है एवं आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक त्रितापशमन करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति कर सकता है।

~~~o~~~

नामकरण-संस्कारकी व्यापक परम्परा

(श्रीतारकेश्वरप्रसादजी वर्मा, बी०ए० ऑनर्स)

नामकरणकी रीतियाँ प्रत्येक देशमें भिन्न-भिन्न हैं। कहीं परम्पराकी माला जपी जाती है तो कहीं संख्याबोधक शब्दोंसे ही काम चला लिया जाता है। यदि अन्तर है भी तो वह नहींके बराबर।

भारतमें नामकरणका विशेष उद्देश्य है। अधिकतर देवी-देवताओंके नामपर ही नामकरण होते हैं। इसके कारण भी हैं। बच्चोंको पुकारनेके साथ ही लोगोंको ईश्वरके नामोच्चारणका सुअवसर मिल जाता है। पुराणोंके पढ़नेसे पता लगता है कि वेश्याएँ भी अपने तोतोंसे 'राम' नाम रटवाकर भवसागरसे तर गयीं। कहते हैं, पापमें डूबा हुआ 'अजामिल' भी धोखेसे अपने पुत्र 'नारायण' को पुकार कर विष्णुलोकका अधिकारी हो गया था। ऐसी अनेक कथाएँ हैं। इससे यही अनुमान होता है कि देवता या महापुरुषके नामपर ही बालकका नामकरण होना उचित है।

आज, इस २१वीं सदीमें नामकरणसे न तो इस प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा की जाती है और न नैतिकताका पालन ही हो पाता है। कोई अपनी बच्चीको 'लिलि' कहता है तो कोई 'बेबी' और कोई 'डॉली।' धीरे-धीरे अब ये रूप यहाँतक बिगड़ते जाते हैं कि कुछ लोग अपने लाड़लोंको 'जैक' 'जेसन', 'हेनरी' और 'हार्वे'-जैसे नामोंसे पुकारकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं! ऐसे लोग धन्य हैं, जिन्हें अपने पूर्वजोंद्वारा अपनाये हुए नामोंका ध्यान नहीं है! इधर कुछ लेखकों और कवियोंने तो और भी हद कर दी है। ऐसे लोग अपने वास्तविक सुन्दर नामोंको गौण बनाकर संक्षिप्त उपनामोंसे ही साहित्य-साधनामें लगे हुए हैं। इनमें कुछ नाम तो ललित होते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें सुनते ही लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। कुछ उदाहरण देखिये—बेकार, विकट, पागल, दु:खित, व्यथित आदि, किंतु प्राचीन कालमें ऐसी बातें न थीं। शायद उर्दूके कवियोंकी देखा-देखी हिन्दीमें भी कवियोंने उपनाम रखनेकी प्रथा चला दी। अंग्रेजी तथा संस्कृत-साहित्यमें शेक्सपियर, शेली, कालिदास, भवभूति आदिके नामोंके साथ कोई उपनाम नहीं है।

स्वयं महाकवि 'सूर' ने भी उपनामके झमेलोंसे दूर
~~~

रहकर, अपने आराध्यदेव कृष्णके इस संस्कारका बड़ा रोचक वर्णन किया है। चञ्चल, चटुल और चमत्कारी माखनचोर कन्हैयाके जन्म-संस्कारका बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है 'सूरसागर' में। यथा—

बिप्र बुलाइ नाम लै बूझ्यो, रासि सोधि इक सुदिन धर्यौ।
आछौ दिन सुनि महरि जसोदा, सखिनि बोलि सुभ गान कर्यौ॥
जुवति महरि कौं गारी गावतिं, और महर कौ नाम लिए।
ब्रज-घर-घर आनंद बढ्यौ अति प्रेम पुलक न समात हिए॥

आस-पासकी सखियाँ जुट पड़ीं। सभी शुभागमनके साथ ही एक-दूसरेको गाली देने लगीं। ऐसे अवसरपर गाली भी तो भली लगती है। आज नन्द-यशोदाके पैर पृथ्वीपर नहीं पड़ते। ऋषिराजका शुभ आगमन हुआ। उस चञ्चल, नटखट और रसिक बालकके भी कई नाम पड़े; जैसे—गोवर्धनधारी, मुरारि, माखन-चोर, केशव, कन्हैया, नन्दलाल, नन्दनन्दन, मुरलीधर, गोपीवल्लभ, घनश्याम आदि। प्रत्येक नामकी निजी विशेषता और महत्ता है। भला ऐसा बालक, जो शैतानोंका नेता हो, जिसके अङ्ग-अङ्गमें बिजलीकी शक्ति भरी हो, जिसके मुखारविन्दपर मुसकराहट थिरक रही हो। ऐसा बालक जिसके एक-एक तोतले शब्दमें अनोखी मिस्री घुली हो तो ऐसी मोहिनी मूरत मुरलीवाले श्याम अनेक नामसे क्यों न विभूषित हों।

अब आइये विदेशी बच्चोंके नामकरण-संस्कारमें ले चलें आपको। वहाँ देखिये तिब्बतके माँ-बाप अपने बच्चोंका संस्कार कर रहे हैं। तिब्बतके बच्चोंके दो बार नामकरण होते हैं। पहला नाम धर्म-गुरु 'लामा' द्वारा रखा जाता है। यही गुरु-दीक्षाके समयका नाम विवाह आदिके अवसरपर काम आता है। दूसरा नाम केवल पुकारनेके लिये होता है।

तिब्बतमें, जहाँ नामकरण केवल दो ही बार होता है, वहाँ बर्मामें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक शिशुका यह नामकरण-संस्कार, उसके जन्मके प्रायः चौदह-पंद्रह दिनोंके बाद, किसी पण्डितके द्वारा होता है। नामके परिवर्तनके समय उसकी सूचना बालकके निकटतम सम्बन्धियों तथा पड़ोसियोंको दी जाती है। इस अवसरपर सभी शुभचिन्तकोंके यहाँ एक बंडल चाय और एक पत्र भेजा जाता है। इस पत्रमें नये बदले हुए नामका उल्लेख रहता है। इस संस्कारके बाद बालक इसी नामसे पुकारा जाता है।

चीनमें नामकरण मुण्डन-संस्कारके दिन होता है। यह संस्कार जन्मके ठीक एक मास बाद होता है। इस अवसरपर माता स्वयं बच्चेको लाल रंगके वस्त्र पहनाती है। बच्चेका सिर मुड़ा दिया जाता है और पीछेकी ओर एक चोटी छोड़ दी जाती है। संस्कार करानेवाला नाई भी सिरसे पैरतक लाल पोशाकमें खूब फबता है। लाल रंगको बहुत शुभ समझकर ही चीनी माताएँ उस दिन लाल-लाल वस्तुओंका अधिक प्रयोग करती हैं। इस प्रकार मुण्डनके बाद माँ अपने बच्चेका मुँह देखती है और उसका नाम चुनती है। इस नामको 'छोटा' नाम कहते हैं। इसी भाँति स्कूल जानेकी उम्रमें दूसरा नामकरण होता है और युवा होनेपर तीसरा।

टर्कीमें बालकके जन्मके तीन दिन बाद नामकरण-संस्कार होता है। उस दिन वह अपने पिताके पास लाया जाता है। उन्हींका चुना हुआ नाम बच्चेके कानमें तीन बार जोर-जोरसे कहा जाता है। माता-पिता अपने बच्चोंके लिये ऐसा नाम नहीं चुनते, जो सुननेमें मधुर लगे। ऐसा वे इसलिये करते हैं कि नाम सुननेवालोंकी नजर कहीं बच्चेको न लग जाय। इसी कुदृष्टिकी आशंकासे बच्चे अपनी माँके साथ प्रायः घरके भीतर ही रहते हैं।

ग्रीस (यूनान)-के बच्चोंका नामकरण जन्मके एक-दो सप्ताहके बाद होता है। यह बच्चोंके लिये बड़े कष्टका समय होता है। उनके सम्पूर्ण शरीरमें मालिश होती है। फिर वे हवामें खूब झुलाये और जलमें डुबो-डुबोकर नहलाये जाते हैं। प्रत्येक बालकका नाम किसी महात्माके नामपर रखा जाता है। बालकके जन्मके बाद जिस महात्माका जन्म-दिन पड़ता है, उसी महात्माका नाम रखा जाता है और उसी दिनसे उसकी जन्मतिथिकी गणना होने लगती है। इस अवसरपर बालकके सगे-सम्बन्धियोंके यहाँसे काठके रंग-बिरंगे खिलौने आते हैं। इन खिलौनोंपर भाँति-भाँतिके भावपूर्ण चित्र अङ्कित होते हैं।

आस्ट्रेलियाके पुराने निवासियोंमें नामकरण-संस्कार

एक अनोखे ढंगसे होता है। खुले मैदानमें मिट्टीके दो गोलाकार चबूतरे दूर-दूरपर बनाये जाते हैं। चबूतरे चारों ओरसे घिरे रहते हैं और एक ओर आने-जानेके लिये मार्ग बना रहता है। जिस बालकका संस्कार हो चुका है, वही श्रीगणेश करता है; एक डंडेकी ओर लोगोंका ध्यान खींचकर वह 'साँप-साँप' चिल्लाता हुआ दौड़ जाता है। उपस्थित मनुष्य भी उसके पीछे हो लेते हैं। फिर नृत्य होता है। नाचकर सभी लोग छोटे चबूतरेके निकट जाते हैं, जहाँ साँप तथा अन्य पशुओंकी मिट्टीकी बनी मूर्तियाँ रहती हैं। सभी जातियोंके मुखियोंके आ जानेपर बड़े चबूतरेमें आग लगा दी जाती है। फिर सभी खूब मस्त होकर जंगली नाच दिखाते हैं। कई नाटक भी दिखाये जाते हैं। इनके द्वारा बालकोंको यह बताया जाता है कि अब उनके जीवनमें परिवर्तनका समय आ गया है। यहाँ नाम पशु-पक्षियोंके नामपर रखे जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसारके कई देशोंमें नामकरण-संस्कारकी विलक्षण प्रथाएँ हैं। भारतमें हिन्दू-गृहस्थोंके यहाँ इसका बहुत महत्त्व है। धनी घरानोंमें इस संस्कारके अवसरपर बड़े धूम-धामसे उत्सव होता है। नाम भी सुन्दर और सार्थक चुनकर रखा जाता है। बंगाल और महाराष्ट्रमें नामोंका चुनाव अच्छा होता है। अन्यत्र भी लोग अच्छे-अच्छे नाम चुनकर रखते हैं।

बालकका नाम ऐसा रखना चाहिये, जिसका अर्थ सुन्दर हो—उच्चारण मधुर और कोमल हो, जो सुननेमें कर्कश और घृणाजनक न हो, बालकके पैतृक गुण और कुलपरम्परागत प्रतिष्ठाके अनुकूल हो, जातीय विशेषता और रूप-रंगके प्रतिकूल न हो। ऐसा नहीं कि रूपवान् बालकका नाम चिथरू या गुदरू हो और कुरूपका नाम चन्द्रमोहन! मसल मशहूर है—'लिख लोढ़ा, पढ़ पत्थर, नाम विद्याधर!'

~~०~~

चूडाकर्म-संस्कारविमर्श

(डॉ० श्रीशिवप्रसादजी शर्मा)

आर्यशास्त्रमें स्वाभाविक संस्कारद्वारा बन्धन और स्वाभाविक संस्कारद्वारा मोक्ष माना गया है। स्मृतियोंमें संस्कारोंकी संख्या यद्यपि भिन्न-भिन्न बतायी गयी है, तथापि संस्कारकी विधि एक-सी है।

आचार्य गौतमने अपनी स्मृतिमें ४८ संस्कार बताये तो व्यासजीने १६ संस्कार कहे हैं। इन्हीं संस्कारोंसे संस्कृत होकर व्यक्ति अपनेको 'पुरुषार्थचतुष्टयसाधनका' अधिकारी बना सकता है।

वर्णधर्म और आश्रमधर्म संस्कारोंके ही बलपर स्थिर किये गये हैं। यहाँतक कि भारतीय संस्कृतिका मूल आधार भी संस्कार ही हैं। अतएव त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी-अपनी स्मृतियोंमें संस्कारपर बल दिया और इन्हें जीवित रखनेमें ही हमारी संस्कृति एवं सभ्यता पल्लवित, विकसित और चिरस्थायीरूपमें प्रकाशित हो सकेगी, यह समझा।

महर्षि आश्वलायनने तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके लिये नियत संस्कारोंका अनुष्ठान न करनेसे उनका द्विजजन्म-ग्रहण ही निरर्थक होता है—ऐसी घोषणा की। यथा—

अतः परं द्विजातीनां संस्कृतिर्नियतोच्यते।
संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम्॥

अभ्युदय चाहनेवाले द्विजगणको अपनी गृहविधिके अनुसार संस्कारोंका आचरण अवश्य करना चाहिये। महर्षि अङ्गिराका कथन है—

स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः।
कर्तव्या भूतिकामेन नान्यथा सिद्धिमृच्छति॥

मनुस्मृतिका कथन है कि वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्मद्वारा द्विजगणका शारीरिक संस्कार सम्पादित करना चाहिये, जो इस लोक और परलोकमें पवित्रकारी है। गर्भसमयके तीनों संस्कारोंमें तथा जातकर्म, चूडाकर्म और उपनयन आदि संस्कारोंमें अनुष्ठित हवनोंसे बैजिक एवं गर्भवासजन्य अपवित्रता नष्ट हो जाती है तथा वेदमन्त्रोंके प्रभावसे अन्तःकरणमें शुभ संस्कारका अभ्युदय

होता है। यथा—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

यहाँपर विशेष रूपसे चूडाकरण-संस्कारपर प्रकाश डाला जाता है। शुक्लयजुर्वेद (३।६३)-में इस संस्कारसे सम्बन्धित चर्चा की गयी है। यथा—

'नि वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥'

अर्थात् हे बालक! दीर्घायुके लिये अन्नग्रहणमें समर्थ बनानेके लिये, उत्पादनशक्तिके लिये और बल तथा पराक्रमप्राप्तिके योग्य होनेके लिये तेरा मुण्डन करता हूँ।

इसमें अनुष्ठेय प्रधान कार्य शिशुका केशमुण्डन है। चूडाकर्म-संस्कार बल, आयु तथा तेजकी वृद्धिके लिये किया जानेवाला संस्कार है। इससे पूर्वके संस्कार अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म आदि दोष-परिमार्जन श्रेणीके हैं।

गर्भावस्थामें जो केश उत्पन्न होते हैं, उन सबको दूरकर चूडाकरणके द्वारा शिशुको शिक्षा तथा संस्कारका पात्र बनाया जाता है। इसी कारण यह कहा गया है कि चूडाकरणके द्वारा अपात्रीकरण दोषका निवारण होता है। चूडाकरणसंस्कारके समयके विषयमें बृहस्पतिका कथन है—

तृतीयेऽपि शिशोर्गर्भाजन्मतो वा विशेषतः।
पञ्चमे सप्तमे वापि स्त्रियाः पुंसोऽथवा समम्॥

अर्थात् गर्भसे तृतीय वर्षमें अथवा जन्मसे तृतीय वर्षमें तथा पञ्चम या सप्तम वर्षमें चूडाकरण-संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इसीपर नारदजी कहते हैं—

जन्मतस्तु तृतीये च श्रेष्ठमिच्छन्ति पण्डिताः।
पञ्चमे सप्तमे वर्षे जन्मतो मध्यमं भवेत्॥
अधमं गर्भतः स्यात्तु दशमैकादशेऽपि वा॥

अर्थात् जन्मसे तृतीय वर्षमें चूडाकर्म-संस्कार उत्तम है। पञ्चम, सप्तम वर्षमें मध्यम तथा गर्भसे दशम, एकादश वर्षमें निम्नस्तरीय है। इन वचनोंके अनुसार यथासम्भव उत्तम पक्षमें ही चूडाकरण-संस्कार सम्पादन करना चाहिये।

चूडाकरण आदि संस्कारोंद्वारा बालकोंमें गुणाधान होता है अर्थात् मानवोचित विशिष्ट गुणोंका समावेश किया जाता है।

'चूडा क्रियते अस्मिन्' इस विग्रहके अनुसार चूडाकरण-संस्कारका अभिप्राय है, वह संस्कार जिसमें बालकको चूडा अर्थात् शिखा दी जाय। अमरकोषके अनुसार भी चूडाका अभिप्राय शिखासे ही है। इसीलिये गृह्यसूत्रमें दिया गया है—

'एकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्याद्यथर्षि शिखा निदधातीति।'

अर्थात् बालकको कुलधर्मके अनुसार एक शिखा या तीन अथवा पाँच शिखा धारण कराये। इन वचनोंसे इस संस्कारका समय जन्मसे प्रथम या तीसरा वर्ष है।

शरीरविज्ञानके अनुसार यह समय दाँतोंके निकलनेका है। इसके कारण बालकके शरीरमें कई प्रकारकी व्याधिका होना स्वाभाविक है। इस प्रकार उसका शरीर निर्बल हो जाता है; बाल झड़ने लगते हैं, ऐसे समयमें इस संस्कारका विधान करके महर्षियोंने बालकको अस्वस्थकारक कारणोंसे बचानेका प्रयास किया है। इस प्रकार चूडाकरण-संस्कार अत्यन्त उपयोगी एवं परमावश्यक सिद्ध होता है।

इस संस्कारका दूसरा नाम मुण्डन-संस्कार भी है। यह संस्कार त्वचासम्बन्धी रोगोंके लिये अत्यन्त लाभकारी होता है। शिखाको छोड़कर सिरके शेष बालोंको मूँड़ देनेसे शरीरका तापक्रम शान्त अर्थात् सामान्य हो जाता है और उस समय होनेवाली फुंसी, दस्त आदि व्याधियाँ स्वतः शिथिल हो जाती हैं। एक बार मूँड़नेके बाद बाल फिर झड़ते नहीं, वे बद्धमूल हो जाते हैं।

इसीलिये मुण्डन, क्षौर आदिके लाभका वर्णन करते हुए महर्षि चरक (सूत्रस्थान ५।९९)-ने लिखा है—

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम्॥

अर्थात् क्षौरादि कर्म करवाने, नाखून कटवाने और कंघी आदिसे बालोंको साफ रखनेसे पुष्टि, वृष्यता, आयु, पवित्रता और सुन्दरता आदिकी वृद्धि होती है। बालकका मुण्डन करानेके अनन्तर उसके सिरमें मलाई आदिकी

मालिशका विधान है, जिससे मस्तिष्कके मज्जातन्तुओंको कोमलता, शीतलता तथा शक्ति प्राप्त होती है, जो आगे चलकर बालककी बौद्धिक शक्तिके विकासमें सहायक होती है; क्योंकि सुस्वास्थ्यके लिये सिर ठण्डा होना अपेक्षित है।

बुद्धि, बल, आयु एवं तेजके साथ शिखाका क्या सम्बन्ध है, इसके उत्तरके लिये मानव-शरीरकी रचनाको समझना चाहिये। वेदवाक्य है कि—

'दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्।'

अर्थात् दीर्घ आयु, बल और तेजके लिये शिखाको स्पर्श करता हूँ। इस प्रकार मानवमात्रको शिखाधारणके लिये प्रेरित किया गया है। स्मृतिका वचन है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

अर्थात् द्विजमात्रको निरन्तर यज्ञोपवीत पहने रहना चाहिये और शिखा निरन्तर बँधी होनी चाहिये। बिना यज्ञोपवीत और बिना शिखाके किये हुए सभी कार्य व्यर्थ हो जाते हैं।

हमारी सम्पूर्ण शारीरिक प्रवृत्तिका केन्द्र हमारा मस्तिष्क है। मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओंका संचालन उसीके द्वारा होता है। यदि वह मस्तिष्क समुचित शक्तिसम्पन्न है तो मनुष्य भी स्वस्थ रहता हुआ वेदोक्त '**जीवेम शरदः शतम्**' (यजु० ३६। २४)-के अनुसार सौ वर्षसे भी अधिक दीर्घजीवी हो सकता है।

शिखा ज्ञानशक्तिको अक्षुण्ण रखनेमें सहायक होती है। शिखा-छेदनके बाद बड़े-बड़े तेजस्वी पुरुष भी प्रभाहीन हो जाते हैं।

इसके सम्बन्धमें महाभारतके खिलभाग हरिवंशपुराणमें एक कथा आती है। गुरु वसिष्ठका एक सगर नामक शिष्य था। उसके पिता राजा बाहुको पश्चिमी प्रान्तके राजाओंने युद्धमें पराजित कर दिया, जिससे दुःखी होकर राजाने वनमें अपने प्राण त्याग दिये। सगर पिताकी मृत्युके प्रतिशोधके लिये खड़ा हुआ तो सभी राजा भयसे गुरु वसिष्ठजीकी शरणमें आये। वसिष्ठजीने उन्हें अभयदान दिया।

बादमें वे शिष्य सगरको समझाने लगे तो उसे सन्तोष न हुआ। गुरुकी आज्ञाका पालन करते हुए उसने राजाओंका वध तो नहीं किया, किंतु अर्धमुण्डन करके उन्हें छोड़ दिया। ऐसा करनेपर सभी राजा निस्तेज—प्रभाहीन हो गये। ऐसी ही कथा भागवतमें भी आती है—अर्जुनने मृत्युदण्डके बदले अश्वत्थामाका सिर मूँड़ दिया था, मणि निकाल ली थी। शिखा ही द्विजोंकी मणि है, उसके छेदनसे द्विज निस्तेज हो जाता है।

यद्यपि आजके भौतिक युगमें प्रत्यक्ष दृष्टिलाभमें ही सभीकी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिये लोग शिखाको केशसौन्दर्यके विघ्नरूपमें समझने लगे हैं। यह पाश्चात्त्य सभ्यताका प्रभाव है। संस्कृति अक्षुण्ण, अपरिवर्तनीय एवं नित्य होती है और वह संस्कारद्वारा ही पुष्ट रहती है।

शिखा ज्ञानशक्तिको चैतन्य रखती है—शिखा हमारी ज्ञानशक्तिको चैतन्य रखते हुए उसे सदैव अभिवृद्धिकी ओर अग्रसर करती है। वैज्ञानिक विचारसे भी काली वस्तु सूर्यकी किरणोंमेंसे अधिक ताप तथा शक्तिका आकर्षण किया करती है। इसे विज्ञानके छात्र अच्छी तरह समझते हैं।

प्रकृतिमें यह नियम पाया जाता है कि प्रत्येक वस्तुका अल्प अंश अपने महान् अंशीमें मिलकर अपनी पूर्णताको प्राप्त होता है। प्रकृतिकी सभी वस्तुएँ इसी नियमके अधीन काम कर रही हैं। जैसे सभी नदियाँ अपनी अतुल जलराशिको समुद्रमें मिलाकर शान्त होती हैं। कोई भी पार्थिव वस्तु ऊपर फेंकी जाय तो पार्थिवपनके कारण ही गुरुत्वाकर्षणके नियमसे पृथिवीकी ओर आकर्षित होती है। दीपककी लौ भगवान् सूर्यका सूक्ष्मांश होनेसे ऊर्ध्वगामी अर्थात् सदैव ऊपरकी ओर जाती है। अण्ड-पिण्डवादके अनुसार इसी नियमको अपने शरीरपर भी परखना चाहिये।

शास्त्रके अनुसार हमारी बुद्धि सूर्यका अंश है। इसीलिये हम प्रतिदिन '**ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥**'—इस गायत्रीमन्त्रसे अपनी बुद्धि एवं मेधाको जाग्रत् करनेके लिये भगवान् सूर्यकी उपासना करते हैं और उनसे बुद्धिकी याचना करते हैं।

पाश्चात्त्य विज्ञानवादियोंने सूर्यको जीवन-शक्तिका मूल

कारण माना है। उसी सूर्यांशभूता बुद्धि तथा प्राणशक्तिको जाग्रत् करनेके लिये ऋषियोंने बुद्धिके केन्द्र मस्तिष्कपर गोखुरके समान बालोंका एक गुच्छा रखनेका विधान किया है।

बालोंका यह गुच्छा जिसे हम शिखा कहते हैं, काले रंगका होनेके कारण सूर्यसे मेधा एवं प्रकाशिनीशक्तिका विशेष आकर्षण करके ऊर्ध्वाभिमुखी बुद्धिको और भी उन्नत तथा सबल करनेमें सहायक होता है।

शिखा (चूडा) ब्रह्मरन्ध्रकी रक्षिका है—शिखाके ठीक नीचे मज्जातन्तुओंद्वारा निर्मित बुद्धिचक्र है तथा उसीके समीप ब्रह्मरन्ध्र है। इन दोनोंके ऊपर सहस्रदल-कमल है, वही अमृतरूपी ब्रह्मका अधिष्ठान अर्थात् स्थान है।

शास्त्रीय विधिसे जब मनुष्य परमपुरुष परमात्माका ध्यान करता है या वेदादिका स्वाध्याय करता है, तब इनके अनुष्ठानसे समुत्पन्न अमृत-तत्त्व वायुवेगसे सहस्रदलकर्णिकामें प्रविष्ट हो जाता है। यह अमृत-तत्त्व यहीं नहीं रुकता, अपितु अपने केन्द्रस्वरूप भगवान् सूर्यमें लीन होनेहेतु सिरसे भी बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है। शिखाग्रन्थिसे टकराकर वह विद्युत्-प्रवाहस्वरूप अमृत वापस होकर सहस्रदलकर्णिकामें रुक जाता है। कदाचित् शिखा खुली हो या शिखा न हो तो वह अमृत उस द्वारसे बाहर होकर अल्प वेगवाला होनेके कारण सूर्यसे तो मिल नहीं पाता, किंतु अन्तरिक्षमें ही विलीन हो जाता है।

इसलिये स्मृतिकारोंने स्नान, सन्ध्या, जप, होम, स्वाध्याय, दान आदि कर्मोंके समय शिखामें ग्रन्थि लगाकर ही कार्योंके सम्पादनका विधान बताया है—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

शिखाग्रन्थि-बन्धनके वैदिक और स्मृतिमन्त्र हैं—

चिद्रूपिणि महामाये दिव्यतेजःसमन्विते।
तिष्ठ देवि शिखामध्ये तेजोवृद्धिं कुरुष्व मे॥

अर्थात् हे चित्-शक्तिरूपिणी महामाया भगवति! आप दिव्य तेजसे परिपूर्ण हैं। आप मेरी शिखामें रहकर मेरे तेज और मेधाकी वृद्धि करें। ऐसे ही—

'ॐ मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥' (शु०यजु० १६।१६)

अर्थात् हे रुद्र भगवान्! आप हमारे पुत्र-पौत्रमें, मेरी आयुमें, गौमें, अश्वोंमें कभी क्रोध न करें अर्थात् रक्षा करें। हे रुद्र! आप हमारे क्रोधी वीरोंको भी न मारें, हम सदैव हवन करते हुए हवियुक्त होकर आपका आवाहन करते हैं।

इस मन्त्रमें कितना रहस्य भरा है। समस्त देवकार्य शिखाबन्धनके बाद ही सम्पन्न होते हैं। इसीलिये शिखा-ग्रन्थिके समय रुद्रभगवान्‌का स्मरण किया गया।

प्रसिद्ध वेदभाष्यकार पाश्चात्त्य विचारक मैक्समूलर शिखाके सम्बन्धमें लिखते हैं—

'शिखाके द्वारा मानव-मस्तिष्क अतीव शक्तिके प्रवाहको धारण कर सकता है।'

पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता विक्टर ई० क्रोमरका कहना है—'ध्यानके समय ओजशक्ति प्रकट होती है। किसी वस्तुपर चिन्तन एकाग्र करनेसे ओजशक्ति उसकी ओर दौड़ती है। यदि परमात्मापर चिन्तन एकाग्र किया जाय तो मस्तकके ऊपर, शिखाके रास्ते ओजशक्ति प्रकट होती है। परमात्माकी शक्ति उसी पथसे अपने भीतर आया करती है। सूक्ष्म-दृष्टिसम्पन्न योगी इन दोनों शक्तियोंके सुन्दर रंगको भी देख लेते हैं। जो शक्ति परमात्मासे अपने भीतर आती है, उसकी तुलना नहीं की जा सकती।'

शरीरविज्ञानके अनुसार जिस स्थानपर शिखा रखी जाती है, उसे पिनल ज्वाइण्ट कहा जाता है। इसके नीचे एक विशेष प्रकारकी ग्रन्थि होती है जो 'पिट्यूटरी' कहलाती है। इस ग्रन्थिमें एक विशेष प्रकारका रस बनता है, जो स्नायुओंद्वारा सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर शरीरको बढ़ाता है और बलशाली बनाता है।

शिखाद्वारा इस ग्रन्थिको अपना कार्य करनेमें बड़ी सहायता प्राप्त होती है, इसी कारण यह चिरकालतक कार्य करती रहती है। इससे मनुष्य दीर्घकालतक स्वस्थ रहकर जीवनयापन करता है, साथ ही उसकी ज्ञानशक्ति भी अक्षुण्ण रहती है।

इस सम्बन्धमें पाश्चात्य वैज्ञानिक 'सर चार्ल ल्युक्स'-का विचार है—'शिखाका जिस्मके उस जरूरी अङ्गसे बहुत गहरा सम्बन्ध है, जिससे ज्ञानवृद्धि और तमाम अङ्गोंका

सञ्चालन होता है। जबसे मैंने इस विज्ञानकी खोज की, तबसे मैं स्वयं चोटी (शिखा) रखता हूँ।'

इसी प्रकार डॉ० हाखमनका कथन है—'मैंने कई वर्ष भारतमें रहकर भारतीय संस्कृतिका अध्ययन किया है। यहाँके निवासी बहुत कालसे सिरपर चोटी रखते हैं, जिसका जिक्र वेदोंमें पाया जाता है। दक्षिणमें तो आधे सिरपर गोखुरके समान चोटी रखते हैं। उनकी बुद्धिकी विलक्षणता देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ।'

अवश्य ही बौद्धिक विकासमें चोटी बड़ी सहायता देती है। सिरपर चोटी या बाल रखना बड़ा लाभदायक है।

उपर्युक्त वैज्ञानिक तथ्योंसे पूर्ण परिचित होनेके कारण न केवल भारतीय, अपितु पाश्चात्य जगत्‌के भी प्रायः सभी वैज्ञानिक, कवि, लेखक सिरपर शिखा एवं जटासदृश लम्बे बाल रखते दीख पड़ते हैं।

भारतीय विचारकोंके मतानुसार सम्पूर्ण मानव-शरीरमें व्याप्त एक मुख्य नाड़ी है, जिसे सुषुम्णा कहते हैं। यह नाड़ी स्वाधिष्ठानसे आरम्भ होकर मस्तिष्कमें जाकर समाप्त होती है। इसके उत्कृष्ट रन्ध्रभाग शिखास्थलके ठीक नीचे खुलते हैं। यही स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, साथ ही बुद्धितत्त्वका केन्द्र है। साधारण दशामें हमारे शरीरके अन्य रोम, पसीने आदिद्वारा शारीरिक ऊष्माको बाहर फेंकते हैं। सुषुम्णा-केन्द्रके बालोंद्वारा तेज-निःसरण होता है, उसीको रोकनेके लिये शिखामें ग्रन्थिका विधान है; जिससे वह तेज शरीरमें ही रुककर मन, शरीर और मस्तिष्कको अधिक उन्नत कर सके।

एक पाश्चात्य दार्शनिक लिखते हैं—'जब मैं चीन भ्रमण करने गया तो देखा कि चीनके लोग भी हिन्दुस्तानियोंकी तरह आधे सिरसे ज्यादा बाल रखते हैं। मैंने जबसे इस विज्ञानकी खोज की, तबसे मुझे विश्वास हो गया कि हिन्दुओंका प्रत्येक नियम विज्ञानसे भरा पड़ा है। चोटी रखना हिन्दुओंका धर्म ही नहीं, सुषुम्णाके केन्द्रोंकी रक्षाके लिये ऋषि-मुनियोंकी विलक्षण खोजका चमत्कार है।'

इसी प्रकार मि० अर्ल थामन लिखते हैं—'सुषुम्णाकी रक्षा हिन्दूलोग चोटी रखकर करते हैं, जबकि अन्य देशोंमें लोग सिरपर लम्बे बाल रखकर या हैट लगाकर इसकी रक्षाका प्रयत्न करते हैं। इन सबमें चोटी रखना सबसे मुफीद है। किसी भी प्रकारसे हो, सुषुम्णाकी रक्षा करना ही सबसे जरूरी है।'

शिखाके अधोभागमें एक मर्म स्थान होता है, जहाँ आघात पहुँचनेपर सद्यः मृत्यु होती है। सुश्रुतसंहिता (३।६।२७)-में आया है—

'मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिस्तत्रापि सद्य एव [मरणम्]।'

अर्थात् मस्तकके भीतर ऊपरको जहाँपर बालोंका आवर्त (भँवर) होता है, वह सम्पूर्ण नाड़ियों और सन्धियोंका सन्निपात है, उस स्थानको अधिपति-मर्म कहते हैं, वहाँपर चोट लगनेसे तत्काल मृत्यु हो जाती है।

शिखा इस अत्यन्त कोमल तथा सद्योमारक मर्मस्थानके लिये प्रकृतिप्रदत्त कवच है, जो कि आकस्मिक आघातों एवं उग्र शीत-आतपादिसे इस मर्मस्थानको बचाती है। विदेशोंमें इसी मर्मस्थानको उग्र शीत-तापादिसे बचानेके लिये टोप धारण किया जाता है।

शिखा आर्यजातिका एक पवित्र सामाजिक चिह्न है, जिसने सैकड़ों सम्प्रदाय, जाति-उपजाति आदि भेदोंमें विभक्त हुई इस जातिकी एकताको अक्षुण्ण रखनेमें प्रमुखतासे भाग लिया है। इसी शिखाने भूमण्डलके लाखों वर्गमीलमें फैले हुए विशाल हिन्दूसमाजको सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकताके सूत्रमें पिरोकर एक बना रखा है।

इस प्रकार धार्मिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टिसे विचार करनेपर शिखाका मानव-जीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। आर्यजातिका तो लाखों वर्षोंकी परम्पराका इतिहास इसके साथ जुड़ा हुआ है।

इसलिये चूडा (शिखा)-करण-संस्कार मानव-जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये परमोपयोगी है। इस संस्कारकी संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—

शुभ मुहूर्तमें यज्ञवेदी बनाकर चूडाकर्म करना चाहिये। सर्वप्रथम माता बालकको स्नान कराकर एवं शुद्धवस्त्र पहनाकर गोदमें लेकर अग्निके पश्चिमकी ओर बैठे। फिर सङ्कल्प, गणेशपूजन, पुण्याहवाचन आदि पञ्चाङ्गपूजनके पश्चात् 'प्रजापतिः प्रीयताम्' इस वाक्यका उच्चारण

पश्चात् चूडाकरणाधिकार-सिद्धिके लिये सङ्कल्पपूर्वक तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराकर विधिपूर्वक हवन करे।

फिर पूर्वाभिमुख बैठे बालकके सिरसे दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर—तीनों ओर पहलेसे बाँधी गयी तीन जूडाओंमेंसे दाहिनी जूडाको मन्त्र पढ़ते हुए घी आदि मिलाये हुए जलसे भिगोये। मन्त्र इस प्रकार है—

'ॐ सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चस इति।' फिर उस दाहिनी जूडाका तीन भाग करे। उन एक-एक भागमें तीन-तीन स्थानोंमें श्वेत साहीके काँटेसे बालोंको अलग-अलग करके तीन भाग करे। तत्पश्चात् २७ कुशोंमेंसे तीन कुश लेकर उन कुशोंके अग्रभागको दाहिने केशोंके तीन भागोंमेंसे पहले भागके मूलमें **'ॐ ओषधे त्रायस्व'**—इस मन्त्रसे लगाये, फिर **'ॐ शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः'** इस मन्त्रको पढ़कर लोहेका छुरा हाथमें ले। पुनः **'ॐ नि वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥'**—इस मन्त्रसे केशोंमें छुरा लगाये, फिर **'ॐ येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथासद्'**— इस मन्त्रसे दाहिने केशोंके तीन भागोंमेंसे पश्चिम भागको कुशोंसहित काटे।

पुनः सिरके पश्चिम भागके जूडाके केशोंको पूर्ववत् उसी मन्त्रसे भिगोना तथा बिना मन्त्र पढ़े साहीके काँटेसे केशोंका तीन भाग करना, तीन कुशोंको रखना, छुराका हाथमें लेना और केशोंमें लगाना—इत्यादि पूर्वमन्त्रोंसे ही करे। तदनन्तर उत्तर भागके केशोंके लिये भी सब कृत्य सम्पन्न करके काटनेके समय—**'ॐ येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये'** यह मन्त्र पढ़े।

इसके बाद पहले काटे गये और अभी काटे गये इन केशोंको भी कुशोंसहित गायके गोबरपर रखे।

तदनन्तर पूरे केशोंको भिगोकर तीन बार प्रदक्षिण-क्रमसे निम्न मन्त्रसे छुरेको सभी ओर घुमाये—

'ॐ यत् क्षुरेण मर्च्चयता सुपेशसा वप्त्वा वाऽऽवपति केशाञ्छिन्धि शिरो माऽस्यायुः प्रमोषीः।'

तत्पश्चात् **'ॐ अक्षण्वन् परिवप'** मन्त्र बोलकर नाईको छुरा दे और नाई कुल-धर्मके अनुसार शिखा रखकर बाकी सब बाल बनाये। इन केशोंको नये वस्त्रसे लपेटकर बालककी माता, बूआ या बहन दही-दूधसहित गोबर-पिण्डपर रखे।

इसके बाद पूर्णाहुति देकर स्रुवासे थोड़ा भस्म ले ले और **'त्र्यायुषम्०'** इत्यादि मन्त्रोंसे दाहिने हाथकी अनामिका अँगुलीसे बालकको भी लगा दे। फिर गोबरसहित केशोंको गोशालामें, नदी या तालाबके किनारे गड्ढा खोदकर रख दे और मूँद दे।

इसके बाद संस्कार सम्पन्न होनेपर गोदान-दक्षिणासे गुरुको संतुष्टकर मातृका-विसर्जन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये तथा स्वयं भी बन्धुवर्गसहित भोजन करे। इस प्रकार संक्षेपमें भारतीय संस्कृतिके मूल स्वरूप संस्कारोंमेंसे एक चूडाकरण अर्थात् मुण्डन-संस्कार सम्पन्न होता है।

~~~o~~~

व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च। यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे॥
यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः। उपतिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव॥
स्वार्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः। प्रोक्ता पौरुषशब्देन सा सिद्ध्यै शास्त्रयन्त्रिता॥

संसारमें आने-जानेवाले सहस्रों व्यवहार हैं। उनमें सुख और दुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। शास्त्रके अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होनेवाली अपनी मर्यादाका जो त्याग नहीं करता, उस पुरुषको समस्त अभीष्ट वस्तुएँ वैसे ही प्राप्त हो जाती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रत्नोंका समूह। जिसमें अपना मानव-जीवनका प्रधान कार्य—स्वार्थ सधता हो, उस स्वार्थकी प्राप्ति करानेवाले साधनोंमें ही तत्पर रहनेको विद्वान्लोग 'पौरुष' कहते हैं। वह तत्परता यदि शास्त्रमें नियन्त्रित हो तो परम पुरुषार्थकी प्राप्ति करानेवाली होती है। (योगवासिष्ठ मुमु० ६। ३०—३२)

~~~o~~~

शिखा या चोटीकी महिमा

(डॉ० श्रीललितजी मिश्र)

[वेदव्यासजीद्वारा प्रतिपादित षोडश संस्कारोंमें परिगणित चूडाकरण या शिखाधारण एक ऐसा संस्कार है, जो सुरक्षाकवचके रूपमें गुप्तद्वार, दशमद्वार, इन्द्रयोनि, अधिप, मस्तुलिङ्ग आदि नामोंसे पुकारे जानेवाले मर्मस्थल और ब्रह्मरन्ध्रकी रक्षाका कार्य करता है। साथ ही यह आयु, बल, तेज तथा बुद्धिके उन्नयनके लिये आवश्यक अदृश्य शक्तियोंको सहस्रदलकर्णिकामें रोके रखनेमें रोधकका कार्य भी करता है।]

मानव-शरीरकी समस्त प्रवृत्तियोंका केन्द्र मस्तिष्क है। यह शरीरका नियन्त्रणकक्ष है, जहाँसे शरीरके अङ्गोंद्वारा अनुभूत संवेगोंको ग्रहण कर आवेशोंद्वारा निर्देश प्रेषित होते रहते हैं। अतः मस्तिष्कका विकसित, परिष्कृत और व्यवस्थित होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जब वह पूर्ण सुरक्षित और ज्ञानस्रोतोंसे संयुक्त हो। जिस तरह आधुनिक जगत्‌में शासन अपने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं संवेदनशील विभागोंके लिये अभेद्य सुरक्षाकवचकी व्यवस्था करता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिने भी मानव-शरीरके कोमल अङ्गोंको अनेक प्रकारके प्राकृतिक सुरक्षाकवच प्रदान कर उन्हें न केवल सुरक्षित किया, अपितु इतना सबल भी बनाया कि वे बड़े-से-बड़े आघातोंको सह सकें और सुस्थिर रहकर कार्य करते रहें।

इन संस्कारोंमें परिगणित 'चूडाकरण-संस्कार' मानवको शुद्ध करनेका प्रथम सोपान कहा गया है। यह मस्तिष्कके सबसे संवेदनशील मर्मस्थलकी रक्षा करता है।

चूडाकरण-संस्कार (शिखाधारण-संस्कार)

व्यासजीद्वारा वर्णित षोडश संस्कारोंमें प्रारम्भिक सात उपचार (संस्कार) बालककी गर्भवासजन्य मलिनताको परिमार्जित करने तथा शरीरको शुद्ध बनानेहेतु निर्धारित किये गये हैं। आठवाँ संस्कार 'चूडाकरण', 'मुण्डन' या 'शिखाधारण' नामक संस्कार है। इस संस्कारमें गर्भसे एक या तीन वर्षमें बालकके सिरके मध्यभागमें गोखुरके आकारका केशगुच्छ छोड़कर शेष सभी बाल सिरसे उतार दिये जाते हैं। 'चूडा क्रियतेऽस्मिन्' इस विग्रहके अनुसार चूडाकरण-संस्कारका अभिप्राय है—'वह संस्कार, जिसमें बालकको चूडा अर्थात् शिखा धारण करायी जाय।' मनुजीने कहा है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥

(मनु० २।३५)

इसके अनुसार जन्मसे प्रथम या तृतीय वर्षमें द्विजबालकका चूडाकर्म करना चाहिये।

शिखा रखनेकी आवश्यकता

चूडाकरण-संस्कारद्वारा बालकके सिरपर शिखाको धारण करानेके सम्बन्धमें महर्षियों तथा वैज्ञानिकोंद्वारा बताये गये निम्न तथ्योंपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है—

१-तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शीक्षावल्लीके छठे अनुवाकमें शिखा रखनेके रहस्यको इस तरह बताया गया है—

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले।

अर्थात् मुखके अंदर दोनों तालुओंके मध्यमें स्तनकी तरह जो मांसपिण्ड लटकता रहता है, उसके आगे केशोंका मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है। वहाँसे सिरके कपालका भेदन करके 'इन्द्रयोनि' अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग सुषुम्णा नाडी आती है। यह नाडी अपने मूलस्थानसे ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर बढ़ते हुए ललाटके मध्यमें विचरती है। इसके उत्कृष्ट रन्ध्रभाग शिखास्थलके ठीक नीचे खुलते हैं। योगी इसे सुषुम्णाका मूलस्थान मानते हैं। वैद्यगण इसे 'मस्तुलिङ्ग' कहते हैं। मस्तुलिङ्गके साथवाले अग्रभागको योगी ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। यह ज्ञानशक्तिका केन्द्र है। मस्तुलिङ्ग कर्मका केन्द्र है। ये दोनों जितने स्वस्थ या सामर्थ्यवान् होंगे, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंमें उतनी ही शक्ति बढ़ेगी।

प्रकृतिकी विलक्षण महिमा देखिये! ये पास-पास होते हुए भी अपनी प्रकृतिमें भिन्न हैं। ब्रह्मरन्ध्र (जिसे वैद्य मस्तिष्क कहते हैं) शान्तिप्रिय है तो मस्तुलिङ्ग

उष्ण प्रकृतिका है। शिरोवेदनामें तालुके बाल काटनेसे वेदना शान्त हो जाती है, पर मस्तुलिङ्गके लिये उष्णता पानेके लिये उसके ऊपर गोखुरके आकारका केशगुच्छ रखा जाता है, ताकि वह भास्करसे आवश्यक ताप ग्रहण करता रहे। बालोंके गुच्छोंको शिखाके रूपमें रखे जानेका यही रहस्य है, यही उसकी विशेषता है।

यह विज्ञानानुकूल बात है कि काली वस्तु सूर्यकी किरणोंमेंसे अधिक ताप तथा शक्तिको आकर्षित करते हुए उससे अधिक-से-अधिक ऊर्जा ग्रहण करती है।

२-शरीरविज्ञानका अध्ययन करनेसे पता चलता है कि महर्षियोंने मानव-मस्तिष्कके जिस स्थानपर शिखा रखनेका विधान किया है, उसके ठीक नीचे मज्जातन्तुओंद्वारा निर्मित बुद्धिचक्र (मस्तुलिङ्ग) और उसके समीप ब्रह्मरन्ध्र है। ये दोनों सहस्रदलकमलमें अमृतरूपी ब्रह्मके अधिष्ठान हैं। शास्त्रविधिसे जब मनुष्य अनुष्ठान तथा साधनामें प्रवृत्त होता है तो इनके प्रभावसे समुत्पन्न अमृतत्व वायुवेगसे इस सहस्रदलकर्णिकामें प्रवेश करता है। यह अमृतत्व यहीं नहीं रुकता, अपितु अपने मूलकेन्द्र-सूर्यमें लीन होनेके लिये सिरके मर्मस्थलका भेदन कर निकलनेका प्रयास करता है। यदि इसे न रोका जाय तो विक्षिप्तता या मृत्यु अवश्यम्भावी है। इस मर्मस्थलपर शिखाके खुले रहनेपर अल्प वेगसे छन-छनकर अमृतत्व बाहर निकलकर अन्तरिक्षमें विलीन हो जाता है। यदि इस शिखापर गाँठ लगा दी जाय तो यह तत्त्व शिखाग्रन्थिसे टकराकर पुनः सहस्रदलकर्णिकामें ठहर जाता है। यही ठहराव मनुष्यके शरीरमें दीर्घ आयु, बल और तेजकी वृद्धिमें सहायक होता है। इसीलिये अनुष्ठान तथा साधना प्रारम्भ करनेसे पूर्व शिखाबन्धनकर्मका विधान किया गया है। साधक गाँठ लगाते समय कहता है—'दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्' अर्थात् दीर्घ आयु, बल और तेजके लिये शिखाको स्पर्श करता (गाँठ लगाता) हूँ। धर्मशास्त्रकारोंका स्पष्ट निर्देश है कि स्नान, दान, होम, सन्ध्या-वन्दन, देवपूजन, ध्यानादिके पूर्व शिखामें ग्रन्थि लगाकर ही आगेका कार्य करे—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिः सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

३-प्रकृतिका विधान है कि प्रत्येक क्षुद्रांश सर्वदा अपने मूल अंशीमें विलीन होकर ही पूर्णता प्राप्त करता है। समुद्रजलको ही देखिये, सूर्यतापसे भापमें परिणत होकर वायुके साथ विचरण करते हुए ठण्डक पाकर पावसरूपमें पृथ्वीपर आकर विभिन्न माध्यमोंसे पुनः समुद्रमें समा जाता है। मिट्टीके टुकड़ेको कितने ही वेगसे ऊपर फेंकें वह मूलकी ओर वापस लौटता ही है। इसी प्रकार अण्ड-पिण्डवादके अनुसार हम सूर्यको अपनी जीवनशक्ति और प्राणशक्तिका आधार मानते हैं। इसीलिये बुद्धिकेन्द्र मस्तिष्कके ब्रह्मरन्ध्रस्थलपर गोखुरनुमा बालोंका गुच्छा, जिसे चूडा या शिखा कहते हैं, रखकर सूर्यांशभूता बुद्धि तथा प्राणशक्तिको जाग्रत् करनेके लिये सूर्यकी मेधाप्रकाशिनी शक्तिको आकर्षित कराया जाता है। इसीसे सूर्यशक्ति और परमात्माकी ओजशक्तिका आवागमन-मार्ग बना रहता है। इसीलिये इसे 'इन्द्रयोनि' या परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग कहा गया है। इसीके नीचे स्थित ग्रन्थिको श्लेष्मीय या पिट्यूटरी-ग्रन्थि कहते हैं। इसीसे एक रस स्नायुओंके माध्यमसे सम्पूर्ण शरीरमें फैलकर उसे स्वस्थ और बलशाली बनाता है।

४-महर्षियोंद्वारा खोजे गये अमृतत्वको—प्रभाशक्तिको स्वीकार करते हुए पाश्चात्त्य वैज्ञानिक कहते हैं कि यह अदृश्य शक्ति ओजशक्ति है। यह शक्ति दुनियाके महानतम संतों, महर्षियों, अवतारों तथा देवदूतोंमें उनके निरन्तर ध्यानावस्थामें रहनेकी स्थितिमें उनके सिरके पीछे (उनके अङ्गोंमें बने रोमोंसे निकलकर एक बड़े) प्रकाशचक्रके रूपमें दिखायी पड़ती है। इसी आशयसे चित्रकार देवी-देवताओं एवं महापुरुषोंके सिरके पीछे सफेद, हलका पीला या लाल-पीला मिश्रित प्रकाश-चक्र दर्शाता है।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्त्य विचारक और हिन्दूधर्मके वेदभाष्यकार मैक्समूलर और विक्टर ई० क्रोमरने शिखासे सम्प्रेषित और आवेशित इस शक्तिके सम्बन्धमें बताया है कि ध्यान करते समय ओजशक्ति प्रकट होती है और चिन्तनकी एकाग्रतासे यह ओजशक्ति तीव्रतासे निकलती है। यदि प्रभुकी ओर ध्यान एकाग्र किया जाय तो प्रतिक्रियास्वरूप प्रभुकी शक्ति शिखाके रास्ते आने-जाने

लगती है और इसीके साथ मृदुल चुम्बकत्व (आकर्षण)-को बरसात होने लगती हैं। जब ये दो शक्तियाँ आपसमें टकराती हैं तो मस्तिष्कके ऊपरी भागमें इन्द्रधनुषीय रंगोंका ऐसा मोहक दृश्य उपस्थित होता है, जिसे प्रकट करना सम्भव नहीं है।

५-मानवपिण्डका पाँचवाँ भाग मस्तिष्कका एक गुप्त द्वार है। इसे दशम द्वार भी कहा गया है। यह वैसा ही होता है जैसा तालुके अंदर स्तनके समान लोलक या इन्द्रयोनि। इस द्वारकी रक्षाहेतु ही शिखा रखी जाती है। धर्मानुष्ठानके समय इसमें गाँठ लगायी जाती है।

शिखाधारणके विषयमें उपर्युक्त तथ्योंके अतिरिक्त अनेक विद्वान् उपपत्तियाँ भी देते हैं। उनकी दृष्टिमें सृष्टिका मूल अग्नि है। अग्निको संस्कृतमें 'शिखी' कहते हैं। इसीलिये मनुष्यके शरीरमें अग्निके स्वरूपकी शिखासे व्यक्त किया गया है। चूँकि हम अग्निसे उत्पन्न हुए हैं, अतः अग्निसे ही हम **'तन्वं मे पाहि'** (पारस्करगृह्यसूत्र २।४।८), **'तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा'** (शु०यजु० ३२।१४) आदिकी प्रार्थना भी करते हैं।

गीता (१७।३)-में श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** अर्थात् व्यक्ति जो चाहता है, वैसा ही बन जाता है। **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'** अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है। उपासनामें भी उपासक उपास्यकी निकटता एवं कृपा चाहता है। अतः वह भी उपास्यके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये उपास्यके चिह्नको धारण करता है। जैसे शैव भस्म-रुद्राक्ष और वैष्णव तुलसीकी माला धारण करते हैं, वैसे ही अग्निके उपासक होनेके नाते ब्राह्मण अग्निका प्रतीकचिह्न 'शिखा' रखते हैं।

जैसे तडित्-चालक विद्युत्को अपनी ओर खींच लेता है, उसी तरह शिखा भी अन्तरिक्षमें प्रवाहित परमात्माकी ओजशक्तिको आकर्षित करनेमें सफल होती है। अनुष्ठान और साधनामें रत साधकका सम्पर्क परमात्मासे स्थापित करनेमें शिखा सहायता करती है।

इस तथ्यको जान लेनेसे शिखा रखनेके रहस्यसे पर्दा हट जाता है। इसे देशी-विदेशी विद्वानों, विचारकों, लेखकोंने भी स्वीकार किया है। ऋषि-मुनियोंने साधनासे इतनी उत्कृष्टता प्राप्त कर ली थी कि उनके मस्तिष्कसे अमृतरसका निरन्तर स्राव होता रहता था, जो एक छोटे-से शिखामार्गके लिये सँभालना मुश्किल हो गया। फलतः इन साधुओंने जटा-जैसे लम्बे बाल रख लिये। ये बाल आपसमें इतने गुथे रहते थे कि अमृतरसका उनके अन्तिम छोरतक पहुँचना मुश्किल हो जाता था और वह पुनः सहस्रदलकर्णिकामें लौट जाता था। इस तरह ये जटाएँ अनेक शिखाओंका प्रतिनिधित्व करती थीं। दुर्भाग्यसे इस मर्मको नहीं समझते हुए आधुनिक धर्मावलम्बी इसे महान् या पहुँचे हुए साधुका लक्षण बताकर धारण किये हुए दिखायी देते हैं। ऋषियोंद्वारा रखी गयी इन जटाओंको 'पञ्चशिखी' कहा जाता है। गृह्यसूत्रकारोंने कहा है—

'एकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्याद्यथर्षि शिखा निदधातीति।'

अर्थात् कुलधर्मके अनुसार बालक तथा अन्यको एक, तीन अथवा पाँच शिखा धारण कराये।

शिखाबन्धन क्यों ?

जैसा कि पहले कहा गया है कि शिखास्थानके नीचे बुद्धिचक्र (मस्तुलिङ्ग) और ब्रह्मरन्ध्र होते हैं, जहाँसे अमृतत्व वायुवेगसे सहस्रारमें प्रवेश करते हुए बाहर निकलनेके लिये शिखामार्गको चुनता है। अतः ग्रन्थि लगाकर इस मार्गको अवरुद्ध कर मानवकी आयु, बल और तेजकी वृद्धि करनेवाले अमृतत्वको सहस्रदलकर्णिकामें ही समाहित कर दिया जाता है। इसी प्रकार सुषुम्णा नाडीके केन्द्रोंकी रक्षाके लिये ऋषियोंद्वारा खोजी गयी यह विधि अत्यन्त विलक्षण है।

ईसाइयोंके धर्मशास्त्रमें सेमसन एगनास्टिक नामक एक प्रतापी शासकके सम्बन्धमें एक कथा आती है, जो शत्रुओंद्वारा सारे प्रयास करनेपर भी पराजित नहीं किया जा सका था। शत्रुके भेदियोंको एक विचित्र सूचना मिली कि राजाकी ग्रन्थि-लगी शिखा ही उसे अजेय बनाये हुए है। यदि इस शिखाग्रन्थिको काट दिया जाय तो राजा बलहीन हो जायगा। शत्रुओंने राजाके ही विश्वस्त लोगोंमेंसे एकको फोड़कर रातमें सोते हुए राजाकी शिखा कटवा ली

और सुबह हुए युद्धमें राजा पराजित हो गया। कथाका सार स्पष्ट करता है कि शिखाशक्तिका महत्त्व अन्य धर्मोंमें भी स्वीकार किया जाता था। यह कथा हमारे ऋषियों—महर्षियोंके अलौकिक ज्ञान, प्रतिभा, दूरदृष्टि और अनुसन्धान-कौशलका सत्यापन करती है।

शिखाबन्धन कैसे करे?

महर्षियोंका निर्देश है कि शिखाधारक प्रतिदिन स्नानादिके बाद पूजन, होम, सन्ध्या आदिमें प्रयुक्त होनेके पूर्व शिखाबन्धनहेतु सुखासनपर बैठकर आचमन और पवित्रीकरण करे। तत्पश्चात् शिखाकी लटोंको समरस या सुलझाकर सम करे। इसके पश्चात् अग्रिम मन्त्रको पढ़ते हुए शिखाके मूलको बायें हाथसे पकड़ते हुए तर्जनी या अँगूठेको शिखासे सटाकर शेष शिखाभागको शिखाकी लम्बाईके अनुपातमें एक या दो फेरा (तर्जनी या अँगूठेको घेरेमें लेते हुए) देकर गाँठ लगाये—

चिद्रूपिणि महामाये दिव्यतेजःसमन्विते।
तिष्ठ देवि शिखामध्ये तेजोवृद्धिं कुरुष्व मे॥

यदि उपर्युक्त मन्त्र याद न रख सके तो गायत्रीमन्त्र पढ़ते हुए शिखाबन्धन किया जा सकता है।

शिखा कट जानेपर प्रायश्चित्त करनेका विधान

जैसा कि स्पष्ट है समस्त हिन्दूधर्मके अनुष्ठानोंके आरम्भमें शिखाबन्धन अवश्य किया जाना चाहिये। यदि अज्ञानतासे बाल कटवाते समय रखी हुई शिखा कट जाती है अथवा छोटी हो जानेके कारण उसमें ग्रन्थि लगाना सम्भव न हो तो द्विजको तप्तकृच्छ्र व्रतद्वारा प्रायश्चित्त करना चाहिये—

शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

(लघुहारीत)

इसके उपरान्त जबतक सिरपर समुचित लम्बाईकी शिखा नहीं आ जाती, तबतक तीनों वर्णोंके द्विजातीय पुरुषोंको कुशाकी शिखा तैयार कर उसमें ब्रह्मग्रन्थि लगाते हुए उसे दाहिने कन्धे या कानपर रखकर पूजन-यजन करते रहना चाहिये—

अथ चेत् प्रमादान्निशिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धादवतिष्ठेत्॥ (काठकगृह्यसूत्र)

शिखाधारणसे लाभ

शिखा आर्यजातिका एक पवित्र धार्मिक कृत्य और उसकी सामाजिकताका प्रतीक है। समस्त धार्मिक कार्योंको प्रारम्भ करनेके पूर्व शिखाबन्धन किया जाना आवश्यक है। शिखा एवं यज्ञोपवीतके बिना यज्ञ, दान, तप, व्रत, अनुष्ठान आदि शुभ कार्य निष्फल माने जाते हैं। यथा—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥
विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम्।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥

मनुष्यके दीर्घ आयु, बल और तेजके उन्नयनमें शिखाकी भूमिका सभी धर्मोंने स्वीकारी है। यह ज्ञानशक्तिको चैतन्य रखते हुए उसे सर्वदा अभिवृद्धिकी ओर अग्रसर रखती है।

सारांशमें कहा जा सकता है कि शिखा सूर्यकिरणोंसे प्राप्त प्रकाशिनीशक्तिको आकर्षित करने एवं सहस्रदल-कर्णिकातक पहुँचानेमें सम्प्रेषकका कार्य करती है। शिखास्थानके नीचे मस्तिष्कके सबसे मर्मस्थलपर स्थित मस्तुलिङ्ग और ब्रह्मरन्ध्र तथा उससे जुड़ती सुषुम्णा नाडीसे प्रवाहित अमृत-तत्त्वकी सुरक्षा यही शिखा करती है।

यह साधनाकालमें परमात्माकी ओजशक्तिको आकर्षित करने, ग्रहण करने तथा रोके रखनेमें अवरोधक और तडित्-चालकका कार्य करती है।

शिखा रखने एवं इसके नियमोंके अनुशीलनसे सद्बुद्धि, सद्वृत्ति, शुचिता और सद्विचारमें वृद्धि होती है।

साधनामें आवेशों, संवेगोंके आदान-प्रदानसे साधककी आत्मशक्ति प्रबल होती है, जिससे लौकिक और पारलौकिक कार्योंमें सफलता प्राप्त करनेमें सहायता मिलती है। इससे बल, बुद्धि, आयु और नेत्रज्योतिमें वृद्धि होती है। शिखा हिन्दूजातिका प्रतीक—चिह्न है। यह अन्य धर्मोंमें भी सम्मानित और अनुकरणीय माना गया है। यह जातिविशेषसे ऊपर हर व्यक्तिके स्वास्थ्यके लिये अपनाये जानेयोग्य है। अतः अपनी आयु, बुद्धि, तेज और बलकी वृद्धिके लिये शिखाधारण अवश्य करना चाहिये।

अक्षरारम्भ-संस्कारकी उपयोगिता

(आचार्य डॉ० श्रीवागीशजी शास्त्री, वाग्योगाचार्य)

लिपिमें प्रयुक्त होनेवाले अक्षरोंसे जिस संस्कारका श्रीगणेश किया जाय, उसे अक्षरारम्भ अथवा विद्यारम्भ-संस्कार कहते हैं। ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दीमें महामुनि पाणिनि लिपिका उल्लेख करते हैं। भगवान् बुद्धके समयमें अनेक लिपियाँ प्रचलित थीं। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें अक्षरोंमें अकारको सर्वश्रेष्ठ माना है। महाभारतके लेखनका गुरुभार भगवान् श्रीगणेशने सँभाला था। तान्त्रिक वाङ्मयमें अक्षरोंको देवताके रूपमें पूजा की जाती है। षट्चक्रोंके पटल अक्षर-ध्वनियोंसे स्पन्दित होते हैं। वेदोंका सारभूत '**ॐ**' एकाक्षर है।

लिपिज्ञान भारतीय मनीषियोंको अति प्राचीन कालसे था, किंतु कुछ आधुनिकोंके मतानुसार प्राचीन कालमें भारतीय लिपिज्ञानसे अपरिचित थे। इसकी सम्पुष्टिमें वे वेदोंकी श्रुतिपरम्पराको प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि वेदोंका अभ्यास गुरुमुखसे ही किया जाता था, तथापि लौकिक व्यवहारके निर्वाहहेतु लिपिका निश्चयतः आविर्भाव हो चुका था। शौनकीय और माध्यन्दिनसंहितामें तो '**लिख्**' धातुका अनेक बार प्रयोग किया गया है।

विद्यारम्भ-संस्कारका अनुष्ठान चूडाकरण-संस्कारके अनन्तर ही करना चाहिये—'**वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत।**' जन्मसे पाँचवें वर्षमें इसकी सम्पन्नताको उपयुक्त माना गया है। उपयुक्त देशकालमें किया गया संस्कार बालकके मनपर अमिट प्रभाव छोड़ता है। जिस प्रकार मिट्टीके कच्चे घड़ेपर लाल-काले रंगोंसे जो रेखाएँ खींच दी जाती हैं, वे उसे पकानेपर अमिट हो जाती हैं, उसी प्रकार बालमनपर यथासमय डाला गया संस्कार अमिट होता है। कोमल शाखाको चाहे जिस ओर मोड़ दो, वृक्षकी शाखाके रूपमें बढ़नेपर भी वह पूर्ववत् मुड़ी रहेगी, किंतु पश्चात् उसे दूसरी दिशामें मोड़ना सम्भव न होगा, वह टूट जायगी।

अक्षरारम्भके लिये पाँचवाँ वर्ष उपयुक्त माना गया है। संस्कारमयूखमें मार्कण्डेयका वचन है—'**प्राप्तेऽथ पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं तु कारयेत्।**' इस संस्कारको हरिशयनी एकादशीतक ही करना चाहिये। देवताओंकी जागरित अवस्थामें दिव्यशक्तिकी प्राप्ति होती है। देवोत्थानी एकादशीसे अक्षरारम्भ-संस्कार सम्पन्न किया जाना चाहिये। संस्कारप्रकाशमें विश्वामित्रका वचन प्रमाण है—

प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे त्वप्रसुप्ते जनार्दने।
विद्यारम्भस्तु कर्तव्यो यथोक्ततिथिवासरे॥

काल-निर्धारण—इस संस्कारको यथासम्भव उत्तरायणके शुक्लपक्षमें सम्पन्न करना उचित है। कुम्भको छोड़कर मकरसे लेकर मिथुनपर्यन्त पाँच महीने ही शुभ माने गये हैं—

अक्षरस्वीकृतिः प्रोक्ता प्राप्ते पञ्चमहायने।
उत्तरायणगे सूर्ये कुम्भमासं विवर्जयेत्॥
पूर्वपक्षः शुभः प्रोक्तः कृष्णे चान्त्यत्रिकं विना।

(संस्कारप्रकाश)

वसिष्ठके वचनानुसार अक्षरारम्भ-संस्कारके अनुष्ठानमें बुध, गुरु तथा शुक्र दिन उत्तम माने गये हैं। रविवार तथा सोमवारको मध्यम और शनि, मङ्गलवारको वर्जित किया गया है। राजमार्तण्डमें गुरुवारको उत्तम, रविवार तथा शुक्रवारको मध्यम, शनिवार तथा मङ्गलवारमें अनिष्टकी सम्भावना और बुध, सोमवारको विद्याकी निष्फलता बतायी है। व्याख्याकारोंके मतानुसार धनुर्विद्यामें बुधवारका निषेध जानना चाहिये। समष्टितः रवि, बुध, गुरु तथा शुक्र दिन सभी धर्मशास्त्रकारोंके मतानुसार श्रेष्ठ माने गये हैं। अपराह्णकालमें सोमवारको भी प्रशस्त माना गया है।

अब अक्षरारम्भ-संस्कारमें तिथियोंका निश्चय करना है। संस्कारमयूखके मतानुसार प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, पूर्णिमा तथा रिक्ता तिथियाँ वर्जित मानी गयी हैं। संस्कारप्रकाशमें बृहस्पतिके वचनानुसार गलग्रह तिथियोंको भी वर्जित माना है। गलग्रहतिथियाँ हैं—प्रतिपदा, चतुर्थी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा। संक्षेपतः तृतीया, पञ्चमी, दशमी, एकादशी तथा द्वादशी तिथियाँ शुभ मानी गयी हैं। शिशुके अक्षरारम्भके लिये नक्षत्रोंमें शुभ नक्षत्र हैं—हस्त, पुनर्वसु, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, रेवती, अश्विनी, चित्रा और श्रवण—

हस्तादित्यमरुन्मित्ररौद्रपौष्णाश्विचित्रभम्।
श्रवणं च प्रशस्तं स्यादक्षरग्रहणे शिशोः॥

अक्षरारम्भ-संस्कारमें अनध्यायवाले दिवसोंको भी

वर्जित माना गया है। नारदके वचनानुसार तुला और मेषके विषुवमें, हरिशयनी, देवोत्थानी, कार्तिक शुक्लपक्षकी द्वादशी तथा आषाढ़ शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथियोंमें अध्ययनका निषेध किया गया है। विशेषत: प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावास्या तिथियोंमें अनध्याय रखना चाहिये—

प्रतिपत्सु चतुर्दश्यामष्टम्यां पर्वणोर्द्वयोः।
श्वोऽनध्यायेऽथ शर्वर्यां नाधीयीत कदाचन॥

(निर्णयसिन्धु, तृ०परि० पूर्वार्द्ध)

अक्षरारम्भ-विधि—सबसे पहले शिशुको उबटन लगाकर स्नान कराना चाहिये। श्वेतवस्त्र धारण कराकर शिशुसे अक्षतोंके ऊपर स्थापित गणेश, हरि-लक्ष्मी, सरस्वतीकी अर्चना कराये। इन देवताओंके नामसे घृताहुतियाँ दिलाये। यथाशक्ति दक्षिणा देकर ब्राह्मणोंकी पूजा करे। इसके पश्चात् अक्षरारम्भ करानेवाला गुरु पूर्वाभिमुख बैठकर पश्चिमाभिमुख शिशुको अक्षरलेखन सिखाये। संस्कारप्रकाशके वचनानुसार शिशु ब्राह्मणोंकी पूजा करनेके पश्चात् गुरुजनोंकी भी अभ्यर्थना करे।

लोकमें यह अक्षरारम्भ-संस्कार पाटीपूजनके नामसे प्रसिद्ध है। मध्यप्रदेश तथा राजस्थानमें पाटीपूजनके प्रारम्भमें शिशुसे कहलवाते हैं 'ॐ नमः सिद्धम्।' इस संस्कारसे युक्त बालक मेधावी तथा विद्यानिष्णात बनते हैं।

प्रणाम-निवेदन—एक जीवन्त संस्कार

(श्रीराकेशकुमारजी शर्मा)

प्रणाम-निवेदन भारतीय सनातन शिष्टाचारका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जिसने प्रणाम करनेका व्रत ले लिया, समझना चाहिये कि उसमें नम्रता, विनय, शील, श्रद्धा, सेवा, अनन्यता एवं शरणागतिका भाव स्वत: प्रविष्ट हो गया। इसीलिये सनातन संस्कृतिमें प्रणाम-निवेदनको उत्तम संस्कारका जनक कहा गया है। सामान्यरूपसे अभिवादन दो रूपोंमें व्यक्त होता है। छोटा अपनेसे बड़ेको प्रणाम करता है और समान आयुवाले व्यक्ति एक-दूसरेको नमस्कार करते हैं। छोटे और बड़ेका निर्णय भारतीय संस्कृतिमें त्यागके अनुसार होता है। जो जितना त्यागी है, वह उतना ही महान् है। शुकदेवजीके त्यागके कारण उनके पिता व्यासजीने ही उन्हें अभ्युत्थान दिया और प्रणाम किया। त्यागके अनन्तर विद्या और उसके पश्चात् वर्णका विचार किया जाता है। अवस्थाका विचार तो प्राय: अपने ही वर्णमें होता है। मनुस्मृति (२।१२१)-के अनुसार—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

अर्थात् जो वृद्धजनों, गुरुजनों तथा माता-पिताको नित्य प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है।

महाभारतमें भी बताया गया है कि अभिवादनसे दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती है—

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्॥
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत्।

(महा०, अनु० १०४।४३-४४)

अपनेसे बड़ेके आनेपर उन्हें देखते ही खड़े हो जाना चाहिये। स्वयं आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम करना चाहिये। यदि विशेष स्थिति न हो तो उनके समीप आनेकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। यह सर्वमान्य है कि मनुष्यशरीरमें एक प्रकारकी विद्युत्-शक्ति है। दुर्बलको प्रबल विद्युत् अपनी ओर खींचती है। शास्त्रानुसार किसी अपनेसे बड़ेके आनेपर प्राण ऊपर उठते हैं। उस समय खड़े हो जानेसे उनमें विकृति नहीं आती। गुरुजनोंको देखते ही अविलम्ब खड़े हो जाना चाहिये।

अभिवादनकी श्रेष्ठतम पद्धति साष्टाङ्ग प्रणाम है। पेटके बल भूमिपर दोनों हाथ आगे फैलाकर लेट जाना साष्टाङ्ग प्रणाम है; इसमें मस्तक, भ्रूमध्य, नासिका, वक्ष, ऊरु, घुटने, करतल तथा पैरोंकी अँगुलियोंका ऊपरी भाग—ये आठ अङ्ग भूमिसे स्पर्श करते हों, इसके बाद दोनों हाथोंसे सम्मान्य पुरुषका चरण-स्पर्श करके घुटनोंके बल बैठकर उसके चरणोंसे अपने भालका स्पर्श कराना और उसके पादाङ्गुष्ठोंका हाथोंमें स्पर्श करके अपने हाथोंको नेत्रोंमें लगा लेना—यह साष्टाङ्ग प्रणामकी पूर्ण विधि कही गयी है।

घुटनोंके बल बैठकर मस्तकको चरणोंमें स्पर्श कराना इसीका अर्धरूप है। दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका देना प्रणामका सांकेतिक रूप है। बिना हाथ जोड़े और बिना

मस्तक झुकाये प्रणाम नहीं होता। एक हाथसे, हाथकी अँगुलीसे, छड़ीसे या टोपीसे होनेवाला प्रणाम प्रणाम नहीं; अपितु प्रकारान्तरसे अवहेलनामात्र है। महर्षि व्याघ्रपाद बतलाते हैं कि एक हाथसे अभिवादन कभी नहीं करना चाहिये। जो ऐसा करता है, उसका यावज्जीवन जो कुछ भी पुण्यार्जन किया रहता है, वह सब निष्फल हो जाता है—

जन्मप्रभृति यत्किंचित् सुकृतं समुपार्जितम्।
तत्सर्वं निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात्॥

(व्याघ्रपादस्मृति ३६७)

अतः दोनों हाथोंसे अर्थात् दाहिने हाथसे दाहिने पैरको और बायें हाथसे बायें पैरको छूकर श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम करनेकी विधि है—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

(मनुस्मृति २।७२)

अभिवादनशीलता मानवका सर्वोच्च सात्त्विक संस्कार है। मूलतः प्रणाम स्थूल देहको नहीं, अपितु अन्तरात्मामें प्रतिष्ठित नारायणको ही किया जाता है। अतः स्वयं तो ऐसा करे ही, अपने बच्चोंमें भी प्रणाम-निवेदनकी प्रवृत्ति स्थिर करनी चाहिये। शास्त्रोंमें तो प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम माता, पिता तथा अपनेसे बड़ों—गुरुजनोंको प्रणाम करनेको नित्यविधिमें अन्तर्हित किया गया है—

उत्थाय मातापितरौ पूर्वमेवाभिवादयेत्।
आचार्यश्च ततो नित्यमभिवाद्यो विजानता॥

अतः प्रणाम-निवेदन भारतीय संस्कृतिका मौलिक संस्कार है। अभिवादनका संस्कार सदाचार, शिष्टाचारका मुख्य अङ्ग है। इससे न केवल लौकिक लाभ होता है, अपितु आध्यात्मिक लाभ भी होता है। अभिवादनके बलपर दिव्य लाभोंको प्राप्त करनेके अनेक वृत्तान्त प्राप्त होते हैं।

महर्षि मार्कण्डेयके नामसे कौन परिचित नहीं है। जब वे ५ वर्षके थे, तब उनके पिता मृकण्डुको ज्ञात हुआ कि इनकी आयु तो केवल छः मास ही शेष है, पिता पहले तो चिन्तित हुए, किंतु फिर उन्होंने झटसे उनका यज्ञोपवीत कर डाला और यही उपदेश दिया कि वत्स! तुम जिसे किसी द्विजोत्तमको देखना, उसे विनयपूर्वक प्रणाम करना—

यं कञ्चिद् वीक्षसे पुत्र भ्रममाणं द्विजोत्तमम्।
तस्यावश्यं त्वया कार्यं विनयादभिवादनम्॥

(स्कन्दपु०, नागर० २२।१७)

फिर क्या था, बालक मार्कण्डेय आज्ञाकारी तो थे ही, उन्होंने पिताद्वारा प्रदत्त अभिवादनव्रतको अपना लिया, उनका अभिवादनका संस्कार दृढ़ हो गया। ऐसे ही एक दिन जब सप्तर्षि वहाँसे गुजर रहे थे तो बालक मार्कण्डेयने नित्यकी भाँति उन्हें विनयसे प्रणाम किया और '**दीर्घायुर्भव, दीर्घायुर्भव**' का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त हो गया और सचमुच बालक मार्कण्डेय दीर्घायु हो गये तथा कल्प-कल्पान्तकी आयु उन्हें प्राप्त हो गयी। वे चिरञ्जीवी हो गये। ऐसे बहुत-से दृष्टान्त हैं। तात्पर्य यह है कि अगर जीवनमें प्रणाम-निवेदनका संस्कार प्रतिष्ठित हो गया तो समझना चाहिये कि अन्य कर्तव्य-कर्म भी स्वयं ही सध गये।

देवविग्रहको, आचार्यको, साधुको और अन्य पूज्य गुरुजनोंको अवश्य प्रणाम करना चाहिये। धर्मशास्त्रमें बताया गया है कि जो व्यक्ति देवालय या देवप्रतिमाको, संन्यासीको, त्रिदण्डी स्वामीको देखकर उन्हें प्रणाम नहीं करता है, वह प्रायश्चित्तका भागी होता है—

देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम्।
नमस्कारं न कुर्वीत प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥

(व्याघ्रपादस्मृति ३६६)

यदि अपना शरीर शुद्ध न हो, स्वयं स्नान न किये हुए हो तो प्रणाम करते समय गुरुजनोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये। स्नान करते समय, शौच करते समय, दन्तधावनके समय, शव ले जाते समय प्रणाम करनेकी आवश्यकता नहीं। *स्वयं इन स्थितियोंमें हो तो भी प्रणाम न करे।* जिसको प्रणाम करना है, वह भी इन स्थितियोंमें हो तो भी प्रणाम न करे। श्मशानमें, कथास्थलमें, देवविग्रहके सम्मुख केवल मानसिक प्रणाम ही करना चाहिये। स्त्रीको किसी परपुरुषका चरण नहीं छूना चाहिये। पतिके अतिरिक्त दूसरे सभी पुरुषोंको बिना स्पर्श किये ही दूरसे नमस्कार करना चाहिये।

यह वैज्ञानिक सत्य है कि हमारे हाथों-पैरोंकी अँगुलियोंसे निरन्तर विद्युत्-किरणें निकलती रहती हैं। मस्तकके भालप्रदेश और हाथोंकी अँगुलियोंको इस विद्युत्-प्रभावको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त है। अपनेसे श्रेष्ठके चरणोंपर मस्तक तथा हाथ रखकर हम उनका प्रभाव ग्रहण करते हैं। प्राचीन समयमें गुरुजनोंको प्रणाम करते समय अपना गोत्र, पिताका नाम तथा अपना नाम लिया करते थे।

हमारी भारतीय संस्कृतिमें प्रणाम, अभिवादन या नमस्कार करनेकी पद्धति शिष्टाचारके अनुकूल

साथ-साथ वैज्ञानिक भी है।

श्रीमद्भागवत (४।३।२२)-में भगवान् शंकरने श्रीसतीजीको इस प्रकार बतलाया है—

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने॥

इसका भाव यह है कि सज्जन लोग परस्पर जो अभ्युत्थान, विनम्रता एवं प्रणाम करते हैं, वह चित्तमें स्थित ज्ञानस्वरूप परमपुरुषके लिये ही करते हैं, शरीर और शरीरमें अभिमान करनेवाले अहंकारको नहीं करते। जिसे प्रणाम किया जाता है, उसे समझना चाहिये कि प्रणाम उसमें स्थित सर्वान्तर्यामीके लिये किया गया है।

यदि कोई किसी भगवन्नामस्मरणसे अभिवादन करता है तो हमें भी उसी नामसे उत्तर देना चाहिये। 'जय रामजी' करनेवालेको 'जय रामजी' कहकर, 'जय श्रीकृष्ण' कहनेवालेको 'जय श्रीकृष्ण' कहकर उत्तर देना शिष्ट ढंग है। इसी प्रकार दूसरे सम्प्रदायके लोगोंसे व्यवहार करते समय प्रणामादिका ऐसा ही रूप होना चाहिये, जो उनकी मर्यादाके अनुरूप हो। अतः प्रणाम-संस्कारको अपने जीवनमें पूर्णतः उतारनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह परस्पर प्रेम, सौहार्द, आदरभाव एवं विनयका मूल है।

~~o~~

अनुपालनीय संस्कार—अभिवादन

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी)

शास्त्रपरम्पराके अनुसार सम्यक्‌रूपसे जो कर्म किया जाता है, वह संस्कार कहलाता है। हमारी मूल निधि वेद है। वही अनेक विद्यास्थानोंमें उपबृंहित प्रदीपकी भाँति सभी अर्थोंका प्रकाशक है, सर्वज्ञ-कल्प है और हमारे सर्वविध कल्याणका एकमात्र आश्रय है। उन्हीं श्रुतियों (वेदों)-के ही सर्वहितकारी अर्थोंको सरल करके स्मृतियोंने सोदाहरण व्यक्त किया है—

'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥'

(रघुवंश २।२)

श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ मानव-जीवनको सुव्यवस्थित एवं लोक-परलोक दोनोंहीको सुखमय-रसमय [illegible] लिये जो मार्गदर्शन कराती हैं, वही हमारा [illegible] उसमें सोलह संस्कार परिगणित हैं। श्रुति[illegible] प्रमुख आदेश इस प्रकार है, जिसका [illegible] अन्तेवासी छात्रको दे रहे हैं—

'आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। यान्यस्मा[illegible] तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।'

(तैत्तिरीय[illegible])

'हमारे जो भी उचित एवं शास्त्रसम्म[illegible] आचरण हैं, उन्हींका पालन करो, जो अनुचि[illegible] हों, उन्हें नहीं अपनाना।'

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो [illegible]'

'माताको देवतुल्य मानो, पिताको देवतु[illegible] आचार्यको देवतुल्य समझो।'

माता-पिताकी सेवा पुत्रको सब प्रकारसे करनी चाहिये। जो पुत्र माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है एवं उन्हें प्रणाम-निवेदन करता है, उसने मानो सप्तद्वीपवती पृथ्वीभरकी परिक्रमा कर ली। ये तो घरपर ही उपलब्ध सबसे बड़े तीर्थ हैं। अन्य तीर्थ तो दूर जाकर प्राप्त होते हैं। भगवान् गणेश कहते हैं कि मैंने अपने माता-पिताकी परिक्रमा करके देवोंमें सर्वप्रथम पूज्य पद प्राप्त किया—

[illegible] सर्वदेवमयः [illegible] पिता।
[illegible] सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
[illegible] प्रदक्षिणम्।

माता-पिता हमारे परम निकटतम पालक, पोषक और निष्कपटभावसे सर्वस्व-दाता हैं। यदि इतने सर्वोपकारी, सर्वहितैषीकी हम कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक सेवा एवं आज्ञा-पालन न कर सके तो फिर समाज एवं राष्ट्रकी सेवा क्या कर सकेंगे?

इस आदर्शको श्रीरामने तीनों भाइयोंके साथ करके दिखाया—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

(रा०च०मा० १।२०५।७-८)

माता-पिताकी आज्ञाका पालन एवं सेवा न करनेके ही कुसंस्कारसे आज समाज विगड़ गया है। इस मूल संस्कारकी स्वीकृतिके विना राष्ट्रका कल्याण कथमपि सम्भव नहीं है।

श्रीरामके राज्यकी आजतक प्रशंसा हो रही है, आगे भी होती ही रहेगी; क्योंकि उस समय निम्न मूल संस्कारका सुदृढ़रूपमें पालन किया गया—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

अर्थात् उठकर सर्वदा वृद्धजनोंको प्रणाम तथा उनकी सेवा करनेवाले मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।

भगवान् शङ्करकी कृपासे मृकण्डु मुनिको एक योग्य पुत्र मिला, किंतु वह अल्पायु था। मुनि चिन्तित हुए। फिर उन्होंने बालकसे कहा—

यं कञ्चिद् वीक्षसे पुत्र भ्रममाणं द्विजोत्तमम्।
तस्यावश्यं त्वया कार्यं विनयादभिवादनम्॥

हे पुत्र! तुम जिस किसी ब्राह्मण, मुनि, पूज्यको देखना—उनको विनम्र हो; अवश्य प्रणाम करना। बालकने ऐसा ही किया। सबका आशीर्वाद चिरञ्जीवी होनेका ऐसा मिला कि अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुराम—इन सातों चिरञ्जीवियोंके साथ मृकण्डुके पुत्र मार्कण्डेयजी आठवें चिरञ्जीवी हुए **'मार्कण्डेयमथाष्टमम्'**।

महाराज युधिष्ठिरजीने महाभारतके प्रारम्भमें जबकि दोनों ओरसे सेना आमने-सामने थी, उस समय रथ, अस्त्र-शस्त्र एवं पदत्राणतक त्यागकर पितामह भीष्मजीके चरणोंमें सानुनय प्रणाम किया और प्रार्थना की कि तात! इस महाभारत-युद्धमें **'विजय'** का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता

हूँ। तब परम प्रसन्न होकर भीष्मजीने कहा—तुम्हारे शील एवं विनयने सबको परास्त कर दिया है, तुम्हारी विजय अवश्य होगी—इसमें संदेह नहीं। मूलतः **'विजयी भव'** का आशीर्वाद प्राप्त होना भी केवल **'विनयादभिवादनम्'** का ही परिणाम था।

श्रीरामने तो सर्वत्र इसका अनुपालन किया—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

(रा०च०मा० १।२२६।५)

और आशीर्वाद मिला—***'सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे'*** (रा०च०मा० १।२३७।४)। आगे विवाहादि सभी कार्य इस आशीर्वादसे सम्पन्न हुए ही। निष्कर्ष यही कि अभिवादनमात्रसे ही सब प्रकारका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

अभिवादन क्यों और कैसे करना चाहिये तथा इसका वैज्ञानिक स्वरूप क्या होता है? इस सम्बन्धमें संक्षिप्त विचार प्रस्तुत है—प्रत्येक मानव-पिण्डमें विद्युत्की आकर्षण-शक्ति रहती है। यह शक्ति भी ऋणात्मक एवं धनात्मक दो प्रकारकी है। इसीलिये दायें हाथसे दायें एवं बायेंसे बायें पादको स्पर्श करनेका विधान है। इस प्रकार स्पर्श करनेसे प्रणम्य एवं प्रणामकर्ता—दोनों पिण्डोंकी निगेटिव एवं पॉजिटिव—दोनों धाराएँ समानरूपसे मिलती हैं। जैसे विद्युत्-उत्पादक यन्त्रमें सञ्चित विद्युत् अपने सम्पर्कमें आनेवाले दूसरे यन्त्रमें प्रवाहित हो उठती है, वैसे ही प्रणाम करनेपर गुरुजनोंके, श्रेष्ठजनोंके सद्गुण अपनेमें भी आ जाते हैं। सिरपर हाथ रखनेपर भी वही

साथ-साथ वैज्ञानिक भी है।

श्रीमद्भागवत (४।३।२२)-में भगवान् शंकरने श्रीसतीजीको इस प्रकार बतलाया है—

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने॥

इसका भाव यह है कि सज्जन लोग परस्पर जो अभ्युत्थान, विनम्रता एवं प्रणाम करते हैं, वह चित्तमें स्थित ज्ञानस्वरूप परमपुरुषके लिये ही करते हैं, शरीर और शरीरमें अभिमान करनेवाले अहंकारको नहीं करते। जिसे प्रणाम किया जाता है, उसे समझना चाहिये कि प्रणाम उसमें स्थित सर्वान्तर्यामीके लिये किया गया है।

यदि कोई किसी भगवन्नामस्मरणसे अभिवादन करता है तो हमें भी उसी नामसे उत्तर देना चाहिये। 'जय रामजी' करनेवालेको 'जय रामजी' कहकर, 'जय श्रीकृष्ण' कहनेवालेको 'जय श्रीकृष्ण' कहकर उत्तर देना शिष्ट ढंग है। इसी प्रकार दूसरे सम्प्रदायके लोगोंसे व्यवहार करते समय प्रणामादिका ऐसा ही रूप होना चाहिये, जो उनकी मर्यादाके अनुरूप हो। अतः प्रणाम-संस्कारको अपने जीवनमें पूर्णतः उतारनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह परस्पर प्रेम, सौहार्द, आदरभाव एवं विनयका मूल है।

~~०~~

अनुपालनीय संस्कार—अभिवादन

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी)

शास्त्रपरम्पराके अनुसार सम्यक्‌रूपसे जो कर्म किया जाता है, वह संस्कार कहलाता है। हमारी मूल निधि वेद है। वही अनेक विद्यास्थानोंमें उपबृंहित प्रदीपकी भाँति सभी अर्थोंका प्रकाशक है, सर्वज्ञ-कल्प है और हमारे सर्वविध कल्याणका एकमात्र आश्रय है। उन्हीं श्रुतियों (वेदों)-के ही सर्वहितकारी अर्थोंको सरल करके स्मृतियोंने सोदाहरण व्यक्त किया है—

'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥'

(रघुवंश २।२)

श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ मानव-जीवनको सुव्यवस्थित एवं लोक-परलोक दोनोंहीको सुखमय-रसमय बनानेके लिये जो मार्गदर्शन कराती हैं, वही हमारा सनातनधर्म है। उसमें सोलह संस्कार परिगणित हैं। श्रुतिका संस्कारपरक प्रमुख आदेश इस प्रकार है, जिसका उपदेश आचार्य अन्तेवासी छात्रको दे रहे हैं—

'आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। यान्यस्माकः सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।'

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११)

'हमारे जो भी उचित एवं शास्त्रसम्मत मङ्गलमय आचरण हैं, उन्हींका पालन करो, जो अनुचित प्रतीत होते हों, उन्हें नहीं अपनाना।'

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।'

'माताको देवतुल्य मानो, पिताको देवतुल्य मानो, आचार्यको देवतुल्य समझो।'

माता-पिताकी सेवा पुत्रको सब प्रकारसे करनी चाहिये। जो पुत्र माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है एवं उन्हें प्रणाम-निवेदन करता है, उसने मानो सप्तद्वीपवती पृथ्वीभरकी परिक्रमा कर ली। ये तो घरपर ही उपलब्ध सबसे बड़े तीर्थ हैं। अन्य तीर्थ तो दूर जाकर प्राप्त होते हैं। भगवान् गणेश कहते हैं कि मैंने अपने माता-पिताकी परिक्रमा करके देवोंमें सर्वप्रथम पूज्य पद प्राप्त किया—

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥

(प०पु०, सृष्टिखण्ड ४७।११-१२)

मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥

(रा०च०मा० २।३०६।२)

वास्तविक संस्कारकी प्रतिष्ठा माता-पिताकी सेवा एवं उनके *आज्ञा-पालनसे ही होती है। यदि माता-पिताकी* सच्ची भक्ति दृढ़ बन गयी तो उसपर देवता, ऋषि, मुनि, पितर तथा मनुष्यादिकी भी कृपा हो जाती है और वह सुयशका भागी बन जाता है।

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

(रा०च०मा० २।१७४)

माता-पिता हमारे परम निकटतम पालक, पोषक और निष्कपटभावसे सर्वस्व-दाता हैं। यदि इतने सर्वोपकारी, सर्वहितैषीकी हम कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक सेवा एवं आज्ञा-पालन न कर सके तो फिर समाज एवं राष्ट्रकी सेवा क्या कर सकेंगे?

इस आदर्शको श्रीरामने तीनों भाइयोंके साथ करके दिखाया—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥
(रा०च०मा० १।२०५।७-८)

माता-पिताकी आज्ञाका पालन एवं सेवा न करनेके ही कुसंस्कारसे आज समाज बिगड़ गया है। इस मूल संस्कारकी स्वीकृतिके बिना राष्ट्रका कल्याण कथमपि सम्भव नहीं है।

श्रीरामके राज्यकी आजतक प्रशंसा हो रही है, आगे भी होती ही रहेगी; क्योंकि उस समय निम्न मूल संस्कारका सुदृढ़रूपमें पालन किया गया—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनु० २।१२१)

अर्थात् उठकर सर्वदा वृद्धजनोंको प्रणाम तथा उनकी सेवा करनेवाले मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।

भगवान् शङ्करकी कृपासे मृकण्डु मुनिको एक योग्य पुत्र मिला, किंतु वह अल्पायु था। मुनि चिन्तित हुए। फिर उन्होंने बालकसे कहा—

यं कञ्चिद् वीक्षसे पुत्र भ्रममाणं द्विजोत्तमम्।
तस्यावश्यं त्वया कार्यं विनयादभिवादनम्॥

हे पुत्र! तुम जिस किसी ब्राह्मण, मुनि, पूज्यको देखना—उनको विनम्र हो; अवश्य प्रणाम करना। बालकने ऐसा ही किया। सबका आशीर्वाद चिरञ्जीवी होनेका ऐसा मिला कि अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुराम—इन सातों चिरञ्जीवियोंके साथ मृकण्डुके पुत्र मार्कण्डेयजी आठवें चिरञ्जीवी हुए '**मार्कण्डेयमथाष्टमम्**'।

महाराज युधिष्ठिरजीने महाभारतके प्रारम्भमें जबकि दोनों ओरसे सेना आमने-सामने थी, उस समय रथ, अस्त्र-शस्त्र एवं पदत्राणतक त्यागकर पितामह भीष्मजीके चरणोंमें सानुनय प्रणाम किया और प्रार्थना की कि तात! इस महाभारत-युद्धमें 'विजय' का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता

हूँ। तब परम प्रसन्न होकर भीष्मजीने कहा—तुम्हारे शील एवं विनयने सबको परास्त कर दिया है, तुम्हारी विजय अवश्य होगी—इसमें संदेह नहीं। मूलतः '*विजयी भव*' का आशीर्वाद प्राप्त होना भी केवल '*विनयादभिवादनम्*' का ही परिणाम था।

श्रीरामने तो सर्वत्र इसका अनुपालन किया—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
(रा०च०मा० १।२२६।५)

और आशीर्वाद मिला—'*सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे*' (रा०च०मा० १।२३७।४)। आगे विवाहादि सभी कार्य इस आशीर्वादसे सम्पन्न हुए ही। निष्कर्ष यही कि अभिवादनमात्रसे ही सब प्रकारका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

अभिवादन क्यों और कैसे करना चाहिये तथा इसका वैज्ञानिक स्वरूप क्या होता है? इस सम्बन्धमें संक्षिप्त विचार प्रस्तुत है—प्रत्येक मानव-पिण्डमें विद्युत्की आकर्षण-शक्ति रहती है। यह शक्ति भी ऋणात्मक एवं धनात्मक दो प्रकारकी है। इसीलिये दायें हाथसे दायें एवं बायेंसे बायें पादको स्पर्श करनेका विधान है। इस प्रकार स्पर्श करनेसे प्रणम्य एवं प्रणामकर्ता—दोनों पिण्डोंकी निगेटिव एवं पॉजिटिव—दोनों धाराएँ समानरूपसे मिलती हैं। जैसे विद्युत्-उत्पादक यन्त्रमें सञ्चित विद्युत् अपने सम्पर्कमें आनेवाले दूसरे यन्त्रमें प्रवाहित हो उठती है, वैसे ही प्रणाम करनेपर गुरुजनोंके, श्रेष्ठजनोंके सद्गुण अपनेमें भी आ जाते हैं। सिरपर हाथ रखनेपर भी

शक्ति मिलती है। एक दीपकसे जैसे दूसरा दीपक भी जल जाता है और पहलेके दीपकमें कोई न्यूनता नहीं आती। इसी प्रकार उक्त परम्परासे प्रणाम करनेपर गुरुजनोंसे आयु, विद्या, यश और बल—सब प्राप्त हो जाता है। आज इसकी उपेक्षा एवं अस्वीकृतिके कारण परिवार, समाज और राष्ट्रकी सारी व्यवस्था बिगड़ गयी है। अभिवादन जीवनके प्रारम्भका मूल संस्कार है, अतः इसे प्रयत्नपूर्वक अपने जीवनमें अवश्य उतारना चाहिये।

~~~०~~~

अन्नका संस्कार

(डॉ० सुश्री पुष्पारानीजी गर्ग, एम०ए०, पी-एच०डी०)

अन्नका मानव-जीवनमें बहुत महत्त्व है। पञ्चतत्त्वोंसे निर्मित इस देहको धारण किये रखनेके लिये मनुष्यको अन्नकी आवश्यकता होती है। अन्न, जो कि पृथ्वीरूपिणी गोमाताका दुग्ध है, मनुष्यके भौतिक शरीरको पोषित करनेके साथ-साथ उसके सूक्ष्म शरीरके अवधारणमें भी महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। अन्नमय, मनोमय, ज्ञानमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—इन पाँच कोशोंके विकासका मुख्य आधार अन्न ही है। मनुष्य जैसा अन्न ग्रहण करता है, उसीके आधारपर उसका अन्नमयकोश निर्मित होता है, उसीके अनुरूप मनोमयकोश अर्थात् मानसिक वृत्तियाँ स्थिर होती हैं तथा उसीके अनुसार ज्ञानमय एवं विज्ञानमयकोश विकसित होते हैं। सत्-असत् अन्नके आधारपर ही आनन्द अथवा दुःखकी प्राप्ति होती है।

जन्मसे पूर्व गर्भमें ही शिशुको पिताके वीर्य तथा माताके रजकणोंसे संस्कार मिलने लगते हैं। इसे ही विज्ञानकी भाषामें वंशानुगत-संस्कार कह सकते हैं। पिता यदि सात्त्विक वृत्तिसे प्राप्त अन्नका सेवन करता है तो बीजरूपमें बालकको वे सात्त्विक संस्कार सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार माता भी गर्भावस्थाके समयमें जैसा अन्न लेती है, वह अन्न रसरूप बनकर बालकको प्राप्त होता है, जो उसकी शारीरिक तथा मानसिक संरचनाको प्रभावित करता है। गर्भस्थ शिशुपर पड़नेवाले इस प्रभावको आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार कर चुका है।

एक कहावत है—*'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन्न'*। इस संदर्भमें एक दृष्टान्त प्रस्तुत है—एक नवयुवक साधु अपने गुरुके पास रहकर साधना करता था। वह नित्य निकटके गाँवों-नगरोंमें भिक्षा माँगने जाता और भिक्षामें मिले अन्नसे उदरपूर्ति करता। एक दिन जब वह भिक्षा माँगने निकला तो किसीने उसे बताया कि पासके नगरमें एक व्यक्तिने आज साधुओंके भण्डारेका आयोजन किया है, तुम भी वहीं प्रसाद पा सकते हो। यह सुनकर वह साधु वहाँ भण्डारेमें पहुँचा और भोजन करके आ गया। रात्रिमें वह साधना करने बैठा, लेकिन यह क्या? उसका तो चित्त ही स्थिर नहीं हो पा रहा था। वह ज्यों ही ध्यान लगाता, उसे ध्यानमें एक सुन्दर युवा स्त्री दिखायी देती। साधु प्रयत्न करके थक गया, किंतु उस रात वह ध्यान-साधना न कर सका। वह बहुत बेचैन हो गया। आखिर भोर होते ही वह अपने गुरुके पास गया। शिष्यको ऐसा अशान्त देखकर गुरुने इसका कारण पूछा। शिष्य तो गुरुके चरणोंमें गिर पड़ा और पिछली रातमें जो स्थिति हुई, वह उन्हें यथावत् बतायी। यह सुनकर गुरुको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने शिष्यसे पूछा—'कल तुमने भिक्षा कहाँ ली थी?' शिष्यने भण्डारेकी बात बता दी। यह सुनकर गुरुने ध्यान लगाकर देखा, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि उस व्यक्तिने कन्याका विक्रय कर प्रभूत द्रव्य प्राप्त किया था और उस द्रव्यका कुछ अंश उसने भण्डारेमें खर्च किया था। गुरुने यह सब शिष्यको बताया और कहा—'देखा वत्स, अन्नका प्रभाव। व्यक्ति जैसा अन्न खाता है, वैसी ही उसकी वृत्तियाँ बनती हैं। अब तुम एक-दो दिन उपवास करो। मलके द्वारा दूषित अन्न निकल जानेपर तुम्हारी शुद्धि हो जायगी।'

तो यह है अन्नका प्रभाव। सदाचारसे कमाया हुआ अन्न खानेपर मनुष्यमें सद्वृत्तियोंका विकास होता है। भ्रष्टाचार, हिंसा, अनीति, पाप, चोरी, छल, कपट तथा झूठके आश्रयसे कमाये हुए अन्नके उपभोगसे मनुष्यकी वृत्तियाँ वैसी ही बन जाती हैं। ऐसा दूषित अन्न खानेसे व्यक्तिका आचरण भी दूषित हो जाता है। साथ ही सदाचारी
~~~

व्यक्तिको तो ऐसा अन्न पचना ही कठिन हो जाता है।

हमारे शास्त्र कहते हैं—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (छान्दोग्य० ७। २६। २) अर्थात् आहारकी शुद्धिसे सात्त्विक गुणोंका संस्कार बनता है और फिर भगवान्‌की अखण्ड स्मृति होने लगती है।

संत श्रीसीतारामदास ओङ्कारनाथजी महाराज अपने शिष्योंको सर्वप्रथम आहारशुद्धिका निर्देश देते थे। एक विदेशी भक्तको भी उन्होंने यही निर्देश दिया। उस भक्तको लगा कि गुरुजी मांसभक्षण-त्यागके लिये कह रहे हैं। उसने मांस खाना छोड़ दिया। अण्डेको तो यूँ भी विदेशी लोग मांसाहार नहीं मानते, सो वह अण्डा खाता रहा। फिर धीरे-धीरे उसने विचार किया कि अण्डा भी निरामिष नहीं, उसमें भी जीव है। उसने अण्डा खाना छोड़ दिया। शारीरिक शक्ति बनाये रखनेके लिये वह मत्स्य-प्रोटीन लेता रहा। फिर उसे विचार आया कि मत्स्य-प्रोटीन भी मत्स्यको मारकर बनाया जाता है, सो उसने वह प्रोटीन लेना भी छोड़ दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे वह पूर्णतः शाकाहारी हो गया। इस अवधिमें उसने लक्ष्य किया कि धीरे-धीरे उसकी आन्तरिक प्रवृत्तिमें परिवर्तन आ रहा है, उसके भीतरकी अशान्ति स्वतः ही दूर हो रही है। काफी लम्बे अन्तरालके बाद जब वह फिर गुरुजीसे मिला तो गुरुजीने स्नेहसे उसके सिरपर हाथ रखा और उसे प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया।

आजके समयकी बहुत-सी समस्याओंका हल केवल अन्नकी शुचितासे हो सकता है। बस, आवश्यकता है कि व्यक्ति शुद्ध अन्न ग्रहण करनेका निर्णय कर ले। इससे उसके अंदर अनेक सद्‌गुण स्वयं ही आ जायँगे, उसकी इच्छाओंकी अनन्ततापर सहज ही अंकुश लग जायगा, उसकी आवश्यकताएँ भी अपने-आप सीमित हो जायँगी। यह सब होनेपर वह सहजरूपसे सदाचारमें प्रवृत्त रहेगा। उसे छल-कपट-बेईमानीसे धन कमानेकी लालसा ही नहीं होगी। घरका मुखिया यदि सदाचारमें प्रवृत्त होगा तो उसका पूरा परिवार सदाचारकी प्रेरणा प्राप्त करेगा।

परिवारसे समाजमें और समाजसे राष्ट्रमें सदाचार व्याप्त हो जायगा। एक बात और, शुद्ध अन्नके सेवनसे अनेक प्रकारके रोगोंसे भी छुटकारा मिल जायगा और थोड़े सेवनसे अधिक तृप्ति मिलेगी, सो अलग।

यह मानव-शरीर परमात्माका ही मन्दिर है। इसमें ईश्वर-अंशरूपी जीवका वास है। उसे यदि शुद्ध-शुचितापूर्ण भोजनका नैवेद्य दिया जायगा तो भीतर बैठा परमात्मा अतीव प्रसन्न होगा। वैसे भोजन भी एक प्रकारका यज्ञ ही है। मनुष्यद्वारा ग्रहण किये गये भोजनका उसकी जठराग्निमें हवन होता है, जिसे वहाँ विद्यमान यज्ञपुरुष परमात्मा ग्रहण करता है। इसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१५। १४)-में स्पष्ट कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

अर्थात् मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें जठराग्निरूपमें स्थित होकर श्वास-प्रश्वासको सन्तुलित रखते हुए चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ।

अन्नकी शुचिताके साथ एक बात और महत्त्वपूर्ण है, वह है अन्नका संस्कार। अन्न यद्यपि शुद्ध हो तो भी उसका संस्कार होनेसे मणि-काञ्चनयोग हो जाता है। यह तो आवश्यक है ही कि अन्न सदाचारसे कमाया गया हो, लेकिन उसका संस्कार भी आवश्यक है। इसके लिये कुछ बातोंपर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये—

१-जो व्यक्ति भोजन बनाये वह सात्त्विक प्रवृत्तिका हो। वास्तविकता तो यह है कि भोजन बनानेवालेके स्पर्शद्वारा उसकी मानसिक वृत्तियोंका सूक्ष्म प्रभाव भोजनमें आ जाता है। किसी संत-महात्माका स्पर्श किया हुआ भोजन 'प्रसाद' बनकर एक विशिष्ट प्रकारकी शान्ति, तृप्ति एवं आनन्द देता है, जबकि कोई दुष्प्रवृत्तिवाला व्यक्ति उसे स्पर्श कर दे तो वह अशुद्ध हो जाता है, यहाँतक कि ऐसे लोगोंकी दृष्टिके स्पर्शमात्रसे अन्न दूषित हो जाता है।

२-भोजन बनानेका स्थान स्वच्छ होना चाहिये और जिन पात्रोंमें भोजन बनाना है, वे भी साफ तथा शुद्ध हों। इसके अतिरिक्त भोजन बनानेवाला भी साफ-सुथरा हो, धुले-स्वच्छ कपड़े पहने तथा हाथोंको भलीभाँति धोकर बनाये। ऐसी शुचिताका पालन करनेसे अन्नमें किसी प्रकारके रोगके कीटाणु आनेकी सम्भावना नहीं रहती।

३-भोजन बनानेवालेके मनमें प्रेमभाव होना चाहिये। आजकल अनेक घरोंमें सेवकोंद्वारा भोजन बनाया जाता है। वे सेवक प्रायः व्यवसाय मानकर भोजन बनाते हैं। अतः भोजनमें भाव नहीं रहता। जहाँ घरकी महिलाएँ—माँ या पत्नी भोजन बनाती हैं, वे अनेक प्रकारकी सावधानियाँ तो बरतती ही हैं, अपितु उनके मनमें पति एवं बच्चोंके प्रति विशेष प्रेम होनेसे उसका सहज प्रभाव भोजनमें आ जाता है, जिससे भोजनमें एक विशिष्ट स्वाद आ जाता है। ऐसा—

भोजन आनन्द एवं तृप्ति देता है।

४-अन्न यदि ईश्वरार्पणके भावसे बनाया जाय तो उसमें प्रेम एवं भक्ति दोनों भावोंका समन्वित प्रभाव आ जाता है। फिर अपने इष्टको भोग लगानेके बाद वह अन्न परम शुद्ध होकर दिव्य प्रसादमें रूपान्तरित हो जाता है। प्रसाद तो तुष्टि-पुष्टिके साथ प्रसन्नता भी देता है और उसमें ईश्वरकृपा भी सहज ही समाहित हो जाती है। इसीलिये संत तुलसीदासजीके 'श्रीरामचरितमानस' में महर्षि वाल्मीकि प्रभु श्रीरामके आगे निवेदन करते हैं—

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
(रा०च०मा० २।१२९।२)

महारानी मीरा एक कण भी अपने गिरिधर गोपालको भोग लगाये बिना ग्रहण नहीं करती थीं। एक दिन राणाका भेजा हुआ विष भी उन्होंने दूध जानकर अपने प्रिय गिरिधर गोपालको अर्पित किया और स्वयं पान कर लिया, तब प्रभुको अर्पित होनेसे वह विष भी अमृत हो गया।

यह तो हुआ अन्नका भावात्मक संस्कार। इसके अतिरिक्त अन्नका क्रियात्मक संस्कार भी आवश्यक है। इसके पीछे हमारी भारतीय संस्कृतिकी आध्यात्मिकताकी भावना प्रधान है। इसके लिये आवश्यक है—

१-भोजन बनाकर प्रथम बलिवैश्वदेव किया जाय तथा पञ्चबलि निकाली जाय, अग्निदेवको अन्न प्रदान किया जाय, गायको गोग्रास दिया जाय, इससे भोजन शुद्ध होता है तथा गायको अन्न देनेसे अनेक प्रकारसे अप्रत्यक्षरूपमें हमें गोमाताका आशीर्वाद प्राप्त होता है।

२-गरीबको अन्न देनेसे अन्न भी संस्कारित होता

अतिथिसत्कार

है, इससे स्वयं दाताको भी विशेष संतोष तथा आनन्द मिलता है। सात्त्विकभावसे सात्त्विक अन्नदान करनेवाले व्यक्ति इस आनन्दको जानते हैं। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति यज्ञका पुण्यलाभ प्राप्त करता है।

३-समय-समयपर कच्चा या पका अन्न किसी अन्य व्यक्ति—भूखे अथवा ब्राह्मणको दान देना चाहिये। भूखे व्यक्ति, ब्राह्मण तथा अतिथिको भोजन करानेसे स्वयं परमात्मा तृप्त होते हैं। इससे अन्नका संस्कार तो होता ही है, अपितु दान देनेसे अप्रत्यक्षरूपसे उसकी वृद्धि भी होती है। वनमें द्रौपदीने अतिथिरूपमें पधारे भगवान्

श्रीकृष्णको अपने अक्षय-पात्रमेंसे सागका एक टुकड़ा दान किया था। उसे जब श्रीकृष्णने ग्रहण किया तो उस समय संसारके समस्त भूखे प्राणी तृप्त हो गये थे और द्रौपदीका अभाव दूर हो गया था।

सात्त्विक तथा संस्कारित अन्न ग्रहण करनेसे चित्त सहज ही शुद्ध हो जायगा, वृत्तिमें उदात्तता आयेगी, स्वभावमें सरलता, प्रेम, अक्रोध, निरुद्विग्नताका समावेश होगा और सच्चे सुख एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी।

शुद्ध अन्नसे अन्तःकरणकी शुद्धि

(सुश्री रजनीजी शर्मा)

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि भोजनकी शुद्धि होनेपर मानवके सत्त्वकी शुद्धि होती है और अन्तःकरण निर्मल एवं पवित्र हो जाता है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।**' इतना ही नहीं, सत्त्वकी शुद्धि होनेपर स्मृति दृढ़ हो जाती है और स्मृतिके ध्रुव हो जानेपर हृदयकी ग्रन्थियोंका भेदन हो जाता है—'**सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।**' इस प्रकार अन्नकी शुद्धिकी बहुत महिमा है। इसीलिये भारतीय सनातन संस्कृतिने अन्न एवं आहारकी शुद्धिपर विशेष बल दिया है। '**अन्नमयः हि सोम्य मनः**' अर्थात् हे सोम्य! अन्नसे ही मन बनता है। जैसा अन्न खाया जाता है वैसा ही मन हो जाता है और तदनुरूप ही बुद्धि, भावना, विचार एवं कल्पनाशक्ति निर्मित होती है।

सनातन आदर्श यह रहा है कि ईमानदारीकी कमाई ही खायी जाय; बेईमानी, असत्य तथा धोखेबाजीसे अर्जित जीविकासे बचा जाय। अथर्ववेदका कथन है—'**रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥**' अर्थात् पुण्यसे कमाया हुआ धन ही मनुष्यको समृद्धि दे सकता है। जो पापयुक्त धन है, उसको मैं नाश करनेवाला जानूँ। न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त अन्न ही ग्राह्य है। इसीको शास्त्रोंमें शुक्ल धन कहा गया है। न्यायपूर्वक प्राप्त द्रव्य ही शुद्ध द्रव्य है।

अन्नको देवतारूप समझकर ग्रहण करना चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि अन्न ब्रह्म है, यह समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। दोनों हाथ, दोनों पैर और मुखको भली प्रकार स्वच्छ कर ब्रह्मचिन्तन करते हुए भोजन करना चाहिये। पहले भोजनका पूजन करना चाहिये। उसे देखकर हर्षयुक्त होना चाहिये और प्रसन्नतापूर्वक अभिनन्दन करते हुए उसे ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि अन्न ब्रह्म है, रस विष्णु है और खानेवाला महेश्वर है। भोजनके समय क्या करना चाहिये, इस विषयमें बताया गया है—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥

अर्थात् भोजनका सदैव आदर करे, प्रत्युत प्रशंसा करता हुआ उसे ग्रहण करे। भोजनकी निन्दा कभी न करे, उसे देखकर आनन्दित हो, भाँति-भाँतिसे उसका गुणगान करे; क्योंकि इस प्रकार ग्रहण किया गया संस्कारसम्पन्न भोजन प्रतिदिन बल एवं पराक्रमको देता है। बिना प्रशंसाके किये गये अन्नका भोजन करना तो दोनोंकी क्षति करता है।

श्रुतिका आदेश है—'**अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्**' अर्थात् अन्नकी निन्दा कभी न करे, यह एक महाव्रत है।

भोजन क्षुधानिवारण तथा शरीररक्षाका साधन है; यह स्वाद या चटोरेपनके लिये नहीं है। युक्त आहार-विहार भी ईश्वरकी उपासनाका एक अङ्ग है। अतः भोजनमें कोई अपवित्र वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिये। यह तो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है ही, अन्न भी असंस्कृत हो तो वह ग्राह्य नहीं है।

हमारी संस्कृतिमें भोजनकी आन्तरिक स्वच्छताको—उसके संस्कारको अधिक महत्त्व दिया गया है। सर्वप्रथम तो अन्न शुद्ध होना चाहिये, स्थान स्वच्छ एवं पवित्र होना चाहिये, फिर बनानेवालेकी मनःस्थिति पवित्र होनी चाहिये। अतृप्त, भूखा, लालची, क्रोधी, हीनवर्ण, अस्वस्थ या कुत्सित रसोइया अपने सम्पर्कसे ही भोजनको दूषित कर देता है। अन्न कितना ही संस्कारसम्पन्न हो, भोजन बनानेवालेकी प्रवृत्ति भी अन्नको असंस्कृत बना देती है और भोजन करनेवालेपर ऐसे व्यक्तिके विचारोंका बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः अन्नकी शुद्धिके लिये बनानेवालेका भी सदाचारी एवं संस्कारसम्पन्न होना आवश्यक है। माता, पत्नी या बहिनके द्वारा बनाये हुए भोजनमें प्रायः वे सब शुभ वृत्तियाँ मिल जाती हैं। भोजनसे पूर्व प्रार्थना कर उसे ब्रह्मार्पण करनेका विधान है। सच्चा हिन्दू भोजन सामने आनेपर नेत्र मूँदकर ईश्वर-चिन्तन करते-करते यह मन्त्र उच्चारण करता है—

'तेजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामासि विश्वमसि विश्वायुः।'

अर्थात् हे अन्न! तुम तेज हो, तुम उत्साह हो, तुम बल हो, तुम दीप्ति हो, तुम ही चराचर विश्वरूप हो, तुम ही विश्वके जीवन हो।

'द्यौस्त्वा परिददातु पृथिवी गृह्णातु।'

अर्थात् हे अन्न! आकाश तुझे देता है और पृथ्वी तुझे ग्रहण करती है।

गीता (१७।८)-में भगवान्‌ने कहा है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

अर्थात् जो आहार स्वादु, स्निग्ध, स्थिर, गुणप्रद और मनोहर—इन सब गुणोंसे युक्त हो तथा जिसके सेवनसे आयु, सात्त्विक बुद्धि, शारीरिक बल, आरोग्य, शारीरिक सुख, मानसिक सुख और प्रीति—इन सबकी विशेष वृद्धि हो, ऐसा आहार सात्त्विक होता है, जो सात्त्विक मनुष्योंको रुचिकर होता है।

घरमें बनी भोजनसामग्रीका सर्वप्रथम बलिवैश्वदेव किया जाता है अर्थात् अग्निमें अन्नाहुति दी जाती है। यह अन्नका मुख्य संस्कार है। इसमें मुख्यरूपसे देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञकी विधि आती है। तदनन्तर पञ्चबलि दी जाती है अर्थात् गायोंके लिये, श्वानोंके लिये, कौओंके लिये, देवादिके लिये तथा पिपीलिका (चींटी) आदिको अन्नका भाग दिया जाता है। यह सब अन्नको संस्कारसम्पन्न करनेका ही स्वरूप है। वैश्वदेवके अनन्तर अतिथिको भोजन कराना चाहिये। भगवान्‌को निवेदित करके ही भोजन करना चाहिये। इस प्रकार बना हुआ भोजन समस्त प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है। ऐसा करनेसे भोजनका संस्कार हो जाता है। मनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० ३।७६)

वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुतिसे सब प्राणियोंकी तृप्ति हो जाती है। बलिवैश्वदेवयज्ञद्वारा अन्न संस्कारित हो जाता है। संस्कारित अन्न ही ग्रहण करना उचित है।

जो भी भोजन बना है, गृहस्थको सबसे पहले अन्न-जल देवताओं और पितरोंको तथा प्राणिमात्रको निवेदित करना चाहिये। सबको अन्न, जल देनेके अनन्तर ही स्वयं ग्रहण करना मनुष्यके लिये कल्याणकारी है। भगवान्‌को भोग लगे हुए भोजनमें तीन ग्रास—**ॐ भूपतये स्वाहा, ॐ भुवनपतये स्वाहा** तथा **ॐ भूतानां पतये स्वाहा**—इन तीन मन्त्रोंसे अलग निकालकर इन्हीं तीन मन्त्रोंसे आचमनका जल छोड़ दे। इसके बाद '**ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा**' कहकर स्वयं आचमन करे और '**ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा** तथा **ॐ समानाय स्वाहा**'—इन पाँच मन्त्रोंसे पञ्च ग्रासाहुति देकर मौन होकर भोजन ग्रहण करे। इस प्रकारका संस्कृत अन्न सत्त्वसम्पन्न होता है और व्यक्तिको सात्त्विक बनाता है।

~~o~~

अस्पृश्य

बुद्ध शिष्योंसहित सभामें विराजमान थे, उसी समय बाहर खड़ा कोई व्यक्ति जोरसे बोला—'आज मुझे सभामें बैठनेकी अनुमति क्यों नहीं दी गयी?'

बुद्ध नेत्र बंद करके ध्यानमग्न रहे। उस व्यक्तिने फिर चिल्लाकर यही प्रश्न किया। एक शिष्यने पूछा—'भगवन्! बाहर खड़े उस शिष्यको अंदर आनेकी अनुमति दीजिये।' बुद्ध नेत्र खोलकर बोले—'नहीं, वह अस्पृश्य है।' अस्पृश्य! शिष्यगण आश्चर्यमें डूब गये। बुद्ध उनके मनका भाव समझते हुए बोले—'हाँ, वह अस्पृश्य है।'

शिष्योंने पूछा—'वह अस्पृश्य क्यों? कैसे? 'भगवन्! आपके धर्ममें तो कोई भेद नहीं है।'

बुद्ध बोले—'आज वह क्रोधमें आया है, क्रोधसे जीवनकी एकता भङ्ग होती है। क्रोधी मानसिक हिंसा करता है। किसी भी कारणसे क्रोध करनेवाला अस्पृश्य है। उसे कुछ समयतक पृथक्, एकान्तमें खड़ा रहना चाहिये। पश्चात्तापकी अग्निमें तपकर वह स्मरण कर लेगा कि अहिंसा महान् कर्तव्य है, परम धर्म है।' शिष्य समझ गये कि अस्पृश्यता क्या है? अस्पृश्य कौन है?

~~o~~

एक अतिशय महत्त्वपूर्ण संस्कार—पिता-पुत्रीय सम्प्रदान-कर्म

(शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

[पिता-पुत्रीय सम्प्रदान-कर्म अपने महनीय उद्देश्यके कारण कभी वेदकालीन विशिष्ट संस्कारोंमें परिगणित हुआ करता था, वह आजकल अपने विकृतरूपमें 'उत्तराधिकार' नामसे प्रचलित है। उत्तराधिकारमें पिताको केवल सांसारिक सम्पत्ति ही पुत्रको नहीं सौंपनी चाहिये; क्योंकि पिताके दिवंगत हो जानेपर वह सम्पत्ति तो बिना सौंपे भी पुत्रको स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। वास्तवमें तो अपनी जीवनशक्तियोंका अधिकाधिक विकास प्रत्येक पिता अपने पुत्रमें देखना चाहता है। पुत्र पिताकी आशाओंका केन्द्र होता है। जैसे धान एक खेतसे उखाड़कर दूसरे खेतमें आरोपित किया जाता है, जहाँ वह वृद्धिको प्राप्त होकर फलवान् बनता है, ठीक उसी प्रकार पिता भी अपने मन, इन्द्रिय एवं प्राणोंकी समस्त सञ्चित शक्तियोंको अपने पुत्रमें इस आशासे स्थापित करता है कि समय पाकर ये शक्तियाँ खूब फलें-फूलें। वैदिक परम्परामे पिताके द्वारा अपने पुत्रमें शक्तियोंके निक्षेपको ही पिता-पुत्रीय सम्प्रदान-कर्म कहा गया है, जो अब केवल मकान, दूकान, खेत-खलिहान और धन-सम्पत्ति सँभालनेतक ही सीमित हो गया है। प्रस्तुत आख्यायिकामें उसी पिता-पुत्रीय सम्प्रदान-कर्मकी मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गयी है—]

महात्मा शिवि एक आत्मकाम-पूर्णकाम महापुरुष थे। उनका जीवन शास्त्रमर्यादित; कुण्ठाओंसे रहित और अद्भुत शान्तिसे परिपूर्ण था। निर्विकार और संतुष्ट होनेके कारण जैसा निष्कलङ्क जीवन उन्होंने अबतक जिया था, वह हर किसीको प्राप्त नहीं हो सकता था। ऐसा नहीं कि उनके जीवनमें उतार-चढ़ाव न आये हों और ऐसा भी नहीं कि भौतिक विकारोंने उन्हें आकुल न किया हो, परंतु शास्त्रनिष्ठा और मर्यादाकी लगाम उन्होंने इतनी सजगताके साथ थाम रखी थी कि उनके मनका दुर्दमनीय, शक्तिशाली अश्व बेकाबू नहीं हो पाया था। उनके इस कठोर आत्मसंयमका मूर्त प्रतिफल था उनका परमतत्त्वज्ञ पुत्र—सत्यकाम।

सत्यकाम सुशील, संतुष्ट और विद्वान् होनेके साथ-साथ आध्यात्मिक रहस्योंके मूल स्रोतका उत्कट जिज्ञासु था। उसने महर्षि पिप्पलादकी संनिधिमें रहकर वेदबीज 'ओङ्कार'के तात्त्विक स्वरूपका अध्ययन किया था। अपनी ज्ञानपिपासाको अपने पुत्रमें प्रतिफलित होते देखकर शिवि परम आनन्दित थे। वे चाहते थे—अपना समस्त अर्जित सत्यकामको सौंपकर जीवनमें कृतकृत्यता प्राप्त करें और जीवन्मुक्त दशाका रसास्वादन करें; क्योंकि नाशवान् कलेवरका क्या भरोसा, आज है कल न रहे। वार्द्धक्य कबसे उनका द्वार खटखटा रहा था। शरीरकी संधियाँ शिथिल पड़ती जा रही थीं। ऊर्जाका स्रोत सूखने लगा था। मृण्मय देह-पिण्डके भीतर एक चिन्मय चैतन्य ही था, जो वार्द्धक्यसे अप्रभावित था, वह सर्वथा निर्विकार एवं सब प्रकारसे जाग्रत् था।

सत्यकामकी आस्थाओंके केन्द्र महर्षि पिप्पलादसे उन्होंने अपने मनोभाव निवेदित करते हुए साग्रह अनुरोध किया कि वे अपनी संनिधिमें सत्यकामके साथ मेरा पिता-पुत्रीय सम्प्रदान-कर्म विधिपूर्वक सम्पन्न करवायें। पिता अपने जीवनमें अर्जित किये हुए समस्त सद्गुणों एवं उन्हें अर्जित करनेमें माध्यम बनी अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको स्वेच्छासे, प्रसन्नतापूर्वक अपने पुत्रको हस्तान्तरित करता है—इस वैदिक अनुष्ठानको पिता-पुत्रीय सम्प्रदान-कर्म (उत्तराधिकार) कहा जाता था।

महर्षि पिप्पलादने शिविके प्रेमानुरोधको स्वीकार कर लिया, परंतु सत्यकाम अपने पिताकी अभिलाषाको समझकर तथा उसकी पूर्तिके लिये महर्षि पिप्पलादका अनुमोदन सुनकर हर्ष और शोक-जैसे परस्पर विरुद्ध दो मनोभावोंसे घिर गया। पिता उसे अपनी अर्जित ज्ञान-सम्पदा प्रदान करने जा रहे हैं, यह बात उसे पुलकसे भर देती थी, परंतु उसके बाद पिता यदि परिव्राजक होकर गृहसे निकल गये''' उसे छोड़कर चले गये तो—इस बातकी कल्पना ही उसे उद्विग्न कर डालती थी। इस प्रकार दो विपरीत मनोदशाओंमें डूबते-उतराते हुए ही सत्यकामने आवश्यक पूजा-सम्भार संकलित किये।

यज्ञोपवीत-संस्कार

(स्वामी श्रीदत्तपादाचार्य भिषगाचार्य)

यज्ञोपवीत-संस्कार व्याससमृतिकथित षोडश संस्कारके अन्तर्गत है और वेदोक्त वर्णाश्रमधर्मसे घनिष्ठरूपसे सम्बन्धित है। संस्कार वर्णाश्रमव्यवस्था और वैदिक सनातनधर्मकी आधारशिला हैं। वेद विश्वका अति प्राचीन एवं आत्मविषयक गूढ़ रहस्योंसे भरा अपौरुषेय ग्रन्थ है। महातपा ऋषियोंने अपने पवित्रतम हृदयमें वेदमन्त्रोंका दर्शन किया था। अतः वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। महर्षि पाराशर (कृष्णद्वैपायन)-ने वेदका ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामसे चार भागोंमें विभाजन किया, जिससे उन महर्षिका नाम 'वेदव्यास' पड़ा।

वेदोंमे वर्णाश्रम स्पष्टरूपमें वर्णित है। पुरुषसूक्तमें चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके विभिन्न अङ्गोंसे होनेका उल्लेख है।* संहिताओं, स्मृतियों, महाभारत, भागवत इत्यादि ग्रन्थोंमें चातुर्वर्ण्य तथा उनके गुणधर्म वर्णित हैं।

'ब्रह्मपुराण' में कहा गया है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया वापि विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

अर्थात् ब्राह्मण माता-पिताके सविधि विवाहसे उत्पन्न शिशु ब्राह्मण है, जब उस वटुका ५ से ८ वर्षकी वयमें यज्ञोपवीत-संस्कार होता है, तब वह 'द्विज' (दूसरा जन्म-प्राप्त) कहा जाता है और वह वेदाध्ययन एवं यज्ञाग्नि धर्मकार्य करनेका अधिकारी होता है। वेदज्ञान प्राप्त करनेसे वह 'विप्र' तथा 'श्रोत्रिय' कहलाता है। जब उत्कट तपस्याद्वारा चित्तशुद्धि कर ब्रह्मसाक्षात्कार करता है, तब वह ब्रह्मनिष्ठ होता है।

व्याससमृतिमें कथित षोडश संस्कार इस प्रकार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तनके बाद वेदस्नान, विवाह, विवाहाग्निका ग्रहण और त्रेताग्निसंग्रह—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि तथा आहवनीयाग्नि (अग्निहोत्र)-का ग्रहण।

वैदिक सनातनधर्मके विविध धर्मग्रन्थोंमें यज्ञोपवीतके विषयमें इस प्रकार लिखा है—

१. ब्रह्मोपनिषद्में कहा गया है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

अर्थात् यज्ञोपवीत श्रेष्ठ एवं पवित्र है। वह पूर्वकालमें प्रजापतिके साथमें उत्पन्न हुआ था। वह आयुवृद्धि करनेवाला, उत्तम एवं शुभ्र है। वत्स! तुम यज्ञोपवीतको धारणकर बलवान् तथा तेजोमय होओ।

२. शङ्खस्मृति (२।५)-में यज्ञोपवीतके विषयमें कहा गया है कि—'गर्भाष्टमेऽब्दे कर्तव्यं ब्राह्मणस्योपनायनम्॥' अर्थात् गर्भसे आठवें वर्षमें ब्राह्मणवटुका उपनयन-संस्कार (यज्ञोपवीत) कराना चाहिये।

शङ्खस्मृति (२।८)-में आया है—'त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने-अपने निश्चित समयानुसार यज्ञोपवीत-संस्कारको न करनेपर सर्वधर्मकर्मरहित और इस प्रकार गायत्रीरहित हो जानेपर पतित तथा सभी धार्मिक कर्मोंके करनेके अधिकारसे वञ्चित हो जाते हैं'—

'सावित्रीपतिता व्रात्याः सर्वधर्मबहिष्कृताः॥'

विष्णुस्मृति (१३)-में कहा गया है—

गर्भाष्टमे तथा कर्म ब्राह्मणस्योपनायनम्।
द्विजत्वे त्वथ सम्प्राप्ते सावित्र्यामधिकारभाक्॥

अर्थात् ब्राह्मणबालकका गर्भसे आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत-संस्कार कराये; क्योंकि ब्राह्मणत्व प्राप्त होनेपर वही बालक गायत्रीकी उपासना करनेका अधिकारी होता है।

भगवान् मनुकी भी आज्ञा है कि आठवें वर्षमें ब्राह्मणका यज्ञोपवीत करना चाहिये—'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।' यदि बालक प्रबुद्ध हो तो उसे शीघ्र ब्रह्मवर्चस्वी (ब्रह्मतेजसम्पन्न) होनेके लिये पाँचवें वर्षमें भी यज्ञोपवीत-संस्कार करवा दें। अन्य ग्रन्थोंमें इसका गौणकाल गर्भसे सोलह वर्षपर्यन्त कहा है। तत्पश्चात् बालक या युवक व्रात्य—संस्कारहीन हो जाता है। ऐसा हो जानेपर व्रात्यस्तोमयज्ञ करवानेके बाद ही उस व्यक्तिका यज्ञोपवीत-संस्कार हो सकता है।

कात्यायनस्मृति (आचाराध्याय, प्रथम खण्ड, ३)-में कहा गया है—

* ऋग्वेद (१०।९०।१२), यजुर्वेद (वाजसनेय ३१।११), कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय ३।१२।५), अथर्ववेद (१९।६।६)।

पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातो लम्बं न चोच्छ्रितम्॥

अर्थात् यज्ञोपवीतको न अधिक लम्बा और न तो अधिक छोटा रखे। पीठके भागसे लेकर नाभितक रखनेपर कटिभागतक आना चाहिये। ऐसा उपवीत (जनेऊ) धारण करना उचित है।

कात्यायनस्मृति (आचाराध्याय, प्रथम खण्ड-४)-में कहा गया है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत्कृतम्॥

अर्थात् यज्ञोपवीत सदैव धारण करना चाहिये और शिखामें ओंकाररूपिणी ग्रन्थि बाँधे रखनी चाहिये। शिखासूत्रविहीन होकर (जनेऊ और चोटी न रखकर) जो कुछ धर्म-कर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है।

शङ्खस्मृति (१।६)-में कहा गया है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
तेषां जन्म द्वितीयं तु विज्ञेयं मौञ्जिबन्धनम्॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—इन तीनों वर्णोंको द्विज कहते हैं। इनका दूसरा जन्म यज्ञोपवीत-संस्कारसे होता है।

शङ्खस्मृति (१।७)-में कहा गया है—

आचार्यस्तु पिता प्रोक्तः सावित्री जननी तथा।
ब्रह्मक्षत्रविशाञ्चैव मौञ्जिबन्धनजन्मनि॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंके यज्ञोपवीतरूपी दूसरे जन्मके अनन्तर आचार्यको ही पिता तथा गायत्रीको ही माता कहा गया है।

मनुस्मृति (२।१७१)-में कहा गया है—

'न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्॥'

यज्ञोपवीत-संस्कारविहीन ब्राह्मण धर्मकर्मादि करनेका अधिकारी नहीं होता।

यज्ञोपवीत-संस्कारकी विधि—सभी प्रकारके माङ्गलिक धर्मकार्योंके प्रारम्भमें पुण्याहवाचन करनेकी आज्ञा है। पुण्याहवाचनके उपरान्त वटु (बालक)-का क्षौर करवाकर उसे शुद्ध जलसे स्नान करवाया जाता है, फिर नया वस्त्र पहनाते हैं। तत्पश्चात् वटुको अग्निके समक्ष बैठाकर होम कराया जाता है। इसके बाद वटुको यज्ञोपवीत (जनेऊ) पहनाकर गायत्रीमन्त्रका उपदेश करवाया जाता है। उस समय वटुको विशेष प्रकारका वेश धारण करवाया जाता है, जिसमें देहको ढँकनेके लिये मृगचर्म, कटिमें मुञ्जमेखला और दाहिने हाथमें पलाशदण्ड दिया जाता है। इन वस्तुओंके धारण करनेका अर्थ है—देहकी रक्षा करते हुए, दृढ़ निश्चयसे मनको नियन्त्रित रखते (ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते) हुए वेदविद्या प्राप्त करना। इसके बाद अग्निके उत्तरकी ओर आचार्य पूर्वाभिमुख बैठते हैं और अपने समक्ष वटुको बैठाते हैं, फिर आचार्य अपने (हाथोंकी) हथेलियोंकी अञ्जलि बनाते हैं और वटु भी वैसी अञ्जलि बना करके आचार्यकी अञ्जलिके नीचे रखता है। आचार्य अपनी अंजलिमें भरा हुआ जल थोड़ा-थोड़ा वटुकी अञ्जलिमें गिराते रहते हैं। इस क्रियाका अर्थ यह है कि आचार्य अपनी सम्पूर्ण विद्या इस प्रकार शिष्य—वटुको प्रदान करेंगे। इस क्रियाके सम्पन्न हो जानेके बाद आचार्य वटुका दक्षिण कर ग्रहण करके उससे कहते हैं—'सविताने तेरा हाथ पकड़ा है, अग्नि तेरे आचार्य हैं।' इस कथनका गूढार्थ यह है कि आचार्य यज्ञोपवीतधारी वटुको अपने साथ आश्रममें ले जायँगे और वहाँपर रखकर उसे वेदविद्या सिखायेंगे। यह वेदविद्या परमात्मा आदित्य एवं अग्निसे ही (उन देवताकी कृपासे ही) वटुको प्राप्त करनी है। इस क्रियाके बाद आचार्य वटुको आदित्य (सूर्य)-के सामने देखनेको कहते हैं; क्योंकि वह सर्वप्रकाश (ज्ञान)-का देवता है। आदित्यको सम्बोधित कर आचार्य कहते हैं—'हे सवितादेव! अब यह वटु आपका ब्रह्मचारी है, आप इसका रक्षण कीजियेगा।' इस क्रियाके बाद वटु अग्नि आदि देवताओंसे बुद्धि, बल इत्यादि सद्गुणोंकी याचना करता है। तत्पश्चात् आचार्य वटुके हृदयपर अपना दाहिना हाथ रखकर कहते हैं कि मैं जो सदाचारव्रतका पालन करता हूँ, उसमें तेरा हृदय हो (तेरा अनुसरण हो)। मेरे चित्तका अनुसरण तेरा चित्त करता रहे। मेरी वाणी-जैसी तेरी वाणी हो। विद्याके देव बृहस्पति तुझे मेरेसे युक्त करवायें।

इसके बाद वटु गुरुगृहमें बारह वर्षतक (विद्यापूर्तिपर्यन्त) रहता है। वटु वेदविद्या तथा धर्मका ज्ञान सम्पादन कर ब्रह्मचर्याश्रमको पूरा करके गुरुसे आज्ञा लेकर अपने घर वापस आता है और माता-पिताकी आज्ञाके अनुसार वह सविधि गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है।

वेदाभ्यासो हि विप्राणां परमं तप उच्यते॥
ब्रह्मयज्ञः स विज्ञेयः षडङ्गसहितस्तु सः॥

(दक्षस्मृति २५-२६)

ब्राह्मणोंके लिये षडङ्गसहित वेदशास्त्रका अभ्यास ब्रह्मयज्ञके समान है और वही श्रेष्ठ तप है।

यज्ञोपवीत-रहस्य—निर्माण एवं धारण-विधि

[क्यों और कैसे अपनाये]

(पं० श्रीशिवदत्तजी वाजपेयी)

हिन्दूजातिका सनातन इतिहास 'शिखा' और 'सूत्र'-का इतिहास है। सभ्यताके संघर्षकालमें आर्य (हिन्दू)-जाति और संस्कृति इन्हीं पावन प्रतीकोंके साथ पली-बढ़ी। विधर्मियोंने सर्वदा अपने आक्रमणोंका लक्ष्य शिखा-सूत्रको ही बनाया; किंतु प्राणोंका भी उत्सर्ग कर आर्यजातिने इसे नहीं छोड़ा और दृढ़तासे बचाये रखा।

आज जब अन्य जातियाँ और सम्प्रदाय अपनी सांस्कृतिक धरोहरों, प्रतीकोंको खोज-खोजकर उन्हें पुनः स्थापित और संवर्धित करनेमें जुटे हैं, विडम्बना है कि संस्कृतिके पुरोधा कहे जानेवाले हम इनके प्रति उपेक्षित भाव रखते हुए पाश्चात्य संस्कृतिके कृत्रिम प्रकाशकी ओर भागनेका प्रयास कर अपने-आपको गौरवान्वित समझ रहे हैं। इसीलिये विचारकर यह निर्णय लेना है कि हम उन संस्कारोंको अपनायें, जिनकी नींवपर हमारी संस्कृति खड़ी हुई है। इन्हींमें 'यज्ञोपवीत' भी एक संस्कार है। यह यज्ञोपवीत-सूत्र क्या है? इसका संस्कार किया जाना क्यों आवश्यक है? इसके निर्माणमें विशेष विधि क्यों अपनायी गयी है? इसमें ९६ चौओं, त्रिसूत्र और त्रिवृत्को क्यों महत्त्व दिया गया है? इत्यादि समझनेकी आवश्यकता है। इन्हें समझनेसे पूर्व संस्कार क्या है—यह हमें समझ लेना चाहिये।

संस्कार क्या है?

हिन्दू-धर्म और संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है, जो पवित्र संस्कारोंसे मार्जित आचार-व्यवहार और सद्व्रतपर टिकी है। आचार-व्यवहार वैयक्तिक हैं। ये मनके प्रभावसे उद्भूत और नियन्त्रित होते हैं। प्रकृतिके अविच्छिन्न सम्पर्कमें रहनेसे ये शारीरिक और मानसिक मलों (दोषों)-से आवृत होकर दूषित हो जाते हैं। यद्यपि मानवका अस्तित्व प्राण (आत्मा)-पर अवलम्बित है, किंतु तन-मनके अधीन रहकर वह अनैतिक और अधर्म करनेके लिये विवश हो जाता है। मानवके तन-मनसे अपवित्र भाव, मल तथा दोषका परिमार्जन कर उनकी निवृत्ति करना और शुचिता, पवित्रता तथा पुण्यका भाव मन, वाणी एवं व्यवहारमें प्रतिष्ठित करना 'संस्कार' है। वैदिक एवं स्मार्त सामान्य-विशेष कर्मोंके आचरणसे शारीरिक तथा मानसिक मलोंका परिमार्जन कर पवित्र और उत्कृष्ट बनाते हुए मानवको निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करनेयोग्य—अधिकारी बनाना संस्कार है। शास्त्रकारोंने संस्कारोंमें भी यज्ञोपवीत-संस्कारकी विशेष महिमा कही है।

यज्ञोपवीतसे तात्पर्य

सामान्य अर्थोंमें यज्ञोपवीत तीन तागोंके जोड़में लगी ग्रन्थियोंसे युक्त सूतकी एक माला है, जिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य धारण करते हैं। वैदिक अर्थमें यज्ञोपवीत शब्द 'यज्ञ' और 'उपवीत'—इन दो शब्दोंके योगसे बना है, जिसका अर्थ है 'यज्ञसे पवित्र किया गया सूत्र।'

यज्ञोपवीत-संस्कारको 'व्रतबन्ध', 'उपनयन' और 'जनेऊ' भी कहा गया है। शास्त्रोंकी आज्ञा है—'**सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च**' अर्थात् सदा गाँठ लगी शिखा एवं यज्ञसूत्र धारण किये रहना चाहिये। यज्ञोपवीत 'ब्रह्मसूत्र' है। जो शोभाके लिये या अनुष्ठानके समय ही धारण करने एवं शेष समयमें उतारकर किसी खूँटीमें टाँग देने लायक नहीं है। ऐसा करनेवाले पापके भागी होते हैं। यहाँ बताना उचित होगा कि साकार परमात्माको 'यज्ञ' और निराकार परमात्माको 'ब्रह्म' कहा गया है। इन दोनोंको प्राप्त करनेका अधिकार दिलानेवाला यह सूत्र यज्ञोपवीत है। ब्रह्मसूत्र, सवितासूत्र तथा यज्ञसूत्र इसीके नाम हैं। स्मृतिप्रकाशमें इसके ब्रह्मसूत्र नामकी सार्थकताके विषयमें कहा गया है—

सूचनाद् ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात्।
तत्सूत्रमुपवीतत्वाद् ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम्॥

अर्थात् यह सूत्र द्विजातिको ब्रह्मतत्त्व और वेदज्ञानकी सूचना देता है, इसीलिये इसे 'ब्रह्मसूत्र' कहा गया है।

यज्ञोपवीतकी उत्पत्ति

यज्ञोपवीतकी उत्पत्ति और प्रचलनका कोई

ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त करना या काल-निर्धारण करना मानवबुद्धिके वशकी बात नहीं है। इसका सम्बन्ध तो उस कालसे लगाया गया है, जब प्रलयके गर्भमें अनन्त कालसे प्रसुप्त मानवसृष्टिका नवोदय प्रारम्भ हुआ था, उस समय श्रीब्रह्माजी स्वयं यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। इसीलिये यज्ञोपवीत धारण करते समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।'

साररूपमें यह मन्त्र ही यज्ञोपवीतकी उत्पत्तिका स्पष्ट सङ्केत देता है। वेदग्रन्थोंमें इसके उल्लेखसे स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञोपवीत किन्हीं परवर्ती ऋषियोंद्वारा निर्मित सूत्र नहीं था और न ही किसी सामाजिक या विद्याचिह्नके रूपमें स्थापित किया गया है। यज्ञोपवीत-निर्माणकी जो विशेष प्रक्रिया निश्चित की गयी है, वह स्पष्टतया यह प्रतिपादित करती है कि यज्ञोपवीत ईश्वरद्वारा द्विजातिको सौंपे गये उत्तरदायित्वोंके निर्वहणके लिये गुरुके सांनिध्यमें आवश्यक शिक्षा और योग्यता प्राप्त करनेहेतु प्रस्थित होनेका उदात्त भावनाओंसे युक्त संकेत है।

यज्ञोपवीत क्या है?

यज्ञोपवीत स्वयं अथवा ब्राह्मणकन्या या साध्वी ब्राह्मणीके हाथोंसे काते गये कपासके सूतके नौ तारोंको तीन-तीन तारोंमें बटकर (उमेठकर) बनाये गये तीन सूत्रको ९६ चौओंके नापमें तीन वृत्तोंकी तैयार की गयी माला है, जिसके मूलमें ब्रह्मग्रन्थि लगाकर गायत्री और प्रणवमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किये जानेके पश्चात् 'यज्ञोपवीत' नाम दिया गया है। इसे निश्चित आयु, काल और विधानके साथ द्विज-बालकों (वटुक)-को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—इन तीन आश्रम-व्यवस्थाओंमें श्रौत और स्मार्तविहित कर्म करनेहेतु पिता, आचार्य या गुरुद्वारा गायत्रीमन्त्रके साथ धारण कराया जाता है। इसीके साथ बालकका दूसरा जन्म होता है और वह 'द्विज' कहा जाने लगता है। इससे उपनीत बालकको विनश्वर स्थूल शरीरकी अपेक्षा अविनाशी ज्ञानमय शरीर प्राप्त होता है। इस विशेष महत्त्वको ध्यानमें रखते हुए इसके निर्माणमें शुचिता और पवित्रतापर विशेष ध्यान दिया गया है तथा स्वयं निर्माण करनेका निर्देश दिया है।

यज्ञोपवीतकी निर्माण-विधि

यज्ञोपवीत उदात्त भावनासम्बन्धी एक ऐसा सूत्र है, जो हमारे जीवनको श्रुति-स्मृत्यनुमोदित मार्गपर चलाते हुए सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों तथा कर्तव्योंका निर्वहण करते रहनेके लिये हमें ईश्वरद्वारा सौंपा गया है।

महर्षि कात्यायनद्वारा प्रतिपादित यज्ञोपवीत-निर्माणकी विधिका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत है*—

महर्षि कात्यायन कहते हैं—'अब हम यज्ञोपवीत-निर्माणकी विधि कहते हैं। इसके निर्माणके लिये गाँवसे बाहर किसी तीर्थस्थान (मन्दिर) या गोशालामें जाकर अनध्यायरहित किसी भी दिवसमें संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म तथा एक सौ आठ या एक हजार आठ बार या यथाशक्ति गायत्रीमन्त्रका जप करके ऐसे सूतसे यज्ञोपवीत तैयार करे, जो स्वयं या किसी ब्राह्मणद्वारा या ब्राह्मण-कन्याद्वारा अथवा सधवा ब्राह्मणीद्वारा कातकर तैयार किया गया हो। इस सूतको 'भूः' का उच्चारण कर ९६ चौएसहित चारों अङ्गुलियोंके मूलपर लपेटे और उतारकर एक पलाशके पत्तेपर रख दे। अब 'भुवः' शब्दका उच्चारण करते हुए उसी क्रियाको और 'स्वः' शब्दका उच्चारण करते हुए तीसरी बार क्रिया दुहराते हुए हाथमें लपेटकर ९६ चौएके परिमाणमें अन्य दो तार तैयार कर पलाशपर रखे। तदनन्तर 'आपो हि ष्ठा', 'शं नो देवी' 'तत्सवितुः' आदि तीन मन्त्रोंसे उन तीन तारोंको जलमें अच्छी तरह भिगोकर बायें हाथमें लेकर तीन बार जोरसे आघात करे। फिर तीन व्याहृतियोंसे उसे एक बट देकर एकरूप बना ले। अब इन्हीं मन्त्रोंसे उसे

* अथातो यज्ञोपवीतनिर्माणप्रकारं वक्ष्यामः। ग्रामाद्बहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वाऽनध्यायवर्जितपूर्वाह्णे कृतसंध्याष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथाशक्ति गायत्रीं जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या वा कृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमां षण्णवतीं मिनोति, भुवरिति द्वितीयां स्वरिति तृतीयां मीत्वा, पृथक् पलाशपत्रे संस्थाप्य, आपो हि ष्ठेति तिसृभिः, शं नो देवीत्यनेन सावित्र्या चाभिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रिः संताड्य व्याहृतिभिस्त्रिवर्णितं कृत्वा, पुनस्ताभिस्त्रिगुणितं कृत्वा पुनस्त्रिवृतं कृत्वा प्रणवेन ग्रन्थिं कृत्वोङ्कारमग्निं नागान् सोमं पितृन् प्रजापतिं वायुं सूर्यं विश्वान् देवान् नवतन्तुषु क्रमेण विन्यस्य संपूजयेत्। देवस्येत्युपवीतमादाय, उद्वयं तमसस्परीत्यादित्याय दर्शयित्वा यज्ञोपवीतमित्यनेन धारयेदित्याह भगवान्कात्यायनः। (कात्यायनपरिशिष्ट)

त्रिगुणित करे और पुनः बटकर एकरूप बना ले। पुनः इसे त्रिगुणित करके प्रणवसे उसमें ब्रह्मग्रन्थि लगाये। इसके नौ तन्तुओंमें ओङ्कार, अग्नि, अनन्त, चन्द्र, पितृगण, प्रजापति, वायु, सूर्य और सर्वदेवादि नौ देवताओंका क्रमशः आवाहन और स्थापन करे। 'उद्वयं तमसस्परि०' मन्त्रद्वारा उस सूत्रको सूर्यके सम्मुख करके 'यज्ञोपवीतम्०' मन्त्र बोलते हुए धारण कर ले।'

यज्ञोपवीतका परिमाण ९६ चौआ ही क्यों रखा गया है?

यज्ञोपवीतके निर्माणके सम्बन्धमें प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यज्ञोपवीतका परिमाण ९६ ही क्यों निर्धारित किया गया? यदि इसका परिमाण कम या अधिक हो जाता तो उससे क्या हानि होती?

दूसरा प्रश्न यह है कि प्रत्येक वर्णमें हर व्यक्ति एक ही कद और काठीका नहीं होता है। कोई ऊँचे कदका होता है तो कोई नाटा। कुछ स्थूल शरीरवाले होते हैं तो अन्य दुबले-पतले। अतः सभी व्यक्तियोंके लिये एक ही परिमाणका यज्ञोपवीत धारण करनेका नियम क्यों बनाया गया? आइये, इस सम्बन्धमें शास्त्रसम्मत नीचे लिखे हेतुओंका अध्ययन करें—

१-यज्ञोपवीत कटितक ही रहे—महर्षियों और शास्त्रकारोंने इस आधारपर यज्ञोपवीतका परिमाण निर्धारित किया कि धारण करनेपर वह पुरुषके बायें कन्धेके ऊपरसे आता हुआ नाभिको स्पर्श कर कटितक ही पहुँचे। इससे न तो ऊपर रहे और न ही नीचे। अत्यन्त छोटा होनेपर यज्ञोपवीत आयुका तथा अधिक बड़ा होनेपर तपका विनाशक होता है। अधिक मोटा रहेगा तो वह यशनाशक और पतला होगा तो धनकी हानि होगी—

पृष्ठदेशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥
आयुर्हरत्यतिह्रस्वमतिदीर्घं तपोहरम्।
यशोहरत्यतिस्थूलमतिसूक्ष्मं धनापहम्॥

इस निर्णयको सामुद्रिकशास्त्रने उचित ठहराया है। उसके अनुसार मनुष्यका कद और स्वास्थ्य कैसा भी हो, मानव-शरीरका आयाम ८४ अङ्गुलसे १०८ अङ्गुलतक ही होता है। इसका मध्यमान ९६ अङ्गुल ही होता है। अतः इस परिमाणवाला यज्ञोपवीत हर स्थितिमें कटितक ही रहेगा न ऊपर और न ही नीचे।

२-गायत्रीमन्त्रके २४ अक्षरोंके चार गुनेको आधार माना गया—गायत्री वेदमाता हैं। प्रत्येक मन्त्रका उद्भव इन्हींसे हुआ है, यज्ञोपवीत-निर्माण और उसे अभिमन्त्रित करते समय गायत्रीमन्त्रको प्रधानता दी गयी है। गायत्रीमन्त्रमें चौबीस अक्षर होते हैं। चारों वेदोंमें व्याप्त गायत्रीछन्दके सम्पूर्ण अक्षरोंको मिला दें तो २४×४=९६ अक्षर होते हैं, इसीके आधारपर द्विजबालकको गायत्री और वेद दोनोंका अधिकार प्राप्त होता है। इसलिये ९६ चौआवाले यज्ञोपवीतको ही धारण करनेका विधान किया है—

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत्॥
(वसिष्ठस्मृति)

३-वैदिक मन्त्रोंकी संख्याके आधारपर—वर्णाश्रम-व्यवस्थामें ब्रह्मचर्याश्रमके अन्तर्गत द्विजबालकको गुरुके सांनिध्यमें उनकी सेवा करते हुए वेदाध्ययनसहित नैतिक कर्म, उपासना आदिकी शिक्षा प्राप्त करनेके अनन्तर गृहस्थाश्रमका अधिकार प्राप्त होता है। चतुर्थाश्रम संन्यास ग्रहण करनेपर वह कर्म और उपासनासे पूर्णतः मुक्त होकर केवल ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी रह जाता है। इस स्थितिमें वह शिखा और सूत्र—दोनोंका त्याग कर देता है। वेदकी मर्यादाके अनुसार उपनीत होनेवाले द्विजको ही वेद और कर्मकाण्डका अधिकारी बताया गया है।

'लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षमेकं तु भारतम्।' इस आप्तवचनमें वैदिक ऋचाओंकी संख्या एक लाख बतायी गयी है। वेदभाष्यमें पतञ्जलिने भी इसकी पुष्टि की है। इन लक्ष मन्त्रोंमें ८०,००० कर्मकाण्ड-सम्बन्धी, १६,००० उपासनाकाण्ड-सम्बन्धी और ४,००० ज्ञान-काण्ड-सम्बन्धी ऋचाएँ हैं। चूँकि उपनीतको कर्मकाण्ड और उपासना-काण्डका अध्ययन करनेका अधिकार प्राप्त होता है, अतः ९६,००० ऋचाओंके अधिकारके आधारपर उपवीतका परिमाण ९६ चौआ निर्धारित किया गया है।

[illegible]-, वार, गुण आदिके आधारपर—मानव-

जीवन भाग्यसे प्राप्त होता है। यह जीवन तत्त्वों, गुण, तिथि, वार, नक्षत्र, काल, मास आदि विविध भागोंसे निरन्तर सम्पर्कमें रहनेके कारण उनसे प्रभावित होता रहता है। अतः जीवनके एक-एक क्षणको प्रभुका अमित वरदान समझनेवाले महर्षियोंने इन भागोंके महत्त्वको समझकर उनका अवलम्बन करके ब्रह्म-प्राप्तिका शाश्वत लक्ष्य मनुष्यके लिये निर्धारित किया। इन सभी पदार्थोंकी संख्याका समन्वित योग किया जाय तो आश्चर्य होगा कि यह भी ९६ का योग बनाता है, यथा—

(अ) मनुष्यके सत्, रज और तमोगुणमय त्रिविध शरीरमें प्रकृतिप्रदत्त पाँच भूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरणका योग—२४ तत्त्वोंका समावेश रहता है। तीन ग्रन्थियाँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरवाले मनुष्यके आत्मरूपपर त्रिगुणात्मक आवृत्तिसे बहत्तरका योग बनाती हैं। इस शरीरके निराकरण एवं भेदनके लिये चौबीस अक्षरात्मक गायत्रीमन्त्रका जप किया जाता है। यही प्रकृतिके तत्त्वोंसे आत्माको मुक्त कराती है। यदि इन सबका योग करें तो परिणाम ७२+२४=९६ आता है। अतः इन तत्त्वों और गायत्रीमन्त्रका प्रभाव दरसाने और मुक्तिके लिये गायत्रीमन्त्र जपते रहनेका संकेत करते रहनेहेतु द्विजको ९६ परिमाणवाले यज्ञोपवीतको धारण करानेका विधान किया गया है।

(ब) इस गूढ तथ्यको इस दृष्टिकोणसे भी समझा जा सकता है। सामवेद छन्दोगपरिशिष्टमें कहा गया है—

तिथिवारं च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्॥

हमारा शरीर २५ तत्त्वोंसे बना है। इसमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण सर्वदा व्याप्त रहते हैं। फलतः २८ संख्यात्मक समुदायवाले शरीरको तिथि, वार, काल, नक्षत्र, मास, वेदादि विविध भागोंमें विभक्त, अनेक संवत्सरपर्यन्त इस संसारमें जीवन धारण करना पड़ता है। यदि इनका योग करें तो यह भी ९६ ही होता है। देखिये—

तिथि—१५, वार—७, नक्षत्र—२७, तत्त्व—२५, वेद—४, गुण—३, काल—३ और मास—१२, इनका कुल योग ९६ आता है।

यज्ञोपवीतमें तीन सूत्र और त्रिवृत् क्यों?

हिन्दूधर्ममें तीनकी संख्या आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—सभी क्षेत्रोंमें विशेष महत्त्व रखती है। ऋक्, यजुः और साम ही तीन प्रमुख वेद हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिदेव हैं। तीन काल—भूत, वर्तमान और भविष्य हैं। सत्त्व, रज और तम—तीन गुण हैं। तीन ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा और शीत हैं। त्रिलोक—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं। इसी त्रिगुणात्मक भावको आधार बनाकर यज्ञोपवीतका त्रिगुणात्मक तन्तुओंसे निर्माण और उसका त्रिवृत्करण किया गया है। तीन सूत्रमें मानवत्व, देवत्व और गुरुत्व भाव निहित है। इन्हींकी प्रेरणा, मार्गदर्शन और शिक्षासे मृत्युलोकसे द्युलोककी ओर ऊर्ध्वगमनके लिये उपासना, ध्यान और सत्कर्मका भाव मानव अपनाता है। यही उसके निर्वाणके मार्गको प्रशस्त करता है। इसी भावनासे तीन तारोंको महाव्याहृति मन्त्रोंसे ऊपरकी ओर उमेठते हुए नौ तन्तुमय सूत्रका निर्माण किया गया है।

ये नौ तन्तु नौ देवताओंके आवास स्थान हैं, जहाँ उनका विधिपूर्वक आवाहन, पूजन और प्रतिष्ठापन (यज्ञोपवीत तैयार हो जानेपर) किया जाता है। सामवेदीय छन्दोगपरिशिष्टमें नौ देवताओंके नाम इस तरह बताये गये हैं—

ॐकारोऽग्निश्च नागश्च सोमः पितृप्रजापती।
वायुः सूर्यश्च सर्वश्च तन्तु देवा अमी नव॥
ॐकारः प्रथमो तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोम देवता॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः॥

उपर्युक्त देवताओंकी प्रतिष्ठापनासे मानव अपने हृदयमें तत्तद् देवताओंके विशेष गुणों यथा—ब्रह्मलाभ, तेजस्विता, धैर्य, आह्लादकत्व, स्नेह, प्रजापालन, शुचित्व, प्राणत्व आदि गुणोंको धारण करते हुए अनुभव करता है कि मैंने इन गुणोंसे परिपूर्ण और देवताओंसे अधिष्ठित उपवीतको धारण कर लिया है। अब मैं तेजस्वी हूँ, धृतिमान् हूँ, शुद्ध हूँ। देवताओंकी विद्यमानता और उनके गुणोंको आत्मसात् करनेकी इस अनुभूतिसे मानवके हृदयमें उपजे मल और मानसिक कुवृत्तियोंका परिमार्जन होगा तथा मनसहित

मस्त इन्द्रियाँ विपथगामी न होकर सन्मार्गपर चलनेके ये प्रवृत्त होंगी।

यह भावना अतिरेक या अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं, काट्य तथ्य है। मनुष्यके मनमें यह भावना रहेगी कि वताके सांनिध्यमें पापाचार करना, नरकका हेतु होगा। ापने अनुभव किया अथवा देखा होगा कि जब कभी नुष्य शास्त्रनिर्दिष्ट मार्गका त्याग कर विपथगामी होने गता है तो वह सर्वप्रथम यज्ञोपवीत और शिखाको ढोंग हकर त्याग देता है। इससे वह यह अनुभव करता है कि ह धर्मके बन्धनसे मुक्त हो गया है। मनुष्यका यह कृत्य ो स्पष्ट करता है कि यज्ञोपवीत धारण करनेसे उसमें माविष्ट कोई-न-कोई शक्ति मानवको विपथगामी होनेसे चानेहेतु चेतावनी देते हुए उसे पापाचरणमें प्रवृत्त होनेसे वश्य रोकती रही होगी।

ब्रह्मग्रन्थिकी आवश्यकता

यज्ञोपवीत-निर्माणकार्यमें नौ तन्तुओंको त्रिगुणात्मक र, तीन सूत्रमें परिवर्तित कर, उसका त्रिवृत्करण करके सके मूलोंको जोड़नेमें प्रणवरूपी महामन्त्रका उच्चारण करते ए ब्रह्मग्रन्थि लगाये जानेका विधान किया गया है। इस ब्रह्म-न्थिके लगनेपर यज्ञोपवीत धारण करनेयोग्य बन जाता है।

ब्रह्मग्रन्थिको लगानेका अभिप्राय यह है कि मनुष्य तिक्षण ध्यानमें रखे कि यह समस्त विश्व ब्रह्मसे प्रादुर्भूत आ है और इसीमें मानवका कल्याण संनिहित है। दि मानव ब्रह्मको भुलाकर उसके माया-जालमें फँस ाता है तो वह ब्रह्मतत्त्वको भूलकर काम, क्रोध, लोभ-ोहादि सांसारिक प्रपञ्चोंमें लिप्त होकर अपने ही पतनका ारण बन सकता है। उसे प्रचलित लोकोक्ति 'गाँठ ाँध लेना' को ध्यानमें रखते हुए एक गाँठ बाँध लेना ाहिये कि मनुष्यका ब्रह्मप्राप्ति ही चरम लक्ष्य है और से प्राप्त करनेके लिये उसे शास्त्रनिर्दिष्ट श्रेयमार्गपर लते रहना होगा। यज्ञोपवीतके धारणका उद्देश्य और क्ष्य भी यही रहा है; अतः इसके मूलमें प्रणव-मन्त्रके ाथ लगायी जानेवाली ग्रन्थि उसे प्रणवके अ+उ+म्— न तीनों वर्णों, सत्त्व,रज तथा तम—इन तीन गुणों एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी ब्रह्माण्डनियामक त्रिविध क्तियोंके सामीप्यका ध्यान दिलाती रहती है। इसीलिये इसे ब्रह्मग्रन्थि कहा गया है।

समाजमें मनुष्यको ब्रह्मके साथ-साथ अपनी कुल-परम्पराको भी ध्यानमें रखना होता है। अतः ब्रह्मग्रन्थिके ऊपर अपने-अपने कुल, गोत्र, प्रवरादिके भेदसे १, ३ या ५ गाँठ लगाये जानेका शास्त्रीय विधान है। ये ग्रन्थियाँ मनुष्यको अपनी कुल-परम्परासे चली आ रही शास्त्रमर्यादाकी रक्षा करते हुए उन पुण्यात्मा पूर्वजोंका स्मरण कराती हैं, जिनका वह उत्तराधिकारी है और जिनकी तपश्चर्या और सत्कर्मोंसे उसे उस कुलमें जन्म लेनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, साथ ही उन्हींके पदचिह्नोंपर चलनेकी प्रेरणा देती हैं। द्विज सदा याद रखे कि उसमें भी ब्रह्मका अंश है और अन्तमें इसीमें लय होना है।

यज्ञोपवीत धारणका अधिकार

धर्मशास्त्रकारोंने त्रैवर्णिक द्विजोंको यज्ञोपवीत धारण करनेका अधिकार दिया है। जन्म देनेवाले माता-पिताकी अपेक्षा वेदरूपी अक्षुण्ण शरीर प्रदान करनेवाले आचार्य अधिक श्रेष्ठ माने गये हैं—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

(मनु० २।१७०)

संस्कारोंके अनुपालनमें शुचिता और पवित्रताका विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। स्त्रीके शरीरका निर्माण इस तरहसे हुआ है कि उसे मासमें कुछ दिन अपवित्र दशामें रहना पड़ता है। इसी तरह प्रसवकालमें भी वह अपवित्र दशामें रहनेके लिये बाध्य होती है। पुरुषके समान स्त्री-ब्रह्मचर्यधर्मका पालन (रजस्वला होनेपर) करनेयोग्य नहीं रहती है। इसी प्रकार मन्त्रोंके उच्चारणकी अशुद्धता भी स्त्री तथा द्विजेतरोंमें रहती है। फिर भी मनुस्मृतिमें स्त्रियोंका विवाह-संस्कार ही उनके यज्ञोपवीत-संस्कारके समान है—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।' (मनु० २।६७)

किस स्थितिमें नवीन यज्ञोपवीत धारण करे

यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर द्विजको इसे अखण्ड रूपसे धारण किये रहनेका निर्देश दिया गया है। शास्त्रकारोंके अनुसार ब्रह्मचारीको एक यज्ञोपवीत तथा

स्नातकको दो या उससे अधिक (तीन) यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये यथा—'ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातकस्य द्वे बहूनि वा' (आश्वलायनगृह्यसूत्र)। इसी तरह श्रौत-स्मार्त कर्मोंकी निष्पत्तिके लिये दो यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये, यदि उत्तरीय वस्त्र न हो तो तीसरा धारण किया जा सकता है—

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।
तृतीयमुत्तरीयार्थे वस्त्राभावे तदिष्यते॥

(विश्वामित्र)

कुछ लोग इस स्थितिमें एक कपड़ा या गमछा बायें कन्धेपर रख लेते हैं।

उपवीत संस्कारित ब्रह्मसूत्र हैं, जो संस्कारके दिनसे मृत्युपर्यन्त शरीरसे अलग नहीं किया जाता है। इतने कड़े नियमोंका पालन करते हुए कई अवसर आते हैं, जब धारण किये हुए यज्ञोपवीतको अशुद्ध मानकर नवीन यज्ञोपवीत धारण करनेकी आवश्यकता पड़ती है। शास्त्रकारोंने इन स्थितियोंमें धारण किये हुए यज्ञोपवीतको अपवित्र मानकर नवीन यज्ञोपवीतके धारण करनेका निर्देश दिया है—

१-यदि स्वतःकी असावधानीसे यज्ञोपवीत बायें कन्धेसे खिसककर बायें हाथके नीचे आ जाय अथवा उससे निकलकर कमरके नीचे आ जाय या वस्त्रादि उतारते समय उससे लिपटकर शरीरसे अलग हो जाय तो नवीन प्रतिष्ठित यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये—

'वामहस्ते व्यतीते तु तत् त्यक्त्वा धारयेद् नवम्।'

२-मल-मूत्रका त्याग करते समय कानमें लपेटना भूल जाय अथवा कानमें लिपटा सूत्र कानसे सरककर अलग हो जाय तो नवीन यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये—

मलमूत्रे त्यजेद् विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्।
उपवीतं तदुत्सृज्य दध्यादन्यन्नवं तदा॥

(आचारेन्दु)

३-उपाकर्म, जननाशौच, मरणाशौच, श्राद्धकर्म, सूर्य-चन्द्रग्रहणके समय, अस्पृश्यसे स्पर्श हो जाने तथा श्रावणीमें यज्ञोपवीतको अवश्य बदल लेना चाहिये—

(क) सूतके मृतके क्षौरे चाण्डालस्पर्शने तथा।
रजस्वलाशवस्पर्शे धार्यमन्यन्नवं तदा॥

(नारायणसंग्रह)

(ख) उपाकर्मणि चोत्सर्गे सूतकद्वितये तथा।
श्राद्धकर्मणि यज्ञादौ शशिसूर्यग्रहेऽपि च॥
नवयज्ञोपवीतानि धृत्वा जीर्णानि च त्यजेत्॥

(ज्योतिषार्णव)

४-प्रायः चार मासमें यज्ञोपवीत शरीरके मलादिसे दूषित और जीर्ण हो जाता है, अतः नया यज्ञोपवीत धारण करे—

धारणाद् ब्रह्मसूत्रस्य गते मासचतुष्टये।
त्यक्त्वा तान्यपि जीर्णानि नवान्यन्यानि धारयेत्॥

(गोभिल आचारभूषण)

अभिमन्त्रित उपवीतको धारण करना—स्नानादि कर एक आसनपर बैठकर नवीन यज्ञोपवीतमें हलदी लगाकर संकल्प करके निम्नलिखित विनियोग पढ़कर जल गिराये। तदनन्तर नीचे दिया मन्त्र पढ़ते हुए एक यज्ञोपवीत धारण करे, आचमन करे और फिर दूसरा यज्ञोपवीत धारण करे। इस प्रकार एक-एक करके ही यज्ञोपवीत पहनना चाहिये—

विनियोग—

ॐ यज्ञोपवीतमिति मन्त्रस्य परमेष्ठी ऋषिः, लिङ्गोक्ता देवताः, त्रिष्टुप् छन्दः, यज्ञोपवीतधारणे विनियोगः।

यज्ञोपवीत धारण करते हुए यह मन्त्र पढ़े—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
ॐ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।

पुराने यज्ञोपवीतको उतारना—इसके बाद मन्त्र पढ़कर पुराने यज्ञोपवीतको कण्ठी-जैसा बनाकर सिरपरसे पीठकी ओरसे अलग कर देना चाहिये—

मन्त्रेण धारणं कार्यं मन्त्रेण च विसर्जनम्।
कर्तव्यं च सदा सद्भिर्नात्र कार्या विचारणा॥

यज्ञोपवीतको जलमें प्रवाहित करते हुए यह मन्त्र पढ़े—

एतावद्दिनपर्यन्तं ब्रह्म त्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात् त्वत्परित्यागो गच्छ सूत्र यथासुखम्॥

इसके उपरान्त यथाशक्ति गायत्रीमन्त्रका जप करे और 'ॐ तत्सत् श्रीब्रह्मार्पणमस्तु' कहते हुए उसे अर्पित करता हुआ हाथ जोड़कर भगवान्‌का स्मरण करे।

नवीन यज्ञोपवीतको अभिमन्त्रित करना

अभिमन्त्रित यज्ञोपवीत न होनेकी स्थितिमें नवीन यज्ञोपवीतको अभिमन्त्रित कर धारण करना चाहिये। सर्वप्रथम स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर शुद्ध आसनपर पूर्वाभिमुख होकर बैठे और आचमन करनेके उपरान्त अपने सामने पलाशके पत्तेपर अथवा अपने हाथमें नवीन यज्ञोपवीतको रखकर उसे जलसे प्रक्षालित करे। तदुपरान्त निम्नलिखित एक-एक मन्त्र पढ़कर अक्षत—चावल या एक-एक फूलको यज्ञोपवीतपर छोड़ता जाय—

'प्रथमतन्तौ ॐ ओङ्कारमावाहयामि। द्वितीयतन्तौ ॐ अग्निमावाहयामि। तृतीयतन्तौ ॐ सर्पानावाहयामि। चतुर्थतन्तौ ॐ सोममावाहयामि। पञ्चमतन्तौ ॐ पितॄनावाहयामि। षष्ठतन्तौ ॐ प्रजापतिमावाहयामि। सप्तमतन्तौ ॐ अनिलमावाहयामि। अष्टमतन्तौ ॐ सूर्यमावाहयामि। नवमतन्तौ ॐ विश्वान् देवानावाहयामि। प्रथमग्रन्थौ ॐ ब्रह्मणे नमः, ब्रह्माणमावाहयामि। द्वितीयग्रन्थौ ॐ विष्णवे नमः, विष्णुमावाहयामि। तृतीयग्रन्थौ ॐ रुद्राय नमः, रुद्रमावाहयामि।'

इसके बाद 'प्रणवाद्यावाहितदेवताभ्यो नमः' मन्त्रसे 'यथास्थानं न्यसामि' कहकर उन-उन तन्तुओंमें न्यास कर चन्दन आदिसे पूजन करे। फिर यज्ञोपवीतको दस बार गायत्रीमन्त्रसे अभिमन्त्रित करे। इस प्रकार नूतन यज्ञोपवीतकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये। तब वह धारण करनेयोग्य हो जाता है। उचित होगा कि श्रावणी आदिके अवसरपर वर्षभरके लिये कुछ यज्ञोपवीत अभिमन्त्रितकर रख ले। (क्रमशः)

~~~o~~~

लव-कुशका व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत)-संस्कार

(श्रीगंगायख्शसिंहजी)

भगवान्‌की लीलाएँ मनुष्योंको शिक्षा और संस्कार देनेके लिये होती हैं। समाजमें संस्कारोंकी प्रतिष्ठा बनी रहे, इसलिये स्वयं प्रभु श्रीरामने अपने पुत्रों—लव-कुश तथा भ्रातृपुत्रों (अङ्गद, चित्रकेतु, तक्ष, पुष्कर, सुबाहु और यूपकेतु)-के समस्त संस्कार कराये। आनन्दरामायणमें तो यहाँतक वर्णन प्राप्त होता है कि गर्भावस्थाके छठे मासमें भगवती सीताजीका सीमन्तोन्नयन-संस्कार हुआ और बालकपर महर्षि वाल्मीकिकी तपस्थलीके दिव्य संस्कार पड़ सकें, इसलिये आठवें मासमें सीताजीको वन भेजनेकी लीला हुई थी। इतना ही नहीं, श्रीरामजीके परामर्शसे जनकजीने सीताजीके पहुँचनेसे पहले ही उनके निवास-सम्बन्धी सारी व्यवस्था वनमें कर रखी थी—

षष्ठे मासे त्वथ प्राप्ते सीताया राघवो मुदा।
सीमन्तोन्नयनं चैव वसिष्ठेन चकार सः॥
एवं मनोहरं गेहं सीतार्थं जनकोऽकरोत्।
श्रीः साक्षाद्गन्तुमुद्युक्ता यस्मिन्निवसितुं चिरम्॥
वाल्मीकये सर्ववृत्तं जनकोऽपि न्यवेदयत्।
मुनिश्चाप्यतिसन्तुष्टो मेने स्वतपसः फलम्॥

(जन्मकाण्ड २। २४, ५२, ५४)

पुत्रजन्मके समय पिताको बालकका जातकर्म-संस्कार कराना चाहिये। लोकमें इस बातकी शिक्षा देनेके लिये स्वयं भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ निर्वासित सीताके पास वाल्मीकि आश्रम गये और वहाँ नान्दीमुखश्राद्ध तथा जातकर्म-संस्कार करवाया। इस अवसरपर भगवान् श्रीरामने वस्त्राभरण आदि अनेक प्रकारके दान भी दिये, देवतालोग दुन्दुभी बजाने लगे तथा पुष्पवृष्टि करने लगे—

ततो वाल्मीकिना विप्रैर्मितैरेव रघूत्तमः।
जातकर्मादिसंस्कारांश्चकार विधिपूर्वकम्॥
सीतायाः पुरतः पुत्राननमालोकयन्मुदा।
ददौ दानान्यनेकानि सवस्त्राभरणान्यपि॥
चकार विधिवच्छ्राद्धं पुत्रजन्ममहोत्सवे।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववर्षुः पुष्पवृष्टिभिः॥

(जन्मकाण्ड ४। २४—२६)

इसी प्रकार नामकरण-संस्कारका भी वर्णन प्राप्त होता है, जिसे श्रीरामकी आज्ञासे वाल्मीकिजीने सम्पन्न किया था। इस अवसरपर राजा जनक और उनकी पत्नी सुमेधा भी उपस्थित थीं—

कुशं नाम तदा चक्रे मुनिरेकादशे दिने।
चकार सर्वसंस्कारान् मुनिः श्रीराघवाज्ञया॥
~~~

एवं स बालकस्तत्र ववृधे मातृलालितः।
जनकश्च सुमेधा च नानावस्त्रैः सुशोभनैः॥
शोभयामास दौहित्रं नानाव्याघ्रनखादिभिः।
बालोऽपि रंजयामास स्वक्रीडाभिर्विदेहजाम्॥

(जन्मकाण्ड ४।५८—६०)

सीताके अतिरिक्त देवी उर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्तिने भी पुत्रोंको जन्म दिया और प्रभु श्रीरामने उनके भी पुंसवन, जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार कराये। उर्मिलाके ज्येष्ठ पुत्रका नाम अंगद तथा कनिष्ठ पुत्रका नाम चित्रकेतु रखा गया। इसी प्रकार माण्डवीके ज्येष्ठ पुत्रका पुष्कर तथा कनिष्ठ पुत्रका नाम तक्ष पड़ा और श्रुतकीर्तिके ज्येष्ठ पुत्रका नाम सुबाहु एवं कनिष्ठ पुत्रका नाम यूपकेतु रखा गया—

तासां पुंसवनादीनि विविधानि रघूत्तमः॥
जातकर्मादिसंस्कारान् कृत्वा रामः पृथक् पृथक्॥
एवं कृतानि नामानि गुरुणा विधिपूर्वकम्।

(जन्मकाण्ड ९।२, ७, १०)

यज्ञोपवीत-संस्कारको विशेष महत्त्व देते हुए कुशके यज्ञोपवीत-संस्कारका आनन्दरामायणमें विस्तारसे वर्णन आया है। राम तथा अन्य भाइयोंके पुत्रोंमें कुश सबसे बड़े थे। अतः श्रीरामचन्द्रजीने गुरु वसिष्ठको उनका उपनयन-संस्कार करनेके लिये कहा। उस समय कुशका पाँचवाँ वर्ष और गर्भसे छठा वर्ष चल रहा था। प्रायः ब्राह्मणका उपनयन आठवें वर्षमें, क्षत्रियका बारहवें वर्षमें और वैश्यका सोलहवें वर्षमें होता है, परंतु अपना वर्चस्व बढ़ानेकी इच्छा रखनेवाले विप्रका पाँचवें वर्ष, बलवृद्धिकी कामनावाले क्षत्रियका छठे वर्ष और धनवृद्धिकी इच्छा रखनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें उपनयन-संस्कार कराना उचित होता है।*

कुशके उपनयनका ठीक समय जानकर गुरु वसिष्ठने ज्योतिषियोंको बुलाया और उनसे गुरु और शुक्रका बलाबल दिखवाया। ज्योतिषियोंने गणना करके बताया कि पंद्रह दिन बाद उपनयनके लिये बहुत ही सुन्दर और पवित्र मुहूर्त है। भगवान् श्रीरामने भी एक पक्षका समय तैयारी आदिके लिये आवश्यक जानकर उसे स्वीकार कर लिया और ज्योतिषियोंका धन-वस्त्रादिसे सम्मान किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणको आदेश दिया कि समस्त मित्रों और राजाओंको निमन्त्रण-पत्र भेज दो कि वे परिवार, नगरवासियों और राज्यके समस्त नागरिकोंके सहित उपनयन-संस्कारमें सम्मिलित हों। इसी प्रकार समस्त मुनिगणोंको भी उपनयन-संस्कारके महोत्सवमें सादर आमन्त्रित कर लो। हे लक्ष्मण! इस शुभ अवसरपर सम्पूर्ण अयोध्यापुरीको अच्छी प्रकारसे सजवाओ, इसके आस-पासकी सातों खाइयोंको अच्छी प्रकारसे साफ करवाओ, अट्टालिकाओं और प्राचीरोंको सुन्दर-सुन्दर चित्रोंसे चित्रित करवाओ, अयोध्याके समस्त देवालयोंको चूनेसे पुतवाकर उनपर सुन्दर चित्रकारी करवाओ और वहाँ पूजन-सम्बन्धी समस्त सामग्रियोंका विशेष रूपसे प्रबन्ध करो, सम्पूर्ण नगरीको ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत करा दो, सोनेकी वेदियाँ बनवाओ और इसके अतिरिक्त जो बात तुम्हें ठीक लगे और मैंने न कही हो, उसको भी कर लो।

लक्ष्मणजीने 'जो आज्ञा' कहकर आदेशको शिरोधार्य किया और श्रीरामजीके कथनके अनुसार सारा प्रबन्ध कर दिया। इसके बाद उपनयनके दिन श्रीरामजीने उबटन लगाकर स्नान किया, सीता और अन्य भाइयोंने भी उबटन लगाकर स्नान किया, फिर कुमारोंको स्नान कराकर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत किया गया। तदनन्तर श्रीरामजीने सीताके साथ गुरु वसिष्ठ तथा अन्य ऋषियोंका पूजन-वरण किया। ऋषियोंने पुण्याहवाचन किया और श्रीरामजीने नान्दीश्राद्ध और देव-पूजन सम्पन्न किया। इस अवसरपर सातों द्वीपोंके राजा और ऋषि-मुनि पधारे। उस समय उन सबसे भरी हुई अयोध्यापुरी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी, चारों ओर तुरही और नगाड़ोंके मङ्गलमय स्वर गूँज रहे थे।

यज्ञोपवीत-संस्कारके अवसरपर वसिष्ठजीने श्रीराम और कुशके मध्यमें एक सुन्दर कपड़ेका परदा बाँध दिया और आये हुए ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियोंके साथ माङ्गलिक

---

* ब्राह्मणस्याष्टमे प्रोक्तो द्वादशे क्षत्रियस्य च॥
वैश्यस्य षोडशे वर्षे व्रतबन्धो मुनीश्वरैः।
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे॥
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे। विद्वद्भिश्चोपनयनमेवं शास्त्रेषु निर्णयः॥ (जन्मकाण्ड ९।७२—७५)

श्लोकोंका पाठ होने लगा।[1]

विविध प्रकारके मङ्गलमय मन्त्रोंका पाठ करके गुरु वसिष्ठने 'ॐ' शब्दका उच्चारण करते हुए अन्तःपट (परदा) हटा दिया और कुशको श्रीरामकी गोदमें बैठाकर हवनादि कार्योंको सम्पन्न किया। इसके अनन्तर कुशको सुवर्णके तारोंसे बनी करधनी पहनायी, मृगचर्म बाँधा और कौपीन पहनायी। तत्पश्चात् दण्ड, कमण्डलु देकर वसिष्ठजीने कुशको गायत्री-मन्त्रका उपदेश दिया—

इति नानामङ्गलवाद्यैस्तूर्यघोषैर्मनोहरैः।
ॐकारघोषैः स गुरुर्मुमोचान्तःपटं तदा॥
ततस्तं राघवस्याङ्के निवेश्य हवनादिकम्।
विधिं कृत्वाऽथ कौपीनं दण्डं चाथ कमण्डलुम्॥
बद्ध्वादौ रुक्मजां मौञ्जीं बबन्धैणाजिनं तदा।
ततः कुशाय स गुरुर्गायत्रीमुपदिष्टवान्॥
(जन्मकाण्ड ९।९४—९६)

तदनन्तर गुरु वसिष्ठजीने ब्रह्मचारीके लिये पालनीय शास्त्रोक्त नियम कुशको इस प्रकार बताये—

ब्रह्मचारीको शौचसे निवृत्त होकर दाँत तथा जीभ साफ कर लेनेके बाद वरुण देवता-सम्बन्धी मन्त्रोंका जपकर स्नान करना चाहिये, फिर आचमन-प्राणायामादि करके दोनों सन्ध्याओंमें सूर्यका उपस्थान करना चाहिये। इसके बाद हवन करके अपने नाम, गोत्रका उच्चारण करते हुए ब्राह्मणोंको प्रणाम करना चाहिये। मेखला, दण्ड, उपवीत तथा अजिन धारणकर सुपात्र ब्राह्मणों या कुलीन द्विजोंके घरकी भिक्षासे आजीविका चलानी चाहिये। किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये तथा मौनव्रतका पालन करना चाहिये। गुरुकी आज्ञा मिलनेपर ही भोजन ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह सदैव एक ही बार भोजन करे और श्राद्धादिमें तथा आपत्तिकालमें भी दो बार भोजन न करे। सायं-प्रातः अग्निहोत्र करे। मधु तथा मांसका आहार, प्राणिहिंसा, जलमें सूर्य-प्रतिबिम्बका दर्शन, स्त्री-प्रसङ्ग, बासी तथा जूठे अन्नका भोजन आदि नहीं करना चाहिये। गुरुके सामने अपनी इच्छासे बिना गुरुकी अनुमतिसे कोई कार्य न करे। परोक्षमें भी गुरुका नाम बिना विशेषण लगाये न ले। जहाँ गुरुकी निन्दा हो रही हो, वहाँ कान बंद कर ले अथवा उठकर चला जाय। अपनी माता, बुआ या बहिनके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। वे ज्ञानियोंके मनको भी विचलित कर देती हैं।[2]

इस प्रकार वसिष्ठजीने कुशको बहुत-से ब्रह्मचर्यव्रतसम्बन्धी नियमोंका उपदेश दिया। तदनन्तर प्रभु श्रीरामने विप्रों, ऋषियों तथा मुनियोंको अनेक प्रकारके दान दिये। कुशको माताके साथ भोजन कराया गया। इसके बाद वसिष्ठजीने राम, सीता और कुशसे आहूत देवताओंका पूजन कराया। तदनन्तर जनकजी सहित अन्यान्य राजाओंने श्रीरामजीका पूजन किया। श्रीरामजीने भी उनका धन, वस्त्र आदिसे यथोचित सम्मान किया। इस अवसरपर श्रीरामजीने ब्राह्मणोंसे लेकर चाण्डालोंतकको सादर प्रसन्न किया। श्रीरामजीने उपनयन-संस्कारके शुभ अवसरपर आये हुए राजाओं एवं ऋषियों-मुनियोंका एक माहतक आतिथ्य-सत्कार किया। इसी प्रकार लव तथा अन्य कुमारोंके भी यज्ञोपवीतके माङ्गलिक संस्कारोत्सव मनाये गये।

(आनन्दरामायणके आधारपर)

~~~ ○ ~~~

१. ध्यात्वा श्रीगणनायकं विधिसुतां शम्भुं विधिं माधवं लक्ष्मीं शैलसुतां विधेस्तु दयितामिन्द्रं सुरांस्तान् ग्रहान्।
पुण्यान्स्थावरनिम्नगाश्च सुमुनीन् स्वीयां कुलस्वाम्बिकां तातं मातरमादरेण बटवे भूयात्सदा मङ्गलम्॥
तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्यत्स्मरणं विधेयम्॥ (जन्मकाण्ड ९।९२-९३)

२. ब्रह्मचर्यव्रतादीनि स कुशायोपदिष्टवान्। कृत्वोक्तविधिना शौचं कुर्यादाचमनं तथा॥
दन्तान् जिह्वां विशोध्याथ कृत्वा मलविशोधनम्। स्नात्वाऽम्बुदैवतैर्मन्त्रैः प्राणानायम्य यत्नतः॥
उपस्थानं रवेः कृत्वा संध्ययोरुभयोरपि। अग्निकार्यं ततः कृत्वा ब्राह्मणानभिवादयेत्॥
ब्रुवन्नमुकगोत्रोऽहमभिवादय इत्यपि। धारयन्मेखलां दण्डोपवीताजिनमेव च॥
अनिन्द्येषु चरेद्भैक्ष्यं ब्राह्मणेष्वात्मवृत्तये। वाग्यतो गुर्वनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन्॥
एकान्नं च समश्नीयाच्छ्राद्धेऽश्नीयात्तथाऽऽपदि। द्विवारं नैव भुञ्जीत दिवा क्वापि द्विजोत्तमः॥
सायं प्रातर्द्विजोऽश्नीयादग्निहोत्रविधानवित्। मधुमांसं प्राणिहिंसां भास्करालोकनं जले॥
स्त्रियं पर्युषितोच्छिष्टे परिवादं विवर्जयेत्। यथेष्टचेष्टो न भवेद्गुरोर्नयनगोचरे॥
न नाम परिगृह्णीयात्परोक्षेऽप्यविशेषणम्। गुरुनिन्दा भवेद्यत्र परिवादस्तु यत्र च॥
श्रुती पिधाय स्थातव्यं यातव्यं वा ततोऽन्यतः। न मात्रा न पितुः स्वस्रा न स्वस्रैकान्तासीनता॥
बलवन्तीन्द्रियाण्यत्र मोहयन्त्यतिकोविदान्। (जन्मकाण्ड ९।९७—१०७)
~~~

यज्ञोपवीत-संस्कार एवं श्रावणीकर्म

(श्रीजीवनदत्तात्रयजी केळकर)

उपनयन-संस्कारमें गायत्रीमन्त्रके उपदेशके साथ ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेकी दीक्षा लेते हुए बटुक गुरुकी शरणमें जाता है, इस प्रकार वह व्रतके बन्धनमें बँधता है। इसीलिये उपनयनको व्रतबन्धके नामसे भी जाना जाता है। उपनयनसे पूर्व बालक पूर्णरूपमे स्वच्छन्द होता है, किंतु बादमें उसे कामाचार, कामभक्षण आदि दोषोंसे बचना पड़ता है। यज्ञोपवीत धारण करनेवाले ब्रह्मचारीको मौञ्ज (मूँज)-की बनी मेखला एवं हरिणचर्मको धारण करना पड़ता है। संस्कारके बाद उस बालकको 'द्विज' संज्ञा होती है।

यज्ञोपवीत—यज्ञोपवीतसूत्रको उपवस्त्र भी माना गया है। यह ९ तन्तुओंसे बना होता है, जो ४ अँगुलियोंपर ९६ बार लपेटकर बनता है। यह वेदोंमें स्थित कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्डके क्रमश ८०+१६=९६ सहस्र मन्त्रोंका द्योतक है। नौ तन्तुओंके क्रमशः नौ अधिष्ठातृदेव हैं। यथा—ओङ्कार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, यम (पाठभेद सूर्य) एवं विश्वेदेवता। ९६ बार लपेटे गये सूत्रको ऊपरसे बायीं ओर तीन बार लपेटना रजोगुण, तमोगुण एवं सत्त्वगुणको दर्शाता है। पुनः त्रिगुणित कर दाहिनेसे नीचेकी ओर ले जाना क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण एवं ज्ञान, भक्ति, कर्मरूप ब्रह्मगाँठका द्योतक है तो कहीं वेदत्रयी—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदको ब्रह्मगाँठ कहा गया है। शैवसम्प्रदायमें यज्ञोपवीत (त्रिपिण्डा)-के अनुसार ज्ञान, पवित्रता और तपसे प्राप्त होनेवाली चैतन्यता ब्रह्मगाँठ है। ९६की संख्याके बारेमें कहा गया है—

तिथिर्वारं च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्॥

अर्थात् १५ तिथियाँ+७ वार+२७ नक्षत्र+२५ तत्त्व+ ४ वेद+३ गुण+३ काल+१२ महीने—इनका योग ९६ होनेके कारण यज्ञोपवीतका इनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक अन्य मान्यतानुसार हमारे शरीरकी कुल लम्बाई स्वयंकी ९६ अँगुलियोंके बराबर होती है। अतः यह यज्ञोपवीत सदा सोते-जागते, उठते-बैठते, यह बोध कराता है कि यह ९६ अँगुलियोंका शरीर मुझसे अलग है, शरीर यानी मैं नहीं, कर्ता कोई और है और 'मैं' वाला यह शरीर तो मात्र निमित्त है। यज्ञोपवीत कुछ ऐसे ही आत्मबोधके भावको दर्शाता है। विशेष परिस्थितियोंमें इसे बदलकर दूसरा पहननेका विधान है। मल-मूत्रका त्याग करते समय जनेऊको दाहिने कानपर लपेटनेसे गुप्तेन्द्रिय तथा अण्डकोशके बहुत-से दोषोंका नाश होता है एवं मूत्रोत्सर्गके समय होनेवाले वीर्यस्रावको भी रोकनेमें मदद मिलती है। यज्ञोपवीत-संस्कार होनेपर ही सभी धर्म-कर्मोंको करनेका अधिकार प्राप्त होता है। प्राण-प्रतिष्ठित यज्ञोपवीत ही सदा पहनना चाहिये। प्राणप्रतिष्ठा किये यज्ञसूत्रमें देवत्वका आधान होता है।

यज्ञोपवीतको संस्कारसम्पन्न करने तथा नूतन यज्ञोपवीत धारण करने और देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंको सन्तृप्त करनेका कर्म श्रावणी महत्त्वपूर्ण संस्कार है। यह स्वाध्यायका संस्कार है। यज्ञोपवीत धारण करनेके उपरान्त सभी यज्ञोपवीतधारकोंको श्रावणीपर्व मनाना चाहिये। जैसा कि नामसे ज्ञात होता है कि श्रावणमासकी पूर्णिमापर यह पर्व पड़नेसे इसे श्रावणी कहते हैं। वर्षभरमें चाहकर अथवा अनजानेमें किये गये अच्छे-बुरे कार्योंका सुविचार एवं प्रायश्चित्त ही श्रावणीकर्म है। वेदोंके आधारपर श्रावणीकी कार्यपद्धति—कार्यशैली भिन्न-भिन्न हो सकती है, परंतु दिशा एवं लक्ष्य एक ही होता है।

प्रारम्भमें किसी नदीके तटपर अथवा जलाशयके समीप जाकर औषधियुक्त पुष्प-पत्रोंसे जलद्वारा मार्जनकर शरीरको पवित्र करनेकी क्रिया की जाती है। तब मिट्टी, गौके गोबर आदिसे स्नान किया जाता है। इसके बाद तर्पणकर्म होता है। तर्पणमें अपने पूर्वजों, गुरु एवं गुरुपरम्परासे बँधे बन्धु-बान्धवों, परदादा एवं परदादी, पिता तथा माता, परनाना, परनानी, श्वशुर, सास—इसी प्रकार दोनों कुलोंके पितरोंके नाम और गोत्रका उच्चारण कर उन्हें जलाञ्जलि दी जाती हैं। तर्पणके बाद भगवान् सूर्यको अर्घ्य दिया जाता है।

इस प्रकार आन्तरिक एवं बाह्य शरीरशुद्धिके बाद सप्तर्षियों एवं माता अरुन्धतीकी पूजा होती है। इसके बाद माता गायत्रीका ध्यान करते हुए गायत्रीमन्त्रोंका उच्चारण कर प्रतिष्ठित यज्ञोपवीतको धारण किया जाता है एवं पुराना जनेऊ उतारकर उसे पवित्र जलमें प्रवाहित कर दिया जाता है।

शिखा—चोटीकी महिमा

(श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी, शास्त्री, विद्याभूषण, धर्माधिकारी)

सनातनधर्ममें शिखाका बड़ा महत्त्व है, शास्त्रोंद्वारा वर्णित षोडश संस्कारोंमें चूडाकर्म-संस्कार परिगणित है, इसमें नवजात शिशुके गर्भसे आये बालोंका मुण्डन कर चूडा (शिखा) रखी जाती है। महर्षि मनुका वचन है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥

इस प्रमाणसे जातकके प्रथम अथवा तृतीय वर्षसे ही शिखा रखनेका विधान है। अतः चोटी रखना चाहिये और स्नान, दान, जप, होम, संध्या, देव-पूजन आदि समस्त धार्मिक कार्योंमें शिखामें ग्रन्थि लगानी चाहिये—

स्नाने दाने जपे होमे संध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

यदि रोग या वृद्धावस्थाके कारण शिखास्थानके बाल गिर गये हों तो उस स्थानपर तिल, कुशपत्र या दूर्वा, चावल रखनेकी व्यवस्था है। यही नहीं शिखामें ग्रन्थि लगानेका शास्त्रमें मन्त्र भी है—

चिद्रूपिणि महामाये दिव्यतेजःसमन्विते।
तिष्ठ देवि शिखामध्ये तेजोवृद्धिं कुरुष्व मे॥

महर्षि कात्यायनका वचन है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत्कृतम्॥

(कात्यायनस्मृति)

इससे स्पष्ट है कि द्विजोंको यज्ञोपवीत सदा धारण करना चाहिये तथा सदा चोटीमें ग्रन्थि लगाये रहना चाहिये। बिना चोटी और जनेऊको धारण किये जो भी धर्म-कर्म किये जाते हैं, वे फलदायक नहीं होते। शिखा रखनेका अधिकार और कर्तव्य चारों वर्णों तथा स्त्रियोंको भी है। शिखाका छेदन हो जानेपर प्राजापत्य व्रत करनेसे प्रायश्चित्त होता है। हारीत कहते हैं—

प्राजापत्यं प्रकुर्यात्तां निष्कृतिर्नान्यथा भवेत्॥

यही नहीं; लघु हारीतस्मृतिमें तो शिखा कटानेपर पुनः संस्कारकी बात कही गयी है—'शिखां छिन्दन्ति ये केचिद् वैराग्याद् वैरतोऽपि वा। पुनः संस्कारमर्हन्ति०॥'

शिखा तेजको बढ़ाती है और 'दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्' के अनुसार दीर्घायु एवं बलवर्द्धक भी है। इसीलिये जपादि एवं पाठादिके पूर्व शिखाका स्पर्श करके न्यास किया जाता है। शिखा हमारी ज्ञानशक्तिको बढ़ाती है और हमें चैतन्यता प्रदान करती है।

शिखा सिरमें जिस स्थानपर रखी जाती है, योगशास्त्रानुसार वह सहस्रार-केन्द्र है। शिखाके स्थानके नीचे बुद्धिचक्र है और इसीके पास ब्रह्मरन्ध्र है। बुद्धिचक्र एवं ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमलमें अमृतरूपी ब्रह्मका अधिष्ठान है। जब हम वेदादि स्वाध्याय या परमपुरुषका ध्यान करते हैं, तब इस ध्यानसे समुत्पन्न अमृत-तत्त्व वायुवेगसे सहस्रदलकर्णिकामें प्रविष्ट होकर सिरसे बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है। इस समय यदि शिखामें ग्रन्थि लगी हो तो वह अमृत-तत्त्व सहस्रदलकर्णिकामें ही रह जाता है। अतः शिखामें ग्रन्थि लगाना आवश्यक है।

शरीर-विज्ञानके अनुसार शिखाके स्थानपर 'पिट्यूटरी' नामक एक ग्रन्थि होती है, इस ग्रन्थिसे शरीरमें एक विशेष रसका संचार होता है जो शरीरको हृष्ट-पुष्ट तथा मस्तिष्कको विकसित करता है। अतः इस ग्रन्थिकी सुरक्षाके लिये शिखास्थानपर बाल बढ़ाना आवश्यक है।

शिखास्थान शरीरके मर्मस्थलोंमेंसे एक प्रधान स्थान है। यहाँ चोट लगनेपर मृत्यु भी हो जाती है, अतः लम्बी शिखा मर्मस्थलकी रक्षा करती है। सिरमें दो भाग हैं—पहला भाग मस्तिष्क है और दूसरा भाग मस्तुलिङ्ग कहलाता है। इन दोनों भागोंका सुषुम्णा नाड़ीसे सम्बन्ध है। अतः मस्तिष्क हमारी ज्ञानशक्तिका केन्द्र होकर ज्ञानेन्द्रियोंको प्रभावित करता है और मस्तुलिङ्ग कर्मशक्तिका केन्द्र होकर कर्मेन्द्रियोंको प्रभावित करता है; परंतु दोनों केन्द्रोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। मस्तिष्क शीतप्रधान और मस्तुलिङ्ग उष्ण-प्रधान है। अतः यहाँ बालोंका गुच्छा (चोटी) रखना आवश्यक है। यहाँ रखे गये बालोंसे मस्तुलिङ्गको ऊष्मा मिलती है। योगशास्त्रानुसार यह जो सहस्रार-केन्द्र है, वही शरीरके सप्त चक्रोंका अन्तिम बिन्दु है। इस केन्द्रको हम जितना अधिक सुरक्षित, सुसंस्कारित एवं विकसित करेंगे, उतने ही संसारके रहस्यों, आत्माके रहस्यों और भूत, भविष्य एवं वर्तमानकी घटनाओंके सत्यकी जानकारीका हम अनुभव कर सकेंगे। ऋषि, महर्षि तथा योगियोंमें जो दिव्य दृष्टि रहती है, उसका रहस्य शिखामें

ही विद्यमान है। हम देखते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान्, विचारक, वैज्ञानिक, संत-महात्मा चोटीके स्थानपर बड़े-बड़े बाल रखते थे। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक 'विक्टर ई० क्रोमर' ने अपनी पुस्तक 'विरिल कल्पका' में चोटीका बहुत महत्त्व बतलाया है।

इसीलिये हम मृत्युलोकके निवासियोंको शिक्षा देनेके लिये अवतरित नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण चोटी बढ़ानेके लिये लालायित रहते थे—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥

शिखा हिन्दुत्वकी पहचान है, शिखा राष्ट्रीय एकतामें सहायक है। गुरु गोविन्दसिंहजीके दोनों पुत्र जोरावरसिंह और फतहसिंह स्वयंको दीवारमें चुनवाकर तथा वीर हकीकतराय अपना सिर कटवाकर हमें चोटी रखनेकी प्रेरणा देते रहे हैं।

आचार्य चाणक्यने शिखा खोलकर ही तो प्रतिज्ञा की थी। यदि हमारे सिरपर चोटी नहीं होगी तो हम प्रतिज्ञा कैसे कर सकेंगे?

आज तथाकथित सभ्य समाजमें सम्भ्रान्त परिवारके लोग दाढ़ी, मूँछें, नख एवं बाल बढ़ाकर गौरवका अनुभव कर रहे हैं, फिर हम चोटी बढ़ानेमें क्यों शरमायें। अतः हमको शिखा रखनी चाहिये, इससे शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन तो होता ही है, हमको आध्यात्मिक, शारीरिक-नीरोगता आदि सुखोंकी प्राप्ति भी होती है।

हिन्दू-विवाहका पवित्र स्वरूप

(पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

भारतीय हिन्दूजातिकी विवाह-प्रणाली अत्यन्त प्राचीन, पवित्र एवं विलक्षण है। अन्य जातियोंमें जो रीतियाँ प्रचलित हैं, उनका दृष्टिकोण केवल भौतिक है। अर्थ-कामपरायणता ही उनका आदर्श है। भोग ही उनका लक्ष्य है। हिन्दूजातिमें विवाह एक धार्मिक संस्कार है। धर्म धारक तत्त्व है और संस्कार शोधक एवं गुणाधायक। संस्कारके दो प्रकार हैं—मलापकर्षण तथा गुणातिशयका आधान। स्त्री-पुरुषके अन्तःकरणकी मलिनता या मलिन भावनाका निराकरण करके उनमें सतीत्व, संयम, विशुद्ध अनुराग तथा धर्मानुष्ठान आदि गुणोंका आधान करना ही विवाह-संस्कारका उद्देश्य है। यद्यपि प्रजोत्पादनोद्देश्यक कामकी भावना इसमें भी होती है, तथापि वह धर्मके विरुद्ध नहीं होती। धर्माविरुद्ध काम तो भगवान्‌की विभूति है। भारतीय राजनीतिमें यह क्रम बताया गया है कि धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम तथा कामसे सुखका उदय होता है। जो धर्म और अर्थका त्याग करके केवल कामपरायण होता है, वह अपनी ही हानि कर बैठता है।[1] महाभारतमें भगवान् व्यासने हाथ उठाकर पुकार-पुकारकर घोषणा की है कि धर्मसे ही अर्थ और कामसुखकी उपलब्धि होती है, अतः उसका ही सेवन लोग क्यों नहीं करते हैं?[2] पवित्र संततिकी सृष्टिके लिये स्त्री-पुरुषके पवित्र आचार-विचारकी रक्षा तथा धर्मानुकूल विवाह-पद्धतिका परिपालन अत्यन्त आवश्यक है। एकपत्नीव्रत तथा पतिव्रत भारतीय विवाह-पद्धतिकी ही पवित्र देन है। भारतीय नारी जिसका मनसे वरण कर लेती है, उसे किसी भी दशामें न छोड़नेका दृढ़ सङ्कल्प लेती है। वह मनसे भी पर-पुरुषका चिन्तन गर्हित मानती है। हिन्दू-जातिका विवाह एक महान् धर्मकृत्य है। उसका लक्ष्य इन्द्रिय-सुख-भोग नहीं, अपितु धार्मिक पुत्र उत्पन्न करके देवयाग एवं पितृयागकी पावन परम्पराको परिचालित रखना है। यद्यपि विवाहकी आठ श्रेणियाँ बतायी गयी हैं, तथापि उनमें ब्राह्मविवाहकी प्रथा ही सबसे श्रेष्ठ एवं उपादेय है।

विवाहकाल

हिन्दू-शास्त्रोंके अनुसार द्विज-बालक उपनयनके पश्चात् ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका अध्ययन पूर्ण करते थे। फिर गुरुदक्षिणा देकर उनकी आज्ञासे वे समावर्तनसंस्कार कराते थे और स्नातक होकर घर आते थे। ऐसा अविप्लुत (अखण्डित) ब्रह्मचर्यसम्पन्न

१-धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः। आत्मानं हन्ति तौ हित्वा युक्त्या यो न निषेवते॥ (कामन्दक)
२-धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥ (महा०स्वर्गा० ५।६२)

स्नातक विवाहके योग्य माना जाता था। इस अध्ययन और व्रतको पूर्ण करनेमें स्नातककी अवस्था लगभग बीससे पचीस वर्षतककी हो जाती थी। यही पुरुषके लिये विवाहका उचित समय माना जाता था।

योग्यता

वर और कन्या सभी दृष्टियोंसे एक-दूसरेके उपयुक्त हों, इसकी बड़ी छान-बीन की जाती थी। वर रूपवान् और सुन्दर हो, स्वस्थ हो, उत्तम कुलमें उसका जन्म हुआ हो, वह इतने धन-वैभवसे सम्पन्न हो कि पत्नीका ठीकसे भरण-पोषण कर सके। कन्याके भी रूप, कुल, गुण, स्वभाव आदिकी परीक्षा की जाती थी। पुरुषके पुरुषत्व तथा स्त्रीके स्त्रीत्वकी भी विश्वस्त रूपसे जानकारी प्राप्त की जाती थी। स्त्री लक्षण्या (उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न) हो। उसके बाह्य और आन्तरिक—दोनों लक्षणोंपर विचार किया जाता था।

कन्या अनन्यपूर्विका होनी चाहिये, उसका किसी दूसरेके लिये वाग्दान न हुआ हो, वह कान्तिमती, असपिण्डा और यवीयसी हो। मातासे लेकर पाँच पीढ़ीतक और पितासे लेकर सात पीढ़ीतकके भीतरकी कन्या सपिण्डा कही गयी है। मामा, मौसी, बूआ—इन सभीकी कन्याएँ सपिण्डा होनेके कारण अग्राह्य हैं। यवीयसीका अर्थ है—वरसे छोटी अवस्थावाली। उसका कद भी वरसे ऊँचा नहीं होना चाहिये। उसे कोई रोग नहीं हो—इसपर भी ध्यान दिया जाय। उसके एक या अनेक भाई अवश्य होने चाहिये। वर और कन्याके गोत्र एवं प्रवरमें भी भेद होना आवश्यक है। ज्योतिषशास्त्रके अनुसार जन्मकुण्डलीका भी मेल देख लेना चाहिये। उसमें सौभाग्य और संतानका योग कैसा है? इसका विचार कर लेना चाहिये। गण, योनि, ग्रह, राशि, राशीश, वश्य, वर्ण, तारा, भकूट आदिका भी दाम्पत्य-जीवनपर गहरा प्रभाव पड़ता है; अतः इसकी भी समीक्षा आवश्यक है। कन्याकी ही भाँति वर भी आवश्यक गुणोंसे युक्त तथा दोषोंसे रहित होना चाहिये। वह अपने ही वर्णका तथा वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता हो। उसके पुरुषत्वकी भी यत्नपूर्वक परीक्षा की गयी हो। वह तरुण, बुद्धिमान् एवं जनप्रिय होना चाहिये।

ब्राह्मविवाह

वरको घरपर बुलाकर उसे यथाशक्ति वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कन्याका दान करना ब्राह्मविवाह है। ब्राह्मविवाहसे उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धारक होता है।

कन्यादाता

पिता, पितामह, भाई, अपने कुलका कोई पुरुष तथा माता—ये कन्यादानके अधिकारी बताये गये हैं। इनमें पूर्व-पूर्वकी श्रेष्ठता है। पूर्वके अभावमें ही परका अधिकार है। दाताओंके अभावमें कन्या स्वयं वर चुन सकती है। कन्यादान एक बार ही होता है, अतः जिसे वाग्दान दिया गया हो, उसीको कन्या देनी चाहिये। कन्यादाता यदि रजोदर्शनके बाद भी कन्यादानमें विलम्ब करे तो कन्या तीन वर्षोंतक प्रतीक्षाके बाद स्वयं वर चुननेकी अधिकारिणी है।

पतिव्रता

जो पतिके जीते-जी या मरनेपर भी अन्य पुरुषको स्वीकार नहीं करती, वह पतिव्रता है। वह इस लोकमें यशस्विनी होती है और परलोकमें उमाकी सहचरी बनकर आनन्दभागिनी होती है। यदि आज्ञाकारिणी, कुशल, पुत्रजननी और प्रियवादिनी पत्नीका त्याग करके कोई भार्यान्तर ग्रहण करता है तो उसे अपनी सम्पत्तिका एक-तिहाई अंश उस स्त्रीको दे देना होगा। यदि वह निर्धन है तो उसे आजीवन पहली पत्नीके भरण-पोषणका भार सादर वहन करना होगा। ऐसा करनेके लिये उसे राजकीय दण्ड विवश करे।

स्त्रीधर्म तथा स्त्रीकी रक्षा

स्त्रीको सदा पतिकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। यही उसका परमधर्म है। विवाहका प्रयोजन है—वंश-परम्पराको विच्छेदसे बचाना तथा पत्नीके साथ सद्धर्मानुष्ठानद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि या स्वर्गादि उत्तम लोक प्राप्त करना। अतः स्त्रीका सेवन तथा संरक्षण पतिका परम कर्तव्य है।

ऋतुकालकी रात्रियाँ

स्त्रीके साथ सम्पर्क स्थापित करनेके लिये सोलह रातें ऋतुकालसम्बन्धिनी मानी गयी हैं। इनमें पहलेकी चार सर्वथा वर्जित हैं। शेष बारहमें जो युग्म रात्रियाँ हैं, उनमें पुत्रार्थीको सहवास करना चाहिये। पर्वोंके दिन भी वर्जनीय हैं। मासमें केवल एक रात्रिमें एक बार सम्पर्क स्थापित

करे। ऐसा करनेवाला पुरुष ब्रह्मचारीवत् ही समझा जाता है। आधानमें मघा और मूल नक्षत्र वर्जित हैं। उस समय चन्द्रबल ठीक रहना चाहिये।

स्त्रियोंका समादर, संरक्षण और आचरण

पति, भाई, पिता, बन्धु-बान्धव, सास-ससुर, देवर तथा कुटुम्बीजन भूषण, भोजन और वस्त्रद्वारा स्त्रीका सदा सम्मान करते रहें। स्त्रीको गृह-व्यवस्थामें नियुक्त होना चाहिये। घरकी हरेक वस्तुको सँभालकर व्यवस्थापूर्वक रखना चाहिये। नारी सदा कार्यदक्ष हो और प्रसन्न रहे। खर्चीली न हो। प्रतिदिन सास-ससुरके चरणोंमें प्रणाम करे और पतिकी सेवामें सदा तत्पर रहे। यदि पतिदेव बाहर गये हों तो उसे क्रीड़ा, शृङ्गारधारण, सामाजिक उत्सवोंका दर्शन, हास-परिहास और दूसरेके घर जाना आदि कार्य नहीं करने चाहिये। स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये। वह पिता, पति या पुत्रोंकी देख-रेखमें ही रहे। कोई न हो तो कुटुम्बीजनोंके संरक्षणमें रहे। पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर, मामा या पति—इनमेंसे कोई-न-कोई उसके साथ रहे। वह अकेली न घूमे अन्यथा उसकी निन्दा होती है। वह सदा पतिके प्रिय तथा हितमें लगी रहे। सदाचारिणी तथा जितेन्द्रिय हो। ऐसा करनेसे उसे इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होती है।

हिन्दू-विवाहकी विशेषता

हिन्दू-विवाहमें देवताओं तथा पितरोंका पूजन करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। मातृकाओंकी पूजा एवं वन्दना की जाती है। विवाहके लिये आये हुए वरको विष्णुरूप मानकर सर्वाधिक पूजनीय कहा गया है। अतएव पहले मधुपर्कसे उसकी पूजा की जाती है। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, विष्टर, मधुपर्क तथा गोदान—ये उसके सत्कारके अङ्ग हैं। इसके बाद कन्यादान होता है। यह महादान कहा गया है। इसमें यजमानको राजा वरुणकी उपाधि दी गयी है। वर साक्षात् नारायण है और वधू साक्षात् लक्ष्मी। भगवान्‌को लक्ष्मी देकर जिस पुण्यका अर्जन होता है, वही कन्यादाताको उपलब्ध होता है। कन्या-प्रतिग्रहके पश्चात् वर अग्निदेवकी प्रदक्षिणा करके वधूको स्वीकार करता है और कहता है—'देवि! तुम्हारी दृष्टि सौम्य हो, तुम पतिकी हितैषिणी होओ। तुम्हारा मन प्रसन्न एवं सद्भावसे पूर्ण हो। तुम कान्तिमयी तथा तेजस्विनी बनो। पुत्रोंकी जननी होओ। आस्तिक भावसे युक्त तथा सुखदायिनी होकर रहो। हमारे घरके पशुओं तकके लिये तुम कल्याणकारिणी बनी रहो।' फिर वैवाहिक अग्निकी स्थापनापूर्वक होम होता है। इस होममें वैदिक मन्त्रोंद्वारा दाम्पत्य-जीवनको सुखमय, सफल तथा धर्म एवं यशसे समुन्नत बनानेके लिये प्रार्थनाएँ की जाती हैं। नारीके साङ्गुष्ठ दक्षिण हस्तको ग्रहण करके वर गार्हस्थ्य-धर्मको निभानेकी प्रतिज्ञा तथा आजीवन साथ रहकर परस्पर सहयोगका उद्घोष करता है। लाजाहोममें वधू पतिकुल और पितृकुल—दोनोंकी मङ्गल-कामना करती है, गार्हपत्य-अग्निसे पतिके दीर्घजीवनकी प्रार्थना करती है। अश्मारोहणमें पति अपनी पत्नीके अविचल सौभाग्यकी कामना करता है। परिक्रमामें अग्निदेवतासे शुभ आशीर्वादकी याचना की जाती है। उसी समय उत्तम पतिव्रताओंके गाथागानकी भी प्रथा है '**या स्त्रीणामुत्तमं यशः।**' इससे स्त्रीको धर्म-निर्वाहकी प्रेरणा मिलती है तथा तदनुकूल मनोबल प्राप्त होता है। सप्तपदीमें पति-पत्नीके सख्य-सम्बन्धकी प्रतिष्ठा होती है। इस समय वर-वधू—दोनों एक-दूसरेके अनुकूल चलनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। ध्रुव और अरुन्धतीके दर्शनका भी विधान है। इससे आजीवन सम्बन्धकी सुदृढ़ता होती है और नारीको पातिव्रत्य-पालनकी प्रेरणा मिलती है।

ऋग्वेदके दसवें मण्डलके ८५वें सूक्तमें सूर्याके विवाहका उल्लेख मिलता है। वेद यज्ञप्रधान हैं। यज्ञमें पत्नीका संनिधान सतत अपेक्षित है। '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**' इत्यादि मन्त्र भी पति-पत्नीसम्बन्धकी अनादिसिद्धता प्रकट करते हैं। जो लोग इसे पीछेकी कल्पना कहते हैं, उनकी मान्यता सर्वथा निराधार और मिथ्या है।

ऋग्वेदमें पाँच मन्त्रोंद्वारा वधू सूर्याने अपने पति सोमदेवका स्तवन किया है। सूर्या जब पतिके घर जानेके लिये विदा होती है, उस समय उसके लिये रथ और शृङ्गार-सामग्रीका भी विस्तृत वर्णन मिलता है। कन्याकी प्रसन्नताके लिये दिये गये उपहारको 'वहतु' नाम दिया गया है। हिरण्यवर्ण सुन्दर रथचक्रका भी उल्लेख है। विदा हुई कन्या सकुशल पतिके घर पहुँचे—इसके लिये प्रार्थना की गयी है। वहाँ वह गृहस्वामिनी बनकर रहे—यह शुभेच्छा प्रक

गयी है। अपने व्यवहारसे वधू समस्त गृहजनोंका मन वशमें कर ले, उसका प्रिय मनोरथ पूर्ण हो, वह गृहस्थ-धर्मके पालनके लिये सजग रहे, दम्पती वृद्धावस्थातक एक-दूसरेके सम्मुख एवं अनुकूल रहें—इत्यादि सद्भावनाएँ व्यक्त की गयी हैं। एक मन्त्रमें कहा गया है—'वहू! तुम मैले वस्त्र त्याग दो। ब्राह्मणोंको धनका दान करो। मैले वस्त्रमें कृत्याका प्रवेश होता है। वधूके मैले और उतारे हुए वस्त्रके स्पर्शसे पति श्रीहीन हो जाता है।' घर पहुँचनेपर गुरुजनोंको बुलाया जाता था, उनसे कहा जाता था—'यह सुमङ्गला वधू घर आयी है, आशीर्वादके लिये गुरुजन यहाँ पधारें, इसे देखें और इसे सौभाग्यसूचक वर देकर अपने घरको लौटें।' श्वशुर-कुलके लोग वधूको स्वागतपूर्वक इस प्रकार आशीर्वाद देते थे—

'दम्पती! तुम इस जगत्‌में सुखसे रहो। तुममें कभी वियोग न हो। पूरी आयुका उपभोग करो। अपने घर नाती-पोतोंके साथ आनन्दित रहो। प्रजापति तुम्हें संतान प्रदान करें। अर्यमा उन संतानोंको वृद्धावस्थातक जीवित रखें। वहू! तुम दोष-दुर्गुणोंसे दूर रहकर पतिके पास रहो। हमारे घरके द्विपद (मनुष्य) और चतुष्पद (पशु) सभीके लिये कल्याणकारिणी बनो। तुम सास, ससुर, देवर, ननद—सबके हदयकी सम्राज्ञी बनो।' ये वैदिक कालके उद्गार हैं।

वेदबोधित इष्टसाधनताके कर्मको धर्म कहा गया है। हिन्दू-विवाहपद्धति पूर्णतः वैदिक होनेसे धर्ममय है। धर्मका फल है—अभ्युदय और निःश्रेयस। अतः प्रत्येक हिन्दूको विवाहके धार्मिक पक्षपर अधिक बल देना चाहिये। आजकल जो बाह्य आडम्बर बढ़ गये हैं, उनसे विरत होकर वैवाहिक पवित्र कृत्योंके पालनमें संतत संलग्न रहना चाहिये। इसीसे देश, जाति, समाज और गृह-परिवारका मङ्गल होगा।

~~~o~~~

नारीके कुसंस्कार

कलह—बात-बातमें लड़ने-झगड़नेको तैयार रहना, लड़े बिना चैन न पड़ना, घरमें तथा अड़ोस-पड़ोसमें किसीसे भी खुश न रहना—कलहका स्वरूप है। यह बहुत बड़ा दोष है। जो स्त्री कलह करके अपने दोष धोना तथा अपनी प्रधानता स्थापन करना चाहती है, उसको परिणाममें दोष और घृणा ही मिलते हैं। कलह करनेवाली स्त्रीसे सभी घृणा करते हैं। यहाँतक कि कई बार वह जिन पति-पुत्रोंके लिये दूसरोंके साथ कलह करती है, वे पति-पुत्र भी उससे अप्रसन्न होकर उसका विरोध करते हैं। कलहसे अपनी सुख-शान्तिका तो नाश होता ही है, सारे परिवारमें महाभारत मच जाता है। सास-ससुर, पति-पुत्र-कन्या और नौकर-नौकरानियाँ—सबके मनमें उद्वेग होता है। घरके कामोंमें विशृङ्खलता आ जाती है। पतिका अपने व्यापार या दफ्तरके काममें मन नहीं लगता। रोगीको उचित दवा-पथ्य नहीं मिलता। जिस कुटुम्बमें कलहकारिणी कर्कशा स्त्री होती है, उसके दुर्भाग्यका क्या ठिकाना। ताने मारना, बढ़ा-चढ़ाकर दोषारोपण करना, दूसरोंको गाली देना और स्वयं गाली खाना कलहकारिणीके स्वभावमें आ जाता है। अतएव उसके मुँहसे आवेशमें ऐसी-ऐसी गंदी बातें निकल जाती हैं कि जिन्हें सुनकर लज्जा आती है। जबानका घाव अमिट होता है। क्रोधावेशमें नारी अपने घर-परिवारके लोगोंको ऐसे शब्द कह बैठती है कि जन्मसे चला आता हुआ प्रेम सहसा नष्ट हो जाता है तथा जीवनभरके लिये परस्पर वैर बँध जाता है। और तो क्या, क्रोधमें भरकर नारी ऐसी क्रिया कर बैठती है कि वह अपने स्वामीकी नजरसे भी गिर जाती है और फिर उम्रभर क्लेश सहती है। स्त्री जहाँ एक बार पतिकी आँखसे गिरी कि फिर सभीकी आँखोंसे गिर जाती है। अतः नारीको इस जघन्य दोषसे अवश्य बचे रहना चाहिये।

निन्दा—हिंसा-द्वेष—जहाँ चार स्त्रियाँ इकट्ठी हुईं कि परचर्चा शुरू हुई। परचर्चामें यदि पराये गुणोंकी प्रशंसा हो, तब तो कोई हानि नहीं है; परंतु ऐसा होता नहीं। आजकल मानवस्वभावमें यह एक कमजोरी आ गयी है कि वह दूसरोंके गुण नहीं देखता, दोष ही देखता है। कहीं-कहीं तो दोष देखते-देखते दृष्टि ऐसी दोषमयी बन जाती है कि फिर उसे सबमें सर्वत्र सदा दोष ही दीखते हैं और
~~~

दोष दीखनेपर तो निन्दा ही होगी, स्तुति कैसे होगी। निन्दासे दोषोंका चिन्तन होता है, जिनकी निन्दा होती है, उनसे द्वेष बढ़ता है। द्वेषका परिणाम हिंसा है। अतएव परनिन्दासे बचना चाहिये। उचित तो यह है कि परचर्चा ही न हो। या तो भगवच्चर्चा हो या सत्-चर्चा हो। यदि परचर्चा हो तो वह गुणोंकी हो, दोषोंकी नहीं। इससे सभीको शान्ति मिलेगी तथा बच्चे भी इसी आदर्शमें ढलेंगे। निन्दाकी भाँति चुगली भी दोष है। उससे भी बचना चाहिये। चुगली करके नारियाँ घरमें परस्पर झगड़ा कराने और घरके बर्बाद होनेमें कारण बनती हैं, जो सर्वथा अनुचित तथा हानिकारी है।

ईर्ष्या—दूसरोंकी उन्नति देखकर, दूसरोंको धन-पुत्र आदिसे सुखी देखकर जलना ईर्ष्या या डाह है। यह बहुत बुरा दोष है और स्त्रियोंमें प्रायः होता है। इससे बहुत-से अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है। अतएव इससे भी बचना आवश्यक है।

भेद—नारियोंमें प्रायः दोष होता है कि वे घरके लोगों और नौकरोंके खान-पानमें तो भेद रखती ही हैं, अपने पति-पुत्रोंमें तथा घरके सास, ससुर, जेठ, देवर, ननद आदिमें तथा उनकी संतानमें भी खान-पान, वस्त्रादि पदार्थोंमें तथा व्यवहारमें भेद रखती हैं। बम्बईमें एक सम्भ्रान्त घरकी बहूने पतिके लिये दही छिपाकर रख लिया था और विधुर ससुरके माँगनेपर वह झूठ बोल गयी थी। परिणाम यह हुआ कि ससुरने बुढ़ौतीमें दूसरा विवाह कर लिया और आगे चलकर उस पुत्रवधू और पुत्रको ससुरके धनमेंसे कुछ भी नहीं मिला। अपने ही पेटके लड़के और लड़कीमें भी स्त्रियाँ भेद करते देखी जाती हैं। लड़केको बढ़िया भोजन-वस्त्र देती हैं, लड़कीको घटिया। लड़का अपनी बहिनको मारता है तो माँ हँसती है और कन्याको सहन करनेका उपदेश देती है; एवं कन्या कहीं भाईको जरा डाँट भी देती है तो माँ उसे मारने दौड़ती है। पर आश्चर्य यह कि यह भेद तभीतक रहता है जबतक कन्याका विवाह नहीं हो जाता। विवाह होनेके बाद माता अपनी कन्यासे विशेष प्यार करती है और पुत्रवधू तथा पुत्रसे कम। खास करके पुत्रवधूके प्रति दुर्व्यवहार और कन्याके प्रति सद्व्यवहार करती है। इस भेदसे भी घर फूटता है। नारियोंको इस व्यवहारभेदका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

विलासिता-शौकीनी—यह दोष आजकल बहुत ज्यादा बढ़ रहा है। भ्रष्ट तेल, साबुन, पामेड, पाउडर, स्नो, एसेंस, बढ़िया-से-बढ़िया विदेशी ढंगके कपड़े-गहने आदिकी इतनी भरमार हो गयी है कि उसके मारे गृहस्थीका अन्य खर्च चलना कठिन हो गया है। पत्नियोंकी विलासिताकी माँगने पतियोंको तंग कर दिया है। इसीको लेकर रोज घरोंमें आपसमें झगड़े हो जाते हैं। यह भारतीय नारियोंके लिये कलङ्क है। शृङ्गार होता है पतिके लिये, न कि दुनियाको दिखानेके लिये। आजके फैशन तथा विलासिताने स्त्रियोंको बहुत नीचे गिरा दिया है। वेष-भूषामें घण्टों खर्च कर देना, खर्चको अत्यधिक बढ़ा लेना, बुरी आदत डाल लेना—जो आगे चलकर दोहरा दुःख देती है और घरके काम-काजमें हाथ न लगाना—ये बहुत बड़े दोष हैं, जो शौकीनीके कारण उत्पन्न होते हैं। स्वास्थ्य तथा सफाईके लिये आवश्यक उपकरण रखनेमें आपत्ति नहीं और न साफ-सुथरे रहनेमें दोष है। बल्कि साफ-सुथरा रहना तो आवश्यक है। दोष तो शौकीनीकी भावनामें है, जो त्याज्य है।

फिजूलखर्च—शौकीनीकी भावनाके साथ ही दूसरी स्त्रियोंकी देखादेखी तथा मूर्खतासे एवं संग्रह करनेकी आदतसे भी यह दोष बढ़ जाता है। वही गृहस्थ सुखी रहता है, जो आमदनीसे कम खर्चमें लगाता है। चतुर और बुद्धिमती स्त्रियाँ एक पैसा भी व्यर्थ खर्च नहीं करतीं। लोगोंकी देखादेखी अनावश्यक सामान नहीं खरीदतीं, चौके तथा वस्त्राभूषणोंमें सादगीसे काम लेती हैं। बच्चोंको नहला-धुलाकर साफ-सादे कपड़े पहनाकर और उनके मनमें उस सादगी तथा सफाईमें ही गौरवबुद्धि उपजाकर सुन्दर-सुडौल रखती हैं, जिससे न तो उनकी आदत बिगड़ती है और न खर्च ही अधिक होता है। खर्चकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अपव्यय करनेपर महीनेमें हजारों रुपये भी काफी नहीं होते और सोच-समझकर खर्च करनेसे इस महँगीमें भी सहज ही अपनी आमदनीके अंदर ही काम चल जाता है। स्त्रियोंको हिसाब रखना सीखना चाहिये और आमदनीमेंसे कुछ अवश्य बचाकर रखेंगी—ऐसा निश्चय करके ही खर्च करना चाहिये—*'तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर।'*

असंस्कृत नारी

दिन चढ़ आया किंतु सोती पड़ी आलसमें, कोई सदा ईर्षा-सी विषादमें लखाती है।
कोई कलहा है, रूठती है, त्यों कुबैया नारि, कोई मार सासको ही गेहसे भगाती है॥
कोई कुलटा है, पति-द्रोह आह कोई करे, निपट निलज्ज कोई नंगी ही नहाती है।
कोई मुँहजोरी, कोई चटक चटोरी बड़ी, धन खरचीली धन-धर्म भी गँवाती है॥

गर्व—अभिमान—कोई-कोई स्त्री अपने पति-पुत्रके धन या पद-गौरवका अथवा अपने गहने-कपड़ोंका गर्व—अभिमान वाणी और व्यवहारमें लाकर इतनी रूखी बन जाती है कि घरके लोगों तकको उससे बात करते डर लगता है और अपमान-बोध होता है। ऐसी स्त्री बिना मतलब सबको अपना द्वेषी बना लेती है। अतएव किसी भी वस्तुका गर्व कभी नहीं करना चाहिये।

दिखावा—नारियोंके स्वभावमें प्राय: ऐसा देखा जाता है कि वे यही समझती हैं कि किसी भी चीजको दिखाकर करना चाहिये। कन्या या ननदको कुछ देंगी तो उसको पहले सजाकर लोगोंको दिखलायेंगी, तब देंगी। कहीं-कहीं तो दिखाया जाता है ज्यादा और दिया जाता है कम, जिससे कन्या आदिको दु:ख भी होता है। इसी प्रकार किसी परिवारके या बाहरके अभावग्रस्त पुरुष या स्त्रीकी कभी कोई सेवा की जाती है तो ऐसा सोचा जाता है कि हमारी सेवाका पता इसको जरूर लग जाना चाहिये। सेवा करें और किसीको कुछ पता भी न चले तो मानो सेवा ही नहीं हुई। सेवा करके जताना, अहसान करना और बदलेमें कृतज्ञता तथा खुशामद प्राप्त करना ही मानो सेवाकी सफलताका निशान समझा जाता है। यह बड़ा दोष है। देना वही सात्त्विक है, जिसको कोई जाने ही नहीं। लेनेवाला भी न जाने तो और भी श्रेष्ठ।

विषाद—कई स्त्रियोंमें यह देखा गया है कि वे दिन-रात विषादमें डूबी रहती हैं। उनके चेहरेपर कभी हँसी नहीं। दु:ख-कष्टमें तो ऐसा होना स्वाभाविक है, पर सब तरहके सुख-स्वाच्छन्द्य होनेपर भी स्वभावसे ही हमेशा विषादभरी रहना और किसी बातके पूछते ही झुँझला उठना तो बड़ा भारी दोष है। इसको छोड़कर सर्वदा प्रसन्न रहना चाहिये। प्रसन्नता सात्त्विक भाव है। प्रसन्न मनुष्य सबको प्रसन्नताका दान करता है। विषादी और क्रोधी तो विषाद और क्रोध ही बाँटते हैं।

हँसी-मजाक—कई नारियोंमें हँसी-मजाकका दोष होता है। कई तो देवर या ननदोई आदिके साथ गंदी दिल्लगी भी कर बैठती हैं। परिवारके तथा घरमें आने-जानेवाले पुरुषों तथा स्त्रियोंके साथ भी दिल्लगी करती रहती हैं। हँसमुख रहना गुण है। निर्दोष और सीमित विनोद भी बुरा नहीं; परंतु जहाँ हँसी-मजाककी आदत हो जाती है और उसमें ताना, व्यङ्ग्य, कटुता और अश्लीलता आ जाती है, वहाँ उससे बड़ी हानि होती है। स्त्रीको सदा ही मर्यादामें बोलनेवाली और हँसमुखी होनेपर भी गम्भीर होना चाहिये।

वाचालता—बहुत बोलना भी दोष है। इसमें समय नष्ट होता है; व्यर्थचर्चामें असत्य, पर-निन्दा, चुगली आदि भी हो जाते हैं। जबानकी शक्ति नष्ट होती है और घरके कामोंमें नुकसान होता है। गप लड़ानेवाली स्त्रियोंके घर उजड़ा करते हैं। अतएव नारीको समझ-सोचकर सदा हितभरी, मीठी वाणी बोलनी चाहिये और वह भी बहुत ही कम। ज्यादा बोलनेवालीको तो भजन करनेकी फुरसत ही नहीं मिलती, जो बहुत बड़ी हानि है।

स्वास्थ्यकी लापरवाही तथा कुपथ्य—स्त्रियोंमें यह दोष प्राय: देखा जाता है कि वे स्वास्थ्यकी ओरसे लापरवाह रहती हैं। रोगको दबाती तथा छिपाती हैं और कुपथ्य भी करती रहती हैं। जिन बहुओंको ससुरालमें सासके डरसे रोग छिपाना पड़ता है और रोगकी यन्त्रणा भोगते हुए भी जबरदस्ती बलवान् मजदूरकी तरह दिनभर खटना पड़ता है, उनकी बात दूसरी है। पर जो प्रमादवश या दवा लेने और पथ्यसे रहनेके डरसे रोगको छिपाती हैं, वे तो अपने तथा घरके साथ भी अन्याय करती हैं। साथ ही स्त्रियाँ प्राय: स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंको भी नहीं जानतीं और कुछ जानती हैं तो उनकी परवा नहीं करतीं। ऐसा नहीं करना चाहिये।

मोह—कई स्त्रियाँ मोहवश बच्चोंको अपवित्र वस्तुएँ खिलाती, अपवित्र रखती, जानबूझकर कुपथ्य सेवन कराती, उन्हें झूठ बोलने, नौकरोंके साथ बुरा बर्ताव करने तथा गाली देने और मारनेकी बुरी आदत सिखाती, उनकी चोरी-चमारीकी क्रियाको सहकर उनका वैसा स्वभाव बनाती और पढ़ाने-लिखानेमें प्रमाद करती हैं। साथ ही उन्हें कुछ भी काम न करने देकर और दिन-रात खेल-तमाशों तथा सिनेमा वगैरहमें ले जाकर फिजूलखर्च, आलसी, सदाचाररहित, गंदा, रोगी और बुरे स्वभावका बनाकर उनका भविष्य बिगाड़ती हैं एवं परिणाममें उनको दु:खी बनाकर आप भी दु:खी होती हैं। इस दोषसे सन्ततिका शील और सदाचार

नष्ट हो जाता है और बच्चे कुलदीपकसे कुलनाशक बन जाते हैं। माताओंको व्यर्थके मोहसे बचकर बच्चोंको—पुत्र तथा कन्या—दोनोंको संयमी, धार्मिक, सदाचारी और सद्‌गुणसम्पन्न बनाना चाहिये, जिससे वे सुखी हों तथा अपने आचरणोंसे कुलका सिर ऊँचा कर सकें।

कुसङ्ग—स्त्रियोंको भूलकर भी परनिन्दा करनेवाली, खुशामद करनेवाली, झाड़-फूँक और जादू-टोना बतलानेवाली, परपुरुषोंकी प्रशंसा करनेवाली, विलासिनी, अधिक खर्च करनेवाली, इधर-उधर भटकनेवाली, कलहकारिणी और कुलटा स्त्रियोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये। इनका सङ्ग कुसङ्ग है तथा सब प्रकारसे पतनका कारण है।

आलस्य—आलस्य, प्रमाद और निद्रा तमोगुणके स्वरूप हैं। तमोगुणसे चित्तमें मलिनता आती है और जीवनमें प्रगतिका मार्ग रुक जाता है। अतएव स्त्रियोंको सदा सत्कर्मोंमें लगे रहना चाहिये और आलस्य-प्रमादादिसे बचना चाहिये।

व्यभिचार—स्त्रियोंके लिये यह सबसे बड़ा दोष है। शरीरसे तो क्या, वाणी और मनसे भी पर-पुरुषका सेवन करना महापाप है। सतीत्वका नाशक है। लोकमें निन्दा करानेवाला और परलोकको बिगाड़नेवाला है। जो नारी ऐसा करती है, उसका मुँह देखना पाप है। उसे लाखों-करोड़ों बरसोंतक नरकोंकी भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ती है और तदनन्तर जहाँ जन्म होता है, वहाँ बार-बार भाँति-भाँतिके भीषण दुःखों-कष्टोंका भार वहन करके जीवनभर रोना पड़ता है।

छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥

यह सब नारियोंका दूषण और कुसंस्कार है, जिनसे पूरी तरह बचना चाहिये तथा उच्च कोटिके अच्छे संस्कारोंको स्वीकार करना चाहिये, जिससे जीवन उन्नतिशील बने तथा परम लक्ष्यकी प्राप्ति हो सके।

~~~o~~~

नारीके उत्तम संस्कार

सौन्दर्य—(१) सुन्दर वर्ण, सुडौल अङ्ग-प्रत्यङ्ग, चाल, दृष्टि, भाव-भङ्गी तथा तोड़-मरोड़ आदिमें सुहावनापन और वाणीमें माधुर्य—यह बाहरी सौन्दर्य है।

(२) क्षमा, प्रेम, उदारता, निरभिमानता, विनय, सहिष्णुता, समता, शान्ति, धीरता, वीरता, परदुःखकातरता, सत्य, सेवा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, शील, प्रभुभक्ति आदि सद्‌गुण तथा सद्भाव—भीतरी सौन्दर्य है।

बाहरी तथा भीतरी—दोनों ही सौन्दर्य आवश्यक हैं, परंतु बाहरीकी अपेक्षा भीतरीका महत्त्व अधिक है। रूपवती नारियोंको रूपका गर्व न करके अपने अन्दर सद्‌गुणों तथा सद्भावोंके सौन्दर्यको बढ़ाना चाहिये।

लज्जा—धर्मविरुद्ध, शीलके विरुद्ध और समाजकी पवित्र प्रथाओंके विरुद्ध कुछ भी करनेमें महान् सङ्कोच और पुरुष-समाजके संसर्गसे बचनेके लिये होनेवाले दृष्टि-सङ्कोच, अङ्ग-सङ्कोच और वाणी-सङ्कोचका नाम लज्जा है। लज्जा नारीका भूषण है और यह शीलभरी आँखोंमें रहता है। बीमार एवं बड़ोंकी सेवामें तथा कर्तव्यपालनमें लज्जाके नामपर तत्पर न होना लज्जाका दुरुपयोग एवं मूर्खता है। साथ ही अबाध पुरुष-संसर्गमें निःसङ्कोच जाना-आना लज्जाका निरङ्कुश नाश है, जो नारीके शीलके लिये अत्यन्त घातक है।

विनय—वाणीमें, व्यवहारमें तथा शरीर-सञ्चालनमें गर्व, उग्रता, कठोरता तथा टेढ़ेपनका त्याग करके नम्र, सरल, स्नेहपूर्ण, आदर-भावयुक्त और मधुर होना विनय है। विनयका अर्थ न तो चापलूसी है न कायरता। दुष्टोंके दमनमें कठोरता और उग्रता आवश्यक है। पर घर-परिवार तथा संसारके अन्य सभी व्यवहारोंमें नारीको विनयरूप भूषणको सदैव धारण किये रहना चाहिये।

संयम-तप—शरीर, मन और वाणीको विषयोंकी ओरसे यथासाध्य हटाये रखना तथा उनको कभी भी अवैध तथा अकल्याणकारी कार्यमें न लगने देनेका नाम संयम है। इसीको तप भी कह सकते हैं। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—(१) देव-द्विज, गुरुजन और ज्ञानीजनोंकी पूजा, शरीरकी शुद्धि, सरलता (शरीरकी सौम्यता), ब्रह्मचर्य (पर-पुरुष अथवा पर-स्त्रीका सर्वथा त्याग एवं पति-पत्नीमें शास्त्रोक्त सीमित संसर्ग) तथा अहिंसा (किसीको
~~~

भी चोट न पहुँचाना) यह शारीरिक तप है; (२) किसीको घबराहट न पैदा करे—ऐसी सच्ची, प्रिय और हितकारी वाणी बोलना तथा भगवन्नामका उच्चारण करना एवं परमार्थ-ग्रन्थोंको पढ़ना—यह वाणीका तप है और (३) मनकी प्रसन्नता, मनकी सौम्यता, मनका मौन (अन्य चिन्तनसे रहित केवल भगवच्चिन्तनपरायण होना), मनका वशमें रहना और मनका पवित्र भावोंसे युक्त रहना—यह मनका तप है। शरीर, वचन और मनसे होनेवाली तमाम कुप्रवृत्तियोंसे उनको हटाकर इन सत्प्रवृत्तियोंमें लगाये रखना ही संयम है।

संतोष—परश्रीकातरता, असहिष्णुता, लोभ और तृष्णाके वशमें न होकर भगवान्‌की दी हुई अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट रहना 'संतोष' है। संतोषसे चित्तकी जलन मिटती है, द्वेष-विषाद और क्रोधसे रक्षा होती है एवं परम सुखकी प्राप्ति होती है।

क्षमा—अपना अहित करनेवालेके व्यवहारको सह लेना अक्रोध है और उसको अपने तथा दूसरे किसीके द्वारा भी बदलेमें दुःख न मिले एवं उसकी बुद्धि सुधर जाय, इस प्रकारके सद्भावका नाम 'क्षमा' है। अक्रोध अक्रिय है, क्षमा सक्रिय। क्षमा कायरोंका नहीं, वरं वीरोंका धर्म है।

धीरता-वीरता—दुःख, विपत्ति, कष्ट और भयके समय भगवान्‌के मङ्गलमय विधानपर भरोसा रखकर तथा 'विपत्ति सदा नहीं रहती। बादल आते हैं, आकाश काला हो जाता है; फिर बादल हटते हैं और सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है।' इस प्रकार समझकर अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मैदानमें डटे रहना 'धीरता' है और इसीके साथ-साथ विरोधी शक्तियोंको निर्मूल करनेका साहस तथा बुद्धिमानीसे युक्त प्रयत्न करना 'वीरता' है।

गम्भीरता—समझकर, मधुर, थोड़े शब्दोंमें बोलना, व्यर्थ न बोलना, हँसी-मजाक न करना, विवाद न करना, चपलता-चञ्चलता न करना, प्रत्येक कार्यको खूब सोच-विचारकर दृढ़ निश्चयके साथ करना, शान्त और शिष्ट व्यवहार करना, झगड़े-टंटेमें न पड़ना, जरा-सी विपत्ति या घरमें कोई काम आ पड़नेपर विचलित न हो जाना गम्भीरता है। गम्भीर स्त्रीका तेज सब मानते हैं तथा उसका आदर करते हैं और वह भी बहुत-सी व्यर्थकी कठिनाइयोंसे बच जाती है।

समता—सबमें एक ही आत्मा है अथवा प्राणिमात्र सब एक ही प्रभुकी अभिव्यक्ति या संतान हैं, यह समझकर मनमें सबके प्रति समान भाव रखना, सबके दुःखको अपना दुःख समझना, सबके हितमें अपना हित मानना—समता है। व्यवहारमें तो प्रसङ्गानुसार कहीं-कहीं विषमता करनी पड़ती है, जो अनिवार्य है; पर मनमें आत्मदृष्टि अथवा परमात्मदृष्टिसे सबमें समता रखनी चाहिये। विषमता इस रूपमें हो तो वह गुण है—जैसे अपने तथा अपनी संतानके हिस्सेमें कम परिमाणमें, कम संख्यामें और अपेक्षाकृत घटिया चीज ली जाय; और अपने देवर-ननद एवं जेठानी-देवरानी तथा उनकी संतानके हिस्सेमें अधिक परिमाण, अधिक संख्यामें और अपेक्षाकृत बढ़िया चीजें प्रसन्नतापूर्वक दी जायँ।

सहिष्णुता—दुःख, कष्ट और प्रतिकूलताके सहन करनेका नाम सहिष्णुता है। यह नारी-जातिका स्वाभाविक गुण है। नारी पुरुषकी अपेक्षा बहुत अधिक सहती है और सहनेकी शक्ति रखती है। साधारणतः सहिष्णुता गुणकी तुलना वृक्षोंके साथ की जाती है। 'तरुणेव सहिष्णुना।' लोग पत्थर मारते हैं तो वृक्ष सुन्दर, सुपक्व, मधुर फल देता है; लोग काटकर जलाते हैं तो वह स्वयं जलकर उनका यज्ञकार्य सम्पादन कराता है, भोजन पकाता है और शीतसे ठिठुरते हुए शरीरमें गर्मी पहुँचाकर जीवनदान देता है। वृक्ष फलवान् बनता भी है अनेक आँधी-पानी, बिजली आदि बाधा-विपत्तियोंको झेलकर। यदि किसी नारीको प्रतिकूल भावोंके पति और सास प्राप्त हुए हों तो उसे सहिष्णु बनकर प्रेमके द्वारा उनको सन्मार्गपर लाना चाहिये। सहना, कलह न करके प्रेम करना, प्रतिवाद न करके सेवा करना—ऐसा अमोघ मन्त्र है कि इससे शीघ्र ही अशान्तिसे भरा उजड़ता हुआ घर पुनः बस जाता है और उसमें शान्ति तथा सुखकी लहरें उछलने लगती हैं।

सुव्यवस्था तथा सफाई—घरकी वस्तुएँ, आवश्यक सामग्री तथा कार्योंको सुशृङ्खलाबद्ध रखनेका नाम सुव्यवस्था है। नारी घरकी लक्ष्मी है, घरके सौन्दर्य एवं ऐश्वर्यकी

संस्कृत नारी

स्वच्छ रखती है घर-द्वारको बुहार सदा, धान कूट लेती औ चाकी भी चलाती है।
सूत कातती है और माखन बिलोती घर, भोजन विशुद्ध निज हाथसे बनाती है॥
करती सिलाई है, लड़ाती लाड़ लाड़लेको, पाठ करती है, निज पतिको जिमाती है।
आय और व्ययका हिसाब लिखती है, हरि-गाथा सुनती है पुण्यजीवन बिताती है॥

है। सुव्यवस्थाके बिना घरमें लक्ष्मीका स्वरूप बिगड़ जाता है। इधर-उधर बेतरतीब बिखरी चीजें, कूड़े-कर्कटसे भरा आँगन, मकड़ीके जालोंसे छायी दीवारें, कपड़े तथा बरतन आदिका मैलापन, खोजनेपर घंटोंतक जरूरी चीजोंका नहीं मिलना, आवश्यकता होनेपर इधर-उधर दौड़-धूप करना, झुँझलाना और दूसरोंपर दोषारोपण करना, हिसाब-किताबका पता नहीं—ये सब अव्यवस्थाके रूप हैं। इनसे घर बरबाद होता है और तकलीफ तो कभी मिटती ही नहीं। थोड़ी-सी सावधानी रखके नियत स्थानपर प्रत्येक वस्तु सम्हालकर रखी जाय, घर-दीवारोंको झाड़-बुहार लिया जाय और कपड़े-बरतन आदिको धो-माँजकर साफ रखा जाय, तो सहज ही सुव्यवस्था हो सकती है। आवश्यकता होते ही चीज मिल जाती है। न समय व्यर्थ जाता है, न झुँझलाहट और न किसीपर दोष लगानेकी नौबत आती है। गंदगी तथा कूड़ा-कर्कट न रहनेसे रोग तथा रोगके कीटाणु भी नहीं पैदा होते और व्यर्थकी सारी तकलीफें भी मिट जाती हैं।

श्रमशीलता—नारी घरमें रहती है, उसके स्वास्थ्यके लिये घरके काम ही सुन्दर व्यायाम हैं। जो नारी शारीरिक परिश्रम करती है, आलस्य तो उसके पास फटकता ही नहीं, रोग तथा बुढ़ापा भी उससे दूर-दूर ही रहते हैं। खाया हुआ भोजन हजम होता है। रक्तमें शक्ति तथा शुद्धि होती है। मन प्रफुल्लित रहता है। आजकल कुछ नारियाँ कहती हैं कि 'घरमें पैसा है, नौकर-नौकरानियाँ काम कर सकती हैं; फिर हम मेहनत क्यों करें?' पर यह बड़ी भूल है। नौकर-नौकरानियाँ काम कर देंगी, पर आपका खाया हुआ वे कैसे पचा देंगी? आपको स्वस्थ तथा शुद्ध रक्त वे कहाँसे देंगी? फिर बिना सम्हालके, नौकरोंसे कराये हुए काम भी तो ठीक नहीं होते। चोरी शुरू होती है। खर्च बढ़ता है। और सबसे बड़ी हानि यह होती है—घरमें आलस्य और रोगोंकी उत्पत्ति होती है। नौकर रहनेपर भी घरकी सफाई, आटा पीसना, चर्खा कातना, दही बिलोना, रसोई बनाना आदि काम तो हाथसे करनेमें ही सब तरहका लाभ है। भोजनमें भावके अनुसार अमृत भी हो सकता है और विष भी। माता तथा पत्नीकी बनायी रसोईमें अमृत होगा। खर्च भी बचेगा और विशुद्धि भी रहेगी। चक्की चलानेवाली स्त्रियोंको रजसम्बन्धी रोग बहुत कम होते हैं। खेतोंमें काम करनेवाली नारियाँ बहुत कम बीमार होती हैं। अतएव नारीको शारीरिक परिश्रम अवश्य करना चाहिये।

निरभिमानता—रूप, धन, पुत्र, विद्या, बुद्धि तथा अधिकार आदिका गर्व न करना और सबके साथ नम्रता तथा सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना निरभिमानता है। स्त्रियोंमें गर्व बहुत जल्दी आता है और वे उसके आवेशमें गाँव और पड़ोसियोंका तथा नौकर-चाकरोंका ही नहीं, आत्मीय स्वजनोंका—यहाँतक कि सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि गुरुजनोंका तथा कन्या-जामाता, पुत्र-पुत्रवधू आदिका भी तिरस्कार कर बैठती हैं, जिसके परिणामस्वरूप जीवनभरके क्लेश पैदा हो जाते हैं। इसलिये सदा-सर्वदा सावधानीसे निरभिमानताका अत्यन्त विनम्र बर्ताव करना चाहिये। नम्र व्यवहारसे वैरी भी मित्र हो जाते हैं और कठोर व्यवहारसे मित्र भी शत्रु बन जाते हैं।

मितव्ययिता—सीमित खर्च करनेको 'मितव्ययिता' कहते हैं। मितव्ययिता केवल रुपये-पैसोंकी ही नहीं, घरकी वस्तुमात्रको ही समझदारीके साथ यथासम्भव कम खर्च करना चाहिये। कम आमदनीवाले गृहस्थको सम्भव हो तो आमदनीका तीसरा या चौथा हिस्सा आकस्मिक विपदापद्के समय खर्चके तथा बच्चोंके ब्याह-शादीके लिये जमा रखना चाहिये। जिनके पास बहुत पैसा तथा बहुत आमदनी है, उनको भी व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये। इससे आदत बिगड़ती है, जो कभी पैसा न रहा तो बहुत दु:खदायी होती है एवं व्यर्थ अधिक व्यय हो जानेके कारण धर्म तथा लोकसेवाके आवश्यक कार्यमें खरचनेकी प्रवृत्ति घट जाती है, जो मनुष्यकी एक उच्च वृत्तिका नाश करनेवाली होनेके कारण सबसे बड़ी हानि है। स्त्रियोंमें फिजूलखर्चीका दोष प्राय: अधिक होता है। थोड़ी आमदनीवाले पति-पुत्र तो बेचारे तंग आ जाते हैं। घरमें सदा अशान्ति रहती है। नारियाँ यदि चाहें तो सहज ही मनका संयम करके कम खर्चकी आदत डालकर घरमें पति-पुत्रोंको सुख-शान्ति, आदतका सुधार तथा धर्म-पुण्यके लिये सुअवसर प्रदान कर सकती हैं।

उदारता—जिस प्रकार फिजूलखर्ची दोष

प्रकार पैसा होनेपर भी आवश्यक धार्मिक तथा सामाजिक कार्योंमें कंजूसी करना भी दोष है। बच्चोंकी बीमारीमें, उनके लिये दूध-फल आदिमें, श्राद्धादि धार्मिक कृत्योंमें, भगवान्‌की पूजा तथा पर्वोत्सवोंमें, गो-ब्राह्मण तथा देवसेवामें, बेटी-बहिनको देनेमें, बच्चोंकी शिक्षा-दीक्षामें, सास-ससुरकी सेवामें, परिवारके अन्य लोगोंकी सेवामें, विधवा तथा आश्रितोंके सत्कारपूर्ण भरण-पोषणमें, गरीबोंकी सेवामें तथा अपने स्वास्थ्यके लिये भोजन-औषध आदिमें जो नारी कंजूसी करती है और पैसा बटोरकर रखना चाहती है, उसका अपना नैतिक पतन तो होता ही है, उसके आदर्शसे उसके बाल-बच्चे भी बुरी शिक्षा ग्रहण करके पतित हो जाते हैं। अतएव आवश्यक कामोंमें कंजूसी न करके उदारता बरते। किसीकी सहायता-सेवा करके न अभिमान करे, न अहसान करे और न उसका बदला चाहे।'

परदुःख-कातरता—दूसरेको दुःखमें पड़े देखकर बिना किसी भेद-भाव या पक्षपातके उसका दुःख दूर करनेके लिये मनमें जो तीव्र भावना उत्पन्न होती है, उसका नाम 'परदुःख-कातरता' है। इसीको दया भी कहते हैं। नारीमें इस गुणका विशेष विकास हो और दुःखी प्राणियोंका दुःखहरण करनेके लिये वह माँ अन्नपूर्णा बन जाय, यह बहुत ही आवश्यक है।

सेवा-शुश्रूषा—१-पतिकी सेवा, २-सास-ससुरकी सेवा, ३-बच्चोंकी सेवा, ४-अतिथिसेवा, ५-देवसेवा, ६-देशसेवा और ७-रोगियोंकी तथा पीड़ितोंकी सेवा—ये सभी सेवाके अङ्ग हैं। नारीमें सेवा-भाव स्वाभाविक होता है; पर उसे सेवा करनी चाहिये केवल पतिसेवाके लिये या परमपति परमात्मा प्रभुकी सेवाके लिये ही। सेवामें उसका अन्य उद्देश्य नहीं होना चाहिये। सेवा वशीकरण मन्त्र है। सेवासे सभीको वशमें किया जा सकता है। असलमें जीवन सेवामय ही होना चाहिये। जैसे धनमें ईर्ष्या होती है, वैसे ही शुद्ध सेवामें भी सबसे आगे बढ़नेकी ईर्ष्या तथा सेवाका अधिक-से-अधिक सुअवसर प्राप्त करनेकी तीव्र अभिलाषा एवं भगवान्‌से प्रार्थना होनी चाहिये। सेवा शुद्ध सेवाके भावसे ही होनी चाहिये। न तो सेवामें किसीका उपकार करनेका अभिमान होना चाहिये, न सेवाका विज्ञापन करनेकी कल्पना और न सेवाके बदलेमें कुछ पानेकी आकाङ्क्षा ही। सेवा करनेपर जो गर्वहीन सहज आत्मसंतोष होता है, वही परम धन है। सेवाके संक्षिप्त प्रकार ये हैं—

(१) तन-मन—सर्वस्व अर्पण करके सब प्रकारसे पतिको सुख पहुँचाने एवं उन्हें प्रसन्न करनेके लिये तथा उनका सदा-सर्वदा सर्वत्र कल्याण हो, इस कामनासे उनकी हर तरहकी सेवा करे।

(२) सास-ससुरकी सेवा करनेका सुअवसर मिला है, इसमें अपना सौभाग्य मानकर और वे सेवा स्वीकार करते हैं, इसलिये उनका उपकार मानकर मधुर, आदरयुक्त वाणीसे उनकी रुचि तथा पसन्दके अनुसार भोजन, वस्त्र, आज्ञापालन, उनके इच्छानुसार धर्मकार्य-सम्पादन या दान आदिके द्वारा सासके, और वृद्ध हों तो ससुरके भी चरण दबाकर रोगादिकी अवस्थामें उनकी हर तरहकी सेवा करके, उनके मतानुसार उनकी कन्याओंको, जो ननद लगती हैं, सम्मानपूर्वक देकर, बल्कि वे कम कहें और अपनी हैसियत अधिक देनेकी हो तो प्रार्थना करके उनसे आज्ञा प्राप्त करके उन्हें अधिक देना चाहिये। इसमें वे प्रसन्न ही होंगे। उन्हें रामायण, भागवत, गीता, भगवन्नाम कीर्तनादि सुनाकर उनको सुख पहुँचाये।

(३) बच्चोंका स्वास्थ्य सुधरे, वे तन-मनसे विकसित हों, उनकी बुद्धिका विकास हो, उनके आचरणोंमें स्फूर्तियुक्त सात्त्विक गुणोंका प्रकाश हो; वे कुल, जाति, देश तथा धर्मका गौरव बढ़ानेवाले, सुशिक्षित तथा सदाचारी हों एवं त्यागकी पवित्र भावनासे युक्त ईश्वरभक्त हों—इस प्रकारसे उनका लालन-पालन, शिक्षण-संवर्धन आदि करे।

(४) अतिथिको भगवान् समझकर उनकी यथाशक्ति तथा यथाविधि निर्दोष तथा निष्काम सेवा करे।

(५) घरमें इष्टदेवकी धातु अथवा पाषाणकी या चित्रमयी मूर्ति रखकर श्रद्धा तथा विधिपूर्वक भक्तिके साथ उसकी नित्य विविध उपचारोंसे पूजा करे।

(६) देशकी सेवाके लिये उत्तम-से-उत्तम संतान निर्माण करे और उसे अपने-अपने कर्तव्यके द्वारा देशसेवाके रूपमें भगवान्‌की सेवाका सक्रिय पाठ सिखाये। देशकी नारियोंमें अपने आदर्श सदाचार, पातिव्रत्य तथा धर्मभावनाके

द्वारा सत्-शिक्षा और सद्भावनाका विस्तार करे।

(७) घरमें तथा अवसर आनेपर आवश्यकता और अपनी सुविधाके अनुसार रोगियों और पीड़ितोंकी तन-मन-वचन तथा धनसे निर्दोष और निष्काम सेवा आदर तथा सत्कारपूर्वक करे। कभी सेवाका अभिमान न करे, न एहसान जनाये।
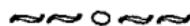
संयुक्त परिवार—जहाँतक हो, सहनशीलता तथा उदारताके साथ विनम्र व्यवहार करके घरको संयुक्त रखे। भाइयोंको तथा परिवारको पृथक्-पृथक् न होने दे। पता नहीं, किसके भाग्यसे सुख तथा ऐश्वर्य मिलता है। कभी ऐसा न समझे कि मेरा पति या पुत्र कमाता है और दूसरे सब मुफ्तमें खाते हैं। सबका हिस्सा है और सब अपने-अपने भाग्यका ही खाते हैं। तुम जो इसमें निमित्त बन रही हो, यह तुम्हारा सौभाग्य है। नारियोंपर यह एक कलङ्क है कि उनके आते ही सहोदर भाइयोंमें विद्वेष हो जाता है, घरमें फूट पड़ जाती है और फलतः घर बर्बाद हो जाता है। इस कलङ्कको धोना चाहिये और पति-पुत्रोंको समझाकर यथासाध्य संयुक्त परिवार तथा संयुक्त भोजन रहे, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। सेवाभाव तथा प्रेम जितना ही अधिक होगा, उतना ही त्याग अधिक होगा। प्रेमकी भित्ति त्याग है। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ पृथक् होनेका प्रश्न ही नहीं उठेगा।

भक्ति—जीवनके प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्‌की सेवा करना, मनके प्रत्येक सङ्कल्पके द्वारा प्रभुका चिन्तन, प्रभुके प्रति आत्मसमर्पण, प्रभुको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा—ये भक्तिके मुख्य रूप हैं। इसके विभिन्न विधान हैं। उनको जानकर यथासाध्य प्रतिदिन नियमितरूपसे भगवान्‌के नामका जप, चिन्तन, उनकी लीलाकथाओंका वाचन-श्रवण-मनन, उनके दिव्य स्वरूपका ध्यान, उनकी आज्ञाओंका पालन एवं उनकी वाणी श्रीमद्भगवद्गीता तथा उनके पवित्र चरित्र श्रीरामायण तथा भागवतका अध्ययन करना चाहिये।

सादगी—तनमें, मनमें तथा वचनमें; कहीं भी दिखावट, दम्भ, बाहरी शृङ्गार, शौकीनी, कुटिलता नहीं हो। भड़कीले, चमकीले तथा विदेशी ढंगके वस्त्रादि, गहने तथा सेंट वगैरह, जिनसे लोगोंका आकर्षण होता हो, न हों। सभी वस्तुओंमें सादगी और सिधाई हो।

सतीत्व—यह नारीका प्रधान गुण है, जिसके कारण ही भारतकी नारियाँ पूज्य कही जाती हैं। सीता, सावित्री, अनसूयाप्रभृति सती नारियोंके उदाहरणोंसे इस देशका इतिहास भरा पड़ा है। यही नारीजीवनकी सार्थकता है।

वर्धापन (जन्मोत्सव)-संस्कार

(श्रीआशुतोषजी शास्त्री, साहित्यरत्न, कर्मकाण्ड-चूडामणि)

भारतीय सनातनधर्ममें मानव-जीवनको पवित्र एवं उत्कृष्ट बनानेके लिये विविध संस्कारोंके विधान किये गये हैं। मनुष्यका जीवन दीर्घायु एवं सुखमय हो, इसके लिये भारतीय शास्त्रोंमें प्रत्येक वर्ष जन्मतिथिको वर्धापन-संस्कारका विधान किया गया है। भारतीय वर्धापन-संस्कार कितना सुरुचिपूर्ण, स्वास्थ्यवर्द्धक, आयुविवर्द्धक एवं समृद्धिदायक है, इसका परिचय अग्राङ्कित विवरणोंसे स्पष्ट हो जाता है—

भारतीय सनातनधर्ममें मनुष्यके जन्मके अनन्तर पहले वर्ष प्रत्येक मासमें जन्मतिथि*को अखण्ड दीप प्रज्वलितपूर्वक जन्मोत्सव मनानेका विधान है। प्रथम वर्ष व्यतीत होनेके उपरान्त प्रत्येक वर्ष (जन्ममासमें पड़नेवाली) जन्मतिथिको जन्मोत्सव मनाया जाता है।

इस दिन सर्वप्रथम शरीरमें तिलका उबटन लगाकर

* विक्रमी संवत् (चान्द्रमास)-के अनुसार जन्मतिथि ग्राह्य होगी। यदि तिथि दो मिलती हो तो जिस तिथिको जन्मनक्षत्रका संयोग हो, उसे लिया जायगा। यदि दो दिनोंमें जन्म-नक्षत्रका योग हो तो जिस दिन औदयिक दो मुहूर्तसे अधिक हो, वह ग्राह्य होगा, अन्यथा दो मुहूर्तसे कम होनेपर पूर्व दिन ग्राह्य होगा। यदि जन्म-मासका अधिकमास आ गया हो तो शुद्धमासमें वर्धापन मनाया जाता है न कि अधिकमासमें—

स च वर्षपर्यन्तं प्रतिमासं जन्मतिथौ कार्यः। वर्षोत्तरं प्रत्यब्दं जन्मतिथौ कार्यः। तिथिद्वैधे यत्र जन्मर्क्षयोगः सा ग्राह्या। दिनद्वये जन्मनक्षत्रयोगसत्त्वासत्त्वयोरौदयिकी द्विमुहूर्ताधिका ग्राह्या। द्विमुहूर्तन्यूनत्वे पूर्वा। जन्ममासाधिमासत्त्वे शुद्धे मासे प्रत्याब्दिकवद्वर्धापनविधिर्न त्वधिके।

तिलमिश्रित जलसे स्नान करना चाहिये। तदनन्तर नूतन वस्त्र धारण करके आसनपर बैठकर तिलक लगाये और गुरुकी पूजा करके अक्षतपुञ्जोंपर निम्नलिखित प्रकारसे देवताओंका आवाहन तथा प्रतिष्ठा करके उनकी पूजा करनी चाहिये—

सर्वप्रथम 'कुलदेवतायै नमः' इस मन्त्रसे कुलदेवताका आवाहन एवं पूजन करे।

कुलदेवताका आवाहन करनेके पश्चात् जन्म-नक्षत्र, माता-पिता,[1] प्रजापति, सूर्य, गणेश, मार्कण्डेय, व्यास, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, बलि, प्रह्लाद, हनुमान्, विभीषण एवं षष्ठीदेवीका अक्षतपुञ्जोंपर नाममन्त्रसे आवाहन करके उनकी पूजा करनी चाहिये।[2] तत्पश्चात् मार्कण्डेयजीको श्वेत तिल और गुड़मिश्रित दूध तथा षष्ठीदेवीको[3] दही-भातका नैवेद्य अर्पित करे।

उपर्युक्त देवताओंका पूजन करके निम्नलिखित मन्त्रोंसे कल्प-कल्पान्तजीवी महामुनि मार्कण्डेयजीसे दीर्घ आयु तथा आरोग्यकी प्राप्तिकी प्रार्थना करनी चाहिये—

आयुष्प्रद महाभाग सोमवंशसमुद्भव।
महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते॥
चिरञ्जीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने।
रूपवान् वित्तवांश्चैव श्रियायुक्तश्च सर्वदा॥
मार्कण्डेय नमस्तेऽस्तु सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं प्रसीद भगवन् मुने॥
चिरञ्जीवी यथा त्वं तु मुनीनां प्रवरो द्विज।
कुरुष्व मुनिशार्दूल तथा मां चिरजीविनम्॥
मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं अस्माकं वरदो भव॥

—इन मन्त्रोंका भाव यह है—सोमवंशमें प्रादुर्भूत, आयु प्रदान करनेवाले महान् तपस्वी महाभाग! मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेयजी! आपको नमस्कार है। हे मुने! जैसे आप चिरञ्जीवी हैं, वैसे ही मैं भी चिरञ्जीवी होऊँ और उत्तम रूप, सम्पत्ति तथा लक्ष्मीसे सदा सम्पन्न रहूँ। सात कल्पोंतक जीवित रहनेवाले हे मार्कण्डेयजी! आपको नमस्कार है। हे मुने! हे भगवन्! आयु तथा आरोग्य प्रदान करनेके लिये आप प्रसन्न होइये। हे द्विज! जिस प्रकार आप चिरञ्जीवी तथा मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, वैसे ही हे मुनिशार्दूल! आप मुझे भी चिरञ्जीवी बनाइये। सात कल्पान्ततक जीवित रहनेवाले हे महाभाग मार्कण्डेयजी! आयु तथा आरोग्यकी सिद्धिके लिये आप हमें वर प्रदान करनेवाले होइये।

इसी प्रकार अश्वत्थामा आदि सात चिरजीवियोंका भी निम्न मन्त्रसे प्रार्थनापूर्वक स्मरण करना चाहिये, इससे अपमृत्यु दूर होती है और दीर्घायु प्राप्त होती है—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।
जीवेद् वर्षशतं साग्रमपमृत्युविवर्जितः॥

साथ ही षष्ठीदेवीकी प्रार्थना भी करे। देवी षष्ठी बालकोंका लालन-पालन तथा रक्षा करनेवाली हैं। जन्मके छठे दिन षष्ठी-महोत्सव मनाया जाता है, जिसमें उनका विशेष पूजन होता है। प्रार्थनाके मन्त्र इस प्रकार हैं—

जय देवि जगन्मातर्जगदानन्दकारिणि।
प्रसीद मम कल्याणि नमस्ते षष्ठिदेवते॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
ब्रह्मविष्णुशिवैः सार्धं रक्षां कुर्वन्तु तानि मे॥

हे देवि! आपकी जय हो, हे जगज्जननी! आप समस्त जगत्‌को आनन्द प्रदान करनेवाली हैं, हे कल्याणि! आप मुझपर प्रसन्न हों, हे षष्ठीदेवि! आपको नमस्कार है। तीनों लोकोंमें जितने भी चराचर प्राणी हैं, वे सभी ब्रह्मा, विष्णु

१. यदि माता-पिता जीवित हों तो देवपूजनके लिये आसनपर बैठनेसे पूर्व ही उनके चरणस्पर्श करके आशीर्वाद ले लेना चाहिये।

२. आयुरभिवृद्ध्यर्थं वर्षवृद्धिकर्म करिष्ये इति सङ्कल्प्य तिलोद्वर्तनपूर्वकं तिलोदकेन स्नात्वा पूर्णपात्रादिविधिपूर्वकं सम्पूज्य अक्षतपुञ्जेषु देवताः पूजयेत्। तत्रादौ कुलदेवतायै नम इति कुलदेवतामावाह्य जन्मनक्षत्रं पितरौ प्रजापतिं भानुं विघ्नेशं मार्कण्डेयं व्यासं जामदग्न्यं रामम् अश्वत्थामानं कृपं बलिं प्रह्लादं हनुमन्तं विभीषणं षष्ठीं च नाममन्त्रेण पूजयेत्। षष्ठ्यै दधिभक्तनैवेद्यं०। (धर्मसिन्धु, पृ०५०)

३. काशीमें चौसट्टीघाटपर चतुःषष्टीदेवीके मन्दिरके समीप पूर्व दिशामें षष्ठीदेवीका प्रसिद्ध मन्दिर है। जहाँ शिशुके जन्मके छठे दिन दर्शन-पूजन किया जाता है।

तथा शङ्करके साथ मेरी रक्षा करें।

अन्तमें निम्नलिखित मन्त्र पढ़ते हुए मार्कण्डेयजीको निवेदित श्वेत तिल एवं गुड़मिश्रित दूधको आधी अञ्जलि भरकर जिसका वर्धापन-संस्कार हो रहा हो, उसे पीना चाहिये। इससे महामुनि मार्कण्डेयजीकी कृपासे आयुकी वृद्धि होती है—

सतिलं गुडसम्मिश्रमञ्जल्यर्धमितं पयः।
मार्कण्डेयाद्वरं लब्ध्वा पिबाम्यायुर्विवृद्धये॥

कहीं-कहीं पूजित १६ देवताओंके नामसे प्रत्येकके लिये २८की संख्यामें तिलका होम करनेका विधान भी किया गया है।[1]

कर्मकी पूर्णतापर बालककी रक्षाके लिये प्रतिष्ठित रक्षा-पोटलिका (अथवा रक्षासूत्र) भी उसे बाँधा जाता है। पूजन एवं प्रार्थनाके अनन्तर आवाहित देवोंका विसर्जन करना चाहिये।

इसके पश्चात् यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराकर सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रोंके साथ स्वयं भी भोजन करना चाहिये।

वार्षिक वर्धापन-संस्कारके ये नियम धर्मसिन्धुके अनुसार यहाँ संक्षेपमें बताये गये हैं। षष्ठीपूर्ति (६०वें जन्मदिन) एवं सहस्रचन्द्रदर्शन (८०वें जन्मदिन)-पर विशिष्ट नियम हैं। इन विशिष्ट नियमोंमें गणपतिपूजन, कलशपूजन, पुण्याहवाचन, षोडशमातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध, नवग्रहपूजन, हवन, शान्तिकर्म, आयुसंख्याके ग्रन्थिबन्धन एवं दीपप्रज्वलन आदि कर्म भी सम्मिलित हैं।

भारतीय दर्शनमें जन्मोत्सव-संस्कार आयुष्यवृद्धिके लिये किया जाता है। अतः जन्मदिनपर आयुवृद्धजनों जैसे हनुमदादि कल्पान्तजीवियों एवं सप्तकल्पान्तजीवी मार्कण्डेय ऋषिकी पूजा की जाती है। उसी प्रकार प्रत्यक्षरूपसे जीवित अपनी आयुसे बड़े लोगोंका भी अभिवादन करके उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया जाता है। यही वर्धापन-संस्कारका प्रधान तत्त्व है। वर्धापन-संस्कारके दिन निम्नलिखित नियमोंका अनुपालन किया जाना चाहिये[2]—

१-नखों एवं केशोंको नहीं कटवाना चाहिये। दाढ़ी नहीं बनानी चाहिये।

२-स्त्रीसंसर्ग (मैथुन) और अधिक भागदौड़ नहीं करनी चाहिये।

३-आमिषभक्षण (सामिष भोजन) नहीं करना चाहिये।

४-व्यर्थ कलह एवं हिंसा नहीं करनी चाहिये।

५-गरम जलसे स्नान नहीं करना चाहिये।

६-बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये।

इस प्रकार भारतीय सनातनधर्ममें विहित वर्धापन-संस्कार एक सर्वाङ्गपूर्ण जन्मोत्सव-विधि है, जिसे विधिपूर्वक करनेसे आयु एवं आरोग्यकी वृद्धि होती है, समृद्धि प्राप्त होती है तथा देवताओं, ऋषियों एवं माता-पिताका आशीर्वाद प्राप्त होता है।

वर्तमानमें चल पड़ी केक काटकर 'हैप्पी बर्थ-डे टू यू' कहनेकी प्रणाली पाश्चात्य-अनुकरणका प्रभाव है—यह विडम्बना ही है। इससे सर्वथा बचते हुए भारतीय सनातन आराधना-पद्धतिका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा मङ्गल कम, अमङ्गलकी अधिक आशङ्का है।

~~०~~

अमृत-कण

मनुष्य-जीवनका समय बहुत मूल्यवान् है। यह बार-बार नहीं मिल सकता। इसलिये इसे उत्तरोत्तर भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये। मृत्यु किसीको सूचना देकर नहीं आती, अचानक ही आ जाती है। यदि भगवान्के स्मरणके बिना ही मृत्यु हो गयी तो यह जन्म व्यर्थ ही गया। मृत्यु कब आ जाय, इसका कोई भरोसा नहीं। अतः भगवान्के स्मरणका काम कभी भूलना नहीं चाहिये। मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, क्या कर रहा हूँ और किस काममें मुझे समय बिताना चाहिये। बुद्धिसे विचार कर वास्तवमें जिसमें अपना परम हित हो, वही काम करना चाहिये।

~~०~~

१. क्वचित् पूजितषोडशदेवताभ्यो नाम्ना प्रत्येकमष्टाविंशतिसंख्यतिलहोम उक्तः। ततो विप्रभोजनम्। (धर्मसिन्धु, तृ०पू०)

२. खण्डनं नखकेशानां मैथुनाध्वगमौ तथा। आमिषं कलहं हिंसां वर्षवृद्धौ विवर्जयेत्॥
मृते जन्मनि संक्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा। अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा॥ (धर्मसिन्धु, तृ०पू०)

तिलमिश्रित जलसे स्नान करना चाहिये। तदनन्तर नूतन वस्त्र धारण करके आसनपर बैठकर तिलक लगाये और गुरुकी पूजा करके अक्षतपुञ्जोंपर निम्नलिखित प्रकारसे देवताओंका आवाहन तथा प्रतिष्ठा करके उनकी पूजा करनी चाहिये—

सर्वप्रथम '**कुलदेवतायै नमः**' इस मन्त्रसे कुलदेवताका आवाहन एवं पूजन करे।

कुलदेवताका आवाहन करनेके पश्चात् जन्म-नक्षत्र, माता-पिता,[१] प्रजापति, सूर्य, गणेश, मार्कण्डेय, व्यास, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, बलि, प्रह्लाद, हनुमान्, विभीषण एवं षष्ठीदेवीका अक्षतपुञ्जोंपर नाममन्त्रसे आवाहन करके उनकी पूजा करनी चाहिये।[२] तत्पश्चात् मार्कण्डेयजीको श्वेत तिल और गुड़मिश्रित दूध तथा षष्ठीदेवीको[३] दही-भातका नैवेद्य अर्पित करे।

उपर्युक्त देवताओंका पूजन करके निम्नलिखित मन्त्रोंसे कल्प-कल्पान्तजीवी महामुनि मार्कण्डेयजीसे दीर्घ आयु तथा आरोग्यकी प्राप्तिकी प्रार्थना करनी चाहिये—

आयुष्प्रद महाभाग सोमवंशसमुद्भव।
महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते॥
चिरञ्जीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने।
रूपवान् वित्तवांश्चैव श्रियायुक्तश्च सर्वदा॥
मार्कण्डेय नमस्तेऽस्तु सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं प्रसीद भगवन् मुने॥
चिरञ्जीवी यथा त्वं तु मुनीनां प्रवरो द्विज।
कुरुष्व मुनिशार्दूल तथा मां चिरजीविनम्॥
मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं अस्माकं वरदो भव॥

—इन मन्त्रोंका भाव यह है—सोमवंशमें प्रादुर्भूत, आयु प्रदान करनेवाले महान् तपस्वी महाभाग! मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेयजी! आपको नमस्कार है। हे मुने! जैसे आप चिरञ्जीवी हैं, वैसे ही मैं भी चिरञ्जीवी होऊँ और उत्तम रूप, सम्पत्ति तथा लक्ष्मीसे सदा सम्पन्न रहूँ। सात कल्पोंतक जीवित रहनेवाले हे मार्कण्डेयजी! आपको नमस्कार है। हे मुने! हे भगवन्! आयु तथा आरोग्य प्रदान करनेके लिये आप प्रसन्न होइये। हे द्विज! जिस प्रकार आप चिरञ्जीवी तथा मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, वैसे ही हे मुनिशार्दूल! आप मुझे भी चिरञ्जीवी बनाइये। सात कल्पान्ततक जीवित रहनेवाले हे महाभाग मार्कण्डेयजी! आयु तथा आरोग्यकी सिद्धिके लिये आप हमें वर प्रदान करनेवाले होइये।

इसी प्रकार अश्वत्थामा आदि सात चिरजीवियोंका भी निम्न मन्त्रसे प्रार्थनापूर्वक स्मरण करना चाहिये, इससे अपमृत्यु दूर होती है और दीर्घायु प्राप्त होती है—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।
जीवेद् वर्षशतं साग्रमपमृत्युविवर्जितः॥

साथ ही षष्ठीदेवीकी प्रार्थना भी करे। देवी षष्ठी बालकोंका लालन-पालन तथा रक्षा करनेवाली हैं। जन्मके छठे दिन षष्ठी-महोत्सव मनाया जाता है, जिसमें उनका विशेष पूजन होता है। प्रार्थनाके मन्त्र इस प्रकार हैं—

जय देवि जगन्मातर्जगदानन्दकारिणि।
प्रसीद मम कल्याणि नमस्ते षष्ठिदेवते॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
ब्रह्मविष्णुशिवैः सार्धं रक्षां कुर्वन्तु तानि मे॥

हे देवि! आपकी जय हो, हे जगज्जननी! आप समस्त जगत्‌को आनन्द प्रदान करनेवाली हैं, हे कल्याणि! आप मुझपर प्रसन्न हों, हे षष्ठीदेवि! आपको नमस्कार है। तीनों लोकोंमें जितने भी चराचर प्राणी हैं, वे सभी ब्रह्मा, विष्णु

---

१. यदि माता-पिता जीवित हों तो देवपूजनके लिये आसनपर बैठनेसे पूर्व ही उनके चरणस्पर्श करके आशीर्वाद ले लेना चाहिये।

२. आयुरभिवृद्ध्यर्थं वर्षवृद्धिकर्म करिष्ये इति सङ्कल्प्य तिलोद्वर्तनपूर्वकं तिलोदकेन स्नात्वा कृततिलकादिविधिर्गुरुं सम्पूज्य अक्षतपुञ्जेषु देवताः पूजयेत्। तत्रादौ कुलदेवतायै नम इति कुलदेवतामावाह्य जन्मनक्षत्रं पितरौ प्रजापतिं भानुं विघ्नेशं मार्कण्डेयं व्यासं जामदग्न्यं राममश्वत्थामानं कृपं बलिं प्रह्लादं हनूमन्तं विभीषणं षष्ठीं च नाम्नैवावाह्य पूजयेत्। षष्ठ्यै दधिभक्तनैवेद्यः०। (धर्मसिन्धु, तृ०पू०)

३. काशीमें चौसट्टीघाटपर चतुष्षष्टीदेवीके मन्दिरके समीप पूर्व दिशामें षष्ठीदेवीका प्रसिद्ध मन्दिर है। जहाँ शिशुके जन्मके छठे दिन दर्शन-पूजन किया जाता है।

तथा शङ्करके साथ मेरी रक्षा करें।

अन्तमें निम्नलिखित मन्त्र पढ़ते हुए मार्कण्डेयजीको निवेदित श्वेत तिल एवं गुड़मिश्रित दूधको आधी अञ्जलि भरकर जिसका वर्धापन-संस्कार हो रहा हो, उसे पीना चाहिये। इससे महामुनि मार्कण्डेयजीकी कृपासे आयुकी वृद्धि होती है—

सतिलं गुडसम्मिश्रमञ्जल्यर्धमितं पयः।
मार्कण्डेयाद्वरं लब्ध्वा पिबाम्यायुर्विवृद्धये॥

कहीं-कहीं पूजित १६ देवताओंके नामसे प्रत्येकके लिये २८की संख्यामें तिलका होम करनेका विधान भी किया गया है।[1]

कर्मकी पूर्णतापर बालककी रक्षाके लिये प्रतिष्ठित रक्षा-पोटलिका (अथवा रक्षासूत्र) भी उसे बाँधा जाता है। पूजन एवं प्रार्थनाके अनन्तर आवाहित देवोंका विसर्जन करना चाहिये।

इसके पश्चात् यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराकर सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रोंके साथ स्वयं भी भोजन करना चाहिये।

वार्षिक वर्धापन-संस्कारके ये नियम धर्मसिन्धुके अनुसार यहाँ संक्षेपमें बताये गये हैं। षष्ठीपूर्ति (६०वें जन्मदिन) एवं सहस्रचन्द्रदर्शन (८०वें जन्मदिन)-पर विशिष्ट नियम हैं। इन विशिष्ट नियमोंमें गणपतिपूजन, कलशपूजन, पुण्याहवाचन, षोडशमातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध, नवग्रहपूजन, हवन, शान्तिकर्म, आयुसंख्याके ग्रन्थिबन्धन एवं दीपप्रज्वलन आदि कर्म भी सम्मिलित हैं।

भारतीय दर्शनमें जन्मोत्सव-संस्कार आयुष्यवृद्धिके लिये किया जाता है। अतः जन्मदिनपर आयुवृद्धजनों जैसे हनुमदादि कल्पान्तजीवियों एवं सप्तकल्पान्तजीवी मार्कण्डेय ऋषिकी पूजा की जाती है। उसी प्रकार प्रत्यक्षरूपसे जीवित अपनी आयुसे बड़े लोगोंका भी अभिवादन करके उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया जाता है। यही वर्धापन-संस्कारका प्रधान तत्त्व है। वर्धापन-संस्कारके दिन निम्नलिखित नियमोंका अनुपालन किया जाना चाहिये[2]—

१-नखों एवं केशोंको नहीं कटवाना चाहिये। दाढ़ी नहीं बनानी चाहिये।

२-स्त्रीसंसर्ग (मैथुन) और अधिक भागदौड़ नहीं करनी चाहिये।

३-आमिषभक्षण (सामिष भोजन) नहीं करना चाहिये।

४-व्यर्थ कलह एवं हिंसा नहीं करनी चाहिये।

५-गरम जलसे स्नान नहीं करना चाहिये।

६-बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये।

इस प्रकार भारतीय सनातनधर्ममें विहित वर्धापन-संस्कार एक सर्वाङ्गपूर्ण जन्मोत्सव-विधि है, जिसे विधिपूर्वक करनेसे आयु एवं आरोग्यकी वृद्धि होती है, समृद्धि प्राप्त होती है तथा देवताओं, ऋषियों एवं माता-पिताका आशीर्वाद प्राप्त होता है।

वर्तमानमें चल पड़ी केक काटकर 'हैप्पी बर्थ-डे टू यू' कहनेकी प्रणाली पाश्चात्य-अनुकरणका प्रभाव है—यह विडम्बना ही है। इससे सर्वथा बचते हुए भारतीय सनातन आराधना-पद्धतिका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा मङ्गल कम, अमङ्गलकी अधिक आशङ्का है।

~~~ ० ~~~

अमृत-कण

मनुष्य-जीवनका समय बहुत मूल्यवान् है। यह बार-बार नहीं मिल सकता। इसलिये इसे उत्तरोत्तर भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये। मृत्यु किसीको सूचना देकर नहीं आती, अचानक ही आ जाती है। यदि भगवान्के स्मरणके बिना ही मृत्यु हो गयी तो यह जन्म व्यर्थ ही गया। मृत्यु कब आ जाय, इसका कोई भरोसा नहीं। अतः भगवान्के स्मरणका काम कभी भूलना नहीं चाहिये। मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, क्या कर रहा हूँ और किस काममें मुझे समय बिताना चाहिये। बुद्धिसे विचार कर वास्तवमें जिसमें अपना परम हित हो, वही काम करना चाहिये।

~~~ ० ~~~

१. क्वचित् पूजितषोडशदेवताभ्यो नाम्ना प्रत्येकमष्टाविंशतिसंख्यतिलहोम उक्तः। ततो विप्रभोजनम्। (धर्मसिन्धु, तृ०पू०)

२. खण्डनं नखकेशानां मैथुनाध्वगमौ तथा। आमिषं कलहं हिंसां वर्षवृद्धौ विवर्जयेत्॥
मृते जन्मनि संक्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा। अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा॥ (धर्मसिन्धु, तृ०पू०)

'हैप्पी बर्थ-डे टू यू'

(डॉ० श्रीभानुशंकरजी मेहता)

मेरे एक मित्र हैं भुजबल सिंह। सरकारमें ऊँचे अधिकारी हैं। समाजमें अच्छी प्रतिष्ठा है। एक लड़का और एक लड़की है, दोनों अंग्रेजी माध्यमके प्रतिष्ठित कान्वेण्ट स्कूलमें पढ़ते हैं। पत्नी पढ़ी-लिखी आधुनिका हैं। विवाहपूर्व अंग्रेजी स्कूलमें अध्यापिका थीं, अब सुदक्ष गृहिणी हैं, बहुधा 'किटीपार्टी' में जाती हैं। कॉलोनीके आभिजात्य वर्गमें उनकी अच्छी जान-पहचान है। माने इनका एक सुखी आधुनिक आभिजात्य परिवार है।

भुजबल बचपनमें मेरे सहपाठी थे और अभी भी बहुत मानते हैं। लोग प्राय: कहते हैं इनकी 'कृष्ण-सुदामा-मिताई' है। कहाँ वे नौकर-चाकर, मोटर-बँगलेवाले अफसर और कहाँ मैं हिन्दी माध्यमकी प्राइमरी पाठशालाका अध्यापक! फिर भी उनका पत्र मिला—'तुम्हारे भतीजेका बर्थ-डे है, कल शाम तुम्हें आना ही है।' बक्सेमें सँभालकर रखी धुली धोती और खादीका कुर्ता पहनकर उनके यहाँ गया। अच्छी-खासी भीड़ थी, खूब सजावट थी। रंग-बिरंगे गुब्बारोंके बीच अंग्रेजीमें रंगीन पट्टियोंसे जन्मदिनकी बधाईके वाक्य लिखे थे।

भुजबलने प्रेमसे स्वागत किया। फिर पुत्रको बुलाया—'टिक्कू, ये तुम्हारे अंकल हैं, नमस्ते करो।' मैंने आशीर्वाद दिया और एक पेन्सिल भेंट की। टिक्कूजीने उपेक्षा भावसे स्वीकार कर ली। भुजबल बोले—'अरे, थैंक्यू तो कहो?' बेचारेको कहना पड़ा 'थैंक्यू अंकल!' मुझे लगा—कह रहा है 'कम अंकल'। पूछा 'कितने सालके हुए?' भुजबल बोले 'ग्यारह पूरा करके बारहमें इण्टर कर रहे हैं।' तभी टिक्कू बोल उठे—'नो पापा, आई हैव कम्प्लीटेड इलेविन नॉट गियारह।' भुजबल थोड़ा अचकचाये, बोले—'ठीक है, ठीक है, मीन्स सेम थिंग, गो गेट बिजी।' तभी घोषणा हुई (अंग्रेजीमें) कि सब लोग सेंटर टेबुलके पास आ जायँ। टेबुलपर एक बड़ी-सी सुन्दर केक रखी थी और उसपर ग्यारह मोमबत्तियाँ लगी थीं, जो जल रही थीं। पासमें एक चाकू भी रखा था। 'ममी' के साथ टिक्कू आये। एक जोरकी फूँक मारकर सब मोमबत्तियाँ बुझा दीं, जोरदार तालियाँ बजीं। ममीने सहायता की और टिक्कूजीने उस चाकू (नाइफ)-से केकके एक ओर काट दिया। ममीने काटकर एक टुकड़ा उनके मुखमें दिया, तालियाँ बजीं और समवेत स्वरमें सब गा उठे—'हैप्पी बर्थ-डे टू यू…'। केक बँटने लगी और सब लोग खानेकी टेबुलकी ओर लपक लिये। बकौल स्व० पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'भैय्या साहब' गिद्ध-भोज आरम्भ हो गया।

भुजबल जानते हैं मैं बाहर कहीं खाता-पीता नहीं, पर बड़े प्रेमसे कुछ फल और मिठाइयाँ लाये। फिर बोले—खाओ यार, मेरे बेटेको आशीर्वाद दो कि मुझसे भी बड़ा अफसर बने। इस वर्ष सेवेन्थमें गया है—फर्राटेसे अंग्रेजी बोलता है, जनरल नॉलेज बहुत अच्छी है। 'आई एम प्राउड ऑफ हिम। टेंथके बाद उसे ऑक्सफोर्ड भेज दूँगा। क्यों, ठीक है न।' मैंने कहा—'ठीक ही है। तुमसे भी बड़ा अफसर बने, यही मेरा आशीर्वाद है।' भुजबलने मेरी आवाजमें उदासी भाँप ली, बोले—'क्यों दावत अच्छी नहीं लगी? मैं जानता हूँ तुम इण्डियन कस्टमके पक्षधर हो, पर क्या करें अपने यहाँ बर्थ-डे मनानेका कोई रिवाज ही नहीं।' मौका हँसी-खुशीका था, मित्रको नाराज करनेका नहीं। मैंने कहा—'ठीक कहते हो। दावत तो तुमने बड़ी भव्य आयोजित की। अच्छा; अब मुझे आज्ञा दो, अपने मेहमानोंका स्वागत-सत्कार करो।'

रास्तेमें मेरा मन बहुत विचलित था। क्या भारतमें जन्मदिन नहीं मनाया जाता था? मेरी माँ जन्मदिनके सवेरे सिरपर एक चम्मच चीनी रखकर नहलाती थीं (शायद प्राचीन युगमें दुग्ध-दही-शर्करासे स्नान कराते रहे होंगे)। फिर नाश्तेमें गरमागरम हलवा मिलता, उसपर दो पत्ती तुलसी पड़ी होती। इसका मतलब था—हलवा पहले ठाकुरजीको चढ़ाया जा चुका था और अब यह मेरे लिये भगवान्‌का 'प्रसाद' और आशीर्वाद था। सभी बड़ोंके पाँव छूता, आशीर्वाद लेता। उस दिनके लिये विशेषरूपसे नया कुर्ता बना होता, उसे पहनकर मित्रोंके बीच इठलाता। दोपहरमें ब्रह्मभोज होता और आमन्त्रित ब्राह्मण उच्च स्वरमें वेदपाठ करते हुए 'जीवेम शरदः शतम्' का आशीर्वाद देते। इष्ट-मित्र भोजन करते और हँसी-खुशी,

गाते-बजाते दिन बीत जाता। फिर भी भुजबल कहता है—हमारे यहाँ जन्मदिन मनानेका रिवाज ही नहीं है। मैंने संस्कारों और उनके आयोजनपर तनिक भी प्रकाश नहीं डाला है, पर मुझे ज्ञात है कि जन्मदिन मनानेहेतु पूरा विधान है। शायद कर्मकाण्डियोंने अंग्रेजोंकी देखादेखी विधान गढ़ लिया होगा, पर सूरदास तो अंग्रेजी युगके थे नहीं। कृष्ण-लीलाका वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—(यशोदा मैयाके शब्दोंमें—) *'आज मेरे ललन की पहली बरसगाँठ रे।'*

खैर, बालकको वर्षगाँठ मनाना अच्छी बात है। कैसे भी मनायी जाय, क्या हर्ज है। पर मुझे अपनी संस्कृतिकी, परम्पराकी, मान्यताओंकी याद आ गयी। हम 'दीया' जलाते हैं, बुझाते नहीं। स्वयं महावीर स्वामीने कहा था—एक दीया बुझ रहा हो तो हजार दीये जलाओ। कहा गया **'अप्प दीपो भव'**। हम दीपावली मनाते हैं। ठाकुरजीके आगे दीया जलाकर रखते हैं। खुशीका प्रतीक माना जाता है—घीके दिये जलाना। कहावत है—घरमें दीया जलाकर मस्जिदमें दीया जलाओ। सांध्य-प्रदीपकी महिमा कौन नहीं जानता। बचपनमें जब सन्ध्या-समय दीया जलाया जाता तो प्रार्थना करते थे—

दीपो ज्योतिः परं ब्रह्म दीपो ज्योतिर्जनार्दनः।
दीपो हरतु मे पापं सांध्यदीप नमोऽस्तु ते॥
शुभं करोतु कल्याणमारोग्यं सुखसम्पदम्।
शत्रुबुद्धिविनाशं च दीपज्योतिर्नमोऽस्तु ते॥

घरके लड़केको घरका दीपक—चिराग कहते आये हैं। पर कहीं भी दीया बुझानेकी बात नहीं की गयी। कोई मर जाता है तो लोग कहते हैं—'घरका दीया बुझ गया।' यही क्यों, मर जानेके बाद शवके पास दीया जलाकर रखते हैं। कोई आता है तो स्वागतमें कहते हैं—'दिये जलाओ, दिये जलाओ—जगमग-जगमग दिये जलाओ।' माना कि हम पिछड़े लोग बड़े अन्धविश्वासी हैं—हमारे यहाँ दीया बुझ जाना भारी अपशकुन माना जाता है। इसलिये पूजा-पाठके समय दीया जलाते हैं तो वह बुझे नहीं (हवाके झोंकेसे)—इसके लिये व्यवस्था करते हैं।

हमारी एक और परम्परा है कि पवित्र अग्निको फूँक मारकर जलाते या बुझाते नहीं। फूँक मारकर दीया बुझाना कम-से-कम हमारी परम्पराका तो अङ्ग नहीं है।

विचारोंकी आँधी चल रही थी। टिक्कूने दीया बुझाया ही नहीं, फूँककर बुझाया। यह कैसा रिवाज—अपशकुन करके बीते वर्षोंको भगा देनेका। किसीने कहा कि इसलिये बुझाते हैं कि गुजरे वर्ष भुला दिये जायँ। आह! और हम हैं कि लगातार बचपनके सुनहरे दिनोंको याद किये जाते हैं। एक गीत लोकप्रिय था *'बचपनके दिन भुला न देना।'* मगर··· खैर, वे मानते हैं *'बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि ले।'* अस्तु, बुझाइये दीया, क्या फर्क पड़ता है।

घर पास आ गया था और तभी याद आया कि बहुत वर्षों पहले माँने कहा था, 'बेटा, जरा इस कोहँड़ेको चाकू तो लगा देना।' आज फिर एक माँने बेटेको केक काटनेको कहा। पता नहीं क्यों काटना, चीरना, फाड़ना, तोड़ना अच्छा नहीं माना जाता। काटनेमें तो पशुबलिकी गन्ध आती है। ये सब हिंस्र वृत्तियाँ हैं। पुरुष शिकार-प्रेमी रहा है (आजकल तो शिकारपर रोक लगी है)। अस्तु, उसमें हिंस्र-वृत्ति सहज है, उसका मूल पशु-स्वभावका द्योतक है। फिर कालान्तरमें उसने बलिप्रथा अपनायी (यह भी आजकल प्रतिबन्धित है)। शायद उस प्राचीन बलिप्रथामें भोजन मुख्य उद्देश्य नहीं था, पर जब पेट भरनेके लिये बलि दी जाय तो वह धार्मिक नहीं रहती, आसुरी हो जाती है। अहिंसावादी, सबकी कल्याणकामना करनेवाला भारतवासी कैसे किसी भी आसुरी वृत्तिका समर्थन कर सकता है!

सहसा ध्यान आया कि हमारी तो जोड़नेकी—योगकी संस्कृति है, ऋण या विभाजनकी नहीं। आधुनिक विज्ञान विश्लेषण करता है, काटकर खण्ड-खण्ड करता है। यह खण्डन अणुतक ले जाता है, फिर अणुमें झाँको तो कुछ नहीं दिखता; क्योंकि वह है ही ऐसा—अस्ति भी है, नास्ति भी। जोड़कर देखें, समग्र देखें तो आकाश दिखता है, जिसका ओर-छोर आदि-अन्त नहीं है, यह सारा ब्रह्माण्ड उसीमें समाया है, फिर भी अनन्त अवकाश है। हमने ठीक ही कहा कि ईश्वर नीलाम्बुज हैं, घनश्याम हैं, आकाश शायद उन्हींकी छाया है, उन्हींका अंश है। अब निर्णय हमें करना है कि हम काटेंगे या जोड़ेंगे। यद्यपि सूरदासजीने ठीक ही कहा कि *'जोग जोग हम नाहीं'*।

शायद मैं ही गलत सोच रहा हूँ। दार्शनिकोंने कहा कि जीव ही जीवका आहार है, अतः आत्मतुष्टि, उदरपूर्ति सर्वोपरि धर्म है, अतः जो चाहे खाओ, जैसे चाहे खाओ, हम कौन हैं रोकनेवाले। पर काटनेकी बात सोचकर जी 'कट' जाता है। केक अच्छी है, पर अपना हलवा क्या बुरा था? खैर, अब तो पी जा और खा 'पिज्जा' का युग है—अपनेको बदलनेकी कोशिश कीजिये। बदल ही तो रहे हैं, पर भाई भुजबल—यह एक बर्थ-डे क्यों, आगेके भी सभी बर्थ-डे सुखभरे हों। वो अपना सौ वर्ष स्वस्थ रहकर स्थिर अङ्ग, स्वस्थ इन्द्रियोंसहित शत-शरत् जीनेका वैदिक गीत क्या बुरा था? हाँ, बहुत पुराना जरूर हो गया है, पर अब तो दिनोदिन जीनेका फैशन है, एक साल जी लिये तो अगले वर्ष जीनेकी दुआ माँगते हैं। आप स्वयं ही सोचिये, क्या ठीक है, कौन ठीक है—भुजबल या मैं?

~~~o~~~

माता-पिताके संस्कारोंका बालकपर प्रभाव

यदि यह कहा जाय कि माता-पिताके आचरणोंका बालकोंपर जितना प्रभाव पड़ता है; उतना अन्य किसीका नहीं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मुख्य बात तो यह है कि अपने बच्चोंको सुधारने-बिगाड़नेमें जितना हाथ अभिभावकोंका रहता है, उतना अन्य किसीका नहीं। माता-पिताके सत्-आचरणों और सद्गुणोंके प्रभावसे संतान आदर्श गुणवाली बनती है। आरम्भसे ही उनमें जिन संस्कारोंकी नींव डाली जायगी, आगे चलकर वे उन्हीं संस्कारोंके अनुरूप बनेंगे। बालकगण आरम्भसे ही जैसा आचरण अपने माता-पिताको करते देखते हैं, वैसा ही वे स्वयं भी करने लगते हैं। बालकोंका मस्तिष्क और उनकी भावनाएँ बहुत ही कोमल होती हैं। उनकी बुद्धि तो परिपक्व होती नहीं, ज्ञानकी परिधि भी बहुत ही सीमित होती है; अतः उनके मस्तिष्कमें घरवालोंके आचरणका बहुत शीघ्र प्रभाव पड़ जाता है।

यों तो संसारकी जितनी भी विभूतियाँ हुई हैं अथवा होती हैं, सब प्रायः अपने ही सिद्धान्तोंसे महान् होती हैं, फिर भी उनमें प्रेरणा उनकी माता-पिताकी दी हुई होती है। बचपनसे ही उनके माता-पिता उनमें अच्छे संस्कारोंकी नींव डालते हैं, उनमें अच्छी भावनाकी वृद्धि करते हैं, उनके सामने अपना आदर्श उदाहरण रखते हैं, जिससे वे भी वैसे ही चरित्रवान् बनें। उन्हें अपनी संस्कृति तथा आचरणका ऐसा आकर्षक प्रभाव दिखाते हैं कि बालकगण भी उसे अपनानेमें अपना गौरव समझते हैं। इतिहास इस बातका साक्षी है कि अपने माता-पिताके आचरणोंसे प्रभावित और उनसे प्रेरित होकर बालकगण अपने देश, समाज और राष्ट्रका सिर ऊँचा करते हैं। भरत, जिसके नामपर हमारे देशका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा, वीराङ्गना माता शकुन्तलाके कारण वीर बन सका। बादमें वही प्रतापी सम्राट् हुआ और भारतके नामको उज्ज्वल किया। हिंदू-रक्षक वीर शिवाजीको शिवाजी बनानेमें उनकी माता जीजाबाईका पूरा-पूरा योगदान था। ध्रुवजी अपनी माताके आचरण और प्रेरणासे ही इतने उच्च हो सके। वीर बभ्रुवाहन, अभिमन्यु आदि सभीके जीवनमें उनके माता-पिताके आदर्श आचरणोंका वह प्रबल प्रभाव पड़ा, जिसने उन्हें भी गौरवान्वित कर देशकी विभूतियोंमें स्थान दिया।

पर बड़े खेदकी बात है कि पहलेके लोग जितना अपने आचरणका ध्यान रखते थे, उतना आजके लोग नहीं रखते, इससे संतान भी अवनतिके गढ़ेमें गिरती जा रही है। जब हम स्वयं चरित्रवान् नहीं हैं तो हमारी संतान क्यों सदाचारिणी होगी? हमें यह स्वप्नमें भी नहीं सोचना चाहिये कि हम अपना चरित्र भ्रष्टकर अपनी संतानको सुधार लेंगे। उनमें तो हमारी ही छाप रहेगी; क्योंकि संस्कृतमें एक वचन है कि 'आत्मा वै जायते पुत्रः।' अर्थात् पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है। प्राचीन युगमें बालकोंको आचरण, शिष्टाचार आदिकी शिक्षा अपने माता-पिता, गुरुजनों आदिसे मिलती थी, जिससे वे आरम्भसे ही चरित्रवान् बनते थे। पहले जहाँ सूर्योदयके पूर्व उठकर लोग तुरंत दैनिक कार्योंसे निपटकर पूजा-पाठ, जप-ध्यान, प्रार्थना, देवदर्शन आदि करते थे, प्रातः-सायं गायत्री जपते थे, अन्य धार्मिक कृत्योंका आयोजन करते थे, वहीं अब सूर्योदयके बाद उठते हैं, पूजा-पाठ और देवदर्शनकी जगह टी०वी० आदिके कार्यक्रमोंका श्रवण होता है। धार्मिक ग्रन्थोंके स्थानपर चटपटे और कामक्रीडाको प्रोत्साहन देनेवाले
~~~

पत्र और उपन्यासादि पढ़ते हैं तथा अन्य रँगरेलियोंमें व्यर्थ ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। सायंकाल क्लब, होटल, थियेटर, सिनेमा आदिका आनन्द उठाते हैं। आचरणोंको गिरानेवाले ये विलासिताके साधन आजके सभ्य और आधुनिक मनुष्यकी सोसाइटीके प्रमुख अङ्ग माने जाते हैं। इन आचरणोंका हमारी संतानोंपर कितना गहरा प्रभाव पड़ता जा रहा है, यह किसीसे छिपा नहीं है। इतना ही नहीं, माता-पिताकी बीमारियोंके कीटाणु अपने-आप जन्मजातसे उनकी संतानोंमें आकर उनमें भी उसी रोगकी उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। वैज्ञानिक खोजने इस बातको अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। अब वैज्ञानिक खोजोंसे भी यह सिद्ध हो गया है कि गर्भावस्थामें ही अच्छे-बुरे संस्कार हमारी संतानोंमें पड़ जाते हैं। हमारे भारतीय शास्त्र इस बातकी पुष्टि करते हैं कि शिशुकी गर्भावस्थामें उनके माता-पिताकी जैसी भावना होगी, जैसे विचार होंगे तथा होनेवाली संतानके प्रति जैसी भावना होगी या बच्चेकी गर्भावस्थातक माता-पितामें जैसे अच्छे-बुरे संस्कार जाग्रत् होंगे तथा उस समयतक माँ-बाप जैसे अच्छे-बुरे आचरणसे रहेंगे, वे ही सब लक्षण, संस्कार तथा भाव उन नवजात शिशुओंमें पाये जायँगे। महाभारतकी कथाको पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अर्जुनके पुत्र अभिमन्युने गर्भावस्थामें ही अपने पिताद्वारा कही हुई चक्रव्यूहको तोड़नेकी सारी कला सीख ली थी।

बालक अपने बचपनमें ठीक एक पौधेके समान हैं, जिसे छोटे रहनेपर चाहे जिधर झुका दिया जा सकता है, पर बड़ा होनेपर वह किसी तरह नहीं झुकाया जा सकता। यदि माता-पिताकी विचारधारामें बच्चेके विषयमें कुछ अन्तर हो तो उसे बच्चेके सामने निपटाना या झगड़ा-लड़ाई करना अच्छा नहीं; अपितु जब बच्चा बाहर हो या वहाँसे दूर हो तो निर्णय कर लेना चाहिये।

अतएव आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि यदि हमें अपनी संतानको आदर्श, सदाचारी और सुसंस्कृत बनाना है तो हम अपना चरित्र इतना दृढ़, खरा और शुद्ध बना लें कि उसका असर हमारे बालकोंपर अच्छा ही पड़े। यदि वे उसका अपने स्वभावके कारण अनुकरण भी करें तो उससे उनकी कोई हानि न हो। हमें विशेषरूपसे सतर्क रहना चाहिये कि हम कोई ऐसा गलत काम तो नहीं कर रहे हैं, जिसका असर बालकोंपर भी होगा। इसके अतिरिक्त हमें भूलकर भी बच्चोंके सामने—

१-गाली-गलौज नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इससे बालककी भी जबान खराब होती है।

२-किसीसे भी अधिक हँसी-मज़ाक नहीं करना चाहिये और न अश्लील बातें ही करनी चाहिये।

३-किसीको भी व्यर्थमें डाँटना-डपटना अथवा किसीसे दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये।

४-किसीके प्रति अपना क्रोध-प्रदर्शन नहीं करना चाहिये।

५-किसीको मारना-पीटना नहीं चाहिये।

६-नशीली वस्तु आदिका सेवन नहीं करना चाहिये।

७-अपनी स्त्री आदिसे किसी ऐसे ढंगसे वार्तालाप नहीं करना चाहिये, जिससे उसका असर बालकोंपर भी पड़े।

स्पष्ट है कि माता-पिताके आचरणका उनकी संतानपर सबसे गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः शुद्ध आचरण तथा आचार-विचार रखकर तथा उचित संस्कार प्रदान कर हम उन्हें सुसंस्कृत और सदाचारी बना सकते हैं।

~~~o~~~

जगत्‌को हम जिस रूपमें देखेंगे, जगत् हमारे लिये ठीक वैसा ही बन जायगा। यदि हम इसे सर्वथा प्रभुसे पूर्ण देखें, प्रत्येक रूपको प्रभुका रूप समझें—जो वास्तवमें सत्य तथ्य है—तो हमारे लिये प्रभुसे अतिरिक्त यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है। पर कहीं यह हमारा शत्रु, यह मित्र, यह अपना, यह पराया, यह दुष्ट, यह साधु, यह ऊँचा, यह नीचा, यह अमीर, यह गरीब, यह सुन्दर, यह कुत्सित—इस प्रकार अगणित विभिन्न भावोंको स्वीकार कर हम जगत्‌को देखेंगे तो फिर हमारा जैसा भाव होगा, उसीके अनुरूप बनकर वह हमारे सामने आयेगा।

~~~o~~~

अन्त्येष्टि-संस्कार-मीमांसा

(डॉ० श्रीवीरेन्द्रकुमारजी चौधरी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

भारतीय धर्मशास्त्रोंमें अन्त्येष्टि-संस्कारका विधान है। यह हिन्दुओंका अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण संस्कार है। जीवनके अन्तकालमें सुवर्णदान, गोदान तथा भूमिदान आदि विशेष कृत्य करनेकी शास्त्रकी आज्ञा है। ये दान आदि कृत्य पापीको भी तार देते हैं—

हिरण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च।
एतानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम्॥

(महा०, अनु० ५९।५)

विशेषकर अन्तकालमें दानमें दी जानेवाली वैतरणी गौका अपना अलग ही महत्त्व है। वैतरणी गौके दानके प्रभावसे ही मृतक महाभयावह यममार्गमें स्थित सौ योजन विस्तारवाली वैतरणी नदीको पार कर पाता है—

यममार्गे महाघोरे तां नदीं शतयोजनाम्।
तर्तुकामो ददाम्येतां तुभ्यं वैतरणीं नमः॥

(गरुडपुराण, सारोद्धार ८।७९)

वैसे भी गौएँ स्वर्गकी सोपान हैं। वे स्वर्गमें भी पूजी जाती हैं। वे समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली देवियाँ हैं। उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है—

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किञ्चित् परं स्मृतम्॥

(महा०,अनु० ५१।३३)

वृहत्पराशरस्मृति (५।३२)-में कहा गया है कि सभी देवता गौके शरीरमें निवास करते हैं, अतः गौ सर्व-देवमयी है—'सर्वे देवाः स्थिता देहे सर्वदेवमयी हि गौः॥'

विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें गौकी महिमा बताते हुए तथा उन्हें निरन्तर प्रणाम करनेका निर्देश देते हुए कहा गया है कि गौरूपी तीर्थ (गोमूत्र)-में गङ्गा आदि सभी नदियाँ तथा तीर्थ निवास करते हैं और गौओंके रजःकणमें सभी प्रकारकी निरन्तर वृद्धि होनेवाली धर्मराशि एवं पुष्टिका निवास रहता है। गायोंके गोबरमें साक्षात् लक्ष्मी निरन्तर निवास करती हैं और इन्हें प्रणाम करनेमें चतुष्पादधर्म सम्पन्न हो जाता है। अतः बुद्धिमान् एवं कल्याणकामी पुरुषको गायोंको निरन्तर प्रणाम करना चाहिये—'तासां प्रणामं सततं च कुर्यात्॥'

गोदान करनेवाला मनुष्य सूर्यके समान देदीप्यमान विमानमें बैठकर मेघमण्डलको भेदता हुआ स्वर्गमें जाकर सुशोभित होता है—

गोप्रदानरतो याति भित्त्वा जलदसञ्चयान्।
विमानेनार्कवर्णेन दिवि राजन् विराजते॥
देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै।
दत्त्वा चैतास्तारयन्ते यान्ति स्वर्गं मनीषिणः॥

(महा०, अनु० ७१।२४; ८१।४)

यही कारण है कि मृत्युसे पूर्व वैतरणी गौ एवं मृत्युके अनन्तर बछड़े और दुग्धपात्रसहित उत्तम शील एवं स्वभाववाली दुधार गौएँ मृतकके कल्याण एवं मुक्तिकी कामनासे दानमें दी जाती हैं।

मरणासन्न व्यक्तिको नदीके किनारे ले जाया जाता है और मृत्युके समय उसकी देहका अधोभाग जलमें डाल दिया जाता है। यह क्रिया 'अन्तर्जली' या 'घाट-मृत्यु' भी कहलाती है। मरणासन्न व्यक्तिको गङ्गाके किनारे ले जानेकी परम्परा है। पतितपावनी गङ्गा स्वर्गकी रुचिर वरदानधारा हैं, जो अपने शुभ आँचलसे मर्त्यलोकके निवासियोंके सारे पाप-ताप दूर कर देती हैं। उनके पवित्र जलके स्पर्श और दर्शनसे युग-युगके कलुष दूर हो जाते हैं। व्यक्तिका अन्तः-बाह्य सब स्वच्छ, धवल और निर्मल हो जाता है। गङ्गाजीमें स्नानकर उनके तटपर मरनेसे मुक्ति मिल जाती है।

मरणासन्न व्यक्तिके निमित्त विशेष संस्कार करनेकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। इसके अनुसार तुलसीके पौधेके समीप गायके गोबरसे एक मण्डलकी रचना की जाती है और वहाँ तिल बिखेरकर कुशोंको बिछाया जाता है एवं उनके ऊपर श्वेत वस्त्रके आसनपर शालग्रामशिलाको स्थापित किया जाता है। तदनन्तर उनके समीपमें ही गोबरसे लीपी हुई और कुश एवं तिलोंद्वारा सुसंस्कृत पृथ्वीपर मरणासन्न व्यक्तिको लिटाकर रखा जाता है। तुलसीदल एवं तिलसहित स्वर्ण तथा रत्नका प्रक्षेप करके शालग्रामस्वरूपी भगवान् विष्णुका पादोदक एवं गङ्गाजल उसे पिलाया जाता है।

शालग्रामशिला, तुलसीवृक्ष, तिल, कुश एवं गङ्गाजलका अपना-अपना विशेष माहात्म्य है। जहाँ पाप, दोष और

भयको हरण करनेवाली शालग्रामशिला विद्यमान रहती है, उसके सन्निधानमें मरनेसे प्राणीको निश्चित ही मुक्ति मिल जाती है। जो मुक्ति दान आदि कर्मोंसे भी दुर्लभ होती है, वह जगत्के तापका हरण करनेवाले तुलसीवृक्षकी छायामें मरनेसे ही प्राप्त हो जाती है। तुलसीदलको मुखमें रखकर तिल और कुशके आसनपर मरनेवाला व्यक्ति पुत्रहीन होनेपर भी निःसंदेह विष्णुलोकको जाता है—

शालग्रामशिला यत्र पापदोषभयापहा।
तत्सन्निधानमरणान्मुक्तिर्जन्तोः सुनिश्चिता॥
तुलसीविटपच्छाया यत्रास्ति भवतापहा।
तत्रैव मरणान्मुक्तिः सर्वदा दानदुर्लभा॥
तुलसीमञ्जरीयुक्तो यस्तु प्राणान्विमुञ्चति।
यमस्तं नेक्षितुं शक्तो युक्तं पापशतैरपि॥
तस्या दलं मुखे कृत्वा तिलदर्भासने मृतः।
नरो विष्णुपुरं याति पुत्रहीनोऽप्यसंशयः॥

(गरुडपुराण-सारोद्धार ९।५-६, ८-९)

अन्तकालमें जो शालग्रामशिलाके जलको विन्दुमात्र भी पीता है, वह सभी पापोंसे मुक्त होकर वैकुण्ठलोकमें जाता है। जो गङ्गाजलका पान करता है, वह सभी योनियोंसे छूटकर हरिके धामको प्राप्त होता है। अन्तकालमें जो 'गङ्गा-गङ्गा' ऐसा कहता है, वह विष्णुलोकको जाता है और पुनः भूलोकमें जन्म नहीं लेता है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात्प्राणैः कण्ठगतैरपि।
मृतो विष्णुपुरं याति न पुनर्जायते भुवि॥

(गरुडपुराण-सारोद्धार ९।२९)

म्रियमाण मनुष्यको श्रीमद्भागवत-महापुराणकी कथा सुनानेकी परम्परा भी है। अन्तसमयमें जो श्रीमद्भागवतके एक श्लोक, आधे श्लोक अथवा एक पादका भी पाठ करता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पुनः संसारमें कभी नहीं आता—

श्लोकं श्लोकार्धपादं वा योऽन्ते भागवतं पठेत्।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात्कदाचन॥

(गरुडपुराण-सारोद्धार ९।३२)

अन्त्येष्टि-संस्कारके अन्तर्गत मुख्यरूपसे मृत्युके अनन्तर की जानेवाली क्रियाएँ आती हैं। उनमें अरथी-निर्माण, शवको स्नान कराना, पिण्डदान, शवको उठाना, शवयात्रा, दाहक्रिया एवं अस्थिसञ्चयन आदिका विशेष महत्त्व है।

प्राचीन कालमें उदुम्बरकी लकड़ीकी अरथी बनायी जाती थी और उसपर रोएँदार कृष्ण मृगचर्मका टुकड़ा बिछाकर उसपर शवको लिटाया जाता था, किंतु आजकल बाँसकी अरथी बनायी जाती है। मृतकको स्नान कराकर शुद्ध एवं नवीन वस्त्र पहनाया जाता है तथा उसे चन्दन अथवा गङ्गाजीकी मिट्टीके लेपसे और पुष्प-मालाओंसे विभूषित करके अरथीपर लिटाया जाता है। तदनन्तर उसे नवीन वस्त्रों एवं पुष्प-मालाओंसे ढक दिया जाता है। मृत्युके स्थानपर 'शव' नामक पिण्ड मृत व्यक्तिके नाम-गोत्रसे प्रदान किया जाता है। ऐसा करनेसे भूमि और भूमिके अधिष्ठातृदेवता प्रसन्न होते हैं। इसके पश्चात् द्वारदेशपर 'पान्थ' नामक पिण्ड मृतकके नाम-गोत्र आदिका उच्चारण करके प्रदान किया जाता है, इससे गृहवास्त्वधिदेवता प्रसन्न होते हैं—

मृतस्थाने शवो नाम तेन नाम्ना प्रदीयते॥
तेन भूमिर्भवेत्तुष्टा तदधिष्ठातृदेवता।
द्वारदेशे भवेत् पान्थस्तेन नाम्ना प्रदीयते॥
तेन दत्तेन तुष्यन्ति गृहवास्त्वधिदेवताः।

(गरुडपुराण २।५।३१—३३)

इसके बाद शवकी प्रदक्षिणा की जाती है। मिथिलाञ्चलमें बन्धु-बान्धवोंद्वारा मृतकके कल्याणके उद्देश्यसे अरथीपर आमके पल्लव एवं लकड़ियाँ दी जाती हैं। तदनन्तर शवयात्राके निमित्त अन्य बन्धु-बान्धवोंके साथ पुत्र अरथीको कन्धा देता है। अपने पिताको कन्धेपर धारण करके श्मशान ले जानेवाला पुत्र पग-पगपर अश्वमेधका फल प्राप्त करता है—

धृत्वा स्कन्धे स्वपितरं यः श्मशानाय गच्छति।
सोऽश्वमेधफलं पुत्रो लभते च पदे पदे॥

(गरुडपुराण-सारोद्धार १०।१२)

आधे मार्गमें पहुँचकर भूमिका मार्जन और प्रोक्षण करके शवको विश्राम कराया जाता है तथा 'भूत' नामक पिण्ड प्रदान किया जाता है। इससे दिशाओंमें रहनेवाले पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि उस होतव्य देहके योग्यत्वको क्षति नहीं पहुँचाते हैं। मार्गमें यमगाथा गायी जाती है और

यमसूक्तका जप किया जाता है—

'यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके॥'

(पा०गृ०सू० ३।१०।१९)

श्मशानमें पहुँचकर शवदाहके लिये यथाविधि भूमिका संशोधन, सम्मार्जन और लेपन करके वेदिका बनायी जाती है, जिसे जलसे प्रोक्षित करके उसमें विधि-विधानपूर्वक अग्नि स्थापित की जाती है। पुष्प और अक्षत आदिसे क्रव्यादसंज्ञक अग्निदेवकी पूजा-अर्चना की जाती है और निम्न विहित वैदिक मन्त्रोंसे होम किया जाता है—

'लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा। मा१ँसेभ्यः स्वाहा मा१ँसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा ऽस्थभ्यः स्वाहा ऽस्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा॥'

(शु०यजु० ३९।१०)

इसके बाद चन्दन, तुलसी, पलाश और पिप्पल या आमकी लकड़ियोंसे चिता बनायी जाती है। शवको चितापर रखकर एक पिण्ड 'साधक' नामसे चितापर तथा दूसरा पिण्ड शवके हाथपर 'प्रेत' नामसे दिया जाता है। तदनन्तर क्रव्याद अग्निको तिनकोंपर रखकर यथाधिकार ज्येष्ठ पुत्र अग्नि प्रदान करता है। मृत्युसे पूर्व गृह्याग्निकी स्थापना करनेवाले मृतकका दाह-संस्कार शालाग्निसे किया जाता है—

'शालाग्निना दहन्त्येनमाहितश्चेत्॥'

(पा०गृ०सू० ३।१०।११)

किंतु गृह्याग्निकी स्थापना न करनेवाले मृतकको मौन होकर विना मन्त्रके लौकिक अग्नि दी जाती है—

'तूष्णीं ग्रामाग्निनेतरम्॥'

(पा०गृ०सू० ३।१०।१२)

दाह-संस्कारके अनन्तर नदी या सरोवरमें जाकर स्नान करनेका विधान है। स्नान करते समय केवल अधोवस्त्र ही पहना जाता है। यज्ञोपवीतको बायें कन्धेसे हटाकर दाहिने कन्धेपर कर लिया जाता है। बायें हाथकी अनामिका अँगुलीसे पानी हटाकर मन्त्रोच्चारणके साथ स्नान किया जाता है। स्नानकर्ता दक्षिणमुख होकर ही स्नान करते हैं—

'दक्षिणामुखा निमज्जन्ति॥'

(पा०गृ०सू० ३।१०।२०)

स्नानके बाद **'अमुक प्रेत एतत्ते उदकम्'** (पा०गृ० सू० ३।१०।२१)—यह मन्त्र पढ़कर मृतकको एक बार जलाञ्जलि दी जाती है। जलसे निकलकर मृतकके सपिण्ड लोग स्वच्छ और पवित्र घासवाली भूमिपर बैठ जाते हैं और उन्हें इतिहास और पुराणोंकी कथाओंसे सान्त्वना दी जाती है। तदनन्तर पीछे मुड़कर देखे बिना कम उम्रवाले आगे-आगे और वृद्ध उनके पीछे-पीछे गाँव लौट आते हैं। वे घरमें प्रवेश करनेके पूर्व दरवाजेपर रखे नीमके पत्तेको पहले दाँतसे चबाते हैं, उसके बाद आचमन करते हैं। पुनः जल, आग, गोबर, सरसों और तिलके तेलका स्पर्श करते हैं और फिर पत्थरको लाँघकर घरमें प्रवेश करते हैं—

'निवेशनद्वारे पिचुमन्दपत्राणि विदश्याचम्योदकमग्निं गोमयं गौरसर्षपांस्तैलमालभ्याश्मानमाक्रम्य प्रविशन्ति॥'

(पा०गृ०सू० ३।१०।२४)

दाहक्रियाके पश्चात् अस्थि-सञ्चयनका क्रम आता है। प्राचीन कालमें यह दाहसे तीसरे, पाँचवें या सातवें दिन किया जाता था। इस कृत्यमें भस्मपर दूध और जलका सेचन किया जाता था और अस्थियोंको उदुम्बर अर्थात् गूलरके डण्डेसे हटाकर उन्हें दूध और जलसे धोकर मिट्टीके पात्रमें रखकर नदीके जलमें प्रवाहित कर दिया जाता था, किंतु आजकल कहीं-कहीं दाहके ही दिन अस्थियोंके सञ्चयनकी प्रथा प्रचलित है। दाहके तत्काल पश्चात् अवशेषोंको एक मिट्टीके बर्तनमें रखा जाता है और बादमें क्षौरकर्मसे पहले उन्हें गङ्गामें प्रवाहित कर दिया जाता है। मिथिलासम्प्रदायमें अस्थि-सञ्चयन दाहसे चौथे दिन किया जाता है—

'चतुर्थेऽहनि कर्तव्यमस्थिसञ्चयनं द्विजैः।'

(संवर्तस्मृति ३९)

दाहकर्ता चितास्थलकी तीन बार परिक्रमा करता है और शमीकी टहनीसे बुहारता है। वह विहित मन्त्रका

उच्चारण करता हुआ चितास्थलपर दूधमिश्रित जल छिड़कता है। इसके बाद वह अस्थि-सञ्चयनका सङ्कल्प लेकर अस्थियोंको चुनकर उन्हें दूध एवं जलसे धोकर मिट्टीके नये पात्रमें रखता है। वह चितास्थलपर तुलसीका पौधा रोपता है और पिण्डदान करता है। बादमें क्षौरकर्मसे पहले अस्थियाँ गङ्गामें बहा दी जाती हैं, किंतु जिसके शवका दाह-संस्कार गङ्गाके तटपर किया जाता है, उसकी अस्थियाँ तत्क्षण ही गङ्गामें प्रवाहित कर दी जाती हैं। जिस व्यक्तिकी अस्थियाँ गङ्गाजलमें प्रवाहित की जाती हैं, उसका ब्रह्मलोकसे कभी भी पुनरागमन नहीं होता है—

अन्तर्दशाहं यस्यास्थि गङ्गातोये निमज्जति।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात्कदाचन॥

(गरुडपुराण-सारोद्धार १०।७९)

जो अपनी पूर्वावस्थामें पाप करके मर जाते हैं, उनकी अस्थियोंको गङ्गामें प्रवाहित करनेपर वे स्वर्गलोक चले जाते हैं—

पूर्वे वयसि पापानि ये कृत्वा मानवा गताः।
गङ्गायामस्थिपतनात्स्वर्गलोकं प्रयान्ति ते॥

(गरुडपुराण-सारोद्धार १०।८४)

वस्तुतः अन्त्येष्टि-संस्कार मृतकके पापोंका विनाशक है और उसे ब्रह्मलोक पहुँचानेवाला और्ध्वदैहिक कृत्य है। इस संस्कारके समय पठित वैदिक मन्त्रोंके प्रभावसे मृतक पुरातन पितरोंके सुखप्रद मार्गोंसे पितृलोक जाता है और वहाँ स्वधासे तृप्त यम एवं वरुणका दर्शन करता है। वहाँ वह अपने पितरोंसे मिलता है और इष्टापूर्त दानादि कृत्योंके पुण्यफलोंको प्राप्त करता है। वहाँ वह समस्त मालिन्यका त्याग कर दिव्य ज्योतिसे परिपूर्ण नवीन शरीर धारण करके परमानन्द प्राप्त करता है—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥

(ऋक्० १०।१४।७-८)

जीवकी सद्गतिहेतु और्ध्वदैहिक श्राद्धादि संस्कार

(डॉ० श्रीताराचन्द्रजी शर्मा 'चन्द्र', एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न, धर्मरत्न)

शास्त्रोंमें जीवकी सद्गतिके लिये और्ध्वदैहिक संस्कारोंका विधान किया गया है, जिनमें मरणासन्न-अवस्थाके समय विधिपूर्वक किये जानेवाले दस दानों (सवत्सा गौ, भूमि, तिल, स्वर्ण, घृत, वस्त्र, धान्य, गुड़, चाँदी तथा लवण)-का विशेष माहात्म्य है। गरुडपुराणमें कहा गया है कि इन दानोंके देनेसे जीवको परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है—**'महादानेषु दत्तेषु गतस्तत्र सुखी भवेत्'** (ग०पु०, प्रेत० १९।३)। साथ ही यथाशक्ति पञ्चधेनुदान भी किया जाता है अथवा गोनिष्क्रयद्रव्यसे भी इन दानोंकी पूर्ति हो जाती है। पञ्चधेनु इस प्रकार हैं—(१) ऋणापनोदधेनु, (२) पापापनोदधेनु, (३) उत्क्रान्तिधेनु, (४) वैतरणीधेनु तथा (५) मोक्षधेनु।

मृत व्यक्तिको गङ्गाजल आदिसे स्नान कराकर उसके अङ्गोंमें गोघृतका लेप करके वस्त्र पहनाया जाता है, चन्दन लगाया जाता है, फूल और तुलसीकी माला पहनायी जाती है और यथाधिकार यज्ञोपवीत भी पहनाया जाता है। शवके मुख, दोनों आँखों, दोनों नासाच्छिद्रों तथा दोनों कानोंमें स्वर्णखण्ड छोड़ा जाता है, स्वर्णके अभावमें घीकी बूँदें डाली जाती हैं। इस प्रकार शवका संस्कार किया जाता है। उसे रजस्वला स्त्री तथा अपवित्र जनोंके स्पर्शसे बचाया जाता है। इस प्रकार शवका यथाविधि संस्कार करके चितादाहके समय भी यथाविधि संस्कार सम्पन्न होता है। षट्पिण्ड बनाकर शवयात्राके पूर्व तथा श्मशानतक षट्पिण्डदान होता है तथा बादमें दशगात्रसम्बन्धी दस पिण्डदान होता है। इससे जीवके आतिवाहिक शरीरका निर्माण होता है। इस प्रकार और्ध्वदैहिक दशगात्रतकका कृत्य करके एकादशाह आदिके श्राद्धकृत्य होते हैं तथा सपिण्डीकरणश्राद्धमें प्रेतका पितरोंसे मेलन होता है। तदनन्तर वार्षिक तिथिपर क्षयाह

श्राद्ध तथा पितृपक्ष—महालयमें पार्वणश्राद्ध होते हैं। इससे जीव सम्यक् रूपसे संस्कृत होकर उत्तम गति प्राप्त करता है। श्राद्ध क्या है? और इसकी सामान्य विधि क्या है—इसपर यहाँ आगे संक्षेपमें विचार किया जा रहा है—

'श्राद्ध' शब्दकी निष्पत्ति 'श्रद्धा' शब्दसे **'श्रद्धया कृतं सम्पादितमिदम्', श्रद्धया दीयते यस्मात्तच्छ्राद्धम्', 'श्रद्धार्थमिदं श्राद्धम्', 'श्रद्धया इदं श्राद्धम्'** इत्यादि अर्थोंमें 'अण्' प्रत्यय करनेपर होती है। इस प्रकार पितरोंकी तृप्तिके निमित्त एवं आत्मोन्नतिके लिये श्रद्धापूर्वक क्रियान्वित सङ्कल्प तथा तर्पणसहित विशेष कार्यविधि श्राद्ध-संस्कार है, जिसमें आवश्यकतानुसार पिण्डदानादि कृत्य किये जाते हैं। श्राद्ध जीवकी सद्गतिके लिये किया जानेवाला और्ध्वदैहिक संस्कार है। अनेक ऋषि-महर्षियोंने श्राद्ध-संस्कारका शास्त्रोंमें वर्णन किया है। ब्रह्मपुराणके अनुसार देश, काल और पात्रमें श्रद्धाद्वारा विधिपूर्वक पितरोंके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको दिया जानेवाला भोजन '*श्राद्ध*' है—

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥

महर्षि पराशरके मतानुसार देश, काल तथा पात्रमें हविष्यादि विधिद्वारा तिल (यव) और दर्भ (कुश) तथा मन्त्रादिसे श्रद्धापूर्वक किये जानेवाले कर्मको श्राद्ध कहते हैं—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

महर्षि बृहस्पति उस कर्मविशेषको श्राद्ध कहते हैं, जिसमें भलीभाँति पकाये हुए उत्तम व्यञ्जन दुग्ध, शहद और घृतके साथ श्रद्धापूर्वक पितृगणके उद्देश्यसे ब्राह्मण आदिको प्रदान किये जायँ—

संस्कृतं व्यञ्जनाद्यं च पयोमधुघृतान्वितम्।
श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन निगद्यते॥

विविध श्राद्ध-संस्कार—श्राद्ध-संस्कारोंके अनेकानेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं, किंतु यहाँ आवश्यक श्राद्ध ही उल्लिखित हैं। मत्स्यपुराणके **'नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं श्राद्धमुच्यते'** के अनुसार श्राद्ध तीन प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। यमस्मृतिमें पाँच प्रकारके श्राद्ध—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि तथा पार्वणका उल्लेख है। भविष्यपुराणमें बारह प्रकारके श्राद्ध—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि, सपिण्डन, पार्वण, गोष्ठी, शुद्ध्यर्थ, कर्माङ्ग, दैविक, यात्रार्थ और पुष्ट्यर्थ बतलाये गये हैं।

श्रौत एवं स्मार्त भेदसे सभी श्राद्ध-संस्कार दो प्रकारके होते हैं—श्रौतश्राद्ध तथा स्मार्तश्राद्ध। अमावास्याके दिन किये गये श्राद्धको श्रौतश्राद्ध-संस्कार कहते हैं, जिसमें केवल श्रुतिप्रतिपादित मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है। एकोद्दिष्ट, पार्वण एवं तीर्थसे लेकर मरणतकके श्राद्ध स्मार्तश्राद्ध-संस्कार कहलाते हैं, जिसमें वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक एवं धर्मशास्त्र आदिके मन्त्रोंका प्रयोग होता है।

श्राद्ध-संस्कारकी महत्ता—प्राचीन कालमें श्राद्ध-संस्कारके प्रति अटूट श्रद्धा थी, किंतु वर्तमानमें जनमानसका शास्त्रसे सम्पर्क कम होनेसे श्राद्धकर्मपर श्रद्धा कम होती जा रही है, जिससे अधिकांश लोग इसे व्यर्थ समझकर नहीं करते। कुछ *यथाविधि नियमसे श्रद्धासहित श्राद्ध-*संस्कार करते हैं, शेष केवल रस्म-रिवाजकी दृष्टिसे श्राद्ध करते हैं। वस्तुतः श्राद्धसे सगे-सम्बन्धी ही नहीं वरन् ब्रह्मासे लेकर तृणतक सभी प्राणी तृप्त होते हैं। ब्रह्मपुराणके अनुसार जो व्यक्ति अपनी सम्पत्तिके अनुरूप शास्त्रीय विधिसे श्राद्ध करता है, वह सम्पूर्ण संसारको संतृप्त कर देता है—

एवं विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्प्रीणाति मानवः॥

संसारमें श्राद्धकर्ताके लिये श्राद्धसे बढ़कर और कोई कल्याणकारक एवं श्रेयस्कर कर्म नहीं है। अतः मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करना चाहिये। इसीकी पुष्टि करते हुए महर्षि सुमन्तु भी कहते हैं—

श्राद्धात् परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद् विचक्षणः॥

वस्तुतः श्रद्धा-भक्तिद्वारा शास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न श्राद्ध सर्वविध कल्याणदायक होता है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको पितृगणकी सन्तुष्टि एवं आत्मकल्याणहेतु श्रद्धापूर्वक यथासमय श्राद्ध करते रहना चाहिये। समस्त श्राद्ध न

कर पानेपर कम-से-कम वर्षमें एक बार आश्विनमासके पितृपक्षमें अपने पितृगणकी मरण-तिथियोंपर श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। पितृपक्षके साथ पितरोंका विशेष सम्बन्ध होनेसे पितृपक्षमें श्राद्ध करनेकी विशेष महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है। महर्षि जाबालिके कथनानुसार पितृपक्षमें श्राद्ध करनेसे पुत्र, आयु, आरोग्य, अतुल ऐश्वर्य और अभिलषित वस्तुओंकी प्राप्ति होती है—

पुत्रानायुस्तथाऽऽरोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा।
प्राप्नोति पञ्चेमान् कृत्वा श्राद्धं कामांश्च पुष्कलान्॥

कूर्मपुराणमें वर्णित है कि जो प्राणी जिस किसी भी विधिसे एकाग्रचित्त होकर श्राद्ध करता है, वह समस्त पापोंसे रहित हो मुक्त हो जाता है और पुनः संसारचक्रमें नहीं आता—

यो येन विधिना श्राद्धं कुर्यादेकाग्रमानसः।
व्यपेतकल्मषो नित्यं याति नावर्तते पुनः॥

मार्कण्डेयपुराणके अनुसार श्राद्धसे तृप्त होकर पितृगण श्राद्धकर्ताको दीर्घ आयु, संतति, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करते हैं—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥

ऐसा ही उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति तथा यमस्मृतिमें भी है। यमस्मृतिके अनुसार पितृपूजनसे सन्तुष्ट होकर पितर मनुष्योंके लिये आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि, बल-वैभव, पशु, सुख और धन-धान्य प्रदान करते हैं—

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

ब्रह्मपुराणके अनुसार तो जो मनुष्य शाकके द्वारा भी श्रद्धा-भक्तिसे श्राद्ध करता है, उसके कुलमें कोई भी दुःखी नहीं होता—

तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति॥

विष्णुपुराण (३।१४।१-२)-के कथनानुसार श्रद्धायुक्त हो श्राद्धकर्म करनेसे केवल पितृगण ही तृप्त नहीं होते, बल्कि ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, वसु, मरुद्गण, विश्वेदेव, पक्षी, मनुष्य, पशु, सरीसृप, ऋषिगण तथा भूतगण—सभी तृप्त होते हैं—

ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवसुमारुतान्।
विश्वेदेवान् पितृगणान् वयांसि मनुजान् पशून्॥
सरीसृपान् ऋषिगणान् यच्चान्यद्भूतसंज्ञितम्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्॥

श्राद्ध-संस्कार न करनेसे हानि—शास्त्रोंसे विदित होता है कि मृत व्यक्तिका अपने सगे-सम्बन्धियोंसे इतना लगाव होता है कि इनके दिये बिना न उसे अन्न मिल सकता है और न जल। फलतः भूख-प्याससे उन्हें दारुण दुःख होता है। महर्षि सुमन्तुजी कहते हैं—

लोकान्तरेषु ये तोयं लभन्ते नान्नमेव च।
दत्तं न वंशजैर्येषां ते व्यथां यान्ति दारुणाम्॥

इसीके साथ ही श्राद्ध न करनेवाला भी जीवनपर्यन्त दुःखी रहता है। आश्विनमासके पितृपक्षमें अपने पितरोंका श्राद्ध न करनेवालेको उनके पितर दारुण शाप देते हैं।

हारीतस्मृतिके अनुसार ऐसे श्राद्धविहीन परिवारमें पुत्र उत्पन्न नहीं होता, कोई नीरोग नहीं रहता, लम्बी आयु नहीं होती तथा किसी भी प्रकार कल्याण प्राप्त नहीं होता—

न तत्र वीरा जायन्ते नारोग्यं न शतायुषः।
न च श्रेयोऽधिगच्छन्ति यत्र श्राद्धं विवर्जितम्॥

श्राद्ध-संस्कारसे पितरोंको श्राद्धान्नकी प्राप्ति—गोत्र एवं नामके उच्चारणके साथ श्राद्धमें पितरोंके निमित्त दी गयी अन्न-जल आदि सामग्री पितरोंके ग्रहण-अनुरूप होकर ही उनके पास पहुँच जाती है। यह व्यवस्था अग्निष्वात्त आदि आजानज पितर करते हैं—

'अग्निष्वात्तादयस्तेषामाधिपत्ये व्यवस्थिताः।'

(पद्मपुराण)

शुभ कार्योंके परिपाकसे यदि पिता देवयोनिको प्राप्त हो गया हो तो दिया गया श्राद्धान्न वहाँ उसे अमृत होकर प्राप्त होता है; इसी प्रकार मनुष्ययोनिमें अन्नरूपमें तथा पशुयोनिमें तृणके रूपमें, नागादि योनियोंमें वायुरूपमें, यक्षयोनिमें पानरूपमें तथा अन्य योनियोंमें भी तदनुरूप भोगजनक एवं तृप्तिकर पदार्थोंके रूपमें प्राप्त होकर उसे तृप्त करता है—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
मर्त्यत्वे ह्यन्नरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्युपतिष्ठति॥
पानं भवति यक्षत्वे नानाभोगकरं तथा।

(मार्कण्डेयपुराण, वायुपुराण, श्राद्धकल्पलता)

श्राद्धके अवसर—श्राद्धके अनेक अवसर हैं, जिनपर श्राद्ध करनेकी विशेष महिमा है, यथा—मन्वन्तरकी मन्वादि तिथियाँ तथा युगादि तिथियाँ, विषुवयोग, व्यतीपातयोग, अयनकाल, संक्रान्तिकाल, ग्रहणकाल इत्यादि। इन तिथियोंमें स्नान करके पितरोंके उद्देश्यसे तिल एवं कुशमिश्रित जलसे तर्पण करना भी अत्यन्त पुण्यकारक और महान् फलदायक होता है। इन कालोंमें भी अमावास्याको विशेषरूपसे श्राद्ध करनेकी बात कही गयी है।

प्रायः वर्षमें दो बार श्राद्ध करना चाहिये—१-क्षयाह-तिथिको और २-पितृपक्षमें।

१-क्षयाहतिथि—व्यक्तिकी मृत्युकी तिथिपर वार्षिक श्राद्ध करना चाहिये। शास्त्रानुसार इस दिन एकोदिष्टश्राद्ध करनेका विधान है, जिसमें केवल मृत जीवके निमित्त एक पिण्डका दान तथा कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाता है।

२-पितृपक्ष—पितृपक्षमें मृत व्यक्तिकी मृत्युतिथिपर मुख्य रूपसे पार्वणश्राद्ध करनेका विधान है, जिसमें पिता, पितामह, प्रपितामह सपत्नीक यानी तीन चटमें छः व्यक्तियोंका श्राद्ध सम्पन्न होता है। इसके साथ ही मातामह, प्रमातामह वृद्धप्रमातामह (नाना, परनाना, वृद्धपरनाना) सपत्नीकके भी तीन चटमें छः व्यक्तियोंका श्राद्ध होता है। इसीके समान एक चट और लगायी जाती है, जिसपर निकटतम सम्बन्धियोंके निमित्त पिण्डदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वेदेवके दो चट लगते हैं। इस प्रकार नौ चट लगाकर नौ ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाता है। उत्तम ब्राह्मण उपलब्ध न होनेपर कम-से-कम एक सन्ध्या-वन्दन आदि करनेवाले सात्त्विक ब्राह्मणको अवश्य भोजन कराना चाहिये। पार्वणमें नवदैवत्यश्राद्ध भी होता है।

श्राद्ध-संस्कारकी सम्पन्नता—एकोदिष्ट एवं पार्वणश्राद्ध-संस्कार किसी कारणवश न हो सकनेकी स्थितिमें कम-से-कम सङ्कल्प करके केवल एक ब्राह्मणको भोजन करा देनेसे भी श्राद्ध सम्पन्न हो जाता है। किसी यात्रामें जाने, रोगी होने या धन न होनेसे पाकभोजन न करा सके तो सङ्कल्प करके केवल सूखा एवं कच्चा अन्न, घृत, चीनी, नमक आदि पदार्थोंको श्राद्धभोजनके निमित्त किसी ब्राह्मणको दे देना चाहिये या गौको गोग्रास खिलाना चाहिये। सब प्रकारके अभाव होनेपर वनमें जाकर अपने दोनों बाहुओंको उठाकर सूर्यको दिखाते हुए विष्णुपुराणके अनुसार उच्च स्वरमें यह कहे—

न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्य-
च्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितॄन्नतोऽस्मि।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ
कृतौ भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य॥

(३।१४।३०)

इसका भाव यह है कि हे मेरे पितृगण! मेरे पास श्राद्धके लिये धन आदि कुछ भी वस्तु नहीं है, मैं अपनी श्रद्धा-भक्ति आपको समर्पित करता हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ, आप तृप्त हो जायँ।

सामान्य रूपसे श्राद्धकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

सर्वप्रथम श्राद्धदेशमें आकर यथास्थान बैठकर आचमन आदिसे पवित्र हो जाय, सभी श्राद्धीय सामग्रियोंको यथास्थान रख ले। गयाधाम तथा गदाधर भगवान् विष्णुका स्मरण-पूजनकर कर्मपात्र बना ले और कर्मपात्रके जलसे अपना तथा सभी श्राद्धीय सामग्रियोंका प्रोक्षण कर ले। तदनन्तर पीली सरसोंसे दिग्रक्षण कर दक्षिण कटिभागमें नीवीबन्धन कर ले। फिर श्राद्धका प्रतिज्ञासङ्कल्प कर निम्न पितृगायत्रीका तीन बार पाठ करे—

ॐ देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः॥

तदनन्तर सङ्कल्पपूर्वक विश्वेदेवों तथा पितरोंको आसनदान दे। आसनदानके अनन्तर विश्वेदेवों तथा पितरोंका आवाहन करे और अर्घपात्रोंका निर्माण कर अर्घ प्रदान करे। अर्घप्रदानके बाद विश्वेदेवों तथा पितरोंका

पूजन करे। तदनन्तर पृथक्-पृथक् मण्डल बनाकर अग्नौकरण करे और पृथक्-पृथक् पात्रोंमें बने हुए पाकमेंसे अन्नपरिवेषण करे। तदनन्तर पात्रालम्भन करके अन्नदानका सङ्कल्प करे, पुनः पितृगायत्रीका पाठ करे तथा वेद-शास्त्रादिका पाठ करे। तदनन्तर विकिरदान करके पिण्डवेदी बनाये। वेदीपर रेखाकरण करे, उल्मुक स्थापित करे और पितरोंके लिये अवनेजनदानका पृथक्-पृथक् सङ्कल्प करे। तत्पश्चात् पिण्डवेदीपर कुश बिछाकर पिण्डदान करे। लेपभाग देकर श्वासनियमन करे और पुनः सङ्कल्पपूर्वक प्रत्यवनेजनदान करे। तदनन्तर नीवीको विसर्जित करे और सूत्रदान तथा पिण्डपूजन करके अक्षय्योदकदानका सङ्कल्प करे। पुनः पिण्डोंपर जलधारा तथा दुग्धधारा दे। तदनन्तर पिण्डाघ्राण करके अर्घसञ्चालन करे और दक्षिणादानका सङ्कल्प करे तथा पितरों और विश्वेदेवका विसर्जनकर पितृगायत्रीका पाठ करके दीपक बुझा दे और श्राद्धकर्म भगवान्‌को अर्पित कर दे। इस प्रकार संक्षेपमें यह श्राद्धकी विधि है। एकोद्दिष्ट, सपिण्डीकरण आदिकी विशेष विधियाँ हैं।

श्राद्धविधिमें श्रद्धा एवं शुद्ध मन्त्रोच्चारणसहित नाम, गोत्रके साथ पितरोंका आवाहन किया जाता है। अतः श्राद्धकर्ममें अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिये। श्राद्ध-संस्कारमें सात चीजें—शरीर, द्रव्य, स्त्री, भूमि, मन, मन्त्र और ब्राह्मण विशेष शुद्ध होने चाहिये तथा इसमें तीन बातों—शुद्धि, अक्रोध और अत्वरा (जल्दबाजी न करने)-का ध्यान रखना चाहिये। श्राद्धमें मन्त्रका विशेष महत्त्व होता है। मन्त्र और नामका उच्चारण शुद्ध न होनेपर श्राद्धमें प्रदत्त वस्तुएँ पितरोंतक नहीं पहुँचतीं।

श्राद्धमें कुतप वेला (दिनमें ११ बजकर ३६ मिनटसे १२ बजकर २४ मिनटतकका समय) अत्यन्त प्रशस्त है। इसी प्रकार दौहित्र (कन्याका पुत्र), कृष्ण तिल, कुश, गङ्गाजल, तुलसी एवं चाँदीकी विशेष महिमा है।

मानवमात्रको अपने पितरोंका श्राद्ध-संस्कार सम्पन्न करके आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करनी चाहिये।

हिन्दूधर्ममें संस्कारोंका महत्त्व

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

'संस्कार' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातुमें 'घञ्' प्रत्यय लगानेपर 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' इस पाणिनीय सूत्रसे भूषण अर्थमें 'सुट्' करनेपर सिद्ध होता है। इसका अर्थ है—संस्करण, परिष्करण, विमलीकरण तथा विशुद्धीकरण आदि। जिस प्रकार किसी मलिन वस्तुको धो-पोंछकर शुद्ध-पवित्र बना लिया जाता है अथवा जैसे सुवर्णको आगमें तपाकर उसके मलोंको दूर किया जाता है और मलके जल जानेपर सुवर्ण विशुद्धरूपमें चमकने लगता है, ठीक उसी प्रकारसे संस्कारोंके द्वारा जीवके जन्म-जन्मान्तरोंसे संचित मलरूप निकृष्ट कर्म-संस्कारोंका भी दूरीकरण किया जाता है। यही कारण है कि हमारे सनातनधर्ममें बालकके गर्भमें आनेसे लेकर जन्म लेनेतक और फिर बूढ़े होकर मरनेतक संस्कार किये जाते हैं। जैसा कि शास्त्रमें कहा गया है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १०)

गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिकर्मतक द्विजमात्रके सभी संस्कार वेदमन्त्रोंके द्वारा ही होते हैं। संस्कारसे मनुष्य द्विजत्वको प्राप्त होता है।

संस्कारोंकी मान्यतामें कुछ मतभेद भी हैं। गौतमधर्मसूत्र (१।८।८)-में ४० संस्कार माने गये हैं—'चत्वारिंशत् संस्कारैः संस्कृतः।' महर्षि अङ्गिरा २५ संस्कार मानते हैं। परंतु व्यासस्मृतिमें १६ संस्कार माने गये हैं। अन्यत्र १६ संस्कारोंके नाम इस प्रकार हैं—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) चूड़ाकरण, (९) कर्णवेध, (१०) उपनयन,

(११) केशान्त, (१२) समावर्तन, (१३) विवाह, (१४) वानप्रस्थ, (१५) परिव्राज्य या संन्यास और (१६) पितृमेध या अन्त्यकर्म-संस्कार।

इन संस्कारोंका व्यासस्मृति एवं मनुस्मृतिके विभिन्न श्लोकोंमें महत्त्वपूर्ण ढंगसे वर्णन किया गया है। अतः इन संस्कारोंका अनुष्ठान करना नितान्त आवश्यक है।

इन संस्कारोंके करनेका अभिप्राय यह है कि जीव न जाने कितने जन्मोंसे किन-किन योनियोंमें अर्थात् पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, सरीसृप, स्थावर, जङ्गम, जलचर, थलचर, नभचर एवं मनुष्य आदि योनियोंमें भटकते हुए किस-किस प्रकारके निकृष्टतम कर्म-संस्कारोंको बटोरकर साथमें ले आते हैं, पता नहीं चलता। इन्हीं कर्म-संस्कारोंको नष्ट-भ्रष्ट करके या क्षीण करके उनके स्थानमें अच्छे और नये संस्कारोंको भर देना या उत्पन्न कर देना ही इन संस्कारोंका अभिप्राय है।

संस्कारोंसे ही बालक सद्गुणी, उच्च विचारवान्, सदाचारी, सत्कर्मपरायण, आदर्शपूर्ण, साहसी एवं संयमी बनेगा। बालकके ऐसा बननेपर देश तथा समाज भी ऐसा ही बनेगा, किंतु बालकके संस्कारहीन होनेसे वह देशको बिगाड़ेगा अर्थात् अधर्माचरणवाला, नास्तिक तथा देशद्रोही बनकर समाजको दूषित करेगा, जिसके परिणामस्वरूप वह चोरी, डकैती, आतङ्कवाद, कलह, वैर तथा युद्ध-जैसी परिस्थिति उपस्थित कर सकता है। इसलिये हिन्दू-समाजके बालकोंका जन्मके पूर्वसे ही संस्कार करानेका विधान है।

सोलह संस्कार

(१) गर्भाधान—संस्कारोंमें गर्भाधान प्रथम संस्कार है। यहींसे बालकका निर्माण होता है। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पश्चात् दम्पती—युगलको पुत्र उत्पन्न करनेके लिये मान्यता दी गयी है। इसलिये शास्त्रमें कहा गया है—**'गर्भाधानं प्रथमतः'** (व्यासस्मृति १।१६)। उत्तम संतान प्राप्त करनेके लिये प्रथम गर्भाधान-संस्कार करना होता है। पितृ-ऋणसे उऋण होनेके लिये ही संतान-उत्पादनार्थ यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारसे बीज तथा गर्भसे सम्बन्धित मलिनता आदि दोष दूर हो जाते हैं, जिससे उत्तम संतानकी प्राप्ति होती है।

(२) पुंसवन—जीव जब पिताके द्वारा मातृगर्भमें आता है, तभीसे उसका शारीरिक विकास होना प्रारम्भ हो जाता है। बालकके शारीरिक विकास अनुकूलतापूर्वक हों, इसीलिये यह संस्कार किया जाता है। शास्त्रमें कहा गया है—**'तृतीये मासि पुंसवः'** (व्यासस्मृति १।१६)। गर्भाधानसे तीसरे महीनेमें पुंसवन-संस्कार किया जाता है। इस संस्कारसे गर्भमें आया हुआ जीव पुरुष बनता है। कहा भी है—**'पुमान् सूयते येन कर्मणा तदिदं पुंसवनम्।'** जिस कर्मसे वह गर्भस्थ जीव पुरुष बनता है, वही पुंसवन-संस्कार है।

वैद्यक शास्त्रके अनुसार चार महीनेतक गर्भका लिङ्गभेद नहीं होता है। इसलिये लड़का या लड़कीके चिह्नकी उत्पत्तिसे पूर्व ही इस संस्कारको किया जाता है। इस संस्कारमें औषधिविशेषको गर्भवती स्त्रीकी नासिकाके छिद्रसे भीतर पहुँचाया जाता है। सुश्रुतसंहिता (२।३४)-के अनुसार जिस समय स्त्रीने गर्भधारण कर रखा हो, उन्हीं दिनोंमें लक्ष्मणा, वटशुंगा, सहदेवी और विश्वदेवा—इनमेंसे किसी एक औषधिको गोदुग्धके साथ खूब महीन पीसकर उसकी तीन या चार बूँदें उस स्त्रीकी दाहिनी नासिकाके छिद्रमें डाले। इससे उसे पुत्रकी प्राप्ति होगी।

(३) सीमन्तोन्नयन—इस संस्कारका उद्देश्य है गर्भिणी स्त्रीकी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक स्वस्थता, संयम, संतुष्टि एवं गर्भस्थ शिशुकी शरीरवृद्धिका उपाय करना। अतः छठे या आठवें मासमें इस संस्कारको अवश्य कर लेना चाहिये।

(४) जातकर्म—गर्भस्थ बालकके जन्म होनेपर यह संस्कार किया जाता है—**'जाते जातक्रिया भवेत्।'** इसमें सोनेकी शलाकासे विषम मात्रामें घृत और मधु घिस करके बालकको चटाया जाता है। इससे माताके गर्भमें जो रस पीनेका दोष है, वह दूर हो जाता है और बालककी आयु तथा मेधाशक्तिको बढ़ानेवाली औषधि बन जाती है। सुवर्ण वातदोषको दूर करता है, मूत्रको भी स्वच्छ बना देता है और रक्तके ऊर्ध्वगामी दोषको भी दूर कर देता है। मधु लाला (लार)-का संचार करता है और रक्तका शोधक होनेके साथ-साथ बलपुष्टिकारक भी है।

(५) नामकरण—नामकरण-संस्कार बालकके जन्म

होनेके ग्यारहवें दिनमें कर लेना चाहिये। कारण यह है कि पराशरस्मृतिके अनुसार जन्मके सूतकमें ब्राह्मण दस दिनमें, क्षत्रिय बारह दिनमें, वैश्य पंद्रह दिनमें और शूद्र एक मासमें शुद्ध होता है। अतः अशौच बीतनेपर ही नामकरण-संस्कार करना चाहिये; क्योंकि नामके साथ मनुष्यका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

नाम प्रायः दो होते हैं, एक गुप्त नाम दूसरा प्रचलित नाम। जैसे कहा है—**'द्वे नामनी कारयेत् नाक्षत्रिकं नाम अभिप्रायिकं च'** (चरकसंहिता)। दो नाम निश्चित करें, एक नाम नक्षत्र-सम्बन्धी हो और दूसरा नाम रुचिके अनुसार रखा गया हो। गुप्त नाम केवल माता-पिताको छोड़कर अन्य किसीको मालूम न हो। इससे उसके प्रति किया गया मारण, उच्चाटन तथा मोहन आदि अभिचार कर्म सफल नहीं हो पाता है। नक्षत्र या राशियोंके अनुसार नाम रखनेसे लाभ यह है कि इससे जन्मकुण्डली बनानेमें आसानी रहती है। नाम भी बहुत सुन्दर और अर्थपूर्ण रखना चाहिये, अशुभ तथा भद्दा नाम कदापि नहीं रखना चाहिये।

(६) निष्क्रमण—बालकको घरके भीतरसे बाहर निकालनेको निष्क्रमण कहते हैं। इसमें बालकको सूर्यका दर्शन कराया जाता है। बच्चेके पैदा होते ही उसे सूर्यके प्रकाशमें नहीं लाना चाहिये। इससे बच्चेकी आँखोंपर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इसलिये जब बालककी आँखें तथा शरीर कुछ पुष्ट बन जायँ, तब इस संस्कारको करना चाहिये।

(७) अन्नप्राशन—इस संस्कारमें बालकको अन्न ग्रहण कराया जाता है। अबतक तो शिशु माताका दुग्धपान करके ही वृद्धिको प्राप्त होता था, अब आगे स्वयं अन्न ग्रहण करके ही शरीरको पुष्ट करना होगा; क्योंकि प्राकृतिक नियम सबके लिये यही है। अब बालकको परावलम्बी न रहकर धीरे-धीरे स्वावलम्बी बनना पड़ेगा। केवल यही नहीं, आगे चलकर अपना तथा अपने परिवारके सदस्योंके भी भरण-पोषणका दायित्व सँभालना होगा। यही इस संस्कारका तात्पर्य है।

(८) चूडाकरण—अन्नप्राशन-संस्कार करनेके पश्चात् चूडाकरण-संस्कार करनेका विधान है। यह संस्कार पहले या तीसरे वर्षमें कर लेना चाहिये। मनुस्मृति (२। ३५)-के कथनानुसार द्विजातियोंका पहले या तीसरे वर्षमें (अथवा कुलाचारके अनुसार) मुण्डन कराना चाहिये—ऐसा वेदका आदेश है। कारण यह है कि माताके गर्भसे आये हुए सिरके बाल अर्थात् केश अशुद्ध होते हैं। दूसरी बात वे झड़ते भी रहते हैं, जिससे शिशुके तेजकी वृद्धि नहीं हो पाती। उन केशोंको मुँडवाकर शिशुकी शिखा (चोटी) रखी जाती है। शिखासे आयु और तेजकी वृद्धि होती है।

(९) कर्णवेध—यह संस्कार कर्णेन्द्रियमें श्रवणशक्तिकी वृद्धि, कर्णमें आभूषण पहनने तथा स्वास्थ्यरक्षाके लिये किया जाता है। विशेषकर कन्याओंके लिये तो कर्णवेध नितान्त आवश्यक माना जाता है। इसमें दोनों कानोंको वेध करके उसकी नसको ठीक रखनेके लिये उसमें सुवर्णका कुण्डल धारण कराया जाता है। इससे शारीरिक-लाभ होता है।

(१०) उपनयन—मनुष्य-जीवनके लिये यह संस्कार विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस संस्कारके अनन्तर ही बालकके जीवनमें भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग प्रशस्त होता है। इस संस्कारमें वेदारम्भ-संस्कारका भी समावेश है। इसीको यज्ञोपवीत-संस्कार भी कहते हैं। इस संस्कारमें वटुकको गायत्रीमन्त्रकी दीक्षा दी जाती है और यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। इस संस्कारके बाद ही वेदारम्भ होता है। विशेषकर अपनी-अपनी शाखाके अनुसार वेदाध्ययन किया जाता है।

यह संस्कार ब्राह्मणबालकका आठवें वर्षमें, क्षत्रियबालकका ग्यारहवें वर्षमें और वैश्यबालकका बारहवें वर्षमें होता है। कन्याओंको इस संस्कारका अधिकार नहीं दिया गया है। केवल विवाह-संस्कार ही उनके लिये द्विजत्वके रूपमें परिणत करनेवाला संस्कार माना गया है।

(११) केशान्त—बालकका प्रथम मुण्डन प्रायः पहले या तीसरे वर्षमें हो जाता है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। प्रथम मुण्डनका प्रयोजन केवल गर्भके केशमात्र दूर करना होता है। उसके बाद इस केशान्त-

संस्कारमें भी मुण्डन करना होता है, जिससे बालक वेदारम्भ तथा क्रिया-कर्मोके लिये अधिकारी बन सके अर्थात् वेद-वेदाङ्गोंके पढ़ने तथा यज्ञादिक कार्योंमें भाग ले सके। इसलिये कहा भी है—'**केशान्तकर्मणा तत्र यथोक्तचरितव्रतः**' (व्यासस्मृति १।४१)। अर्थात् शास्त्रोक्त विधिसे भलीभाँति व्रतका आचरण करनेवाला ब्रह्मचारी इस केशान्त-संस्कारमें सिरके केशोंको तथा श्मश्रुके बालोंको कटवाता है।

(**१२**) **समावर्तन**—यह संस्कार विद्याध्ययन पूर्ण हो जानेपर किया जाता है। प्राचीन परम्परामें बारह वर्षतक आचार्यकुल या गुरुकुलमें रहकर विद्याध्ययन परिसमाप्त हो जानेपर आचार्य स्वयं शिष्योंका समावर्तन-संस्कार करते थे। उस समय वे अपने शिष्योंको गृहस्थ-सम्बन्धी श्रुतिसम्मत कुछ आदर्शपूर्ण उपदेश देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेशके लिये प्रेरित करते थे।

जिन विद्याओंका अध्ययन करना पड़ता था, वे हैं—चारों वेद, वेदाङ्गमें—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषशास्त्र। उपवेदमें—अर्थवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद आदि। ब्राह्मणग्रन्थोंमें—शतपथब्राह्मण, ऐतरेयब्राह्मण, ताण्ड्यब्राह्मण और गोपथब्राह्मण आदि। उपाङ्गोंमें—पूर्वमीमांसा, वैशेषिकशास्त्र, न्याय (तर्कशास्त्र), योगशास्त्र, सांख्यशास्त्र और वेदान्तशास्त्र आदि।

(**१३**) **विवाह**—स्नातकोत्तर जीवन विवाहका समय होता है अर्थात् विद्याध्ययनके पश्चात् विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना होता है। यह संस्कार पितृ-ऋणसे उऋण होनेके लिये किया जाता है। मनुष्य जन्मसे ही तीन ऋणोंसे ऋणी बनकर जन्म लेता है। देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण—ये तीन ऋण हैं। इनमेंसे अग्निहोत्र अर्थात् यज्ञादिक कार्योंसे देव-ऋण, वेदादिक शास्त्रोंके अध्ययनसे ऋषि-ऋण और विवाहित पत्नीसे पुत्रोत्पत्ति आदिके द्वारा पितृ-ऋणसे उऋण हुआ जाता है।

(**१४**) **वानप्रस्थ**—पुत्रका पुत्र अर्थात् पौत्रका मुख देख लेनेके पश्चात् पितृ-ऋण चुक जाता है। यदि घर छोड़नेकी सम्भावना न हो तो घरका दायित्व ज्येष्ठ पुत्रको सौंपकर अपने जीवनको आध्यात्मिक जीवनमें परिवर्तित कर लेना चाहिये। स्वाध्याय, मनन, सत्सङ्ग, ध्यान, ज्ञान, भक्ति तथा योगादिक साधनाके द्वारा अपने जीवनस्तरको ऊँचा उठाना चाहिये। इससे संन्यासधर्मके लिये योग्यता भी आ जाती है।

(**१५**) **परिव्राज्य या संन्यास**—संन्यासका अभिप्राय है सम्यक् प्रकारसे त्याग। संन्यास-आश्रममें प्रवेश करनेके लिये भी संस्कार करना पड़ता है। इसलिये श्रुतिमें कहा गया है—'**ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।**' (परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्)

अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे, गृहस्थाश्रमके पश्चात् वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करे और उसके बाद अन्तिम—चौथे संन्यास आश्रममें प्रवेश करे, यही वैदिक मान्यता है। संन्यास-आश्रममें प्रवेश करके ब्रह्मविद्याका अभ्यास करना पड़ता है और ब्रह्माभ्यासके द्वारा कैवल्य—मोक्षकी प्राप्तिका उपाय करना होता है। केवल यही नहीं, पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा आदि समस्त एषणाओंका परित्याग भी कर देना होता है। इससे मोक्षमार्ग प्रशस्त बन जाता है। जो संन्यासी आश्रम—मठोंसे बाहर विचरण करते हों, उनके लिये भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेका विधान किया गया है।

(**१६**) **पितृमेध या अन्त्यकर्म**—यह अन्तिम संस्कार है। मृत्युके पश्चात् यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारको पितृमेध, अन्त्यकर्म, दाह-संस्कार, श्मशानकर्म तथा अन्त्येष्टि-क्रिया आदि भी कहते हैं। यह संस्कार भी वेदमन्त्रोंके उच्चारणके द्वारा होता है। हिन्दूधर्ममें मृत्युके बाद दाह-संस्कार करनेका विधान है। केवल संन्यासी-महात्माओंके लिये—निरग्नि होनेके कारण शरीर छूट जानेपर भूमिसमाधि या जलसमाधि आदि देनेका विधान है, कहीं-कहीं संन्यासीका भी दाह-संस्कार किया जाता है और उसमें कोई दोष नहीं माना जाता है। ये वे सोलह संस्कार हैं, जो हिन्दूधर्मके मेरुदण्डके समान हैं।

संस्कारोंके निर्माणके मूल तत्त्व

(श्रीसुशीलजी चौमाल)

नवीन संस्कारोंके निर्माणमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो मानवको विशेषरूपसे प्रभावित करते हैं, फलतः वे सूक्ष्म संस्कार घनीभूत होकर व्यक्तिका जीवन तद्वत् गतिशील बनाते हैं। अच्छा परिवेश, अच्छा वातावरण मिले तो अच्छे संस्कारोंके निर्माणकी सम्भावना रहती है और बुरा परिवेश मिलनेपर व्यक्ति असन्मार्गमें आरूढ़ हो जाता है। संतजनोंका साथ, भगवद्भक्ति, गङ्गादि पवित्र नदियोंमें नित्य स्नान आदि ऐसे तत्त्व हैं, जो व्यक्तिको उत्तम संस्कारसम्पन्न बनाकर उसके आध्यात्मिक पथको प्रशस्त कर देते हैं। यहाँ संक्षेपमें कुछ बातोंको दिया जा रहा है—

१-सत्सङ्ग

सत्सङ्गति बुद्धिकी जड़ताको हरती है, वाणीमें सत्यका सञ्चार करती है, सम्मानकी वृद्धि करती है, पापोंको दूर करती है, चित्तको प्रसन्न करती है और दसों दिशाओंमें कीर्तिको फैलाती है। कहो, सत्सङ्गति मनुष्यमें क्या नहीं करती।*

अच्छे लोगोंका साथ करनेसे बुद्धि निर्मल और तेज होती है, सत्य बोलनेकी प्रेरणा मिलती है। बुद्धिके शुद्ध होनेसे अच्छे कार्य होते हैं, सत्य बोलनेसे वाणीका तेज बढ़ता है, मनमें प्रसन्नता आती है। इसीलिये कहा गया है कि सज्जनोंके साथ रहना चाहिये, सज्जनोंका ही सङ्ग करना चाहिये और सज्जनोंसे ही विचार-विमर्श और मित्रता भी करनी चाहिये। असज्जनसे तो कोई सम्पर्क ही नहीं रखना चाहिये—

सद्भिरासीत सततं सद्भिः कुर्वीत सङ्गतिम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत्॥

(गरुडपुराण पूर्व० ११३।२)

नीतिमें बताया गया है कि सज्जनोंका साथ, भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति और गङ्गाजलमें स्नान—ये तीन इस असार संसारमें सारतत्त्व हैं—

सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाम्भसि निमज्जनम्।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्॥

यदि अच्छे व्यक्तियोंका, सत्पुरुषोंका, संत-महात्माओंका साथ हो तो उसका सुफल शीघ्र ही मिलता है। कठिन समयमें इनसे प्रेरणा मिलती है, अच्छी सलाह मिलती है, हर प्रकारका सहयोग मिलता है। साथ ही इनसे किसी प्रकारका नुकसान होनेकी सम्भावना भी नहीं रहती, बल्कि बिगड़ते हुए कार्यको ये सुधार भी देते हैं। ये लोक भी बना देते हैं तथा परलोक भी बना देते हैं।

मनुष्यकी बुद्धि उसकी मनोवृत्तिके अनुसार होती है, लेकिन उसका चरित्र साथ रहनेवालोंसे प्रभावित होता है। इस जीवनमें तीन अच्छे एवं सच्चे मित्र हैं—मधुरभाषण, सज्जनोंका साथ तथा अच्छे संस्कार—ये तीनों जिनके पास हैं, वे सबसे अधिक सुखी हैं। पारस पत्थर यदि लोहेको स्पर्श कर दे तो वह सोना हो जाता है, पर सज्जन पुरुष तो अपने साथ रहनेवालेको अपने-जैसा ही बना लेते हैं। महर्षि वाल्मीकिकी कथा सबको ज्ञात है। वे जंगलमें रहते थे और आने-जानेवाले पथिकोंको लूट लिया करते थे, नारदमुनिकी कृपा हुई और रत्नाकर नामक क्रूर, हिंसक व्यक्ति वाल्मीकि मुनिके नामसे विख्यात हो गये।

कुसङ्गतिसे फलित कुसंस्कारोंमें पड़कर मनुष्यकी बुद्धि दूषित हो जानेपर वह बुरे कर्म करता है, जिससे सभी उससे दूर रहने लगते हैं। सत्सङ्गतिसे फलित अच्छे संस्कारोंसे बुद्धि अच्छे कार्योंमें लगती है, सन्मार्गपर उसका लगाव होता है। संत-पुरुषोंके गुण उसके अंदर आने लगते हैं। दान, धर्म, क्षमा, परोपकार-जैसे उत्तम गुण अपने अंदर

* जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥ (नीतिशतक २३)

आते हैं। अतः बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि सदैव अच्छे संस्कारोंको अपनाये और बुरे संस्कारोंसे दूर रहे अर्थात् सज्जनोंका साथ करे और दुर्जनोंका साथ छोड़ दे। विदुरनीतिमें ये छः लौकिक सुख कहे गये हैं—नीरोग रहना, ऋण न लेना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगों—संतोंका साथ, स्वतन्त्र आजीविका और सदा निर्भय रहना।* यह ध्यान रखना चाहिये कि इन सबमें संतोंका साथ रखकर अच्छे संस्कारोंका निर्माण सर्वोपरि सुख है।

२-भगवद्भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय १२में श्लोक-संख्या १३ से २० तकके श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय भक्तोंके लक्षण, गुण, कर्तव्य, संसारमें रहनेके नियम और जन्म-मरणके चक्करसे मुक्त होनेकी राह बतलायी है। मात्र ८ श्लोक हैं, किंतु ये अच्छे संस्कारोंके मूलभूत हैं। बहुत महत्त्वके होनेसे तथा भगवद्वाणी होनेसे ये श्लोक यहाँ दिये जा रहे हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है।

जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है—वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है।

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।

उपर्युक्त श्लोकोंको प्रतिदिन पढ़ना चाहिये, इनके अर्थका मनन करना चाहिये और इन गुणोंको धारण करनेका पूर्ण प्रयास करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि यदि इनमेंसे एक गुणकी भी अपनेमें प्रतिष्ठा हो जाय तो लोक-परलोक दोनों बन जायँ।

---

* आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः। स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

(विदुरनीति १।९४)

३-गङ्गा आदि पवित्र नदियोंमें स्नान

अच्छे संस्कारोंके निर्माण, उनकी प्रतिष्ठा एवं मर्यादाकी रक्षाके लिये गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके जलमें नित्य स्नान, तर्पण, दान आदिका नियम ले लेनेसे व्यक्तिमें सदाचारकी प्रतिष्ठा हो जाती है। उसके सन्ध्या आदि नियम भी सरलतासे सध जाते हैं। कदाचित् नित्य प्रातः-स्नान, सन्ध्या आदिका नियम बन जाय तो अन्य संस्कारोंकी मूलभित्ति तैयार हो जाती है; क्योंकि यह सबसे बड़ा संस्कार है और नवीन संस्कारोंके निर्माणमें इसका विशेष योगदान है।

४-भोजनका संस्कारोंपर प्रभाव

भोजनको सामान्य खाना न मानकर उसे प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिये। बहुत ही निर्मल, शुद्ध और प्रेमके वातावरणमें भोजन—प्रसाद बने और पूर्ण प्रेमसे ईश्वरको भोग लगाकर प्रसाद ग्रहण करना चाहिये। भोजन—प्रसादकी यही सार्थकता है। प्रसादका वितरण कर फिर स्वयं ग्रहण करना चाहिये।

भोजन बनाते समय तथा ग्रहण करते समय हम जिस विचारधारामें होते हैं, जो देखते हैं, सुनते हैं, सोचते हैं या मनन करते हैं—वैसे ही अन्नके संस्कारोंसे हम धीरे-धीरे प्रभावित होकर वैसे ही बन जाते हैं। संस्कारित भोजनके अभ्याससे अच्छे संस्कारोंका जीवनमें समावेश हो जाता है।

५-वाणीका नियन्त्रण

वाणीका नियन्त्रण भी एक उत्तम संस्कार है और उत्तम संस्कारोंको जन्म देता है। इसीलिये वाक्-संयमको तपकी संज्ञा दी गयी है। ऐसे ही क्षमा भी विशाल हृदयकी एक उदात्त वृत्ति है; यह साधुताका प्रधान लक्षण है। अतः संस्कारसम्पन्न होनेके लिये इन गुणोंको आत्मसात् करना चाहिये।

परिवार—संस्कारोंकी आधारशिला

(श्रीजगदीशचन्द्रजी मेहता, एम०ए०, बी०एड०)

सुसंस्कारित पारिवारिक जीवन-पद्धति भारतीय संस्कृति और सनातन धर्मकी आधारशिला है। मनुष्य जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त परिवारमें ही रहते हुए जीवन व्यतीत करता है। उसके संस्कारोंका निर्माण, उसकी दिनचर्या (प्रातःकालसे रात्रिशयनतक), बोलचाल, आचार-विचार, रहन-सहन, आहार-विहार तथा आचरण—ये सब प्रायः परिवारके अनुसार बनते हैं। *'एकै साधे सब सधै'* की कहावतके अनुसार बालकका सर्वाङ्गीण सुसंस्कारित विकास होनेपर मानवमात्र सुसंस्कारित हो जायगा; क्योंकि वह परिवार, समाज, देश और विश्वकी एक इकाईके रूपमें है और उसका भावी निर्माता है। कहावत है कि 'शिशुकी प्रथम पाठशाला परिवार है।' माता-पिता ही प्रथम गुरु हैं।

बालकका लालन-पालन, चरित्र-निर्माण, नैतिक आचरण और उसकी शिक्षा-दीक्षा—ये सब माता-पिताके हाथोंमें होते हैं। माता-पिता, बूढ़े-बुजुर्गोंके समस्त क्रिया-कलाप, आचरण-व्यवहार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे देख-सुनकर बालक तदनुरूप उन्हें ग्रहण करता है और ये ही संस्कार उसके भावी जीवन, कोमल बुद्धिपर तथा मनरूपी हृदयपटलपर छा जाते हैं, जिससे उसके जीवनका निर्माण होता है। जैसे शिवाजीकी माताने बाल्यकालसे ही उन्हें जो सर्वाङ्गीण शिक्षा दी, उसीके कारण शिवाजी भारतीय वीरोंमें शिरोमणि बने।

अतएव माता-पिता, परिवारके सदस्यों, रिश्तेदारों, पास-पड़ोस, बड़े-बूढ़े, गुरुजनों, शिक्षकोंका परम कर्तव्य है, उत्तरदायित्व है, धर्म है कि वे स्वयंको सुसंस्कारित बनायें और अपने ही सुसंस्कारोंके द्वारा सकारात्मक चिन्तनसे तथा नैतिक-चारित्रिक आचरणसे, काम, क्रोध, लोभ तथा अभिमानसे रहित होकर निःस्वार्थ प्रेम-भावसे, त्याग और बलिदानसे, अपना उत्तम विचार एवं व्यवहार बालकपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न करें, जिससे बालकमें निम्न शिक्षाप्रद संस्कारसम्पन्न सात्त्विक गुणोंका प्रस्फुटन हो सके—

१-'सत्यं वद'—सत्य बोलो।

२-'धर्मं चर'—धर्मका आचरण करो।

३-'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'—अध्ययनमें चूक मत करो।

४-'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'—सत्य बोलनेसे जी नहीं चुराना।

५-'धर्मान्न प्रमदितव्यम्'—धर्मके पालनसे मुँह नहीं मोड़ना।

६-'मातृदेवो भव'—मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो।

७-'पितृदेवो भव'—पिताको देवरूप समझनेवाले होओ।

८-'आचार्यदेवो भव'—गुरु (शिक्षक)-को देवरूप समझनेवाले बनो।

९-'अतिथिदेवो भव'—अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ।

जिस प्रकार कुम्हार मिट्टीके बर्तन बनाते समय कच्चे घड़े (बर्तन)-पर जो भी आकृति, कलाकृति, डिजाइन या लाइन (लकीर) बना देता है, वह अन्त समयतक (बर्तनके टूटनेतक) बनी रहती है, मिटती नहीं है, अमिट रहती है। उसी प्रकार माता-पिता, गुरु, परिवारद्वारा डाले गये सुसंस्कार या कुसंस्कार उसके हृदयपटलपर—मनमें मृत्युतक बने रहते हैं।

बालकके चरित्र-निर्माणके लिये दैवी सम्पदा* युक्त संस्कार डाले जायँ, जिससे उसका जीवन ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हो सके और उसे सच्चिदानन्दघनकी प्राप्ति हो सके। कुसंस्कारोंकी छाप होनेपर आसुरी वृत्ति—आसुरी सम्पदा (गीता १६।४, ७—२१)-की ओर बढ़कर व्यक्ति अधोगतिको प्राप्त होता है, वह विनाशकारी नरकके तीन द्वारोंकी ओर जायगा। 'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः' (गीता १६।२१)। काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके द्वार बताये गये हैं, जो चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण कराते हैं और जीवको रसातलमें ले जाते हैं। आजका भारतीय युवा पाश्चात्त्य सभ्यता, संस्कृति तथा संस्कारोंका अन्धानुकरण करनेमें अपनी शान एवं गरिमा समझता है तथा समाजमें अपने-आपको उच्च शिखरपर बैठा हुआ मानता है। केवल युवा ही क्यों, प्रायः सभी आयुवर्गोंकी यही स्थिति है। बच्चोंपर तो इसका जो प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ रहा है और जो कुसंस्कार उनमें पनप रहे हैं, उसका भी रूप सामने दिखायी दे रहा है; अतः बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। ऐसी स्थितिमें बच्चे कैसे आज्ञाकारी बनेंगे, कैसे पढ़ने-लिखनेमें उनका मन लगेगा और कैसे वे अनुशासनपालनका पाठ पढ़ सकेंगे?

यह बात भी सर्वथा असत्य नहीं कि आजके माता-पिता एवं अभिभावकोंमें सनातनधर्मकी आचार-संहिताकी प्रतिष्ठा न होनेसे उनके कुसंस्कार ही बच्चोंके आचरण बन रहे हैं। इस बातपर विचार करना चाहिये।

ऐसी स्थितिमें हम चाहें कि परिवारमें, समाजमें, विद्यालयमें बालक सुसंस्कारित बनें तो यह कैसे सम्भव है? यह विचारणीय बिन्दु है। इसलिये पारिवारिक जनोंको चाहिये कि यथाशक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या, निन्दा तथा अहङ्कारका त्याग करते हुए प्रेम, शान्ति आदि सात्त्विक गुणोंको अपनेमें लायें, ताकि बालकपर भी उनका प्रभाव पड़ सके। इसी प्रकारका सुसंस्कृत परिवार ही उत्तम संस्कारोंको जन्म दे सकता है।

---

* अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (गीता १६।१—३)

[श्रीभगवान् बोले—] भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।

मनुस्मृति और संस्कार

(साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

स्मृतिकार महाराज मनुने संस्कारका केन्द्रीय अर्थ मन, वचन और शरीरकी पवित्रता या शुद्धिसे संदर्भित माना है। इसके लिये उनका यह वचन नीतिकारोंके लिये भी ग्राह्य हुआ है—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
(६।४६)

अर्थात् देखनेमें पवित्र प्रतीत होनेवाली भूमिपर पैर रखना चाहिये, वस्त्रसे छाना हुआ जल पीना चाहिये, सत्यसे पवित्र वचन बोलना चाहिये और मनसे पवित्र आचरण करना चाहिये।

मनुने गर्भाधानसे अन्त्येष्टितक बारह संस्कारोंको परिभाषित किया है। उन्होंने कर्णवेध, विद्यारम्भ, वेदारम्भ और अन्त्येष्टिका प्रकारान्तरसे स्वतन्त्र वर्णन किया है। ये सभी सोलह संस्कार मानवके मन, वचन और शरीरके पवित्रीकरणसे जुड़े हुए हैं। मनुने अपनी स्मृतिका निर्माण मानवकी बहिरन्तःशुद्धिके लिये ही किया है, इसलिये मनुस्मृतिकी अपर संज्ञा मानव-धर्मशास्त्र है। उन्होंने मन, वचन और शरीरजनित कर्मोंके शुभाशुभ फलोंके अनुसार ही मनुष्यकी उत्तम, मध्यम और अधम गतिकी प्राप्तिका निर्देश किया है—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥
(१२।३)

इसलिये मनुष्यको मन, वचन और शरीर—इन तीनों स्तरोंपर संस्कारशुद्ध होना अनिवार्य है। इन तीनों स्तरोंके कर्मोंकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है—

मानस कर्म—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥
(१२।५)

अर्थात् मनमें पराये धनको हड़पनेका और मनसे अनिष्ट करनेका चिन्तन तथा मिथ्या अवधारणाके प्रति आसक्ति—ये तीनों अशुभ फलदायक मानस कर्म हैं।

वाचिक कर्म—

पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
(१२।६)

अर्थात् अप्रिय और असत्य बोलना, चुगली करना और असम्बद्ध बकवास करना—ये चार अशुभ वाचिक कर्म हैं।

शारीरिक कर्म—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥
(१२।७)

अर्थात् अन्यायपूर्वक बिना दिये दूसरेका धन ले लेना, शास्त्रनिषिद्ध हिंसा करना और परस्त्रीका सेवन करना—ये तीन शरीरजन्य अशुभ कर्म हैं।

इस प्रकार तीन प्रकारके मानस, चार प्रकारके वाचिक और तीन प्रकारके शारीरिक—इन दस प्रकारके धर्मरहित कर्मोंका त्याग कर देना चाहिये।

मनुने धर्मको ब्रह्मज्ञानके अङ्गभूत संस्काररूपमें स्वीकार करते हुए कहा है—राग-द्वेषसे रहित तथा वैदिक संस्कारसे युक्त धार्मिक विद्वानोंद्वारा अनुष्ठित एवं हृदयसे स्वीकृत धर्म ही सच्चा धर्म है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥
(२।१)

मनुने वैदिक संस्कारोंपर बहुत बल दिया है। इसीलिये उन्होंने वेदोंको धर्मका मूल कहा है। जो वेद जानता है, वही स्मृति और शीलकी रक्षा कर सकता है। धार्मिकोंका आचार तथा विकल्पात्मक स्थितिसे आत्मतुष्टि ही प्रामाण्य है। महाकवि कालिदासने कहा है—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' (अभिज्ञानशाकुन्तल १।२१)। संदेहास्पद स्थितिमें सज्जनोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण है। अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही आत्मतुष्टि है। मनुने इसी आत्मतुष्टिकी ओर साग्रह संकेत किया है।

संस्कारवान् व्यक्ति ही शीलवान् होता है। मनुस्मृतिकी

मन्वर्थमुक्तावली नामक टीकाके लेखक आचार्य कुल्लूक भट्टने मनुस्मृतिके 'स्मृतिशीले च तद्विदाम्' (२।६)-की टीकामें हारीतके द्वारा निर्दिष्ट शीलके तेरह परिचायक तत्त्वोंकी चर्चा की है—'**ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्।**' अर्थात् १-वेदज्ञ ब्राह्मणोंके प्रति समादर-भावना, २-देव और पितरोंके प्रति भक्तिभावना, ३-सौम्यता, ४-दूसरोंको पीड़ा न पहुँचाना, ५-दूसरोंके गुणोंकी उत्कृष्टताके प्रति दोषारोपण न करनेकी भावना, ६-व्यवहारमें कोमलता, ७-निष्ठुरतासे रहित मनोभावना, ८-सबके प्रति मैत्रीभाव, ९-प्रियवादिता, १०-कृतज्ञता, ११-शरणागतकी रक्षा करना, १२-दया या करुणाकी भावना और १३-शान्तचित्तता—ये तेरह शीलके स्वरूप हैं।

मनु पवित्र वैदिक कर्मोद्वारा सम्पन्न शरीर-संस्कारोंको उससे भी अधिक महत्त्व देते हैं। इसलिये उन्होंने गर्भशुद्धि-कर्म, हवनकर्म, जातकर्म (शिशुओंके मधु, घृतप्राशन आदि) चूड़ाकरणकर्म (मुण्डन), उपनयनकर्म आदिको संस्कारवृद्धिके लिये आवश्यक माना है और इन कर्मोंको सम्पन्न करनेका विस्तारसे विधिवत् उल्लेख किया है।

मनुने बारह संस्कारोंका इस प्रकार उल्लेख किया है—

१. गर्भाधान (गर्भशुद्धिके लिये सम्पन्न होनेवाले कर्म)।

२. पुंसवन (गर्भाधानके चिह्न प्रकट होनेपर पुत्रोत्पत्तिके उद्देश्यसे किया जानेवाला कर्म)।

३. सीमन्तोन्नयन (गर्भाधानके चौथे, छठे या आठवें महीनेमें होनेवाला गर्भिणीके बालोंका विभाजनरूप कर्म)।

४. जातकर्म (जातकका सुवर्ण-घृतप्राशन आदि कर्म)।

५. नामकर्म (नामकरणका कर्म)।

६. निष्क्रमण (शिशुको चौथे महीने सूर्यदर्शनके निमित्त घरसे बाहर निकालना)।

७. अन्नप्राशन (जन्मके छठे महीने पहली बार बच्चेको अन्न खिलानेका कर्म)।

८. चूड़ाकर्म (मुण्डन)।

९. उपनयन (यज्ञोपवीत)।

१०. केशान्त (यज्ञोपवीतके बाद सिरके केशोंका मुण्डनकर्म)।

११. समावर्तन (वेदाध्ययन समाप्त करके ब्रह्मचारीका घर वापस आना)।

१२. विवाह (स्त्री-पुरुषका परस्पर दाम्पत्य-सूत्रमें आबद्ध होना)।

मनुने अन्नगत-संस्कारके प्रति भी विशेष बल दिया है। वे कहते हैं—अन्नकी सदा पूजा करनी चाहिये और अन्नका ग्रहण अनिन्दितभावसे करना चाहिये। भोजनके समय अन्नको देखकर हर्ष और प्रसन्नता व्यक्त करे तथा प्रणामपूर्वक उसे ग्रहण करे—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥ (२।५४)

पूजित अन्न बल (सामर्थ्य) और ऊर्जा (वीर्य) प्रदान करता है। वही अपूजित होनेकी स्थितिमें बल और ऊर्जा दोनोंका नाश कर देता है—

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ (२।५५)

अपना जूठा अन्न किसीको नहीं देना चाहिये। दिन और सन्ध्याके भोजनके बादकी अवधिमें दुबारा भोजन नहीं करना चाहिये। दो बारके नियमित भोजनमें भी अधिक भोजन नहीं लेना चाहिये और जूठा हाथ-मुँह लिये कहीं नहीं जाना चाहिये। अति भोजन अस्वास्थ्यकर, आयु एवं बलको कम करनेवाला, स्वर्गकी गतिको रोकनेवाला, पुण्यक्षयकारी और लोकनिन्दनीय होता है, इसलिये उसका वर्जन करना चाहिये—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत्परिवर्जयेत्॥ (२।५६-५७)।

मनुने स्त्रियोंके लिये विवाह-विधिको ही उपनयन-स्थानीय वैदिक संस्कार कहा है और पतिकी सेवा ही उनके लिये गुरुकुलमें रहनेके समान है। गृहकार्य ही उनके लिये सायं-प्रातः अग्निसेवा या हवनकार्य है तथा यही

उनके लिये वैदिक कर्म भी है। मूलवचन इस प्रकार हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥
अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम्॥

(२।६७, ७ क्षेपक)

युवा पीढ़ीमें बड़े-बूढ़ोंके प्रति सम्मानका संस्कार जगानेके लिये मनुने अपनी जागरूकता प्रदर्शित की है। उन्होंने बताया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२।१२१)

अर्थात् वृद्धोंके प्रति अभिवादनशील और उनकी सेवामें सदा तत्पर व्यक्ति आयु, विद्या, यश और बलसे समृद्ध होता है। आयुवृद्धिकी वैज्ञानिकताको स्पष्ट करते हुए मनु लिखते हैं—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥

(२।१२०)

युवाके सामने जब बूढ़ा आता है, तब युवाकी हृदयस्थित प्राणवायु देहसे बाहर निकल जाना चाहती है—ऊपर चढ़ती है। ऐसी स्थितिमें जब युवा बूढ़ेका अभिवादन करता है, तब वह प्राणवायु अपनी जगहपर आकर स्थिर हो जाती है। खड़े होकर प्रणाम नहीं करनेवाले युवाकी प्राणवायुकी विपर्यस्तताके कारण आयु क्षीण हो जाती है, इसलिये बूढ़े लोगोंका खड़े होकर अभिवादन करना आवश्यक है।

मनुने भारतीय संस्कारके प्रमुख पक्ष अभिवादन और प्रत्यभिवादनपर विशद रूपसे लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जो ब्राह्मण अभिवादनका प्रत्यभिवादन करना नहीं जानता, उसे अभिवादन कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह विद्वान् होकर भी संस्कारसे भ्रष्ट और शुचितासे च्युत है—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः॥

(२।१२६)

रास्ता चलनेके क्रममें भी पूज्यताका भाव रखना चाहिये और अपने सामने आये हुओंको रास्ता देना चाहिये। रास्ता किस-किसको देना चाहिये, इसके सम्बन्धमें मनुजी कहते हैं—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च॥

(२।१३८)

अर्थात् गाड़ीवान्, अपने जीवनके दसवें दशकमें पहुँचे हुए यानी नब्बे वर्षसे ऊपरवाले वृद्ध व्यक्ति, रोगी, बोझसे दबे हुए, स्त्री, दीक्षान्तसमारोहसे लौटे स्नातक, राजा और वरको ससम्मान रास्ता देना चाहिये। इन सबकी सम्मिलित उपस्थितिमें राजा और स्नातकको पहले मान्यता दी गयी है और फिर राजा और स्नातकमें स्नातकको प्राथमिकता मिली है—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्॥

(२।१३९)

पारिवारिक स्तरपर सर्वोपरि पूज्यता माताको दी गयी है। मनुजी कहते हैं—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(२।१४५)

अर्थात् उपाध्यायसे आचार्यका दस गुना, आचार्यसे पिताका सौ गुना और पितासे माताका स्थान हज़ार गुना ऊँचा है।

सच पूछिये तो मनुस्मृति मनुष्यको मानवतावादी संस्कारोंसे सम्पन्न करनेवाला ऐसा भारतीय ग्रन्थ है, जिसकी प्रासङ्गिकता आज भी अक्षुण्ण है। मनुस्मृतिमें स्वस्थ और संस्कारसम्पन्न समाजके निर्माण और उसके सम्यक् सञ्चालन आदिके नियमोंके साथ ही मानव-जीवन-सम्बन्धी अनेक नियम-उपनियम और व्यवहार-बर्ताव बताये गये हैं। इनका पालन सभी नर-नारियोंसे यदि सम्भव हो जाय तो फिर भूभार न मालूम पड़े। मनुस्मृति शरीरको स्वस्थ, चरित्रको संस्कारनिष्ठ और आत्माको निर्मल एवं पवित्र तथा नीतिको नियमनिष्ठ बनानेका मार्ग तो दिखलाती ही है, मनुष्यको मानवताका अमर संदेश भी देती है। पवित्र आचार या आचरण ही संस्कारका पर्याय है। इसलिये मनुकी दृष्टिमें धर्मनिष्ठ आचार या सदाचार ही भारतीय संस्कारका सच्चा स्वरूप है और इसे ही ध्यानमें रखकर मनुने '**आचारः परमो धर्मः**', '**आचारश्चैव शाश्वतः**', '**सर्वस्य तपसो मूलमाचारम्**'-जैसे मन्त्रवाक्योंका आग्रहपूर्वक उल्लेख किया है।

श्रीरामचरितमानसमें संस्कारवर्णन

(डॉ० स्वामी श्रीजयेन्द्रानन्दजी 'मानसमराल', एम०ए०, पी-एच०डी०)

भारतीय जनजीवनमें संस्कारोंको बहुत महत्त्व दिया गया है। संस्कारविहीन जीवन तो पशुवत् है। इसीलिये हमारे ऋषियोंने गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त अनेक संस्कारोंकी अवधारणा की है। विभिन्न स्मृतियोंमें संस्कारोंकी संख्या अलग-अलग है, किंतु १६ संस्कारोंको सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। ये १६ संस्कार निम्नलिखित हैं—

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूडाकरण, ९. कर्णवेध, १०. उपनयन, ११. केशान्त, १२. समावर्तन, १३. विवाह तथा अग्न्याधान, १४. वानप्रस्थ, १५. संन्यास एवं १६. अन्त्येष्टि। इनमेंसे अनेक संस्कारोंकी चर्चा श्रीरामचरितमानसमें आयी है—

गर्भाधान-संस्कार—गर्भाधान-संस्कारका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए। सकल लोक सुख संपति छाए॥
मंदिर महँ सब राजहिं रानीं। सोभा सील तेज की खानीं॥
(१।१९०।६-७)

अर्थात् जब परात्पर ब्रह्म श्रीराम गर्भमें आये तो सारे विश्वमें अलौकिक सुखका साम्राज्य छा गया। सभी माताओंमें दिव्य कान्ति, शील और तेजका सञ्चार होने लगा।

श्रीरामके गर्भमें आनेकी प्रक्रिया भी अलौकिक है। गुरुदेव वसिष्ठजीने शृङ्गी ऋषिको बुलाकर पुत्रेष्टियज्ञ कराया। यज्ञसे प्रसन्न होकर अग्निदेवता स्वयं ही चरु लेकर प्रकट हुए। वह हविष्यान्न रानियोंमें यथायोग्य बाँट दिया गया, जिसे ग्रहणकर वे गर्भवती हुईं।

इस गर्भाधान प्रक्रियाका वर्णन श्रीरामचरितमानसमें इस प्रकार किया गया है—

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥
जो बसिष्ठ कछु हृदयँ बिचारा। सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा॥
यह हबि बाँटि देहु नृप जाई। जथा जोग जेहि भाग बनाई॥
(१।१८९।५—८)

नामकरण-संस्कार—गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामसहित चारों भाइयोंके नामकरण-संस्कारका वर्णन भी ललित ढंगसे प्रस्तुत किया है—

नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥
करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा॥
(१।१९७।२-३)

इस प्रकरणसे यह द्योतित होता है कि प्राचीन कालमें नामकरणका अधिकार माता-पिताको नहीं बल्कि गुरु, आचार्य या ऋषिको था। जबतक यह परम्परा सुरक्षित रही, तबतक बच्चोंके नाम भी संस्कारयुक्त रखे गये। अब इस परम्पराको अतिक्रमित करके लोगोंने अर्थहीन और संस्कारहीन नामकरण शुरू कर दिया है, जिसका दुष्परिणाम भी उन्हें भोगना पड़ रहा है।

गुरु वसिष्ठजीने कितने सार्थक और उपयोगी नाम रखे हैं, जो आज भी चारों फलके दाता हैं—

इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥
जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥
लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥
(१।१९७।४—८, दो० १९७)

चूडाकरण-संस्कार—यह संस्कार जन्मसे प्रथम या तीसरे वर्षमें किया जाता है। व्यासजीकी मान्यता है कि कुलोचित नियमके अनुसार चूडाकरण करना चाहिये—

'चूडाकरणकुलोचितम्।' (व्यासस्मृति ५।५८)

गोस्वामीजीने चूडाकरण-संस्कारका वर्णन इस प्रकार किया है—

चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥
(१।२०३।३)

सुश्रुत और चरकसंहिताके अनुसार जातकके जन्मके बालोंको उतारनेके उपरान्त उसके सिरपर घने, मुलायम और पुष्ट केश उभरकर आते हैं।

कर्णवेध-संस्कार—इसका संस्मरण श्रीरामने युवराजपद मिलनेके अवसरपर किया है।

जब श्रीरामको राजा दशरथने युवराज बनानेकी घोषणा की तो श्रीरामने बचपनसे लेकर युवावस्थाके उन संस्कारोंको याद किया, जो सभी भाइयोंके साथ-साथ हुए—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥

करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
(२।१०।५-६)

व्यासस्मृतिमें चूडाकरणके पश्चात् कर्णवेध करनेका संकेत किया गया है—'कृतचूडस्य बालस्य कर्णवेधो विधीयते।'

पाँचवें वर्षमें शिखायुक्त बालकका कर्णवेध-संस्कार किया जाता है।

उपनयन-संस्कार—संस्कारोंमें उपनयनको विशेष महत्त्व दिया गया है। व्यासस्मृतिमें लिखा है कि ब्राह्मण-बालकको ८वें वर्षमें, क्षत्रियबालकको ११वें वर्षमें तथा वैश्यबालकको १२वें वर्षमें यज्ञोपवीत पहना देना चाहिये। उपनयन-संस्कारके बिना वेदाध्ययनका अधिकार नहीं मिलता।

श्रीरामचरितमानसमें वर्णन किया गया है कि जब चारों भाई कुमार हो गये तो गुरु एवं माता-पिताने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया—

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
(१।२०४।३)

उपनीत होकर श्रीराम भाइयोंसहित वेदाध्ययनके लिये गुरुकुलमें गये। गोस्वामीजी कहते हैं—

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥
(१।२०४।४-५)

विवाह तथा अग्न्याधान-संस्कार—विवाह-संस्कारका वर्णन शिवविवाह तथा रामविवाहके प्रसङ्गमें अत्यन्त विस्तारके साथ किया गया है। श्रीरामविवाहकी एक छोटी-सी झाँकी यहाँ प्रस्तुत है—

बैठे बरासन रामु जानकि मुदित मन दसरथु भए।
तनु पुलक पुनि पुनि देखि अपनें सुकृत सुरतरु फल नए॥
भरि भुवन रहा उछाहु राम बिबाहु भा सबहीं कहा।
केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक यहु मंगलु महा॥
(१।३२५, छं० १)

अन्त्येष्टि-संस्कार—इस संस्कारका वर्णन भी श्रीरामचरितमानसमें विविध पात्रोंके माध्यमसे किया गया है। जीवात्माके कल्याणके लिये जो तर्पण, पिण्डदान, श्राद्ध आदि और्ध्वदैहिक कर्म किये जाते हैं, उन्हें अन्त्येष्टि-क्रिया या और्ध्वदैहिक-संस्कार कहा जाता है।

राजा दशरथकी मृत्युके पश्चात् श्रीभरतने अत्यन्त श्रद्धा-भाव एवं विधि-विधानसे अपने पिताकी जो अन्त्येष्टि-क्रिया की है, उसका वर्णन श्रीरामचरितमानसमें इस प्रकार आया है—

नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥

श्रीरामने गीधराज जटायुकी अन्त्येष्टि-क्रिया अपने हाथोंसे की, इसका वर्णन भी किया गया है—

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥
(३।३२)

यहाँतक कि अपने प्रतिद्वन्द्वी रावणकी अन्त्येष्टि-क्रिया भी भगवान् श्रीरामने सम्मानपूर्वक करायी। लङ्काकाण्डमें वर्णन आया है—

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जियँ जानी॥
मंदोदरी आदि सब देइ तिलांजलि ताहि।
भवन गईं रघुपति गुन गन बरनत मन माहि॥
(६।१०५।७-८, दो० १०५)

इस प्रकार गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसमें प्रायः सभी प्रमुख संस्कारोंका वर्णन यथास्थान किया है।

सूरके काव्यमें संस्कार-निरूपण

(डॉ० श्रीनिवासजी शर्मा, एम्०ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच्०डी०)

सूरदास कृष्णप्रेमके अमर गायक थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान किया है। आपने अपने गानमें संस्कारोंको व्रज-समाजके परिप्रेक्ष्यमें अपनी बंद आँखोंसे खुलेरूपमें प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा वर्णित भगवान् श्रीकृष्णके कुछ संस्कार इस प्रकार हैं—

(१) जातकर्म—पुत्रके जन्मके समय जातकर्म नामक संस्कार होता है। सूरदासने भगवान्के प्रकट होनेकी प्रसन्नताके साथ जातकर्म-संस्कारका नाम लिये बिना उसका वर्णन किया है। बच्चेके पैदा होनेपर नाल-छेदनसे पहले नान्दीमुखश्राद्ध किया जाता है।

तदनन्तर मधु और घृत असमान मात्रामें मिलाकर पिता उसे सोनेकी शलाकासे बालकको प्राशन कराता है। फिर कुश और जलसे बालकका प्रोक्षण किया जाता है तथा छुरेकी पूजा करके नाल काटी जाती है। नाल काटनेके बाद सूतक प्रारम्भ होता है। शास्त्रमें आया है—'यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम्' अर्थात् जबतक नाल नहीं काटी जाती, तबतक सूतक प्रारम्भ नहीं होता—

सूरदासके काव्यमें नाल काटनेसे पहलेके संस्कारका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

> तब न्हाइ नंद भए ठाढ़, अरु कुस हाथ धरे।
> नांदीमुख पितर पुजाइ, अंतर सोच हरे॥

जातकर्म-संस्कारके समय स्मृतिकारोंने ब्राह्मणोंको दानका विधान किया है। 'अन्नं दद्यात् सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं तथा' अर्थात् उस समय सोना, भूमि, गाय, घोड़े आदिका दान करना चाहिये। नन्दजी उसी नियमके अनुसार दान करते हैं। वे ऐसी गायें दान करते हैं, जिनके खुर ताँबेसे, पीठ चाँदीसे और सींग सोनेसे मढ़े हुए होते हैं। सूरदासके शब्दोंमें गायोंके दानका वर्णन इस प्रकार है—

> खुर ताँबैं रूपैं पीठि, सोनैं सींग मढ़ीं।
> ते दीन्हीं द्विजनि अनेक, हरषि असीस पढ़ीं॥

इसके अतिरिक्त भी नन्दजी नाना प्रकारके दान देते हैं, वे किसीको गौ देते हैं, किसीको वस्त्र पहनाते हैं, किसीको आभूषण, किसीको रेशमी वस्त्र, किसीको नग और हीरे देते हैं। सूरकी कला यह है कि वे श्रीकृष्णकी भक्तिमें लीन होकर एक-एक बातको कई-कई पदोंमें नये-नये रूपमें प्रस्तुत करते हैं।

नन्दजीके यहाँका जातकर्म एक बड़े उत्सवका रूप ले लेता है। सुहागिन गोपनारियाँ तरह-तरहके वस्त्राभूषण पहनकर सज-धजकर नन्दके यहाँ आती हैं। वे तरह-तरहकी भेंट लाती हैं। आरती करती हैं, हलदी, अक्षत, दूध, दहीका तिलक लगाती हैं, बधाई देती हैं। एक तरहसे सारा व्रज उस जातकर्मके उत्सवमें मग्न हो जाता है—

> नंदराय के उत्सव जैसो। व्रज की बीथिनि बीथिनि तैसो॥

बच्चेके नाल-छेदनके समय दाई लोक-परम्पराके अनुसार दान लेनेको झगड़ती है। वह कहती है कि यशोदा! मैं नाल काटने नहीं दूँगी। मैं आज तुम्हारे गलेका मणिमय हार लूँगी—

> जसुदा, नार न छेदन दैहौं।
> मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहौं॥

सूरने कई पदोंमें दाईके झगड़नेका वर्णन किया है। बादमें यशोदाजी नन्दको बुलाती हैं। वे गलेका हार, हाथोंके कङ्गन और थाल भरकर मोती देते हैं—

> दीन्हौ हार गरैं, कर कंकन, मोतिनि थार भरैं।
> सूरदास स्वामी प्रगटे हैं, औसर पै झगरैं॥

मागध और सूत-जैसे बन्दीजनोंसे आँगन भर जाता है। गोवर्धनसे गायक आता है, यशोगान करता है। फलित ज्योतिषका बखान करनेवाले भी आते हैं और कहते हैं—

> (नंद जू) आदि जोतिषी तुम्हरे घर कौ, पुत्र-जन्म सुनि आयौ।
> लगन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ।
> संबत सरस बिभावन, भादौं, आठैं तिथि, बुधवार।

कृष्न पच्छ, रोहिनी, अर्द्ध निसि, हर्षन जोग उदार।
बृष है लग्न, उच्च के निसिपति, तनहिं बहुत सुख पैहैं।
चौथें सिंह रासि के दिनकर, जीति सकल महि लैहैं।
पचंएं बुध कन्या कौ जौ है, पुत्रनि बहुत बढ़ैहैं।
छठएं सुक्र तुला के सनि जुत, सत्रु रहन नहिं पैहैं।
ऊँच नीच जुवती बहु करिहैं, सतएं राहु परे हैं।
भाग्य-भवन मैं मकर मही-सुत, बहु ऐस्वर्य बढ़ैहैं।
लाभ-भवन मैं मीन बृहस्पति, नवनिधि घर मैं ऐहैं।
कर्म-भवन के ईस सनीचर, स्याम बरन तन ह्वैहैं।
आदि सनातन परब्रह्म प्रभु, घट-घट अंतरजामी।
सो तुम्हैं अवतरे आनि कैं, सूरदास के स्वामी॥

नामकरण—भगवान् श्रीकृष्णके नामकरणके विषयमें सूरदासने कोई दिन-सीमा नहीं कही। वैसे शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि सामान्यतः ग्यारहवें या बारहवें दिन नामकरण होना चाहिये—'एकादशे द्वादशकेऽपि श्रेयः'। सूरदासजी वर्णन करते हैं कि नन्दजीके यहाँ गुरुवर गर्गाचार्य आते हैं और वे नामकरण कराते हैं।

सूरदासने भगवान्‌के नामकरणके समय कहा है—*'महर-भवन रिषिराज गए।'* उस समय ब्राह्मण, कुटुम्बीजन, चारण और बन्दीजन सब नन्दके घर आये। भगवान् श्रीकृष्णके सिरपर नयी-नयी दूब, हलदी और दहीको रखा गया। गुरु गर्गाचार्यने उनके सब दिव्य लक्षण बताये। उस समयका चित्रण कुछ इस प्रकार है—

गर्ग निरूपि कह्यौ सब लच्छन, अविगत है अविनासी।
सूरदास प्रभु के गुन सुनि-सुनि, आनंदे ब्रजवासी॥

अन्नप्राशन—अन्नप्राशन-संस्कारके वर्णनमें सूरदासजीने छः महीनेसे कुछ कमके समयका सङ्केत किया है—

कान्ह कुँवर की करहु पासनी, कछु दिन घटि षट मास गए॥

उस समय ब्राह्मणको बुलाया गया। शुभ राशि, शुभ घड़ी और अच्छे दिनका विचार किया गया। यशोदाने सखियोंको बुलाकर मङ्गलगीत गवाये। व्रज-वनिताएँ पुलकित होकर मधुर गीत गाने लगीं। व्रज-नारियाँ बालकृष्णको गोदमें लेकर झकझोरती फिरती हैं। उस समयका वर्णन करते हुए सूरदासजी कहते हैं—

आजु कान्ह करिहैं अन्नप्रासन।
मनि-कंचन के थार भराए, भाँति-भाँति के बासन॥

नन्दजीके यहाँ नाना भाँतिके व्यञ्जन तैयार किये गये। नन्द अपने जाति-बन्धुओंको बुलाते हैं। सबको आदरसे बिठाते हैं। यशोदाजी भगवान् श्रीकृष्णका शृङ्गार करके लाती हैं—

जसुमति उबटि न्हवाइ कान्ह कौं, पट-भूषन पहिराइ।
तन झँगुली, सिर लाल चौतनी, चूरा दुहुँ कर-पाइ॥

अन्नप्राशन कराते समयका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंमें हुआ है—

कनक-थार भरि खीर धरी लै, तापर घृत-मधु नाइ।
नंद लै-लै हरि मुख जुठरावत, नारि उठीं सब गाइ॥

नन्दजीके साथ और सब भी रुचिपूर्वक षड्रस-व्यञ्जनको ग्रहण करते हैं। इस हर्ष-आनन्दकी शोभाका वर्णन नहीं किया जा सकता। सूरदास तो उसपर न्योछावर हो जाते हैं।

वर्षगाँठ—वर्षगाँठका उत्सव वर्ष पूरा हो जानेपर होता है। भगवान्‌की वर्षगाँठके अवसरपर नन्द बड़े प्रसन्न होते हैं। फूल-पान आदि मँगाये जाते हैं। यशोदा आनन्दमें मग्न हैं, वे लालाको उबटन करके नहलाती हैं। सिरपर चौतनी और माथेपर दिठौना लगाती हैं इसलिये कि किसीकी नजर न लग जाय। आँखोंमें अञ्जन लगाती हैं और अच्छे वस्त्र पहनाती हैं। सारी व्रजकी बालाएँ मङ्गलगानके लिये बुलायी जाती हैं—

अरी, मेरे लालन की
आजु बरष-गाँठि, सबै
सखिनि कौं बुलाइ
मंगल-गान करावौ।

आँगनको लीपकर, चौक पुराकर बाजे बजते हैं। अक्षत, दूर्वा आदिसे लालकी गाँठ जोड़ी जाती है। सारी व्रज-युवतियाँ वस्त्राभूषणोंसे सजकर आती हैं। वे आनन्दमें मग्न होकर नाचती-गाती हैं। वे वर्षगाँठ जोड़कर बालकृष्णपर न्योछावर होती हैं, वर्षगाँठका डोरा खोला जाता है। उस समयका वर्णन सूरदास इस प्रकार करते हैं—

दोउ कपोल गहि कै मुख चूमति, बरष-दिवस कहि करति कलोल।
सूर स्याम ब्रज-जन-मोहन-बरष-गाँठि कौ डोरा खोल॥

कर्णछेदन—कर्णछेदन प्रसिद्ध संस्कार है। लोकरीति यह है कि चाहे लड़का हो या लड़की, उसके कान छेदनेका उत्सवपूर्वक आयोजन किया जाता है। व्रज-प्रदेशमें यह रीति अति प्रचलित है। सूरदासने उसका वर्णन करके व्रजवासियोंमें प्रचलित रीतिको उभारा है। भगवान् श्रीकृष्ण कर्णछेदनके समय हाथमें पूरी और भेली (गुड़) ले रखे हैं। भगवान्की कर्णछेदन-लीलाको देखकर ब्रह्मा मुसकरा रहे हैं, शङ्कर हँस रहे हैं, परंतु यशोदाके हृदयमें धुकधुकी हो रही है। लालको कान छिदवाते समय जो कष्ट होगा, उससे यशोदा डर रही हैं। सींकमें हलदी लगाकर भगवान्के कानोंके पास रखा जाता है। कञ्चनकी बाली मँगायी जाती है। उस समय यशोदा और रोहिणी दोनोंकी आँखोंमें आँसू आ जाते हैं। वे कर्णछेदनको देख नहीं पातीं और अपने मुँहको दूसरी ओर मोड़ लेती हैं। जब भगवान् रोने लगते हैं तो कान छेदनेवाले नाईको घुड़कती हैं। सब हँसी और आनन्द मनाते हैं। व्रज-बालाएँ आनन्दित होती हैं और नन्दको बधाई देती हैं। उस वर्णनका कुछ अंश प्रस्तुत है—

कान्ह कुँवर को कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की॥
× × × ×
लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी॥
(सूरसागर, पद ७९८)

सूरदासने विवाह-संस्कारका भी वर्णन किया है। भगवान् श्रीकृष्णके अनेक विवाहोंका वर्णन किया गया है, किंतु बालवर्णन करनेमें सूरका मन जैसा रमा है, वैसा अन्यत्र नहीं रमा। बालवर्णन और शृङ्गारके वे सम्राट् कहे जाते हैं। भगवान्का बालरूप उन्हें बहुत प्रिय है। यही कारण है कि बचपनके संस्कारोंका वर्णन करनेमें सूरका हृदय बोल उठा है और प्रभुके प्रति उनकी अनुराग-भावना यहाँ बलवती हो उठती है।

~~~०~~~

कालिदास एवं भवभूतिके साहित्यमें संस्कार

(डॉ० श्रीविनोदकुमारजी शर्मा, एम्०ए० (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच०डी०, प्रभाकर (संगीत))

कालिदास एवं भवभूति संस्कृतसाहित्यके महाकवियोंकी प्रथम पंक्तिमें सुप्रतिष्ठित हैं। ये संस्कारसम्पन्न रहे हैं, अतः इनकी कृतियोंमें विविध संस्कारोंका वर्णन उपलब्ध होना स्वाभाविक है। प्रधानरूपसे इन्होंने रघुवंश तथा विशेषरूपसे भगवान् श्रीरामकी महनीय गुणावलीका गान किया है। यहाँ इनके काव्योंमें निरूपित संस्कारोंका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है—

महाकवि कालिदासके साहित्यमें संस्कार

कविकुलगुरु कालिदासने द्विजोंके अनेक संस्कारोंका प्रतिपादन किया है। जीवनमें संस्कारोंकी महत्ता रघुवंशके एक पद्यसे भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है, जिसमें कहा गया है कि पुरोहित वसिष्ठजीने जब रघुके जातकर्म आदि संस्कारोंका सम्पादन कर दिया, तब वह बालक ऐसा सुशोभित होने लगा, जैसे खानसे निकालकर खरादा गया हीरा—

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना
तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः
प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ॥
(रघुवंश ३।१८)

रघुवंश महाकाव्यमें कहा गया है कि रघुवंशी आजन्म शुद्ध अर्थात् गर्भाधानादि समस्त संस्कारोंके सम्पादनके कारण पवित्र होते थे। राजा दिलीप गर्भवती रानी सुदक्षिणाको निधिगर्भा पृथिवी, अग्निगर्भा शमीवृक्ष तथा अन्तःसलिला सरस्वती नदीको भाँति पुत्ररत्नगर्भा समझते थे।* वे महारानीसे जितना प्रेम करते थे, जितनी उन्हें प्रसन्नता थी और जितना बड़ा उनका राज्य था, उतने ही ठाट-बाटसे उन्होंने उस

* रघुवंश ३।९
~~~

(रघु)-के पुंसवन आदि संस्कार भी किये।[1] दिलीप पुत्रहीन होनेके कारण पितृ-ऋणके बन्धनमें थे; किंतु रघुका जन्म होनेसे वे इस बन्धनसे मुक्त हो गये।[2] जातकर्म-संस्कार[3] के उपरान्त रघुके नामधेय संस्कारके विषयमें वर्णन है कि शब्दोंके अर्थको जाननेवाले दिलीपने रघि (लघि) धातुका 'जाना' अर्थ समझकर अपने पुत्रका नाम 'रघु' इसलिये रखा कि वह सम्पूर्ण शास्त्रोंके पार पहुँच जायगा और युद्धक्षेत्रमें शत्रुओंके व्यूहोंको तोड़कर उनके भी अन्तको प्राप्त करेगा—

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भक-
स्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थवि-
च्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥

(रघुवंश ३।२१)

इसी प्रकार लव और कुशके नामकरणकी सार्थकतामें यह हेतु दिया गया है कि लवके जन्मके समय सीताकी प्रसवपीड़ा गायकी पूँछके बाल (लव)-से दूर हुई और कुशके जन्मके समय कुशसे। इसलिये महर्षि वाल्मीकिने दोनों शिशुओंके नाम लव-कुश रख दिये।[4]

चूडाकरण-संस्कार होनेके पश्चात् चञ्चल काकपक्षवाले रघुने वर्णमालाके ग्रहण अर्थात् विद्यारम्भ-संस्कारके द्वारा शब्दशास्त्रमें उसी प्रकार प्रवेश किया जैसे जीव-जन्तु नदियोंके द्वारा सागरमें प्रवेश करते हैं।[5] विद्यारम्भ-संस्कारके उपरान्त रघुका उपनयन-संस्कार हुआ और तब वेदारम्भ-संस्कार। रघुको विद्याएँ प्रदान करनेमें गुरुओंका परिश्रम पूर्णतः सफल हुआ; क्योंकि सत्पात्रको जो शिक्षा दी जाती है, वह अवश्य सफल होती है—

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो
विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते
क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥

(रघुवंश ३।२९)

इन शब्दोंके द्वारा कालिदास यह सूचित करना चाहते हैं कि रघु केवल वंशानुक्रमसे ही नहीं, वरन् पुंसवन, जातकर्म, नामधेय, चूडाकरण, विद्यारम्भ, उपनयन आदि संस्कारोंके सम्यक् सम्पादनसे भी सत्पात्र थे। इसीलिये उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धिसे चार सागरोंके समान विस्तृत चारों विद्याएँ—त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति शीघ्र ही सीख लीं, जैसे कि सूर्य वायुके समान अति वेगशाली अपने अश्वोंसे चारों दिशाओंको शीघ्र ही पार कर लेता है।[6] यही नहीं, उन्होंने मन्त्रयुक्त अस्त्रविद्या अपने अद्वितीय धनुर्धारी पितासे प्राप्त कर ली।[7]

विवाह-संस्कारके विषयमें महाकविकी मान्यता है कि एक-दूसरेके सर्वथा अनुरूप वर-वधूका,[8] गुरुजनोंकी सम्मतिसे,[9] उचित आयुमें[10] विवाह होना चाहिये। रघुवंशमें वर्णन है कि जैसे गायका बछड़ा बड़ा होकर साँड़ हो जाता है तथा गजशावक बढ़कर गजराज हो जाता है, वैसे ही रघुने भी जब बचपनको बिताकर युवावस्थाको प्राप्त किया, तब उनका शरीर और भी खिल उठा।[11] महाराज दिलीपने ऐसी सर्वथा उचित आयुमें रघुका केशान्त (गोदान)-

१. रघुवंश ३।१०, २. रघुवंश ३।२०, ३. रघुवंश ३।१८

४. स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया। कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः॥ (रघुवंश १५।३२)

५. स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः। लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ (रघुवंश ३।२८)

६. धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः। ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ (रघुवंश ३।३०)

७. रघुवंश ३।३१

८. क–यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन सङ्गता, (अपि) एवंनामाहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयमिति। (अभिज्ञानशाकुन्तल प्रथम अङ्क)
ख–"'गुरोः पुनरेतस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः। (अभिज्ञानशाकुन्तल प्रथम अङ्क)

९. प्रियंवदा—आर्य! धर्माचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। (अभिज्ञानशाकुन्तल प्रथम अङ्क)

१०. शकुन्तला—हला, रमणीये (खलु) काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धपल्लवतयोपभोगक्षम एव बालसहकारः। (अभिज्ञानशाकुन्तल प्रथम अङ्क)

११. महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव। रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥ (रघुवंश ३।३२)

व्याकरण-शास्त्रमें शब्द-संस्कार

(आचार्य पं० श्रीनरेन्द्रनाथजी ठाकुर, एम्०ए० [संस्कृत] (गोल्ड मैडलिस्ट), पी-एच्०डी०)

'संस्कार' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे निष्पन्न माना जाता है, जो 'सजाना' अर्थको अभिद्योतित करता है। जहाँ सङ्गीतशास्त्र 'नाद' को ब्रह्मस्वरूप मानता है, वहाँ व्याकरण-शास्त्र शब्दको साक्षात् ब्रह्मके रूपमें स्वीकार करता है। इस शब्दब्रह्मके प्रकाशक साक्षात् भगवान् नटराज शिव ही हैं, जिन्होंने ताण्डव-नृत्यके समाप्तिकालमें अपने डमरूके निनादसे नादब्रह्म एवं अक्षर-समाम्नाय शब्दब्रह्मको प्रकट किया, जो चौदह माहेश्वर-सूत्रके रूपमें आज भी व्याकरण-शास्त्रको आबद्ध किये हुए है। महावैयाकरण पाणिनि एवं आचार्य पतञ्जलि शब्दको नित्य मानते हैं। पाणिनिद्वारा विरचित 'अष्टाध्यायी सूत्र' के लोपसंज्ञक सूत्रोंमें 'अदर्शनं लोपः' (अष्टाध्यायी सूत्र १।१।६०)—यह सूत्र शब्दकी इसी नित्यताको प्रकट करता है। इस सूत्रकी वृत्तिमें वृत्तिकार श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित स्पष्ट करते हैं—'प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।' अर्थात् प्राप्तका न सुना जाना ही अदर्शन है; क्योंकि दर्शन कर्णेन्द्रियका विषय नहीं हो सकता, वह तो नेत्रेन्द्रियका विषय है, लेकिन शब्दोच्चारणको हम देख नहीं सकते; अतः यह दर्शनका अविषय है। शब्द कर्णेन्द्रियद्वारा तो श्रवणसिद्ध हो ही जाता है अर्थात् कर्णके द्वारा शब्दोंका श्रवण—शब्दका अलौकिक चाक्षुष-प्रत्यक्ष है। जैसे 'सखान्' शब्दमें 'न' कारका श्रवण प्राप्त था; किंतु उसका न सुना जाना केवल 'सखा' शब्दका सुना जाना ही प्राप्त हैं, 'न' कारका नहीं। 'न'कारका लोप 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्रद्वारा हो जाता है।

इस प्रकार लोपको सचमुच यदि लोप ही मानें तो अनित्यता दोष आ जायगा, जबकि व्याकरण-शास्त्रके अनुसार शब्द नित्य है। नैयायिकोंने इसे अनित्य माना है। शब्दस्फोटके द्वारा शब्दकी नित्यता वाक्यपदीयकार भर्तृहरिने भी स्वीकार की है—

> अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते।
> परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः॥
>
> (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १०१)

शब्दसंस्काररूप परमात्माको सिद्धिको जाननेवाला ब्रह्मरूप अमृतको प्राप्त करता है, ऐसा भर्तृहरिका मानना है—

> तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
> तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते॥
>
> (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १३२)

महावैयाकरण पतञ्जलिने तो 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिकद्वारा शब्द एवं अर्थके सम्बन्धको सिद्ध माना है, जो नित्यका परपर्याय है। व्याकरण-शास्त्र शब्दोंके संस्कारका शास्त्र है, जो शब्दोंके मलोंको हटाकर उसे शुद्धरूपमें परिणत करता है। जब शब्द विभक्ति, वचनादि, धातु, प्रत्यय, प्रत्ययान्तादिसे रहित होता है तो वह प्रातिपदिक संज्ञाको प्राप्त करता है; जैसे—राम। सूत्रोंके संस्कारद्वारा क्रमशः 'स्वौजस्०' 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्', 'प्रत्ययः', 'परश्च', 'सुपः', 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने', 'विरामोऽवसानम्' तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यादि सूत्रोंको लगाकर 'रामः' यह संस्कृत (परिष्कृत)-रूप बनता है। जबकि महावैयाकरण पतञ्जलिने शब्दापशब्द-विवेकद्वारा ही शब्दको परिष्कृत किया है। जो शब्दोंको जानते हैं, उन्हींके सामने शब्द अपने स्वरूपको प्रकट करता है—

> उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

एक साधु शब्दके अनेक असाधु शब्द हुआ करते हैं। जैसे—'गो' इस एक साधु शब्दके अनेक अपभ्रंश हैं—गावि, गोणा, गोता, गोपोतलिका इत्यादि। साधु शब्द एक है और असाधु शब्द अनेक। अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य पहले साधु शब्दोंका ज्ञान करे अथवा असाधु शब्दोंका। यदि असाधु शब्दोंका ज्ञान करता है तो उसे अनेक अपशब्दोंका ज्ञान करना होगा। अतः इस शङ्काके निवारणार्थ महर्षि पतञ्जलिने तण्डकवृत्तिसे आक्षेप-समाधानभाष्यद्वारा इसका निवारण किया है। उन्होंने सर्वप्रथम शब्दकी परिभाषामें कहा है—'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः' अथवा 'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते' (व्याकरणमहाभाष्य)। अर्थात् जो उच्चारित ध्वनियोंसे अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूँछ, ककुद, खुर, सींगवाले 'गौ' का बोध कराता है, वह शब्द है अथवा लोकव्यवहारमें जिस ध्वनिसे अर्थका बोध होता है, वह शब्द कहलाता है। इसके बाद

उन्होंने रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असंदेह नामक पाँच प्रयोजनोंको गिनाया है।

साधु एवं असाधु शब्दोंके ज्ञानके क्रममें पतञ्जलिने साधु शब्दके ज्ञानपर ही बल दिया है, उन्होंने कहा है—**'लघुत्वाच्छब्दोपदेशः'** (व्याकरणमहाभाष्य, पस्पशाह्निक)। इस सूत्रके द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है कि साधु शब्द लघु अर्थात् थोड़े हैं, इसीलिये लोगोंको लघुताके कारण **'सूचीकटाहन्याय'** से शब्दोंका उपदेश अर्थात् साधु शब्दोंका उपदेश करना चाहिये न कि असाधु शब्दोंका; क्योंकि यदि साधु शब्दोंके उच्चारणमें पुण्यकी प्राप्ति होती है तो निश्चय ही असाधु शब्दोच्चारणसे पापका भागी होना पड़ेगा। हम पापी न हों, एतदर्थ हमें साधु शब्दोंका ही उपदेश करना चाहिये; क्योंकि एक शब्दका गलत प्रयोग नाशका कारण बन जाता है; जैसे—त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको दुष्ट शब्दके प्रयोग करनेसे इन्द्रने मार दिया था—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अब प्रश्न यह उठता है कि अनेक साधु शब्द भी हैं, उनमें किन-किनका उपदेश श्रेयस्कर होगा; क्योंकि ऐसा सुना जाता है कि बृहस्पतिने एक हजार दिव्य वर्षोंतक इन्द्रको प्रतिपदोक्त शब्द-पारायण कराया, पर समाप्तितक नहीं पहुँचे—**'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम।'** तो शब्दोंको कैसे जाना जाय? इस प्रश्नके समाधानमें महर्षि पतञ्जलिने कहा है—**'किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्।' येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्'**।

अर्थात् कुछ सामान्य लक्षण एवं कुछ विशेष लक्षणवाला शास्त्र बनाना चाहिये, जिससे थोड़ेसे यत्नसे बड़ी-बड़ी शब्दराशियोंको जान जायँ अर्थात् कुछ उपसर्गात्मक लक्षण हों एवं कुछ अपवादात्मक लक्षण। जैसे **'कर्मण्यण्'** एवं **'आतोऽनुपसर्गे कः'** इत्यादि। इस प्रकार शब्द-संस्कार ही व्याकरण-शास्त्रका विषय है एवं ब्राह्मणोंका महत्त्व भी इसी संस्कारतत्त्वको लेकर है,-ऐसा मीमांसादर्शनकार जैमिनि मानते हैं—**'संस्कारे च तत्प्रधानत्वात्'** (मीमांसादर्शन ६।१।३२) अर्थात् कर्म-संस्कारकी प्रधानताको लेकर ही ब्राह्मणोंका महत्त्व है।

न्यायशास्त्रमें संस्कारतत्त्व

'संस्कार' शब्दकी पृथक्-पृथक् परिभाषा अन्यान्य ग्रन्थोंने प्रतिपादित की है। वेदों एवं स्मृतियोंमें यह गर्भाधानादिसे अन्त्येष्टिसंस्कारपर्यन्त षोडश संस्कारके रूपमें विभक्त है। पारस्करगृह्यसूत्रादि ग्रन्थोंमें यह संख्या बारह है। व्याकरण-शास्त्र शब्दके साधुत्व एवं असाधुत्वके संस्कारद्वारा संस्कारतत्त्वको निरूपित करता है। इसका उदाहरण व्याकरणमहाभाष्य एवं वाक्यपदीय आदि ग्रन्थोंमें क्रमशः महर्षि पतञ्जलि एवं भर्तृहरिने प्रस्तुत किया है। तन्त्रशास्त्र साधनाक्रममें पञ्चमकारके परिशोधनार्थ संस्कार शब्दका वर्णन करता है, किंतु न्यायशास्त्रमें संस्कारकी दूसरी व्याख्या हुई है। 'न्याय' क्या है—इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः।'** (न्या० भा० सूत्र १)

अर्थात् प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणचतुष्टयके द्वारा अर्थकी—वस्तुतत्त्वकी परीक्षा 'न्याय' कहलाती है। आन्वीक्षिकीमें स्वयं न्यायका तथा न्यायकी प्रणालीसे अन्य विषयोंका प्रतिपादन होनेसे उसे न्यायविद्या या न्यायशास्त्र कहा जाता है। इसे यत्र-तत्र हेतुविद्या, हेतुशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि नामोंसे भी व्यवहृत किया गया है। न्यायको सभी विद्याओंका आश्रयस्थल कहा गया है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

(कौटिलीय अर्थशास्त्र)

छः आस्तिक दर्शनोंमें न्यायदर्शन एवं वैशेषिकदर्शन कुछ तत्त्वोंको लेकर अपना दृष्टिकोण समान बनाये हुए हैं। यहाँ संस्कारको अन्य ग्रन्थोंसे हटकर चित्रित किया गया है। पदार्थके द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव—ये सात भेद हैं—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः॥

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली २)

उपमानचिन्तामणि ग्रन्थमें नव्यन्यायमार्तण्ड

[illegible] भी [illegible] है। [illegible] 'संस्कार' [illegible] है। [illegible] विषय है। संस्कारकी [illegible] इस प्रकार की गयी है—'[illegible]' अर्थात् संस्कारत्व जातिमान् संस्कार है, किंतु इसको निर्दुष्ट परिभाषा इस प्रकार है—'सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं संस्कारत्वम्' अर्थात् सामान्य गुण और आत्मामें रहनेवाला विशेष गुण—इन दोनोंमें रहनेवाली गुणत्वव्याप्य जाति जहाँ रहती है, उसे 'संस्कार' कहते हैं। सामान्य गुण और विशेष गुण उभय-[illegible] आश्रय पद भी है। अतः घटादिमें अतिव्याप्ति हटानेके लिये 'गुणत्वव्याप्य' पद दिया गया है। इसी प्रकार संयोगादिमें अतिव्याप्ति हटानेके लिये 'आत्मविशेष-गुणोभयवृत्ति' पद लक्षणमें दिया गया है एवं ज्ञानादिमें अतिव्याप्ति न हो जाय, इसलिये 'सामान्य' पद दिया गया; क्योंकि ज्ञान आदि सामान्य गुण नहीं बल्कि विशेष गुण हैं। न्यायशास्त्र एवं वैशेषिकदर्शनने संस्कारके तीन भेदोंको स्वीकार किया है—

[illegible]

[illegible]

अर्थात् वेग, भावना एवं स्थितिस्थापक—ये तीन भेद संस्कारके माने गये हैं। वेगको [illegible] कहा गया है—'[illegible]' अर्थात् [illegible] कहते हैं। यह केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मनमें रहता है। द्वितीय संस्कार भावनाके लक्षणमें कहा गया है—'अनुभवजन्यत्वे सति स्मृतिहेतुत्वं भावनात्वम्' अर्थात् अनुभवसे उत्पन्न होकर जो स्मृतिका कारण है, उसे 'भावना' कहते हैं। यह केवल आत्मामें रहती है।

तीसरे संस्कार स्थितिस्थापकका लक्षण है—'अन्यथा कृतस्य पुनस्तदवस्थापादकत्वं स्थितिस्थापकत्वम्' अर्थात् अन्य अवस्थाको प्राप्त पदार्थको फिर पहलेकी स्थितिमें प्राप्त करानेवाले गुणविशेषको 'स्थितिस्थापक' कहते हैं। वे कट (चटाई) आदि पृथिवीमें रहते हैं।

इस प्रकार संस्कारके तीन भेदोंको न्यायशास्त्रने स्वीकार किया है, जिसका अनुमोदन वैशेषिकदर्शनने भी किया है। [आचार्य पं० श्रीनगेन्द्रनाथजी ठाकुर]

आयुर्वेदशास्त्रमें संस्कार और उनकी उपयोगिता

(वैद्य श्री आर०के० जैन, आयुर्वेदाचार्य)

जिस प्रकार भारतीय संस्कृतिमें और भारतीय जनजीवनमें विभिन्न प्रकारके संस्कारोंकी महिमा और उपयोगिता है, उसी प्रकार आयुर्वेदमें भी संस्कारोंको महत्ता एवं उपादेयता प्रतिपादित की गयी है; क्योंकि आयुर्वेदमें संस्कारोंके द्वारा विभिन्न औषधियों और अन्न (आहार-द्रव्यों)-को विविध प्रक्रिया-विशेषोंद्वारा संस्कारित कर उन्हें प्रयोग और सेवनके योग्य बनाया जाता है। प्रतिदिन हम जिस अन्न या आहारका सेवन करते हैं, उसका सेवन उसी रूपमें नहीं किया जाता, जिस रूपमें वे प्राप्त होते हैं, बल्कि उन्हें छानकर, कूट-पीसकर, पानीमें धोकर या भिगोकर, अग्निपर उबालकर या पकाकर स्वादिष्ट एवं खानेके योग्य बनाया जाता है। इस प्रकार आहार-द्रव्योंपर जो भी क्रिया की जाती है, वह 'संस्कार' कहलाती है।

उपर्युक्त पाक आदि क्रियाओंके द्वारा आहार-द्रव्योंको केवल खानेके योग्य ही नहीं बनाया जाता है, अपितु उनके गुणोंमें वृद्धि, गुणोंमें अथवा प्रकृति (स्वभाव)-में परिवर्तन भी किया जाता है। आयुर्वेदशास्त्रमें विस्तारसे इसकी चर्चा की गयी है। आचार्य वाग्भटने आहारका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए निम्न प्रकारसे अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है—'विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थमायतनमायुषो युवते। यत्तदायत्तानि ह्योजस्तेजोधात्विन्द्रियबलतुष्टिप्रतिभारोग्यादीनि। तदिन्धना चान्तराग्नेः स्थितिः। अग्निमूलं च देहधारणमिति॥' (अष्टाङ्गसंग्रह, सूत्रस्थान १०।३)

अर्थात् जो अन्नपान (आहार) विधिपूर्वक बनाया [illegible] और जिसका वर्ण (रूप), गन्ध, रस तथा [illegible]-इच्छित [illegible] है, वह आयुका

मूल कारण कहा जाता है; क्योंकि ओज, तेज, रस आदि धातु, चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका बल, शारीरिक शक्ति, तुष्टि, पुष्टि, प्रतिभा (प्रज्ञा-मेधाशक्ति) तथा आरोग्य आदि सब उसीके अधीन हैं। इसी आहाररूपी ईंधनसे जठराग्निकी स्थिति है और जठराग्नि ही शरीर-धारणका मूल है।

इसी प्रसङ्गमें आचार्य वाग्भटने आहारके सात कल्पनाविशेष बतलाये हैं। यथा—'**अथात्मवान् स्वभावसंयोगसंस्कारमात्रादेशकालोपयोगव्यवस्थासप्ताहारकल्पनविशेषाणां स्वास्थ्यास्वास्थ्यफलानां हेतुभूतां समीक्ष्य हितमेवानुरुध्येत॥**'

अर्थात् आत्मवान् (संयमी) मनुष्य स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यरूप फल (परिणाम)-के हेतुभूत स्वभाव, संयोग, संस्कार, मात्रा, देश, काल तथा उपयोग-व्यवस्था—इन सात आहार-कल्पनाविशेषोंको भलीभाँति विचारकर हितकारक आहारका ही सेवन करे।

महर्षि चरकने उपर्युक्त सात कल्पनाओंके अतिरिक्त उपयोक्ता नामक एक और कल्पनाको जोड़कर '**अष्टौ आहारविधिविशेषायतनानि**' का प्रतिपादन किया है। यथा—'**खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि (भवन्ति)॥**'

(चरकसंहिता, विमानस्थान १।२१)

आयुर्वेदशास्त्रमें मनुष्यके द्वारा ग्रहण (सेवन) किये जानेवाले सम्पूर्ण आहार (अन्नपान)-को क्रियाविशेषके द्वारा रूपान्तरित—संस्कारित करके सुपाच्य एवं सात्म्य बनानेका निर्देश किया गया है। वह क्रियाविशेष ही संस्कार कहलाता है। उसके द्वारा आहारद्रव्यका न केवल स्वरूप-परिवर्तन किया जाता है, अपितु द्रव्योंके स्वाभाविक गुणोंमें वृद्धि अथवा परिवर्तन किया जाता है या हो जाता है। संस्कारको परिभाषित करते हुए आचार्य वाग्भटने अपने ग्रन्थ अष्टाङ्गसंग्रह (सूत्रस्थान १२।८)-में निम्न प्रकारसे कथन किया है—

'**संस्कारस्तु तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालभावनाभाजनादिभिरुपजन्यते।**'

अर्थात् जल तथा अग्निके सन्निकर्षसे, स्वच्छतासे, मन्थनसे, देश एवं कालके प्रभावसे, भावना देनेसे, मिट्टी एवं ताम्रसे निर्मित भाण्ड (पात्र)-में रखनेसे विशिष्टतापूर्ण लक्षण उत्पन्न कर दिये जाते हैं अथवा उस द्रव्यविशेषमें गुणान्तर (अन्य गुण) उत्पन्न हो जाते हैं।

महर्षि चरकने संस्कारके लिये 'करण' शब्दका व्यवहार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'चरकसंहिता' (विमानस्थान १।२७)-में विस्तारपूर्वक इसकी चर्चा करते हुए निम्न प्रकारसे उसकी व्याख्या की है—'**करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः, संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते॥**'

अर्थात् स्वाभाविक गुणयुक्त द्रव्योंमें जो संस्कार किया जाता है, उसे 'करण' कहते हैं। द्रव्योंमें विद्यमान गुणोंके अतिरिक्त अन्य गुणोंका आधान करना संस्कार कहलाता है। जल-सन्निकर्ष, अग्नि-सन्निकर्ष, शौच (शुद्धि); मन्थन, देश, काल, वासन, भावना आदिके द्वारा तथा कालप्रकर्ष (अधिक समयतक रखने) एवं विभिन्न धातुओं (ताँबा, पीतल, रजत, सुवर्ण आदि)-से निर्मित पात्रोंमें रखनेसे द्रव्यमें स्थित गुणोंकी वृद्धि अथवा अन्य गुणोंका आधान किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेदशास्त्रके अनुसार प्रत्येक द्रव्य, चाहे वह आहारद्रव्य हो अथवा औषधद्रव्य, वानस्पतिक द्रव्य हो अथवा खनिज (धातु आदि)-द्रव्य, जाङ्गम द्रव्य हो अथवा विषद्रव्य, उनका उपयोग करनेसे पूर्व विधिपूर्वक (प्रक्रियाविशेषके द्वारा) उन्हें संशोधित या संस्कारित किया जाता है, तभी वे मनुष्यके लिये ग्राह्य अथवा सेवनयोग्य बनते हैं। यदि उन्हें विधिपूर्वक संस्कारित नहीं किया जाता है तो वे शरीरके लिये लाभदायक होनेकी अपेक्षा हानिकारक हो सकते हैं। अतः महर्षि चरकने करण या संस्कारके अन्तर्गत जिन विधियों या प्रक्रियाओंका उल्लेख किया है, उनपर संक्षिप्तरूपसे प्रकाश डालना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

सर्वप्रथम 'करण' शब्दको देखें। उन्होंने संस्कारको करण क्यों कहा? इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है—'**क्रियते यत्तत्करणम्।**' अर्थात् जो किया जाता है,

ध्यायने शक्तिसादृश्यको भी पदार्थ माननेकी आशङ्का है। पुनः दूसरे पदार्थ गुणके चौबीस भेदोंमें 'संस्कार' तम भेद है। यह न्यायविहित चार प्रमाणोंमें शब्दप्रमाणका य है। संस्कारकी परिभाषा न्यायशास्त्रमें इस प्रकार गयी है—'संस्कारत्वजातिमत्त्वं संस्कारस्य लक्षणम्' ात् संस्कारत्व जातिमान् संस्कार है, किंतु इसकी ष्ट परिभाषा इस प्रकार है—'सामान्यगुणात्मविशेषगुणो-वृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं संस्कारत्वम्' अर्थात् सामान्य और आत्मामें रहनेवाला विशेष गुण—इन दोनोंमें वाली गुणत्वव्याप्य जाति जहाँ रहती है, उसे 'संस्कार' ते हैं। सामान्य गुण और विशेष गुण उभय-गुणवृत्तिजातिका श्रय घट भी है। अतः घटादिमें अतिव्याप्ति हटानेके े 'गुणत्वव्याप्य' पद दिया गया है। इसी प्रकार ागादिमें अतिव्याप्ति हटानेके लिये 'आत्मविशेष-ाभयवृत्ति' पद लक्षणमें दिया गया है एवं ज्ञानादिमें व्याप्ति न हो जाय, इसलिये 'सामान्य' पद दिया गया; कि ज्ञान आदि सामान्य गुण नहीं बल्कि विशेष गुण न्यायशास्त्र एवं वैशेषिकदर्शनने संस्कारके तीन भेदोंको कार किया है—

'संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने।'

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १५८)

अर्थात् वेग, भावना एवं स्थितिस्थापक—ये तीन भेद संस्कारके माने गये हैं। वेगकी परिभाषामें कहा गया है—'द्वितीयादिपतनाऽसमवायिकारणत्वे सति गुणत्वं वेगत्वम्' अर्थात् द्वितीय आदि पतनके असमवायिकारण गुणको वेग कहते हैं। यह केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मनमें रहता है। द्वितीय संस्कारभावनाके लक्षणमें कहा गया है—'अनुभवजन्यत्वे सति स्मृतिहेतुत्वं भावनात्वम्' अर्थात् अनुभवसे उत्पन्न होकर जो स्मृतिका कारण है, उसे 'भावना' कहते हैं। वह केवल आत्मामें रहती है।

तीसरे संस्कारस्थितिस्थापकका लक्षण है—'अन्यथा कृतस्य पुनस्तदवस्थापदकत्वं स्थितिस्थापकत्वम्' अर्थात् अन्य अवस्थाको प्राप्त पदार्थको फिर पहलेकी स्थितिमें प्राप्त करानेवाले गुणविशेषको 'स्थितिस्थापक' कहते हैं। ये कट (चटाई) आदि पृथिवीमें रहते हैं।

इस प्रकार संस्कारके तीन भेदोंको न्यायशास्त्रने स्वीकार किया है, जिसका अनुमोदन वैशेषिकदर्शनने भी किया है। [आचार्य पं० श्रीनरेन्द्रनाथजी ठाकुर]

~~○~~

आयुर्वेदशास्त्रमें संस्कार और उनकी उपयोगिता

(वैद्य श्री आर०के० जैन, आयुर्वेदाचार्य)

जिस प्रकार भारतीय संस्कृतिमें और भारतीय जनजीवनमें भिन्न प्रकारके संस्कारोंकी महिमा और उपयोगिता है, ी प्रकार आयुर्वेदमें भी संस्कारोंकी महत्ता एवं उपादेयता पादित की गयी है; क्योंकि आयुर्वेदमें संस्कारोंके द्वारा भिन्न औषधियों और अन्न (आहार-द्रव्यों)-को विविध क्रया-विशेषोंद्वारा संस्कारित कर उन्हें प्रयोग और सेवनके य बनाया जाता है। प्रतिदिन हम जिस अन्न या आहारका न करते हैं, उसका सेवन उसी रूपमें नहीं किया जाता, स रूपमें वे प्राप्त होते हैं, बल्कि उन्हें छानकर, कूट-कर, पानीमें धोकर या भिगोकर, अग्निपर उबालकर या ाकर स्वादिष्ट एवं खानेके योग्य बनाया जाता है। इस ार आहार-द्रव्योंपर जो भी क्रिया की जाती है, वह स्कार' कहलाती है।

उपर्युक्त पाक आदि क्रियाओंके द्वारा आहार-द्रव्योंको केवल खानेके योग्य ही नहीं बनाया जाता है, अपितु उनके गुणोंमें वृद्धि, गुणोंमें अथवा प्रकृति (स्वभाव)-में परिवर्तन भी किया जाता है। आयुर्वेदशास्त्रमें विस्तारसे इसकी चर्चा की गयी है। आचार्य वाग्भटने आहारका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए निम्न प्रकारसे अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है—'विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थमायतनमायुषो युक्ते। यत्तदायत्तानि ह्योजस्तेजोधात्विन्द्रियबलतुष्टिप्रतिभारोग्या-दीनि। तदिन्धना चान्तराग्नेः स्थितिः। अग्निमूलं च देहधारणमिति॥' (अष्टाङ्गसंग्रह, सूत्रस्थान १०।३)

अर्थात् जो अन्नपान (आहार) विधिपूर्वक बनाया गया होता है और जिसका वर्ण (रूप), गन्ध, रस तथा स्पर्श इष्ट (अर्थात्-इच्छित-प्रिय) होता है, वह अयुक्त

मूल कारण कहा जाता है; क्योंकि ओज, तेज, रस आदि धातु, चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका बल, शारीरिक शक्ति, तुष्टि, पुष्टि, प्रतिभा (प्रज्ञा-मेधाशक्ति) तथा आरोग्य आदि सब उसीके अधीन हैं। इसी आहाररूपी ईंधनसे जठराग्निकी स्थिति है और जठराग्नि ही शरीर-धारणका मूल है।

इसी प्रसङ्गमें आचार्य वाग्भटने आहारके सात कल्पनाविशेष बतलाये हैं। यथा—**'अथात्मवान् स्वभावसंयोगसंस्कारमात्रादेशकालोपयोगव्यवस्थासप्ताहारकल्पनविशेषाणां स्वास्थ्यास्वास्थ्यफलानां हेतुभूतां समीक्ष्य हितमेवानुरुध्येत॥'**

अर्थात् आत्मवान् (संयमी) मनुष्य स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यरूप फल (परिणाम)-के हेतुभूत स्वभाव, संयोग, संस्कार, मात्रा, देश, काल तथा उपयोग-व्यवस्था—इन सात आहार-कल्पनाविशेषोंको भलीभाँति विचारकर हितकारक आहारका ही सेवन करे।

महर्षि चरकने उपर्युक्त सात कल्पनाओंके अतिरिक्त उपयोक्ता नामक एक और कल्पनाको जोड़कर **'अष्टौ आहारविधिविशेषायतनानि'** का प्रतिपादन किया है। यथा—**'खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि (भवन्ति)॥'**

(चरकसंहिता, विमानस्थान १।२१)

आयुर्वेदशास्त्रमें मनुष्यके द्वारा ग्रहण (सेवन) किये जानेवाले सम्पूर्ण आहार (अन्नपान)-को क्रियाविशेषके द्वारा रूपान्तरित—संस्कारित करके सुपाच्य एवं सात्म्य बनानेका निर्देश किया गया है। वह क्रियाविशेष ही संस्कार कहलाता है। उसके द्वारा आहारद्रव्यका न केवल स्वरूप-परिवर्तन किया जाता है, अपितु द्रव्योंके स्वाभाविक गुणोंमें वृद्धि अथवा परिवर्तन किया जाता है या हो जाता है। संस्कारको परिभाषित करते हुए आचार्य वाग्भटने अपने ग्रन्थ अष्टाङ्गसंग्रह (सूत्रस्थान १२।८)-में निम्न प्रकारसे कथन किया है—

'संस्कारस्तु तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालभावनाभाजनादिभिरुपजन्यते।'

अर्थात् जल तथा अग्निके सन्निकर्षसे, स्वच्छतासे, मन्थनसे, देश एवं कालके प्रभावसे, भावना देनेसे, मिट्टी एवं ताम्रसे निर्मित भाण्ड (पात्र)-में रखनेसे विशिष्टतापूर्ण लक्षण उत्पन्न कर दिये जाते हैं अथवा उस द्रव्यविशेषमें गुणान्तर (अन्य गुण) उत्पन्न हो जाते हैं।

महर्षि चरकने संस्कारके लिये 'करण' शब्दका व्यवहार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'चरकसंहिता' (विमानस्थान १।२७)-में विस्तारपूर्वक इसकी चर्चा करते हुए निम्न प्रकारसे उसकी व्याख्या की है—**'करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः, संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते॥'**

अर्थात् स्वाभाविक गुणयुक्त द्रव्योंमें जो संस्कार किया जाता है, उसे 'करण' कहते हैं। द्रव्योंमें विद्यमान गुणोंके अतिरिक्त अन्य गुणोंका आधान करना संस्कार कहलाता है। जल-सन्निकर्ष, अग्नि-सन्निकर्ष, शौच (शुद्धि); मन्थन, देश, काल, वासन, भावना आदिके द्वारा तथा कालप्रकर्ष (अधिक समयतक रखने) एवं विभिन्न धातुओं (ताँबा, पीतल, रजत सुवर्ण आदि)-से निर्मित पात्रोंमें रखनेसे द्रव्यमें स्थित गुणोंकी वृद्धि अथवा अन्य गुणोंका आधान किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेदशास्त्रके अनुसार प्रत्येक द्रव्य, चाहे वह आहारद्रव्य हो अथवा औषधद्रव्य, वानस्पतिक द्रव्य हो अथवा खनिज (धातु आदि)-द्रव्य, जाङ्गम द्रव्य हो अथवा विषद्रव्य, उनका उपयोग करनेसे पूर्व विधिपूर्वक (प्रक्रियाविशेषके द्वारा) उन्हें संशोधित या संस्कारित किया जाता है, तभी वे मनुष्यके लिये ग्राह्य अथवा सेवनयोग्य बनते हैं। यदि उन्हें विधिपूर्वक संस्कारित नहीं किया जाता है तो वे शरीरके लिये लाभदायक होनेकी अपेक्षा हानिकारक हो सकते हैं। अतः महर्षि चरकने करण या संस्कारके अन्तर्गत जिन विधियों या प्रक्रियाओंका उल्लेख किया है, उनपर संक्षिप्तरूपसे प्रकाश डालना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

सर्वप्रथम 'करण' शब्दको देखें। उन्होंने संस्कारको करण क्यों कहा? इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है—**'क्रियते यत्तत्करणम्।'** अर्थात् जो किया जाता है,

उपाध्यायने शक्तिसादृश्यको भी पदार्थ माननेकी आशङ्का की है। पुनः दूसरे पदार्थ गुणके चौबीस भेदोंमें 'संस्कार' अन्तिम भेद है। यह न्यायविहित चार प्रमाणोंमें शब्दप्रमाणका विषय है। संस्कारकी परिभाषा न्यायशास्त्रमें इस प्रकार कही गयी है—'संस्कारत्वजातिमत्वं संस्कारस्य लक्षणम्' अर्थात् संस्कारत्व जातिमान् संस्कार है, किंतु इसकी निर्दुष्ट परिभाषा इस प्रकार है—'सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्वं संस्कारत्वम्' अर्थात् सामान्य गुण और आत्मामें रहनेवाला विशेष गुण—इन दोनोंमें रहनेवाली गुणत्वव्याप्य जाति जहाँ रहती है, उसे 'संस्कार' कहते हैं। सामान्य गुण और विशेष गुण उभय-गुणवृत्तिजातिका आश्रय घट भी है। अतः घटादिमें अतिव्याप्ति हटानेके लिये 'गुणत्वव्याप्य' पद दिया गया है। इसी प्रकार संयोगादिमें अतिव्याप्ति हटानेके लिये 'आत्मविशेषगुणोभयवृत्ति' पद लक्षणमें दिया गया है एवं ज्ञानादिमें अतिव्याप्ति न हो जाय, इसलिये 'सामान्य' पद दिया गया; क्योंकि ज्ञान आदि सामान्य गुण नहीं बल्कि विशेष गुण हैं। न्यायशास्त्र एवं वैशेषिकदर्शनने संस्कारके तीन भेदोंको स्वीकार किया है—

'संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने।'

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १५८)

अर्थात् वेग, भावना एवं स्थितिस्थापक—ये तीन भेद संस्कारके माने गये हैं। वेगकी परिभाषामें कहा गया है—'द्वितीयादिपतनाऽसमवायिकारणत्वे सति गुणत्वं वेगत्वम्' अर्थात् द्वितीय आदि पतनके असमवायिकारण गुणको वेग कहते हैं। यह केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मनमें रहता है। द्वितीय संस्कारभावनाके लक्षणमें कहा गया है—'अनुभवजन्यत्वे सति स्मृतिर्हेतुत्वं भावनात्वम्' अर्थात् अनुभवसे उत्पन्न होकर जो स्मृतिका कारण है, उसे 'भावना' कहते हैं। यह केवल आत्मामें रहती है।

तीसरे संस्कारस्थितिस्थापकका लक्षण है—'अन्यथा कृतस्य पुनस्तदवस्थापदकत्वं स्थितिस्थापकत्वम्' अर्थात् अन्य अवस्थाको प्राप्त पदार्थको फिर पहलेकी स्थितिमें प्राप्त करानेवाले गुणविशेषको 'स्थितिस्थापक' कहते हैं। ये कट (चटाई) आदि पृथिवीमें रहते हैं।

इस प्रकार संस्कारके तीन भेदोंको न्यायशास्त्रने स्वीकार किया है, जिसका अनुमोदन वैशेषिकदर्शनने भी किया है। [आचार्य पं० श्रीनरेन्द्रनाथजी ठाकुर]

~~~०~~~

आयुर्वेदशास्त्रमें संस्कार और उनकी उपयोगिता

(वैद्य श्री आर०के० जैन, आयुर्वेदाचार्य)

जिस प्रकार भारतीय संस्कृतिमें और भारतीय जनजीवनमें विभिन्न प्रकारके संस्कारोंकी महिमा और उपयोगिता है, उसी प्रकार आयुर्वेदमें भी संस्कारोंकी महत्ता एवं उपादेयता प्रतिपादित की गयी है; क्योंकि आयुर्वेदमें संस्कारोंके द्वारा विभिन्न औषधियों और अन्न (आहार-द्रव्यों)-को विविध प्रक्रिया-विशेषोंद्वारा संस्कारित कर उन्हें प्रयोग और सेवनके योग्य बनाया जाता है। प्रतिदिन हम जिस अन्न या आहारका सेवन करते हैं, उसका सेवन उसी रूपमें नहीं किया जाता, जिस रूपमें वे प्राप्त होते हैं, बल्कि उन्हें छानकर, कूट-पीसकर, पानीमें धोकर या भिगोकर, अग्निपर उबालकर या पकाकर स्वादिष्ट एवं खानेके योग्य बनाया जाता है। इस प्रकार आहार-द्रव्योंपर जो भी क्रिया की जाती है, वह 'संस्कार' कहलाती है।

उपर्युक्त पाक आदि क्रियाओंके द्वारा आहार-द्रव्योंको केवल खानेके योग्य ही नहीं बनाया जाता है, अपितु उनके गुणोंमें वृद्धि, गुणोंमें अथवा प्रकृति (स्वभाव)-में परिवर्तन भी किया जाता है। आयुर्वेदशास्त्रमें विस्तारसे इसकी चर्चा की गयी है। आचार्य वाग्भटने आहारका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए निम्न प्रकारसे अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है—'विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थमायतनमायुषो युवते। यत्तदायत्तानि ह्योजस्तेजोधात्विन्द्रियबलतुष्टिप्रतिभारोग्यादीनि। यदिन्धना चान्तराग्नेः स्थितिः। अग्निमूलं च देहधारणमिति॥' (अष्टाङ्गसंग्रह, सूत्रस्थान १०।३)

अर्थात् जो अन्नपान (आहार) विधिपूर्वक बनाया गया होता है और जिसका वर्ण (रूप), गन्ध, रस तथा स्पर्श इष्ट (अभीष्ट-इच्छित-प्रिय) होता है, वह आयुका
~~~

मूल कारण कहा जाता है; क्योंकि ओज, तेज, रस आदि धातु, चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका बल, शारीरिक शक्ति, तुष्टि, पुष्टि, प्रतिभा (प्रज्ञा-मेधाशक्ति) तथा आरोग्य आदि सब उसीके अधीन हैं। इसी आहाररूपी ईंधनसे जठराग्निकी स्थिति है और जठराग्नि ही शरीर-धारणका मूल है।

इसी प्रसङ्गमें आचार्य वाग्भटने आहारके सात कल्पनाविशेष बतलाये हैं। यथा—**'अथात्मवान् स्वभाव-संयोगसंस्कारमात्रादेशकालोपयोगव्यवस्थासप्ताहारकल्पन-विशेषाणां स्वास्थ्यास्वास्थ्यफलानां हेतुभूतां समीक्ष्य हितमेवानुरुध्येत॥'**

अर्थात् आत्मवान् (संयमी) मनुष्य स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यरूप फल (परिणाम)-के हेतुभूत स्वभाव, संयोग, संस्कार, मात्रा, देश, काल तथा उपयोग-व्यवस्था—इन सात आहार-कल्पनाविशेषोंको भलीभाँति विचारकर हितकारक आहारका ही सेवन करे।

महर्षि चरकने उपर्युक्त सात कल्पनाओंके अतिरिक्त उपयोक्ता नामक एक और कल्पनाको जोड़कर **'अष्टौ आहारविधिविशेषायतनानि'** का प्रतिपादन किया है। यथा—**'खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थो-पयोक्त्रष्टमानि (भवन्ति)॥'**

(चरकसंहिता, विमानस्थान १।२१)

आयुर्वेदशास्त्रमें मनुष्यके द्वारा ग्रहण (सेवन) किये जानेवाले सम्पूर्ण आहार (अन्नपान)-को क्रियाविशेषके द्वारा रूपान्तरित—संस्कारित करके सुपाच्य एवं सात्म्य बनानेका निर्देश किया गया है। वह क्रियाविशेष ही संस्कार कहलाता है। उसके द्वारा आहारद्रव्यका न केवल स्वरूप-परिवर्तन किया जाता है, अपितु द्रव्योंके स्वाभाविक गुणोंमें वृद्धि अथवा परिवर्तन किया जाता है या हो जाता है। संस्कारको परिभाषित करते हुए आचार्य वाग्भटने अपने ग्रन्थ अष्टाङ्गसंग्रह (सूत्रस्थान १२।८)-में निम्न प्रकारसे कथन किया है—

'संस्कारस्तु तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकाल-भावनाभाजनादिभिरुपजन्यते।'

अर्थात् जल तथा अग्निके सन्निकर्षसे, स्वच्छतासे, मन्थनसे, देश एवं कालके प्रभावसे, भावना देनेसे, मिट्टी एवं ताम्रसे निर्मित भाण्ड (पात्र)-में रखनेसे विशिष्टतापूर्ण लक्षण उत्पन्न कर दिये जाते हैं अथवा उस द्रव्यविशेषमें गुणान्तर (अन्य गुण) उत्पन्न हो जाते हैं।

महर्षि चरकने संस्कारके लिये 'करण' शब्दका व्यवहार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'चरकसंहिता' (विमानस्थान १।२७)-में विस्तारपूर्वक इसकी चर्चा करते हुए निम्न प्रकारसे उसकी व्याख्या की है—**'करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः, संस्कारो हि गुणान्त-राधानमुच्यते। ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थन-देशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभि-श्चाधीयन्ते॥'**

अर्थात् स्वाभाविक गुणयुक्त द्रव्योंमें जो संस्कार किया जाता है, उसे 'करण' कहते हैं। द्रव्योंमें विद्यमान गुणोंके अतिरिक्त अन्य गुणोंका आधान करना संस्कार कहलाता है। जल-सन्निकर्ष, अग्नि-सन्निकर्ष, शौच (शुद्धि), मन्थन, देश, काल, वासन, भावना आदिके द्वारा तथा कालप्रकर्ष (अधिक समयतक रखने) एवं विभिन्न धातुओं (ताँबा, पीतल, रजत सुवर्ण आदि)-से निर्मित पात्रोंमें रखनेसे द्रव्यमें स्थित गुणोंकी वृद्धि अथवा अन्य गुणोंका आधान किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेदशास्त्रके अनुसार प्रत्येक द्रव्य, चाहे वह आहारद्रव्य हो अथवा औषधद्रव्य, वानस्पतिक द्रव्य हो अथवा खनिज (धातु आदि)-द्रव्य, जाङ्गम द्रव्य हो अथवा विषद्रव्य, उनका उपयोग करनेसे पूर्व विधिपूर्वक (प्रक्रियाविशेषके द्वारा) उन्हें संशोधित या संस्कारित किया जाता है, तभी वे मनुष्यके लिये ग्राह्य अथवा सेवनयोग्य बनते हैं। यदि उन्हें विधिपूर्वक संस्कारित नहीं किया जाता है तो वे शरीरके लिये लाभदायक होनेकी अपेक्षा हानिकारक हो सकते हैं। अतः महर्षि चरकने करण या संस्कारके अन्तर्गत जिन विधियों या प्रक्रियाओंका उल्लेख किया है, उनपर संक्षिप्तरूपसे प्रकाश डालना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

सर्वप्रथम 'करण' शब्दको देखें। उन्होंने संस्कारको करण क्यों कहा? इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है—**'क्रियते यत्तत्करणम्।'** अर्थात् जो किया जाता है,

यह करण कहलाता है, उसे ही संस्कार कहते हैं। वह संस्कार अनेक प्रकारका होता है—

१-जल-सन्निकर्ष—जलके संयोगसे कठिन—खर गुणवाले द्रव्योंको मृदु या मसृण बनाया जाता है। जलके संयोगसे सूखी मिट्टी मृदु बन जाती है। जलके संयोगसे गेहूँका आटा या बेसन गूँथा जाता है, जलके संयोगसे सत्तू घोला जाता है, नीबूकी शिकंजी, शर्बत, ठंडई आदि बनायी जाती है। जलमें चने तथा त्रिफला आदि औषधद्रव्य भिगोये जाते हैं। भोजन बनानेकी प्रक्रियामें भी अधिकांशतः जलका सन्निकर्ष (संयोग) अत्यावश्यक होता है।

२-अग्नि-सन्निकर्ष—अग्नि-सन्निकर्षके बिना कोई भी पाक-क्रिया सम्भव नहीं है। गूँथे हुए आटेका रोटीके रूपमें परिवर्तित होना, चावल, दाल, शाक-सब्जी आदि पकाना, खीर, पूरी आदि पक्वान्न बनाना इत्यादि समस्त क्रियाएँ अग्नि-सन्निकर्षका ही परिणाम हैं, जिसमें आहार-द्रव्य ग्राह्य, स्वादिष्ट एवं सुपाच्य बनते हैं। अग्नि-सन्निकर्षसे पकायी गयी रोटी, गूँथे हुए आटेकी अपेक्षा लघु एवं सुपाच्य होती है। आयुर्वेदशास्त्रानुसार अनेक औषधियोंका निर्माण अग्नि-सन्निकर्षके बिना सम्भव नहीं है। समस्त क्वाथोंका निर्माण अग्निद्वारा किये गये पाकसे ही सम्भव है। अग्नि-सन्निकर्षसे ही धानसे 'लाई' बनायी जाती है, जो लघु गुणवाली होती है। अग्निसंयोगसे भूना गया चना लघु एवं सुपाच्य होता है। लौह आदि धातुओंको सात बार या इक्कीस बार अग्निमें संतप्त कर क्रमशः तेल, तक्र, गोमूत्र आदिमें बुझाया जाता है, जिससे ये धातुएँ दोषरहित एवं शुद्ध होकर मृदु एवं भस्म बनानेयोग्य हो जाती हैं। आयुर्वेदोक्त समस्त रस-रसायन, भस्म, अवलेह आदि अग्नि-सन्निकर्षके ही सुपरिणाम हैं। इसी प्रकार अग्नि-सन्निकर्षके और भी अनेक उदाहरण हैं। चाहे पाक-निर्माण-प्रक्रिया हो अथवा औषधि-निर्माण-प्रक्रिया सभीको अग्निद्वारा संस्कारित करना अपेक्षित रहता है।

३-शौच—शौचसे द्रव्यका शोधन या शुद्धिकरणकी प्रक्रियाका सङ्केत . . . जैसे—चावलको पकानेसे पूर्व . . . की जाती है। . . . सात . . . द्रवमें डुबाया जाता है। सात बार ऐसा करनेसे उसके दोष दूर हो जाते हैं और वह शुद्ध (निर्दोष) बन जाता है। इसी प्रकार विभिन्न औषधियोंके निर्माणमें प्रयुक्त होनेवाले कुचला, संखिया, भिलावा आदि विषद्रव्योंका प्रक्रियाविशेषके द्वारा शोधनकर उन्हें निर्दोष बनाया जाता है। तत्पश्चात् उपयुक्त मात्रामें विभिन्न औषधियोंमें उनका प्रयोग किया जाता है। विषद्रव्योंके अतिरिक्त अनेक औषधियोंमें लोहा, लौह किट्ट, ताँबा, पीतल, राँगा, सीसा आदि धातुओंका प्रयोग किया जाता है। उनके प्रयोगसे पूर्व प्रथमतः शोधन-प्रक्रियाके द्वारा उनमें स्थित दोषों—मलोंका निर्हरण कर उन्हें शुद्ध किया जाता है, तत्पश्चात् उनका मारण कर औषधिमें प्रयोग किया जाता है। औषधियोंमें प्रयोग किये जानेवाले पारदका भी प्रथमतः अष्ट संस्कारोंके द्वारा शोधन किया जाता है। शौच-प्रक्रियासे पारदमें विद्यमान नाग, वंग, मल, वह्नि, चाञ्चल्य, विष, गिरि और असह्याग्नि दोष दूर हो जाते हैं और वह शुद्ध बन जाता है।

इस प्रकार आयुर्वेदीय औषधियोंके निर्माणमें शौच (शोधन)-संस्कार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। पूर्वोक्त आहार-पाकक्रिया एवं औषधि-निर्माण-प्रक्रियामें सामान्यतः जलसंयोग, अग्नि-सन्निकर्ष और शोधन-क्रिया—इन तीनों संस्कारोंका मिश्रितरूप पाया जाता है। जैसे चावल (भात) पकानेकी प्रक्रियामें प्रथमतः चावलको जलसंयोगसे धोया जाता है, जिससे उसकी मलिनता दूर होकर उसकी शुद्धि हो जाती है। यह शौचसंस्कार है। तत्पश्चात् उसमें जल मिलाकर अग्नि-सन्निकर्षके द्वारा उसे पकाया जाता है। इस प्रकार चावलसे ओदन बनानेकी प्रक्रियामें उसे तीन संस्कारों—जलसंयोग, शौच और अग्नि-सन्निकर्षसे संस्कारित होना पड़ता है। महर्षि चरकके प्रस्तुत वचनसे भी यह सुस्पष्ट है—

'सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः सन्तप्तश्चौदनो लघुः।'

(च०सं०, सू० २७।२५७)

४-मन्थन—अर्थात् मथना या बिलोना; जैसे—दहीको मथकर या बिलोकर मट्ठा (छाछ) बनाया जाता है। दही स्वभावतः गुरु और शोथ उत्पन्न करनेवाला होता है, किंतु मथनेके बाद यह लघु एवं शोथको दूर करनेवाला बन जाता है। यथा—'शोथकृद् शोथघ्नं सस्नेहमपि मन्थनाद्।'

५-देश—देशकी अपेक्षासे द्रव्य और उसके गुण-कर्मोंमें भिन्नता पायी जाती है। आयुर्वेदशास्त्रमें त्रिविध देश बतलाये गये हैं—जाङ्गल, आनूप और साधारण। जाङ्गल देशमें समुत्पन्न द्रव्य आनूप और साधारण देशकी अपेक्षा अधिक रुक्ष, लघु, कठिन, उष्ण, तीक्ष्ण गुणवाले होते हैं। इसी प्रकार आनूप देशमें समुत्पन्न द्रव्य स्निग्ध, मृदु, गुरु, शीत, मन्द, श्लक्ष्ण तथा पिच्छल गुणवाले होते हैं। साधारण देशमें उत्पन्न होनेवाले द्रव्य मिश्रित गुणवाले होते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेदशास्त्रमें देशानुसार ही औषध और अन्नग्रहण करनेका निर्देश दिया गया है।

६-काल—कालका प्रभाव सम्पूर्ण जगत् और उसमें अवस्थित समस्त प्राणियों एवं द्रव्योंपर पड़ता है। जैसे चावल स्वभावतः गुरु होता है, किंतु एक वर्ष पुराना चावल लघु गुणवाला हो जाता है। खेतमें बोया हुआ बीज काल-प्रभावसे पौधा बन जाता है, जो कालान्तरमें पककर अनाज या धान्यके रूपमें बन जाता है और हमारे उपयोगमें आता है। कच्चे फल काल-प्रभावसे पककर सेवनयोग्य बन जाते हैं और अधिक समयतक रखे रहनेपर सड़ या गल जाते हैं। सभी खाद्य-पदार्थ अधिक समयतक नहीं रखे जा सकते; क्योंकि वे कालान्तरमें सड़कर अखाद्य बन जाते हैं। शाक-सब्जी भी अधिक समयतक अपनी स्वाभाविक स्थितिमें नहीं रह पाती है। किसी भी योनिमें उत्पन्न हुआ प्राणी कालके प्रभावसे ही शैशव, बाल, किशोर, युवा, प्रौढ़ वृद्ध आदि अवस्थाओंको प्राप्तकर अन्ततः मृत्युको प्राप्त होता है। संसारमें होनेवाला सभी प्रकारका परिवर्तन काल-प्रभावजन्य होता है। संसारका कोई भी द्रव्य कालके प्रभावसे अछूता नहीं रहता। प्रत्येक द्रव्यकी उत्पत्ति एवं विनाश काल-प्रभावका ही परिणाम है।

७-भाजन—पात्र या बर्तनको भाजन कहते हैं। भाजनके बिना किसी कल्पनाका पूर्ण होना सम्भव नहीं है चाहे वह आहार-कल्पना हो या औषध-कल्पना। आहार-पाक एवं औषध-पाक (क्वाथ-निर्माण आदि) भाजन या पात्रमें ही किया जाता है। द्राक्षावलेह, वासावलेह, मूसलीपाक, क्रौञ्चबीजपाक आदिके लिये बड़े-बड़े भाजनकी आवश्यकता रहती है। मिट्टीसे बने हुए कुल्हड़, सकोरे आदिका औषधि-निर्माणमें विशेष महत्त्व है। विभिन्न धातुओंकी भस्म बनानेके लिये मिट्टीके सकोरोंका प्रयोग विशेषरूपसे किया जाता है। प्राचीन कालमें नीबू, आम आदिके अचार रखनेके लिये मिट्टीके घड़ोंका ही प्रयोग किया जाता था। सन्धान-प्रक्रियाके लिये मिट्टीके घड़े ही सर्वोत्तम माने जाते थे। मिट्टीके घड़ेमें लम्बी अवधितक रखा गया पक्व या अपक्व, कोई भी द्रव्य खराब नहीं होता; क्योंकि उसमें किसी प्रकारका विकार या जीवाणु-संक्रमण नहीं हो पाता, साथ ही उस द्रव्यकी गुणहानि भी नहीं होती। इसी प्रकार त्रिफला (हरड़-बहेड़ा-आँवला)-को मिट्टीके कुल्हड़में पानी डालकर रातभर रखा जाता है। प्रातःकाल उसे मसलकर-छानकर उस पानीसे आँखें धोयी जाती हैं, जिससे नेत्र-ज्योति बढ़ती है और चश्मा लगानेकी नौबत नहीं आती। अतः संस्कारकी दृष्टिसे भाजन या पात्रका विशेष महत्त्व है।

८-भावना—यह एक प्रक्रियाविशेष है, जिसके द्वारा औषधियोंके गुणोंमें अपेक्षित वृद्धि होती है। यह एक ऐसा संस्कार है, जिसके बिना अनेक आयुर्वेदीय औषधियोंका निर्माण ही सम्भव नहीं है। सामान्यतः औषधद्रव्योंको विभिन्न वनस्पतियोंके स्वरस या क्वाथ, जो द्रवरूपमें होते हैं, के साथ खरलमें तबतक घोटा जाता है, जबतक वह द्रव, शुष्क या घनीभूत नहीं हो जाता; जैसे—मोती या सीपको बारीक पीसकर उसे गुलाबजलमें घोटना। घोटते-घोटते गुलाबजल सूख जानेपर पुनः-पुनः सात बार गुलाबजल डालकर घोटना। इससे मोतीका चूरा पिस-पिसकर श्लक्ष्ण पाउडरके रूपमें हो जाता है, उसे मुक्तापिष्टी कहते हैं, जो पित्त-शामक और हृदयके लिये बल एवं पुष्टिकारक होती है। इसी प्रकार अकीकपिष्टी, प्रवालपिष्टी, कहरवापिष्टी आदिका निर्माण किया जाता है। विभिन्न औषधियों—जैसे आरोग्यवर्धिनी वटीके निर्माणमें निम्बपत्र-स्वरसकी भावना, पुष्पधन्वा-रसके निर्माणमें धतूरमूल-स्वरसकी भावना दी जाती है। समस्त रसौषधियों, भस्मों, वटी आदिके निर्माणमें अनिवार्य रूपसे भावना-संस्कारकी अपेक्षा रहती है। विभिन्न रसौषधियोंके निर्माणमें प्रमुख रूपसे प्रयुक्त होनेवाले पारदकी

वह करण कहलाता है, उसे ही संस्कार कहते हैं। वह संस्कार अनेक प्रकारका होता है—

१-जल-सन्निकर्ष—जलके संयोगसे कठिन—खर गुणवाले द्रव्योंको मृदु या मसृण बनाया जाता है। जलके संयोगसे सूखी मिट्टी मृदु बन जाती है। जलके संयोगसे गेहूँका आटा या बेसन गूँथा जाता है, जलके संयोगसे सत्तू घोला जाता है, नीबूकी शिकंजी, शर्वत, ठंडई आदि बनायी जाती है। जलमें चने तथा त्रिफला आदि औषधद्रव्य भिगोये जाते हैं। भोजन बनानेकी प्रक्रियामें भी अधिकांशतः जलका सन्निकर्ष (संयोग) अत्यावश्यक होता है।

२-अग्नि-सन्निकर्ष—अग्नि-सन्निकर्षके बिना कोई भी पाक-क्रिया सम्भव नहीं है। गूँथे हुए आटेका रोटीके रूपमें परिवर्तित होना, चावल, दाल, शाक-सब्जी आदि पकाना, खीर, पूरी आदि पक्वान्न बनाना इत्यादि समस्त क्रियाएँ अग्नि-सन्निकर्षका ही परिणाम हैं, जिससे आहार-द्रव्य ग्राह्य, स्वादिष्ट एवं सुपाच्य बनते हैं। अग्नि-सन्निकर्षसे पकायी गयी रोटी, गूँथे हुए आटेकी अपेक्षा लघु एवं सुपाच्य होती है। आयुर्वेदशास्त्रानुसार अनेक औषधियोंका निर्माण अग्नि-सन्निकर्षके बिना सम्भव नहीं है। समस्त क्वाथोंका निर्माण अग्निद्वारा किये गये पाकसे ही सम्भव है। अग्नि-सन्निकर्षसे ही धानसे 'लाई' बनायी जाती है, जो लघु गुणवाली होती है। अग्निसंयोगसे भूना गया चना लघु एवं सुपाच्य होता है। लौह आदि धातुओंको सात बार या इक्कीस बार अग्निमें संतप्त कर क्रमशः तेल, तक्र, गोमूत्र आदिमें बुझाया जाता है, जिससे वे धातुएँ दोषरहित एवं शुद्ध होकर मृदु एवं भस्म बनानेयोग्य हो जाती हैं। आयुर्वेदोक्त समस्त रस-रसायन, भस्म, अवलेह आदि अग्नि-सन्निकर्षके ही सुपरिणाम हैं। इसी प्रकार अग्नि-सन्निकर्षके और भी अनेक उदाहरण हैं। चाहे पाक-निर्माण-प्रक्रिया हो अथवा औषधि-निर्माण-प्रक्रिया सभीको अग्निद्वारा संस्कारित करना अपेक्षित रहता है।

३-शौच—शौचसे द्रव्यका शोधन या शुद्धिकरणकी प्रक्रियाका सङ्केत मिलता है; जैसे—चावलको पकानेसे पूर्व जलसे धोकर उसकी मलिनता दूर की जाती है। गन्धककी सात बार अग्निपर तपाकर-पिघलाकर सात बार गोदुग्धमें डुबाया जाता है। सात बार ऐसा करनेसे उसके दोष दूर हो जाते हैं और वह शुद्ध (निर्दोष) बन जाता है। इसी प्रकार विभिन्न औषधियोंके निर्माणमें प्रयुक्त होनेवाले कुचला, संखिया, भिलावा आदि विषद्रव्योंका प्रक्रियाविशेषके द्वारा शोधनकर उन्हें निर्दोष बनाया जाता है। तत्पश्चात् उपयुक्त मात्रामें विभिन्न औषधियोंमें उनका प्रयोग किया जाता है। विषद्रव्योंके अतिरिक्त अनेक औषधियोंमें लोहा, लौह किट्ट, ताँबा, पीतल, राँगा, सीसा आदि धातुओंका प्रयोग किया जाता है। उनके प्रयोगमें पूर्व प्रथमतः शोधन-प्रक्रियाके द्वारा उनमें स्थित दोषों—मलोंका निर्हरण कर उन्हें शुद्ध किया जाता है, तत्पश्चात् उनका मारण कर औषधिमें प्रयोग किया जाता है। औषधियोंमें प्रयोग किये जानेवाले पारदको भी प्रथमतः अष्ट संस्कारोंके द्वारा शोधन किया जाता है। शौच-प्रक्रियासे पारदमें विद्यमान नाग, वंग, मल, वह्नि, चाञ्चल्य, विष, गिरि और असह्याग्नि दोष दूर हो जाते हैं और वह शुद्ध बन जाता है।

इस प्रकार आयुर्वेदीय औषधियोंके निर्माणमें शौच (शोधन)-संस्कार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। पूर्वोक्त आहार-पाकक्रिया एवं औषधि-निर्माण-प्रक्रियामें सामान्यतः जलसंयोग, अग्नि-सन्निकर्ष और शोधन-क्रिया—इन तीनों संस्कारोंका मिश्रितरूप पाया जाता है। जैसे चावल (भात) पकानेकी प्रक्रियामें प्रथमतः चावलको जलसंयोगसे धोया जाता है, जिससे उसकी मलिनता दूर होकर उसकी शुद्धि हो जाती है। यह शौचसंस्कार है। तत्पश्चात् उसमें जल मिलाकर अग्नि-सन्निकर्षके द्वारा उसे पकाया जाता है। इस प्रकार चावलसे ओदन बनानेकी प्रक्रियामें उसे तीन संस्कारों—जलसंयोग, शौच और अग्नि-सन्निकर्षसे संस्कारित होना पड़ता है। महर्षि चरकके प्रस्तुत वचनसे भी यह सुस्पष्ट है—

'सुधौतः प्रस्नुतः स्विन्नः सन्तप्तश्चौदनो लघुः।'

(च०सं०, सूत्र २७।२५७)

४-मन्थन—अर्थात् मथना या बिलोना; जैसे—दहीको मथकर या बिलोकर मट्ठा (छाछ) बनाया जाता है। दही स्वभावतः गुरु और शोथ उत्पन्न करनेवाला होता है, किंतु मथनेके बाद वह लघु एवं शोथको दूर करनेवाला बन जाता है। यथा—'शोथकृद् शोथघ्नं सस्नेहमपि मन्थनाद्।'

५-देश—देशकी अपेक्षासे द्रव्य और उसके गुण-कर्मोमें भिन्नता पायी जाती है। आयुर्वेदशास्त्रमें त्रिविध देश बतलाये गये हैं—जाङ्गल, आनूप और साधारण। जाङ्गल देशमें समुत्पन्न द्रव्य आनूप और साधारण देशकी अपेक्षा अधिक रुक्ष, लघु, कठिन, उष्ण, तीक्ष्ण गुणवाले होते हैं। इसी प्रकार आनूप देशमें समुत्पन्न द्रव्य स्निग्ध, मृदु, गुरु, शीत, मन्द, श्लक्ष्ण तथा पिच्छल गुणवाले होते हैं। साधारण देशमें उत्पन्न होनेवाले द्रव्य मिश्रित गुणवाले होते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेदशास्त्रमें देशानुसार ही औषध और अन्नग्रहण करनेका निर्देश दिया गया है।

६-काल—कालका प्रभाव सम्पूर्ण जगत् और उसमें अवस्थित समस्त प्राणियों एवं द्रव्योंपर पड़ता है। जैसे चावल स्वभावत: गुरु होता है, किंतु एक वर्ष पुराना चावल लघु गुणवाला हो जाता है। खेतमें बोया हुआ बीज काल-प्रभावसे पौधा बन जाता है, जो कालान्तरमें पककर अनाज या धान्यके रूपमें बन जाता है और हमारे उपयोगमें आता है। कच्चे फल काल-प्रभावसे पककर सेवनयोग्य बन जाते हैं और अधिक समयतक रखे रहनेपर सड़ या गल जाते हैं। सभी खाद्य-पदार्थ अधिक समयतक नहीं रखे जा सकते; क्योंकि वे कालान्तरमें सड़कर अखाद्य बन जाते हैं। शाक-सब्जी भी अधिक समयतक अपनी स्वाभाविक स्थितिमें नहीं रह पाती है। किसी भी योनिमें उत्पन्न हुआ प्राणी कालके प्रभावसे ही शैशव, बाल, किशोर, युवा, प्रौढ़ वृद्ध आदि अवस्थाओंको प्राप्तकर अन्तत: मृत्युको प्राप्त होता है। संसारमें होनेवाला सभी प्रकारका परिवर्तन काल-प्रभावजन्य होता है। संसारका कोई भी द्रव्य कालके प्रभावसे अछूता नहीं रहता। प्रत्येक द्रव्यकी उत्पत्ति एवं विनाश काल-प्रभावका ही परिणाम है।

७-भाजन—पात्र या बर्तनको भाजन कहते हैं। भाजनके बिना किसी कल्पनाका पूर्ण होना सम्भव नहीं है चाहे वह आहार-कल्पना हो या औषध-कल्पना। आहार-पाक एवं औषध-पाक (क्वाथ-निर्माण आदि) भाजन या पात्रमें ही किया जाता है। द्राक्षावलेह, वासावलेह, मूसलीपाक, क्रौञ्चबीजपाक आदिके लिये बड़े-बड़े भाजनकी आवश्यकता रहती है। मिट्टीसे बने हुए कुल्हड़, सकोरे आदिका औषधि-निर्माणमें विशेष महत्त्व है। विभिन्न धातुओंकी भस्म बनानेके लिये मिट्टीके सकोरोंका प्रयोग विशेषरूपसे किया जाता है। प्राचीन कालमें नीबू, आम आदिके अचार रखनेके लिये मिट्टीके घड़ोंका ही प्रयोग किया जाता था। सन्धान-प्रक्रियाके लिये मिट्टीके घड़े ही सर्वोत्तम माने जाते थे। मिट्टीके घड़ेमें लम्बी अवधितक रखा गया पक्व या अपक्व, कोई भी द्रव्य खराब नहीं होता; क्योंकि उसमें किसी प्रकारका विकार या जीवाणु-संक्रमण नहीं हो पाता, साथ ही उस द्रव्यकी गुणहानि भी नहीं होती। इसी प्रकार त्रिफला (हरड़-बहेड़ा-आँवला)-को मिट्टीके कुल्हड़में पानी डालकर रातभर रखा जाता है। प्रात:काल उसे मसलकर-छानकर उस पानीसे आँखें धोयी जाती हैं, जिससे नेत्र-ज्योति बढ़ती है और चश्मा लगानेकी नौबत नहीं आती। अत: संस्कारकी दृष्टिसे भाजन या पात्रका विशेष महत्त्व है।

८-भावना—यह एक प्रक्रियाविशेष है, जिसके द्वारा औषधियोंके गुणोंमें अपेक्षित वृद्धि होती है। यह एक ऐसा संस्कार है, जिसके बिना अनेक आयुर्वेदीय औषधियोंका निर्माण ही सम्भव नहीं है। सामान्यत: औषधद्रव्योंको विभिन्न वनस्पतियोंके स्वरस या क्वाथ, जो द्रवरूपमें होते हैं, के साथ खरलमें तबतक घोटा जाता है, जबतक वह द्रव, शुष्क या घनीभूत नहीं हो जाता; जैसे—मोती या सीपको बारीक पीसकर उसे गुलाबजलमें घोटना। घोटते-घोटते गुलाबजल सूख जानेपर पुन:-पुन: सात बार गुलाबजल डालकर घोटना। इससे मोतीका चूरा पिस-पिसकर, श्लक्ष्ण पाउडरके रूपमें हो जाता है, उसे मुक्तापिष्टी कहते हैं, जो पित्त-शामक और हृदयके लिये बल एवं पुष्टिकारक होती है। इसी प्रकार अकीकपिष्टी, प्रवालपिष्टी, कहरवापिष्टी आदिका निर्माण किया जाता है। विभिन्न औषधियों—जैसे आरोग्यवर्धिनी वटीके निर्माणमें निम्बपत्र-स्वरसकी भावना, पुष्पधन्वा-रसके निर्माणमें धत्तूरमूल-स्वरसकी भावना दी जाती है। समस्त रसौषधियों, भस्मों, वटी आदिके निर्माणमें अनिवार्य रूपसे भावना-संस्कारकी अपेक्षा रहती है। विभिन्न रसौषधियोंके निर्माणमें प्रमुख रूपसे प्रयुक्त होनेवाले पारदकी

शुद्धिके लिये जो अष्ट या अष्टादश संस्कार किये जाते हैं, वे भी भावनाप्रधान होते हैं। विभिन्न द्रव्योंकी भावनाके विना वे संस्कार अपूर्ण रहते हैं।

इसके अतिरिक्त कतिपय औषधद्रव्योंको जल, गोमूत्र आदिमें रात्रिपर्यन्त या दो तीन दिनतक भिगोकर रखना भी भावनाके अन्तर्गत आता है; जैसे—भिलावा, कुचला, वत्सनाभ आदिको गोमूत्र, क्वाथ, तक्र आदिमें भिगोकर रखा जाता है। इससे भिलावा आदि निर्विष हो जाते हैं तथा कठोर द्रव्य मृदु हो जाते हैं। विभिन्न औषधियोंके निर्माणहेतु भावना देनेके लिये सामान्यतः गोमूत्र, निम्बपत्र-स्वरस, आर्द्रक-स्वरस, मूली-स्वरस, अर्कमूल-स्वरस, धत्तूरमूल-स्वरस, गुलाबजल, गोरखमुण्डी-अर्क तथा विभिन्न औषधिद्रव्योंके क्वाथ आदिका प्रयोग किया जाता है।

९-कालप्रकर्ष—विभिन्न आसव-अरिष्टोंके निर्माणमें सन्धान-प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण होती है। यद्यपि सन्धान-प्रक्रिया स्वयं एक संस्कार है, जिससे औषधद्रव्यके स्वरूप परिवर्तनके साथ-साथ उसमें पर्याप्तरूपेण गुणान्तराधान होता है। काष्ठौषधद्रव्योंके प्रयोगसे जिन अपेक्षित गुणों और रोगनाशक क्षमताको प्राप्त नहीं किया जा सकता, उन्हें आसव-अरिष्टरूप औषधियोंके सेवनसे प्राप्त किया जा सकता हैं। किसी भी औषधि या औषधद्रव्योंको नियत कालावधितक एक ही अथवा भिन्न-भिन्न स्थितिमें रखना कालप्रकर्ष कहलाता है। सन्धान-प्रक्रियाके अन्तर्गत काष्ठौषधियोंको जल या क्वाथमें निश्चित अवधि (लगभग एक माह)-तक मिट्टीके घड़े या बड़े भाण्डमें रखा जाता है। उसमें उचित प्रमाणमें धायके फूल मिलाकर घड़ेका मुख कपड़ेसे बंद कर दिया जाता है। कुछ समय पश्चात् उसमें किण्वन (सन्धान)-क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और लगभग एक माहमें वह सन्धान-क्रिया पूर्ण हो जाती है, जो कालप्रकर्षका ही सुपरिणाम है।

यहाँ आयुर्वेदकी दृष्टिसे संस्कारके लिये विभिन्न साधनों एवं प्रक्रियाओंपर प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रक्रियाएँ हैं, जो औषधि-निर्माणके लिये प्रयुक्त की जाती हैं; जैसे—द्रव्योंको कूटना, पीसना, छानना, मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करना इत्यादि। ये सभी क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ ऊपर कहे गये संस्कारोंसे व्यतिरिक्त नहीं हैं, अतः संस्कारोंमें ही उनका समावेश है।

उपर्युक्त विवेचनके द्वारा यह सुस्पष्ट है कि संस्कारके द्वारा द्रव्यमें स्थित गुणोंमें परिवर्तन किया जाता है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या संस्कारके द्वारा द्रव्यमें विद्यमान स्वाभाविक गुणोंमें परिवर्तन किया जाना सम्भव है? क्योंकि **'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः'** अर्थात् स्वभाव परिवर्तनीय नहीं होता है। इसका समाधान यह है कि किसी भी द्रव्यमें उसके उत्पन्न होनेके समय उसका जो स्वभाव होता है या उसमें जो स्वाभाविक गुण होते हैं, वे अपरिवर्तनीय हैं; जैसे—उड़दमें स्वभावतः गुरु गुण होता है, उसमें किसी भी प्रकारसे परिवर्तन किया जाना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार अग्निमें उष्णता, वायुमें चञ्चलता, घृत-तेलमें स्निग्धता आदि। द्रव्यमें उसका स्वभाव तबतक रहता है जबतक द्रव्य अवस्थित है; क्योंकि उसका द्रव्यसे नित्यसम्बन्ध रहता है। द्रव्यमें जो गुण उसकी उत्पत्तिके पश्चात् प्रादुर्भूत होते हैं, वे जन्मोत्तरकालीन होते हैं और वे ही संस्कारके द्वारा परिवर्तनीय होते हैं। जैसे गुर्वादिगुण। इसके अतिरिक्त द्रव्यमें विद्यमान गुणकी वृद्धि और गुणान्तराधान (अन्य गुणोंका आधान)-संस्कारके द्वारा किया जाता है; जैसे—दूधको सुपाच्य बनानेके लिये उसमें शुण्ठीचूर्ण डालकर उबालना अथवा दूधको विरेचक (दस्तावर) बनानेके लिये उसमें द्राक्षा (मुनक्का) अथवा अमलतासका गूदा डालकर उबालना।

इस प्रकार आयुर्वेदमें संस्कारकी विशेष महत्ता एवं उपयोगिता है, जिसके बिना औषधियोंका निर्माण और उनका गुणकारी होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त औषधियोंमें रोगोंका शमन या नाश करनेकी जो क्षमता उत्पन्न होती है, वह संस्कारजन्य ही होती है। विभिन्न रोगोंका समूल नाश करनेमें जितनी उपयोगिता और अनिवार्यता औषधिकी होती है, उससे कहीं अधिक उपयोगिता संस्कारकी होती है। सम्भवतः इसीलिये आज भी आयुर्वेदको विश्वमें अपाय (हानि)-रहित अथवा निरापद एक सर्वश्रेष्ठ चिकित्साशास्त्रके रूपमें स्वीकार किया गया है।

पारमेश्वरागममें वर्णित अग्निके जातकर्मादि संस्कार

(डॉ० श्रीगोविन्दजी सप्तर्षि)

सनातन-शास्त्रोंका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति एवं समाजको अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति कराना है—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

(वैशेषिकदर्शन)

व्यक्ति और समाजके अभ्युदयसे तात्पर्य दोनोंकी सर्वाङ्गीण लौकिक उन्नतिसे है और निःश्रेयसका अर्थ है—आत्यन्तिक आत्मिक विकास। धर्मशास्त्रोंमें संस्कारोंका विस्तृत उल्लेख मिलता है। संस्कारोंद्वारा मनुष्यकी आन्तरिक वृत्तियोंका विकास होता है और ये मनुष्यके आन्तरिक विकासके बाह्य प्रतीक हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति अपनेको सामूहिक जीवनके उपयुक्त बनाता है। संस्कृत-मनुष्यको समाजमें एक नियत पद प्राप्त होता है। इस प्रकार संस्कारद्वारा व्यक्ति और समाज दोनोंका हित होता है। इन संस्कारोंकी संख्या धर्मशास्त्रोंमें न्यूनाधिक्य बतायी गयी है। यहाँ हम जिन संस्कारोंका वर्णन कर रहे हैं, वे वीरशैव सम्प्रदायके २८ आगमोंमें प्रसिद्ध पारमेश्वरागममें वर्णित अग्निके जातकर्मादि संस्कार हैं।

पारमेश्वरागममें लगभग २३ पटलोंमें शिवाराधनके विषयमें विस्तृतरूपसे वर्णन प्राप्त होता है। सम्पूर्ण ग्रन्थका परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है, इसलिये इसके चतुर्थपटलमें होमविधि-निरूपणके प्रसङ्गमें भगवान् शिवद्वारा देवी पार्वतीको अग्निके संस्कारोंके विषयमें जो समझाया गया है, उसीका सार भाग यहाँ वर्णित है—

भगवान् शिव देवी पार्वतीसे कहते हैं कि गुरु अपने आसनपर विराजमान होकर आचमन, प्राणायामादिके उपरान्त सङ्कल्प करे कि मैं वीरशैव धर्मकी दीक्षाके लिये हवन करूँगा।

हे ईशानि! ऐसा सङ्कल्प लेनेके पश्चात् गुरु हवन करनेके स्थानकी शुद्धि करे। इसके लिये वह अपने इच्छानुसार स्थण्डिल अथवा कुण्डका निर्माण करे। भगवान् शिव कहते हैं कि हे देवि! स्थण्डिलपर हवन करनेसे सभी प्रकारकी सम्पत्तिका लाभ होता है और कुण्डमें आहुति देनेसे मनुष्यके सभी प्रयोजन सिद्ध होते हैं। स्थण्डिल तीन और कुण्ड पाँच प्रकारका होता है। स्थण्डिलके चतुरस्र (चौकोर), त्र्यस्र (त्रिकोण) और वृत्त (गोल)—ये तीन भेद क्रमशः धर्म, अर्थ और कामको देनेवाले हैं। कुण्डके चतुरस्र, त्र्यस्र, वृत्त, अर्धचन्द्र और कूर्माकृति नामक भेद क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, सायुज्य और कैवल्य देनेवाले हैं। हे देवि! इसलिये गुरु अपने कामनानुसार इन सबमेंसे किसीमें भी हवन करे।

सर्वप्रथम पुण्याहवाचन तथा नान्दी आदि शुभ कर्म सम्पन्न कर पञ्चगव्यका प्राशन करे एवं शिवयोगियोंकी सभाका यथाशक्ति पूजनकर भक्तिपूर्वक अग्निका आहरण करे। इस अग्निको सूर्यकी किरणोंसे अथवा अरणिकाष्ठसे उत्पन्न किया जाता है अथवा शिवालय या शिवयोगीके घरसे लाया जाता है। इसे गुरु मूल मन्त्रसे प्रज्वलित करता है एवं स्तम्भन, चतुरस्र, धेनु, मत्स्य और योनि—इन पाँच मुद्राओंको दिखाकर उसका अभिवादन करता है। फिर अग्नि-कुण्डके पूर्व भागमें अग्निको स्थापित कर उस स्थानको वीक्षण, ताडन, प्रोक्षण, अभिमर्षण, घातन, प्रार्थना, अभिमन्त्रण और नमस्कार—इन आठ संस्कारोंसे पवित्र कर बुद्धिमान् गुरु भगवती पार्वतीका ध्यान करे कि वे भगवती स्वयं उदित हो रहे सूर्यके समान लालवर्णकी हैं और लालवर्णके ही वस्त्र पहने हुई हैं। कुण्डरूपिणी उन महाशक्तिने अपने भीतर महान् अग्निको गर्भके रूपमें धारण कर रखा है। पुनः घृताहुति अर्पण कर उस गर्भसे उत्पन्न अग्निको नमन करे एवं अग्निका जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न करे।

कुण्डस्थित अग्निके जातकर्म-संस्कारके लिये प्रणवके साथ मूलमन्त्रका जप करते हुए दस घृताहुतियाँ दी जाती हैं, इसीसे अग्निका जातकर्म-संस्कार सम्पन्न होता है।

सदाशिव कहते हैं कि हे ईशानि! रुद्राग्नि मन्त्रके साथ प्रणवसहित मूल मन्त्रका उच्चारण कर घृतकी दस आहुतियाँ देकर अग्निका नामकरण-संस्कार सम्पन्न करे। नामकरण-संस्कारके सम्पन्न हो जानेके उपरान्त कुण्डस्थ अग्नि उमा और महेशसे पृथक् हो गयी है, ऐसा विचार

घृतकी दस आहुतियाँ देकर उस योगी-स्वरूप अग्निका 'निष्क्रमण' नामक संस्कार सम्पन्न करे। इसी तरह उस कुण्डस्थ अग्निके कानोंमें शुद्ध भावनासे मणिमय कुण्डलोंकी कल्पना कर दस घृताहुति देनेसे अग्निका 'कर्णवेध-संस्कार' किया जाता है। इसके पश्चात् 'अन्नप्राशन' और 'चौलकर्म' नामक संस्कारोंके लिये क्रमशः दस-दस घृताहुतियाँ दी जाती हैं। तत्पश्चात् मूल मन्त्रका उच्चारण करते हुए अग्निका 'उपनयन-संस्कार' सम्पन्न किया जाता है। यहाँ अग्निदेवकी प्रसन्नताके लिये प्रणवसहित मूल मन्त्र 'ॐ नमो रुद्राय' से बीस आहुतियाँ दे। फिर देवी पार्वतीको घृतकी १०८ आहुतियाँ देकर उस अग्निका देवी स्वाहाके साथ विवाह-संस्कार सम्पन्न कराये।

विवाह-संस्कारोपरान्त तरुण, रूपसम्पन्न, अपनी ज्वालाओंसे देदीप्यमान और वामाङ्कपर बैठी स्वाहासे सुशोभित अग्निदेवका ध्यान करे, तत्पश्चात् अपनी कामनाओंके अनुसार अग्निकी सप्तजिह्वाओंमें आहुति प्रदान करे। ये जिह्वाएँ लेलिहाना, कराली, रोचिष्केशा, त्रिलोहिता, विद्युत, प्रभा और शिवा नामवाली हैं।

इस तरह संस्कारसम्पन्न अग्निकी आराधनासे सारी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं।

~~o~~

स्वामी दयानन्दद्वारा उपदिष्ट संस्कार

(प्रो० डॉ० श्रीभवानीलालजी भारतीय)

मानव-जीवनके सर्वतोमुखी तथा सर्वाङ्गीण विकासके लिये हमारे महान् पूर्वजोंने गर्भाधान (जीवनके आरम्भ)-से लेकर अन्त्येष्टि (पाञ्चभौतिक शरीरकी अन्त्यक्रिया)-पर्यन्त सोलह संस्कारोंके किये जानेकी आवश्यकता प्रतिपादित की है। इन संस्कारोंके सम्यक् रूपसे सम्पादित होनेसे व्यक्तिके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक कल्याणमें वृद्धि होती है। संस्कारोंका विधान, उनकी उपयोगिता तथा लाभोंकी चर्चा गृह्यसूत्रोंमें मिलती है। यों तो वेदोंकी विभिन्न शाखाओंके अनुसार गृह्यसूत्र भी अनेक हैं, तथापि इनमें महर्षिवर्य गोभिल, आश्वलायन, पारस्कर आदिके गृह्यसूत्रोंका विशेष महत्त्व है। स्वामी दयानन्दने इन्हीं सूत्रों, उनमें भी विशेषतः पारस्कररचित गृह्यसूत्रकी सहायतासे संस्कारविधिको प्रस्तुत किया है।

शैशव कालके संस्कारोंमें जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण तथा चूडाकर्मको लिया जाता है। हमारी पुरातन भारतीय संस्कृतिमें संतानोत्पत्तिकी दृष्टिसे ही सहवास होता था। संयमको ब्रह्मचर्यका अनिवार्य अङ्ग माना जाता था। गृहस्थके लिये उसका महत्त्व सर्वोपरि था। गृहस्थ-आश्रममें रहकर मानव-जीवनके उदात्त लक्ष्यको प्राप्त करना ही सर्वोपरि माना गया है। भगवान् मनुने गृहस्थ-आश्रमकी महिमाका निरूपण करते हुए कहा है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

(मनु० ६।९०)

अर्थात् जिस प्रकार सारे नदी-नद सागरमें प्रविष्ट होकर विश्राम पाते हैं, उसी प्रकार अन्य आश्रमवाले गृहस्थोंके आश्रयसे शान्ति एवं सुख प्राप्त करते हैं। साथ ही यह भी कहा कि जिस प्रकार समस्त प्राणी वायुके आधारपर जीवित रहते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमस्थ लोग गृहस्थोंके द्वारा पालित और पोषित होते हैं—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व-आश्रमाः॥

(मनु० ३।७७)

जातकर्म-संस्कार—जातकर्ममें बाह्य स्वच्छता तथा स्वास्थ्यके नियमोंका तो ध्यान रखना ही चाहिये, नवजातकी जिह्वापर प्रणव (ॐ)-को सोनेकी शलाका लेकर मधुसे लिखने तथा उसके कानोंमें 'वेदोऽसीति' का उच्चारण करना भी बताया गया है। शिशुकी भावी उन्नतिमें ये क्रियाएँ सहायक होती हैं।

जातकर्मसे पहले पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन नामक जो दो संस्कार किये जाते हैं, उनका प्रयोजन गर्भकी

समस्त प्राणियोंकी सेवाका ...

सच्चिदानन्दके ज्योतिषी

महर्षि वाल्मीकिद्वारा लव-कुशको संस्कार-दीक्षा प्रदान करना

यज्ञानुष्ठानद्वारा संस्कारोंकी पूर्णता

समुचित रक्षा तथा गर्भिणीके स्वास्थ्य एवं दैनन्दिन क्रिया-कलापको मर्यादित रखना है।

नामकरण-संस्कारके महत्त्वको समझना आवश्यक है। आचार्य पारस्करने जन्मसे दसवें दिन या ग्यारहवें दिन अथवा एक सौ एक दिन व्यतीत होनेपर नाम रखनेको प्रशस्त माना है। बालक तथा बालिकाका ऐसा नाम दिया जाय, जो सार्थक, मङ्गलसूचक एवं प्रेरणादायक हो। मध्यकालमें कतिपय कारणोंसे हीनभावनासूचक, जुगुप्साजनक तथा निरर्थक नाम दिये जाते थे। यद्यपि अब लोग नामकरणके महत्त्वको समझने लगे हैं, तथापि किसी शब्दके अर्थको न समझकर निरर्थक तथा अप्रासङ्गिक नाम भी रखे जाने लगे हैं। लड़कोंके ऐसे नाम जो कोई संगत अर्थ नहीं देते, वे हैं—अंकित, अनिकेत, साहिल, अनिमेष आदि। बालिकाओंके शिल्पा, शिल्पी, शिवाका आदि नाम रखनेका भी कोई औचित्य नहीं है। देवताओं तथा महापुरुषोंके नामोंके अनुसार नाम रखनेसे बालकोंके तत्तद् गुणोंको धारण करनेकी सम्भावना रहती है, जो उनमें विद्यमान थे। चूडाकर्मका शारीरिक दृष्टिसे महत्त्व है। गर्भकालके बालोंका उच्छेदन स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है। इससे मस्तिष्कको स्फूर्ति तथा बल मिलता है।

उपनयन—बालककी किशोरावस्थामें जो संस्कार दिये जाते हैं, उनमें उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन—तीनों विद्यारम्भके साथ-साथ वटुकको बुद्धि, ज्ञान तथा मानसिक शक्तिसे सम्पन्न कराते हैं। उपनयन या यज्ञोपवीतको मात्र सूतका धागा ही नहीं समझना चाहिये। इनके द्वारा आचार्य अपने अन्तेवासीको स्मरण कराता है कि भावी जीवनमें उसे माता-पिता, देवता, गुरु, आचार्य, पितरों तथा ऋषियोंके ऋणोंसे उऋण होना है। माता-पिता हमारे स्थूल शरीरके प्रदाता ही नहीं हैं, वे हमें उत्तम शील, चारित्र्य तथा सदाचारकी शिक्षा देते हैं। विद्या-प्रदाता गुरुजन तो ज्ञानाञ्जनकी शलाकासे हमारे अज्ञानरूपी अन्धकारका निवारण करते हैं। वसिष्ठ, विश्वामित्र, व्यासादि ऋषियोंने उच्च कोटिके शास्त्रोंका निर्माण कर निखिल जगत्को अभ्युदय तथा मोक्षका मार्ग दिखाया है। अतः यज्ञोपवीतको धारण करते समय वटुकको यह स्मरण कराया जाता है कि वह भावी जीवनमें अपने इन गुरुजनोंका कदापि विस्मरण नहीं करे।

वेदारम्भ—वेदारम्भ-संस्कारके आरम्भमें ब्रह्मचारीको आचार्य गायत्रीमन्त्रका उपदेश देता है तथा उससे प्रतिपद उच्चारण करवाकर सावित्रीमन्त्रके अर्थको बताता है। संसारमें मेधा या बुद्धि ही परमात्मप्रदत्त सर्वोपरि देन है, जो मानवके हितके तथा कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्मके निर्णयके लिये दी गयी है। इस मन्त्रके देवता सविता हैं, जो सर्वोत्कृष्ट तथा समग्र सृष्टिके रचयिता परमात्माके वाचक हैं। मन्त्रके आरम्भमें '**भूः**', '**भुवः**' और '**स्वः**' जो तीन व्याहृतियाँ बोली जाती हैं, वे परमात्माके सत्स्वरूप, दुःखनाशक तथा सुखप्रदाता आदि गुणोंको लक्षित करती हैं। मन्त्रका तात्पर्य यह है कि हम परमात्माके उस तेज (भर्ग)-को धारण करें, जो हमारी बुद्धियोंको सन्मार्ग तथा सत्कर्मोंकी ओर प्रेरित करते हैं।

कौपीन, कटिवस्त्र, उत्तरीय तथा दण्डको ग्रहणकर ब्रह्मचारी दीक्षादाता गुरुके समक्ष प्रतिज्ञा करता है कि वह क्रोध तथा अनृत (असत्य) आदि दुर्गुणोंको त्याग देगा। अति स्नान, अति भोजन, अति निद्रा तथा अति जागरणसे पृथक् रहेगा तथा लोभ, मोह, भय, शोक आदिसे दूर रहेगा। मेखलादण्डधारी होकर भैक्ष्यचर्या ही उसकी नियमित दिनचर्या रहेगी। वह प्रातः-सायं आचार्यका अभिवादन कर उनसे शास्त्राध्ययन करेगा। इस प्रकार निश्चित अवधिमें समग्र शास्त्रोंका अध्ययन कर छात्र विद्यास्नातक तथा व्रतस्नातक बनता है। ब्रह्मचर्यकालमें वह किस प्रकार संयम एवं नियमपूर्वक विद्याध्ययन करे, इसका विस्तृत उल्लेख मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायमें मिलता है। अध्ययनकालमें वह अभिवादनशील होकर गुरुजनोंकी सेवा करता है। भगवान् स्मृतिकारने कहा है कि ऐसे शिष्यकी आयु, विद्या, यश तथा बलमें सतत वृद्धि होती है। हमारी संस्कृतिमें वृद्ध उसे नहीं कहा गया है जिसके सिरके बाल श्वेत हो गये हैं, इसके विपरीत ऋषियोंने वेदज्ञ, विद्वान् (अनूचान)-को महान् कहा है—'**योऽनूचानः स नो महान्॥**' (मनु० २। १५४)। वेदाध्ययनको ही ब्रह्मचारीका सर्वोपरि तप कहा गया है—'**वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥**' (मनु० २। १६६)

अध्ययन समाप्त कर जब ब्रह्मचारी आचार्यकी सेवामें उपस्थित होकर उससे दीक्षान्त आशीर्वाद लेता है तो आचार्य उसे सत्य बोलने, धर्मका आचरण करने, स्वाध्यायमें प्रमाद न करने तथा भावी जीवनमें अध्ययन एवं प्रवचनसे विरत न होनेका उपदेश देते हैं। दूरदर्शी आचार्य निम्न वाक्योंमें यह कहना नहीं भूलते कि शिष्यको चाहिये कि वह अपने आचार्यके अनिन्दित कर्मोंका ही सेवन करे तथा उनके सुचरितोंका ही अनुकरण करे—

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
यान्यस्माकः सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११)

इस प्रकार गुरुगृहसे लौटकर ब्रह्मचारी स्नातक बनता है और स्व-वर्ण, गुण, कर्म, स्वभाव, शील तथा विद्यायुक्त कन्यासे विवाह कर गृहस्थधर्ममें प्रवेश करता है।

विवाह-संस्कारका महत्त्व—षोडश संस्कारोंमें विवाह सर्वोपरि एवं महत्त्वपूर्ण है। इसकी विधि तथा तत्-सम्बद्ध क्रियाएँ भी विस्तृत तथा जटिल हैं। खेद है कि वर्तमान समयकी मर्यादाहीन जीवनप्रणालीने विवाह-संस्कारको उपहासास्पद बना दिया है। विवाह-जैसे पावन तथा महत्त्वपूर्ण संस्कारका यदि विद्रूप देखना चाहें तो फिल्मोंमें दिखाये जानेवाले वैवाहिक कृत्यों तथा उन्हें सम्पादित करानेवाले पुरोहितोंको देखना चाहिये, जो विदूषकोंकी भाँति हँसी तथा उपहासके पात्र दिखाये जाते हैं। विवाहकी समस्त विधियोंको यदि शास्त्रसम्मत विधि-विधानसे कराया जाय तो उसमें पर्याप्त समय लगता है तथा धैर्य भी आवश्यक है। शास्त्रोक्त ब्राह्म विवाहमें निम्न विधियाँ प्रमुख हैं—स्वस्ति तथा शान्तिके मन्त्रोंका मङ्गलवाचन, आसन, पाद्य, अर्घ तथा आचमन एवं मधुपर्कके द्वारा वरका सत्कार, गोदान, गोत्र तथा नामोच्चारणपूर्वक कन्याका पाणिग्रहण **'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः'** आदि प्रतिज्ञामन्त्रोंका उच्चारण, तत्पश्चात् वैवाहिक होमकी प्रधानता होती है। **'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्'** आदि मन्त्रपाठके द्वारा कन्याका हस्तग्रहण, पुनः शिलारोहण, लाजाहोम तथा सप्तपदीकी क्रियाएँ होती हैं। उपसंहारकी क्रियाओंमें **'आपो हि ष्ठा मयोभुवः'** आदि मन्त्रोंसे जलाभिषेक **'मम व्रते ते हृदयं दधामि'** आदि पारस्कर-गृह्यसूत्रोक्त मन्त्रोंसे हृदयालम्भन, **'सुमङ्गलीरियं वधूः'** से सिन्दूरदानपूर्वक आशीर्वाद तथा ध्रुवदर्शन एवं अरुन्धती नक्षत्रोंके दर्शनके अनन्तर शान्तिपाठ होता है।

जीवनचर्यामें गृहस्थधर्मके पश्चात् वानप्रस्थ-सेवनको भी संस्कारके रूपमें परिगणित किया गया है। वार्धक्यावस्था आनेपर सांसारिक कर्तव्योंसे अनासक्त होकर मानवको उचित है कि वह परलोककी ओर ध्यान दे। गृहस्थका दायित्व पुत्रोंको सौंप दे और स्वयंको लोकहित तथा आत्मकल्याणमें लगा दे। रघुवंशी राजाओंकी जीवन-चर्याका उल्लेख करते हुए महाकवि कालिदासने रघुवंश (१।८)-में कहा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

अर्थात् बाल्यकालमें ये रघुवंशी नरेश विद्याओंका अभ्यास करते हैं, युवाकालमें गृहस्थधर्मका पालन करते हैं, वृद्ध हो जानेपर मुनियोंकी वृत्ति अपनाकर योगसाधना करते हैं और योगवृत्तिसे ही स्वशरीरका त्याग करते हैं। निवृत्तिमार्गमें रुचि रखनेवालेको चाहिये कि वह समस्त लौकिक रागोंसे निवृत्त होकर प्रबल तप, त्याग और वैराग्य-सम्पन्न होकर संन्यासधर्मको स्वीकार करे।

शरीरान्तके बाद मन्त्रोच्चारणपूर्वक शवका दाहकर्म भी एक आवश्यक संस्कार माना गया है। शवको भूमिस्थ करने, जलमें प्रवाहित करने या दाह करनेकी परम्परा है। शवके दाहमें यथाशक्ति मात्रामें काष्ठ, कर्पूर, चन्दन, घृतादिका प्रयोग आवश्यक है। शवदाहके समय यजुर्वेदके उनतालीसवें अध्यायके मन्त्रोंका पाठ तथा तदनुरूप आहुतियाँ देनेका विधान है। ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १४वें सूक्तके अधिकांश मन्त्र मृत्युके नियन्त्रक यम नामवाले परमात्माकी स्तुतिके हैं। यजुर्वेदीय मन्त्रोंमें शरीरस्थ प्राण, चक्षु, श्रोत्र, लोम, त्वचा, रक्त, मेद, स्नायु, अस्थि, मज्जा, रेतस् आदि पदार्थोंको अपने कारणतत्त्वोंमें विलीन होनेका संकेत है।

वस्तुतः हमारे सभी संस्कार सप्रयोजन हैं, जिनमें मानवीय इतिकर्तव्यता तथा आदर्श नैतिकताके तत्त्व संनिहित हैं। इनका पुनः प्रतिष्ठित किया जाना अभीष्ट है।

बुन्देलखण्डमें श्रीरामोन्मुख षोडश संस्कार

(श्रीमती सन्ध्याजी पुरवार, एम०ए०)

व्यक्तिके असंस्कृतरूपको सुसंस्कृत करने और उन्हें अनुशासित करनेके लिये प्राचीन ऋषि-मुनियोंने संस्कारोंका विधान किया है।

संस्कारोंके माध्यमसे बुरे प्रभावोंका शुद्धीकरण तथा अच्छे प्रभावोंका उन्नयन होता है। इसके लिये पूजा-पाठ, हवन इत्यादिके द्वारा मन और वातावरणकी शुद्धि की जाती है तथा देवताओं एवं श्रेष्ठ जनोंका आशीर्वाद प्राप्त करनेका उपक्रम किया जाता है।

बुन्देली जनजीवन अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिपाटीके प्रति विशेष आस्थावान् है। इसी कारण यहाँपर शास्त्रोक्त सभी संस्कारोंको पूर्ण मनोयोग, श्रद्धा एवं हर्षोल्लासके साथ सम्पन्न किया जाता है। यह हर्षोल्लास उस समय दुगुना हो जाता है, जब ढोलककी थापपर अपनेको भावोंसे परिपूर्ण करते हुए यहाँकी महिलाएँ लोकगीतोंके माध्यमसे अपनी आस्थाको व्यक्त करती हैं। यहाँके संस्कारीय लोकगीतोंपर भगवान् श्रीरामका प्रभाव इतना व्यापक है कि अधिकांश संस्कारगीत इन्हीं श्रीराम-सीताके प्रसङ्गोंपर आधारित हैं और जब इन लोकगीतोंका गायन होता है तो उस समय ऐसा वातावरण निर्मित होता है कि वास्तवमें अयोध्यामें श्रीरामजीने जन्म लिया हो। प्रत्येक माता-पिताकी यह इच्छा रहती है कि उनका बालक श्रीरामजीके समान वीर एवं ओजस्वी हो।

यहाँ संस्कारोंके समय गाये जानेवाले मुख्य-मुख्य संस्कार गीतोंका संक्षेपमें वर्णन प्रस्तुत है—

१-गर्भाधान-संस्कार—इस संस्कारसे बीज तथा गर्भकी मलिनताका शोधन होता है और पति-पत्नी उत्तम संतानकी कामनासे शुद्ध होकर सहवास करते हैं। बुन्देलखण्डमें यह संस्कार 'फूलचौक' के नामसे जाना जाता है। इस अवसरपर स्त्रियाँ गीत गाती हैं—

आज दिन फूल चौक सुनो मोरी देवरानी।
चौक चंदन पुराय, बाहमन देव बुलाय॥
सबरी गणित लगाय, रामजीको सुमिर लेओ मोरी देवरानी।
रामजीके सुमिरेसे भाव बनत हैं॥
लखना बूटीसे, तन्त्र गढ़त हैं।
अब होओ रामजी तुम सहाय, मोरी देवरानी॥

इस गीतमें भगवान् श्रीरामजीका स्मरण करते हुए उनका भाव मनमें जगाते हुए उन्हींसे वंशवृद्धिहेतु सहायता भी माँगी गयी है।

२-पुंसवन-संस्कार—यह संस्कार गर्भाधानसे दूसरे या तीसरे माहमें किया जाता है। इस संस्कारसे पुत्रप्राप्तिका योग बनता है। जब पूजन आदि कार्यक्रम चल रहा होता है, तब यहाँकी महिलाओंके कोकिल-कण्ठका स्वर यूँ गूँजने लगता है—

मिटगव बांझ कौ नाव,
राजा तौ पौढ़े पलंग पै, रानी मलें पिण्डरीं महाराज।
सूनो अयोध्या को राज, अकेलो संतति बिना महाराज॥
गजमोतिन के चौक पुरा कलस धरवाइयो महाराज।
बारा बरसके हुइयें राम तब बन खों जैहैं महाराज॥
इतनी तो सुन राजा दशरथ अटरियों चढ़ गये महाराज।
पाछूं से गईं कौसिल्या पूछें कैसे राजा अनमने महाराज॥
बन खो जैहैं तो जान दे फेर घर आहैं महाराज।
मोरो मिटगव बांझ कौ नाव, तुम्हारो वंश चलो महाराज॥

३-सीमन्तोन्नयन-संस्कार—यह संस्कार गर्भधारणके पश्चात् छठे या आठवें महीनेमें किया जाता है। इस संस्कारमें कुश एवं सेहीके काँटेका विशेषरूपसे प्रयोग होता है, जिससे गर्भस्थ शिशुकी व्याधियोंसे रक्षा हो सके तथा गर्भिणी स्त्रीका शारीरिक एवं मानसिक श्रमसे बचाव किया जा सके और वह प्रफुल्लित रह सके। इस संस्कारको बुन्देलखण्डमें 'सादें' कहा जाता है और पूजन इत्यादिके अवसरपर यहाँकी मातृशक्ति अनायास ही गा उठती है—

ऐसी किरपा कब करहैं भगवान मेरे आंगन बजै बधायौ।
रामजीसे लला मोरे अंगना में डोलैं मुस्कायँ॥
रामजीकी किरपा सेई होवे, सुफल मनोरथ हमारो।
हे रामजी अपनी दया बनाय रखियो मेरे आंगन बजै बधायौ॥

भगवान् श्रीरामजी-जैसे पुत्रकी कामनापूर्ति केवल श्रीरामजीके अनुग्रहसे ही सम्भव है—यह गीत यही बतलाता है। ये तीनों संस्कार बालकके जन्मसे पूर्वके हैं तथा प्रथम गर्भधारणमें ही अपनाये जाते हैं।

४-जातकर्म-संस्कार—इस संस्कारको पुत्र-जन्मके अवसरपर किया जाता है, इसका उद्देश्य है—पुत्रपर पड़नेवाली बाधाओंका निराकरण। पुत्र उत्पन्न होनेपर थाली बजाकर पुत्र-आगमनकी खुशी व्यक्त की जाती है और महिलाएँ खुशीसे गीत गाने लगती हैं—

राजा दसरथ के चार कुमार, तौ दिन दिन प्यारे लगें,
कौना के जनमें भरत शत्रुघन, कौना के लक्षमन राम।
कैकई के जनमे भरत शत्रुघन, कौशिल्या के लक्षमन राम,
कैकई के बाजे ढोलक मजीरा, कौशिल्या के घूमें निसान।

इसी अवसरपर नरा-छीनने (नालच्छेदन)-की प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है। जिसमें भगवान् श्रीरामके स्वरूपका वर्णन करते हुए उस महान् दिव्य झाँकीका दर्शन होता है—

कैसी मचल रई दाई, अवध में कैसी मचल रई दाई,
सुरंग चुनरी कौशिल्या लयैं ठाड़ी, बई न लेवे दाई।
सोने को हार कैकई लयैं ठाड़ी, कूलो मरोर गई दाई॥
नरा तुमारो जयई हम छीने, दरसन दें रघुराई।
रूप चतुर्भुज प्रभु दरसायो, खुसी भई अब दाई॥

५-नामकरण-संस्कार—आज विज्ञानद्वारा यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि शब्दोंकी ध्वनिका मानव-मस्तिष्कपर तथा वायुमण्डलपर विशेष प्रभाव पड़ता है। बालकके सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्थानहेतु उसके नामकी ध्वनि-तरङ्गोंका विशेष महत्त्व है, जिसके लिये इस संस्कारको प्रतिपादित किया जाता है। बुन्देली माटीमें यह संस्कार 'खरीपटा' के नामसे जाना जाता है। जब पुरोहित नक्षत्रों तथा वर्णानुसार नामका चयन करते हैं, तब महिलाओंका कोकिलस्वर इस प्रकार गुञ्जायमान हो उठता है—

दसरथ जू की रनियां रामा लये कइयां,
कौशिल्या के रामा भये, सुमित्रा के लक्षमनियां।
संझा बेरा रामा भये, भोरे लक्षमनियां,
शुभ घरी ललन राम भये हैं, मूलपरे लक्षमनियां।

६-निष्क्रमण-संस्कार—यह संस्कार साधारणतः चौथे माहमें होता है और इसका उद्देश्य है—बालकका समाजके साथ एवं प्रकृतिके तत्त्वोंके साथ परिचय कराना। इस संस्कारमें कुआँ पूजने जाया जाता है और उस समय यह गीत गाया जाता है—

ललन खाँ लैके निकरीं दसरथ जू की रनियाँ,
कौशिल्या की गोदी में रामजू लदे हैं, भरत कैकयी की कनियाँ।
गैला में ठाड़े अजुध्यावासी, संगै संगै चलती लुगइयाँ,
ललन को साथ लये, महलन को छोर के, निकरी भरये पनियाँ।

७-अन्नप्राशन-संस्कार—आम तौरपर यह संस्कार जन्मके छठे मासमें किया जाता है और बुन्देलखण्डमें इसे 'पासनी' कहा जाता है। इस संस्कारको गर्भवास और मलिन-भक्षणकी शुद्धिके लिये तथा आयु एवं बलकी स्थिरताकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। इस अवसरपर यह लोकगीत गाया जाता है, जिसमें जनकजीके महलका वर्णन किया गया है, जहाँपर नाना-नानीद्वारा खीर चटाये जानेका पारम्परिक वर्णन हुआ है—

जनक जू के महलन में कैसी परी भीर,
हरस भरी भीर हुलस भरी भीर।
नाना चटा रये ललन खाँ खीर,
काहें की बिलिया काहे की खीर।
सोने की बिलिया इमरत की खीर,
काहे की चम्मच काहे की खीर।
रतन जड़ी चम्मच मेवन की खीर,
नानी चटायीं ललन खाँ खीर।

८-चूडाकर्म-संस्कार—यह संस्कार पारिवारिक चलनके अनुरूप एक वर्ष या तीन वर्ष या छः माहमें सुविधानुसार किया जाता है। इसे 'मुण्डन' कहा जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य होता है—बालकको स्वच्छतासे जीवन-यापनकी शिक्षा देना। इसमें बालकके सिरके सभी बाल (शिखाको छोड़कर) मूड़ दिये जाते हैं और शिखाके माध्यमसे परम तत्त्वके साथ सम्पर्ककी शिक्षा दी जाती है। मुण्डनके समय मातृशक्ति समूहमें गायन करते हुए श्रीरामजीको ही आधार बनाकर राजा दशरथकी ओर संकेत करते हुए कहती हैं—

महराज जू, राम जू को मुड़नो कराओ,
बहमन बुलाओ साइत दिखाओ।
समधी को खबरिया कराओ,
पूरी अयोध्या में दियला जलाओ॥

९-कर्णवेध-संस्कार—यह संस्कार बालककी आयुवृद्धि और व्यवहारसिद्धि तथा परमेश्वरकी प्रसन्नताहेतु किया जाता है। इसका एक अन्य वैज्ञानिक उद्देश्य यह भी है कि कर्णवेधद्वारा अण्डकोशवृद्धि तथा आन्त्रवृद्धि एवं श्वासके रोगोंसे छुटकारा पाया जा सकता है। इस अवसरपर यह लोकगीत प्रचलित है—

आज समय सुख छायो, रामजीको औसर मन भायो।
कनछेदन सुन आई सखियन मंगल गायो॥
झेंगुली झीन सुभग तन राजत, जामा परम सुहायो।
बाबा दसरथ कौशिल्या रानी, मुतियन चौक पुरायो॥
बंदनवार द्वार बँधवाये, कमल कुअर लख अनंद सुख पायो।

१०-उपनयन-संस्कार—यह संस्कार बालककी द्विजत्वसिद्धिद्वारा वेदाध्ययनाधिकारकी सिद्धिहेतु किया जाता है। इसका उद्देश्य मुख्यत: शैक्षणिक है और इसका शाब्दिक अर्थ है—समीप ले जाना। अस्तु, इस संस्कारसे तात्पर्य बालकको शिक्षाहेतु गुरुके समीप ले जानेसे है। इस संस्कारमें बालकको जनेऊ पहनाया जाता है, जो सदैव उसे नियमोंके पालन करनेहेतु प्रेरणा देता रहता है। भगवान् श्रीराम तो मर्यादापुरुषोत्तम हैं ही, इसीलिये उनका स्मरण करते हुए यह संस्कार सम्पन्न होता है, जिससे बालक भगवान् श्रीरामके गुणोंसे प्रभावित होकर उन्हें अपने जीवनमें अपनाये। इस अवसरपर निम्न गीत गाया जाता है—

जनेउ आज पैरत दसरथ के लाल दसरथ घर मोद बढ़े।
तीन तगा में विरयां बांधे, दसरथ घर मोद बढ़े॥
विस्नू बांधे विस्व करतार, दसरथ घर मोद बढ़े।
विरमा ठाड़े, विस्नू ठाड़ें, ठाड़ें त्रिपुरार, दसरथ घर मोद बढ़े॥

११-वेदारम्भ-संस्कार—इसे 'पाटीपूजन' भी कहा जाता है तथा इसमें बालकको अक्षरज्ञानके माध्यमसे शिक्षा दी जाती है। पाटीपूजनके समय जब गुरु बालकको शिष्यरूपमें स्वीकार करते हैं, तब भी महिलाएँ श्रीरामजीको ही अपना आधार मानकर उस बालकके वेदारम्भ-संस्कारमें यह गीत गाती हैं—

कौशिल्या जू माई, कैकई जू माई,
पंडित जू नेग मांगें, वेद की पढ़ाई।

१२-समावर्तन-संस्कार—यह संस्कार शिक्षाकी समाप्तिपर सम्पन्न होता है, जिसे बुन्देलीमें 'समर' कहते हैं। बालक अपनी शिक्षा पूरी करके गुरुके आश्रमसे अपने घर वापस आता है। भगवान् श्रीरामजी गुरुशिक्षाके बाद घर आते हैं तो पूरी अयोध्यामें खुशी छा जाती है—

आज राम जू लला अजुध्या आये, सबरे आनन्द छाये।
अग्गा अग्गा राम जू पाछे लक्षमन भरत शत्रुघन मन भाये॥
सबरी नगरिया में झालर टँग गयी, सबके मन हर्साये।
दसरथ जू और माता कौशिल्या ने रत्ना खूब लुटाये॥

१३-विवाह-संस्कार—हिन्दू जनमानसमें विवाह एक पवित्र बन्धन होता है, जिसमें आत्माका आत्मासे मिलन होता है। बुन्देलखण्डमें विवाहके अवसरपर अत्यधिक उल्लास होता है तथा यह संस्कार कई चरणोंमें होकर सम्पूर्णताको प्राप्त होता है। इन चरणोंमें लगुन मटियानों (देवताओंको निमन्त्रण), हल्दी-तेल चढ़ना, द्वाराचार, भाँवर, पाँव-पखराई (कन्यादान), ज्योनार, कुँवर-कलेवा, सगुन-चिरैया आदि प्रमुख हैं और इन सभी चरणोंके अलग-अलग लोकगीत हैं। जब बालक (वर)-को तेल चढ़ाया जाता है, तब भी तेल चढ़ानेवाली महिलाओंके मनमें यही भाव रहता है कि वे श्रीरामजीको तेल चढ़ा रही हैं—

सो आज मोरे राम जू खौं तेल चढ़त है,
तेलो चढ़त है फुलेलो चढ़त है।
सोने कटोरा में तेलो भरायो,
सो हरदी मिला कैं कैसो झलकत है।
कुंवारिन ने मिल तेलो चढ़ायो,
सो नरिन मंगल गीत मढ़त है।

इसी भाँति कंकन-छोड़नेका गीत देखें, जिसको श्रीरामके धनुर्भङ्गका वर्णन करते हुए इस प्रकार गाया जाता है—

जौ ने होय धनुष को टोरयो, कठिन कंकन छोरयो।
तुमने जनकपुरी पग धारे, शिव के धनुष टोरकें डारे॥

जौ नै होय मारीच को मारबो, कठिन कंकन छोरबो।

१४-वानप्रस्थ-संस्कार—यह संस्कार जीवनके तृतीय चरणमें इस आशयसे किया जाता है कि व्यक्ति मोहमायाके बन्धनको त्यागकर समाजसे विरक्ति लेकर जीवनके परम उद्देश्य ईश्वरसे साक्षात्कारहेतु प्रेरित हो सके। वानप्रस्थके अवसरपर यह निर्मोही लोकगीत वास्तवमें श्रीरामजीसे साक्षात्कार कराता है—

राम राम खौं भज ले प्यारे, क्यों करते आना कानी।

१५-संन्यास-संस्कार—जीवनके अन्तिम चरणमें मनुष्य इस जीवनसे पूर्ण विरक्ति लेता हुआ ईश्वरमें रम जानेहेतु अग्रसर होता है, इसी कारण उसका मन कहता है—

मन लागौ है राम फकीरी में।
जो सुख है मोय राम भजन में, सो सुख नैयां अमीरी में॥

१६-अन्त्येष्टि-संस्कार—जीवन-समाप्तिके पश्चात् यह अन्तिम संस्कार है अर्थात् स्थूलशरीरका पाँच तत्त्वोंमें मेलन है। यह शरीर पाँच तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन एवं वायुसे मिलकर बना है। यह संस्कार इस उद्देश्यसे किया जाता है ताकि मृत शरीरके सभी पाँच तत्त्व अपने-अपने अवयवोंमें मिल जायँ, जिससे प्रकृतिचक्रमें कोई व्यवधान उत्पन्न न हो। ऐसे कारुणिक अवसरपर स्वतः ही यह आभास होता है—

चलन चलन सब कोऊ कहै, चलियो हँसी न खेल।
चलबौ सांचे ओई को, जी को भैरों बुलावे टैर॥

शवयात्रामें लोग भगवान् श्रीरामजीके नामकी सत्यताका नाद करते हुए चलते जाते हैं।

भगवान् श्रीराम तो बुन्देलखण्डके जन-जनमें व्याप्त हैं एवं इसी कारण यहाँकी दिनचर्याका प्रत्येक कार्य भगवान् श्रीरामको केन्द्रित करके ही सम्पन्न होता है। यही इस बुन्देली माटीकी श्रीरामजीके प्रति श्रद्धाका परिचायक है।

~~~o~~~

आख्यान—

माताद्वारा बालकको प्राप्त संस्कार

एक खलासीका घर था। उसमें मालिक-मालकिन और लड़का मिलकर तीन आदमी थे। खलासीके मर जानेके बाद उसकी स्त्री और लड़का निराधार हो गये। लड़केने निश्चय किया कि अब तो उसे अपना और माँका भरण-पोषण खुद ही करना पड़ेगा। इसके बाद वह अपनी माँकी आज्ञा लेकर नौकरीकी तलाशमें गया। सौभाग्यसे उसे एक नौकरी मिल गयी और वह अपनी माँके पास आकर बोला—'मुझको नौकरी मिल गयी है। अमुक दिन मेरा जहाज खुलेगा और वह जब लौटेगा, तब मैं तुमसे भेंट करूँगा।' इतना कहकर वह जहाजपर गया। विभिन्न जगहोंपर रुकता हुआ वह जहाज एक बड़े बन्दरगाहपर जाकर खड़ा हुआ। लड़केके ऊपर कप्तानकी बड़ी दया थी और वह उसे बहुत मानता था; क्योंकि वह सदा ही सच बोलता था। रोज ईश्वरकी प्रार्थना करता था और दूसरे भी अच्छे गुण उसमें थे। जहाजके खलासी भी उसको चाहते थे। एक दिन कुछ खलासियोंके साथ यह लड़का शहर देखने जा रहा था। इतनेमें एक गाड़ीमेंसे कोई ओहदेदार और उसकी स्त्री उतरी। उतरते वक्त स्त्रीका हीरेका हार नीचे गिर गया। उस हारको दूसरे किसीने न देखा, पर उस लड़केने देखा और देखते ही तुरंत उसे उठा लिया। इस बातको जब उसके साथियोंने सुना, तब उन्होंने कहा—'इस कीमती हारको बेच दिया जाय तो बहुत रुपये मिलें और फिर नौकरी-चाकरी करनेकी जरूरत ही न रहे।'

यह सुनकर उस लड़केने कहा—'यह हार तो दूसरेका है। हम यदि इसे ले लेंगे तो चोर बन जायँगे। चोरी करना महापाप है। मेरी माँ कहती है कि मनुष्यकी आँखको तो धोखा दिया जा सकता है, पर ईश्वरकी आँखको कोई धोखा नहीं दे सकता; क्योंकि ईश्वर सब जगह है। इसलिये मैं तो जिसका हार है, उसीको वापस दूँगा।'

साथियोंने उसे बहुतेरा समझाया, पर उसने उनकी एक न मानी। यह हार जिस स्त्रीका था, उसे वापस दे दिया। उस स्त्रीको हार मिलनेसे बहुत ही आनन्द हुआ और उसने उस लड़केको योग्य इनाम दिया। कप्तानको जब यह खबर मिली, तब वह भी उस लड़केपर बहुत अधिक प्रेम करने लगा; सत्यसे प्रेम कौन नहीं करता?

~~~o~~~

श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें पञ्चसंस्कार

(शास्त्री श्रीकोसलेन्द्रदासजी 'जयपुरीय')

वैदिक सनातन संस्कृतिकी मान्य परम्पराओंमें श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय अपनी अनेक विशिष्टताओंके कारण महनीय स्थान रखता है, जिनमें प्रमुख है उसका सार्वभौम उदार दृष्टिकोण। श्रीरामानन्दसम्प्रदायका स्वीकृत सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत है। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तकी विशेषताओंमें अन्यतम् है—प्रपत्तिकी अवधारणा; जो कर्म, ज्ञान एवं भक्तिसे नितान्त विलक्षण तथा परम रहस्यके रूपमें शास्त्रोंमें उपदिष्ट हुई है। वैष्णवाचार्योंका यह अभिमत है कि उपक्रमोपसंहारादि षड्लिङ्गोंके माध्यमसे उपनिषदोंका परम तात्पर्य—प्रपत्ति ही सिद्ध होती है। भगवान् श्रीसीतानाथ मुमुक्षु सेवककी भक्ति एवं प्रपत्तिसे प्रसन्न होकर उसको मुक्ति प्रदान करते हैं। अत: भक्ति तथा प्रपत्ति ही मुक्तिमें परम कारण है।

यह अवश्य ध्यातव्य है कि चाहे पराविद्या हो या अपराविद्या—दोनों तभी वीर्यवत्तर होती हैं, जब साधक पूर्णसंस्कारसम्पन्न हो। शास्त्रविहितक्रियाजन्य संस्कार न केवल उत्पन्न दुरितका ही नाश करता है, अपितु कार्यान्तर-योग्यताका भी सम्पादन करता है अर्थात् इसके द्वारा मलापनयनके साथ-साथ गुणाधान भी सम्पन्न होता है। संस्कारको परिभाषित करते हुए श्रीभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं—

'संस्कारो हि नाम कार्यान्तरयोग्यताकरणम्।'

(श्रीभाष्य १।१।१)

श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें पञ्चसंस्कार भगवत्प्राप्तिके प्रधान साधन माने जाते हैं। वैष्णवसिद्धान्तमें यह पक्ष अत्यन्त प्रगाढ़तासे स्वीकृत है कि मनुष्य जब आचार्योपदिष्ट पञ्चसंस्कारोंसे संस्कृत होता है, तभी वह भगवत्कैङ्कर्यका अधिकारी होता है। अत: प्रत्येक भगवद्रतिलोलुपप्रेमी मुमुक्षुओंके लिये पञ्चसंस्कारसम्पन्न होना अत्यावश्यक है। शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा गया है—

तापादिपञ्चसंस्कारी मन्त्ररत्नार्थतत्त्ववित्।
वैष्णव: स जगत्पूज्यो याति विष्णो: परं पदम्॥

तापादि पञ्चसंस्कारोंसे सम्पन्न, श्रीराममन्त्रके अर्थ तथा तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाला वह वैष्णव संसारमें पूज्य होकर भगवान्‌के दिव्य धामको जाता है। इन पञ्चसंस्कारोंको गुरूपदिष्ट श्रीवैष्णवी-दीक्षाके समय सम्प्रदायानुसार शिष्यको प्रदान किया जाता है। ये पञ्चसंस्कार हैं—१. श्रीठाकुरजीके दिव्यायुधोंको बाहुमूलपर तप्त या शीतलरूपमें धारण करना, २. ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करना, ३. भगवत्सम्बन्धी नाम रखना, ४. भगवन्मन्त्र धारण करना तथा ५. भगवत्प्रीत्यर्थ तुलसीजीकी युगलमाला धारण करना।

ताप: पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो माला च पञ्चम:।
अमी हि पञ्चसंस्कारा: परमैकान्त्यहेतव:॥

तप्तमुद्रा, ऊर्ध्वपुण्ड्र, भगवत्सम्बन्धी नाम, श्रीराममन्त्र-राजप्राप्ति और तुलसीमाला धारण—ये पञ्चसंस्कार परमैकान्तिक मोक्षसुखके साक्षात् प्रदाता हैं।

१. ताप—शुद्ध यज्ञाग्निमें वेदमन्त्रोंसे तथा श्रीरामतारक-मन्त्रसे आहुति देकर शुद्ध धातुसे बनी हुई धनुर्बाण मुद्राओंको उस अग्निमें संस्कृत कर शिष्यके बाहुमूलपर गुरुद्वारा सविधि अङ्कित करना शास्त्रोंद्वारा भूरिश: आदेशित है। वामबाहुपर धनुष तथा दक्षिणबाहुपर बाणके दो चिह्न अङ्कित करनेका विधान है।

२. ऊर्ध्वपुण्ड्र—ललाटपर पवित्र तीर्थस्थलोंकी मृत्तिकासे नित्य ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाना चाहिये। श्रीरामपादुकाकृति तिलकके मध्यमें कुङ्कुमसे 'श्री' धारण करना चाहिये।

३. नाम—भगवद्दासान्त नामको धारण करना ही नामसंस्कार है। लौकिक नामको त्यागकर आध्यात्मिक भगवन्नामको धारण करना मुक्तिका परमोपाय है।

४. मन्त्र—उपनिषदोंके परमतात्पर्य श्रीराममन्त्रको धारण करना शास्त्रानुमोदित और प्रशंसित मन्त्रसंस्कार है। 'काश्यां तारोपदेशत:' इत्यादि उपनिषद्वाक्य इस मन्त्रके महत्त्वको प्रतिष्ठापित करते हैं।

५. माला—द्विधाकृति, कण्ठलग्ना, भगवत्प्रसाद-स्वरूपा श्रीतुलसीमालाको जो मनुष्य भक्तिपूर्वक धारण करता है, वह सभी पापोंसे विनिर्मुक्त हो भगवल्लोकको प्राप्त होता है।

वीरशैव-धर्ममें धार्मिक संस्कार

(श्रीमहन्त शमिपुराधीश्वर डॉ० सुज्ञानदेव शिवाचार्य स्वामीजी)

वीरशैव-धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है। इस धर्ममें देवतोपासना और योगकी प्राप्तिके लिये अनेक धार्मिक संस्कारोंका आचरण होता आया है, जिसका विवरण दशकर्म-विधान, सिद्धान्तशिखामणि, संस्कार-विधि तथा पूर्वप्रयोगरत्न आदि ग्रन्थोंमें मिलता है। श्रीमद्भागवत (१०। २४। १३)-में कहा गया है—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

भाव यह है कि प्रत्येक प्राणी कर्मसे जन्म लेकर कर्मसे ही विनाशको प्राप्त होता है। मानवको प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख कर्मोंसे ही प्रकट होते हैं और इन अनुभूतियोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये गुरुमुखसे संस्कारोपदेश एवं दीक्षा प्राप्तकर परिशुद्ध हुआ व्यक्ति ही शिवोपासनाके योग्य बनता है।

संस्कारोंके यथाविधि आचरण करनेसे शरीर शुद्ध होता है और व्यक्ति शिवभक्ति, गुरुभक्ति, लिङ्ग तथा जङ्गमाराधनाकी योग्यता प्राप्त करता है।

वीरशैवोंके मुख्यरूपसे दस संस्कार हैं—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म (लिङ्गधारण तथा नामकरण—ये दोनों जातकर्मके अन्तर्गत आते हैं), (५) अन्नप्राशन, (६) चौलकर्म, (७) अक्षराभ्यास (विद्यारम्भ), (८) दीक्षा, (९) विवाह और (१०) अन्त्य-संस्कार।* यहाँ संक्षपमें इनका कुछ वर्णन प्रस्तुत है—

(१) गर्भाधान—विवाहके पश्चात् गर्भधारण करना और माँ बनना—यह प्रकृतिका नियम है। ऋतु-स्नानानन्तर निषिद्धेतर दिनोंमें दम्पती (पति-पत्नी) मङ्गल-स्नान करके माहेश्वर आचार्यके सम्मुख पुरोहितद्वारा श्रीगणपतिपूजा, पुण्याहवाचन, नान्दी एवं फलकी पूजा करते हैं तथा पुण्याहवाचनके जलसे पवित्र होकर आचार्यको भोजन कराकर उनसे आशीर्वाद लेते हैं। रात्रिमें शुभ मुहूर्तमें शय्यागृहमें प्रवेशकर शय्यापूजा करनेके बाद वस्त्राभरण तथा सुगन्धित द्रव्यादिसे पत्नीको संतुष्ट करके उसका स्पर्श करना चाहिये। इस प्रकारके गर्भधारण-संस्कारोंसे गर्भ और बीज अर्थात् शुक्र-शोणितका दोष दूर हो जाता है और पवित्र संतानकी प्राप्ति होती है।

(२) पुंसवन—गर्भधारणके अनन्तर तीसरे या चौथे महीनेमें पुंसवन-संस्कार होता है। पिताके अन्त्य-संस्कारसम्बन्धी पिण्डदानादि कर्मोंको पूरा करके उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति करानेके लिये बालकका उत्पन्न होना आवश्यक माना जाता है। इसीलिये इस संस्कारका वीरशैवोंमें भी विशेष महत्त्व है। यद्यपि वीरशैवोंमें शिवैक्य (मरे हुए) व्यक्तिको मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा विश्वास है, तथापि पुरुष-संतानकी प्राप्तिके लिये पुंसवन-संस्कार किया जाता है, गर्भमें स्थित पिण्डकी शुद्धिके लिये यह संस्कार आवश्यक है।

भगवत्पाद रेणुकाचार्यजी उपदेश देते हैं कि 'पुण्याधिकः क्षीणपापः पिण्ड इत्यभिधीयते।' (सिद्धान्त-शिखामणि) अर्थात् अधिक पुण्यवाला और क्षीण पापवाला ही 'पिण्ड' कहा जाता है। इस पिण्डका संस्कार करनेसे वह पिण्ड पापरहित होकर जन्म लेता है। आचार्य या पुरोहित शुभ दिनमें दम्पतीके मङ्गल-स्नानके अनन्तर उन्हें भद्रपीठपर बिठाकर पुण्याहवाचनके जलसे कुशाद्वारा उनका प्रोक्षण करते हैं। गर्भवती स्त्रीको मन्त्रपूर्वक पतिसे तीन बार प्रोक्षण करवाना चाहिये। तदनन्तर उड़द और गेहूँको पानीमें भिगोकर तथा दहीमें मिश्रण करके सेवन करनेके लिये पत्नीको तीन बार दिया जाता है और बादमें पति-पत्नी—दोनों घरके वृद्ध लोगोंसे आशीर्वाद लेते हैं।

(३) सीमन्तोन्नयन—प्रथम बार गर्भवती होनेके बाद चौथे या आठवें महीनेमें सीमन्तोन्नयन-संस्कार होता है। शुभ दिनमें पति अपनी पत्नीके साथ मङ्गल-स्नान करके आचार्य और पुरोहितके सम्मुख भद्रपीठ (आसन)-पर बैठकर सङ्कल्प, पुण्याहवाचन, नान्दी, रक्षाबन्धन

* दशकर्मविधि और पूर्वप्रयोगरत्न।

आदि कृत्य करता है। तदनन्तर पत्नीको पूर्वाभिमुख और पतिको पश्चिमाभिमुख बैठाकर कुशके तीन कूर्च लेकर पीपलके पत्तेके साथ पुण्याहवाचनके जलसे पहले मस्तकपर प्रोक्षण करना चाहिये और मन्त्रोच्चारणपूर्वक मस्तकपर तीन रेखाओंको अङ्कित करना चाहिये। तत्पश्चात् उन कुशोंको उत्तर दिशामें रखकर हाथ धो लेना चाहिये। अङ्कुरित हुए गेहूँका हार बनाकर पत्नीके कण्ठपर धारण कराया जाता है और सुमङ्गली स्त्रियाँ उसकी आरती करती हैं, तदनन्तर आशीर्वाद लिया जाता है। वीरशैव-धर्ममें गर्भधारणके आठवें महीनेमें गर्भकी दीक्षा प्राप्तकर शिवलिङ्ग-धारण करना आवश्यक है। गर्भवती स्त्रीको शिवलिङ्ग-धारण करनेके पश्चात् तीर्थप्रसाद देकर मन्त्रोपदेश दिया जाता है। शिशुजननके बाद उसी शिवलिङ्गको जातकर्मके संदर्भमें धारण करनेका वीरशैव-सम्प्रदायमें वैशिष्ट्य रहता है। गर्भमें रहते ही शिवजीसे सम्बन्धित संस्कारोंके करनेसे जननके बाद जीवका शिवसे सम्बन्ध हो जाता है—ऐसा विश्वास वीरशैव-परम्परामें प्रशस्त है।

(४) जातकर्म—शिशुके जन्मके बाद घरमें सूतक लगता है, उस दिन वीरशैव घरको साफ कर आचार्यका आह्वान करके गुरुपादोदक और पञ्चगव्यसे घरका प्रोक्षण करते हैं। दम्पती मङ्गल-स्नान कर भद्रपीठपर बैठकर आचार्यजीकी पादपूजा, पुण्याहवाचन तथा नान्दी सम्पन्न करते हैं। यदि आठवें महीनेमें गर्भके निमित्त शिवलिङ्ग धारण किया गया हो तो उसी शिवलिङ्गका पुनः अभिषेक आदि-संस्कार कर शिशुको भस्मधारण कराकर उसे कण्ठमें धारण कराया जाता है। यदि पहले लिङ्गधारण नहीं कराया गया हो तो नया शिवलिङ्ग लाकर उसका संस्कार करके शिशुको लिङ्गधारण कराया जाता है, तदनन्तर शिशुके दाहिने कानमें पञ्चाक्षरी मन्त्रोपदेश किया जाता है। माँको चाहिये कि अपने इष्टलिङ्गके साथ शिशुके कण्ठमें पहनाये गये शिवलिङ्गकी वह पूजा करती रहे। अङ्गके ऊपर लिङ्गधारण करना प्राचीन कालसे ही वीरशैवोंमें एक परम्परा रही है। इस परम्परामें लिङ्गधारण तथा नामकरण—ये दोनों कर्म जातकर्मके अन्तर्गत ही समाविष्ट हैं। व्यवहारके लिये नाम रखना मुख्य संस्कार है। मानव नामसे ही कीर्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। शिशुके जन्मसमयके नक्षत्रसे नाम रखनेकी पद्धति है। गुरु तथा देवतासम्बन्धी नाम भी रखा जाता है। जातकर्म होनेके बाद आचार्योंसे नामकरण कराना तथा उनका आशीर्वाद लेना, इस सम्प्रदायकी परम्परा बन गयी है।

(५) अन्नप्राशन—जीवनधारणके लिये वायु, जल एवं अन्न आवश्यक हैं। बालकको छठे या आठवें महीनेमें तथा बालिकाको पाँचवें या सातवें महीनेमें अन्नका प्राशन कराना शुभ है। किसी शुभ दिनमें संस्कृत अन्नको एक पात्रमें रखकर उसमें मधु, गोक्षीर तथा गोघृत मिलाकर खिलाया जाता है और पवित्र जलका पान कराया जाता है। इसी क्रममें उपनिष्क्रमण-विधि भी सम्पन्न की जाती है। सूर्य, चन्द्र एवं गुरुदर्शन करानेका विधान ही उपनिष्क्रमण कहलाता है। शिशुको अन्नका प्राशन करानेके बाद माता-पिता और शिशुका स्नान होता है तथा नूतन वस्त्राभरण धारण कर आसनपर बैठकर मन्त्रोच्चारणपूर्वक सूर्य तथा चन्द्रमाका अलग-अलग कलशमें आवाहन करनेके बाद उनकी पूजा की जाती है। 'ॐ सूर्याय नमः' मन्त्रसे बालकको दिनमें सूर्यदर्शन तथा 'ॐ चन्द्राय नमः' मन्त्रसे चन्द्रदर्शन कराया जाता है। तदनन्तर गुरुमठ या मन्दिरमें जाकर भगवान्‌का दर्शन करके आशीर्वाद लिया जाता है। मन्दिरसे वापस घर आकर ललाटपर भस्म धारण किया जाता है। तदनन्तर आरती एवं आशीर्वादके साथ उपनिष्क्रमण-संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

(६) चौलकर्म—शिशुके जन्म लेनेके तीसरे वर्षमें चौलकर्मका आचरण वीरशैवका शास्त्र-सम्प्रदाय है। यदि माँ गर्भवती हो तो बच्चेका चौलकर्म नहीं करना चाहिये*। शुभ दिनमें आचार्यका आवाहन कर पुण्याहवाचन, नान्दी, रक्षाबन्धन कर्म सम्पन्न कर पिता पवित्र आसनपर बैठकर कुमारको पूर्वाभिमुख बैठाये। चारों ओर पञ्चगव्यका

* सूनोर्मातरि गर्भिण्यां चूडाकर्म न कारयेत्। पञ्चमासादधः कुर्यादत ऊर्ध्वं न कारयेत्॥

प्रोक्षण कर गरम पानी और ठण्डा पानी मिलाकर **'आप उदन्तु०'** इस मन्त्रसे शिशुके मस्तकपर जलका सेचन करे। तीन कुशोंके कूर्चोंको मिलाकर ऊर्ध्वमुख बालोंको पकड़कर काटना चाहिये। काटे हुए बालोंको औदुम्बर वृक्षके नीचे या किसी फलके वृक्षके नीचे रखना चाहिये। बादमें **'अघमर्षण सूक्त'** का पाठ करते हुए शिशुको स्नान कराकर नूतन वस्त्राभरण धारण कराया जाता है। भस्म धारणकर माथेपर गन्धाक्षत रखकर गुरु जङ्गमोंका पादोदक या इष्टदेवताका तीर्थप्रसाद लेकर आचार्य एवं वृद्ध लोगोंसे आशीर्वाद लिया जाता है।

(७) अक्षराभ्यास (विद्यारम्भ)—शिशुजन्मके बाद पाँचवें वर्षमें सूर्यके उत्तरायण, शुभ तिथि एवं शुभ वारमें विद्यारम्भ करना चाहिये। मङ्गल-स्नान करके आचार्यजीका आह्वान कर विद्यागणपति, सरस्वती, गुरु तथा पार्वती-परमेश्वरकी पूजा की जाती है। गुरुध्यानके बाद बालक या बालिकाको पूर्वाभिमुख बिठाकर रक्षासूत्र बाँधकर यथाशक्ति चाँदी या सोनेके पात्रमें चावल फैलाकर उसमें **'ॐ नमः शिवाय'** लिखकर बच्चोंसे उसे लिखाना और पढ़ाना चाहिये। तदनन्तर माथेपर गन्धलेपन कर लिखे हुए अक्षरोंको माथेमें लगाना चाहिये। बड़े लोगोंको दान देकर आशीर्वाद लेना चाहिये।

(८) दीक्षा—वीरशैव-धर्ममें दीक्षा मुख्य संस्कार है। यहाँ दीक्षाका अर्थ शिवदीक्षा, माहेश्वर-संस्कार, जङ्गमत्व तथा अनुग्रह आदिसे है। शैवभक्त होना विशेष संस्कार है। मांसपिण्डको संस्कारसे पवित्र पिण्ड बनानेका विधान ही शिवदीक्षा संस्कार कहलाता है। भगवत्पाद जगद्गुरु रेणुकाचार्यजी दीक्षाके बारेमें इस प्रकार उपदेश देते हैं—

> दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम्।
> यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः॥
> दीयते ज्ञानसम्बन्धः क्षीयते च मलत्रयम्।
> दीयते क्षीयते यस्मात् सा दीक्षेति निगद्यते॥
> (सिद्धान्तशिखामणि)

अर्थात् जिस संस्कारके द्वारा शिवज्ञान प्राप्त होता है और पाशरूपी बन्धन क्षीण हो जाता है, उसे विद्वानोंने दीक्षा कहा है। जिसमें ज्ञानसम्बन्ध दिया जाता है और त्रिविधमल क्षीण होता है, अतः (ज्ञान) देने तथा (मल) क्षीण होने 'दीक्षा' यह पद बनता है।

वीरशैवोंमें स्त्री तथा पुरुषोंको समान दीक्षा दी जा है। भवबन्धनसे दूर रहना, शिवज्ञानमें स्थित रहना त आणव, माया एवं कार्मिक—इन मलत्रयोंसे जीवात्मा बन्धनसे मुक्ति दिलाना—यह दीक्षा-संस्कारका मु प्रयोजन है। दीक्षाके विषयमें भगवत्पाद श्रीरेणुकाचार्य कहते हैं—

> सा दीक्षा त्रिविधा प्रोक्ता शिवागमविशारदैः।
> वेधारूपा क्रियारूपा मन्त्ररूपा च तापस॥

वेधा, मन्त्र और क्रिया नामसे दीक्षाके तीन प्रक हैं। वेधा-दीक्षासे तनु, मन्त्र-दीक्षासे सूक्ष्म तनु औ क्रिया-दीक्षासे स्थूल तनुको शुद्ध किया जाता है। श्रीगु आणव, माया तथा कार्मिक—इन मलत्रयोंको संस्कार दूरकर भावलिङ्ग, प्राणलिङ्ग तथा इष्टलिङ्गका अनुग्र प्रदान करते हैं।

तीनों दीक्षाओंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) वेधा-दीक्षा—आचार्यके दृष्टियोग और हस्त- मस्तक आदिके संयोगसे शिष्यमें शिवत्वका समावेश कराना ही वेधा-दीक्षा है। यहाँ आणव मलकी निवृत्ति होती है।

(ख) मन्त्र-दीक्षा—आचार्यश्रीद्वारा शिष्यको मन्त्रोपदेश करना ही मन्त्र-दीक्षा है। मन्त्रबोधनसे शिष्यमें ज्ञानोदय होता है। यहाँ मायामलकी निवृत्ति होती है। मन्त्र-पठनसे मांसमय पिण्ड मन्त्रमय पिण्ड बन जाता है।

(ग) क्रिया-दीक्षा—शुभ मास, शुभ तिथि तथा शुभ दिनमें मण्डप रचाकर उसे सर्वविध अलंकृत करके आचार्यका आह्वान कर पुरोहितसे गणपति-पूजा, पुण्याहवाचन, नान्दी, समाराधन, अङ्कुरार्पण, मण्डप-देवता-पूजा, प्रतिष्ठापन और पञ्चाचार्योंके रूपमें पञ्चकलशोंकी विधिपूर्वक स्थापना करायी जाती है। तत्पश्चात् बच्चोंके हाथसे वीरमाहेश्वरोंको फल-ताम्बूल-दक्षिणा अर्पण कर बच्चोंद्वारा उन्हें दण्डवत् प्रणाम कराया जाता है। आचार्य शिष्यको मण्डपमें पूर्वाभिमुख बिठाकर उसके दाहिने हाथमें रक्षासूत्र बाँधकर, शिवध्यान कराकर क्रिया-दीक्षा प्रदान करते हैं। इस दीक्षा-विधानसे

कार्मिक मलकी निवृत्ति हो जाती है और शिष्य शिवस्वरूप बन जाता है। आचार्यके आज्ञानुसार जीवनपर्यन्त लिङ्गपूजन करना शिष्यका कर्तव्य है। यह लिङ्गपूजन महाव्रत कहलाता है। आठवें वर्षमें दीक्षा-संस्कार करना उत्तम पक्ष है।

(९) विवाह—विवाह-संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्त्री-पुरुष—दोनोंकी आत्माओंका परस्पर एकीकरण होना विवाह है। मुख्यरूपसे सत्संतानप्राप्तिके लिये ही विवाह होता है न कि इन्द्रियोपभोगके लिये। चारों आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम मूल स्तम्भ है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—सभी आश्रमवाले गृहस्थका ही आश्रय लेते हैं। श्रीगणपति-पूजा, वाग्दान, कलशस्थापन, धारामुहूर्त, कन्यादान, पाणिग्रहण तथा सप्तपदी आदि विवाह-संस्कारके मुख्य अङ्ग हैं।

(१०) अन्त्य-संस्कार—वीरशैव-धर्मानुसार शिव-दीक्षा लिया हुआ व्यक्ति अष्टावरण, पञ्चाचार और षट्-स्थल-व्रतनिष्ठ होकर लिङ्गैक्य या शिवैक्य प्राप्त कर लेता है, ऐसे व्यक्तिके लिङ्ग-देहके संस्कार-क्रमको 'शिवमेध' नामसे कहा जाता है। इसके निर्वाणयाग, देहावसान-कृत्य या अन्त्येष्टि-विधि आदि नाम भी हैं। 'मेध' को 'आराधना' नामसे कहा जाता है। इसलिये शिवमेधको विधानपूर्वक करना चाहिये। इसीको अन्त्य-संस्कार कहा जाता है।*

वीरशैव-धर्मकी मान्यता है कि लिङ्गैक्य होनेके बाद उस देहको भूमिमें निक्षेप करनेका विधान 'समाधि' है। यह समाधि यज्ञरूप और क्रियारूपसे दो प्रकारकी है। पहली यज्ञरूप समाधिको निर्वाण, चिदम्बर, निरवय और निजशिव कहते हैं और दूसरी क्रियारूप समाधिको गोमुखसमाधि, गोलकसमाधि और बयलुसमाधि कहते हैं। कुछ विधियोंमें धूलुसमाधि, जलसमाधि और अग्निसमाधिका भी विधान है।

क्रियासमाधिमें शिवयागियों या महन्तोंको पूर्वाभिमुख, शेष लोगोंको उत्तराभिमुख रहना आवश्यक माना जाता है। वीरशैव-धर्मसिन्धु ग्रन्थमें बताया गया है कि आचार्यों, जङ्गमों और आचारशील शिवशरणों (संत-महात्माओं)-को क्रियासमाधि दी जाती है। सामान्य वीरशैवोंको धूलुसमाधि देना सभी जगह देखा जा सकता है।

इस प्रकार वीरशैवोंके यहाँ बताये गये दशविध संस्कारोंका आचरण करनेसे मानव-जीवन सार्थक बन जाता है।

बौद्धग्रन्थ धम्मपदमें संस्कारोंका स्वरूप

(डॉ० श्रीरामकृष्णजी सराफ)

चरित्रकी पवित्रताके विषयमें सभी धर्मोंका चिन्तन समान है। सभी धर्म चरित्रकी उदात्तताको प्रधानता प्रदान करते हैं। सनातनधर्मके समान जैन और बौद्धधर्मकी भी पवित्र आचरणके सम्बन्धमें स्पष्ट अवधारणा है। मानव-धर्मशास्त्र (मनुस्मृति)-में सभी मानवोंके लिये धर्मके स्वरूपको निम्नानुसार व्याख्यायित किया गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
[प्रजनं स्वेषु दारेषु तथा चैवानसूयता॥]
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥
(१०।६३)

अहिंसा (दूसरेको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (बिना अनुमति किसीकी वस्तुको न लेना), शौच (आन्तरिक तथा बाह्य अर्थात् शरीरकी स्वच्छता), इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोकना, अपनी भार्यासे ही संतानोत्पादन तथा अनसूया अर्थात् दूसरोंके शुभमें द्वेष-भावका न होना—इस प्रकार भगवान् मनुने संक्षेपमें चारों वर्णोंका धर्म निरूपित किया है। धर्मके इस विश्वजनीन स्वरूपके सम्बन्धमें सभी धर्मोंमें स्वीकृति प्राप्त है, किंतु संस्कारोंके सम्बन्धमें अन्य धर्मोंकी अपनी-अपनी अवधारणा है।

बौद्धधर्ममें संस्कारोंको सर्वथा भिन्न अर्थमें ग्रहण किया गया है। इसका संकेत हमें धम्मपदमें मिलता है।

* वीरशैव-धर्मसिन्धु

धम्मपद बौद्धधर्मका एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी प्रत्येक गाथामें बौद्धधर्मका सार संनिहित है। इसमें बौद्धधर्मका सर्वाङ्गसुन्दर विवेचन साररूपमें प्राप्त होता है। इसमें वैदिक धर्ममें स्वीकृत सभी उदात्त गुणोंको स्वीकृति प्राप्त है, किंतु धम्मपदमें संस्कारकी अपनी परिभाषा है, अपनी व्याख्या है।

'धम्मपद' पाली भाषामें निबद्ध बौद्धधर्मका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे बौद्धोंकी गीता कहा गया है। बौद्धजगत्में इस ग्रन्थकी उसी प्रकार प्रतिष्ठा है, जिस प्रकार संस्कृतवाङ्मयमें श्रीमद्भगवद्गीताकी। धम्मपदमें तथागतके दीर्घजीवनके उपदेशवचन संकलित हैं। ये तथागतके श्रीमुखसे समय-समयपर निःसृत उपदेशगाथाएँ हैं। इन गाथाओंकी संख्या ४२३ है और ये २६ वर्गों (वग्गो)-में विभक्त हैं।

बौद्धधर्ममें चार आर्य सत्य (अटल सत्य) माने गये हैं। वे हैं—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। इनमेंसे 'हेय' का अर्थ है दुःख अर्थात् संसारमें दुःख है। तथागतके अनुसार संसारमें सभी दुःखी हैं। 'हेयहेतु' अर्थात् उस दुःखका कोई कारण है। 'हान' अर्थात् उस दुःखसे मुक्ति पाना सम्भव है तथा 'हानोपाय' अर्थात् उस दुःखसे छुटकारा पानेका उपाय है। दुःख कार्य-कारणशृङ्खलाकी एक कड़ी है। यह शृङ्खला अविद्यासे शुरू होती है और दुःखानुभूतिमें उसका पर्यवसान है। अविद्यासे संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कारका अर्थ है—मनोजनित-सृष्टि। यह मनोजनित-सृष्टि मानसिक वासनाके रूपमें बन्धनका हेतु बनती है, इसलिये ये संस्कार सबसे बड़े दुःख माने गये हैं—

'सङ्खारा परमा दुखा।' (धम्म० २०३)

किंतु चित्तके संस्कार-शून्य हो जानेपर दुःखके कारणसे मुक्ति मिल जाती है—

'विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥'[1]

(धम्म० १५४)

धम्मपदमें कहा गया है कि सभी संस्कार दुःख हैं—ऐसा जब साधक प्रज्ञासे देखता है, तब सभी दुःखोंसे वह निर्वेदको प्राप्त हो जाता है—

सब्बे सङ्खारा दुक्खा ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥[2]

(धम्म० २७८)

तथागत कहते हैं कि जो संस्कारोंके विनाशको जानता है, वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है—

'संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञूसि ब्राह्मण!॥'[3]

(धम्म० ३८३)

इस प्रकार स्पष्ट है कि धम्मपदमें 'संस्कार' शब्दका अर्थ वैदिक धर्मसम्मत अर्थसे सर्वथा भिन्न है। चूँकि बौद्धधर्म, वैदिक धर्मकी व्यवस्थाओंको स्वीकार नहीं करता, इसलिये बौद्धधर्ममें वैदिक धर्मसम्मत संस्कारोंके लिये कोई स्थान नहीं है। उसमें केवल विवाहको मान्य ठहराया गया है। वहाँ भी वह किसी संस्कारके रूपमें नहीं, प्रत्युत केवल गृहस्थ-जीवनमें प्रवेशके माध्यमके रूपमें, किंतु जहाँतक नैतिक मूल्यों और चारित्रिक पवित्रताका प्रश्न है, वैदिक धर्म एवं बौद्धधर्ममें कोई अन्तर नहीं है।

जिस प्रकार मनुष्यके व्यक्तित्वके समग्र विकासके लिये वैदिक धर्ममें उदात्त आचरणका आदेश है, बौद्धधर्ममें भी उसी प्रकारकी व्यवस्था मिलती है। बौद्धधर्ममें 'षट्पारमिता' का महत्त्व सर्वाधिक है। पारमिताका अर्थ है पूर्णता। मानवको अपने जीवनकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये षट्पारमितासम्मत आचरणका आदेश है। षट्पारमिताओंमें दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञामें उत्तरोत्तर पारमिता श्रेष्ठ मानी गयी है। कहीं-कहीं इन पारमिताओंके अतिरिक्त सत्य, अधिष्ठान, मैत्र तथा उपेक्षाका भी धम्मपदमें उपदेश मिलता है।

धम्मपदमें चञ्चल मनके नियन्त्रणपर विशेष बल दिया

---

१. विसंस्कारगतं चित्तं तृष्णानां क्षयमध्यगात्।

२. सर्वे संस्कारा दुःखा इति यदा प्रज्ञया पश्यति। अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये॥

३. संस्काराणां क्षयं ज्ञात्वाऽकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण।

गया है। वहाँ कहा गया है कि किसी दूसरेके प्रति मनमें दुर्भावना (वैरभाव) रखनेसे मनका वैरभाव कभी शान्त नहीं होता—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥[१]

(धम्म० ५)

जिसने चित्तमलोंका त्याग कर दिया है, जो शीलपर प्रतिष्ठित है तथा जो संयम और सत्यसे युक्त है, वही काषाय वस्त्र धारण करनेका अधिकारी है अर्थात् उसे ही प्रव्रज्या ग्रहण करनेका अधिकार है—

यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमर्हति॥[२]

(धम्म० १०)

तथागत अक्रोधसे क्रोधपर विजय प्राप्त करनेका परामर्श देते हैं—

'अक्कोधेन जिने कोधं।'[३]

(धम्म० २२३)

धम्मपदमें पुण्य कर्मोंकी प्रशंसा की गयी है। पुण्यकर्माको उभय लोकोंमें सुखकी प्राप्ति होती है—

'इध मोदति पेच्च मोदति कतपुञ्ञो उभ यत्थ मोदति।'[४]

(धम्म० १६)

तथागत कामासक्ति और वनिताव्यसनसे दूर रहनेका उपदेश देते हैं—

'मा कामरतिसन्थवं।'[५]

(धम्म० २७)

वे कहते हैं कि कामवासनाओंका परिणाम दुःखदायी होता है।

भगवान् बुद्धका आदेश है कि पुण्यकर्ममें शीघ्रता करनी चाहिये तथा पापकर्मको चित्तसे हटाना चाहिये; क्योंकि पुण्यकर्मको धीमी गतिसे करनेवालेका मन पापकर्ममें लग जाता है—

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमते मनो॥[६]

(धम्म० ११६)

भगवान् बुद्ध हिंसाकर्मका निषेध करते हुए कहते हैं कि प्राणियोंकी हिंसा करनेसे कोई श्रेष्ठ नहीं होता, प्रत्युत प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे वह श्रेष्ठ—महान् कहा जाता है—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियोति पवुच्चति॥[७]

(धम्म० २७०)

शास्ता संयमकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि जो धीरपुरुष शरीरसे संयमवान् हैं, वाणीपर जिनका नियन्त्रण है और मनपर जिनका अनुशासन है, वे ही पूर्णरूपसे संयत हैं—

कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता॥[८]

(धम्म० २३४)

इस प्रकार धम्मपदमें उन सभी उदात्त मूल्योंकी प्रशंसा की गयी है एवं उन्हें अपने आचरणमें उतारनेकी सीख दी गयी है, जिनको वैदिक परम्पराओंमें श्रेयस्कर ठहराया गया है।

~~~ o ~~~

१. न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन। अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः॥
२. यश्च वान्तकषायः स्यात् शीलेषु सुसमाहितः। उपेतो दमसत्याभ्यां स वै काषायमर्हति॥
३. अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्।
४. इह मोदते प्रेत्य मोदते कृतपुण्य उभयत्र मोदते।
५. मा कामरतिसंस्तवम्।
६. अभित्वरेत कल्याणे पापात् चित्तं निवारयेत्। तन्द्रितं हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः॥
७. न तेनाऽऽर्यो भवति येन प्राणान् हिनस्ति। अहिंसया सर्वप्राणानां आर्य इति प्रोच्यते॥
८. कायेन संवृता धीरा अथ वाचाय संवृताः। मनसा संवृता धीराः ते वै सुपरिसंवृताः॥
~~~
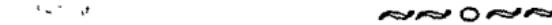
श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रभुभक्तिके संस्कार

(डॉ० श्रीसुभाषचन्द्रजी सचदेवा 'हर्ष', एम्०ए० (संस्कृत), एम्०फिल्०, पी-एच्०डी०)

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें सिखगुरुओं एवं अन्य भक्तोंकी वाणीके सौजन्यसे संस्कारों तथा उनके विशिष्ट अभिप्रायोंको आध्यात्मिक कलेवर प्रदान किया गया है। श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें पद-पदपर प्रभुके नाम-स्मरणको भगवत्प्राप्तिके अन्य सभी साधनोंसे उत्तम बतलाते हुए[१] इस तथ्यकी उद्भावना की गयी है कि जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित हुए पापों एवं विषय-वासनाओंका विनाश करनेके लिये मलिन हुई बुद्धिको प्रभुके नाममें रँग देना चाहिये।[२] प्रभुका नाम-स्मरण ऐसी दिव्य औषधि है, जिससे मन एवं तन दोनोंका ही संस्कार सम्भव है।[३] वस्तुत: जब साधकके हर श्वासमें परमेश्वरके नामका निवास हो जाता है तो जीवन-यापनकी सही कलाका जीवनमें उन्मेष होता है।[४] अतः सांसारिक दुःखोंसे मुक्ति एवं कोटिशः अपराधोंसे दूषित हुए जीवनका संस्कार प्रभुके नाम-स्मरणसे ही हो सकता है।[५] प्रभुके नाममें ऐसी चमत्कारिक शक्ति है कि साधक इस नाम-स्मरणके अभ्याससे न केवल अपना अपितु पितरोंका भी उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है।[६]

प्रभुभक्तिके दिव्य संस्कारोंसे न केवल इस युगमें अपितु पुरातन कालसे ही जन-जनका कल्याण होता आया है।[७] श्रीगुरुग्रन्थसाहिबका निश्चित सिद्धान्त है कि रामनामरूपी अलौकिक रत्नका संचय करनेसे भगवद्भक्तोंके भावपूरित मन एवं तनको अपूर्व शान्ति एवं महान् सुखकी उपलब्धि होती है।[८] क्षणभरके प्रभुनाम-स्मरणसे मानसिक कालुष्यका नाश हो जाता है और करोड़ों तीर्थोंकी यात्रा एवं दानका फल प्राप्त होता है।[९] परमेश्वरके नामकी शक्तिका आश्रय लिये बिना न तो सांसारिक तृष्णाओंसे छुटकारा मिलता है और न जीवनकी व्याकुलता (आतुरता)-का अन्त होता है।[१०] गुरुकृपा[११] एवं सत्सङ्गतिके प्रभावसे नाम-रसके लोकोत्तर माधुर्यका पान करनेका सुअवसर प्राप्त होता है।[१२] साधकपर सत्सङ्गति एवं गुरुकृपाकी अमिट छाप तभी पड़ सकती है, जब जीवनमें निष्कपटता[१३] (निश्छलता—

१. कल मैं एकु नामु किरपानिधि जाहि जपै गति पावै। अवर धरम ताकै समिनाहनि इह विधि वेदु बतावै॥ (सोरठमहला-९, पृ० ६३२)

२. (क) भरीऐ हथु पैरु तनु देह। पाणी धोतै उतरसु खेह॥ मूत पलीती कपड़ होइ। दे साबूणु लईऐ ओहु धोइ॥ भरीऐ मति पापा कै संगि। ओहु धोपै नावै कै रंगि॥ (वाणी जपुजी, पृ० ४)

(ख) जिसु सिमरत मनि होत अनंदा उतरै मनहु जंगीला। मिलबे की महिमा बरनि न साकउ नानक परै परीला॥ (गूजरीमहला-५, दुपदे घर-२, पृ० ४९८)

३. अउखध मंत्रु मूलु मन ऐकै जेकरि द्रिड़ चितु कीजै रे। जनम जनम के पाप करम के काटनहाँरा लीजै रे॥ (गउड़ी चेतीमहला-१, पृ० १५६)

४. जीवनो मैं जीवनु पाइआ गुरमुखि भाए राम। हरि नामो हरि नामु देवै मेरै प्रानि वसाए राम॥ (रागु आसा छंत महला ४, पृ० ४४२)

५. भवखंडन दुखभंजन स्वामी भगतिवछल निरंकारे। कोट पराध मिटे खिन भीतरि जां गुरमुखि नाम समारे॥ (धनासरीमहला-५, पृ० ६७०)

६. जिसु सिमरत सभि किलविख नासहि पितरी होइ उधारो। सो हरि हरि तुम सदही जापहु जाका अंतु न पारो॥ (गूजरीमहला-५, पृ० ४९६)

७. जो जो तरिओ पुरातनु नवतनु भगति भाय हरि देवा। नानक की बेनंती प्रभजीओ मिलै संतजन सेवा॥ (सारगमहला-५, पृ० १२२९)

८. (क) राम नामु रतन धनु सचहु मनि तनि लावहु भाओ। आन बिभूति मिथिआ करि मानहु साचा इहै सुआओ॥ (पृ० १२१९)

(ख) सिमरत सांति महासुखु पाईऐ मिटि जाहि सगल बिखादि। हरि हरि लाभु साध संगि पाईऐ घरि लै आवहु लादि॥ (पृ० १२१९)

९. सिमरन राम को इकु नाम। कलमल दगध होहि खिन अंतरि कोटि दान इसनान॥ (सारगमहला-५ पृ० १२२१)

१०. आतुरु नाम बिनु संसार। त्रिपति न होवत कूकरी आसा इतु लागो बिखिआछार॥ (सारगमहला-५, पृ० १२२३)

११. (क) हरिकी भगति फलदाती। गुरि पूरै किरपा करि दीनी विरलै किनही जाती॥ (सोरठमहला-५, पृ० ६२८-२९)

(ख) नामु खजाना गुर ते पाइआ त्रिपति रहे आघाई। संतहु गुरमुखि मुकति गति पाई ऐकु नामु वसिआ घट अंतरि पूरे की वडिआई॥ (रामकलीमहला-३, पृ० ९११-१२)

१२. (क) संत संगि अंतरि प्रभु डीठा। नामु प्रभु का लागा मीठा॥ (बाणी सुखमनी पृ० २९३)

(ख) संत प्रसादि भए किरपाला होए आपि सहाय। गुन निधान निति गावै नानकु सहसा दुखु मिटाय॥ (आसामहला-५, पृ० ३७८)

१३. (क) कूड़ा लालचु छडीऐ होइ इक मनि अलखु धिआईऐ। फलु तेवेहो पाईऐ जेवेही कार कमाईऐ॥ (सलोकमहला-१, पृ० ४६८)

(ख) अंतरि मैलु लोभ बहु झूठे बाहरि नावहु काही जीओ। निरमल नामु जपहु सद गुरमुखि अंतर की गति ताही जीओ॥ (सोरठमहला-१, पृ० ५९८)

सरलता), विनम्रता[१४] एवं शुभचिन्तनके संस्कारों[१५]को प्रश्रय दिया जाय।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रभुके नाम-स्मरणके साथ-साथ सेवाकी उच्च भावनाके संस्कारोंको भी आध्यात्मिक साधनाका अपरिहार्य अङ्ग स्वीकार किया गया है। श्रीगुरु अमरदासजीकी यह मान्यता थी कि गुरु एवं मानवताकी सेवा करना ही सच्चा त्याग एवं सच्ची तपस्या है।[१६] साधकमें जब सेवाभावनाके संस्कार जाग्रत् होते हैं तो उसके जीवनमें जहाँ एक ओर अहंकारका नाश होता है,[१७] वहाँ दूसरी ओर ज्ञानमें परिपक्वता आती है।[१८] अतः साधनाकी परिपूर्णताहेतु सच्चे मार्गदर्शक गुरुदेवकी सेवा परमावश्यक है।[१९]

सेवाकी उदात्त भावनासे प्रेरित होकर जब साधक नामस्मरण आदि साधनोंके अभ्यासद्वारा विशुद्ध चित्तसे साधनामें संलग्न होता है तो उसमें स्वतः ही आत्मज्ञानके संस्कार प्रकट होने लगते हैं।[२०] श्रीगुरुग्रन्थसाहिबकी मान्यता है कि सच्चा आत्मिक ज्ञान ही साधकके तन और मनको निर्मलता प्रदान करता है।[२१] आध्यात्मिक ज्ञानकी साधनाके ये सभी सोपान सद्गुरुमें अनायास ही प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः ऐसे पूज्य, सबके सच्चे मित्र एवं परम विवेकी मार्गदर्शक गुरुमें श्रद्धाभाव रखते हुए उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये,[२२] जिससे जीवनमें उत्तरोत्तर गतिसे आध्यात्मिक संस्कारोंका उत्कर्ष हो।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें इस तथ्यको भी उजागर किया गया है कि एकाग्रचित होकर अनन्यभावसे परमेश्वरके दया, उदारता, क्षमाशीलता आदि गुणोंकी स्तुति करनी चाहिये।[२३] साधकको इस भावमयी स्थितिसे प्रभावित होकर वे भक्तवत्सल परमेश्वर अपने गुणोंकी लाज रखते हुए अपने भक्तोंको आध्यात्मिकताके संस्कारोंसे ओत-प्रोत करके उसकी उसी प्रकार रक्षा करेंगे, जैसे एक योग्य पिता अपने गुणी पुत्रकी सभी प्रकारसे रक्षा करके उसे अपने स्नेह एवं कृपासे कृतकृत्य बना देता है।[२४]

निष्कर्षतः श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें मुख्यरूपसे प्रभुनाम-स्मरण, विनम्रता, निष्कपटता, शुभचिन्तन, सेवाभावना एवं आध्यात्मिक ज्ञानमें संलग्नता आदि दिव्य संस्कारोंको जीवनमें धारण करनेकी पुनःपुनः प्रेरणा दी गयी है। परमेश्वरकी अनुकम्पासे ये सभी संस्कार साधकोंके जीवनमें क्रियान्वित हों, ऐसी प्रभुसे प्रार्थना है।

---

१४. गुरकिरपा ते निरमलु होआ जिनि विचहु आपु गवाइआ। अन दिनु गुण गावहि नित साचे गुर कै सबदि सुहाइआ॥
(सोरठमहला ३ घरु १, पृ० ५९९)

१५. सुभ चिंतन गोविंद रमण निरमल साधू संग। नानक नामु न विसरउ इक घड़ी करि किरपा भगवंत॥
(आसामहला ५ छंत घरु ७, पृ० ४५९)

१६. देखें—'A short history of the Sikhs'—by Ganda Singh and Teja Singh, Page-20

१७. गुर कै ग्रिहि सेवक जो रहै। गुर की आगिआ मन महि सहै॥ आपस कउ करि कछु न जनावै। हरि हरि नाम रिदै सद धिआवै॥
(बाणी सुखमनी पृ० २८६)

१८. (क) आप गवाए सेवा करे ता किछु पाए मानु। नानक जिसको लगा तिसु मिलै लगा सो परवानु॥
(आसादीवार सलोकमहला-१, पृ० ४७४)

(ख) सति गुर सेवि सचि चितु लाइआ। गुरमती सहज समावणिआ॥ (माझमहला-३ पृ० १११)

१९. (क) गुरसेवा ते हरिनाम धन पावै। अंतरि परगासु हरिनामु धिआवै॥ (धनासरीमहला-३, पृ० ६६४)

(ख) गुर सेवा ते जनु निरमलु होइ। अंतरि नामु वसै पति ऊतम होइ॥ (धनासरीमहला-३, पृ० ६६४)

२०. सचे चरण सरेवी अहि भाई भ्रमु भउ होवै नासु। मिलि संत सभा मनु मांजीऐ भाई हरि कै नामि निवासु। मिटै अंधेरा अगि आनता भाई कमल होवै परगासु॥ (सोरठमहला-५, घर १ असटपदीआ, पृ० ६३९)

२१. जलि मलि काइआ माजीऐ भाई भी मैला तनु होइ। गिआन महारसि नाईऐ भाई मनु तनु निरमलु होइ॥
(सोरठमहला-१ दुतुकी पृ० ६३७)

२२. जिसु अंतरु हिरदा सुधु है तिसु जन कउ सभि नमसकारी। जिसु अंदरि नाम निधानु है तिसु जन कउ हउ बलिहारी॥ जिसु अंदरि बुधि बिबेकु है हरि नामु मुरारी। सो सतिगुरु सभना का मितु है सभ तिसहि पिआरी। सभु आतम रामु पसारिआ गुर बुधि बिचारी॥
(सलोकमहला-३, पृ० ५८९)

२३. प्रभ की उसतति करहु संत मीत। सावधान एकागर चीत॥ (बाणी सुखमनी पृ० २९५)

२४. प्रभ को भगतिबछलु बिरदाइओ। करे प्रतिपाल बारिक की निआई जन कउ लाड लडाइओ॥ ....जप तप संजम करम कीरतनु जनि गाइओ। सरनि परिओ नानक ठाकुर की अभैदानु सुखु पाइओ॥ (गूजरीमहला-५, पृ० ४९८)

सिखधर्मके संस्कार

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

सिखधर्मके चार प्रमुख संस्कार हैं—१. जन्मसंस्कार, २. अमृतसंस्कार, ३. आनन्दसंस्कार (विवाह) और ४. अन्तिमसंस्कार (मृत्युसंस्कार)। इन चार संस्कारोंमें अमृतसंस्कार सबसे प्रमुख है। इस संस्कारके जनक श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराज हैं, जिनका जन्म (प्रकाश-अवतार) बिहारकी राजधानी पटना सिटीमें हुआ था। इसे आजकल पटनासाहब कहा जाता है, यहाँपर इनकी स्मृतिमें तख्त श्रीहरिमन्दिरजीका निर्माण हुआ है। यहाँ विश्वके कोने-कोनेसे लोग दर्शन करनेके लिये आते हैं तथा आशीर्वाद एवं प्रसाद ग्रहण करते हैं।

मुख्य बात तो यह है कि सिखपन्थको जन्म दिया था श्रीगुरुनानकदेवजी महाराजने, और अब दसवें स्वरूप श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजको जन्म देना था सिंहको, जिसे खालसा कहा गया। खालसा बननेके लिये अमृतसंस्कार नितान्त आवश्यक है। खालसा वह व्यक्ति है जो खालिस—पूर्ण ईश्वरकी ज्योतिमें लीन हो जाता है, जिसका रूप कृत्रिम नहीं है। इस कार्यके लिये श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजने १६९९ ई० की वैसाखी, १३ अप्रैलको श्रीकेशगढ़साहिब आनन्दपुरसाहिब (पंजाब)-में सर्वप्रथम पञ्च प्यारों—१-भाई दयाराम, २-भाई धर्मदास, ३-भाई मुहकम चन्द, ४-भाई हिम्मतराय और ५-भाई साहिबचंदको अमृतपान कराकर अर्थात् अमृतसंस्कारसे परिपूर्ण कर खालसा सजाया तथा इन्हीं पञ्च प्यारोंसे स्वयं अमृतपान कर गुरुगोविन्दरायसे गुरुगोविन्दसिंह बने।

अमृतसंस्कारकी विधि—अमृतसंस्कारके पहले श्रीगुरुग्रन्थसाहिबका प्रकाश होता है, गुरुवाणीका कीर्तन होता है। फिर दीवानसे चुने हुए पाँच अमृतधारी कृपाणधारी सिंह लोहेसे बने बर्तनमें जल और बतासा डालकर एकाग्रचित्त होकर श्रीजपुजीसाहिब (श्रीगुरुनानकदेवजीकी कृति), सवैये-चौपाई (श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीकी कृतियाँ), श्रीआनन्दसाहिब (श्रीगुरुअमरदासजीकी कृति)-का पाठ करते हैं तथा अमृत तैयार हो जानेपर अमृतसंस्कारकी अन्तिम प्रक्रिया शुरू होती है।

सर्वप्रथम पञ्च प्यारोंद्वारा अमृतपान-संस्कारके अभिलाषी जनको, जो केशस्नान करनेके बाद नये वस्त्र धारण किये हुए रहते हैं, पञ्च चुले छकाये जाते हैं, नेत्रोंपर अमृत छिड़का जाता है और बाटे-बर्तनमें बचे हुए अमृतको एक पंक्तिमें अभिलाषीजनको बैठाकर बारी-बारीसे सभीको अमृतपान कराया जाता है। दोनों तरफसे सभी बारी-बारीसे एक ही बर्तनसे मुँह लगाकर अमृतपान करते हैं। अब इस तरह इन सभीमें कोई भेद नहीं रह जाता है; सब भाई-भाई हो जाते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्येक घूँट-चूलेके साथ *'वाहि गुरुजीका खालसा, वाहि गुरुजीकी फतेह'*-का जयघोष करना पड़ता है। फिर श्रीगुरुग्रन्थसाहिबके हुकुमके अनुसार पहले अक्षरके आधारपर नामकरण होता है। प्रत्येक पुरुषके नामके साथमें 'सिंह' तथा स्त्रीके साथ 'कौर' जोड़ा जाता है।

इसके बाद खालसापन्थकी रक्षित मर्यादाका उपदेश पञ्च प्यारोंद्वारा दिया जाता है, फिर अरदास (प्रार्थना)-के बाद कड़ाह-प्रसाद, अमृतवाले लौह बाटे-बर्तनका ही प्रसाद छकाया जाता है।

इस अमृतसंस्कारसे परिपूर्ण व्यक्तिको पञ्च ककार—१. केश, २. कंघा, ३. कड़ा ४. कछहरा और ५. कृपाण *धारण करनेकी शिक्षा दी जाती है।*

चार कुसंस्कारोंसे बचनेहेतु हिदायत दी जाती है—१. केशोंकी बेअदबी नहीं करनी, २. तम्बाकू आदि नशेका प्रयोग नहीं करना, ३. परस्त्री-परपुरुषका संग नहीं करना और ४. कुठा (मांस) नहीं खाना।

सिखोंको मिलते समय आपसमें गरजकर *'वाहि गुरुजीका खालसा, वाहि गुरुजीकी फतेह'*—बुलानेकी हिदायत दी जाती है। जैकारा—*'बोले सो निहाल, सत श्रीअकाल'*—बुलाया जाता है। इस तरह अमृतसंस्कार सम्पन्न होता है। अमृतसंस्कार सम्पन्न होनेपर खालसाकी परिभाषापर श्रीगुरुगोविन्दसिंहकी वाणीका रागी सिंहोंद्वारा

गायन कर प्रकाश डाला जाता है जो इस प्रकार है—

जागति ज्योति जपै निस-बासुर, एक बिना मन नैक न आनै।
पूरन प्रेम प्रतीत सजै व्रत, गोर मढ़ी मढ भूल न मानै॥
तीरथ दान दया तप संजम, एक बिना नहि एक पछानै।
पूरन ज्योति जगै घटमें, तब खालस ताहि निखालस जानै॥

(३३ सवैये, श्रीदशमग्रन्थसाहिब पृ० ७१२)

अर्थात् जो सत्यकी ज्योतिको सदैव प्रज्वलित रखता है, एक ईश्वरके अतिरिक्त और किसीको नहीं मानता, उसीमें उसका पूर्ण प्रेम और विश्वास है। जो भूलकर भी मृत व्यक्तियोंकी समाधियोंपर नहीं जाता, ईश्वरके निश्छल प्रेममें ही जिसका तीर्थ, दान, दया, तप और संयम समाहित है और जिसके हृदयमें पूर्णज्योतिका प्रकाश है, वह पवित्र व्यक्ति ही खालसा है।

इतना ही नहीं, अमृतसंस्कारके बाद खालसापन्थके प्रति श्रीगुरुगोविन्दसिंहकी अगाध श्रद्धा, जो श्रीसरबलोहग्रन्थमें पूर्ण रूपसे प्रकट हुई है, की शिक्षा दी जाती है जो इस प्रकार है—

खालसा मेरो रूप है खास। खालसे में हउ करौं निवास॥
खालसा मेरा इष्ट सुहिरद। खालसा मेरी कहियत बिरद॥
खालसा मेरो मित्र सखाई। खालसा मित्र पिता सुखदाई॥
खालसा मेरो पिंड परान। खालसा मेरी जान की जान॥
खालसा मेरो सति गुरु पूरा। खालसा मेरो सजन सूरा॥
खालसा मेरो बुध अरु ज्ञान। खालसे का हौं धरो ध्यान॥
हौं खालसे को खालसा मेरो। उत पोत सागर बुन्दरो॥

(श्रीसरबलोहग्रन्थ)

तनखाहानामाके अनुसार अमृतसंस्कारसे परिपूर्ण खालसाके कर्तव्यपर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

खालसा सोई जो निंदा तिआगै। खालसा सोई लड़ै ह्वै आगै॥
खालसा सोई पर दृष्टि तिआगै। खालसा सोई नाम रति लागै॥
खालसा सोई निरधन को पालै। खालसा सोई दुष्ट को गालै॥
खालसा सोई जु चढ़ै तुरंग। खालसा सोई करै नित गंग॥

अमृतसंस्कारकी परम्पराके आदिपिता श्रीगुरुगोविन्द-सिंह तथा माता—मातासाहिब कौर माने जाते हैं। हर व्यक्ति जो अमृतसंस्कारसे सम्पन्न होता है, वह खालसा है और उसको श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीके बताये मार्गपर चलना है, तभी वह पूर्ण खालसा है।

आजकी विषम परिस्थितिमें श्रीगुरुगोविन्दसिंहद्वारा स्थापित अमृतसंस्कारकी प्रासङ्गिकता बढ़ती जा रही है, जो एक पूर्ण मनुष्य बननेके लिये बहुत जरूरी है। इस प्रकार सिखपन्थमें अमृतसंस्कारकी विशेष महिमा है।
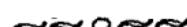
~~~ o ~~~

यज्ञोपवीतके लिये अनूठा बलिदान

पंजाबके क्रान्तिकारी युवक पण्डित रामरक्खाको ब्रिटिश-राज्यके विरुद्ध विद्रोह भड़काने-जैसे गम्भीर आरोपमें आजीवन कारावासका दण्ड देकर अण्डमान (कालापानी)-की जेल भेजा गया। अण्डमान जेल पहुँचते ही जेलरने उनके गलेमें सुसज्जित यज्ञोपवीत (जनेऊ)-को निकालनेका आदेश दिया। रामरक्खाने कहा—'जनेऊ हम ब्राह्मणोंका धार्मिक चिह्न है। मैं इसे धारण किये बिना पानीतक नहीं पी सकता।' अंग्रेज जेलरके आदेशपर वार्डनोंने उन्हें पकड़ लिया तथा जबरदस्ती यज्ञोपवीत उनके गलेसे निकालकर फेंक दिया।

रामरक्खा उसी समयसे यज्ञोपवीत फेंके जानेके विरोधमें अनशनपर बैठ गये। वीर सावरकर, भाई परमानन्द तथा अन्य अनेक क्रान्तिकारी भी उसी जेलमें बंद थे। सभीने रामरक्खासे प्राणरक्षाका आग्रह किया तथा परामर्श दिया कि अन्न ग्रहण कर लें और अपना जनेऊ धारण करनेकी माँग करते रहें, किंतु ये दृढ़व्रती स्वाभिमानी धर्मवीर अन्न-जल ग्रहण करनेको तैयार नहीं हुए। लगभग बीस दिनतक अनशन करनेके बाद उन्होंने अण्डमान जेलमें अपने यज्ञोपवीत धारण करनेके धार्मिक अधिकारकी रक्षाके लिये प्राण त्याग दिये।

उनके इस अनूठे बलिदानकी चर्चा भारतके समाचारपत्रोंमें हुई। उनके प्राणोत्सर्गका यह परिणाम निकला कि जेलमें भारतीय बंदियोंको यज्ञोपवीत धारण करनेकी अनुमति मिल गयी। (श्रीशिवकुमारजी गोयल)

~~~ o ~~~

महर्षि मेँहींके पञ्चशील-संस्कार

(श्रीधरसिंहजी 'दयालपुरी')

भगवान् बुद्धकी भाँति ही महर्षि मेँहींने भी संतमतके पञ्चशील-संस्कारको स्वीकार किया है। उनके पञ्चशील-संस्कार निम्नलिखित हैं—

१. सत्संग, २. गुरुभक्ति, ३. ध्यान-साधना, ४. सदाचार और ५. स्वावलम्बन।

१. सत्संग—सद्गुरु महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराजने सत्संगको अपना श्वास बताया है—सत्संग ही मेरी साँस है। वस्तुत: सत्संग संतमतका अभिन्न अङ्ग है और मोक्षका मार्ग है।

संस्कारोंसे सम्पन्न होनेपर ही सत्संग मिलता है। सत्संगसे उत्तम संस्कार प्राप्त होते हैं तथा व्यक्ति सुसंस्कृत, चरित्रवान्, सदाचारी तथा प्रभुपरायण हो जाता है। यह सत्संग भी ईश्वरकी कृपाके विना सुलभ नहीं होता—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

सत्संगसे सत्य एवं सदाचारका ज्ञान होता है। सत्संगका संस्कार आत्मोन्नतिका उत्कृष्ट साधन है। जिस प्रकार पारसमणिके स्पर्शसे लोहा सोना हो जाता है, उसी प्रकार असंस्कृत व्यक्ति भी सत्संग पाकर सुसंस्कृत हो जाता है।

सत्संग भी दो प्रकारके होते हैं—पहला बाह्यसत्संग और दूसरा आभ्यन्तरसत्संग। बाह्यसत्संगमें सद्गुरुद्वारा उपदेश प्राप्त होता है और आभ्यन्तरसत्संगमें जीव, ब्रह्म और परब्रह्मका भेद मालूम होता है। महर्षि मेँहीं-पदावलीमें कहा गया है—

धर्मकथा बाहर सत्संगा। अन्तर सत्संग ध्यान अभंगा॥

२. गुरुभक्ति—संतमतके सत्संगमें गुरुकी गरिमापर जोर दिया गया है। महर्षि मेँहीं-पदावलीमें सद्गुरुकी महत्तापर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

गुरु सतगुरु सम हित नहिं कोऊ,
निस दिन करिये सेव है।
तन मन आतम रक्षक हैं गुरु,
गुरुहिक नाम एक लेव है॥ १॥
मातहु तें बढ़ि छोह करैं नित,
पितहु तें अधिक भलाइ है।
कुल मालिकहु तें बढ़ि कृपा धारैं,
गुरु सम नाहिं सहाइ है॥ २॥

सद्गुरुकी सच्ची भक्तिसे भौतिक जगत् और अध्यात्मजगत्—दोनों एक साथ लाभान्वित होते हैं।

जीवनकालमें जिनकी सूरत सारे आवरणोंको पारकर शब्दातीत पदमें समाधिसम लीन होती है और पिण्डमें बरतनेके समय उन्मनीभावमें रहकर शब्दमें लगी रहती है, ऐसे जीवन्मुक्त एवं परम संत पुरुष पूरे और सच्चे सद्गुरु कहे जाते हैं।

३. ध्यान-साधना—संतमतमें संस्कारसम्पन्न होनेके लिये ध्यान-साधनासंस्कारके चार सोपान निर्दिष्ट हैं—मानसजप, मानसध्यान, दृष्टियोग और सुरतशब्दयोग।

मानसजप—मानसजप ध्यान-साधनाका प्रथम सोपान है। इस जपमें मन्त्रका उच्चारण मुँहसे नहीं किया जाता। यह जप मन-ही-मन किया जाता है। इससे मनोनिग्रह होता है और उस साधकमें सहज जपका संस्कार प्रतिष्ठित हो जाता है। सदाचारी और संस्कारी साधक ही इस जपसे सफलताकी पराकाष्ठापर पहुँचते हैं।

मानसध्यान—ध्यान-साधनाका दूसरा सोपान है—मानसध्यान। इस उपासनाको स्थूल, सगुण उपासना कहा जाता है। इसके बलपर सूक्ष्म उपासनामें मदद मिलती है। मानसध्यानमें साधक अपने इष्टके स्थूलरूपका ध्यान करता है। इष्टसाधनसे सूक्ष्म ध्यानकी क्षमता प्राप्त होती है।

दृष्टियोग—यह ध्यानयोगका तृतीय सोपान है। अति पवित्र, सदाचारी एवं संस्कारी साधकको ही इस योगमें सफलता मिलती है। साधक दृष्टियोगद्वारा अपनी दोनों आँखोंकी धारोंको एक नोकपर तबतक जोड़ता है, जबतक फैली हुई धारा एक बिन्दुपर न मिल जाय। बिन्दु प्राप्त होनेपर अन्धकार मिट जाता है। जब अन्धकार मिट जाता है तब प्रकाश हो जाता है। दृष्टि और मनका अभिन्न मिलाप

होता है। जहाँ दृष्टि जाती है, वहाँ मन भी जाता है। दृष्टिके स्थिर होनेपर मन भी स्थिर हो जाता है। जबतक दृष्टि चञ्चल रहती है, तबतक मन भी चञ्चल रहता है। संतोंने मनोनिरोधका सबसे अच्छा साधन दृष्टियोगको ही बताया है। दृष्टिसाधनसे एकाग्रता होती है। एकाग्रतासे चेतनवृत्तिका सिमटाव होता है और इस सिमटावसे ऊर्ध्वगति होती है।

सुरतशब्दयोग—सुरतशब्दयोगको नादानुसन्धान भी कहते हैं। इसमें शब्दकी साधना होती है। संतमतमें यह ईश्वरप्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। सुरतको अन्तर्नादकी क्रियासे जोड़नेकी क्रियाको सुरतशब्दयोग कहते हैं। नादबिन्दूपनिषद् (४९-५०)-में आया है—

सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना तु या॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

अर्थात् शब्दके सतत अभ्याससे वासना क्षीण हो जाती है और मन तथा प्राणवायुका निरञ्जनमें निश्चित ही लय हो जाता है।

जिस प्रकार मधुमक्खी शहदके रसका पान करती हुई सुगन्धकी चिन्ता नहीं करती, उसी प्रकार चित्त; जो सदा नादमें लीन रहता है, विषयकी चाहना नहीं करता; क्योंकि वह नादके मिठासमें वशीभूत हो अपनी चञ्चल प्रकृतिको त्याग चुका होता है। वस्तुतः संतमतमें सुरतशब्दयोग किंवा नादानुसन्धानके संस्कारसे संस्कृत होना सर्वोपरि साधना है।

४. सदाचार—संतमतमें सदाचारका महत्त्वपूर्ण स्थान है। महर्षि मेँहींकी उक्ति है—सदाचारकी नींवपर ही साधनाकी इमारत खड़ी होती है। अतएव संस्कृत होनेके लिये सदाचार अनिवार्य है। सदाचारके अभावमें अध्यात्म-पथपर अग्रसर होना असम्भव है। सदाचारसे संस्कार बनता है। संस्कारी साधकको साधनामें आशातीत सफलता मिलती है। संतमतमें नशा, चोरी, व्यभिचार, हिंसा और झूठसे बचकर रहना ही सदाचार है। सदाचारपालनसे इस लोकमें एवं परलोकमें भी सुख मिलता है। सदाचारके पालनसे स्वराज्यमें सुराज्य (सुन्दर राज्य) हो जायगा।

५. स्वावलम्बन—स्वावलम्बनका अर्थ है—अपने बलपर जीवन-यापन करना। संतमतमें स्वावलम्बनपर बहुत जोर दिया गया है। महर्षि मेँहींकी उक्ति है—साधकको स्वावलम्बी होना चाहिये। अपने पसीनेकी कमाईसे अपना निर्वाह करना चाहिये। थोड़ी-सी वस्तुओंको पाकर ही अपनेको सन्तुष्ट रखनेकी आदत डालनी चाहिये। स्वावलम्बीकी सहायता ईश्वर करते हैं; क्योंकि स्वपर अवलम्बनका तात्पर्य आत्मनियन्त्रणसे ही है। प्रकारान्तरसे स्वावलम्बनका तात्पर्य है—ईश्वरका अवलम्बन। कदाचित् बुद्धिमें इस प्रकारका संस्कार दृढ़ हो जाय तो फिर स्वयं प्रभु ही उसका योगक्षेम वहन करते हैं।

महर्षि मेँहीं-पदावलीके ५३वें पद्यकी अन्तिम दो पंक्तियाँ स्वावलम्बी जीवन-यापनका संदेश देती हैं—

जीवन बिताओ स्वावलम्बी, भरम भाँड़े फोड़िकर।
संतों की आज्ञा है ये मेँहीं, माथ धर छल छोड़िकर॥

अर्थात् गलत धारणाओंको मनसे दूरकर स्वावलम्बी जीवन बिताना चाहिये। स्वावलम्बनसे मानव सुसंस्कृत होते हैं। संस्कारयुक्त होनेपर मानवका ऐहलौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय सहज ही सिद्ध हो जाता है।

~~~०~~~

भगवान्‌की अभय-वाणी

'अरे भक्त! तुझे कोई भय नहीं, तू केवल नाम ले। मैं भयका भय, भीषणका भीषण, सब विपत्तियोंका नाश करनेवाला सदा तेरी विपत्तियोंका नाश करता हूँ और 'मैं तेरा'—कहकर जो मेरी शरणमें आता है, उसे अभयदान करना मेरा व्रत है। आकाश टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े, प्रलयकी अग्नि जल उठे, साथ ही कोटि वज्रपात होने लगें, भयङ्कर महाझंझावातसे विश्व-ब्रह्माण्ड काँप उठें, सातों समुद्र उमड़ पड़ें; तथापि, तथापि, रे प्रियतम! डर नहीं। मैं तुझे छातीसे लगाकर तेरी रक्षा कर रहा हूँ। यह बात मत भूल—'मैं हूँ तेरा, अरे मैं हूँ तेरा।' मत डर। अरे तापित, तृषित, क्षुभित, श्रान्त, क्लान्त, आत्मविस्मृत संतान! संसार-स्वप्न देखकर और हाहाकार न कर। संसार केवल स्वप्न है। सत्य केवल—एकमात्र मैं हूँ। मेरा नाम ले। नामानन्द-सागरमें डूबकर तू भी नाममय हो जा।'

~~~०~~~

मसीही (ईसाई) धर्ममें संस्कार

(डॉ० ए०यी० शियाजी)

विश्वके समस्त धर्मोंमें संस्कारोंका महत्त्व है; क्योंकि संस्कारोंके बिना धर्म अर्थहीन हो जाता है। संस्कारोंसे ही मनुष्यका आचरण बनता है। संस्कार धर्मके मार्गपर चलनेकी, मानवताको ग्रहण करनेकी तथा मुक्ति प्राप्त करनेकी धार्मिक प्रक्रिया है। संस्कार मनुष्यके आन्तरिक जीवनको प्रभावित करते हैं।

संस्कारकी परिभाषा

ख्रीष्ट (मसीही) कलीसियाओंने संस्कारकी परिभाषाएँ अलग-अलग रूपसे की हैं। इन परिभाषाओंमें दो बातें मुख्यरूपसे पायी जाती हैं—प्रतीक और अर्थ। उदाहरणस्वरूप रोमकी कलीसियाके अनुसार संस्कार अदृश्य अनुग्रहका दृश्य प्रतीक है, जो हमारे धर्मी बने रहनेके लिये निर्धारित किया गया है। इंग्लैण्डकी कलीसियाके अनुसार भीतरी और आत्मिक अनुग्रहका बाहरी और दृश्य प्रतीक जो हमें दिया गया है, वह संस्कार है, इसे मसीहने स्वयं निर्धारित किया है कि यह हमारे अनुग्रहकी प्राप्तिका साधन हो। यह एक प्रतिज्ञा है, जिसके द्वारा हमें उस अनुग्रहका निश्चय हो। यूरोपीय कलीसियाके मतानुसार संस्कार एक पवित्र रीति है, जिसे मसीहने स्थापित किया और जिसमें इन्द्रियगोचर प्रतीकोंके द्वारा नवीन सन्धि (वाचा)-की आशिषें विश्वास करनेवालोंके लिये उपस्थित, प्रतिज्ञात और प्राप्य हैं। सनातनी मसीही कहते हैं—संस्कार एक पवित्र क्रिया है, जिसके द्वारा अनुग्रह अर्थात् परमेश्वरकी उद्धार करनेवाली शक्ति, मनुष्यमें रहस्यपूर्ण रीतिसे कार्य करती है।*

प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक—दोनों सम्प्रदायोंमें संस्कारोंके विषयमें यह साम्य है कि ये प्रभु यीशु मसीहद्वारा अनुग्रह प्रदान करनेके लिये स्थापित किये गये हैं। इन दोनोंमें जो भेद हैं, वे इस प्रकार हैं—

प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिकमें भेद

प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बियोंने संस्कारके दो भेदोंको माना है—जल-संस्कार (बपतिस्मा) और प्रभुभोज (होली कम्यूनन), जबकि कैथोलिक सम्प्रदायके अनुयायी सात संस्कारोंमें विश्वास करते हैं—१-जल-संस्कार, २-प्रभुभोज, ३-दृढ़ीकरण, ४-प्रायश्चित्त अथवा तपस्या, ५-विवाह, ६-अभिषेकीकरण तथा ७-पवित्र संन्यास।

१-जल-संस्कार (बपतिस्मा)—प्राचीन कालमें जलसे अपनेको शुद्ध करनेकी बात कही जाती रही है। यहूदी जाति इसपर बहुत अधिक ध्यान देती थी। जैसा कि यशय्याह नबीने लिखा है—अपनेको धोकर पवित्र करो। मेरी आँखोंके सामनेसे अपने बुरे कामोंको दूर करो, भविष्यमें बुराई करना छोड़ दो (यशय्याह १: १६)। यूहन्ना ३:५ में कहा गया है कि जबतक कोई मनुष्य जल और आत्मासे न जन्मे तबतक वह परमेश्वरके राज्यमें प्रवेश नहीं कर सकता। बपतिस्मा एक बाह्य प्रतीक है, जो मनुष्यके हृदय तथा मनके आन्तरिक परिवर्तनका सूचक है। कैथोलिकका मत है कि बपतिस्माके द्वारा मूल पापसे छुटकारा मिलता है। बाइबिल बताती है कि बपतिस्मा देनेका अधिकार प्रभु यीशु मसीहने अपने शिष्योंको दिया था। जैसा कि लिखा है इसलिये तुम जाकर सब जातियोंके लोगोंको शिष्य बनाओ और उन्हें पिता-पुत्र तथा पवित्रात्माके नामसे बपतिस्मा दो (मत्ती २८:१९)। बपतिस्मेके द्वारा न केवल उद्धार प्राप्त होता है तथा नया जीवन आरम्भ होता है; अपितु पवित्र आत्माका दान भी प्राप्त होता है।

२-प्रभुभोज—कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेण्ट—दोनों सम्प्रदायोंमें प्रभुभोजको संस्कारके रूपमें अनिवार्य मान्यता प्राप्त है। प्रभुभोजके संस्कारकी नींव प्रभु यीशु मसीहद्वारा ही रखी गयी है। प्रभु यीशुकी क्रूसपर मृत्युके पहले उन्होंने इसे स्थापित किया। पौलुस १ करिन्थियोंकी मत्ती (११:२३—२६)-में लिखते हैं—'प्रभु यीशुने, जिस रात वे पकड़वाये गये; रोटी ली, धन्यवाद करके उसे तोड़ा और कहा—यह मेरी देह है जो तुम्हारे लिये है। मेरे स्मरणके लिये यह किया करो। इसी रीतिसे उन्होंने बियारीके पीछे कटोरा भी लिया और कहा—यह कटोरा मेरे लोहूमें नयी वाचा है। जब कभी पीओ तो मेरे स्मरणके लिये यह किया करो; क्योंकि जब कभी तुम यह रोटी खाते और इस कटोरेमेंसे पीते हो, तुम प्रभुकी मृत्युको

* मसीही-सिद्धान्तोंकी रूपरेखा (दूसरा भाग)—एबर्ट एम० कार्न पृ० १५९।

जबतक वह न आये प्रचार करते रहो' (मत्ती २६: १७—३५, मरकुस १४: १२—२५, लूका २२: ३—२३ भी देखें)। उस समयसे लेकर मसीही इस संस्कारके द्वारा प्रभु यीशुकी मृत्युको स्मरण करते हैं कि उन्होंने मानवजातिके उद्धारके लिये अपना लोहू बहाया और एक प्रकारसे लोहू बहाकर मानवजाति; जो पापी हैं, उसने प्रायश्चित्त किया। प्रभुभोजकी विधिके अवसरपर श्रद्धालुगण प्रभु यीशुके समस्त जीवन, उनके अनुग्रह, सामर्थ्ययुक्त अर्थ, उनकी शिक्षाओं, उनकी क्रूसकी मृत्यु, उनके जीवित होने, स्वर्गारोहण तथा पवित्रात्माके उँडेले जानेको भी स्मरण करते हैं और यह भी स्मरण करते हैं कि उन्होंने अपने बलिदानद्वारा मनुष्यको एक नयी आशा दी है; क्योंकि इसके द्वारा उनके साथ एक पवित्र सहभागिता होती है।

एक बात सत्य है कि इस संस्कारविधिके अभावमें एक मसीही व्यक्तिकी साधना निस्सार होती है। यह विधि प्रोटेस्टेण्ट चर्चोंमें कम-से-कम महीनेमें एक बार और कैथोलिक चर्चोंमें प्रत्येक सप्ताह मनायी जाती है। इस विधिको सम्पन्न करते समय पादरी अथवा पास्टर प्रभु यीशुके इन शब्दोंको दोहराते हैं और अनुयायी रोटी और दाखरसको आदरसे लेते हुए कुछ क्षणोंतक प्रभु यीशुकी मृत्युको स्मरण करते हुए अपने-अपने पापोंकी क्षमा एवं उनकी निरन्तर आध्यात्मिक संगतिके लिये मन-ही-मन प्रार्थना करते हैं।

(३) दृढ़ीकरण—कैथोलिक चर्च ही दृढ़ीकरणको संस्कारके रूपमें ग्रहण करते हैं, प्रोटेस्टेण्ट नहीं। दृढ़ीकरण विशेषकर नवयुवक और नवयुवतियोंके लिये होता है। दृढ़ीकरणसे पूर्व उनकी धार्मिक-शिक्षाकी जाँच होती है और वे इच्छा जाहिर करते हैं कि इस विधिमें उन्हें सम्मिलित किया जाय ताकि वे पूर्णरूपसे समाजके सदस्य हो जायँ और चर्चकी नाना प्रकारकी कार्यवाहीमें सहभागिता कर मसीही जीवन जी सकें। ऐसा माना जाता है कि दृढ़ीकरण बपतिस्मेके अनुग्रहको पूर्ण करता है।

(४) प्रायश्चित्त अथवा तपस्या—प्रायश्चित्त-संस्कारको प्रोटेस्टेण्ट इतना महत्त्व नहीं देते, जितना कैथोलिक देते हैं। प्रायश्चित्त करनेके लिये एक कैथोलिक अनुयायी कैथोलिक पुरोहितके पास जाकर अपने किये हुए पापको बतलाता है, उन्हें स्वीकार करता है। पुरोहित प्रभु यीशुकी ओरसे उसके पापोंको क्षमा करता है। बाइबिलके अनुसार प्रोटेस्टेण्टको हिदायत है कि वह कपटियोंकी तरह दिखानेके लिये प्रार्थना न करे (मत्ती ६:५), परंतु अपनी बंद कोठरीमें गुप्तरूपमें प्रार्थना करे। कपटियोंकी तरह उपवास न करे कि मुँहपर उदासी छायी रहे (मत्ती ६:१६-१७)। दान करते समय सभाओंमें, गलियोंमें बड़ाई न करवाये, अपितु दान करते समय बायाँ हाथ न जानने पाये कि दाहिने हाथने दान किया है। इसी प्रकार पापोंका प्रायश्चित्त ईश्वरके सम्मुख गुप्तरूपमें होना चाहिये। कैथोलिक यूहन्ना (२०:२३)-को इस संस्कारके लिये आधार बनाते हैं, जहाँ कहा गया है—'जिनके पाप तुम क्षमा करोगे, वे उनके लिये क्षमा किये जायँगे, जिनके तुम रखोगे, वे रखे जायँगे।' ये शब्द यीशुद्वारा शिष्योंको कहे गये थे। कैथोलिक चर्च अपनेको शिष्योंके उत्तराधिकारीके रूपमें देखता है और यह मानता है कि उसे उसके अनुयायियोंके पाप क्षमा करनेका अधिकार है, किंतु प्रोटेस्टेण्ट यह कहकर इस संस्कारको नहीं मानते कि पापोंको क्षमा करनेका अधिकार यीशु ख्रीष्टको ही है, किसी अन्य मनुष्यको नहीं।

यदि हम परमेश्वरका भय मानें और अपने पड़ोसीको अपने समान प्रेम करें तो जीवनके अनन्त पापोंसे मुक्ति हो जायगी और मानव-मानवके बीच समरसता स्थापित हो जायगी।

(५) विवाह—विवाह एक पवित्र बन्धन है फिर भी प्रोटेस्टेण्ट उसे संस्कारके रूपमें ग्रहण नहीं करते, जबकि कैथोलिक मसीह इसे संस्कारके रूपमें ग्रहण करते हैं। वे मानते हैं कि कैथोलिक मतावलम्बियोंके बीच विवाह एक पवित्र ईश्वरीय प्रबन्ध है। इस कारण यह सर्वोत्तम है, जबकि अन्य विवाह निम्न स्तरके हैं। संत बर्नार्डने सर्वप्रथम सात संस्कारोंकी बात की थी, किंतु उसकी सूचीमें केवल छः ही संस्कार थे। लगभग ११५० ई०में विवाहको संस्कारके रूपमें मान्यता दी गयी। प्रोटेस्टेण्ट अनुयायियोंकी दृष्टिमें विवाह एक आदरणीय दशा है। परमेश्वरने मनुष्यको अपने स्वरूपमें सृजन कर आशिषें दी हैं और पुरुषके विषयमें सोचा गया कि उसका अकेला रहना अच्छा नहीं (उत्पत्ति २:१८) और

श्रीरामके बिना राष्ट्रकी कल्पना ही असम्भव है। आदिकवि कहते हैं—श्रीराम जहाँके राजा न होंगे, वह राज्य राज्य नहीं रह जायगा—जंगल हो जायगा तथा श्रीराम जहाँ निवास करेंगे, वह वन एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन जायगा—

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥

(वा०रा० २।३७।२९)

राष्ट्र भी श्रीरामसे ही संस्कारित होता है। अतः श्रीराम मानवके तथा श्रीरामचरित्र मानव-चरित्रका आदर्श है। संस्कारभूषित श्रीरामकी गाथा सम्पूर्ण विश्व-मानवताकी गाथा है। ऐसे चरित्रकी उपेक्षा करके राष्ट्र और विश्वमें शान्ति, सुरक्षा और सौमनस्य आदिकी रक्षा सर्वथा असम्भव है। श्रीरामसे ही सम्पूर्ण जगत्‌की संस्कारिता मर्यादित होती है।

श्रीरामकी भगवत्ता लौकिक धरातलपर इतनी सहज है कि वे सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें अपने संस्कारजन्य शुभ गुणोंके आदर्शका निर्वहण करते हैं। बाल्यावस्थामें वे भाइयोंके साथ खेलते हुए भी उनकी भावनाओंको आहत नहीं होने देते थे। रंगभूमि जनकपुरमें भी उनके सहज संस्कार यथोचित बने रहते हैं। परशुरामको तो वे अपनी अगाध विनम्रतापूर्ण वाणीसे ही नतमस्तक कर देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानस (१।२८४।६)-में कहते हैं—

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥

श्रीरघुनाथजीके कोमल और रहस्यपूर्ण वचन सुनकर परशुरामजीकी बुद्धिके पर्दे खुल गये। श्रीरामके पावन संस्कारका ही असाधारण प्रभाव है कि युगके दुर्धर्ष नायककी मति सुधर जाती है।

अयोध्याके राजमहलमें मन्थराकी कुमन्त्रणासे जब कैकेयीकी ईर्ष्याग्निकी लपटें उठने लगीं और राजमहल धू-धू कर जलने लगा तथा महाराज दशरथ अचेत हो गये तो वहाँ भी श्रीरामके संस्कारोंकी मर्यादा पद्मपत्रवत् बनी रही। श्रीराम न तो राज्याभिषेकसे हर्षित होते हैं और न ही वनवासके दुःखसे उनका मुखकमल मलिन होता है। इस घटनाको वे सौभाग्य मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानस (२।४२।६, २।५३।५-६)-में कहते हैं—

थोरिहिं बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥
× × × ×
धरम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥
पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

भगवान् श्रीरामके उपर्युक्त वचन उनके इस तथ्यको उद्घाटित करते हैं कि सुख-साम्राज्यके भोगका अनुसरण रामका संस्कार नहीं है। उनका संस्कार भोगका नहीं, वरन् त्यागका है। इससे मनुष्य सामान्य धरातलसे उठकर महान् बन जाता है। उनकी सम्पूर्ण संस्कारनिष्ठा निष्कामतापर आधृत है।

भगवान् श्रीरामका दिव्य संस्कारसम्पन्न उज्ज्वल व्यक्तित्व इतना विराट् है कि वे केवटको गले लगाते हैं, शबरीके जूठे बेर खाते हैं तथा गृद्ध जटायुके शरीरको हाथसे सहलाते हुए आँसू बहाते हैं, पिताकी भाँति उसका अन्तिम संस्कार करते हैं। वनवासी, कोल, भील, तपस्वी, ऋषि, महर्षि, पशु, पक्षी, वानर आदि सभी उनकी पावन संस्कार-गङ्गामें अवगाहन कर धन्य हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि श्रीराम मानवीय सामाजिक संस्कारोंके मूर्तस्वरूप तो हैं ही, मानवेतर समाज भी उनसे प्रशंसित होता है। उन्होंने वर्ण और आश्रमकी स्वर्णमंजूषामें सजे भारतीय समाजकी मर्यादाकी स्थापना की है। वे लोकजीवनमें समाहित होकर भी लोकसे ऊपर हैं। उनका लोकमङ्गल, लोकरक्षक और लोकरञ्जक संस्कार अनुकरणीय है।

श्रीरामका ही वह अलौकिक संस्कार है, जिससे समुद्र भी मर्यादित होता है, पत्थर जिनके नामसे तैरता है, किष्किन्धाका वानरसमाज कामका परित्याग कर राममय हो जाता है और खर-दूषण युद्धस्थलमें उनके अनुपम सौन्दर्यको देख अचम्भित होकर उद्घोष करते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

(रा०च०मा० ३।१९।३—५)

आदर्श भ्रातृप्रेम, सुग्रीवके साथ अविचल मित्रता, विभीषणको परमाश्रयका दान, अपने आश्रित वानरोंके साथ सद्व्यवहार, प्रजावत्सलता और पूज्य ऋषियोंके सम्मुख विनम्र मननशीलता—ये सब कुछ भगवान् श्रीरामके शुभ

संस्कारोंको द्योतित करते हैं।

श्रीरामके संस्कारकी साधुता वहाँ उद्घाटित होती है, जहाँ वे रावणसे कहते हैं कि रावण! तुमने आज भयङ्कर कार्य किया है, क्योंकि मेरी सेनाके प्रधान-प्रधान वीरोंको तुमने मार डाला है। इतनेपर भी थका हुआ समझकर मैं बाणोंसे तुम्हें मृत्युके अधीन नहीं कर रहा हूँ; तुम युद्धसे पीड़ित हो, श्रान्त हो, लङ्कामें जाकर कुछ देरतक विश्राम कर लो; तत्पश्चात् रथ और धनुषसे सुसज्जित होकर पुनः आना, तब मेरा बल देखना—

कृतं त्वया कर्म महत् सुभीमं
हतप्रवीरश्च कृतस्त्वयाहम्।
तस्मात् परिश्रान्त इति व्यवस्य
न त्वां शरैर्मृत्युवशं नयामि॥
प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्वं
प्रविश्य रात्रिंचरराज लङ्काम्।
आश्वस्य निर्याहि रथी च धन्वी
तदा बलं प्रेक्ष्यसि मे रथस्थः॥

(वा०रा० ६।५९।१४२-१४३)

रावणकी मृत्युके बाद विभीषणद्वारा अत्याचारी भाईके दाह-संस्कारको अस्वीकार कर देनेपर भगवान् श्रीरामने कहा—मरनेके बाद वैरका अन्त हो जाता है। अब मेरा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, अतः इस समय जैसे यह तुम्हारा भाई है, वैसे ही मेरा भी है; अतएव इसका दाह-संस्कार करो—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्॥
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।

(वा०रा० ६।१११।१००-१०१)

यह हैं श्रीरामकी संस्कारजन्य करुणा और उनकी क्षमाशीलता। भगवान् श्रीराम शीलके सिन्धु हैं। प्रेम, करुणा और त्यागका महासमुद्र उनके संस्कारमें सदा ही उफनता और लहराता रहता है। अतः दुराचार, अत्याचार, अनाचार और कदाचारसे ग्रस्त आजके संसारमें श्रीरामके परम पावन दिव्य संस्कारका सञ्चार हो जाय तो जगजीवन सदाचार, सद्विचार और शिष्टाचारसे परिपूर्ण हो जाय। भक्त्यात्मक दृष्टिसे भी भक्तवत्सलता और शरणागत-परित्राणपरायणता उनके शुभ संस्कारके उज्ज्वल प्रकाशस्तम्भ हैं, अतः श्रीरामके चरणारविन्दोंका पावन आश्रय ही जीवका परमसाध्य है। आदिकविके शब्दोंमें मनुष्य-जीवनकी परम सार्थकता यही है कि या तो हम श्रीरामको देख सकें या श्रीरामकी दृष्टि हमारे ऊपर पड़ जाय, अन्यथा स्वयं हमारी आत्मा ही हमें कोसेगी—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

(वा०रा० २।१७।१४)

~~~o~~~

श्रीकृष्णकी जीवनचर्यामें प्रतिष्ठित संस्कारोंके मौलिक सूत्र

(स्वामी श्रीअजस्रानन्दजी महाराज)

संस्कारोंके कारण ही व्यक्तिमें विलक्षण और अनिर्वचनीय गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। संस्कार जीवनके विभिन्न अवसरोंको महत्त्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। लोकमङ्गलकारी संस्कारोंका प्रभाव जब जीवनचर्यामें होता है, तब व्यक्तिके जीवनमें समग्ररूपसे पूर्णता आती है।

श्रीकृष्णके जीवनमें प्रतिष्ठित संस्कारोंकी अभिव्यक्ति विशेष रूपसे उनके उपदेशों एवं वचनामृतोंसे प्रकट होती है। उनकी जीवनचर्या उदात्त संस्कारोंके मौलिक सूत्रोंकी एवं अन्तर्निहित भावोंकी परिचायिका है। इसी कारण वे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' के रूपमें वन्द्य एवं पूज्य हैं। यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके संस्कारोंके अनन्त मौलिक सूत्रोंको स्वल्प बुद्धिसे समझनेकी चेष्टा की गयी है—

१. सेवा-समर्पण और सम्मानदान—भगवान् श्रीकृष्णके जीवनमें सेवा, समर्पण और सम्मानदानके संस्कार शैशवसे ही प्रकट रहे। जिनमें गौओं, माता-पिता, गुरुजनों, परिजनों तथा मित्रोंकी सेवा आदि प्रमुख हैं। जब खेलमें थके हुए बलरामजी किसी गोपकी गोदमें सिर रखकर लेट जाते तो श्रीकृष्ण उनके पैर दबाकर तथा उन्हें पंखा झलकर उनकी थकावट दूर करते थे—

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः॥
~~~

श्रीकृष्णजी सुदामासे कहते हैं—मैं गुरुदेवकी सेवासे जितना प्रसन्न होता हूँ, उतना यज्ञ-वेदाध्ययन, तपस्या आदिसे नहीं, तभी तो वे वनसे लकड़ी चुनकर लाते थे—

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥

(श्रीमद्भा०१०।८०।३४)

वे रणभूमिमें अश्वोंकी परिचर्या अपने हाथोंसे करते थे। उनके शरीरमें धँसे तीरोंको निकालते, कुशलतापूर्वक घावोंकी चिकित्सा करते, उनका श्रम एवं कष्ट मिटाते, उन्हें पानी पिलाते और नहलाते। जब उनकी सारी थकावट दूर हो जाती तो उन्हें रथमें जोतते। गोवत्स-चारण तथा उनकी सेवा तो श्रीकृष्णजीकी जीवनी शक्ति ही रही है, इसीसे उनका गोपाल, गोविन्द नाम पड़ा।

महाराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञ-महोत्सवमें उन्हें अग्रपूजाका एकमात्र अधिकारी माना गया था, किंतु अभ्यागतोंके पाद-प्रक्षालन करनेका काम उन्होंने अपने लिये प्रिय समझा तथा जूठी पत्तलें उठायीं। कौन लोकनायक आज ऐसा आदर्श सेवा-कार्य स्वीकार करता है?

श्रीकृष्णद्वारा की गयी सेवाओंका गान तो गोपियाँ रो-रोकर करती हैं—कृष्ण! विषविदूषित जलसे, अनेकानेक दानवोंसे, कालकी-सी प्रलयवर्षा एवं तूफानसे, दावाग्निसे तथा अगणित आपत्तियोंसे आपने हमारी बार-बार रक्षा की है—

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥

(श्रीमद्भा०१०।३१।३)

२. सदाचार-शिष्टाचार एवं विनयशीलता—श्रीकृष्ण सदाचार, शिष्टाचार एवं विनयशीलताके मूर्तस्वरूप ही हैं। श्रीनारदजी द्वारकाधीश श्रीकृष्णसे भेंट करने जब द्वारकापुरी पहुँचे तो उन्हें देखते ही धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने रुक्मिणीके पलंगसे उठकर उनके चरणोंमें अपना सिर रखकर प्रणाम किया और उन्हें अपने आसनपर बिठाया। जिनके चरणोंका धोवन-जल (चरणोदक) गङ्गाके नामसे संसारको पवित्र करता है, उन जगदीश्वर, भक्तवत्सल तथा ब्राह्मणोंको अपना आराध्य माननेवाले श्रीकृष्णने स्वयं नारदजीके चरण पखारे तथा उनका चरणामृत अपने सिरपर धारण किया—

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना
बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम्॥

(श्रीमद्भा०१०।६९।१५)

इसी प्रकार रुक्मिणीके द्वारा प्रेषित संदेशवाहक ब्राह्मणदेवको देखते ही वे स्वर्णसिंहासनसे नीचे उतर पड़े, उनका आदर-सत्कार किया और जब वे भोजनके अनन्तर विश्राम कर चुके, तब श्रीकृष्ण उनके पास गये और अपने कोमल हाथोंसे उनके पैर सहलाते हुए बड़े शान्तभावसे पूछने लगे—विप्रवर! आपका चित्त तो सन्तुष्ट है? आपको अपने पूर्वजोंद्वारा स्वीकृत धर्मका पालन करनेमें कोई कठिनाई तो नहीं होती?

कच्चिद् द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसम्मतः।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा॥

(श्रीमद्भा० १०।५२।३०)

३. स्वर-साधनाका संस्कार—श्रीकृष्णके वेणुगीतमें वाक्संयम-वैदग्ध्यका समावेश है, जो अत्यन्त कल्याणकारी है। सर्वात्माका वेणुगीत आत्माका संगीत है, जिसमें जड़-जगत् एवं जीव-जगत्को मोहित करनेके भाव प्रस्फुटित हुए हैं। वंशी-ध्वनि सुनकर वृक्ष-लताएँ प्रफुल्लित होती थीं, पुष्प नया रंग लेकर खिलते थे तथा पवनके झकोरोंमें और पक्षियोंकी काकलिमें आनन्दका स्वर भर जाता था—

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्॥

(श्रीमद्भा०१०।२१।१९)

सभी भाषाओंके कवियोंने मोहनके मुरलीवादनपर अनेक काव्य लिखे हैं। विभिन्न भाषाओंके साहित्यमें जो मधुरता आयी है, उसका उत्स यही वेणुगीत है। संस्कारी हृदयोंमें हृदयरसका सिंचन करनेवाली यह स्वरमाधुरी रासलीलाकी पूर्वभूमिका है। वेणुगीत और रासोत्सव-जैसा अमृतरस कहीं नहीं है। इनमें जो स्वर है, जो गीत है, उसमें भावोंकी सृजनशक्ति ही नहीं, साथ-साथ लय

करनेकी शक्ति भी है। इनकी शक्ति अलौकिक है, जो सांसारिक एवं आध्यात्मिक—दोनों सुखोंको तुच्छ करनेवाली है।

वेणुके सात छिद्रोंमेंसे छः छिद्र तो भगवान्‌के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यकी प्राणवायुसे पूरित हैं। सातवाँ छिद्र स्वयं भगवान्‌के अप्राकृत निर्विकार स्वरूपका बोधक है। वेणुनाद श्रीकृष्णके स्वारस्य-अनुभूतिका हेतु है।

४. वाक्-कौशल—भूत, भविष्य और वर्तमानके जितने भी वक्ता हैं, उनमें श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका वाक्-कौशल विश्वमें आचरणीय है। गोपियाँ अपने परिजनों तथा परिवारजनोंको छोड़कर '**कृष्णदर्शनलालसा**', '**त्यक्त्वा च सर्वविषयान् तव पादमूलम्**' ऐसा करुणक्रन्दन करते हुए श्रीकृष्णकी ओर बढ़ीं और श्रीकृष्णने देखा कि व्रजकी अनुपम विभूतियाँ—गोपियाँ बिलकुल पास आयी हैं, तब मुस्कराकर पूर्व भाषण करनेवाले वे अपनी विनोदभरी वाक्-चातुरीसे उन्हें मोहित करते हुए बोले—'महाभाग्यवती गोपियो! तुम्हारा स्वागत है। बतलाओ तो तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये मैं कौन-सा काम करूँ? व्रजमें तो सब कुशल-मङ्गल है न?'

अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥
स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १७-१८)

श्रीकृष्ण जब कौरवसभामें पाण्डवोंकी ओरसे सन्धि-प्रस्तावके लिये दूत बनकर पहुँचे, उस समय उनका वाक्-कौशल विशेष प्रकाशमें आया। जिस समय श्रीकृष्ण विदुर एवं सात्यकिका हाथ पकड़कर सभाभवनमें पधारे, उस समय उनकी कान्तिने समस्त कौरवोंको निस्तेज कर दिया। धृतराष्ट्रके निवेदनपर वे सर्वतोभद्र नामक सुवर्ण-सिंहासनपर मुस्कराते हुए विराजमान हुए। सभी कौरवों तथा अन्य राजाओंने उनका पूजन किया। नारद आदि ऋषि-मुनिगण भी बड़ी उत्कण्ठा लेकर वहाँ पहुँचे। द्वारकानाथकी लोककल्याणकारिणी वाणी सुननेको वे सभी उतावले थे।

श्रीकृष्ण बोले—हे भरतनन्दन धृतराष्ट्र! मैं आपसे यह प्रार्थना करने आया हूँ कि क्षत्रियवीरोंका विना संहार हुए ही कौरवों और पाण्डवोंमें शान्तिकी स्थापना हो जाय। हे

भारत! कौरवकुल समस्त गुणोंसे सम्पन्न है। इसमें कृपा, अनुकम्पा, करुणा, अनृशंसता, सरलता, सत्य और क्षमा—ये सद्गुण अन्य राजवंशोंकी अपेक्षा अधिक हैं। ऐसे कुलके होते आपद्वारा कोई अनुचित कार्य हो जाय तो यह उचित नहीं। तात! यदि इनमें कोई प्रकट या अप्रकट रूपसे मिथ्याचरण करने लगे तो आप ही उन्हें रोककर सन्मार्गपर स्थापित करनेवाले हैं—

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः॥

बताया कि युवराज ऋतध्वज पृथ्वीपर हम दोनोंके मित्र हो गये हैं, उनके गुण और शीलने हम दोनोंको परवश बना दिया है। उनके बिना हमें चैन नहीं मिलता, यहाँ आनेपर उनके वियोगमें हमें लम्बी-लम्बी साँस खींचनी पड़ती है। नागराज पिताके कर्तव्यको जानते थे, उन्होंने पूछा कि तुमने इतने गुणी युवराजकी कोई इच्छा पूरी की है कि नहीं, मेरे घरमें जितने रत्न, धन आदि हैं, उन्हें देकर उनका बदला चुकाओ। पुत्रोंने कहा कि युवराजको धन-सम्पत्तिका कोई अभाव नहीं है। जो हमारे घरमें है वह सब उनके पास विद्यमान है। नागराजने कहा कि प्रत्येक व्यक्तिको कोई-न-कोई अभाव अवश्य होता है, तुम दोनों सोचकर बताओ कि उन्हें किस चीजकी कमी है? पुत्रोंने कहा कि उन्हें उस वस्तुकी कमी है जिसे न हम पूरा कर सकते हैं और न आप। उनकी एक प्राणप्रिया पत्नी थी, उसके प्राण धोखेसे एक दानवने हरण कर लिये, राजकुमारको उसीका विरह है, लेकिन इस कमीको हमलोग पूरा नहीं कर सकते।

नागराजने कहा हम देवता हैं। हमारे इष्टदेव भगवान् शंकर हैं, वे आशुतोष हैं एवं सब कुछ देनेमें समर्थ हैं। नागराजने आराधना करके भगवान् शंकरको प्रसन्न कर लिया। भगवान् शंकरने कहा—'नागराज! वर माँगो।' नागराजने कहा—प्रभो! मदालसा मुझे पुत्रीरूपमें प्राप्त हो जाय, वह जिस अवस्थामें मृत्युको प्राप्त हुई है, उसी अवस्था, गुण, रूप और स्वभावसहित पुनः उत्पन्न हो जाय। भगवान् शंकरने कहा कि पितरोंका श्राद्ध करके मध्यम पिण्डको खा लेना, इससे तुम्हारे मध्यम फणमें मदालसा प्रकट हो जायगी। ऐसा ही हुआ। मदालसा पुनः उसी अवस्था, रूप, गुण और स्वभावसहित उत्पन्न हो गयी।

नागराजने अपने पुत्रोंसे कहा कि जाकर युवराजको ले आओ और मदालसाका अपनी बहिनकी भाँति युवराजसे विवाह कर दो। यह एक ऐसी घटना घटी, जिसमें युवराज और मदालसा ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्रजामें आनन्दकी लहर दौड़ गयी। राजा शत्रुजित्ने ऋतध्वजको राजा बना स्वयं वनमें तपस्याहेतु प्रस्थान किया।

मदालसाने उत्पत्तिके समयसे ही अपने तीनों पुत्र ब्रह्मानन्दमें लगा दिया, वे संसारचिन्तनसे मुक्त थे पतिकी इच्छाके अनुरूप चौथे पुत्रमें राजनीतिके संस्क डालने शुरू किये। फल यह निकला कि चौथा पुत्र अ विश्वका एक श्रेष्ठ शासक बन गया, लेकिन ब्रह्म मदालसा यह चाहती थी कि चौथे वयसमें इसे भी ब्रह्म प्राप्त हो जाय, इसलिये उसे एक अँगूठी दी और उससे क कि जब तुम घोर विपत्तिमें पड़ना तो इसे खोलकर देख उसमें लिखा था कि घोर विपत्तिमें किसी महापुरुष

आश्रय लो। अलर्कके भाई भी चाहते थे कि यह केव दुनियाका एक श्रेष्ठ शासक बनकर ही न रह जाय, अ अपने मनुष्य-जीवनको सफल करे। अलर्कके सौभाग्य उसे महापुरुषके रूपमें जगद्गुरु दत्तात्रेय मिले और उस भी मानवजीवन सफल हो गया।

उपर्युक्त कथासे स्पष्ट हो जाता है कि शिशु जन्मके दिनसे ही संस्कार देने प्रारम्भ करने चाहिये। संस्कार अमिट हो जाते हैं। इस प्रकार हम चाहें अपने बालकको ब्रह्मनिष्ठ बना दें और चाहें तो श्रे शासक बना दें। (ला०वि०मि०)

ते'

ई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
नू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥
म्हरे राम सिय सुख पावहीं।
र सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
भायसु दीन्ह मुनि आसिष दई।
सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

(रा०च०मा० २।७५।५-६, ८, छंद)

न्त है कि श्रीराम और सीताका
एवं राष्ट्रोत्थानके लिये हो रहा
तभी सफल होगा, जब तुम
मैर मोह—इनके वशमें स्वप्नमें
एके विकारोंका परित्याग कर
उनकी सेवा करोगे। तुम्हें वहाँ
हीं करनी है। तुम वही करना,
में क्लेश न हो। तात्पर्य यह है
सेवामें राग, रोष, ईर्ष्या, मद,
बाधक होते हैं। इनसे बचे
हो सकती है। रागके वशमें न
श्रीसीतारामजीको छोड़कर अन्य
और माता-पिता, भाई, पत्नी
प्रेम हटाकर इनके ही चरणोंमें
सबको मनसे भुला देना। रोषके
यह है कि ये जो आज्ञा दें, वह
कूल न भी हो तो भी कदापि
शमें न होनेका भाव यह है कि
ने यह बात चित्तमें न आने पाये
: और हम भी राजकुमार—दोनों
मों करें? मदके वशमें न होनेका
, विद्या, बल इत्यादिका गर्व न
पि न आये कि मुझे छोड़...
ा रक्षक है। मोहके वशमें
के तुम घरका मोह मत करना
ने स्वरूपको न भुला देना। म

जिनवाणी सिरताज की जय बोलो गुरु राम की।
नानेश नवम पट्टधर की जय बोलो गुरु राम की।
खिलते तपधान की जय बोलो गुरु राम की।
चहुँ दिशा चमकते चांद की जय बोलो गुरु राम की।
गुरु आज्ञा प्रतिपाल की जय बोलो गुरु राम की।
ज्ञान क्रिया निधान की जय बोलो गुरु राम की।
तत्त्व मनिषी ज्ञान की जय बोलो गुरु राम की।
दीन बन्धु दयाल की जय बोलो गुरु राम की।
तारण तिरण जहाज की जय बोलो गुरु राम की।
छः काया प्रतिपाल की जय बोलो गुरु राम की।
तपोपूत महान की जय बोलो गुरु राम की।
सत्य अहिंसावान की जय बोलो गुरु राम की।
वीरवाणी प्रचार की जय बोलो गुरु राम की।
सत्य के पैगाम की जय बोलो गुरु राम की।
गुणरत्न के खान की जय बोलो गुरु राम की।
आगम के विस्तार की जय बोलो गुरु राम की।
जिनवाणी रसधार की जय बोलो गुरु राम की।
नानेश बगिया प्राण की जय बोलो गुरु राम की।
समता के संधान की जय बोलो गुरु राम की।
समता के पहीचान की जय बोलो गुरु राम की।
मोक्ष पति दातार की जय बोलो गुरु राम की।
तेजस्वी दिदार की जय बोलो गुरु राम की।
ब्रम्ह तेज प्रभाव की जय बोलो गुरु राम की।
समता के सिद्धान्त की जय बोलो गुरु राम की।
जिनवर के अवतार की जय बोलो गुरु राम की।
जिनशासन सम्मान की जय बोलो गुरु राम की।
शासन पति भगवान की जय बोलो गुरु राम की।

नारे

(जय गुरु नाना - जय गुरु राम)

धरती अम्बर करे पुकार
— राम गुरु की जय जयकार।
राम गुरु महान है
— मानवता की शान है।
घर-घर में हो यही प्रचार
— व्यसन मुक्त हो सारा समाज
आप आये बहार आई
— सारे नगर में खुशियां छाई
राम गुरु सा आये हैं
— नई रोशनी लाये हैं।
त्रिशला नन्दन वीर की
— जय बोलो महावीर की
नाना गुरु का है सन्देश
— समता मय हो सारा देश
राम गुरु का है सन्देश
— व्यसन मुक्त हो सारा देश
यह धर्म है धीर वीरों का
— त्यागी और गम्भीरों का
संयम इनका सख्त है
— तभी तो लाखों भक्त है
लाखों इनके भक्त है
— फिर भी संयम सख्त है।

श्री महावीराय नमः

जय गुरु नाना
卐
जय गुरु राम

राम चमकसी भानु समाना

समता युवा संघ,
गंगाशहर, भीनासर

सुमित्राने यह बात बल देकर कही कि उनकी सेवा करते समय तुम्हारा मन, कर्म तथा वचन शुद्ध रहे। मनकी सेवा यह है कि सेवाके समयका बराबर ध्यान रहे। वचनकी बात यह है कि मनकी बात जानकर अनुकूल आज्ञा माँगना तथा उसका परिपालन करना। सदा प्रिय, मधुर तथा कोमल वचन बोलना। कर्मसे सेवाका भाव यह है कि कैंकर्यमें सदा तत्पर रहना। *'जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू'* का आशय यह है कि श्रीराम-जानकीजीको किसी प्रकारका क्लेश-असुविधा न हो। पर्णकुटी, भोजन, पुष्पशय्या, वन्य-जीवोंसे रक्षा इत्यादिकी उपयुक्त व्यवस्था करना। माता सुमित्राकी इस शिक्षामें दो बार उपदेश शब्दका उल्लेख हुआ है। एक बार तो क्लेश दूर करनेके लिये कहा गया है तथा दूसरी बार श्रीराम-जानकीजीको सुख देनेके लिये कहा गया है। सुख भी ऐसा देना कि उन्हें माता-पिता, परिवार, नगर-सुख आदिकी याद न आये। शिक्षाके साथ पुत्र लक्ष्मणको माता सुमित्राने आशीर्वाद भी दिया कि भगवान् श्रीरामके चरणोंमें अविरल (निरन्तर) तथा अमल (शुद्ध) प्रेम तुम्हें प्राप्त होगा। इस प्रेममें कभी स्वार्थका मैल नहीं आयेगा तथा यह नवनवोन्मेष-युक्त होगा।

माता सुमित्राको कितना खयाल है कि श्रीरामजीको दुःख न हो। यह बात गीतावलीमें भलीभाँति स्पष्ट होती है। अपने पुत्र लक्ष्मणको शक्तिबाण लगनेका शोक उनको नहीं है, अपितु यह शोक है कि राम अकेले हैं। वे अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्नको कहती हैं—जाओ, तुम श्रीरामजीकी सेवा करो—

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभटसों लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन-छिन गात सुखात, छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपिसों कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं॥
'तात! जाहु कपि संग' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

(गीतावली ६।१३)

मानसकी सुमित्राजीके समान माताका चरित्र अन्य किसी ग्रन्थमें तो क्या, किसी अन्य देश या भाषामें मिलना असम्भव है। सुमित्राजीके हृदयको पुत्र-विरहका स्पर्श भी नहीं हुआ। उन्होंने अपने रामभक्त पुत्रको चौदह वर्षके वनवासके लिये जाते समय भी हृदयसे नहीं लगाया। धन्य, धन्य भक्तजननी और उसका **'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'** अन्तःकरण। ऐसी माताका पुत्र भी कसौटीपर खरा उतरता है। पुत्रने माताके उपदेशका अक्षरशः परिपालन किया। जब माताने यह कहा *'जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू'* तो लक्ष्मणजीने विचार किया कि जाग्रत् अवस्थामें तो राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोह आदि विकारोंपर नियन्त्रण रखा जा सकता है, किंतु कदाचित् स्वप्नमें इनके वशीभूत हो गया तो माताके आदेशका उल्लंघन हो जायगा, अतः उन्होंने यह सङ्कल्प लिया कि मैं चौदह वर्षतक सोऊँगा ही नहीं अर्थात् निद्रा नहीं आने दूँगा। जब सोना नहीं होगा तो स्वप्न भी नहीं आयेगा और माताकी आज्ञाका उल्लंघन भी नहीं होगा। लक्ष्मणजी चौदह वर्षतक सोये नहीं। सेवाके इस कठोर व्रतके पालनका ही फल था कि वे इन्द्रको जीत लेनेवाले महान् योद्धा रावण-पुत्र मेघनादको रणभूमिमें पराजित करनेमें सफल हुए।

पुत्र लक्ष्मणको माता सुमित्राद्वारा दी गयी शिक्षा समाज तथा राष्ट्रकी सेवा करनेवाले व्यक्तिके लिये एक सच्ची शिक्षा है। अपने निजी स्वार्थका परित्याग कर, निजी सुख-सुविधाकी चिन्ता किये बिना परहितचिन्तनमें सदैव सचेष्ट रहना चाहिये। माताकी दी हुई संस्कार-शिक्षा शिशुके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर उसके जीवनको सदैव गतिशील बनाती है। माता मदालसाने तो अपने पुत्रोंको लोरी सुनाते हुए ऐसी संस्कार-शिक्षा प्रदान की कि वे बचपनमें ही अध्यात्म-मार्गके पथिक बन गये।

~~~ ० ~~~
~~~

आचार्य वैशम्पायन और महर्षि याज्ञवल्क्य

महामुनि वैशम्पायनजी वेदोंके आचार्य थे। उनके यहाँ बहुत-से छात्र वेदाध्ययन करते थे। याज्ञवल्क्यजी भी इनके ही समीप पढ़ते थे। याज्ञवल्क्यजी इनकी बहिनके लड़के थे और मिथिलापुरीमें रहते थे। एक बार समस्त ऋषियोंने मिलकर मेरुके समीप एक सभा स्थापित की। उस सभामें यह नियम था कि निश्चित तिथिको जो ऋषि उस सभामें उपस्थित न होगा, उसे सात दिनतक वाचिक ब्रह्महत्याका पातक लगेगा। इस नियमके अनुसार सब ऋषि वहाँ उपस्थित होते थे। एक बार उसी तिथिको वैशम्पायनजीके पिताका श्राद्ध था, उन्होंने सोचा—'श्राद्ध तो आवश्यक है, इसका प्रायश्चित्त सब विद्यार्थी मिलकर कर लेंगे।' तदनुसार वे सभामें नहीं गये। नियमानुसार उन्हें वाचिक ब्रह्महत्याका पाप लगा। उन्होंने अपने समस्त विद्यार्थियोंसे कहा—'तुम सब मिलकर इस अपराधका प्रायश्चित्त कर लो।' याज्ञवल्क्यजीने कहा—'अभी ये सब छात्र छोटे हैं, ये सब क्या प्रायश्चित्त करेंगे? सबके बदलेका मैं ही कर लूँगा।' वैशम्पायनजीने बहुत कहा—'नहीं भाई, सबको मिलकर ही करना चाहिये।' किंतु याज्ञवल्क्यजी हठ पकड़ गये कि नहीं, मैं अकेला ही करूँगा। तब गुरुको कुछ क्रोध आया और उन्होंने कहा—'तू बड़ा अभिमानी है, अतः मेरे द्वारा पढ़ी हुई यजुर्वेदकी शाखाको उगल दे।' गुरुकी आज्ञा पाकर याज्ञवल्क्यजीने अन्नरूपमें वे सब ऋचाएँ उगल दीं। उन्हें शिष्योंने तित्तिर (तीतर) बनकर ग्रहण कर लिया, वही यजुर्वेदमें कृष्णयजुःके नामसे प्रसिद्ध शाखा हुई। इसीसे कृष्णयजुः और शुक्लयजुः—ये दो भेद हुए। उस शाखाके पढ़नेवाले ब्राह्मण तैत्तिरीय कहलाये।

तब याज्ञवल्क्यजीने निश्चय किया कि अब कभी किसी मनुष्यको गुरु नहीं बनाऊँगा। यह निश्चय करके वे सूर्यभगवान्‌की आराधना करने लगे। सूर्यभगवान्‌ने अश्वका रूप धारण करके उन्हें उपदेश दिया, वही 'माध्यन्दिन वाजसनेय'के नामसे शाखा प्रसिद्ध हुई।

इनकी दो स्त्रियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयीने भगवान् याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करके परमपद प्राप्त किया और दूसरी भरद्वाजकी कन्या कात्यायनीसे चन्द्रकान्त, महामेघ, विजय नामक तीन पुत्र हुए।

भगवान् याज्ञवल्क्य कर्मकाण्डमें बड़े ही प्रवीण थे। इन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ कराये और उनमें आचार्य बने। श्रोत्रिय होनेके साथ-ही-साथ ये ब्रह्मनिष्ठ भी थे। एक बार महाराज जनककी इच्छा हुई कि हम किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करें। सर्वोत्तम ब्रह्मनिष्ठ ऋषिकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने एक युक्ति सोची। समस्त बड़े-बड़े ऋषियोंको उन्होंने बुलाया और सभामें बछड़ेसहित हजार सुवर्णकी गौएँ खड़ी कर दीं। तदनन्तर उन्होंने समस्त ऋषियोंके सामने घोषणा की—जो कोई ब्रह्मनिष्ठ हों, वे इन गौओंको सजीव बनाकर ले जायँ। सभीकी इच्छा हुई कि हम लें, किंतु 'पहले उठकर हम ऐसा करते हैं तो और लोग समझेंगे कि ये तो अपने मुँह ही अपनेको ब्रह्मनिष्ठ बताते हैं' ऐसा सोचकर शिष्टाचार और लोकापवादके भयसे कोई भी न उठे। तब याज्ञवल्क्यजीने अपने एक शिष्यसे कहा—'सब गौओंको ले चलो।' इसपर उनका समस्त ऋषियोंसे तथा गार्गीसे शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने सभीके प्रश्नोंका विधिवत् उत्तर दिया। सभी संतुष्ट हुए। गौएँ भी सजीव हो गयीं। महाराज जनकजीने उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की।

याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञानी, कर्मकाण्डी, स्मृतिकार आदि सभी हैं। इनके '*याज्ञवल्क्यशिक्षा*', '*प्रतिज्ञासूत्र*', '*याज्ञवल्क्यस्मृति*', '*शतपथब्राह्मण*' और '*योगियाज्ञवल्क्य*', ये ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में इनके शास्त्रार्थका बहुत लम्बा वर्णन है। ब्रह्मवादिनी गार्गीके साथ इनका जो शास्त्रार्थ हुआ, वह बड़ा ही अपूर्व है।

वैशम्पायनजी कर्मकाण्डके आचार्य होनेके साथ ही भगवल्लीलाओंके बड़े रसिक थे। महाराज जनकके यज्ञमें इन मामा-भानजोंमें कुछ कहासुनी भी हो गयी थी। किंतु उन्होंने जब सूर्यभगवान्‌से संहिता प्राप्त कर ली, तब वैशम्पायनजी परम प्रसन्न हुए और अपने शिष्योंको भी उन्होंने याज्ञवल्क्यजीसे वह संहिता पढ़वायी। इन्होंने अन्तमें घर छोड़कर विद्वत्संन्यास ग्रहण कर लिया था। याज्ञवल्क्यके पंद्रह शिष्योंके नामोंसे शुक्ल ... हुई।

~~○~~

महर्षि वाल्मीकिका महनीय चरित

[क्षणभरके सत्सङ्गका संस्कार कलुषित जीवनको भी परमोज्ज्वल कर देता है]

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

बहुत प्राचीन बात है, सङ्गदोषसे एक ब्राह्मण क्रूर डाकू बन गया था। जन्मसे ही वह अशिक्षित था। अपने परिवारके पालन-पोषणके लिये उसने बड़ा घोर मार्ग अपनाया। घोर वनसे जानेवाले एक मार्गके समीप उसका अड्डा था। जो भी यात्री उधरसे निकलता, उसे वह मार डालता बिना यह सोचे कि इस हत्यासे उसे लाभ कितना होगा। मृत व्यक्तिके पास जो कुछ मिलता, उसे लेकर वह शवको कहीं ठिकाने लगा देता।

वह मार्ग यात्रियोंके लिये मृत्यु-द्वार बन गया था। पथिकोंकी यह विपत्ति देवर्षि नारदसे देखी नहीं गयी। वे स्वयं उसी मार्गसे चल पड़े। सदाकी भाँति शस्त्र उठाये डाकू उनपर भी झपटा। देवर्षिको भला भय क्या! उन्होंने कहा—'भाई! तुम व्यर्थ क्यों क्रोध करते हो? शस्त्र उठानेसे क्या लाभ? मैंने तो तुम्हारा कुछ बिगाड़ा नहीं है। तुम चाहते क्या हो?'

'मैं चाहता हूँ तेरे प्राण, तेरी यह तुमड़ी और वस्त्र तथा तेरे पास कुछ और निकले तो वह भी।' डाकू गरज उठा।

'निरन्तर जीव-हत्याका यह पाप किये बिना भी तो तुम वनके फल-कन्दसे अपना पेट भर सकते हो!' देवर्षिका तेज और उनके स्वरमें भरी दया डाकूको स्तम्भित किये दे रहे थे।

'किंतु मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्रका पेट कौन भरेगा, तू?' डाकू अभी क्रूर व्यंग्य ही कर रहा था।

'भाई! तुम जिनके लिये नित्य यह पाप करते हो, उनमेंसे कोई तुम्हारे पापका फल भोगनेमें भाग नहीं लेगा। अपने पापका फल तुम्हें अकेले ही भोगना होगा।' नारदजीने बड़ी मृदुतासे कहा।

'यह कैसे हो सकता है!' डाकू विचलित हो उठा था। 'जो मेरे पापसे कमाये धनका सुख भोगते हैं, वे मेरे पापके फलमें भी भाग तो लेंगे ही।'

'बहुत भोले हो, भाई! पापके फलमें कोई भाग नहीं लेगा। तुम्हें मेरी बातका विश्वास न हो तो घर जाकर उन लोगोंसे पूछ लो।' देवर्षिने बात पूरी कर दी।

'बाबा! तू मुझे मूर्ख बनाना चाहता है। मैं घर पूछने जाऊँ और तू यहाँसे खिसकता बने!' डाकूने फिर शस्त्र सम्हाला।

'तुम मुझे इस पेड़के साथ भलीभाँति बाँध दो।' चुपचाप नारदजी स्वयं एक पेड़से लगकर खड़े हो गये।

अब डाकूको उनकी बात माननी पड़ी। उसने उन्हें पेड़के साथ उनकी रस्सियोंसे भलीभाँति बाँध दिया और स्वयं शीघ्रतापूर्वक घर पहुँचा। घर जाकर उसने पिताके

पूछा—'पिताजी! आप तो जानते ही हैं कि मैं यात्रियोंकी हत्या करके उनके साथकी सामग्री लाता हूँ और उसीसे परिवारका भरण-पोषण करता हूँ। मैं जो नित्य यह पाप करता हूँ, उसके फलमें आपका भी तो भाग है न?'

तनिक खाँसकर पिताने उसकी ओर देखा और कहा—'बेटा! हमने तुम्हारा पालन-पोषण किया, तुम्हें छोटेसे बड़ा किया और अब तुम समर्थ हो गये। हमारी वृद्धावस्था आ गयी। तुम्हारा कर्तव्य है हमारा भरण-पोषण करना। तुम कैसे धन लाते हो, इससे हमें क्या! तुम्हारे पाप-पुण्यमें भला हमारा भाग क्यों होने लगा!'

पहली बार डाकू चौंका। वह माताके पास गया, किंतु माताने भी उसे वही उत्तर दिया जो पिताने दिया था। उसने पत्नीसे पूछा—तो पत्नीने कहा—'स्वामी! मेरा कर्तव्य है आपकी सेवा करना, आपके गुरुजनों तथा परिवारकी सेवा करना। वह अपना कर्तव्य मैं पालन करती हूँ। आपका कर्तव्य है मेरी रक्षा करना और मेरा पोषण करना, वह आप करते हैं। इसके लिये आप कैसे धन लाते हैं, सो आप जानें। आपके उस पापसे मेरा क्या सम्बन्ध! मैं उसमें क्यों भाग लूँगी!'

डाकू निराश हो गया, फिर भी उसने अपने बालक पुत्रसे अन्तमें पूछा। बालकने और स्पष्ट उत्तर दिया—'मैं छोटा हूँ, असमर्थ हूँ, अत: आप मेरा भरण-पोषण करते हैं।' मैं समर्थ हो जाऊँगा, तब आप वृद्ध और असमर्थ हो जायँगे। उस समय मैं आपका भरण-पोषण करूँगा और अवश्य करूँगा। यह तो परस्पर सहायताकी बात है। आपके पापको आप जानें, मैं उसमें कोई भाग लेना नहीं चाहता, न लूँगा।'

डाकूके नेत्रोंके आगे अन्धकार छा गया। जिनके लिये वह इतने पाप कर चुका, वे कोई उस पापका दारुण फल भोगनेमें उसके साथ नहीं रहना चाहते! पश्चात्तापसे जलने लगा उसका हृदय। दौड़ा वह वनकी ओर! वहाँ पहुँचकर देवर्षिके बन्धनकी लताएँ उसने तोड़ फेंकीं और क्रन्दन करता उनके चरणोंपर गिर पड़ा।

'तुम राम-नामका जप करो।' देवर्षिने प्रायश्चित्त बतलाया। किंतु उस निष्ठुरहृदयकी पाप-कलुषित वाणी यह दिव्य नाम सीधा होनेपर भी उच्चारण करनेमें समर्थ नहीं हुई। देवर्षि हारना नहीं जानते, वे जिसे मिल जायँ, वह भगवान्‌के चरणोंसे दूर बना रहे—यह शक्य नहीं। उन्होंने कहा—'चिन्ता नहीं, तुम 'मरा-मरा' ही जपो।'

डाकू वहीं बैठ गया। उसे पता नहीं कि उसके उपदेष्टा कब चले गये। उसकी वाणी लग गयी जपमें—मरा मरा मरा मरा मरा''' दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतते चले गये, किंतु डाकूको कुछ पता नहीं था। उसके शरीरमें दीमक लग गयी, दीमकोंकी पूरी बाँबी (वल्मीक) बन गयी उसके ऊपर।'

डाकूके तपने सृष्टिकर्ताको आश्चर्यमें डाल दिया। वे हंसवाहन स्वयं पधारे वहाँ और अपने कमण्डलुके अमृत-जलसे उन्होंने उस तपस्वीपर छींटे दिये। उन जल-सीकरोंके प्रभावसे उस दीमकोंके वल्मीकसे जो पुरुष निकल खड़ा हुआ, वह अब पूरा बदल चुका था। उसका रूप, रंग, शरीर और हृदय सब दिव्य हो चुका था।

संसार ठीक नहीं जानता कि डाकूका नाम क्या था? कोई-कोई उसे रत्नाकर कहते हैं। किंतु वह जो तपस्वी उठा, वल्मीकसे निकलनेके कारण उसे 'वाल्मीकि' कहा गया। वह आदिकवि, भगवान् श्रीरामके निर्मल यशका प्रथम गायक—विश्व उसकी वन्दना करके आज भी कृतार्थ होता है। रहा होगा वह कभी अज्ञातनामा क्रूर डाकू, किंतु एक क्षणके सत्सङ्गने उसे महत्तम जो बना दिया।

'रघुपति बिपति-दवन'

रघुपति बिपति-दवन।
परम कृपालु, प्रनत-प्रतिपालक, पतित-पवन॥
क्रूर, कुटिल, कुलहीन, दीन, अति मलिन जवन।
सुमिरत नाम राम पठये सब अपने भवन॥
गज-पिंगला-अजामिल-से खल गनै धौं कवन।
तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकी-रवन॥

(विनय-पत्रिका, २१२)

महर्षि वाल्मीकिका महनीय चरित

[क्षणभरके सत्सङ्गका संस्कार कलुषित जीवनको भी परमोज्ज्वल कर देता है]

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

बहुत प्राचीन बात है, सङ्गदोषसे एक ब्राह्मण क्रूर डाकू बन गया था। जन्मसे ही वह अशिक्षित था। अपने परिवारके पालन-पोषणके लिये उसने बड़ा घोर मार्ग अपनाया। घोर वनसे जानेवाले एक मार्गके समीप उसका अड्डा था। जो भी यात्री उधरसे निकलता, उसे वह मार डालता बिना यह सोचे कि इस हत्यासे उसे लाभ कितना होगा। मृत व्यक्तिके पास जो कुछ मिलता, उसे लेकर वह शवको कहीं ठिकाने लगा देता।

वह मार्ग यात्रियोंके लिये मृत्यु-द्वार बन गया था। पथिकोंकी यह विपत्ति देवर्षि नारदसे देखी नहीं गयी। वे स्वयं उसी मार्गसे चल पड़े। सदाकी भाँति शस्त्र उठाये डाकू उनपर भी झपटा। देवर्षिको भला भय क्या! उन्होंने कहा—'भाई! तुम व्यर्थ क्यों क्रोध करते हो? शस्त्र उठानेसे क्या लाभ? मैंने तो तुम्हारा कुछ बिगाड़ा नहीं है। तुम चाहते क्या हो?'

'मैं चाहता हूँ तेरे प्राण, तेरी यह तुमड़ी और वस्त्र तथा तेरे पास कुछ और निकले तो वह भी।' डाकू गरज उठा।

'निरन्तर जीव-हत्याका यह पाप किये बिना भी तो तुम वनके फल-कन्दसे अपना पेट भर सकते हो!' देवर्षिका तेज और उनके स्वरमें भरी दया डाकूको स्तम्भित किये दे रहे थे।

'किंतु मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्रका पेट कौन भरेगा, तू?' डाकू अभी क्रूर व्यंग्य ही कर रहा था।

'भाई! तुम जिनके लिये नित्य यह पाप करते हो, उनमेंसे कोई तुम्हारे पापका फल भोगनेमें भाग नहीं लेगा। अपने पापका फल तुम्हें अकेले ही भोगना होगा।' नारदजीने बड़ी मृदुतासे कहा।

'यह कैसे हो सकता है!' डाकू विचलित हो उठा था। 'जो मेरे पापसे कमाये धनका सुख भोगते हैं, वे मेरे पापके फलमें भी भाग तो लेंगे ही।'

'बहुत भोले हो, भाई! पापके फलमें कोई भाग नहीं लेगा। तुम्हें मेरी बातका विश्वास न हो तो घर जाकर उन लोगोंसे पूछ लो।' देवर्षिने बात पूरी कर दी।

'बाबा! तू मुझे मूर्ख बनाना चाहता है। मैं घर पूछने जाऊँ और तू यहाँसे खिसकता बने!' डाकूने फिर शस्त्र सम्हाला।

'तुम मुझे इस पेड़के साथ भलीभाँति बाँध दो।' चुपचाप नारदजी स्वयं एक पेड़से लगकर खड़े हो गये।

अब डाकूको उनकी बात सच्ची लगी। उसने उन्हें पेड़के साथ वनकी लताओंसे भलीभाँति बाँध दिया और स्वयं शीघ्रतापूर्वक घर पहुँचा। घर जाकर उसने पितासे

पूछा—'पिताजी! आप तो जानते ही हैं कि मैं यात्रियोंकी हत्या करके उनके साथकी सामग्री लाता हूँ और उसीसे परिवारका भरण-पोषण करता हूँ। मैं जो नित्य यह पाप करता हूँ, उसके फलमें आपका भी तो भाग है न?'

तनिक खाँसकर पिताने उसकी ओर देखा और कहा—'बेटा! हमने तुम्हारा पालन-पोषण किया, तुम्हें छोटेसे बड़ा किया और अब तुम समर्थ हो गये। हमारी वृद्धावस्था आ गयी। तुम्हारा कर्तव्य है हमारा भरण-पोषण करना। तुम कैसे धन लाते हो, इससे हमें क्या! तुम्हारे पाप-पुण्यमें भला हमारा भाग क्यों होने लगा!'

पहली बार डाकू चौंका। वह माताके पास गया, किंतु माताने भी उसे वही उत्तर दिया जो पिताने दिया था। उसने पत्नीसे पूछा—तो पत्नीने कहा—'स्वामी! मेरा कर्तव्य है आपकी सेवा करना, आपके गुरुजनों तथा परिवारकी सेवा करना। वह अपना कर्तव्य मैं पालन करती हूँ। आपका कर्तव्य है मेरी रक्षा करना और मेरा पोषण करना, वह आप करते हैं। इसके लिये आप कैसे धन लाते हैं, सो आप जानें। आपके उस पापसे मेरा क्या सम्बन्ध! मैं उसमें क्यों भाग लूँगी!'

डाकू निराश हो गया, फिर भी उसने अपने बालक पुत्रसे अन्तमें पूछा। बालकने और स्पष्ट उत्तर दिया—'मैं छोटा हूँ, असमर्थ हूँ, अतः आप मेरा भरण-पोषण करते हैं।' मैं समर्थ हो जाऊँगा, तब आप वृद्ध और असमर्थ हो जायँगे। उस समय मैं आपका भरण-पोषण करूँगा और अवश्य करूँगा। यह तो परस्पर सहायताकी बात है। आपके पापको आप जानें, मैं उसमें कोई भाग लेना नहीं चाहता, न लूँगा।'

डाकूके नेत्रोंके आगे अन्धकार छा गया। जिनके लिये वह इतने पाप कर चुका, वे कोई उस पापका दारुण फल भोगनेमें उसके साथ नहीं रहना चाहते! पश्चात्तापसे जलने लगा उसका हृदय। दौड़ा वह वनकी ओर! वहाँ पहुँचकर देवर्षिके बन्धनकी लताएँ उसने तोड़ फेंकीं और क्रन्दन करता उनके चरणोंपर गिर पड़ा।

'तुम राम-नामका जप करो।' देवर्षिने प्रायश्चित्त बतलाया। किंतु उस निष्ठुरहृदयकी पाप-कलुषित वाणी यह दिव्य नाम सीधा होनेपर भी उच्चारण करनेमें समर्थ नहीं हुई। देवर्षि हारना नहीं जानते, वे जिसे मिल जायँ, वह भगवान्‌के चरणोंसे दूर बना रहे—यह शक्य नहीं। उन्होंने कहा—'चिन्ता नहीं, तुम 'मरा-मरा' ही जपो।'

डाकू वहीं बैठ गया। उसे पता नहीं कि उसके उपदेष्टा कब चले गये। उसकी वाणी लग गयी जपमें—मरा मरा मरा मरा मरा"" दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतते चले गये, किंतु डाकूको कुछ पता नहीं था। उसके शरीरमें दीमक लग गयी, दीमकोंकी पूरी बाँबी (वल्मीक) बन गयी उसके ऊपर।'

डाकूके तपने सृष्टिकर्ताको आश्चर्यमें डाल दिया। वे हंसवाहन स्वयं पधारे वहाँ और अपने कमण्डलुके अमृत-जलसे उन्होंने उस तपस्वीपर छींटे दिये। उन जल-सीकरोंके प्रभावसे उस दीमकोंके वल्मीकसे जो पुरुष निकल खड़ा हुआ, वह अब पूरा बदल चुका था। उसका रूप, रंग, शरीर और हृदय सब दिव्य हो चुका था।

संसार ठीक नहीं जानता कि डाकूका नाम क्या था? कोई-कोई उसे रत्नाकर कहते हैं। किंतु वह जो तपस्वी उठा, वल्मीकसे निकलनेके कारण उसे 'वाल्मीकि' कहा गया। वह आदिकवि, भगवान् श्रीरामके निर्मल यशका प्रथम गायक—विश्व उसकी वन्दना करके आज भी कृतार्थ होता है। रहा होगा वह कभी अज्ञातनामा क्रूर डाकू, किंतु एक क्षणके सत्सङ्गने उसे महत्तम जो बना दिया।

'रघुपति बिपति-दवन'

रघुपति बिपति-दवन।
परम कृपालु, प्रनत-प्रतिपालक, पतित-पवन॥
क्रूर, कुटिल, कुलहीन, दीन, अति मलिन जवन।
सुमिरत नाम राम पठये सब अपने भवन॥
गज-पिंगला-अजामिल-से खल गनै धौं कवन।
तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकी-रवन॥

(विनय-पत्रिका, २१२)

गुरुभक्त आरुणि या उद्दालक

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥*

जीवनमें किसीपर श्रद्धा हो, किसीपर भी पूर्ण विश्वास हो तो बस, बेड़ा पार ही समझो। किसीके वचनको माननेकी इच्छा हो, आज्ञापालनकी दृढ़ता हो तो उसके लिये जीवनमें कौन-सा काम दुर्लभ है। सबसे अधिक श्रद्धेय, सबसे अधिक विश्वसनीय, सबसे अधिक प्रेमास्पद श्रीगुरु भगवान् ही हैं, जो निरन्तर शिष्यका अज्ञान दूर करनेके लिये मनसे चेष्टा करते रहते हैं। गुरुके बराबर दयालु, उनके बराबर हितैषी जगत्‌में कौन होगा। जिन्होंने भी कुछ प्राप्त किया है, गुरुकृपासे ही प्राप्त किया है।

प्राचीन कालमें आजकी भाँति विद्यालय, हाईस्कूल और पाठशालाएँ तथा कॉलेज नहीं थे। विद्वान्, तपस्वी गुरु जंगलोंमें रहते थे, वहीं शिष्य पहुँच जाते थे। वहाँ भी कोई नियमसे कॉपी-पुस्तक लेकर चार-छः घण्टे पढ़ाई नहीं होती थी। गुरु अपने शिष्योंको काम सौंप देते थे, स्वयं भी काम करते थे। काम करते-करते बातों-ही-बातोंमें वे अनेक प्रकारकी शिक्षा दे देते थे और किसीपर गुरुकी परम कृपा हो गयी तो उसे स्वयं ही सब विद्याएँ आ जाती थीं।

ऐसे ही एक आयोद धौम्य नामक ऋषि थे। उनके यहाँ आरुणि, उपमन्यु और वेद नामके तीन विद्यार्थी पढ़ते थे। धौम्य ऋषि बड़े परिश्रमी थे, वे विद्यार्थियोंसे खूब काम लेते थे। किंतु उनके विद्यार्थी भी इतने गुरुभक्त थे कि गुरुजी जो भी आज्ञा देते, उसका पालन वे बड़ी तत्परताके साथ करते। कभी उनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करते। हमारा खयाल है कि उनके कड़े शासनके ही कारण अधिक विद्यार्थी उनके यहाँ नहीं आये। जो आये वे तपानेपर खरा सोना बनकर ही गये। तीनों ही विद्यार्थी आदर्श गुरुभक्त छात्र निकले।

एक दिन खूब वर्षा हो रही थी, गुरुजीने पाञ्चालदेशके आरुणिसे कहा—'बेटा आरुणि! तुम अभी चले जाओ और वर्षामें ही खेतकी मेड़ बाँध आओ, जिससे वर्षाका पानी खेतके बाहर न निकलने पाये। सब पानी बाहर निकल जायगा तो फसल अच्छी न होगी। पानी खेतमें ही सूखना चाहिये।'

गुरुकी आज्ञा पाकर आरुणि खेतपर गया। मूसलाधार पानी पड़ रहा था। खेतमें खूब पानी भरा था, एक जगह बड़ी ऊँची मेड़ थी। वह मेड़ पानीके वेगसे बहुत कट गयी थी। पानी उसमेंसे बड़ी तेजीके साथ निकल रहा था। आरुणिने फावड़ेसे इधर-उधरसे मिट्टी लेकर उसे बाँधना चाहा, किंतु ज्यों ही वह मिट्टी रखता, पहली मिट्टी बह जाती। उसने जी तोड़कर परिश्रम किया, किंतु जलका वेग इतना तीव्र था कि वह पानीको रोक न सका। तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा—गुरुकी आज्ञा है कि पानी खेतसे निकलने न पावे और पानी निरन्तर निकल रहा है। अतः उसे एक बात सूझी। फावड़ेको रखकर वह कटी हुई मेड़की जगह स्वयं लेट गया। उसके लेटनेसे पानी रुक गया। थोड़ी देरमें वर्षा भी बंद हो गयी, किंतु खेतमें पानी भरा हुआ था। वह यदि उठता है तो सब पानी निकल जाता है, अतः वह वहीं चुपचाप पानी रोके पड़ा रहा। वहाँ पड़े-पड़े उसे रात्रि हो गयी।

अन्तःकरणसे सदा भलाईमें निरत रहनेवाले गुरुने शामको अपने सब शिष्योंको बुलाया, उनमें आरुणि नहीं था। गुरुजीने सबसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया?' शिष्योंने कहा—'भगवन्! आपने ही तो उसे प्रातः खेतकी मेड़ बनाने भेजा था।' गुरुने सोचा—'ओहो! प्रातःकालसे अभीतक नहीं आया? चलो चलें, उसका पता लगावें।' यह कहकर वे शिष्योंके साथ प्रकाश लेकर आरुणिकी खोजमें चले। उन्होंने इधर-उधर बहुत ढूँढ़ा, किंतु आरुणि कहीं दीखा ही नहीं। तब गुरुजीने जोरोंसे आवाज दी—'बेटा आरुणि! तुम कहाँ हो? हम तुम्हारी खोज कर रहे हैं।' दूरसे आरुणिने पड़े-ही-पड़े आवाज दी—'गुरुजी! मैं यहाँ मेड़ बना हुआ पड़ा हूँ।'

* गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु, गुरु ही महेश्वर हैं और गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं, उन गुरुको नमस्कार है।

आवाजके सहारे-सहारे गुरुजी वहाँ पहुँचे। उन्होंने जाकर देखा कि आरुणि सचमुच मेड़ बना हुआ पड़ा है और पानीको रोके हुए है। गुरुने कहा—'बेटा! अब तुम निकल आओ।' गुरुजीकी आज्ञा पाकर आरुणि मेड़को काटकर निकल आया, गुरुजीका हृदय भर आया। उन्होंने अपने प्यारे शिष्यको छातीसे चिपटा लिया। प्रेमसे उसका माथा सूँघा और आशीर्वाद दिया—'बेटा! मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हें विना पढ़े ही सब विद्या आ जायगी। तुम जगत्में यशस्वी और भगवद्भक्त होगे। आज से तुम्हारा नाम उद्दालक हुआ।' वे ही आरुणि मुनि उद्दालकके नामसे प्रसिद्ध हुए, जिनका संवाद उपनिषदोंमें आता है।

~~o~~

त्यागमूर्ति महर्षि दधीचि

'परोपकाराय सतां विभूतयः।'*

एक बारकी बात है, देवराज इन्द्र अपनी सभामें बैठे थे। उन्हें अभिमान हो आया कि हम तीनों लोकोंके स्वामी हैं। ब्राह्मण हमें यज्ञमें आहुति देते हैं, देवता हमारी उपासना करते हैं। फिर हम सामान्य ब्राह्मण बृहस्पतिजीसे इतना क्यों डरते हैं? उनके आनेपर खड़े क्यों हो जाते हैं, वे तो हमारी जीविकासे पलते हैं। ऐसा सोचकर वे सिंहासनपर डटकर बैठ गये। भगवान् बृहस्पतिके आनेपर न तो वे स्वयं उठे, न सभासदोंको उठने दिया। देवगुरु बृहस्पतिजी इन्द्रका यह औद्धत्य देखकर लौट गये और कहीं एकान्तमें जाकर छिप गये।

थोड़ी देरके पश्चात् देवराजका मद उतर गया, उन्हें अपनी गलती मालूम हुई। वे अपने कृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप करने लगे, दौड़े-दौड़े गुरुके यहाँ आये; किंतु गुरुजी तो पहले ही चले गये थे, निराश होकर इन्द्र लौट आये। गुरुके बिना यज्ञ कौन कराये, यज्ञके बिना देवता शक्तिहीन हो गये। असुरोंको यह बात मालूम हो गयी, उन्होंने अपने गुरु शुक्राचार्यकी सम्मतिसे देवताओंपर चढ़ाई कर दी। इन्द्रको स्वर्ग छोड़कर भागना पड़ा, स्वर्गपर असुरोंका अधिकार हो गया। पराजित देवताओंको लेकर इन्द्र भगवान् ब्रह्माजीके पास गये, अपना सब हाल सुनाया। ब्रह्माजीने कहा—'त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको अपना पुरोहित बनाकर काम चलाओ।' देवताओंने ऐसा ही किया। विश्वरूप बड़े विद्वान्, वेदज्ञ और सदाचारी थे; किंतु इनकी माता असुर कुलकी थी, इससे ये देवताओंसे छिपाकर असुरोंको भी कभी-कभी भाग दे देते थे। इससे असुरोंके बलकी वृद्धि होने लगी।

इन्द्रको इस बातका पता चला, उन्हें दूसरा कोई उपाय ही न सूझा। एक दिन विश्वरूप एकान्तमें बैठे वेदाध्ययन कर रहे थे कि इन्द्रने पीछेसे जाकर उनका सिर काट लिया। इसपर उन्हें ब्रह्महत्या लगी। जिस किसी प्रकार गुरु बृहस्पतिजी प्रसन्न हुए। उन्होंने यज्ञ आदि कराके ब्रह्महत्याको पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंमें बाँट दिया। इन्द्रका फिरसे स्वर्गपर अधिकार हो गया।

इधर त्वष्टा ऋषिने जब सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार दिया है तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपने तपके प्रभावसे उन्होंने उसी समय इन्द्रको मारनेकी इच्छासे एक बड़े भारी बली पुत्र वृत्रासुरको उत्पन्न किया। वृत्रासुरके पराक्रमसे सम्पूर्ण त्रैलोक्य भयभीत था। उसके ऐसे पराक्रमको देखकर देवराज भी डर गये, वे दौड़े-दौड़े ब्रह्माजीके पास गये। सब हाल सुनाकर उन्होंने ब्रह्माजीसे वृत्रासुरके कोपसे बचनेका कोई उपाय पूछा। ब्रह्माजीने कहा—'देवराज! तुम किसी प्रकार वृत्रासुरसे बच नहीं सकते। वह बड़ा बली, तपस्वी और भगवद्भक्त है। उसे मारनेका एक ही उपाय है कि नैमिषारण्यमें एक महर्षि दधीचि तपस्या कर रहे हैं। उग्र तपके प्रभावसे इनकी हड्डियाँ वज्रसे भी अधिक मजबूत हो गयी हैं। यदि परोपकारकी इच्छासे वह अपनी हड्डी दे दें और उनसे तुम वज्र बनाओ तो वृत्रासुर मर सकता है।'

ब्रह्माजीकी सलाह मानकर देवराज समस्त देवताओंके

* सज्जनोंकी सम्पूर्ण विभूति परोपकारके लिये होती है।

साथ नैमिषारण्यमें पहुँचे। उग्र तपस्यामें लगे हुए भगवान् दधीचिकी उन्होंने भाँति-भाँतिसे स्तुति की। तब ऋषिने

उनसे वरदान माँगनेके लिये कहा। इन्द्रने हाथ जोड़कर कहा—'त्रैलोक्यकी मङ्गलकामनाके निमित्त आप अपनी हड्डी हमें दे दीजिये।'

महर्षि दधीचिने कहा—'देवराज! समस्त देहधारियोंको अपना शरीर प्यारा होता है, स्वेच्छासे इस शरीरको जीवित अवस्थामें छोड़ना बड़ा कठिन होता है; किंतु त्रैलोक्यकी मङ्गलकामनाके निमित्त मैं इस कामको भी करूँगा। मेरी इच्छा तीर्थ करनेकी थी।'

इन्द्रने कहा—'ब्रह्मन्! समस्त तीर्थोंको मैं यहीं बुलाये देता हूँ।' यह कहकर देवराजने समस्त तीर्थोंको नैमिषारण्यमें बुलाया। सभीने ऋषिकी स्तुति की। ऋषिने सबमें स्नान, आचमन आदि किया और वे समाधिमें बैठ गये। जंगली गौने उनके शरीरको अपनी काँटेदार जीभसे चाटना आरम्भ किया। चाटते-चाटते चमड़ी उड़ गयी। तब इन्द्रने उनकी तपःपूत रीढ़की हड्डी निकाल ली, उससे एक महान् शक्तिशाली तेजोमय दिव्य वज्र बनाया गया और उसी वज्रकी सहायतासे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर त्रिलोकीके संकटको दूर किया। इस प्रकार एक महान् परोपकारी ऋषिके अद्वितीय त्यागके कारण देवराज इन्द्र बच गये और तीनों लोक सुखी हुए।

संसारके इतिहासमें ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े मिलेंगे, जिनमें स्वेच्छासे केवल परोपकारके ही निमित्त—जिसमें मान, प्रतिष्ठा आदि अपना निजी स्वार्थ कुछ भी न हो—अपने शरीरको हँसते-हँसते एक याचकको सौंप दिया गया हो। इसलिये भगवान् दधीचिका यह त्याग परोपकारी संतोंके लिये एक परम आदर्श है।

दधीचि ऋषिकी और भी विशेषता देखिये। अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश देनेके कारण इन्द्रने इनका मस्तक उतार लिया था। फिर अश्विनीकुमारोंने इनके धड़पर घोड़ेका सिर चढ़ा दिया और इससे इनका नाम अश्वशिरा विख्यात हुआ था। जिस इन्द्रने इनके साथ इतना दुष्ट बर्ताव किया था, उसी इन्द्रकी सहायता महर्षिने अपनी हड्डी देकर की। संतोंकी उदारता ऐसी ही होती है। वज्र बननेके बाद जो हड्डियाँ बची थीं उन्हींसे शिवजीका पिनाक धनुष बना था। दधीचि ब्रह्माजीके पुत्र अथर्वा ऋषिके पुत्र थे। साभ्रमती और चन्द्रभागाके संगमपर इनका आश्रम था।

~~o~~

मुक्त कौन होता है?

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः। व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः॥
आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः। अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः॥
जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च। लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते॥

(महाभारत, आश्व० १९। २—४)

जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, मनोनिग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जो नियमपरायण और पवित्र रह कर सब प्राणियोंके प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं है तथा जो अभिमानसे दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है। जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंको समभावसे देखता है, वह मुक्त हो जाता है।

~~o~~

महात्मा गोकर्ण

पूर्वकालमें दक्षिण भारतकी तुङ्गभद्रा नदीके तटपर एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ आत्मदेव नामक एक सदाचारी विद्वान् तथा धनवान् ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धुन्धुली था। वह बड़ी कलहकारिणी थी। उस ब्राह्मण-दम्पतीको सब प्रकारके सांसारिक सुख प्राप्त होनेपर भी सन्तानका अभाव बहुत खटकता था। उन्होंने सन्तानके निमित्त बहुत-से उद्योग किये, परंतु सब निष्फल। एक दिन इसी चिन्तामें ब्राह्मण घरसे निकल पड़ा और वनमें जाकर एक तालाबके किनारे बैठ गया। वहाँ उसे एक संन्यासी महात्माके दर्शन हुए। ब्राह्मणने उनसे अपने दुःखका वृत्तान्त कहा। महात्माको ब्राह्मणपर बड़ी दया आयी। उन्होंने उसके ललाटपर लिखी हुई विधाताकी लिपिको बाँचकर कहा—'हे ब्राह्मण! तुम्हारे प्रारब्धमें सात जन्मतक सन्ततिका योग नहीं है। अतः तुम्हें सन्तानकी चिन्ता छोड़कर भगवान्में मन लगाना चाहिये।' परंतु ब्राह्मणको महात्माके वचनोंसे सन्तोष नहीं हुआ। वह बोला—'महाराज! मुझे आपका ज्ञान नहीं चाहिये; मुझे तो सन्तान दीजिये, नहीं तो मैं अभी आपके सामने प्राणत्याग करता हूँ।' ब्राह्मणके इस हठको देखकर महात्माने कहा—'तुम्हारा इस प्रकार हठ करना ठीक नहीं है। विधाताके लेखके विरुद्ध पुत्र प्राप्त होनेसे भी तुम्हें सुख न होगा। किंतु फिर भी तुम न मानो तो यह फल ले जाओ। इसे तुम घर ले जाकर अपनी स्त्रीको खिला दो, इससे तुम्हें पुत्र होगा। परंतु तुम्हारी स्त्रीको चाहिये कि वह पुत्र उत्पन्न होनेके समयतक पवित्रतासे रहे, सत्य बोले, दान करे और एक समय खाकर जीवन निर्वाह करे। इससे तुम्हें अच्छी सन्तान होगी।' यह कहकर ब्राह्मणको उन्होंने एक फल दिया।

ब्राह्मणने ले जाकर फल अपनी स्त्रीको दे दिया। उसकी स्त्रीने सोचा—'फल खानेसे मुझे नियमपूर्वक रहना पड़ेगा और गर्भधारणसे भी कष्ट होगा और पुत्र उत्पन्न हो जानेपर उसके लालन-पालनमें बड़े कष्टोंका सामना करना पड़ेगा। इससे तो बाँझ रहना ही अच्छा है।' यह सोचकर उसने फल अपनी गौको खिला दिया और पतिसे झूठमूठ कह दिया कि मैंने फल खा लिया। उन्हीं दिनों उसकी छोटी बहिन गर्भवती हुई। धुन्धुलीने उसके साथ यह तय कर लिया कि जो सन्तान उसे होगी उसे लाकर वह धुन्धुलीको दे देगी। समय आनेपर धुन्धुलीकी बहिनके एक पुत्र हुआ और उसने उसे लाकर धुन्धुलीको दे दिया। लोकमें यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि धुन्धुलीके पुत्र हुआ है और उसका नाम धुन्धुकारी रखा गया।

तीन मासके अनन्तर गौको भी एक बालक उत्पन्न हुआ। उसके सभी अवयव मनुष्यके-से थे, केवल उसके कान गौके-से थे। इसीलिये उसका नाम गोकर्ण रखा गया।

यही हमारे चरित्रनायक हैं। गोकर्ण देखनेमें बड़े सुन्दर, तेजस्वी और बुद्धिमान् थे। ये थोड़ी ही अवस्थामें बड़े विद्वान् और ज्ञानी हो गये। इधर धुन्धुकारी बड़ा दुश्चरित्र, आचारहीन, क्रोधी, चोर, निर्दयी और वेश्यागामी निकला। वह माता-पिताको भी बहुत दुःख देने लगा और उनका सब धन अपहरण कर वेश्याओंको दे आता। आत्मदेव उसके बर्तावसे बहुत दुःखी होकर रोने लगे। तब गोकर्णने उन्हें समझाया और ज्ञानका उपदेश दिया। पुत्रके उपदेशसे प्रभावित हो वह वृद्ध ब्राह्मण घरसे निकल पड़ा और वनमें जाकर भगवान् श्रीहरिके परायण हो उसने शरीर त्याग दिया।

पिताके चले जानेपर धुन्धुकारीने उनका सारा धन नष्ट कर दिया और अपनी माताको बहुत सताने लगा,

होकर उसने कुएँमें गिरकर प्राण त्याग दिये। गोकर्णने भी अब घरमें रहना उचित नहीं समझा और वे तीर्थयात्राके निमित्त वहाँसे चल दिये। उन्हें माताकी मृत्यु तथा पिताके वनवासका तथा घरकी सारी सम्पत्तिके नष्ट हो जानेका तनिक भी दुःख न हुआ; क्योंकि उनकी सर्वत्र समबुद्धि हो गयी थी, उनकी दृष्टिमें न कोई शत्रु था और न कोई मित्र था। इधर धुन्धुकारी पाँच वेश्याओंको लेकर स्वच्छन्दतापूर्वक घरहीमें रहने लगा। एक दिन उन वेश्याओंने उसे बड़ी निर्दयतापूर्वक मार डाला और उसके शरीरको किसी गड्ढेमें डाल दिया। धुन्धुकारी अपने दूषित कर्मोंसे प्रेतयोनिको प्राप्त हुआ और इधर-उधर भटकता हुआ बहुत क्लेश पाने लगा। गोकर्णने जब उसकी मृत्युका समाचार सुना तो गया जाकर वहाँ उसका श्राद्ध किया और फिर जिस-जिस तीर्थमें वे गये वहाँ उन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक उसे पिण्डदान दिया।

× × ×

गोकर्ण तीर्थयात्रा कर लौट आये। वे जब रातको घरमें सोने गये तो प्रेत बना हुआ धुन्धुकारी वहाँ अनेक प्रकारके उत्पात मचाने लगा। गोकर्णने देखा कि अवश्य ही यह कोई प्रेत है और बड़े धैर्यके साथ उससे पूछा कि तू कौन है और तेरी यह दशा किस प्रकार हुई? यह सुनकर धुन्धुकारी बड़े जोरसे रोने लगा, किंतु चेष्टा करनेपर भी कुछ बोल न सका। तब गोकर्णने अपनी अञ्जलिमें जल लेकर मन-ही-मन कोई मन्त्र पढ़ा और उस जलको उस प्रेतके ऊपर छिड़क दिया, जिससे वह पापमुक्त होकर बोलने लगा। उसने बड़े दीन शब्दोंमें अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उस भीषण यातनासे छूटनेका उपाय पूछा। गोकर्णने सोचा कि जब इसकी गयाश्राद्धसे भी मुक्ति नहीं हुई, तब इसके लिये कोई असाधारण उपाय सोचना पड़ेगा, साधारण उपायोंसे काम नहीं चलेगा। उन्होंने प्रेतसे कहा—'अच्छा, इस समय तुम जाओ। तुम्हारे लिये अवश्य कोई उपाय सोचेंगे, भय न करो।' दूसरे दिन गोकर्णने कई विद्वान् योगी और ब्रह्मवादियोंसे इस विषयमें परामर्श किया। उन सबकी राय यह हुई कि भगवान् सूर्यनारायणसे इस विषयमें पूछा जाय और वे जो उपाय बतायें, वही किया जाय। गोकर्णने उसी समय सबके सामने मन्त्रबलसे भगवान् सूर्यदेवकी गतिको रोककर उनकी स्तुति की और उनसे इस सम्बन्धमें प्रश्न किया। सूर्यदेवने स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा कि इसकी श्रीमद्भागवतसे मुक्ति हो सकती है, उसका सात दिनमें पाठ करो। यह सुनकर गोकर्ण श्रीमद्भागवतके पारायणमें प्रवृत्त हुए।

गोकर्णके द्वारा श्रीमद्भागवतके पाठका समाचार सुनकर आस-पासके गाँवोंके बहुत-से लोग वहाँ एकत्र हो गये। जिस समय व्यासासनपर बैठकर गोकर्णने कथा कहनी शुरू की, उस समय धुन्धुकारी प्रेत भी कथामण्डपमें आया और बैठनेके लिये इधर-उधर स्थान ढूँढ़ने लगा। उसने देखा कि वहाँ सात गाँठका एक ऊँचा-सा बाँस खड़ा है। वह वायुरूप होकर उसीकी जड़के एक छिद्रमें घुसकर बैठ गया, ज्यों ही सायंकाल हुआ और पहले दिनकी कथा समाप्त हुई लोगोंने देखा कि उस बाँसकी एक गाँठ बड़ी कड़कड़ाहटके साथ टूट गयी। दूसरे दिन दूसरी गाँठ और तीसरे दिन तीसरी गाँठ टूटी। इस प्रकार सात दिनमें उस बाँसकी सातों गाँठें टूट गयीं और कथा समाप्त होते-होते वह धुन्धुकारी प्रेतयोनिको त्यागकर दिव्य रूपको प्राप्त हो गया। लोगोंने देखा, उसके गलेमें तुलसीकी माला पड़ी हुई है, मस्तकपर मुकुट विराजमान

है, कानोंमें कुण्डल सुशोभित हैं, उसका श्यामवर्ण है और वह पीताम्बर पहने हुए है। वह गोकर्णके सामने आकर खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भाई गोकर्ण, तुमने मुझपर बड़ी दया की, जो मुझे इस प्रेतयोनिसे छुड़ाया। अब मैं इस दिव्य शरीरको प्राप्तकर भगवान्के परमधामको जा रहा हूँ। देखो, मेरे लिये यह विमान खड़ा है और भगवान् विष्णुके पार्षद

मुझे बुला रहे हैं।' यह कहकर वह सब लोगोंके देखते हुए विमानपर आरूढ़ होकर भगवान् विष्णुके परमधामको चला गया।

श्रावणके महीनेमें गोकर्णने फिर उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकी कथा कही। कथासमाप्तिके दिन स्वयं भगवान् अपने पार्षदों-सहित अनेक विमानोंको साथ लेकर वहाँ प्रकट हुए और जय-जयकारकी ध्वनिसे आकाश गूँज उठा। भगवान्ने स्वयं अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया और गोकर्णको हृदयसे लगाकर अपना चतुर्भुज रूप प्रदान किया। देखते-देखते मण्डपमें उपस्थित श्रोतागण भी विष्णुरूप हो गये और उस गाँवके और भी जितने लोग थे, वे सब-के-सब महात्मा गोकर्णकी कृपासे विमानोंपर बैठकर योगिदुर्लभ विष्णुलोकको चले गये। भक्तवत्सल भगवान् भी अपने भक्तको साथ लेकर गोलोकको चले गये। इस प्रकार उस महान् संतने अपनी भक्तिके प्रभावसे गाँवभरका उद्धार कर दिया। बोलो भक्त और भगवान्की जय! (पद्मपुराण)

माता यशोदाका वात्सल्य

अङ्काधिरूढं शिशुगोपगूढं
स्तनं धयन्तं कमलैककान्तम्।
सम्बोधयामास मुदा यशोदा
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

महाभाग्यवती यशोदाजीके सौभाग्यका वर्णन कौन कर सकता है, जिनके स्तनोंको साक्षात् ब्रह्माण्डनायकने पान किया है। संसारमें अनेक प्रकारके भक्त हैं, उनकी इच्छाके अनुसार भगवान्ने अनेक रूप धारण किये। नीच-से-नीच काम किये, छोटी-से-छोटी सेवा भगवान्ने की। कहीं नाई बनकर पैर दबाये, तो कहीं महार बने। धर्मराजके यज्ञमें सबके चरण पखारते रहे, किंतु उनको बाँधा किसीने नहीं। छड़ी लेकर ताड़ना देनेका सौभाग्य महाभाग्यवती यशोदाजीको ही हुआ। ऐसा सुख, ऐसा वात्सल्य-आनन्द संसारमें किसीको भी प्राप्त न हुआ, न होगा। इसीलिये महाराज परीक्षित्ने पूछा है, महाभागा यशोदाने ऐसा कौन-सा सुकृत किया था, जिसके कारण श्रीहरिने उनके स्तनोंका पान किया?

नन्दबाबाकी रानी यशोदा मैयाके कोई सन्तान नहीं थी। वृद्धावस्थामें आकर श्यामसुन्दर उनके लाड़ले लाल बने। माताके हर्षका ठिकाना नहीं। आँखोंकी पुतलीकी तरह वे अपने श्यामसुन्दरको देख-रेख करने लगीं। यद्यपि वे बाहरसे काम करती थीं, किंतु उनका मन सदा श्यामसुन्दरकी ओर लगा रहता था। श्यामसुन्दर उनकी आँखोंसे ओझल न हों, मनमोहन सदा उसके हृदयमन्दिरके आँगनमें क्रीडा करते रहें। चर्मचक्षु भी अनिमेषभावसे उन्हें देखते रहें। किंतु यह बालक अद्भुत था, जन्मके थोड़े ही दिन बाद पूतनाने आकर इसे मारना चाहा, वह स्वयं मारी गयी। शकटासुरने माया फैलायी, उसका भी अन्त हुआ। व्योमासुरने जाल रचा, वह भी यमलोक सिधारा। इस प्रकार रोज ही नये-नये उत्पात होने लगे। माताको बड़ी शंका हुई, बच्चा बड़ा चञ्चल है। इसकी चञ्चलता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है, पता नहीं, क्या घटना घट जाय। एक दिन माता दूध पिला रही थी, उधर दूध उफना। बच्चेको वहीं जमीनपर रखकर दूधको देखने गयीं। चञ्चल भगवान् ही जो ठहरे। दहीकी मटकी फोड़ दी, माखन फेंक दिया, बन्दरोंको बुला लिया। माताने देखा यह तो बड़ा

* अपनी गोदमें बैठकर दूध पीते हुए बालगोपालरूपधारी भगवान् लक्ष्मीकान्तको लक्ष्य करके प्रेमानन्दमें मग्न हुई माता यशोदा इस प्रकार बुलाया करती थीं—'ऐ मेरे गोविन्द! ऐ मेरे दामोदर! ऐ मेरे माधव!'

अनर्थ हुआ, देखते ही भागेगा और पता नहीं कहाँ जाय। धीरेसे पकड़ लिया और बोली—'अब बता, तू बड़ी चञ्चलता करता है। घरमें टिकता ही नहीं, मैं तुझे बाँधूँगी।' यह कहकर ओखलीसे उन्हें बाँध दिया। जो कभी नहीं बँधे थे, वे बँध तो गये, किंतु उनका बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिके ही लिये था। ओखलीको घसीटते हुए यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें पहुँचे और उन्हें अपने पावन स्पर्शसे शापमुक्त कर दिया। नन्दजीने देखा कि उत्पात बढ़ रहे हैं तो वे अपने शकटोंको जोतकर ज्ञाति-बन्धुओं और गौओंके साथ श्रीवृन्दावन चले गये।

वृन्दावनमें उन वृन्दावनविहारीने अनन्त लीलाएँ कीं। उनका वर्णन कौन कर सकता है, किंतु यशोदाजीको जो महान् विकलता हुई, वह एक ही घटना थी। कालियह्रदमें एक विषधर नाग रहता था। उसने समस्त यमुनाजीके जलको विषैला बना दिया था। खेलते समय गेंद उस ह्रदमें गिर गयी। उसीके आधारपर मुरारी कदम्बकी डाली पकड़कर कालियह्रदमें कूद पड़े। सर्वत्र हाहाकार मच गया। ब्रजवासी दौड़े आये। यशोदामैयाने भी सुना। भला, उनके दुःखका क्या पूछना है। वे अपने प्यारे बच्चेको न पाकर छटपटाने लगीं। उन्होंने बड़े आर्तस्वरमें कहा—'अरे, कोई मेरे बच्चेको बचा दो, मुझे मेरे छौनेको दिखा दो।' रोते-रोते वे उस कुण्डमें कूदने लगीं। जैसे-तैसे गोपियोंने उन्हें पकड़ा। अब नागको नाथकर नन्दनन्दन बाहर आ गये तो माताने उन्हें छातीसे चिपटा लिया। प्रेमके अश्रुओंसे नहला दिया!

समय बदला। उन लीलाओंकी स्मृतिका अवसर आया। अक्रूरके साथ घनश्याम मथुरा चले गये। माताको आशा थी कि जल्दी आयेंगे, किंतु वह 'जल्दी' फिर आयी नहीं। उसके स्थानमें उद्धव संदेश लेकर आये। उन्हें देखते ही नन्दजीने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। पासमें बैठी हुई वियोगिनी माता अपने पुत्रोंकी सब बातें सुन रही थी। रह-रहकर उसके हृदयमें हूक उठ रही थी। उन स्मरणोंके आते ही माताकी विचित्र दशा हो गयी।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥

उनकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु बह रहे थे, स्तनोंमे दूध निकल रहा था, वे स्मृतियाँ रह-रहकर उन्हें रुला रही थीं—

'ते हि नो दिवसा गताः'

यशोदा धन्य हैं, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीलाओंका आनन्द लूटा। देवकीजी तो इस सुखसे वञ्चित ही रहीं।

~~o~~

महादेवी कुन्तीका उदात्त चरित

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥*

हमारे यहाँ शास्त्रोंमें पाँच देवियाँ नित्यकन्याएँ मानी गयी हैं। उनमें महारानी कुन्ती भी हैं। ये वसुदेवजीकी बहिन थीं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी फूआ। महाराज कुन्तिभोजसे इनके पिताकी मित्रता थी, उनके कोई संतान नहीं थी, अतः ये कुन्तिभोजके यहाँ गोद आयीं और उन्हींकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम कुन्ती पड़ा। बाल्यकालमें ये साधु-महात्माओंकी बहुत सेवा किया करती थीं, घरमें जो भी कोई अतिथि-साधु आता, ये हर प्रकारसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करतीं। एक बार महर्षि दुर्वासा इनके यहाँ आये और ये बरसातके चार मासोंमें इन्हींके यहाँ ठहर गये। कुन्तीजीने

* कुन्तीजी [illegible] और आप[illegible] सदा विपत्तियाँ ही आती रहें; क्योंकि आपके दर्शन विपत्तियोंमें ही होते हैं मनुष्य आवागमनसे रहित हो जाता है।'

उनकी तन-मनसे खूब सेवा की। चलते समय महर्षि इन्हें एक मन्त्र दे गये और कह गये कि 'सन्तानकामनासे तू जिस किसी देवताका स्मरण करेगी, वह उसी समय अपने दिव्य तेजसे आ जायगा, इससे तेरा कन्याभाव नष्ट न होगा।' ऋषिके चले जानेपर इन्होंने बालकपनके कुतूहलवश भगवान् सूर्यदेवका आवाहन किया। सूर्यदेव आये, ये डर गयीं, उन्होंने आश्वासन दिया, उन्हींसे दानी कर्णकी उत्पत्ति हुई, जिन्हें लोकापवादके कारण इन्होंने नदीमें छोड़ दिया और एक सारथिने अपना पुत्र बनाया। महाराज पाण्डुके साथ इनका विवाह हुआ, वे राजपाट छोड़कर वनको चले गये। वनमें ही इनके धर्म, इन्द्र, पवनके अंशसे युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई और माद्रीसे अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल, सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुका शरीरान्त होनेपर माद्री तो उनके साथ सती हो गयीं और ये बच्चोंकी रक्षाके लिये जीवित रह गयीं। इन्होंने पाँचों पुत्रोंको अपनी ही कोखसे उत्पन्न हुआ माना, कभी स्वप्नमें भी उनमें भेदभाव नहीं किया।

पाण्डवोंको जब देशनिकाला हुआ, तो ये दुःखके साथ विदुरके घरमें रहीं, पुत्रोंकी मङ्गलकामना ईश्वरसे करती रहीं, इससे पूर्व जब दुर्योधनने लाक्षागृहमें पाँचों पाण्डवोंको जलानेका षड्यन्त्र रचा था, तब माता कुन्ती साथ ही थीं और साथ ही वहाँसे छिपकर भागीं। तब पाण्डवोंपर बड़ी विपत्ति थी। वे भीख माँगकर खाते थे, माता उनकी सब प्रकारसे रक्षा करतीं और सबको यथायोग्य भोजन देतीं। ये इतनी दयावती थीं कि जिस ब्राह्मणके यहाँ रहती थीं, उसके घरसे एक दिन उसका पुत्र राक्षसके पास उसके भोजनके लिये जा रहा था। ब्राह्मणी अपने इकलौते पुत्रको जाते देख रो रही थी। माता कुन्तीको दया आयी और कहा—'मेरे पाँच पुत्र हैं, एक चला जायगा।' जब ब्राह्मणीने बहुत मना किया तो बोलीं—'मेरा पुत्र उस राक्षसको मार डालेगा।' ऐसा ही हुआ। भीमने उस राक्षसको मारकर सारी नगरीको सदाके लिये सुखी बना दिया।

वे दयावती होनेके साथ ही वीरमाता थीं। जब जूएमें युधिष्ठिर हार गये और तेरह वर्षके वनवासके बाद भी दुर्योधन पाण्डवोंको कुछ भी देनेके लिये राजी नहीं हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दूत बनकर हस्तिनापुर आये। दुर्योधनको बहुत समझाया, वह माना ही नहीं। उसने स्पष्ट कह दिया—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

'हे माधव! सूईके अग्रभागके बराबर भी पृथ्वी मैं बिना युद्धके न दूँगा।' तब भगवान् माता कुन्तीके पास आये और बोले—'ऐसी दशामें अब तुम अपने पुत्रोंको क्या संदेश देती हो?' तब कुन्तीजीने बड़ी ही वीरतासे कहा—

'यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥'

'क्षत्रियाणी जिस समयके लिये पुत्रोंको पैदा करती है, वह समय—अर्थात् युद्ध करनेका समय अब आ गया; मेरे पुत्रोंसे कह देना, लड़कर वे अपना अधिकार प्राप्त करें।' यह है एक वीरमाताका पुत्रोंके लिये आदेश!

जिसकी सम्भावना थी, वही हुआ। महाभारतका युद्ध हुआ। अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हुआ। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र मारे गये। गान्धारी पुत्रहीना बन गयी, वह रोती हुई युद्धभूमिमें गयी, कुन्ती उसे पकड़कर ले गयीं और भाँति-भाँतिसे धैर्य बँधाने लगीं। माता कुन्तीने सच्चे मनसे उन पतिव्रता गान्धारीकी सब प्रकारसे सेवा की।

माता कुन्तीने कभी शारीरिक सुख नहीं भोगा; जबसे वह विवाहित होकर आयीं, उन्हें विपत्तियोंका ही सामना करना पड़ा। पति रोगी थे, उनके साथ जंगलोंमें भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुए, उनकी देख-रेख की, थोड़े दिन हस्तिनापुरमें पुत्रोंके साथ रहीं, वह भी दूसरेकी आश्रिता बनकर। फिर लाक्षागृहसे किसी प्रकार अपने पुत्रोंको लेकर भागीं और भिक्षाके अन्नपर जीवन बिताती रहीं। थोड़े दिन राज्य-सुख भोगनेका समय आया कि धर्मराज युधिष्ठिर कपटके जूएमें सर्वस्व हारकर वनवासी बने, तब विदुरके घरमें रहकर जैसे-तैसे जीवन बिताती रहीं। युद्ध हुआ, परिवारवालोंका संहार हुआ, इससे कुन्तीको क्या सुख। उन्होंने अपने सुखके लिये युद्धकी सम्मति थोड़े ही दी थी, वह तो उन्होंने क्षत्रियोंका धर्म बताया था। पाण्डवोंकी विजय होनेसे क्या हुआ। वह पाण्डवोंके साथ राज्यभोगमें सम्मिलित नहीं हुईं। उन्होंने तो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने उन अन्धे जेठ धृतराष्ट्र और जिठानी गान्धारीकी सेवामें अर्पण कर दिया, जिन धृतराष्ट्र और गान्धारीके पुत्रोंने इन्हें और इनके पुत्रोंको इतने कष्ट दिये थे! गान्धारी और धृतराष्ट्र जब पुत्रवियोगसे दुःखी होकर जंगलोंमें चले तो उनकी लाठी पकड़कर पुत्रोंका मोह छोड़कर कुन्तीदेवी उनके साथ हो लीं। इस प्रकार उनका जीवन सदा विपत्तिमें ही कटा। इस विपत्तिमें भी उन्हें मुख

अनर्थ हुआ, देखते ही भागेगा और पता नहीं कहाँ जाय। धीरेसे पकड़ लिया और बोली—'अब बता, तू बड़ी चञ्चलता करता है। घरमें टिकता ही नहीं, मैं तुझे बाँधूँगी।' यह कहकर ओखलीसे उन्हें बाँध दिया। जो कभी नहीं बँधे थे, वे बँध तो गये, किंतु उनका बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिके ही लिये था। ओखलीको घसीटते हुए यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें पहुँचे और उन्हें अपने पावन स्पर्शसे शापमुक्त कर दिया। नन्दजीने देखा कि उत्पात बढ़ रहे हैं तो वे अपने शकटोंको जोतकर ज्ञाति-बन्धुओं और गौओंके साथ श्रीवृन्दावन चले गये।

वृन्दावनमें उन वृन्दावनविहारीने अनन्त लीलाएँ कीं। उनका वर्णन कौन कर सकता है, किंतु यशोदाजीको जो महान् विकलता हुई, वह एक ही घटना थी। कालियह्रदमें एक विषधर नाग रहता था। उसने समस्त यमुनाजीके जलको विषैला बना दिया था। खेलते समय गेंद उस ह्रदमें गिर गयी। उसीके आधारपर मुरारी कदम्बकी डाली पकड़कर कालियह्रदमें कूद पड़े। सर्वत्र हाहाकार मच गया। व्रजवासी दौड़े आये। यशोदामैयाने भी सुना। भला, उनके दुःखका क्या पूछना है। वे अपने प्यारे बच्चेको न पाकर छटपटाने लगीं। उन्होंने बड़े आर्तस्वरमें कहा—'अरे, कोई मेरे बच्चेको बचा दो, मुझे मेरे छौनेको दिखा दो।' रोते-रोते वे उस कुण्डमें कूदने लगीं। जैसे-तैसे गोपियोंने उन्हें पकड़ा। अब नागको नाथकर नन्द[illegible] बाहर आ गये तो माताने उन्हें छातीसे चिपटा लिया। [illegible] अश्रुओंसे नहला दिया।

समय बदला। उन लीलाओंकी स्मृतिका अ[illegible] आया। अक्रूरके साथ घनश्याम मथुरा चले गये। मा[illegible] आशा थी कि जल्दी आयेंगे, किंतु वह 'जल्दी' फिर [illegible] नहीं। उसके स्थानमें उद्धव संदेश लेकर आये। उन्हें दे[illegible] ही नन्दजीने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। पासमें बैठी [illegible] वियोगिनी माता अपने पुत्रोंकी सब बातें सुन रही थी। [illegible] रहकर उसके हृदयमें हूक उठ रही थी। उन स्मरणोंके [illegible] ही माताकी विचित्र दशा हो गयी।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥

उनकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु बह रहे थे, स्त[illegible] दूध निकल रहा था, वे स्मृतियाँ रह-रहकर उन्हें रुला [illegible] थीं—

'ते हि नो दिवसा गताः'

यशोदा धन्य हैं, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी [illegible] बाल-लीलाओंका आनन्द लूटा। देवकीजी तो इस सु[illegible] वञ्चित ही रहीं।

महादेवी कुन्तीका उदात्त चरित

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥*

हमारे यहाँ शास्त्रोंमें पाँच देवियाँ नित्यकन्याएँ म[illegible] गयी हैं। उनमें महारानी कुन्ती भी हैं। ये वसुदेवजी[illegible] बहिन थीं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी फूआ। महार[illegible] कुन्तिभोजसे इनके पिताकी मित्रता थी, उनके कोई सं[illegible] नहीं थी, अतः ये कुन्तिभोजके यहाँ गोद आयीं और उन्हीं[illegible] पुत्री होनेके कारण इनका नाम कुन्ती पड़ा। बाल्यकालमें [illegible] साधु-महात्माओंकी बहुत सेवा किया करती थीं, घरमें [illegible] भी कोई अतिथि-साधु आता, ये हर प्रकारसे उसकी सेव[illegible] शुश्रूषा करतीं। एक बार महर्षि दुर्वासा इनके यहाँ आ[illegible] और वे बरसातके चार महीने इन्हींके यहाँ ठहर गये। कुन्तीज[illegible]

* कुन्तीजी भगवान्से प्रार्थना करती हैं—'हे जगद्गुरो! हमपर सदा विपत्तियाँ ही आती रहें; क्योंकि आपके दर्शन विपत्तिमें ही होते [illegible]

उनकी तन-मनसे खूब सेवा की। चलते समय महर्षि इन्हें एक मन्त्र दे गये और कह गये कि 'सन्तानकामनासे तू जिस किसी देवताका स्मरण करेगी, वह उसी समय अपने दिव्य तेजसे आ जायगा, इससे तेरा कन्याभाव नष्ट न होगा।' ऋषिके चले जानेपर इन्होंने बालकपनके कुतूहलवश भगवान् सूर्यदेवका आवाहन किया। सूर्यदेव आये, ये डर गयीं, उन्होंने आश्वासन दिया. उन्हींसे दानी कर्णकी उत्पत्ति हुई, जिन्हें लोकापवादके कारण इन्होंने नदीमें छोड़ दिया और एक सारथिने अपना पुत्र बनाया। महाराज पाण्डुके साथ इनका विवाह हुआ, वे राजपाट छोड़कर वनको चले गये। वनमें ही इनके धर्म, इन्द्र, पवनके अंशसे युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई और माद्रीसे अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल, सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुका शरीरान्त होनेपर माद्री तो उनके साथ सती हो गयीं और ये बच्चोंकी रक्षाके लिये जीवित रह गयीं। इन्होंने पाँचों पुत्रोंको अपनी ही कोखसे उत्पन्न हुआ माना, कभी स्वप्नमें भी उनमें भेदभाव नहीं किया।

पाण्डवोंको जब देशनिकाला हुआ, तो ये दुःखके साथ विदुरके घरमें रहीं, पुत्रोंकी मङ्गलकामना ईश्वरसे करती रहीं, इससे पूर्व जब दुर्योधनने लाक्षागृहमें पाँचों पाण्डवोंको जलानेका षड्यन्त्र रचा था, तब माता कुन्ती साथ ही थीं और साथ ही वहाँसे छिपकर भागीं। तब पाण्डवोंपर बड़ी विपत्ति थी। वे भीख माँगकर खाते थे, माता उनकी सब प्रकारसे रक्षा करतीं और सबको यथायोग्य भोजन देतीं। ये इतनी दयावती थीं कि जिस ब्राह्मणके यहाँ रहती थीं, उसके घरसे एक दिन उसका पुत्र राक्षसके पास उसके भोजनके लिये जा रहा था। ब्राह्मणी अपने इकलौते पुत्रको जाते देख रो रही थी। माता कुन्तीको दया आयी और कहा—'मेरे पाँच पुत्र हैं, एक चला जायगा।' जब ब्राह्मणीने बहुत मना किया तो बोलीं—'मेरा पुत्र उस राक्षसको मार डालेगा।' ऐसा ही हुआ। भीमने उस राक्षसको मारकर सारी नगरीको सदाके लिये सुखी बना दिया।

वे दयावती होनेके साथ ही वीरमाता थीं। जब जूएमें युधिष्ठिर हार गये और तेरह वर्षके वनवासके बाद भी दुर्योधन पाण्डवोंको कुछ भी देनेके लिये राजी नहीं हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दूत बनकर हस्तिनापुर आये। दुर्योधनको बहुत समझाया, वह माना ही नहीं। उसने स्पष्ट कह दिया—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

'हे माधव! सूईके अग्रभागके बराबर भी पृथ्वी मैं बिना युद्धके न दूँगा।' तब भगवान् माता कुन्तीके पास आये और बोले—'ऐसी दशामें अब तुम अपने पुत्रोंको क्या संदेश देती हो?' तब कुन्तीजीने बड़ी ही वीरतासे कहा—

'यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥'

'क्षत्रियाणी जिस समयके लिये पुत्रोंको पैदा करती है, वह समय—अर्थात् युद्ध करनेका समय अब आ गया; मेरे पुत्रोंसे कह देना, लड़कर वे अपना अधिकार प्राप्त करें।' यह है एक वीरमाताका पुत्रोंके लिये आदेश!

जिसकी सम्भावना थी, वही हुआ। महाभारतका युद्ध हुआ। अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हुआ। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र मारे गये। गान्धारी पुत्रहीना बन गयी, वह रोती हुई युद्धभूमिमें गयी, कुन्ती उसे पकड़कर ले गयीं और भाँति-भाँतिसे धैर्य बँधाने लगीं। माता कुन्तीने सच्चे मनसे उन पतिव्रता गान्धारीकी सब प्रकारसे सेवा की।

माता कुन्तीने कभी शारीरिक सुख नहीं भोगा; जबसे वह विवाहित होकर आयीं, उन्हें विपत्तियोंका ही सामना करना पड़ा। पति रोगी थे, उनके साथ जंगलोंमें भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुए, उनकी देख-रेख की, थोड़े दिन हस्तिनापुरमें पुत्रोंके साथ रहीं, वह भी दूसरेकी आश्रिता बनकर। फिर लाक्षागृहसे किसी प्रकार अपने पुत्रोंको लेकर भागीं और भिक्षाके अन्नपर जीवन बिताती रहीं। थोड़े दिन राज्य-सुख भोगनेका समय आया कि धर्मराज युधिष्ठिर कपटके जूएमें सर्वस्व हारकर वनवासी बने, तब विदुरके घरमें रहकर जैसे-तैसे जीवन बिताती रहीं। युद्ध हुआ, परिवारवालोंका संहार हुआ, इससे कुन्तीको क्या सुख। उन्होंने अपने सुखके लिये युद्धकी सम्मति थोड़े ही दी थी, वह तो उन्होंने क्षत्रियोंका धर्म बताया था। पाण्डवोंकी विजय होनेसे क्या हुआ। वह पाण्डवोंके साथ राज्यभोगमें सम्मिलित नहीं हुईं। उन्होंने तो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने उन अन्धे जेठ धृतराष्ट्र और जिठानी गान्धारीकी सेवामें अर्पण कर दिया, जिन धृतराष्ट्र और गान्धारीके पुत्रोंने इन्हें और इनके पुत्रोंको इतने कष्ट दिये थे! गान्धारी और धृतराष्ट्र जब पुत्रवियोगसे दुःखी होकर जंगलोंमें चले तो उनकी लाठी पकड़कर पुत्रोंका मोह छोड़कर कुन्तीदेवी उनके साथ हो लीं। इस प्रकार उनका जीवन सदा विपत्तिमें ही कटा। इस विपत्तिमें भी उन्हें सुख

था। वे इस विपत्तिको भगवान्‌से चाहती थीं और हृदयसे इसे विपत्ति मानती भी नहीं थीं।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्ति यथार्थ विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवान्‌का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।' सो उन्हें भगवान्‌का विस्मरण कभी हुआ नहीं, अतः वे सदा सुखमें ही रहीं।

~~~ ० ~~~

बचपनके संस्कारको मौत भी नहीं मिटा सकी

[दो वीर बालकोंकी कथा]

बादशाह औरंगजेब गुरु गोविन्दसिंहकी बढ़ती हुई शक्तिसे और उनपर किये गये आक्रमणोंकी असफलतासे झुँझला गया था। उसने शाही फरमान जारी किया कि जो व्यक्ति गुरु गोविन्दसिंहको पकड़कर या उनका सिर काटकर मेरे सामने पेश करेगा, उसे मुँहमाँगा इनाम दिया जायगा। यह शाही फरमान भी व्यर्थ गया, न तो कोई गुरुजीको गिरफ्तार कर सका और न कोई उनका सिर ही काट सका। बादशाहके कुछ सैनिक गुरु गोविन्दसिंहके दो बालकों—जोरावरसिंह और फतेहसिंहको गिरफ्तार करनेमें सफल हो गये। बादशाहके सैनिकोंने दोनों बच्चोंको सरहिन्दके नवाबको सौंप दिया। सरहिन्दके नवाबने गुरु गोविन्दसिंहके दिलको चोट पहुँचानेके लिये दोनों बच्चोंको मुसलमान बनानेकी सोची। सूबा सरहिन्द वजीद खाँने भरे दरबारमें बच्चोंसे पूछा—'ऐ बच्चो! तुमलोगोंको दीन इस्लामकी गोदमें आना मंजूर है या कतल होना?' बच्चोंको तो प्रारम्भसे ही कण-कणसे यह संस्कार पड़ चुका था, उनके पूर्वजोंने तिल-तिल कष्ट सहकर भी मरना स्वीकार किया था, परंतु अपना धर्म छोड़ना स्वीकार नहीं किया था। इनके पिता गुरु गोविन्दसिंहके प्रपितामह गुरु अर्जुनदेवने धर्मके लिये जैसा बलिदान दिया, वैसा कष्टकर बलिदान इतिहासमें दूसरा देखा-सुना नहीं जाता। बच्चोंको बताया गया था कि बादशाह जहाँगीर गुरु अर्जुनदेवको मुसलमान बनाना चाहता था, अपनी इस चाहको उसने 'तुजुक जहाँगीरी' में लिख रखा था। एक दिन उसने गुरु अर्जुनदेवको लाहौरसे पकड़ मँगवाया और उन्हें अपने एक हाकिम चन्दूशाहके हवाले करके तड़पा-तड़पाकर मारनेका हुक्म दे स्वयं कश्मीर चला गया, ताकि गुरु अर्जुनदेव डरकर इस्लाम धर्म कबूल कर लें। जेठकी जलती हुई दोपहरीमें गरम तवेपर गुरुजीको बैठाया जाता, नीचेसे आँच तेज की जाती और ऊपरसे गरम रेत डाली जाती; फिर उन्हें खौलते हुए पानीके डेगमें डाला जाता। यह क्रम तबतक चलता रहा, जबतक कि वे शहीद नहीं हो गये। दोनों बच्चोंने शहीद होनेके इतने कष्टदायक वृत्तान्तको सुना था, जिससे बचपनमें ही उनके मनमें यह संस्कार दृढ़ हो गया था कि हमें भी इसी प्रकार अपने धर्मकी बलिवेदीपर शहीद होना चाहिये, पर अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिये।

सूबा सरहिन्द वजीद खाँने भी इन बच्चोंको घोर तड़पन हो, इसलिये एक नयी तरकीब निकाली। बच्चोंसे कहा गया कि अगर तुम इस्लाम धर्म नहीं कबूल करोगे तो तुम्हें दीवारमें चुनवा दिया जायगा, तुम साँस भी नहीं ले पाओगे और दम तोड़ दोगे। बच्चोंके संस्कारने कहा कि किसी भी प्रकारसे मरना स्वीकार है, परंतु अपने प्राणप्रिय धर्मको छोड़ना स्वीकार नहीं है। दीवार खड़ी होने लगी, बच्चे बड़ी वीरताके साथ सब देखते रहे। उनके चेहरेसे प्रसन्नता झलक रही थी, उनके संस्कार बोल रहे थे कि बहुत दिनोंके बाद उन्हें अपने पूर्वज गुरु अर्जुनदेवकी भाँति शहीद होनेका अवसर मिला है। यह अवसर भी अनूठा है। दीवार उठते-उठते छोटे भाई फतेहसिंहके गलेतक आ गयी, यह देखकर बड़े भाई जोरावरसिंहकी आँखोंमें आँसू आ गये। यह देखकर वजीद खाँ बहुत खुश हुआ और बोला 'रो क्यों रहे हो, इस्लाम कबूल कर लो, तुम्हें जन्नतसे बढ़कर सुख दूँगा।' जोरावरने सिंह-गर्जना करते हुए कहा, 'अरे नराधम! मुझे इस बातका रोना आ रहा है कि मैं बड़ा भाई हूँ, पहले शहीद होनेका मौका मुझे मिलना चाहिये था, परंतु मेरा छोटा भाई इसमें मुझसे आगे निकल गया।'

दोनों भाइयोंका बचपनका संस्कार इतना अमिट हो गया था कि मौत भी उनके संस्कारोंको नहीं मिटा सकी।

(ला०वि०मि०)

~~~ ० ~~~

भक्तिके संस्कारसे सुसंस्कृत दो बालकोंके चरित्र

(सौ० सुनीलाजी परांजपे)

माताकी सत्-शिक्षाओंसे बालकपर संस्कार कितना दृढ़ हो जाता है और गर्भस्थ शिशुपर उपदेशोंके माध्यमसे भक्तिका संस्कार कितना सुदृढ़ हो जाता है, इस सम्बन्धमें बालक ध्रुव तथा बालक प्रह्लादके संस्कारसम्पन्न चरित्र यहाँ प्रस्तुत हैं—

१-बालक ध्रुवके भक्तिके संस्कार

कई युगों पहले महाराज स्वायम्भुव मनु हुए थे। उन्हें उनकी पत्नी महारानी शतरूपासे दो पुत्र हुए—१. प्रियव्रत तथा २. उत्तानपाद। महाराज उत्तानपादकी सुरुचि एवं सुनीति नामक दो पत्नियाँ थीं। उनमेंसे महारानी सुरुचिके पुत्रका नाम उत्तम एवं सुनीतिके पुत्रका नाम ध्रुव था।

एक दिन राजा उत्तानपाद महारानी सुरुचिके पुत्र कुमार उत्तमको अपने अङ्कमें बिठाकर प्रेम प्रकट कर रहे थे, तभी कुमार ध्रुवने भी अपने पितासे उनके अङ्कमें बैठनेकी इच्छा

प्रकट की। इसपर महारानी सुरुचिने ईर्ष्यापूर्वक ध्रुवको डाँटते हुए कहा—'तुम राजा उत्तानपादके पुत्र होते हुए भी राजसिंहासनपर बैठनेके अधिकारी नहीं हो; क्योंकि तुम मेरी कुक्षिसे उत्पन्न नहीं हुए हो। अतः यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा है तो तुम्हें भगवान् नारायणकी उपासना करके उनसे प्राप्त वरके द्वारा मेरे गर्भसे जन्म लेना पड़ेगा।'

अपनी विमाताके दुर्वचनोंको सुनकर कुमार ध्रुव रोते हुए अपनी माताके पास गये एवं उनसे लिपटकर उन्हें सारी बातें कह सुनायीं। बालक ध्रुवकी बातें सुनकर सुनीतिने कहा—'वत्स! महारानी सुरुचिने उचित ही कहा है कि यदि तुम राजसिंहासनपर बैठना चाहते हो तो द्वेषभावनाका त्यागकर भगवान् नारायणकी आराधना करो—

> आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
> मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम्।
> आराधयाधोक्षजपादपद्मं
> यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा॥
> (श्रीमद्भा० ४।८।१९)

बेटा! तुम्हारे पितामह एवं प्रपितामह (महाराज मनु तथा श्रीब्रह्माजी)-ने उन्हींकी आराधनासे श्रेष्ठ पद प्राप्त किया है। अतः तुम्हें भी उन्हीं श्रीहरिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। उन्हींका आश्रय लेनेसे तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूर्ण होंगी।' माता सुनीतिके यथार्थ एवं हितकारी वचनोंको सुनकर ध्रुवजी तपस्याहेतु नगरसे बाहर निकल पड़े।

इधर देवर्षि नारदजी ध्रुवजीके पास जाकर उनकी परीक्षा लेनेहेतु बोले—'वत्स! तुम्हारी उम्र अभी तपस्या करने लायक नहीं है। अतः वृद्ध होनेपर परमार्थकी सिद्धिके लिये तप करना। मनुष्यको सुख-दुःख जो भी प्राप्त हो, उसे विधाताका विधान समझकर उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये। ऐसा करनेपर वह इस मोहग्रस्त संसारसे सुखपूर्वक पार हो जाता है।' यह सुनकर ध्रुवजी बोले—भगवन्! आपने सुख-दुःखसे विगलित लोगोंके लिये एक बहुत अच्छा उपाय कहा है, किंतु मैं क्षत्रिय हूँ। अतः किसीसे कुछ माँगना मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी विमाताने मेरे हृदयको अपने कटु वचनसे विदीर्ण कर दिया है। ब्रह्मन्! अब मैं उस पदको पाना चाहता हूँ, जो त्रैलोक्यमें सबसे श्रेष्ठ है'—

> 'पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे।'
> (श्रीमद्भा० ४।८।३७)

ऐसा विचार ज्ञात होनेपर देवर्षि होकर उन्हें 'ॐ नमो

मन्त्र प्रदान किया। सदुपदेश पाकर ध्रुवजीने परम पवित्र तपस्थली मधुवनमें पहुँचकर यमुनामें स्नान किया एवं एकाग्रचित्त हो श्रीमन्नारायणकी उपासना प्रारम्भ की तथा कुछ ही मासमें उन्हें प्रसन्न कर लिया। उसके फलरूपमें उन्होंने छत्तीस हजार वर्षोंतक धर्मपूर्वक पृथिवीका पालन करके सदेह ही भगवान् नारायणके परमधामको प्राप्त कर लिया।

२-बालक प्रह्लादके भक्तिमय संस्कार

प्राचीन कालमें कश्यप ऋषि एवं दितिसे हिरण्यकशिपु नामक राक्षसराज उत्पन्न हुआ। उसके पुत्र प्रह्लाद भगवान् श्रीहरिके भक्त थे। हिरण्यकशिपु अपने पुत्रको हरिभजनसे विरत करना चाहता था। वह समझता था कि उसका पुत्र बिगड़ गया है। अतः उसने गुरु शुक्राचार्यके आश्रममें उनके दोनों पुत्रों—शण्ड और अमर्कके पास बालक प्रह्लादको भेजा, जिससे कि वहाँ वे असुरकुलोचित शिक्षा ग्रहण कर सकें। दोनों गुरुपुत्र जब आश्रमके अन्य कार्योंमें व्यस्त होते तो प्रह्लादजी अपने सहपाठियोंको एकत्रित कर उन्हें सदाचार तथा श्रीहरिकी भक्तिका पाठ पढ़ाया करते थे।

एक बार उनके सहपाठियोंने उनसे पूछा कि प्रह्लाद! एक तो तुम्हारी अवस्था कम है, दूसरे तुम आश्रममें आनेसे पूर्व महलमें रहा करते थे तो सभी बातें तुम्हें किस प्रकार मालूम हुईं। इसपर प्रह्लादजी बोले—मित्रो! मेरे पिताजी अपने भ्राता हिरण्याक्षकी मृत्युके बाद अजेय होने तथा अमरत्व प्राप्त करनेके लिये तप करनेहेतु मन्दराचल पर्वतपर गये थे। यह समाचार पाकर देवोंने दैत्यपुरीपर धावा बोल दिया। असुर अपने राजाकी अनुपस्थितिमें पराजित हो भाग खड़े हुए। तब इन्द्रदेव मेरी माता कयाधूको बंदी बनाकर अपनी पुरी अमरावती ले जाने लगे। मार्गमें नारदजीने उन्हें रोकते हुए इसका कारण पूछा तो इन्द्र बोले—देवर्षे! इसके गर्भमें असुरराज हिरण्यकशिपुका बालक पल रहा है, मैं पैदा होते ही उसे मार डालूँगा। इसपर देवर्षि नारदजीने उन्हें धिक्कारते हुए बताया कि इसके गर्भमें जो बालक है, वह भगवान् विष्णुका भक्त है। अतः तुम उसका कुछ बिगाड़ न पाओगे। ऐसा सुनकर इन्द्रने मेरी मातासे क्षमा-याचना की एवं अपनी पुरीको चले गये।

नारदजी मेरी माताको अपने आश्रममें ले गये और वे वहींपर सुखपूर्वक निवास करने लगीं। वहाँ देवर्षि नारदजी नित्य ही उन्हें भगवद्भक्तिके उपदेश देते थे। वे उपदेश मुझतक भी पहुँचते थे। उन्हीं देवर्षिकी कृपासे वे उपदेश मुझे स्मरण हैं।

इधर शुक्राचार्यके पुत्रोंने सभी बातें जाकर असुरराज हिरण्यकशिपुसे कहीं। तब वह असुर क्रोधाभिभूत हो बालक प्रह्लादको अपने हाथोंसे मार डालनेका निश्चय कर प्रह्लादसे बोला—अभागे! तुम इस जगत्का स्वामी मेरे सिवा किसी औरको बतलाते हो। आज मैं तेरे उसी जगदीश्वरको देखना चाहता हूँ। तुम उसे सब जगह उपस्थित कहते हो! क्या वह इस निर्जीव स्तम्भमें भी है? ऐसा कहकर उसने स्तम्भपर प्रहार किया। उस समय उस स्तम्भसे ब्रह्माण्डको कम्पित कर देनेवाला स्वर निकला। उस स्तम्भमें हिरण्यकशिपुने देखा कि जगदीश्वर एक विचित्र रूपमें उसे

मारनेके लिये उद्यत थे। यह देखकर हिरण्यकशिपु उनसे युद्ध करने लगा, किंतु अन्तमें नृसिंहभगवान्‌ने उसे प्राप्त वरके अनुसार उसका वध किया एवं सभी देवताओंसहित प्रह्लादको अभय प्रदान किया। इस प्रकार भक्तराज प्रह्लाद नृसिंह-अवतारके भी कारण बने।

कुसंस्कारोंसे भावित राजा वेन और संस्कारसम्पन्न महाराज पृथु

प्राचीन कालमें प्रशासनका सारा भार प्रायः राजाके ही ऊपर रहता था और जनताके कल्याणके लिये राजा सर्वदा तथा सर्वथा सचेष्ट रहता था। राजाका जीवन सदाचारपूर्ण, संस्कारसम्पन्न एवं सरल होता था, वह स्वयं तो कष्ट सहन कर लेता था, किंतु प्रजावर्गकी सुख-सुविधाओंमें कोई न्यूनता न हो इस ओर वह पूरा सावधान रहता था। दाशरथि राम आदि राजा इसके लिये उदाहरणीय हैं। इसके विपरीत अपवादस्वरूप कतिपय वेदविरोधी निरङ्कुश या स्वेच्छाचारी एवं कुसंस्कारसम्पन्न शासकोंका भी उल्लेख इतिहास-पुराणोंमें मिलता है, जिन्हें समाजद्वारा दण्डित होना पड़ता था और उनके पतन होनेमें भी देर नहीं लगती थी।

पुरातनकालमें ऐसे ही अहङ्कारी, उद्दण्ड तथा स्वेच्छाचारी राजा वेनका प्रसङ्ग मिलता है। उनके पिता अङ्ग थे, जो

परम सदाचारी राजा थे। पुत्र वेनकी उद्दण्डतासे ऊबकर राजर्षि अङ्गने घर छोड़कर वनका आश्रय ले लिया था। अतः शासकके अभावमें सम्पूर्ण राष्ट्रमें पाशविक उच्छृङ्खलताएँ बढ़ गयीं। मुनियोंने राज्यकी कल्याण-कामनाके लिये पुत्रवत्सल वेनकी माता सुनीथाकी प्रेरणासे मन्त्रियोंके सहमत न होनेपर भी वेनको ही भूमण्डलके राजपदपर अभिषिक्त कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि राजपदपर आसीन होते ही आठों लोकपालोंकी ऐश्वर्य-कलाके आत्मनिष्ठ हो जानेके कारण वह उन्मत्त हो उठा और अहङ्कारवश अपनेको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर महापुरुषोंका अपमान करने लगा। ऐश्वर्यमदमें अन्धा हुआ वेन रथारूढ़ होकर, निरङ्कुश गजराजके समान पृथ्वी और आकाशको कँपाता हुआ सर्वत्र विचरण करने लगा। ढिंढोरा पिटवाकर उसने सम्पूर्ण राष्ट्रमें धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्य बंद करवा दिये। सम्पूर्ण भूमण्डलमें हाहाकार मच गया। अहङ्कारवश मदोन्मत्त होकर उसने अपनेको ही जगत्के ईश्वरके रूपमें घोषित कर दिया। अपनेको छोड़कर किसी अन्य अतीन्द्रिय शक्तिशाली परमात्माके अस्तित्वको उसने कथमपि स्वीकार नहीं किया। सारे प्रजावर्गको मूर्ख मानकर वह कहने लगा था—'प्रजाजनो, तुम अधर्ममें धर्मबुद्धि रखते हो। जो लोग मूर्खतावश प्रत्यक्ष राजारूप परमेश्वरका अनादर करते हैं, उन्हें न तो इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। जिसमें तुमलोगोंकी इतनी भक्ति है, वह परमेश्वर है कौन? यह तो ऐसी बात हुई जैसे कुलटा स्त्रियाँ अपने विवाहित पतिसे प्रेम न कर किसी परपुरुषमें आसक्त हो जायँ। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, मेघ, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि और वरुण तथा इनके अतिरिक्त जो दूसरे समर्थ देवता हैं, वे प्रत्यक्ष राजाके शरीरमें विद्यमान रहते हैं, इसलिये राजा सर्वदेवमय है और देवता उसके अंशमात्र हैं। अतएव तुम लोग मत्सरता छोड़कर अपने अशेष कर्मोंके द्वारा एकमात्र मेरा ही पूजन करो और मुझे ही बलि समर्पित करो। भला, मेरे सिवा और कौन अग्रपूजाका अधिकारी हो सकता है?'

इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण वह अत्यन्त पापी और कुमार्गगामी हो गया था। उसका पुण्य सर्वथा क्षीण हो चुका था, इसलिये **'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'** के अनुसार वेनको किसी हितैषीका सदुपदेश भी अच्छा नहीं लगता था।* उसने अपना दुराचरण नहीं छोड़ा और उसकी तानाशाही दिन-पर-दिन बढ़ती ही गयी।

ऐसी दुःस्थितिमें धर्म एवं समाजके हितचिन्तक

---

* नीतिकारका यह कथन ठीक ही है कि—
सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्। विपत् संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः॥
दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्। न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः॥ (हितोपदेश १। ११९, १२१)

मुनिवरोंने वेनको राज्यसिंहासनके अयोग्य समझकर अपने छिपे हुए क्रोधको प्रकट कर धर्म एवं समाजकी रक्षाके लिये उसे मार डालनेका निश्चय किया। यद्यपि वेन तो अपने पापाचरणके कारण पहले ही मर चुका था, अतः मुनियोंने केवल हुङ्कारोंसे ही उसका वध कर दिया। अब वेनकी शोकाकुला माता सुनीथा मोहवश मन्त्रादि-बलसे तथा अन्य युक्तियोंसे अपने मृत पुत्रके शवकी रक्षा करने लगी।

स्मृतियोंके मतानुसार राष्ट्रमें एक सुयोग्य राजा या शासकका होना परमावश्यक माना गया है; क्योंकि शासकके अभावमें प्रजावर्गमें निर्भीकता एवं उच्छृङ्खलता बढ़ जाती है। दुराचारी रहनेपर भी राजा वेनके मर जानेपर सारे भूमण्डलमें अराजकता फैल गयी, चोर-डाकुओंका उपद्रव बढ़ने लगा, लूट-खसोट शुरू हो गयी। निरङ्कुशताके कारण बलवान् निर्बलोंको तरह-तरहसे सताने लगे। यह देखकर मुनियोंने विचार किया—ब्राह्मण यदि समदर्शी और शान्तस्वभाव भी हो तो भी दीनोंके दैन्यकी उपेक्षा करनेसे उसका तपोबल उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे फूटे हुए घड़ेमेंसे जल। फिर राजर्षि अङ्गकी वंशपरम्पराका भी नाश नहीं होना चाहिये; क्योंकि इसमें अनेक अमोघ शक्तिसम्पन्न, संस्कारवान् तथा कर्तव्यपरायण राजा हो चुके हैं। ऐसा सोचकर ब्राह्मणोंने पुत्रहीन राजा वेनकी भुजाओंका मन्थन किया। उससे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ। ब्रह्मवादी ऋषि उस जोड़ेको उत्पन्न हुआ देखकर और उसे भगवान्‌का अंश जानकर बहुत प्रसन्न हुए। वे बोले—इनमें जो पुरुष है, उसके अङ्ग-अङ्गमें चक्रवर्तीके चिह्न हैं, यह अपने सुयशका प्रथन अर्थात् विस्तार करनेके कारण परम-यशस्वी 'पृथु' नामक सम्राट् होगा एवं राजाओंमें सर्वप्रथम राजमान्य। सर्वगुणसम्पन्ना यह सुन्दरी स्त्री पृथुको अपने पतिके रूपमें वरेगी और यह 'अर्चि' नामसे विख्यात होगी।

पृथुके जन्मके उपलक्ष्यमें सम्पूर्ण राष्ट्रमें गीत-वाद्यादिके द्वारा महान् उत्सव मनाये गये। ब्रह्मा आदि प्रमुख देवता भी उस कुमारको देखने आये।

स्वेच्छाचारी राजा वेनके राजत्वकालमें सारे राज्यमें असंतोषकी स्थिति हो गयी थी। सर्वत्र दुर्भिक्ष छा गया था, धरा शक्तिहीन हो गयी थी। अन्न और औषधादिक पदार्थ लुप्तप्राय हो गये थे। वेनकी तानाशाहीके कारण प्रजावर्गमें क्षुधाके मारे व्याकुलता थी। सर्वत्र 'त्राहि-त्राहि' का आर्तनाद सुनायी देता था।

जब समाजमें दुराचरणकी अतिशयिता चरम शिखरपर पहुँच जाती है, सत्-संस्कारोंका सर्वथा लोप होने लगता है, तब उसके निवारणके लिये प्रकृति निश्चय ही कुछ प्रबन्ध कर देती है। जब रावणके दर्पकी मात्रा बढ़ी, तब उसका उसकी राजधानी लङ्कासहित सर्वनाश हुआ। अभिमानके चरम सीमापर पहुँचनेपर कौरवोंका पतन हुआ और जब राजा बलिको अपनी दानशीलताके लिये गर्व हुआ, तब उन्हें बन्धनमें आना पड़ा—

अतिदर्पे हता लङ्का अतिमाने च कौरवाः।
अतिदाने बलिर्बद्धः सर्वमत्यन्तगर्हितम्॥

(सुभाषितरत्नभाण्डागार)

ऐसी ही अवस्थाके आ जानेपर वेनके संहारके पश्चात् पृथुका राज्याभिषेक हुआ और समस्त राज्याधिकार प्रजावत्सल सदाचारी पृथुके हाथमें आया। पृथुके अशेष आचरण धार्मिक, सुसंस्कारयुक्त एवं प्रजातान्त्रिक थे। प्रजावर्गकी सुख-सुविधाके लिये पृथु सम्पूर्ण व्यवस्था करते थे। सारे राज्यमें प्रसन्नता एवं अद्भुत शान्ति छा गयी। दुःख-दारिद्र्यका कहीं नामतक सुनायी नहीं देता था, आनन्द-ही-आनन्दकी अनुभूति हो रही थी। पृथुके द्वारा शासित पृथ्वी अपने 'वसुन्धरा' नामको चरितार्थ करने लगी। उससे विविध प्रकारके अन्न प्रचुर मात्रामें उपजने लगे थे। वृक्ष-लताएँ भाँति-भाँतिके स्वादु फलों एवं सुगन्धित पुष्पोंसे लदने लगीं। गव्य (गो-दुग्धादि) पदार्थोंका बाहुल्य हो

गया था। ऐसी अवस्था देख महाराज पृथु प्रसन्नताका अनुभव करने लगे। तत्कालीन सर्वकामदुघा पृथ्वीके प्रति उनका पुत्रीके समान स्नेह होने लगा, अतः उसे अपनी कन्याके रूपमें उन्होंने स्वीकार कर लिया। [मनुजीने ९।४४ में इन्हें पृथुकी स्त्री भी बतलाया है।] उन्होंने पूर्वसे अव्यवस्थित आकृतिवाले ऊबड़-खाबड़ सारे भूमण्डलको प्रायः समतल कर दिया। जनताके लिये उन्होंने जहाँ-तहाँ यथायोग्य निवासस्थानोंकी व्यवस्था कर दी। अनेक गाँव, कस्बे, नगर, दुर्ग, घोष (अहीरोंकी बस्ती), पशुओंके रहनेके स्थान, छावनियाँ, किसानोंके गाँव और पहाड़ोंकी तलहटीके गाँव उन्होंने बसाये और जनताकी शिक्षा-दीक्षा आदिकी सारी व्यवस्था कर दी। इनके पहले इस भूमण्डलपर पुर-ग्रामादिका विभाग नहीं था, सब लोग अपने-अपने सुभीतेके अनुसार जहाँ-तहाँ बसते थे।

विधिका प्राकृतिक विधान विचित्र एवं आकस्मिक परिवर्तनमय होता है। एक स्थितिका दूसरी स्थितिमें परिवर्तन अवश्यम्भावी रहता है। रात्रि-दिन, दुःख-सुख, अशान्ति-शान्ति, दुर्भिक्ष-सुभिक्ष तथा विषाद-प्रसाद आदि विविध विपरीत तत्त्वयुगलका परिवर्तनचक्र अबाधगतिसे निरन्तर चलता रहता है। जब हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लाद-प्रभृति सदाचारी जनता पीड़ित हुई, तब नरसिंहने प्रकट होकर शान्ति स्थापित की। रावणके अत्याचारसे संत्रस्त हुई जनताका श्रीरामने उद्धार किया। कंसके अत्याचारसे व्याकुल प्रजावर्गको श्रीकृष्णने शान्ति प्रदान की थी। उसी प्रकार वेदविरोधी पापी वेनके उद्दण्ड शासनसे उद्विग्न जनताके कल्याणके लिये महाराज पृथुका चक्रवर्ती राजाके रूपमें आविर्भाव हुआ था। (अथर्ववेदमें इनका चरित्र विस्तारसे वर्णित है।)

प्रकृतिका एक अकाट्य नियम है—राष्ट्र या समाजमें जब जनताके धर्म, मर्यादा एवं संस्कृतिके ऊपर भीषण संकट आ जाता है और घोर अधर्मका उत्थान होने लगता है, तब कोई नियामक शक्ति किसी रूपमें अवश्य आकर सार्वत्रिक शान्तिकी व्यवस्था कर देती है—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

(मार्कण्डेयपुराणोक्त देवीमाहात्म्य० ११।५५)

संतोंकी सत्प्रेरणासे संस्कारोंका निर्माण

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी)

हमारे सभी धर्मशास्त्र, धर्माचार्य तथा संत-महात्मा संस्कारोंको सदाचरणका प्रमुख आधार निरूपित करते रहे हैं। धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग करनेसे अच्छे संस्कार मिलते हैं, जबकि दुर्व्यसनोंसे युक्त व्यक्तिका सङ्ग करनेसे व्यक्ति संस्कारहीन बनकर दुर्गतिको प्राप्त होता है।

महाभारतमें कहा गया है—

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥

(महा०, वन० १।२७)

जिनके विद्या, कुल और कर्म—ये तीनों शुद्ध हों, उन सत्पुरुषों, साधु पुरुषोंकी सेवा करे, उनका सत्सङ्ग करे। उनका सत्सङ्ग शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठ है।

इसके विपरीत दुर्जनों, दुष्टोंके सङ्गके दुष्परिणामोंपर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥

(महा०, वन० १।२९)

दुष्ट तथा दुर्व्यसनी मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं। ऐसे कुसङ्गी मनुष्य कभी भी अपने किसी कार्यमें सफल नहीं हो सकते।

धर्मप्राण भारतमें बच्चोंको परिवारमें ही माता-पितासे अच्छे संस्कार मिलने शुरू हो जाते थे। माताएँ बच्चोंको भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा अन्य अवतारों, देवी-देवताओंके जीवनके प्रसङ्ग सुना-सुनाकर सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देती थीं। वे बच्चोंको भगवान् श्रीरामद्वारा सवेरे सोकर उठते ही माता-पिताके चरणस्पर्श करनेका प्रसङ्ग सुनाकर उनमें माता-पिताकी सेवाके संस्कार डालती थीं। बच्चोंको बताया जाता था कि परिवारके गुरु या पुरोहितका किस

प्रकार खड़े होकर, चरण छूकर सम्मान किया जाना चाहिये। गुरुकुलमें विद्याध्ययनके लिये जानेपर किस प्रकार गुरुओंका आदर करना चाहिये। किस प्रकार उनकी सेवा करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णकी तरह अपने सखाओं—साथियोंके साथ बिना गरीब-अमीरका विचार किये, व्यवहार किया जाना चाहिये। ये सब संस्कार घरमें बैठे-बैठे बच्चोंको प्राप्त हो जाते थे।

मैं पाँच-छः वर्षका था। मेरी माता पूज्या जगनदेई मेरी अँगुली पकड़कर मुझे मन्दिर ले जाती थीं। वहाँ भगवान्‌की प्रतिमाको कैसे श्रद्धाभावके साथ दोनों हाथ जोड़े जाते हैं, बताती थीं। माताजी तुलसीकी परिक्रमा करती थीं। मुझे भी उनसे बचपनमें ही तुलसीकी पूजा-उपासनाकी प्रेरणा मिली। परिवारमें हमारे कुलगुरु पण्डित मुरलीधरजी जब कभी पधारते, उनके चरणस्पर्शकी प्रेरणा माताजी देतीं। और तो और, हमारे घरकी सफाई करनेवाली वृद्धा झब्बो भंगिन आती तो माताजी कहतीं—दादी कहकर राम-राम करो। माताजी स्वयं उन्हें 'पैरों पड़ूँ' कहकर उनका अभिवादन करती थीं। माँसे मिले इन संस्कारोंने मुझे साधु-संतोंके सत्सङ्ग तथा सेवाकी प्रेरणा दी।

संत-महात्माओंका योगदान

माता-पिता तो बालकोंको घरमें अच्छे संस्कार देते ही थे। संत-महात्माओंका भी गाँव-गाँवमें प्रवचनोंके माध्यमसे सत्प्रेरणा देनेका महान् योगदान रहा है। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास, रैदास, मीराबाई, संत गुरु नानकदेव, नामदेव, संत दादू, भक्त नरसी मेहता, नाभादास, संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम, समर्थ स्वामी रामदास, संत सुन्दरदास-सरीखे अनेक संत-महात्माओंने अपनी वाणी तथा अपने रचे पदोंके माध्यमसे समाजको संस्कारित करनेका अनूठा कार्य किया। संत-महात्मा पदयात्रा करते हुए गाँव-गाँव पहुँचते थे तथा सरल, सात्त्विक और ईमानदारीका जीवन जीते हुए पदों, अभङ्गों, भजनों एवं प्रवचनोंके माध्यमसे प्रभुभक्तिमें लीन रहनेकी सत्प्रेरणा देते थे।

गुरु नानकदेवजी महाराजने अपने चमत्कारोंके माध्यमसे यह सिद्ध किया कि नेक कमाईमें ही बरक्कत होती है तथा बेईमानी, शोषण एवं पापकी कमाईका अन्न खानेवाला एक प्रकारसे खून पीता है।

कुछ संतगण पैदल टोलियोंके रूपमें गाँवोंमें पहुँचते थे। मन्दिरों एवं चौपालोंपर उनके प्रवचनोंके आयोजन किये जाते थे। वे प्रवचनों, भजनों, अभङ्गों तथा पदोंके माध्यमसे माता-पिताकी सेवा करने, धर्मपर दृढ़ रहने, बड़ों और वृद्धोंका सम्मान करने, मांस-मदिरा-तम्बाकू-जैसे अखाद्य पदार्थोंको हाथ भी न लगानेकी प्रेरणा देकर एक प्रकारसे अच्छे संस्कारोंका प्रसारण किया करते थे।

संत-महात्माओंका अपना जीवन स्वतः प्रेरणापुञ्ज हुआ करता था। श्रद्धालुजन उनके त्याग-तपस्यामय जीवन तथा शास्त्रानुसार दिनचर्याको देखकर स्वतः प्रेरणा एवं संस्कार ग्रहण करते थे।

कुछ सद्‌गृहस्थ, प्रवचनकार, भजनोपदेशक, कथावाचक आदि जगह-जगह पहुँचकर धर्मवीर हकीकतराय, गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रों, बन्दा बैरागी, गुरु तेगबहादुर, गुरु अर्जुनदेवजी आदिके धर्मरक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करनेकी ऐतिहासिक घटनाओंका वर्णन करके जहाँ जनताको धर्मपर दृढ़ रहनेके संस्कार तथा प्रेरणा देते थे, वहीं भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रवणकुमार आदिद्वारा माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालनके प्रेरक प्रसङ्ग सुनाकर उनको संस्कारित भी किया करते थे। वे महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, मंगल पाण्डे, महारानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावतीसे लेकर सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद 'बिस्मिल'-सरीखे राष्ट्रसेनानियों, बलिदानियोंकी गाथाओंके माध्यमसे राष्ट्रके प्रति कर्तव्यपालनकी प्रेरणा तथा संस्कार देते थे। इन संत-महात्माओं, प्रवचनकारों आदिके कारण ही मुसलमानों तथा अंग्रेजोंके शासनकालमें भी हिन्दूसमाज अपने प्राचीन संस्कारोंको अक्षुण्ण बनाये रखनेमें सफल रहा।

पूज्य उड़िया बाबा संस्कारपुञ्ज थे

परम सिद्ध तथा ब्रह्मज्ञ संत पूज्य उड़िया बाबा (स्वामी पूर्णानन्दतीर्थ)-जी महाराज तो पग-पगपर श्रद्धालुजनोंको माता-पिता तथा वृद्धजनोंकी सेवा, शास्त्रानुसार जीवन जीने, मोहमायासे दूर रहकर गृहस्थधर्मका पालन करते हुए भगवद्भक्तिमें लगे रहने, सेवा, परोपकारको सर्वोपरि कर्तव्य मानने-जैसे संस्कार बाँटते रहा करते थे।

मुझे बचपनसे ही पूज्य उड़िया बाबाका सत्सङ्ग करने तथा उनके साथ महीनों-महीनोंतक पदयात्रा करते रहनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ करता था। वे गङ्गातटके गाँवोंमें पहुँचकर ग्रामीणोंको लोक-परलोकका कल्याण कैसे हो—

इसका सरल साधन बताया करते थे। मैंने देखा कि पूज्य बाबा अपनी दिनचर्या तथा उपदेशोंसे ग्रामीणोंको सन्मार्गपर चलनेका सहजमें ही संस्कार दे देते थे। उनके उपदेशोंसे न जाने कितने व्यक्तियोंने संस्कारित होकर अपना जीवन सफल बनाया था।

एक बार पूज्य श्रीहरि बाबाजीके गवाँ (बदायूँ)-स्थित बाँध आश्रममें पूज्य श्रीउड़िया बाबा, स्वामी कृष्णानन्दजी, संत प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, स्वामी अखण्डानन्दजी, माता आनन्दमयी आदि विभूतियाँ एक साथ पधारी हुई थीं। मैं भी संतोंकी सेवामें उपस्थित था। एक दिनकी बात है—श्रीउड़िया बाबा वृक्षके नीचे बैठे हुए थे। अनूपशहरके पासके किसी गाँवके एक राजपूत बाबाके पास पहुँचे। उन्होंने बातचीतके दौरान कहा—बाबा! मैं इस वर्ष बद्रीनाथकी यात्रापर जाना चाहता हूँ। बाबाने कहा—तीर्थयात्रा बड़े भाग्यसे होती है, अवश्य जाइये। बाबाने पूछा—परिवारमें कौन-कौन हैं? ठाकुर साहबने बताया—विधवा माता हैं। भाई सेनामें होनेके कारण बहुत दूर है।

बाबाने सहजहीमें पूछ लिया—माताजीका स्वास्थ्य तो ठीक होगा। अपना काम स्वयं कर लेती होंगी।

ठाकुर साहबने कहा—वे वृद्धा होनेके साथ-साथ अपङ्ग हैं, वे बीमार भी हैं, उनकी देखभालके लिये नौकर-नौकरानी रहेंगे।

बाबा बोले—अरे भैया! अपङ्ग-बीमार वृद्धा माँको नौकरोंपर छोड़कर तीर्थयात्राके लिये जाना उचित नहीं है। सबसे बड़ा तीर्थ तो वह वृद्धा माँ ही है। उसके चरणोंकी सेवा करो। स्वतः तीर्थयात्राका पुण्य मिल जायगा। मेरे सामने ही ठाकुर साहबने सङ्कल्प लिया कि वे तीर्थस्वरूपा बीमार माताजीको छोड़कर कहीं नहीं जायँगे।

स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजकी सत्प्रेरणा

एक बार महान् विरक्त संत स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज हाथमें करुवा लेकर गढ़मुक्तेश्वरतीर्थकी ओर पैदल विचरण करते हुए पिलखुवा पधारे। वे ठाकुरद्वारामन्दिरमें रुके। मुझे पता लगा कि एक दण्डी संन्यासी मन्दिरमें पधारे हुए हैं। मैंने माताजीद्वारा आलेमें रखे गये पैसोंमेंसे इकन्नी उठायी और बाजारसे फल खरीदकर मन्दिर गया। पूज्य स्वामीजीके चरणस्पर्श कर फल सामने रख दिये। स्वामीजीने मुझे आशीर्वाद दिया, परिचय पूछा तथा बोले—इन फलोंको खरीदनेके लिये पैसा कहाँसे लाये? मैंने उत्तर दिया—माताजीके रखे पैसोंमेंसे लाया हूँ।

उन्होंने पूछा—क्या माताजीसे पूछकर लाये हो या बिना पूछे।

मैंने सहज भावसे कहा—महाराजजी, माताजी पूजा कर रही थीं। मैं बिना पूछे आलेमेंसे इकन्नी उठा लाया।

स्वामीजीने कहा—फल वापस ले जाओ। माता-पिताकी आज्ञा प्राप्त करके ही पैसे लेने चाहिये, अन्यथा चोरीका पाप लगता है।

पूज्य स्वामीजीके इन शब्दोंने मुझ बालकको झकझोर डाला। उसी दिन सङ्कल्प ले लिया कि माता-पिताजीकी आज्ञा बिना एक अधेला भी नहीं उठाना है। स्वामीजीके दिये उस संस्कारयुक्त उपदेशका मैंने जीवनभर पालन करनेका प्रयास किया।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य पूज्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके साथ कई बार पैदल भ्रमणका, उनकी दिनचर्याको निकटसे देखनेका मुझे परम सौभाग्य प्राप्त होता रहा। पूज्य स्वामीजीसे यदि कोई भिक्षा ग्रहण करनेकी प्रार्थना करता तो वे उससे पूछा करते थे—क्या तुम अण्डा, मांस, मछली तो नहीं खाते? घरमें प्याज-लहसुन, मांस-मदिराका सेवन तो नहीं किया जाता? घरमें कोई तंबाकू तो नहीं पीता? जिन परिवारोंमें इन अखाद्य पदार्थोंका सेवन होता, उन परिवारोंकी भिक्षा वे ग्रहण नहीं करते थे। उनके भिक्षा ग्रहण करनेके इस कठोर नियमसे ही अनेक लोग प्रेरणा लेकर—संस्कार ग्रहण कर तामसिक पदार्थोंका सेवन न करनेका सङ्कल्प ले लेते थे। स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज तो दर्शनोंके लिये आनेवाले प्रत्येक श्रद्धालुको ऐसी प्रेरणा दिया करते थे कि उसका जीवन ही बदल जाता था।

एक बार गढ़मुक्तेश्वरमें गङ्गातटपर एक झोपड़ीमें पूज्य स्वामीजी ठहरे हुए थे। पता लगते ही मैं उनके श्रीचरणोंमें पहुँच गया।

मेरे समक्ष ही एक सेवक फल लेकर आया तथा उनके चरणोंमें अर्पित करके बैठ गया।

पूज्य स्वामीजीने परिचय पूछा तो उसने बताया कि अमुक गाँवका रहनेवाला हूँ, जातिसे ब्राह्मण हूँ—अंग्रेजी स्कूलमें पढ़ता हूँ।

स्वामीजीने कहा—अरे, तुम ब्राह्मण होकर भी पैण्ट पहने हुए हो, सिरपर चोटी नहीं है। स्कूलमें म्लेच्छ भाषा अंग्रेजी पढ़ते हो। अपना मानव-जीवन क्यों व्यर्थ कर रहे हो। धोती-कुर्ता हमारे धर्मप्राण भारतकी पोशाक है, उसे धारण किया करो। सिरपर चोटी रखो। यज्ञोपवीत पहनो। प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन किया करो। अंग्रेजीकी जगह संस्कृत पढ़ो। संस्कृत पढ़कर ही धर्मशास्त्र पढ़ सकोगे।

उन ब्राह्मणदेवताने उसी समय सङ्कल्प लिया कि वे आजसे ही उनके उपदेशका पालन करेंगे।

बादमें वे संस्कृत पढ़कर संस्कृतके अध्यापक बने। अपना समस्त जीवन सनातनधर्मके अनुसार व्यतीत किया तथा अन्तिम समयतक स्वामीजीके प्रति श्रद्धा-भावना रखते रहे।

एक बार स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज गढ़मुक्तेश्वरतीर्थमें घमण्डीलालके मन्दिरमें विराजमान थे। उन दिनों गाँवोंमें सांग हुआ करते थे। लखमीचन्द सांगीकी दूर-दूरतक ख्याति थी। हजारों व्यक्तियोंकी उपस्थितिमें जब लखमीचन्द मंचसे नगाड़ेकी तालपर इतिहासकी किसी घटनाको स्वरचित सांगमें गाकर सुनाते तो श्रोतागण वाह-वाह कर उठते थे।

एक दिन गढ़मुक्तेश्वरमें गङ्गास्नानके लिये आये हुए लखमीचन्द स्वामीजीकी ख्याति सुनकर उनके दर्शनोंके लिये पहुँचे। उनके साथ आये व्यक्तिने कहा—महाराज! ये सुविख्यात श्रीलखमी सांगी हैं। इनके पदों एवं गायनको सुनकर लोग झूम उठते हैं।

उसने स्वामीजीको बताया कि मैं जातिसे ब्राह्मण हूँ। यह सुनते ही स्वामीजीने कहा—तुम कैसे ब्राह्मण हो! न सिरपर चोटी है, न माथेपर तिलक है! क्या यज्ञोपवीत है, क्या सन्ध्या-वन्दन करते हो?

स्वामीजीके शब्द सुनते ही लखमीचन्द चुप हो गये। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—महाराज! आपके आदेशका पालन करूँगा।

लखमीचन्दने स्वामीजीको स्वरचित पद तथा भजन सुनाये। एक पद किसी राजकुमार-राजकुमारीके प्रेम-प्रसङ्गको लेकर था। स्वामीजीने कहा—इस प्रकारके गानोंसे युवापीढ़ीपर गलत संस्कार पड़ते हैं। अपनी प्रतिभा एवं वाणीका दुरुपयोग कदापि नहीं करना चाहिये। तुम्हें अच्छे संस्कार देनेवाले और लोगोंमें धर्मकी भावना पैदा करनेवाले भजन ही सुनाने चाहिये।

पूज्य स्वामीजी परम विरक्त संत थे। उन्हें आश्रम बनानेके लिये न किसीसे धन लेना था, न किसीको शिष्य बनाना था। इसीलिये वे शास्त्रोंके आदेशको दृढ़ताके साथ सबके सामने रखनेको तत्पर रहते थे। शङ्कराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज तो गृहस्थोंको ही नहीं, संन्यासियों, साधुओंतकको भी धर्मविरुद्ध आचरण करते देखकर उद्वेलित हो उठते थे तथा उन्हें भी संन्यासियोंके संस्कारोंका पालन करनेकी प्रेरणा देते थे।

एक बार पूज्य स्वामीजी एक आश्रममें ठहरे हुए थे। वे सायंकाल यमुनाके पावन तटपर विचरणके लिये जानेसे पूर्व पासकी कुटियामें पहुँचे तो उन्होंने देखा कि एक संन्यासीके पैरोंमें महिला तेल लगा रही है। यह देखते ही उन्होंने कहा—स्वामीजी! यदि महिलासे चरणसेवा करानी थी तो घर छोड़कर साधु क्यों बने? महिला देवीस्वरूपा होती है। उससे चरणस्पर्श कराना, सेवा कराना संन्यासधर्मके विरुद्ध है। उन संन्यासीने तुरंत सङ्कल्प लिया कि भविष्यमें ऐसा धर्मविरुद्ध आचरण कदापि नहीं करेंगे।

आज प्राचीन संस्कारोंकी उपेक्षा किये जानेके दुष्परिणाम सभीके सामने आ रहे हैं। संस्कारहीनताकी आँधीने सभीको प्रभावित कर रखा है। अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृतिको त्यागकर पश्चिमी देशोंकी विकृतियोंके पीछे दौड़नेके कारण ही धर्मप्राण भारतके लोग तरह-तरहकी व्याधियोंसे त्रस्त हो रहे हैं। धर्मकी घोर अवहेलना एवं उपेक्षाके कारण चारों ओर उच्छृङ्खलता और मर्यादाहीनताका वातावरण दिखायी दे रहा है। यदि हम सच्चे अर्थोंमें सुख, शान्ति तथा समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, लोक-परलोक—दोनोंमें कल्याण चाहते हैं तो हमें अपना जीवन पुनः धर्ममय बनाना होगा एवं अपनी संतानको विशेषकर युवापीढ़ीको अच्छे-अच्छे संस्कार देकर उसे सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देनी होगी।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

संत-कृपासे दिव्य संस्कारकी प्राप्ति

(श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी)

मानवको महान् लक्ष्यारोही बनानेहेतु हमारे आचार्योंने संस्कारोंकी लम्बी सूची प्रदान की है। किन्हींने आठ, किन्हींने सोलह, किन्हींने चालीस और किन्हींने अड़तालीसतककी गणना प्रदान की है, किंतु समन्वयनके बाद सोलह संस्कारोंकी मान्यता ही संस्कृतिमें सर्वस्वीकृत है। क्रियात्मकताकी दृष्टिसे इन सोलहमें भी कुछेक ही व्यवहारमें प्रचलित हैं, शेष तो पोथियोंमें ही सो रहे हैं। न जाने कब इनकी जागृति होगी। परम्पराप्राप्त संस्कारोंके अतिरिक्त भी हमारी भारतभूमिमें कुछ अद्भुत दिव्य संस्कार शिक्षा-दीक्षाके क्षेत्रमें उपलब्ध हैं, जो सर्वथा भावकाण्डके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। ऐसे ललित एवं प्रेरक संस्कार भी क्रियात्रयीका निर्वाह करते हैं। किसी दिव्य भावापन्न संतकी दयार्द्र दृष्टि होनेपर विकृत संस्कारसंयुक्त प्राणी भी क्षणार्द्धमें सुसंस्कृत हो जाता है।

पूर्वजन्मार्जित कुसंस्कार तथा वर्तमान कुसंग एवं गर्हित अभ्याससे कुसंस्कारसंवलित मनुष्यको नवनीतहृदय संतकी कृपादृष्टि क्षणमें सुसंस्कृत कर देती है। संतोंकी दिव्य करुणामयी दृष्टिसे क्षणमें मनका कायापलट हो जाता है और कपट कोसों दूर भाग जाता है। गर्हित परमाणुका जीवमें लेश भी नहीं रहता। वहाँ तो परिष्कृत परमाणुकी पारदर्शिता पनप उठती है। प्राणी पुण्यश्लोकधर्मा बन जाता है। प्रमाणपुष्टिके लिये इस प्रकारके एक दिव्य संस्कारका दिग्दर्शन पर्याप्त होगा। वैसे तो सनातनसंस्कृतिमें ऐसे दिव्य संस्कारोंकी सुदीर्घ सूची है, किंतु यहाँ मात्र एकको चर्चा प्रस्तुत है—

'जय जय रघुबीर समर्थ'-मन्त्रके नित्य-निरन्तर जापक समर्थ गुरु श्रीरामदासजी महाराज अपनी सम्यक् संन्यस्तवृत्तिमें अद्वितीय थे। नित्य-भिक्षोपजीवी थे, मात्र एक घरसे ही उपलब्ध सामग्रियोंद्वारा शरीरमन्दिरकी सेवा करते थे। नित्यनियमानुसार एक दिन उन्होंने प्रातःकालमें *'जय जय रघुबीर समर्थ'* की ध्वनि करते हुए भिक्षाहेतु नगरमें प्रवेश किया।

स्वनिष्ठानुसार वे एक द्वारपर रुके और पुनः-पुनः *'जय जय रघुबीर समर्थ'* का उद्घोष करते हुए उन्होंने **'भिक्षां देहि'** का अनुनय किया। गृहिणीकी ओरसे विलम्ब होता देख समर्थजीने पुनः एक-दो बार अपने आराध्यका नामोच्चारण किया। संयोगसे गृहस्वामिनी उस समय अपनी गृहचर्यामें संलग्न थी। वह उस समय चौकेको गोबर-मिट्टीसे लीप रही थी। **'भिक्षां देहि'** की पुनः-पुनः ध्वनि सुनकर गृहिणी सहसा आक्रोशवश झल्ला उठी। क्रोधावेशमें विवेकशून्य होकर उस नारीने मृत्तिका-गोबरमिश्रित पोतनेको श्रीसमर्थके चेहरेपर दे मारा और कहा कि 'ले भिक्षा'।

महात्मा समर्थ श्रीरामदासने इस विषम क्षणमें अपने समर्थ नामको सहज ही सार्थक किया। ऐसी विपरीत घटनासे वे तनिक भी विचलित न हुए। बल्कि उन्होंने सहर्षस्वरमें देवीको धन्यवाद दिया, साथ ही सर्वव्यापी परमात्माको भी। उन्होंने अपने मनको सम्बोध प्रदान किया कि आज मेरे भाग्यमें यही भिक्षा बदी थी। समर्थ श्रीरामदासजी उस पोतनेको लेकर आश्रमपर आये। आश्रमपर आते ही स्वामीजीने अपने अक्षय करुणाकोषको खोल दिया उस दिग्भ्रमित अबलापर। अत्यन्त अनुरागपूर्वक संत समर्थने नारीप्रदत्त पोतनेको तल्लीनतापूर्वक धोकर सर्वाङ्गस्वच्छ किया। पुनः सूर्यरश्मिके सम्मुख कर उसे सुखाया, तदुपरान्त मनोयोगपूर्वक उस कपड़ेकी वर्तिका बनायी, फिर घृतमिश्रित उस वर्तिकाको दीपकमें डालकर ठाकुरजीके सामने प्रज्वलित कर दिया। संतद्वारा निर्मित दीपवर्तिकाने अद्भुत आलोक बिखेर दिया—न केवल मन्दिरमें; बल्कि उस उग्रस्वभावापन्न नारीके हृदयमन्दिरमें भी। मधुर-मधुर लौसे मन्दिरमें दीपक जल रहा था और उधर शनैः-शनैः उस नारीका विकृत संस्कार भस्मीभूत हो रहा था। मध्यरात्रिमें संतकी दयाभरी प्रार्थना हो रही थी अपने आराध्यसे कि प्रभु उस गृहिणीको सुसंस्कृत कर दें। संतकृपा, सचमुच उस नारीका सम्पूर्ण दोष ही समाप्त हो गया। सुशीला नारीकी भाँति सद्गुणोंकी अक्षय निधि उसे रात्रिभरमें प्राप्त हो गयी। उसे स्व-स्वरूपका सम्यक् बोध उपलब्ध हो गया। संतके प्रति किये गये दुर्व्यवहारपर उसे पश्चा॰

अग्निमें जलना पड़ा। संत श्रीसमर्थकी द्रवणशीलतासे इसमें भी हीनाङ्गपूर्तिस्वरूप कुन्दनवत् कान्तिमय भक्तिका आविर्भाव हो गया। रात्रिभर राहतकी साँस ले सकी वह। प्रातः पौ फटते ही उसने श्रीसमर्थके चरणोंपर प्रणिपात किया और वह बारम्बार आर्तस्वरसे 'क्षमां देहि'की याचिका बन गयी। इधर पूर्ण सूर्योदय हुआ। दूसरी ओर उस पथविमुख अबलाका पूर्ण भाग्योदय। श्रीसमर्थरामदासने उसे अपने अमोघ आशीर्वचनोंसे निहाल कर दिया। विकृतसे संस्कृत नहीं, सुसंस्कृत कर दिया और कारण था—*'लागि दया कोमल चित संता।'* उस नारीकी अवस्था *'नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा'* की हो गयी। नयनोंके नीरसे श्रीसमर्थके चरणोंको धोने लगी। इस महान् परिवर्तनसे स्वामीजी भी पिघल गये और उस नारीको सदा-सदाके लिये कृपाभाजन बना लिया और बना दिया उस योग्य जो प्रभुमन्दिरमें शान्त स्निग्ध चित्तसे पदार्पण कर सके। धन्य है संतोंके द्वारा दिया गया संस्कार जो कोपभाजनको भी कृपाभाजन बना देता है।

ऐसा संस्कार चारों आश्रमों एवं चारों वर्णोंके संस्कारोंसे सर्वथा भिन्न माना जाता है। उक्त संस्कार परिभाषासे परे है। इसीलिये तो परम्परापोषित एवं परिगणित संस्कारोंमें इसका खाता कहीं नजर नहीं आता। यह संस्कार विशेष खाताधारी है। हमारे दीर्घदृष्टिसम्पन्न ऋषि-महर्षियोंके पास न जाने ऐसी कितनी विद्याएँ थीं, जिनके माध्यमसे वे भगवद्विमुख जीवोंको क्षणमें भगवत्सम्मुख बना डालते थे। वे किसी व्यक्तिद्वारा स्पर्शित वस्तुके परिमार्जन-परिशोधनद्वारा उस व्यक्तिके शारीरिक परमाणुओंको परिष्कृत कर डालते थे। फलस्वरूप वह व्यक्ति अपने-आपमें आमूल-चूल परिवर्तित हो उठता था। आधुनिक विज्ञानने भी अनेक क्षेत्रोंमें स्थूलरूपसे इस प्रक्रियाको अपनाकर लाभ उठाया है।

दिव्यदृष्टिसम्पन्न आचार्योंने इन प्रक्रियाओंको भूतशुद्धि-संस्कार कहा है। भावनाशक्ति और मन्त्रशक्तिके संयोगसे क्रियाविशेषद्वारा शरीरस्थ समलभूतोंको भस्मीभूत करके नवीन दिव्य भूतोंका आविर्भाव किया जाता है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरके शोधनमें ही इन संस्कारोंका सदुपयोग है। चित्तशुद्धिके लिये भारतीय आर्षपरम्परामें अनेक विधियोंका निरूपण हुआ है, किंतु उनमें भी संस्कार-साधनोंका विशेष निर्देश हुआ है। अव्यय ब्रह्मसे वियुक्त शरीरके पञ्चभूतोंका परिशोधन कर ब्रह्मके दुर्लभ संयोगके योग्य बना देना ही इन संस्कारोंका मूल तात्पर्य है।

~~~०~~~

संस्कारसम्पन्न महापुरुषोंके उदात्त चरित

(श्रीघनश्यामजी शर्मा)

समय-समयपर पृथ्वीपर कुछ ऐसे पुरुष आते हैं, जो हमारी तरह नहीं होते। यह ठीक है कि देखने-सुननेमें वे दूसरोंसे भिन्न नहीं होते, पर यह भी सत्य है कि हममें और उनमें इतना अधिक अन्तर होता है, जितना यहाँके सुख और स्वर्गके आनन्दमें। उनके प्रकाशसे हमारा जीवन प्रकाशित होता है। उनके उपदेशोंसे जीवनको ऊँचा उठानेमें सहायता मिलती है। महापुरुष किसी भी जमानेमें हुए हों, उनकी शिक्षाएँ कभी पुरानी नहीं पड़तीं। वे जो कुछ कहते हैं वह सब समयके लिये और सबकी भलाईके लिये होता है। इस लेखमें कुछ महापुरुषोंका संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जो युगों-युगोंतक संसारके लिये आदर्शके प्रतिमान कहे जाते रहेंगे।

चैतन्यमहाप्रभु—चैतन्यमहाप्रभुका जन्म विक्रम संवत् १५४२ की पूर्णिमाको होलीके दिन पश्चिम बंगालके नवद्वीप गाँवमें हुआ था। उनके पिताका नाम पण्डित जगन्नाथ मिश्र और माताका नाम शचीदेवी था।

बालकका नाम विश्वम्भर रखा गया। प्यारसे माता-पिता उसे *'निमाई'* कहते थे। चैतन्यने लड़कोंको पढ़ानेके लिये एक पाठशाला खोली, जिसमें विद्यार्थी आने लगे। निमाई (चैतन्य) अपने विद्यार्थियोंको मेहनतसे पढ़ाते और मित्रकी तरह उनसे प्रेमभाव रखते। माताके विशेष आग्रहपर इन्होंने पण्डित वल्लभाचार्यकी पुत्री लक्ष्मीदेवीसे विवाह कर लिया, जिसे ये बचपनसे ही जानते थे। दुर्भाग्यवश पत्नीकी अल्पसमयमें ही मृत्यु हो गयी। अपनी आयुके २४
~~~

वर्षतक चैतन्य गृहस्थाश्रमी रहे।

इनके गुरु संन्यासी ईश्वरपुरी थे। कृष्णभक्तिके गीत गाते हुए वे जनताके हृदयमें भगवद्भक्तिकी भावना भरने लगे। गौरवर्णके कारण 'गौरांग महाप्रभु' नामसे चैतन्य प्रसिद्ध हुए।

जगन्नाथपुरीमें चैतन्य महाप्रभुका मठ विद्यमान है। चैतन्य प्रभु अधिकतर जगन्नाथपुरीमें ही रहते थे और मूर्तिके आगे खड़े होकर घंटों रोया करते थे। अड़तालीस वर्षकी उम्रमें रथयात्राके दिन उनकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। उनका शरीर चला गया पर उनका नाम सदा अमर रहेगा। भक्तिकी उन्होंने जो धारा बहायी वह कभी नहीं सूखेगी और लोगोंको सदैव पवित्र करती रहेगी। साथ ही इन्होंने नाम-संकीर्तनके संस्कारका जो बीज बोया वह सुरभित होकर सभीको आप्यायित कर रहा है।

गुरु नानक—१५वीं शताब्दीमें गुरु नानकका आविर्भाव हुआ। उनके पिताका नाम बेदी कालूचंद पटवारी और माताका नाम तृप्तादेवी था। कार्तिक पूर्णिमाके दिन पंजाबके तलवंडी गाँवमें नानकका जन्म हुआ। बचपनसे नानकका ध्यान साधुओंमें लगा था। उनकी पत्नीका नाम सुलक्षणी था। विवाहके बाद उन्हें श्रीचन्द्र तथा लक्ष्मीदास नामक दो पुत्र हुए थे, परंतु संसारमें उनका चित्त रमा नहीं, वे परिवारका त्याग कर निकल पड़े। भारतके सभी तीर्थोंकी यात्रा नानकदेवने की। कई तीर्थस्थानोंमें उन्होंने धर्मशालाएँ बनवायीं। अफगानिस्तान, ईरान इत्यादि देशोंमें उन्होंने यात्रा कर अपने विचारोंका उपदेश दिया था। कई मुसलमान नानकजीके शिष्य हुए थे। उनके अनुयायी 'ग्रन्थसाहब' नामक जिस धर्मग्रन्थको बड़ी श्रद्धासे पढ़ते हैं, उसमें गुरु नानकदेवकी वाणी बड़े प्रमाणमें संगृहीत है। इस धर्मग्रन्थमें कबीर, रविदास, मीराबाई, नामदेव आदि महान् संतोंके काव्य संकलित किये गये हैं।

रामकृष्ण परमहंस—बंगालकी धरतीने जिन संस्कारसम्पन्न महापुरुषोंको जन्म दिया है, उनमेंसे रामकृष्ण परमहंस उच्च कोटिके संत हुए हैं। रामकृष्णका जन्म हुगली जिलेके 'कामारपुकुर' गाँवमें खुदीराम चट्टोपाध्याय नामक श्रद्धालु ब्राह्मणके यहाँ हुआ। आपकी माता चन्द्रमणि भी धार्मिक विचारोंकी महिला थीं। इन्हींके यहाँ १७ फरवरी १८३६ के दिन रामकृष्णने जन्म लिया।

रामकृष्णका बचपनका नाम गदाधर था। रामकृष्ण परमहंस नाम उनके संन्यासी जीवनमें पड़ा। वे कुशाग्र बुद्धिके बालक थे। उनका गला सुरीला था। अध्यापक उन्हें बहुत स्नेह करते थे। अपने बड़े भाई रामकुमारकी मृत्युके बाद प्रबन्धकने दक्षिणेश्वरमें कालीके मन्दिरकी पूजाका भार परमहंसपर छोड़ दिया था। वे कालीके परम भक्त हो गये। माता-पिताने इनका विवाह शारदामणिसे कर दिया जो बादमें जाकर शारदादेवीके नामसे विख्यात हुईं। उन्होंने शारदामणिसे पत्नी-जैसा सम्बन्ध न रखा बल्कि उन्हें भी पूज्य माना। शारदादेवी भी मन्दिरमें ही रहने लगीं। आपकी प्रसिद्धि देशके कोने-कोनेमें फैल गयी।

रामकृष्ण उच्चकोटिके भक्त थे। साथ ही वे समाजसुधारक और देश एवं संस्कृतिसे भी प्रेम करते थे। जिस समय वे कार्यक्षेत्रमें आगे आये उस समय भारतमें लोग अपनी परम्परा और मर्यादाको त्यागकर अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृतिको अपनाने लगे थे। स्वामीजीने भारतीय संस्कृतिके प्रति देशवासियोंका ध्यान आकर्षित कर उनमें देश-प्रेम जाग्रत् किया। स्वामीजीमें अहंकार लेशमात्र भी नहीं था। स्वामीजी सरल बँगलाभाषामें उपदेश देते थे। उनके उपदेशोंका संग्रह रामकृष्ण-आश्रमद्वारा किया गया है। स्वामीजीने ५१ वर्षकी उम्रतक अपने भक्तोंको उपदेश देने और देशवासियोंको उचित मार्गदर्शन करानेके बाद १८८६ ईसवीके अगस्त माहमें प्राण-त्याग किया था।

बालगंगाधरतिलक—१९वीं शताब्दीके आरम्भमें छोटे-छोटे स्वतन्त्र देशी राज्य आपसमें लड़कर कमजोर हो गये थे। दक्षिणमें मराठा राज्य भी कमजोर हो गया था। देश आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक रूपसे अंग्रेजोंका उपनिवेश बन चुका था।

ऐसे वातावरणमें महाराष्ट्रके रत्नागिरी जिलेमें २३ जुलाई १८५६ ईसवीको बालगंगाधरतिलकका जन्म गंगाधरपंत नामक गरीब ब्राह्मणपरिवारमें माता पार्वतीबाईके गर्भसे हुआ। उनके पिता संस्कृतके विद्वान् थे। तिलकमें भी विलक्षण प्रतिभा थी। खेल-खेलमें ही इन्होंने गणित और संस्कृतकी इतनी शिक्षा प्राप्त कर ली कि पाठशाला जानेपर अध्यापकोंसे कुछ भी सीखनेकी आवश्यकता नहीं रही।

आपने डेक्कन कॉलेजसे बी०ए० और बम्बईसे एल्-एल्०बी०की परीक्षा उत्तीर्ण की। शिक्षासमाप्तिके बाद आपने संसारके कार्यक्षेत्रमें उतरकर अनेक कार्य किये। चौदह वर्षकी अवस्थामें ही आपका विवाह सत्यभामा बाईसे कर दिया गया। तिलकको बचपनसे ही गीतासे अगाध प्रेम था। आपने मांडले जेलमें समयका सदुपयोग मराठीमें गीताका सरल भाष्य 'गीतारहस्य' तैयार करके किया। इसमें आपके प्रकाण्ड पाण्डित्यका प्रदर्शन मिलता है। अब तो कई भाषाओंमें गीतारहस्यके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। तिलकको 'लोकमान्य' की पदवी इसलिये मिली थी कि उन्होंने लोकसाधारणकी व्यथाको समझा था। उसके उपचारके लिये अथक श्रम किया था। तिलकने ही सर्वप्रथम देशको **'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'**—यह महामन्त्र सिखाया था। अन्त समयमें आप ज्वरसे पीड़ित रहे तथा ३१ जुलाई १९२० को बम्बईमें आपका स्वर्गवास हो गया।

महामना पं० मदनमोहन मालवीय—मालवीयजीका जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ को इलाहाबादमें पं० ब्रजनाथ चतुर्वेदीके यहाँ हुआ। इनकी माता भूनादेवी दयावती और धार्मिक स्वभावकी महिला थीं। पं० मदनमोहनपर अपने माता-पिताके गुणोंका विशेष प्रभाव पड़ा। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घरपर ही हुई। घरकी आर्थिक स्थिति कमजोर होनेके कारण बी०ए० करनेके बाद आगे न पढ़ सके और इलाहाबादके जिला स्कूलमें अध्यापक हो गये, जहाँ ३० सालतक कार्य किया। २५ वर्षकी अल्पायुमें ही इनकी ख्याति फैल गयी थी। मालवीयजीकी वाणीमें बड़ा ओज था। जब वे भाषण करते तो लोगोंपर जादू-सा हो जाता था। आपने कई महत्त्वपूर्ण पत्रोंका सम्पादनकार्य किया। मालवीयजीने बहुत परिश्रमसे हिन्दीको न्यायालयोंमें स्थान दिलाया। उन दिनों अदालतोंमें उर्दू और अंग्रेजीका ही बोलबाला था। राष्ट्रभाषाके प्रचार-प्रसारके लिये मालवीयजीने 'हिन्दीसाहित्यसम्मेलन' तथा 'नागरीप्रचारिणीसभा' की स्थापना की।

आप शिक्षाको बहुत महत्त्व देते थे और शिक्षाके माध्यमसे ही देश, व्यक्ति और समाजको ऊँचा उठाना चाहते थे। आपके बहुत प्रयत्नोंके बाद ही काशीहिन्दू-विश्वविद्यालयकी नींव रखी जा सकी। जबकि आपके पास पैसे नहीं थे। इसके लिये आपने लोगोंसे भिक्षा माँगी और पर्याप्त सहयोग प्राप्त किया। वे लम्बे समयतक वहाँके कुलपति रहे। उनके परिश्रमका फल है कि आज काशी-हिन्दूविश्वविद्यालयका नाम पूरे विश्वमें प्रसिद्ध है। सन् १९४६ में इस महान् शिक्षाशास्त्रीने अपनी देह त्याग दी। परंतु काशी-हिन्दूविश्वविद्यालयकी स्थापनासे उनका नाम सदाके लिये अमर हो गया।

स्वामी विवेकानन्द—विवेकानन्दका जन्म १२ जनवरी १८६३ में कोलकाताके निकटवर्ती गाँवमें हुआ था। इनके पिताका नाम विश्वनाथदत्त और माताका नाम भुवनेश्वरी था। इनकी माता बहुत मेधावी थीं। इनका बचपनका नाम नरेन्द्रदत्त था। संन्यासी होनेपर नाम बदलकर 'विवेकानन्द' रखा गया।

छात्रावस्थामें ही इन्होंने यूरोपीय दर्शनशाखामें बहुत अधिक जानकारी प्राप्त कर ली थी। इनमें अत्यधिक आध्यात्मिक जिज्ञासा थी। उन दिनों सारे भारतमें धर्मविप्लव मचा था। बंगालमें ईसाईधर्मका प्रचार जोरोंपर था। ब्रह्मसमाजकी नींव भी पड़ चुकी थी। कई प्रतिभासम्पन्न हिन्दूजन ईसाई हो चुके थे। इसी समय नरेन्द्रदत्तका मन ब्रह्मसमाजकी ओर झुका। शीघ्र ही इनका सम्पर्क रामकृष्ण परमहंससे हो गया। परमहंसने प्रसन्न होकर इन्हें अपना शिष्य बना लिया और ये विवेकानन्दके नामसे देश-देशान्तरमें विख्यात हो गये। इन्होंने अमेरिकामें जाकर वेदान्तका प्रचार किया। अपने वक्तृत्व, पाण्डित्य और उदात्त चारित्र्यके सामर्थ्यसे स्वामीजीने अमेरिकाको मानो जीत लिया। अमेरिकाके अनेक अध्यात्मनिष्ठ स्त्री-पुरुषोंने स्वामीजीका शिष्यत्व ग्रहण किया। इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशोंमें भी उनके वक्तृत्वद्वारा लोगोंको हिन्दूधर्मका यथार्थ ज्ञान हुआ। रामकृष्णमिशनका विश्वव्यापी संगठन स्वामीजीके कर्तृत्वका प्रतीक है। ३९ सालकी अल्पायुमें हिन्दूधर्मका पुनर्जागरण करनेका असाधारण कार्य स्वामी विवेकानन्दने किया। ४ जुलाई १९०२ को स्वामीजी समाधिस्थ हुए।

ईश्वरचन्द विद्यासागर—सन् १८२० ई०में बंगाल प्रान्तमें कोलकाताके पास वीरसिंह नामक ग्राममें आपका जन्म हुआ। आपके पिता ठाकुरदास बहुत निर्धन थे। इनके जन्मके समय ये आठ रुपये मासिक वेतन पाते थे। माताका नाम भगवतीदेवी था।

विद्यालयमें प्रवेशके समय आप पाँच वर्षके थे। नौ वर्षकी अवस्थामें गाँवसे कोलकातामें पढ़नेके लिये पिताके पास चले गये। आप सदैव हर कक्षामें प्रथम आते थे। आप अपने गरीब साथियोंकी बहुत मदद करते थे। इक्कीस वर्षकी अवस्थामें आपको 'विद्यासागर'की उपाधि मिली और संस्कृतके महान् पण्डित बनकर निकले। आप सबके साथ एक-सा बर्ताव करते थे। ईश्वरचन्द सदैव सादी वेशभूषामें रहते और जब किसी भी बड़े-से-बड़े अधिकारीसे मिलते तो सादी वेशभूषामें ही मिलते। आपने बंगालमें संस्कृत भाषाका बहुत प्रचार किया। सैकड़ों पाठशालाएँ खुलवायीं और उन्हें सरकारी सहायता दिलायी। आप सारी आयुभर विधवा-विवाह और कन्याओंमें शिक्षा-प्रचारके लिये लड़ते रहे। आप सदा कठिनाईमें रहकर भी दु:खियोंकी सहायता करते रहे।

महर्षि अरविन्द—महर्षि अरविन्दको हम आज भी नहीं पहचान सके हैं, उन्हें कवि गुरु रवीन्द्रनाथने पहचाना था और एक कविता लिखकर वन्दना की थी। अरविन्दका जन्म १५ अगस्त १८७२ में कोलकातामें हुआ था। उनके पिताका नाम कृष्णधन और माताका नाम स्वर्णलता था। श्रीअरविन्द डॉ० कृष्णधनके तीसरे पुत्र थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही अरविन्दको दार्जिलिंगके लॉरेंट कान्वेण्टमें पढ़ने भेज दिया गया। सन् १८७९ में इनके पिताने अपने तीनों लड़कोंको इंग्लैण्ड भेज दिया। पिताकी इच्छा थी कि अरविन्द आई०सी०एस० बने और अरविन्द आई०सी०एस० परीक्षामें बैठे तथा सम्मानसहित पास भी हो गये। लेकिन उनके पिता जल्दी ही स्वर्ग सिधार गये और उनकी इच्छा पूरी तरहसे पूर्ण नहीं हो सकी। अरविन्दने लैटिन और अंग्रेजीकी उत्तम शिक्षा इंग्लैण्डके पादरीसे ही पायी थी। छोटी उम्रमें ही वे कविता लिखना सीख गये थे। उन्होंने जीवनभर साधना करके जो कुछ पाया, उसे वह हमारे लिये 'सावित्री' नामक गद्यकाव्यमें संजोकर रख गये हैं।

अरविन्दने लंदन-जैसे शहरमें रहकर मुनिपुत्र-जैसा जीवन बिताया। उनमें चरित्रबल और दृढ़ संकल्पशक्ति थी। १४ साल विलायतमें रहनेके बाद भी वे विचारोंसे पूर्णत: स्वदेशी बने रहे। १९०६ से १९१० तक श्रीअरविन्द राजनीतिके खुले मैदानमें रहे। अरविन्द बहुत विनोदप्रिय भी थे। पाण्डिचेरी उनकी तप:स्थली है। यह उनकी कर्म और साधनाभूमि है। जब वे यहाँ आये तब यह मृतप्राय स्थान था। आज यह ऋषिभूमि विश्वका तीर्थस्थान है।

[संस्कार-सौरभ]

अंगिका लोकसाहित्यके संस्कार-गीतोंमें श्रीराम-वर्णन

(डॉ० श्रीनरेशजी पाण्डेय 'चकोर')

वर्तमानमें संस्कारोंका यथोचित विधान तथा कर्मकाण्डीय स्वरूप भले ही लुप्त होता जा रहा है, किंतु लोकजीवनके रीति-रिवाजोंमें संस्कारोंका चलन अभी भी विद्यमान है। जन्म, छठी, मुण्डन, जनेऊ तथा विवाह आदि अवसरोंपर स्त्रियाँ संस्कारोंके स्वरूपोंको भूली नहीं हैं और इस प्रकार संस्कारोंके समय गीत गानेकी प्रथा प्राय: सर्वत्र देखी-सुनी जा सकती है। अपनी-अपनी लोकभाषामें महिलाएँ लोकगीत गाती हैं। अंग जनपद अर्थात् बिहारके भागलपुर, मुंगेर, सहरसा, पूर्णिया मण्डल एवं झारखण्ड प्रान्तके संथाल परगनाकी जनता अंगिका-भाषी है। इस क्षेत्रका लोकसाहित्य (अंगिकासाहित्य) अत्यन्त समृद्ध है।

अंगिका-संस्कारगीतोंका गायन प्राय: छठी, यज्ञोपवीत, मुण्डन एवं विवाहके अवसरपर होता है। यज्ञोपवीत एवं विवाहके अवसरपर लग्न पड़नेके बादहीसे रात्रिको लोकगायन प्रस्तुत किया जाता है। इस अवसरपर शुभारम्भ 'गोसाँय-गीत' से होता है। कम-से-कम पाँच 'गोसाँय-गीत' गाये जाते हैं। इस गोसाँय-गीतमें कुलदेवताकी प्रधानता रहती है। एक गीतकी प्रारम्भिक पङ्क्तियाँ इस प्रकार हैं—

भगता के एङना चन्दन केरऽ हे गछिया
वही तरें हे ठाढ़ी भेलें कुलदेवता गोसाँय हे
ठाढ़ी भये देवी जग करावे हे॥

गीतका भाव यह है कि भक्तके आँगनमें चन्दनका वृक्ष है। इसी वृक्षके नीचे कुलदेवता खड़े होकर भक्तके यज्ञका संरक्षण कर रहे हैं।

गीत लम्बा है, जिसे महिलाएँ भावविभोर होकर गाती हैं। इस तरह पाँच गोसाँय-गीत गानेके बाद अन्य गीत गाये जाते हैं।

अब यहाँ वे अंगिका-संस्कार-गीत प्रस्तुत हैं, जिनमें

भगवान् श्रीरामकी विशेष चर्चा है।

एक सोहरगीतकी दो पंक्तियोंमें श्रीदशरथ, कौसल्या और रामके नामका उल्लेख हुआ है—

धनि धनि राजा दसरथ, धनि रे कोसिलेआ रानी हे।
हुनको के नै छिकेन रामचन्दर किए का धीरज धरथिन हे॥

इसी तरह एक सोहरगीतकी अन्तिम दो पंक्तियोंमें श्रीरामके नामका उल्लेख हुआ है, जो इस प्रकार है—

कोसिला जनम राजा रामचन्दर केकइ भरत भेल हे ललना रे।
सुमित्रा के जनमल लछुमन सब घर सोहावन लागे हे॥

नीचेके एक सोहरगीतमें औषधि लायी जाती है और कुमारी कन्यासे पिसवाकर उसे कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्रा पीती हैं, गर्भधारण करती हैं और पुत्ररत्नकी प्राप्ति होती है—

आहे पहिले ने पिअलक रानी कोसिला तब रानी केकई न हे।
ललना रे सिला धोई पियलक रानी सुमित्रा तीनों रानी गरभ से हे॥
कोसिला के जनमल राजा रामचन्दर भरथ कैकईके जनमल हे।
ललना रे सुमितरा के जनमल लछुमन तीनों घर बधावा याजै हे॥

एक मुण्डनगीतमें दशरथद्वारा अपने पुत्रोंके मुण्डन-संस्कार करने तथा कैकेयीके रूठनेका उल्लेख हुआ है। गीत निम्न प्रकार है—

चौंकिया यैठल राजा दशरथ, मँचिया कोसिला रानी हे।
राजा रामजी के करयैन मुँड़ना भरथ जग मुड़न हे॥
अरिअर नेउतय परिवर औरोंसे परिवर हे।
राजा, एक नहीं नेउतय केकैया रानी, बिरहा से मातलि हे॥
अरिवर आयल परिवर औरो से परिवर हे।
राजा एक नहीं ऐली केकैया रानी, बिरहा के मातलि हे॥
चौंका पर से उठला राजा दशरथ चलिभेल केकैया गिरहि हे।
रानी कौन अपराध हमरा सें भेल नेउतयो फेरि देलन हे॥
राजा भरथ के करयँ मुंड़नमाँ, रामजीके जग मुड़न हे॥

संस्कारके अंगिका-गीतोंमें श्रीरामकी चर्चा हुई है। यज्ञोपवीत-संस्कारके समय अंगिका-गीतमें 'बरुआ' शब्दका अधिक प्रयोग हुआ है। जिस बालकका यज्ञोपवीत-संस्कार होता है उसे 'बरुआ' कहा जाता है। किसी-किसी गीतमें श्रीरामका नाम आता है। नीचेके गीतकी कुछ पंक्तियोंमें बरुआकी जगह रामचन्दर शब्दका प्रयोग हुआ है—

माँटी कोड़ायब मड़या भरायब, मड़या रतन पमार माई हे।
माइ हे अब देखबै रामचन्दर कै जनेउवा हे॥
याया क दै नेवता पठायब अम्मा सहिते चलि आयऽ माई हे।
माइ हे कब देखबै रामचन्दर के जनेउवा हे॥

नीचेके एक अंगिका-संस्कारगीतमें श्रीराम एवं लक्ष्मणकी चर्चा हुई है। इसमें अवधनगरका नाम भी आया है। गीत इस प्रकार है—

राम लखनके जनेउवा माय हे अवधनगरमें।
चन्नन काठ के खँम्हा गड़ाओल रचि रचि
मड़वा छराओल माय हे अवधनगरमें॥
गाय के गोबर अँगना निपाओल केसर
चन्दन छिरकाओल माय हे अवधनगरमें॥
गजमोतियनके चोक पुराओल सोनेके
कलस धराओल माय हे अवधनगरमें॥
कनक कलस पुरहर लै धराओल मानिक
दियरा बराओल माय हे अवधनगरमें॥
जगोपवीत पड़े रघुबर के, सखी सब
मंगल गाओल माय हे अवधनगरमें॥

विवाह-संस्कार जीवनका एक बहुत बड़ा संस्कार है। अंगिका-संस्कार-गीतोंमें विवाहके नाना प्रकारके विधि-विधानके गीत हैं, जिनमें श्रीरामकी चर्चा हुई है। नीचेके गीतमें श्रीरामद्वारा धनुषभंग करनेपर उनका तिलक-संस्कार विधि-विधानके साथ सम्पन्न होने और फिर उनका सीताके साथ विवाह होनेका उल्लेख हुआ है—

कहमाँ से आयल बालक कहमाँ कँने जाय।
किनकर जे तोहें बालक छिका किनका के तिलक चढ़ाउ हे॥
अवधपुरी सें आयल बालक जनकपुर कँने जाय हे।
राजा दशरथजीके बालक छिकों हुनकऽ तिलक चढ़ाइ हे॥
पीयर धोती पाग पछौटा, हाथ मुठी पाकल पान हे।
राजा दशरथजीके बालक छिका हुनका तिलक चढ़ाऊ हे॥
हरदी दुभी लेके माता चुमाहू सुभ सखि मंगल गाउ हे।
ई बालकके कोमल काया धनुखा कैसे टूटत हे॥
टूटल धनुषा चहु दिसि बिदरल सीता बिआहे मुसुकाय हे।

इस प्रकार अंगिकालोकभाषाके संस्कारगीतोंमें अधिकांशमें भगवान् श्रीरामकी मङ्गलचर्चा आयी है।

भगवान् श्रीरामद्वारा सुसंस्कृत एवं सदाचारमय मर्यादाकी स्थापना

(श्रीरामपदारथजी सिंह)

सुसंस्कृत एवं सदाचारमय जीवनके निर्माणमें संस्कारोंका सहयोग आर्ष-अनुभवसे सिद्ध है। संस्कार उन क्रियाओंको कहते हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं—**'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते'** (तन्त्रवार्तिक)। बालकको सर्वविध योग्य बनानेहेतु उसके जन्मके पूर्वसे ही संस्कार-क्रिया प्रारम्भ कर देनेका विधान शास्त्रोंमें पाया जाता है। वेदोक्त मन्त्रोंसे गर्भाधान आदि शरीर-संस्कार करनेसे इहलोक तथा परलोकमें पवित्रता प्राप्त होती है। गर्भशुद्धिकारक हवन, जातकर्म, चूडाकरण एवं यज्ञोपवीत आदि-संस्कारोंसे वीर्य तथा गर्भसे उत्पन्न दोष नष्ट होते हैं। स्वाध्याय, मांस-मदिरा आदिके त्यागरूप व्रतादिसे मानव-शरीर ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाया जाता है—**'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'** (मनु० २। २८)।

सदा शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म श्रीभगवान् स्वयं महाराज दशरथके पुत्र बनकर श्रीरामरूपमें प्रकट हुए थे। वे परिपूर्णतम परमात्मा थे, उनमें कोई कमी नहीं थी, अतः योग्यताप्राप्तिहेतु उन्हें किसी संस्कारकी आवश्यकता नहीं थी, परंतु उनका अवतार तो लोकशिक्षणके लिये हुआ था। उन्हें अपने चरित्रसे मानव-जीवनोपयोगी अनेक आदर्शोंकी स्थापनाके क्रममें स्वयं संस्कारित होकर मानव-जीवनको सुसंस्कृत एवं सदाचारमय बनानेमें संस्कारोंकी उपयोगिता भी सिद्ध करनी थी, इसलिये वे राजा दशरथके यहाँ उनका पुत्र बनकर तबतक अवतरित नहीं हुए, जबतक श्रीदशरथजीने पुत्रेष्टियज्ञ नहीं किया। यज्ञसे संस्कारित पवित्र पायसको ग्रहण कर महराज दशरथजीकी रानियाँ गर्भवती हुईं। गर्भाधान-संस्कारकी दिव्य विधिकी ओर गोस्वामी तुलसीदासजीने ध्यान आकर्षित किया है—

एहि बिधि गर्भसहित सब नारी। भईं हृदयँ हरषित सुख भारी॥

(रा०च०मा० १। १९०। ५)

जिस दिनसे भगवान् श्रीहरिने मातृगर्भमें आगमनकी लीला आरम्भ की, उस दिनसे सब लोकोंमें सुख-सम्पत्ति छा गयी। यथा—

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए। सकल लोक सुख संपति छाए॥

(रा०च०मा० १। १९०। ६)

आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीने श्रीरामजन्मके उपरान्त गृह्यसूत्रोक्त सभी संस्कारोंके किये जानेका वर्णन सूत्रशैलीमें करते हुए कहा है—**'तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्'** (वा०रा० १। १८। २४) अर्थात् महर्षि वसिष्ठने समय-समयपर दशरथसे श्रीराम आदि बालकोंके जातकर्म आदि सभी संस्कार करवाये। गोस्वामी श्रीतुलसीदासने भगवान् श्रीरामके किये गये अनेक संस्कारोत्सवोंका नामोल्लेखपूर्वक और विवाह-संस्कारोत्सवका विस्तारसे मनोमुग्धकारी वर्णन किया है। अधोलिखित पङ्क्तियोंमें विवाहेतर संस्कार चर्चित हैं—

नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥

(रा०च०मा० १। १९३)

नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥

(रा०च०मा० १। १९७। २)

चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥

(रा०च०मा० १। २०३। ३)

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥

(रा०च०मा० १। २०४। ३-४)

बालकोंके नामकरण-संस्कारका अवसर जानकर महाराज दशरथने गुरु वसिष्ठको बुलवाया, लेकिन चूड़ाकरण-संस्कार गुरु वसिष्ठने स्वयं जाकर किया। इससे यह संदेश मिलता है कि बालकके पिता और कुलपुरोहित—दोनोंको बालकके संस्कारोंके सम्बन्धमें सचेत और सचेष्ट रहना चाहिये ताकि संस्कारोंके लिये निर्दिष्ट समयका अतिक्रमण न होने पाये। श्रीराम तथा उनके सभी भाई विद्या, विनय, गुण एवं शीलमें निपुण थे—*'बिद्या बिनय निपुन गुन सीला'* (रा०च०मा० १। २०४। ६)। इसे विधिपूर्वक संस्कार सम्पन्न किये जानेका सुफल समझा जाना चाहिये।

संस्कारोंकी उपेक्षाका दुष्परिणाम भी द्रष्टव्य है। गर्भाधानके लिये निषिद्ध समय—सन्ध्याकालमें कैकसीने विश्रवा मुनिसे पुत्रकी कामना की। उसका अभिप्राय जानकर मुनिने उससे कहा कि तुम दारुण वेलामें मेरे पास आयी हो, इसलिये क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले राक्षसोंको पैदा करोगी—**'प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः'** (वा०रा० ७। ९। २४)। कैकसीके मनोवेगने उसके पुत्र रावणके चित्तपर एक स्थायी कुसंस्कार स्थापित कर दिया, जो उसके तप और वेदाध्ययनसे भी दूर नहीं हुआ। किसी व्यक्तिका सभ्य, संस्कृत और सदाचारी होना उसकी ऊँची शिक्षापर उतना अवलम्बित नहीं है, जितना उसके संस्कारपर।

साधकोंके लिये उपयोगी संस्कार

भगवान् या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है और जो इस उद्देश्यमें सफल हो चुके हैं, वे ही संत हैं; अतएव इस संतभावकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। इसकी प्राप्तिके अनेक उपाय शास्त्रों और संतोंने बतलाये हैं, परंतु इनमें प्रधान दो ही हैं—१-भगवान्‌की नित्य असीम कृपाका आश्रय और २-लक्ष्यप्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय और अटल विश्वासके साथ किया जानेवाला पुरुषार्थ।

भक्तिमार्गी साधक दोनोंमेंसे एकका अथवा दोनोंका साधन कर सकते हैं, परंतु ज्ञानमार्गी प्रायः दूसरेका ही करते हैं। योग तो दोनोंमें ही आवश्यक है। जबतक चित्तवृत्तिका अपने इष्टमें योग नहीं होता, तबतक साधनमें सफलता मिल ही नहीं सकती। उपर्युक्त दोनों उपायोंमें भक्तिमार्गीको पहला अधिक प्रिय होता है, वह अपने पुरुषार्थका भरोसा नहीं करता और वैसा करनेमें वह अपनेमें एक अभिमानका दोष आता देखकर सिहर उठता है, साथ ही उसकी यह भी धारणा है कि जीवके पुरुषार्थसे भगवान्‌का मिलना असम्भव है, वे तो स्वयं कृपा करके जब अपना दर्शन देकर कृतार्थ करना चाहते हैं, तभी जीव उनके दर्शन पा सकता है। इसीलिये वह उनकी कृपापर विश्वास करके तन-मन-धनसे उनके शरणापन्न हो जाता है, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सब क्रियाओंको त्यागकर चुपचाप हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाता है या आलसीकी भाँति तानकर सोता है। वह पुरुषार्थ नहीं करता, इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थको अभिमान अपने अंदर नहीं उत्पन्न होने देता, परंतु अपने तन-मन-धन—सबको भगवान्‌का समझकर अनवरत उनकी सेवामें तो लगा ही रहता है, क्षणभर भी स्वच्छन्द विश्राम नहीं लेता। वस्तुतः वही परमपुरुषार्थी होता है, जो अपनेको भगवान्‌के परतन्त्र मानकर यन्त्रवत् उनकी सेवामें लगा रहता है। जो मनुष्य यह कहता है कि मैं भगवान्‌के शरणापन्न हूँ, मुझे तो उन्हींकी कृपाका भरोसा है, परंतु जो भगवान्‌के आज्ञानुसार सेवा नहीं करता, वह या तो स्वयं धोखेमें है या दूसरोंको धोखा दे रहा है। शरणागतिमें साधनका या पुरुषार्थका अथवा यों कहें कि अभिमानयुक्त कर्मका सर्वथा अभाव है; क्योंकि शरणागति साधकको साधन या पुरुषार्थका आश्रय नहीं होता, परंतु उसमें भगवत्सेवारूप कर्मका कभी अभाव नहीं होता। भगवत्सेवाके लिये तो उसका सब कुछ समर्पित ही है, परंतु ऐसे भक्तको भी ज्ञानकी आवश्यकता है, ज्ञानकी सुदृढ़ नींवपर ही भक्तिकी विशाल और मनोहर अट्टालिका खड़ी हो सकती है और ज्ञानमें प्रेम तो है ही। अतएव यद्यपि इन दोनोंका समन्वय है तथापि एककी प्रधानतामें दूसरा छिपा-सा रहता है। इससे वह स्पष्ट व्यक्त नहीं होता।

गीतोक्त निष्कामकर्मयोग तो अहैतुकी सक्रियभक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। निष्कामकर्मयोगी कर्ममें आसक्ति और फलकी चाह न रखकर सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करता है। वह समझता है कि कर्ममें ही मेरा अधिकार है फलमें कदापि नहीं। सब साधनोंके एकमात्र परमफल तो भगवान् ही होने चाहिये, फिर मैं भगवदर्थ कर्म करनेसे वञ्चित क्यों रहूँ? यह समझकर वह ममता, आसक्ति और आशा-निराशाको छोड़कर मन-बुद्धि आदिको भगवान्‌के अर्पणकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ भगवान्‌की पूजाके लिये ही अपने जिम्मेमें आये हुए कर्मोंका सुचारु रूपसे निःसंग होकर उत्साहपूर्वक सम्पादन करता रहता है।

तप-स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानात्मक पतञ्जल्युक्त क्रियायोगका भी भक्तियोगमें समावेश हो जाता है। भक्तिसाधनामें होनेवाले नाना प्रकारके कष्टोंको भक्त सत्कारपूर्वक सहन करता है, भगवान्‌की सेवामें प्राणतक देनेमें वह आनन्दका अनुभव करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए प्रत्येक भीषण-से-भीषण संकटको वह भगवत्प्रसाद समझकर उसका सुखपूर्वक स्वागत करता है, यह उसका परम तप है। वह सदा-सर्वदा भगवद्गुणानुवादके पढ़ने-सुननेमें तथा भगवान्‌के नाम-जपमें अपनेको लगाये रखता है, यह उसका स्वाध्याय है और ईश्वरके अनन्य शरण तो वह है ही। अवश्य ही पतञ्जल्युक्त क्रियायोगका पृथक्

साधन भी संतभावकी प्राप्तिमें प्रधान उपाय हो सकता है, परंतु उसमें भी ज्ञान और भक्तिका सम्मिश्रण है ही। बहुत-से साधक अष्टाङ्ग योग और षडङ्ग हठयोगका साधन करते हैं और वह भी बहुत ठीक है, परंतु ये सारे साधन उपर्युक्त दूसरे साधनमें आ जाते हैं।

यद्यपि सबके लिये एकहीसे साधन समानरूपसे उपयोगी नहीं हो सकते, तथापि नीचे कुछ ऐसे उपाय लिखे जाते हैं, जिनका साधन करनेसे संतभावकी प्राप्तिमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है—

१-शुद्ध सत्य कमाईका परिमित और नियमित लघु भोजन करना।

२-मीठी सत्य वाणी बोलना।

३-सबकी यथायोग्य सेवा करना, परंतु मनमें ममत्व और अभिमान न आने देना।

४-शिष्य न बनाना।

५-पूजा-प्रतिष्ठा और ख्यातिसे यथासाध्य बचना।

६-तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन और कलह न करना।

७-अपने इष्ट और साधनको ही सर्वोपरि मानना, परंतु दूसरेके इष्ट और साधनको न नीचा समझना, न उनकी निन्दा करना।

८-शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको सदा शुद्ध आध्यात्मिक वायुमण्डलमें रखनेकी चेष्टा करना। यथासाध्य उनको भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगाये रखना।

९-भगवान्‌को सर्वत्र, सर्वदा विराजित देखना।

१०-प्रतिदिन कम-से-कम दो घण्टे एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करना, भगवान्‌से भगवद्भावको पानेकी सच्ची प्रार्थना करना और ऐसा अनुभव करना मानो भगवान्‌की पवित्र शक्ति मेरे अंदर प्रवेश कर रही है और मेरा हृदय पवित्रसे पवित्रतर और पवित्रतम होता जा रहा है और अज्ञान, अहंता, ममता, राग-द्वेषादि दोषोंका नाश होकर उनके स्थानपर दैवी गुणोंका विकास बड़ी तेजीसे हो रहा है।

११-काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प, वैर, ईर्ष्या आदि मानसिक दोषोंको अपने अंदर जगह देनेसे इनकार कर देना, इनको जरा भी आदर न देना और पद-पदपर इनका तिरस्कार करना। याद रखना चाहिये कि ये सब दोष हमारी लापरवाही अथवा अज्ञात अथवा ज्ञात अनुमतिसे ही हमारे अंदर रह रहे हैं। जिस दिन हमारी आत्मा बलपूर्वक इनको अंदर रहनेसे रोक देगी, उस दिनसे इनका अंदर रहना कठिन हो जायगा। बार-बार तिरस्कारपूर्ण धक्के खा-खाकर आखिर ये हमारे अंदरसे सदाके लिये चले जायँगे।

१२-मन जहाँ-तहाँ दौड़ता है और मनमानी करता है, इसमें प्रधान कारण हमारी कमजोरी ही है। वस्तुतः आत्माकी दृष्टिसे या अनन्तशक्ति परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण जीवमें अपार शक्ति है, उस आत्मिक या ईश्वरीय शक्तिके सामने मन-इन्द्रिय आदिकी शक्ति तुच्छ और नगण्य है, बल्कि मन-इन्द्रियादिमें जो शक्ति है, आत्माकी ही दी हुई है। शक्तिका मूल उत्स और एकमात्र भण्डार तो आत्मा ही है। वह आत्मा यदि अपने स्वरूपको सँभाल कर उसमें प्रतिष्ठित होकर बलपूर्वक मन-इन्द्रियादिको आज्ञा दे दे कि 'खबरदार, अब तुम असत् विषयोंको अपने अंदर नहीं रख सकते' तो फिर इनकी ताकत नहीं है कि ये इन विषयोंको अपनेमें स्थान दे सकें। इसलिये मन-इन्द्रियोंको सदा आत्माका अनिवार्य आदेश देते रहना चाहिये। पूर्वाभ्यासवश आत्मासे अनुमति पानेकी इनकी चेष्टा एक-दो बारके आदेशसे ही नष्ट नहीं हो जायगी, परंतु जब-जब ये अनुमति माँगें, तब-तब इनसे स्पष्टतया कह देना चाहिये कि 'तुम हमारे अधीन हो—तुम्हें हमारे आज्ञानुसार चलना ही होगा' और इन्हें बड़ी सावधानीसे निरन्तर भगवान्‌में लगाये रखना चाहिये।

१३-अपने इष्ट मन्त्रका या भगवन्नामका स्मरण-चिन्तन जितना अधिक-से-अधिक हो सके, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

१४-जहाँतक हो सके—स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बंद कर देना चाहिये। संतभावको चाहनेवाली स्त्रियाँ भी पुरुषोंसे अनावश्यक और अधिक न मिलें।

१५-यथासाध्य सांसारिक वस्तुओंका संग्रह कम-से-कम करना चाहिये और संगृहीत वस्तुओंपर एकमात्र परमात्माका ही अधिकार मानना चाहिये।

'देवो भूत्वा यजेद्देवम्'

[अङ्गोंके संस्कार]

(शास्त्रोपासक आचार्य डॉ० श्रीचन्द्रभूषणजी मिश्र)

भारतीय वाङ्मयमें विभिन्न अङ्गोंके संस्कारकी भी विशेष चर्चा मिलती है। यहाँ वाङ्मयमें प्रत्येक देवताके अपने-अपने कवच और रक्षास्तोत्रोंकी परम्परा मिलती है। इन दोनोंके द्वारा शरीरके विभिन्न अङ्गोंपर ततद् देवताका अधिष्ठान कराया जाता है। इसी क्रममें करन्यास, षडङ्गन्यास, लघुन्यास, वृहन्न्यास आदिकी भी परम्परा है। जिन अङ्गोंपर देवताके विभिन्न स्वरूपोंका ध्यान किया जाता है, उससे उन अङ्गोंमें तेजकी वृद्धि होती है और उन अङ्गोंका संस्कार होता है। 'देवो भूत्वा यजेद्देवम्'के अनुसार बिना देवता बने देवताकी पूजा नहीं हो सकती। जब देवताका अधिष्ठान अङ्गोंपर कराया जाता है तो उन अङ्गोंमें शारीरिक शक्तिके साथ-साथ दैवी शक्तिका भी सञ्चार हो जाता है।

प्रत्येक देवताके अनुष्ठानात्मक प्रयोगमें अङ्गन्यास और करन्यासका विधान आवश्यक है। अङ्गन्यास और करन्यासके द्वारा विभिन्न मन्त्रोंसे अङ्गोंको संस्कारित भी किया जाता है। कर्मकाण्डके प्रारम्भिक प्रयोगोंमें मन्त्रसहित तीन बार आचमन, विभिन्न अङ्गोंका स्पर्श तथा प्राणायामके द्वारा शरीरको संस्कृत किया जाता है।

अङ्गोंको संस्कृत करनेकी परम्परा सनातनधर्ममें तो है ही, विभिन्न धर्मोंमें भी मिलती है। मुसलमानोंमें वजू करना, विभिन्न तरहसे नमाज अदा करना एक विशेष प्रकारका संस्कार ही है। इसी प्रकार श्रीगुरुग्रन्थसाहिबके पाठके पूर्व सिखगायत्री—*'गोविन्दे मुकुन्दे उदारे अपारे हरियं करियं निर्नामे अकामे'* जपनेका विधान है।

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

पवित्रीकरणके इस प्रसिद्ध मन्त्रमें मार्जन-स्नानद्वारा शरीर अपवित्रसे पवित्र हो जाता है, इसके साथ ही शुद्धिके लिये भगवान्‌के स्वरूपका स्मरण-ध्यान भी आवश्यक है।

मूर्ति आदिकी प्राण-प्रतिष्ठाके समय देवमूर्तिके सभी अङ्गोंके संस्कार करनेका विधान है। सन्ध्या, स्नान, जप, देवपूजन, बलिवैश्वदेव और अतिथिसत्कार—ये छः कर्म नित्य करनेसे स्वतः संस्कारोंमें वृद्धि होती है—

सन्ध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम्।
वैश्वदेवं तथाऽऽतिथ्यं षट् कर्माणि दिने दिने॥

शिखाबन्धनसे सिरका संस्कार ही नहीं होता, अपितु कर्मोंमें अर्हता एवं ब्रह्मतेजकी प्राप्ति भी होती है। भगवन्नाम-जपसे वाणीका संस्कार होता है। यथाधिकार वेदश्रवणसे कानोंका संस्कार होता है। देव, गुरु, संत तथा भक्तके दर्शनसे आँखोंका संस्कार होता है। माला धारण करनेसे गलेका संस्कार होता है। ध्यानसे मन, बुद्धि तथा हृदयका संस्कार होता है। शास्त्रविहित भोगसे उपस्थका संस्कार होता है। देवपूजा, भगवत्सेवा, संतसेवा, दीनों-अनाथोंकी सेवा करनेसे हाथोंका संस्कार सम्पन्न होता है। देवता, गौ, माता-पिता तथा देवालयकी प्रदक्षिणा तथा तीर्थाटनसे पैरोंका संस्कार होता है और साष्टाङ्ग प्रणाम-निवेदन एवं शरणागत होनेसे भगवत्प्राप्तिका संस्कार दृढ़ हो जाता है। ऐसी चर्चा आर्ष-ग्रन्थोंमें प्रायः पायी जाती है।

इन्हीं संस्कारोंके बलपर सौ वर्ष जीने, देखने-सुनने अर्थात् सौ वर्षतक स्वस्थ-जीवनकी भावना की गयी है।

इतना ही नहीं, यह भी भगवान्‌से प्रार्थना की गयी है कि सभी इन्द्रियोंमें बलवान् जो मेरा मन है, उसका सम्यक् संस्कार हो और वह मेरा मन अशुभ वासनाओं-आसक्तियोंसे रहित होकर शुभ संकल्पवाला हो—'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥'

भगवान्‌के संस्कार—एक अनुचिन्तन

(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच०डी०)

हलायुधकोशमें 'संस्कार' शब्दका अर्थ है वासना, प्रतियत्न आदि और प्रस्तुत संदर्भमें इसी अर्थको ग्रहण किया गया है—'**संस्कारो वासना स्मृता**'। मनुष्यके गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कारोंका परम उद्देश्य है—भगवत्प्राप्ति, किंतु जिस भगवान्‌के सांनिध्य-लाभमें शास्त्रोक्त संस्कारोंके अनुष्ठानकी सार्थकता है, हमारे वे परमाराध्य भगवान् भी संस्कारोंसे अछूते नहीं हैं। उनके संस्कार-स्वभाव अत्यन्त मधुर, शाश्वत, अपरिवर्तनशील एवं परम लोक-मङ्गलकारी हैं। यहाँ उनके कुछ प्रमुख संस्कार निम्नानुसार हैं—

आनन्दभोगका संस्कार—यूँ तो भगवान् सर्वथा आप्तकाम, पूर्णकाम तथा निष्काम हैं, पूर्ण हैं और सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, तथापि सृष्टिके पूर्व भगवान् जब अकेले थे, तब उन्हें अच्छा नहीं लगा—'**स वै नैव रेमे**' (बृ०उपनिषद् १।४।३)।उनमें आनन्दभोगकी कामना जगी—'**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तै० उपनिषद्)।'**स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति**' (ऐ० उपनिषद्)। क्योंकि कोई अकेला आनन्द नहीं मना सकता—'**एकाकी न रमते**', इसलिये उन्होंने करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी रचना कर डाली, तरह-तरहके जीव बना दिये और अपनी सृष्टिमें रमण करने लगे। इस प्रकार यह संसार भगवान्‌के आनन्दात्मक संस्कारकी देन है। अपने इसी संस्कारके वशीभूत होकर वे निर्गुणसे सगुण तथा निराकारसे साकार रूप धारण कर भक्तोंके हित-सुखके लिये नाना लीलाएँ करते रहते हैं—

'चारु चरित नानाबिधि करहीं॥'

लीलाका संस्कार—जिस प्रकार कोई जीवन्मुक्त महात्मा लोकहितार्थ निष्काम कर्म करते हुए उनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् भी जगत्‌के सर्जन, पालन और संहारकी लीला करते रहते हैं। लीला उन्हें अत्यन्त प्रिय है और जितने विलक्षण वे स्वयं हैं, उतनी ही विलक्षण उनकी लीलाएँ भी हैं। मुँहमें ब्रह्माण्ड दिखाकर यशोदा माताको विस्मित कर देना, गोपिकाओंके चीरहरणकी लीला तथा रासलीला करते-करते अचानक अदृश्य हो जाना आदि उनके बड़े प्रिय खेल हैं। तरह-तरहके कौतुक करके भक्तोंको चकित करनेके लिये ही तो उन्होंके प्रेमके वशीभूत हो उन्होंने यह प्रपञ्चात्मक संसार रचा है। ब्रह्मसूत्रकार सृष्टिके मूलमें उनके लीला-संस्कारको स्वीकार करते हैं—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥'

कर्मयोगका संस्कार—भगवान्‌ने अनेक अवतार लेकर लोकमें कर्तव्यकर्मोंके पालनका आदर्श प्रस्तुत किया है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता (३।२२)-में स्वयं कहते हैं कि तीनों लोकोंमें मेरा कोई कर्तव्य नहीं है और न ही कोई प्राप्तव्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं सदा कर्ममें ही लगा रहता हूँ—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

अवतरणका संस्कार—भगवान्‌में अवतार-ग्रहणका प्रबल संस्कार है। जब जिस युगमें जैसी कामना होती है, वैसा ही रूप धारण कर अवतरित हो जाते हैं। यद्यपि किसी कार्य-सम्पादनके लिये उन्हें अवतार-ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है, तथापि अपने इस संस्कारकी युक्तियाँ प्रस्तुत करनेमें नहीं चूकते। उनका कथन है कि जब-जब धर्मका ह्रास होता है और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है, तब-तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४।७)

साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके संहार और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

अवतारके अनेक कारणोंमें प्रबल कारण यह है कि भक्त उनकी प्रिय आत्मा है और मुख्यतः अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके स्वयं आनन्दित होने तथा उन्हें आनन्दित करनेके लिये ही वे अवतार ग्रहण करते हैं।

'भगत हेतु लीलातनु गहई॥'
'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'
'भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥'

साथ ही अपने संस्कारसम्पन्न आदर्श चरितको

स्थापित कर जीवोंको उसका अनुकरण करनेकी शिक्षा देनेके लिये प्रभु अवतरित होते हैं—

'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्'

(श्रीमद्भा० ५।१९।५)

दर्पदलनका संस्कार—सर्वसमर्थ भगवान्‌में दर्पदलनका शाश्वत संस्कार है। अहंकार उन्हें तृणमात्र भी नहीं सुहाता। राक्षसराज रावण हो या देवर्षि नारद, दुष्कर्मी दुर्योधन हो या अनन्य सखा अर्जुन, शूर्पणखा हो या गोपिकाएँ—अहंकारके मामलेमें वे किसीको क्षमा नहीं करते—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥

अहंकार तो मानो उनका आहार है। दुष्टों और भक्तोंके दर्पदलनमें अन्तर इतना ही रखते हैं कि भक्तोंको छोटी-सी प्रेमभरी सजा देकर पुनः सँभलनेका अवसर प्रदान करते हैं और दुष्टोंके लिये कोई अवसर नहीं छोड़ते। भक्तोंका अभिमान तो वे ममतावश दूर करते हैं—

तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

वैसे दुष्टोंपर भी उनका क्रोध माङ्गलिक ही होता है—

'खीझे देत निज धाम रे।' (विनय-पत्रिका ७१)

शरणागतरक्षणका संस्कार—शरणागतोंकी रक्षाकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा ले रखी है—*'मम पन सरनागत भयहारी॥'* कैसा भी पापी शरणमें आये, वे उसे निराश नहीं करते, उसका उद्धार कर देते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

यद्यपि भगवान् समदर्शी हैं और वालि भी उनकी समदर्शिताका वैशिष्ट्यवाचन *'समदरसी रघुनाथ'* करके सुग्रीवसे लड़ने निकल पड़ा था, किंतु शरणागत सुग्रीवके लिये प्रभुने वालिको छिपकर मारनेमें कोई संकोच नहीं किया। तात्त्विक बात यह है कि समदर्शी होते हुए भी भक्तों और अभक्तोंके अनुसार भगवान्‌का प्रेम भक्तोंके प्रति विशेष रहता ही है—

तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

प्रेम-प्रतिदानका संस्कार—कोई आजीवन वेद-शास्त्र पढ़ता रहे या पञ्चाग्नि-तपका पराक्रम करे, करोड़ों मन्त्र जप ले अथवा अहर्निश यज्ञ-स्वाध्याय ही सम्पन्न कर ले, किंतु इनसे भगवान् तनिक भी नहीं रीझते। प्रेमके बिना ये सारी साधनाएँ व्यर्थ हैं। परंतु बिना कुछ साधन-भजन किये भी कोई हृदयसे उन्हें एक प्रेमभरी पुकार लगा दे तो वे द्रवित होकर ऐसे दौड़े-भागे चले आते हैं, जैसे क्षणमात्रकी देरीसे बड़ा अनर्थ हो जायगा। वस्तुतः भगवान् प्रेममय हैं, प्रेमके वशीभूत हैं, उन्हें केवल प्रेमसे प्रेम है—

'रामहि केवल प्रेमु पिआरा।'

प्रेम ही वह पारस है जो भगवान्‌को निर्गुणसे सगुण बना देता है—

'भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥'

'रामु सगुन भए भगत पेम बस॥'

ब्रह्मा और महेश भी जिन भगवान्‌की थाह पाते-पाते थक गये, वे ही भगवान् गोकुलकी गोपियोंकी अँगुलियोंके इशारेपर ठुमक-ठुमककर नाचनेमें आनन्दका अनुभव करते हैं। दुर्योधनके राजभवनमें छप्पन भोग ठुकराकर विदुरजीकी कुटियामें भोजन करना उन्हें अधिक रुचिकर लगता है। अपने प्रेमीभक्त नारदका शाप वे सहर्ष स्वीकार करते हैं। प्रेममें भगवान्‌की परवशताका सूरदासजीने मार्मिक वर्णन किया है—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।

× × ×

राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥

भक्तकी अधीनताका संस्कार—भगवान्‌में ऐश्वर्यके साथ-साथ सेवा, कृपा, करुणा और अनुग्रहका गहन संस्कार है। मायापति भगवान्‌को अपने दासोंपर अतिशय ममता है—*'सेवक पर ममता अति भूरी'* अपने दासोंसे अत्यन्त प्रेम है—*'मोरें अधिक दास पर प्रीती'* इसलिये उसकी रुचिका पूरा ध्यान रखते हैं—*'राम सदा सेवक रुचि राखी'* और प्रेमके प्रबल प्रवाहमें दासोंके वशमें हो जाते हैं—*'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।'*

प्रभुकी प्रीतिकी रीति ही ऐसी है कि अपनी प्रभुता भूलकर सेवकोंके अधीन हो जाते हैं—

ऐसी हरि करत दासपर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस, होत सदा यह रीति॥

(विनय-पत्रिका ९८)

भगवान्‌के भक्तकी अधीनताके संस्कारके सम्बन्धमें यह कथन बड़ा सुन्दर है—'भगवान् परम स्वतन्त्र हैं,

इसलिये उनको परवश होनेमें आनन्द आता है। जीव परतन्त्र है, इसलिये उसको स्वतन्त्र होनेमें आनन्द आता है।' भगवान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि मैं तो अस्वतन्त्र-जैसा सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मेरे भक्तप्रेमी हृदयपर भक्त साधुओंने आधिपत्य जमा रखा है। मुझमें हृदय लगाकर भक्तजन मुझे पूरी तरह अपने वशमें कर लेते हैं। जैसे कि सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३, ६६)

सचमुच भगवान् भक्तोंके अधीन हैं। भक्तोंको उनकी चाकरी करनेमें आनन्द आता है और वे भक्तोंकी दासता करके आत्मविभोर होते हैं। तभी तो कभी सेवक बनकर उगनाके रूपमें विद्यापतिकी सेवा करते हैं तो कभी एकनाथजीके घरमें श्रीखंडिया बनकर नौकरी करते हैं। कभी भक्त तुलसीदासकी रुचि देखते हुए बाँसुरी त्यागकर धनुष-बाण धारण कर लेते हैं तो कभी रामप्रसादके छप्पर बँधवाने—सहयोग करने वहाँ पहुँच जाते हैं। संसारके स्वामीपर भक्तकी अधीनताका ऐसा संस्कार छाया हुआ है कि प्रेमी भक्तोंके पीछे-पीछे उनकी चरणधूलिसे स्वयंको पवित्र करनेके लिये दीवानोंकी तरह घूमते रहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

अपने दासोंका दासत्व करनेवाले, भक्तोंके परम पक्षपाती, सेवकोंपर अकारण अनुग्रहके लिये व्याकुल—ऐसे अद्भुत संस्कारसम्पन्न श्रीभगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम निवेदनपूर्वक प्रार्थना है कि अपने संस्कारके थोड़े अंश हम सभी तुच्छ दासोंको भी प्रदान करनेकी कृपा करें।

शुभकार्यके लिये प्रतीक्षा मत कीजिये

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्। वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्। अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्। न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्॥
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः। अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो यथा॥
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्। कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम्॥

जैसे घास चरते हुए भेंड़ेके पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्यका मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है। इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी। कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं। कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा? सम्पूर्ण जगत्‌पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है, तो उसे पहलेसे सूचना नहीं भेजती। जैसे मछुआ चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेता है, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर ही आक्रमण करती है। अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निस्संदेह अनित्य है। धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है। (महा०, शान्ति० अ० १७५)

भगवान् श्रीरामका नामकरण-संस्कार

(स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास')

षोडश संस्कारोंमें एक नामकरण-संस्कार भी है, जिसका विशिष्ट प्रयोजन है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त तो नामका महत्त्व रहता ही है, किंतु मृत्युके पश्चात् तो नाम ही रह जाता है। व्यक्ति अपने कर्मोंके अनुसार नामद्वारा ही यश एवं अपयश प्राप्त करता है। इसीलिये नामकरण-संस्कारकी अपनी विशेष महिमा है। यहाँ भगवान् श्रीरामके नामकरण-संस्कारके प्रसङ्गकी संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत है—

भगवान् श्रीरामके अवतरणसे अयोध्यापुरी आनन्दाम्बुधिमें हिलोरें लेने लगी। जन्म-महोत्सवके अनुपम आनन्दकी उमङ्गमें कुछ दिवस यों ही बीत गये। श्रीरामचरितमानस (१।१९७।१)-में गोस्वामीजीकी वाणी है—

कछुक दिवस बीते एहि भाँती। जात न जानिअ दिन अरु राती॥

तदनन्तर नामकरण-संस्कारका समय जानकर राजा दशरथने कुलगुरु मुनिवर वसिष्ठजीको बुलवाया—

नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥
करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा॥

(रा०च०मा० १।१९७।२-३)

वसिष्ठजी कहते हैं—

इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥

(रा०च०मा० १।१९७।४)

हे राजन्! इनके नाम तो अनेक (अनन्त) हैं—अनुपम हैं तथापि मैं अपनी बुद्धिके अनुसार ही कहता हूँ। अब भगवान्का नामकरण-संस्कार करते हुए परमज्ञानी मुनि वसिष्ठ उनकी महिमाका वर्णन भी करते चलते हैं—

जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

(रा०च०मा० १।१९७।५-६)

यहाँ भगवान् श्रीरामकी विशेषता बतलाते हुए तीन विशेषण दिये गये हैं—(१) आनंद सिंधु (२) सुखरासी और (३) सुख धाम। प्रसङ्गानुसार इनका संक्षिप्त विवेचन समुचित होगा। प्रश्न उठता है कि इन तीन विशेषणोंकी क्या आवश्यकता थी? जबकि एक 'आनंद सिंधु' से ही भलीभाँति काम चल सकता था। इन तीन विशेषणोंसे वसिष्ठजी क्या प्रकट करना चाहते हैं? देखिये—

(१) 'आनंद सिंधु'—प्रभु ऐसे आनन्दके समुद्र हैं जिनके एक बिन्दुमात्रसे त्रैलोक्यमें आनन्दकी वर्षा हो सकती है। 'आनंद सिंधु' उन पूर्ण अनुरागी, लोकातीत, भगवद्भक्तोंके लिये कहा, जो सर्वथा प्रभुमें लीन होना चाहते हैं किंवा तन्मय होनेकी कामना रखते हैं, जिस आनंद सिंधुमें डूब जानेपर फिर निकलना नहीं होता। जहाँ डूबनेपर व्यक्ति अपने व्यक्तित्वको खो देता है और प्रभुरूप ही हो जाता है, सो यह तो सबके वशकी बात नहीं है और इस प्रकार संसारकी सारी सम्पदाओं एवं क्रिया-कलापोंकी वासनासे मुक्त होकर 'आनंद सिंधु' में गोता लगाना किन्हीं विरले भाग्यशालियोंको ही प्राप्त होता है, जिनके मनमें प्रभुके सिवा और कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती। इस स्थितिके लिये संत कबीरदासजीने कहा है—

जिन ढूँढा तिन पाइया, गहिरे पानी पैठि।
मैं बपुरा बूडन डरा, रहा किनारे बैठि॥

इसलिये इस 'आनंद सिंधु' में बूड़नेकी हिम्मत सब नहीं कर सकते, यह तो भक्त-योगियोंके वशकी ही बात है। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायके अन्तिम दो श्लोक प्रमाण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सखा अर्जुनसे कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

अर्थात् योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन! तू योगी हो।

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

तपस्वी किसी कामनाको लेकर तपस्या करता है। शास्त्रज्ञानी एवं कर्मशीलमें भी कामना काम करती है, पर योगी वह होता है, जिसके मनमें कोई सांसारिक इच्छा शेष नहीं रहती, केवल प्रभुकी ही लगन होती है, चिन्तन और सुमिरन होता है तथा ध्यान होता है। प्रभु और उसके बीचमें कामनाका परदा या आवरण न होनेसे हृदयमें सीधा प्रभुका दर्शन हो जाता है। यही योग है। यथा—

योग बने प्रभु रामसे जपे नाम निष्काम।
देह रहे सुख धाम है, देह तजे हरिधाम॥

अतएव ऐसे भक्तयोगी ही आनंद सिंधु प्रभुमें पूर्णतया निमग्न हो सकते हैं।

अब जो इस स्थितिमें पहुँचनेमें असमर्थ हैं, उनके लिये वसिष्ठजीने दूसरा विशेषण दिया—

(२) सुखरासी—सुखकी राशि (ढेर या भण्डार)-से ऐसे भक्त अपनी-अपनी क्षमताके अनुसार सुख ग्रहण कर लेते हैं। कोई-कोई दूरसे ही सुखराशिका दर्शन कर सुखी हो जाते हैं, जो सत्सङ्गके माध्यमसे उन्हें उपलब्ध होता है।

(३) सुख धाम—अब तीसरे प्रकारके भक्त जो सम्पूर्ण-सुरक्षासहित सुखका भोग करना चाहते हैं, उनके लिये वसिष्ठजीने विशेषण दिया—*सुख धाम*।

भगवान् राम सुखके धाम हैं, धामका अर्थ है—आश्रयस्थान या आश्रम। सुजन भक्त सुख धाममें जहाँ प्रवेश कर रहने लगते हैं, वहाँ कोई दुःख-ताप नहीं रहता—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

वहाँ वर्षा, शीत, ग्रीष्म किसीके प्रवेशका भय नहीं रहता। अब सुखपूर्वक सुख धाममें रहो, फिर यह कोई छोटा-मोटा आश्रयस्थान तो है नहीं, जहाँ कुछ ही जन रह सकें। यह तो इतना विशाल, विराट् स्थान है कि जो तीनों लोकोंके भक्तोंको विश्राम दे सकता है।

ऐसे आनन्दसिन्धु, सुखराशि और सुखधामके नामकरण-संस्कारके सम्बन्धमें अध्यात्मरामायणके बालकाण्ड (सर्ग ३।४०)-में यह श्लोक आया है—

यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्ययाज्ञानविप्लवे।
तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि॥

भावार्थ—

जब विज्ञान-विभवके द्वारा हो जाता अज्ञान विनाश।
रमण किया करते हैं जिनमें मुनिजन पाकर प्रेम-प्रकाश॥
अथवा जो निज रूप सुधाका करवाके अनुपम रस पान।
भक्तजनोंका चित्त रमाते 'राम' यही गुरु कहा बखान॥

इस प्रकार भगवान् रामका नामकरण-संस्कार हुआ। इस प्रसङ्गसे यही समझमें आता है कि बालकका नामकरण-संस्कार अपने कुलगुरु या किसी सम्माननीय वरिष्ठ आचार्य, संत, सत्पुरुषके द्वारा करवाना चाहिये। नामकरणके पूर्व उस व्यक्तिका भलीभाँति मान-पूजन करना चाहिये, जैसा कि श्रीरामचरितमानस (१।१९७।३)-में वर्णित है—

करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा॥

इस प्रकार नामकरण-संस्कार परम मङ्गलमय हो जाता है। अपने द्वारा कल्पित, मनमाने, निरर्थक नाम न रखकर सार्थक, शुभ और सुन्दर नाम रखना ही श्रेयस्कर होता है।

परम ज्ञानी मुनिवर वसिष्ठजीने

देखकर राजा दशरथके पुत्र सर्वसमर्थ प्रभुका नामकरण इस प्रकार किया कि वह नाम सर्वत्र प्रचारित हो गया। भले-बुरे, हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दु:ख—सबके साथ जुड़ गया। यहाँतक कि अधिकांश सुजन अपने बाल-गोपालका नाम राम-नामसे युक्त ही रखने लगे।

'राम' इस नामका जनमानसपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सर्वत्र राम-ही-रामका उद्घोष होने लगा। जीवनके पग-पगपर पल-पलमें राम-नामका स्मरण, कथन होने लगा और वह जनता-जनार्दनका कण्ठहार बन गया, तब भगवद्भक्तोंकी चाह भी इस प्रकार राम-नामके साथ जुड़ गयी—

रसना पै राम राम श्रवणोंमें राम राम,
अर्चा में राम राम, चर्चा में राम राम।
सोते में राम राम, जगते में राम राम,
सपने में राम राम, अपने में राम राम॥
चलते में राम राम, बैठे तो राम राम,
निर्जन में राम राम, बहुजन में राम राम।
सुख में भी राम राम, दुख में भी राम राम,
'हरीदास' अष्टयाम राम राम राम राम॥

~~~o~~~

भगवद्भक्ति और संस्कार

(श्रीरामकृष्ण रामानुजदास 'श्रीमंतजी महाराज')

संस्कारकी दृष्टिसे ही मानव-योनि सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य ही संस्कारोंसे सम्पन्न होकर सुसंस्कृत, चरित्रवान्, सदाचारी और भगवद्भक्त बन सकता है। अन्य किसी जीवको यह योग्यता नहीं प्राप्त है। प्रभुकी मानवपर यह विशेष कृपा है। अतः जीवनको भक्तिके संस्कारसे आप्लावित करना ही मानव-जीवनकी सफलता है।

अन्तःकरणको निर्मल करना ही संस्कार है। जब मनुष्य कामना, ममता और अहंकारको छोड़ता है, तभी उसका अन्तःकरण निर्मल बनता है। शिष्टाचार संस्कारकी पूर्वपीठिका है। बड़े-छोटे तथा समाजकी मर्यादाके अनुसार शिष्टाचारके नियम बनाये गये हैं। मर्यादाका पालन शिष्टाचार है। भगवान् श्रीरामकी अवतार-लीलामें शिष्टाचारकी शिक्षा परिव्याप्त है। बड़ोंको आदर देनेसे अन्तःकरण पवित्र बनता है। उन्हें वन्दन करनेसे हृदय शीतल बनता है और अहंकाररूपी दोष मिटता है। भारतीय सनातन संस्कृतिके अनुसार शिष्टाचार-धर्मका पालन अवश्य करना चाहिये। अपनेसे छोटोंको सदा प्यार करना चाहिये। धार्मिक आचरणकी प्रेरणा ग्रहण करनेके लिये तथा उन्हें भारतीय संस्कार-परम्पराका अवबोध करानेके लिये सद्ग्रन्थोंको पढ़नेकी प्रेरणा देनी चाहिये। इससे भक्तिके संस्कार दृढ़ होंगे।

भक्तिकी साधनाद्वारा ही मानव-जीवनमें उत्तम संस्कारोंका विकास होता है। भक्तिरसके सागरमें निरन्तर अवगाहन करनेवाले आचार्य श्रीधरस्वामीजीने श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीताकी सुबोधगम्य टीकामें यह भली-भाँति दर्शाया है कि भगवान्‌की प्राप्तिके जितने भी मार्ग हैं, वे सब भक्तिके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। सभी मनुष्योंका संस्कार एक समान नहीं होता, अतः सबके कल्याणके लिये भक्तिके भिन्न-भिन्न मार्गोंकी आवश्यकता होती है।

अन्तःकरणकी मलिनताके कारण हम भगवान् तथा भक्ति-भावनाको नहीं समझ पाते। इसलिये अन्तःकरणकी मलिनताको दूर करना पवित्र संस्कारको अर्जित करना है। भगवान्‌के नाम-जपसे श्रेष्ठ संस्कार बनते हैं। श्रेष्ठ संस्कारको सात्त्विक संस्कार कहा जाता है। सात्त्विक संस्कारसे ही भगवान्‌में विश्वास और प्रेम बढ़ता है, जिसे भक्तिकी संज्ञा दी जाती है।

भगवान् सगुण, निर्गुण—सब कुछ हैं। जैसे-जैसे नाम-जप, साधन, सत्सङ्ग आदिके संस्कार दृढ़ होते जाते हैं, वैसे-वैसे भगवान्‌में अधिक विश्वास और प्रेम बढ़ता
~~~

जाता है। पारस घरमें पड़ा है, लेकिन उसका ज्ञान नहीं रहनेके कारण हम व्यर्थ ही दुःखी होते हैं। ठीक इसी प्रकार भगवान् हमारे भीतर तथा चारों तरफ हैं, लेकिन विश्वास-संस्कारके अभावमें हम सदा दुःखी रहते हैं। जैसे सूर्यके आश्रयसे गरमी और प्रकाश प्राप्त होते हैं, वैसे ही भगवान्के भजन और स्मरणसे हममें स्वतः ही सद्गुण और सदाचारकी प्रतिष्ठा हो जाती है, श्रेष्ठ एवं पवित्र संस्कारकी अविच्छिन्न परम्परासे हम आप्लावित होते जाते हैं।

भगवान् यद्यपि सब कुछ हैं, लेकिन भक्त अपनी भावना और संस्कारके अनुसार ही उन्हें देखता है। भक्तकी भावनाकी महत्ता है। भगवान्के भजनरूपी संस्कारसे भक्तिकी सिद्धि होती है। सिद्ध भक्तमें ज्ञान, वैराग्य, प्रेम, चरित्रनिर्माण तथा मानवताके सारे शुभ संस्कार स्वतः आ जाते हैं। जैसे-जैसे साधक भजन करता है, वैसे-वैसे उसमें भक्तिके संस्कार बढ़ते जाते हैं। भजनसे जन्म-जन्मके पुराने मलिन पाप तथा अज्ञानके संस्कार निश्चय ही मिट जाते हैं। भजन विषको अमृत बना देता है। तुलसीदासजीने प्रभु-नामके जप तथा स्मरणकी अपार महिमा बताते हुए कहा है—

पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।

(रा०च०मा० ७।१३०।छं० १)

शरीरका चिन्तन और अज्ञान ही कुसंस्कार है। आत्मा और परमात्माका बोध होना सुसंस्कार है। सुसंस्कारसे भगवद्भक्ति होती है। जीवका पारमार्थिक स्वरूप आत्मा है। कुसंस्कारोंके पनपनेसे ही अज्ञानी मनुष्य सदा भटकता रहता है।

आत्मरूपी परमात्मप्रेमका आचरण ही भगवद्भक्तिका सच्चा स्वरूप है। तुलसीदासजीने भी आत्मप्रेमको मणि बताकर भगवद्भक्तिकी महिमा गायी है, देखिये—

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे॥

ज्ञानकी दृष्टिसे समस्त संसार ही भगवत्स्वरूप है। सभी प्राणियोंमें भगवान्की सत्ता देखकर सबसे निःस्वार्थ प्रेम करना तथा उनकी सेवा करना बिना सुसंस्कृत हुए सर्वथा असम्भव-सा ही है। इसीलिये असंस्कृत एवं अज्ञानी मनुष्य भगवान् तथा धर्मके तत्त्वको न जाननेके कारण अपने अमूल्य जीवनका दुरुपयोग ही करते हैं। भगवान्के गुणोंका अनुसरण करना वास्तवमें संस्कारसम्पन्न बनना ही है। सुसंस्कारोंकी अनुपालना भगवान्तक पहुँचनेकी साधना है।

विडम्बना है कि संस्कारोंके बलपर ही जगद्गुरुकी प्रतिष्ठाको प्राप्त हमारे देशमें आज सर्वत्र कुसंस्कार फैलते जा रहे हैं और भगवद्भक्तिरूप उत्तम संस्कारका लोप-सा हो गया है। इस दुष्प्रवृत्तिको रोकनेका दृढ़तासे प्रयत्न करना होगा। धर्म, नैतिकता, भगवद्भक्ति आदिके शुभ संस्कारोंकी प्रेरणा प्राप्त करनेके लिये अपने गौरवमय अतीतकी ओर देखना होगा। शुभ संस्कारोंका अनुपालन करना ही मानवताका विकास करना है। भारतीय संस्कृतिकी गरिमा मानवताकी रक्षा और विकास करनेमें ही है। भगवान् सबको सद्बुद्धि दें, जिससे सभी मनुष्य धर्म, नैतिकता और भगवद्भक्तिद्वारा अपने चरित्रकी गरिमा तथा महिमाको बढ़ानेमें सफल हों।

संस्कारोंके अनुपालनका अर्थ है—देहभावके मलिन संस्कारोंको आत्मभावके पवित्र संस्कारोंसे दूर करना अर्थात् देहात्मबुद्धिका त्याग करना।

भक्तिका संस्कार दृढ़ होनेपर देहासक्ति तथा कर्मफलासक्ति मिट जाती है। जबतक विषय-वासना आदि कुसंस्कार मनुष्यमें स्थित रहते हैं, तबतक वह भगवद्भक्तिके दिव्य संस्कारोंको नहीं समझ सकता, किंतु जब संस्कार-साधनासे उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तो उसमें भक्तिगम्य महाप्रभु स्वयं ही आकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं और तब उसका मानव-जन्म सफल हो जाता है।

सुसंस्कृत एवं सदाचारमर्यादाकी रघुकुल-रीति

(आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, एम०ए०, पी-एच०डी०)

सर्वशक्तिमान् भगवान्ने गुणकर्मका विभाग करते हुए चातुर्वर्ण्यात्मक भारतीय समाजकी सृष्टि की[1] और उसकी सुव्यवस्थाहेतु श्रुतियोंको प्रतिष्ठापित किया। भगवान्के श्वाससे निःसृत[2] इन श्रुतियोंके अनुसार सुसंस्कृत एवं सदाचारमय जीवन-यापन करनेसे धर्मार्थकाममोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टय अनायास ही सिद्ध होता है।[3] श्रुतियोंकी इस परम्पराके संरक्षक स्वयं भगवान् हैं और जब-जब इस श्रुतिपरम्परामें कोई व्यवधान उपस्थित होता है, तब-तब भगवान् स्वयं अवतार लेकर अपनी श्रुतिपरम्पराओंका संरक्षण करते हैं।[4] भगवान् शंकरके शब्दोंमें श्रीरामजन्मका हेतु भी यही है—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥
(रा०च०मा० १।१२१)

रघुकुलतिलक भगवान् श्रीरामने रघुकुलकी रीतिके अनुसार सुसंस्कृत एवं सदाचारमय जीवन-दर्शनकी इसी मर्यादाको सुस्थापित किया। जिसका मूल 'धर्म' है, शाखाएँ 'अर्थ' हैं तथा पुष्प 'काम' है और फल 'मोक्ष' है—ऐसा सदाचाररूपी वृक्ष[5] किस प्रकार विकसित-पुष्पित एवं फलित होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव करानेके लिये व्यापक-अकल-अनीह-निर्गुण और अज परमात्माने श्रीरामके रूपमें मानवशरीर धारण किया। श्रीरामने यावज्जीवन श्रुति-सम्मत मर्यादाओं एवं सदाचारोंका[6] अनुपालन करते हुए संसारके सम्मुख एक प्रत्यक्ष एवं प्रभावशाली आदर्श समुपस्थापित किया।

भगवान् श्रीराम बाल्यकालसे ही सदाचारपरायण हैं। जन्मके समय माता कौसल्याको उन्होंने अपने चतुर्भुजरूपका

---

१. 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' (गीता ४।१३)

२. 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।' (रा०च०मा० १।२०४।५)

३. प्राचीन कालमें गङ्गा, सरस्वती इत्यादि नदियोंसे समलङ्कृत एवं देवनिर्मित हमारे देश भारतवर्ष (ब्रह्मावर्त)-में ये संस्कार एवं सदाचार परम्परागत ढंगसे अपनाये जाते थे तथा लोग सफलमनोरथ होते थे। मनुने इन सदाचारोंको समस्त विश्वके लिये आचरणीय (अनुकरणीय) कहा था। तत्कालीन भारतको अपने इन्हीं सदाचारोंके बलपर विश्वगुरुका गौरव प्राप्त था—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ (मनुस्मृति २।१७-१८)

४. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता ४।७)

५. धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः।
असौ सदाचारतरुः सुकेशिन् संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता॥ (वामनपुराण १४।१९)

६. कामन्दकीय नीतिसारमें सदाचारी, संस्कारसम्पन्न महापुरुषोंके सात्त्विक गुणोंका विस्तारसे वर्णन मिलता है। तदनुसार सत्पुरुषके मुख्य गुण हैं—सत्य एवं मधुर वाणी, प्राणिमात्रपर दया, दानशीलता, दीनों तथा शरणागतोंकी रक्षा, सुशीलता, आस्तिकता, पवित्रता एवं उदारता, नित्य देवपूजनकी प्रवृत्ति, गुरुजनोंमें देवत्वबुद्धि तथा मित्रोंमें आत्मदृष्टि। सदाचारी पुरुष प्रणामनिवेदन तथा सेवा आदिसे गुरुजनों, शालीन व्यवहारसे सज्जनों, धन-सम्पत्तिद्वारा याचनेमें आये जनों तथा अपने सुकृत कर्मोंद्वारा देवताओंको प्रसन्न किये रहते हैं। इसी प्रकार वे अपने सद्व्यवहारसे मित्रों, विक्रमद्वारा शत्रुओं, प्रेम तथा दान आदिके द्वारा स्त्रियों एवं सेवकों और विनय, शील तथा सौजन्यसे अन्य सभी जनोंको

दर्शन अवश्य कराया, किंतु माताकी आज्ञा मिलते ही वे शिशुरूप धारण कर रोने लगे—

'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।'

(रा०च०मा० १।१९२ छन्द)

श्रीराम प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर माता-पिता एवं गुरुको प्रणाम करते हैं तथा उनकी आज्ञाओंका अनुसरण करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

'मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥'

(रा०च०मा० १।२०५।७, ४)

भगवान् श्रीराम शतकोटि मनोजोंको भी लज्जित करनेवाले तथा भूमण्डलमें अनुपमेय रूप-सौन्दर्यसे परिपूर्ण एवं पराक्रमी हैं, तथापि उन्हें अपने रूप, वैभव या पराक्रमका लेशमात्र भी गर्व नहीं है। वे अपने अनुजों और सखाओंके सङ्ग भोजन करते हैं तथा साथमें मृगया खेलने जाते हैं—

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥

'अनुज सखा सँग भोजन करहीं।'

जनकपुरमें नगर-दर्शनहेतु निकले हुए श्रीराम जनकपुरवासी बालकोंके घरमें प्रेमपूर्वक निःसंकोच चले जाते हैं तथा बच्चोंके साथ ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे बच्चे उनके परम मनोहर शरीरको स्पर्श भी कर लेते हैं। गोस्वामीजीने इस आनन्ददायक प्रसङ्गको इस प्रकार वर्णित किया है—

निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥

(रा०च०मा० १।२२५।२)

सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥

(रा०च०मा० १।२२४)

श्रीराम किसीसे भी ईर्ष्या नहीं करते, वे तो अपने पराक्रमसे अर्जित विजयश्रीका श्रेय भी दूसरोंको दे देते हैं। रावण-जैसे पराक्रमी शत्रुका वध करनेके पश्चात् श्रीरामने अत्यन्त ही सरलतापूर्वक इस विजयश्रीका श्रेय वानरोंको दे दिया है—

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्‍यो। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‍यो॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥

(रा०च०मा० ६।११८।४; ७।८।७)

श्रीरामको यदि कोई कठोर वचन कह भी देता है तो वे उसका उत्तर नहीं देते तथा शान्तचित्त रहते हैं। वे इतने उदार हैं कि एक बार भी किये गये उपकारको सदैव याद रखते हैं, किंतु अपने प्रियजनोंके सैकड़ों अपराधोंपर भी ध्यान नहीं देते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥

(रा०च०मा० १।२९।५—७)

झूठी बातें तो उनके मुखसे निकलती ही नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं कि श्रीराम दो तरहकी बात नहीं बोलते—'रामो द्विर्नाभिभाषते' (वा०रा० २।१८।३०)।

श्रीराम छः अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ ज्ञाता हैं। वे नाटकादि साहित्यके भी अध्येता और विज्ञ हैं। वे धर्मके रहस्यको जाननेवाले हैं तथा विद्वान् हैं, किंतु इतना सब कुछ होनेपर भी वे निरभिमानी-भावसे सर्वदा वृद्ध पुरुषोंका समादर किया करते हैं* तथा ज्ञान-विज्ञानशील एवं चरित्र तथा आयुमें वृद्धजनोंका नित्य संसर्ग करके उनसे शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं—

प्रातकाल सरऊ करि मज्जन। बैठहिं सभाँ संग द्विज सज्जन॥

अभिभूत किये रहते हैं। सत्पुरुष दूसरेके कार्योंकी निन्दा नहीं करते, अपने धर्मके पालनमें सदा तत्पर रहते हैं, दीनोंपर अनुग्रह करते हैं और सदा ही मधुर वाणीका प्रयोग करते हैं, सन्मार्गमें आरूढ़ मित्रका प्राणोंसे भी अधिक उपकार करते हैं। गृहागत व्यक्तिको स्नेह एवं आलिङ्गन प्रदान करते हैं, सहिष्णु रहते हैं, अपनी समृद्धिमें गौरवकी अनुभूति नहीं करते, दूसरेके अभ्युदयमें द्वेष नहीं रखते, धार्मिक वचन ही बोलते हैं तथा विशेष रूपसे मौनव्रतका पालन करते हैं अर्थात् अन्यायपूर्वक नहीं बोलते, बन्धुजनोंसे उनका नित्य संयोग बना रहता है, सज्जनोंसे उनका नित्य सांनिध्य रहता है और वे उन्हींके चितके अनुकूल आचरण करते हैं।

* श्रीरामके इन गुणोंकी चर्चा वाल्मीकिजीने (वा०रा० २।१।९—२६ में) विस्तारसे की है। यहाँ केवल हिन्दी भावानुवाद दिया जा रहा है—

श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे अपने

सुसंस्कृत एवं सदाचारमर्यादाकी रघुकुल-रीति

(आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

सर्वशक्तिमान् भगवान्ने गुणकर्मका विभाग करते हुए चातुर्वर्ण्यात्मक भारतीय समाजकी सृष्टि की[१] और उसकी सुव्यवस्थाहेतु श्रुतियोंको प्रतिष्ठापित किया। भगवान्के श्वाससे निःसृत[२] इन श्रुतियोंके अनुसार सुसंस्कृत एवं सदाचारमय जीवन-यापन करनेसे धर्मार्थकाममोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टय अनायास ही सिद्ध होता है।[३] श्रुतियोंकी इस परम्पराके संरक्षक स्वयं भगवान् हैं और जब-जब इस श्रुतिपरम्परामें कोई व्यवधान उपस्थित होता है, तब-तब भगवान् स्वयं अवतार लेकर अपनी श्रुतिपरम्पराओंका संरक्षण करते हैं।[४] भगवान् शंकरके शब्दोंमें श्रीरामजन्मका हेतु भी यही है—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥
(रा०च०मा० १।१२१)

रघुकुलतिलक भगवान् श्रीरामने रघुकुलकी रीतिके अनुसार सुसंस्कृत एवं सदाचारमय जीवन-दर्शनकी इसी मर्यादाको सुस्थापित किया। जिसका मूल 'धर्म' है, शाखाएँ 'अर्थ' हैं तथा पुष्प 'काम' है और फल 'मोक्ष' है—ऐसा सदाचाररूपी वृक्ष[५] किस प्रकार विकसित-पुष्पित एवं फलित होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव करानेके लिये व्यापक-अकल-अनीह-निर्गुण और अज परमात्माने श्रीरामके रूपमें मानवशरीर धारण किया। श्रीरामने यावज्जीवन श्रुति-सम्मत मर्यादाओं एवं सदाचारोंका[६] अनुपालन करते हुए संसारके सम्मुख एक प्रत्यक्ष एवं प्रभावशाली आदर्श समुपस्थापित किया।

भगवान् श्रीराम बाल्यकालसे ही सदाचारपरायण हैं। जन्मके समय माता कौसल्याको उन्होंने अपने चतुर्भुजरूपका

१. 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' (गीता ४।१३)

२. 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।' (रा०च०मा० १।२०४।५)

३. प्राचीन कालमें गङ्गा, सरस्वती इत्यादि नदियोंसे समलङ्कृत एवं देवनिर्मित हमारे देश भारतवर्ष (ब्रह्मावर्त)-में ये संस्कार एवं सदाचार परम्परागत ढंगसे अपनाये जाते थे तथा लोग सफलमनोरथ होते थे। मनुने इन सदाचारोंको समस्त विश्वके लिये आचरणीय (अनुकरणीय) कहा था। तत्कालीन भारतको अपने इन्हीं सदाचारोंके बलपर विश्वगुरुका गौरव प्राप्त था—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ (मनुस्मृति २।१७-१८)

४. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता ४।७)

५. धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः।
असौ सदाचारतरुः सुकेशिन् संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता॥ (वामनपुराण १४।१९)

६. कामन्दकीय नीतिसारमें सदाचारी, संस्कारसम्पन्न महापुरुषोंके सात्त्विक गुणोंका विस्तारसे वर्णन मिलता है। तदनुसार सत्पुरुषके मुख्य गुण हैं—सत्य एवं मधुर वाणी, प्राणिमात्रपर दया, दानशीलता, दीनों तथा शरणागतोंकी रक्षा, शुचिता, आस्तिकता, पवित्रता एवं उदारता, नित्य देवतार्चनकी प्रवृत्ति, गुरुजनोंमें देवत्वबुद्धि तथा मित्रोंमें आत्मदृष्टि। सदाचारी पुरुष प्रणामनिवेदन तथा सेवा आदिसे गुरुजनों, शास्त्रनिष्ठ व्यवहारसे सज्जनों, धन-सम्पत्तिद्वारा पासमें आये जनों तथा अपने सुकृत कर्मोंद्वारा देवताओंको प्रसन्न किये रहते हैं। इसी प्रकार वे अपने सद्भावद्वारा मित्रों, विश्वासद्वारा बन्धुओं, प्रेम तथा दान आदिके द्वारा स्त्रियों एवं सेवकों और विनय, शील तथा सौजन्यसे अन्य सभी जनोंको

दर्शन अवश्य कराया, किंतु माताकी आज्ञा मिलते ही वे शिशुरूप धारण कर रोने लगे—

'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।'

(रा०च०मा० १।१९२ छन्द)

श्रीराम प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर माता-पिता एवं गुरुको प्रणाम करते हैं तथा उनकी आज्ञाओंका अनुसरण करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

'मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥'

(रा०च०मा० १।२०५।७, ४)

भगवान् श्रीराम शतकोटि मनोजोंको भी लज्जित करनेवाले तथा भूमण्डलमें अनुपमेय रूप-सौन्दर्यसे परिपूर्ण एवं पराक्रमी हैं, तथापि उन्हें अपने रूप, वैभव या पराक्रमका लेशमात्र भी गर्व नहीं है। वे अपने अनुजों और सखाओंके सङ्ग भोजन करते हैं तथा साथमें मृगया खेलने जाते हैं—

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥

'अनुज सखा सँग भोजन करहीं।'

जनकपुरमें नगर-दर्शनहेतु निकले हुए श्रीराम जनकपुरवासी बालकोंके घरमें प्रेमपूर्वक निःसंकोच चले जाते हैं तथा बच्चोंके साथ ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे बच्चे उनके परम मनोहर शरीरको स्पर्श भी कर लेते हैं। गोस्वामीजीने इस आनन्ददायक प्रसङ्गको इस प्रकार वर्णित किया है—

निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥

(रा०च०मा० १।२२५।२)

सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥

(रा०च०मा० १।२२४)

श्रीराम किसीसे भी ईर्ष्या नहीं करते, वे तो अपने पराक्रमसे अर्जित विजयश्रीका श्रेय भी दूसरोंको दे देते हैं। रावण-जैसे पराक्रमी शत्रुका वध करनेके पश्चात् श्रीरामने अत्यन्त ही सरलतापूर्वक इस विजयश्रीका श्रेय वानरोंको दे दिया है—

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्‌यो। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‌यो॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥

(रा०च०मा० ६।११८।४, ७।८।७)

श्रीरामको यदि कोई कठोर वचन कह भी देता है तो वे उसका उत्तर नहीं देते तथा शान्तचित्त रहते हैं। वे इतने उदार हैं कि एक बार भी किये गये उपकारको सदैव याद रखते हैं, किंतु अपने प्रियजनोंके सैकड़ों अपराधोंपर भी ध्यान नहीं देते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥

(रा०च०मा० १।२९।५—७)

झूठी बातें तो उनके मुखसे निकलती ही नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं कि श्रीराम दो तरहकी बात नहीं बोलते—'रामो द्विर्नाभिभाषते' (वा०रा० २।१८।३०)।

श्रीराम छः अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ ज्ञाता हैं। वे नाटकादि साहित्यके भी अध्येता और विज्ञ हैं। वे धर्मके रहस्यको जाननेवाले हैं तथा विद्वान् हैं, किंतु इतना सब कुछ होनेपर भी वे निरभिमानी-भावसे सर्वदा वृद्ध पुरुषोंका समादर किया करते हैं* तथा ज्ञान-विज्ञानशील एवं चरित्र तथा आयुमें वृद्धजनोंका नित्य संसर्ग करके उनसे शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं—

प्रातकाल सरऊ करि मज्जन। बैठहिं सभाँ संग द्विज सज्जन॥

अभिभूत किये रहते हैं। सत्पुरुष दूसरेके कार्योंकी निन्दा नहीं करते, अपने धर्मके पालनमें सदा तत्पर रहते हैं, दीनोंपर अनुग्रह करते हैं और सदा ही मधुर वाणीका प्रयोग करते हैं, सन्मार्गमें आरूढ़ मित्रका प्राणोंसे भी अधिक उपकार करते हैं। गृहागत व्यक्तिको स्नेह एवं आलिङ्गन प्रदान करते हैं, सहिष्णु रहते हैं, अपनी समृद्धिमें गौरवकी अनुभूति नहीं करते, दूसरेके अभ्युदयमें द्वेष नहीं रखते, धार्मिक वचन ही बोलते हैं तथा विशेष रूपसे मौनव्रतका पालन करते हैं अर्थात् अन्यायपूर्वक नहीं बोलते, बन्धुजनोंमें उनका नित्य संयोग बना रहता है, सज्जनोंसे उनका नित्य सांनिध्य रहता है और वे उन्हींके चित्तके अनुकूल आचरण करते हैं।

* श्रीरामके इन गुणोंकी चर्चा वाल्मीकिजीने (वा०रा० २।१।९—२६ में) विस्तारसे की है। यहाँ केवल हिन्दी भावानुवाद दिया जा रहा है—

श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे

बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥[1]
(रा०च०मा० ७।२६।१-२)

श्रीराम बड़े दयालु हैं तथा दीन-दुःखियोंके प्रति उनके मनमें बड़ी दया है।[2] भगवान् श्रीराम अपने कुलके अनुसार आचार, दया, उदारता और शरणागत-रक्षा आदिमें मन लगाते हैं—*'मम पन सरनागत भयहारी'* (रा०च०मा० ५।४३।८)। श्रीराम अपने क्षत्रियधर्म (प्रजापालनधर्म)-को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उनका मानना है कि अपने धर्मका सम्यगनुपालन करनेसे ही उत्तम पदकी प्राप्ति सम्भव है।[3]

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥

गुणोंसे पिता दशरथके समान एवं योग्य पुत्र थे॥ ९॥ वे सदा शान्त चित्त रहते और सान्त्वनापूर्वक मीठे वचन बोलते थे; यदि उनसे कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे॥ १०॥ कभी कोई एक बार भी उपकार कर देता तो वे उसके उस एक ही उपकारसे सदा संतुष्ट रहते थे और मनको वशमें रखनेके कारण किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे॥ ११॥ अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासके लिये उपयुक्त समयमें भी बीच-बीचमें अवसर निकालकर वे उत्तम चरित्रमें, ज्ञानमें तथा अवस्थामें बढ़े-चढ़े सत्पुरुषोंके साथ ही सदा बातचीत करते (और उनसे शिक्षा लेते थे)॥ १२॥ वे बड़े बुद्धिमान् थे और सदा मीठे वचन बोलते थे। अपने पास आये हुए मनुष्योंसे पहले स्वयं ही बात करते और ऐसी बातें मुँहसे निकालते जो उन्हें प्रिय लगें; बल और पराक्रमसे सम्पन्न होनेपर भी अपने महान् पराक्रमके कारण उन्हें कभी गर्व नहीं होता था॥ १३॥ झूठी बात तो उनके मुखसे कभी निकलती ही नहीं थी। वे विद्वान् थे और सदा वृद्ध पुरुषोंका सम्मान किया करते थे। प्रजाका श्रीरामके प्रति और श्रीरामका प्रजाके प्रति बड़ा अनुराग था॥ १४॥ वे परम दयालु, क्रोधको जीतनेवाले और ब्राह्मणोंके पुजारी थे। उनके मनमें दीन-दुःखियोंके प्रति बड़ी दया थी। वे धर्मके रहस्यको जाननेवाले, इन्द्रियोंको सदा वशमें रखनेवाले और बाहर-भीतरसे परम पवित्र थे॥ १५॥ अपने कुलोचित आचार, दया, उदारता और शरणागतरक्षा आदिमें ही उनका मन लगता था। वे अपने क्षत्रियधर्मको अधिक महत्त्व देते और मानते थे। वे उस क्षत्रियधर्मके पालनसे महान् स्वर्ग (परम धाम)-की प्राप्ति मानते थे; अतः बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें संलग्न रहते थे॥ १६॥ अमङ्गलकारी निषिद्ध कर्ममें उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं होती थी; शास्त्रविरुद्ध बातोंको सुननेमें उनकी रुचि नहीं थी; वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे॥ १७॥ उनका शरीर नीरोग था और अवस्था तरुण। वे अच्छे वक्ता, सुन्दर शरीरसे सुशोभित तथा देश-कालके तत्त्वको समझनेवाले थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सारतत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है॥ १८॥ राजकुमार श्रीराम श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त थे। वे अपने सद्गुणोंके कारण प्रजाजनोंको बाहर विचरनेवाले प्राणकी भाँति प्रिय थे॥ १९॥ भरतके बड़े भाई श्रीराम सम्पूर्ण विद्याओंके व्रतमें निष्णात और छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ ज्ञाता थे। बाणविद्यामें तो वे अपने पितासे भी बढ़कर थे॥ २०॥ वे कल्याणकी जन्मभूमि, साधु, दैन्यरहित, सत्यवादी और सरल थे; धर्म और अर्थके ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी॥ २१॥ उन्हें धर्म, काम और अर्थके तत्त्वका सम्यक् ज्ञान था। वे स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे। वे लोकव्यवहारके सम्पादनमें समर्थ और समयोचित धर्माचरणमें कुशल थे॥ २२॥ वे विनयशील, अपने आकार (अभिप्राय)-को छिपानेवाले, मन्त्रको गुप्त रखनेवाले और उत्तम सहायकोंसे सम्पन्न थे। उनका क्रोध अथवा हर्ष निष्फल नहीं होता था। वे वस्तुओंके त्याग और संग्रहके अवसरको भलीभाँति जानते थे॥ २३॥ गुरुजनोंके प्रति उनकी दृढ़ भक्ति थी। वे स्थितप्रज्ञ थे और असद्वस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं करते थे। उनके मुखसे कभी दुर्वचन नहीं निकलता था। वे आलस्यरहित, प्रमादशून्य तथा अपने और पराये मनुष्योंके दोषोंको अच्छी प्रकार जाननेवाले थे॥ २४॥ वे शास्त्रोंके ज्ञाता, उपकारियोंके प्रति कृतज्ञ तथा पुरुषोंके तारतम्यको अथवा दूसरे पुरुषोंके मनोभावको जाननेमें कुशल थे। यथायोग्य निग्रह और अनुग्रह करनेमें वे पूर्ण चतुर थे॥ २५॥ उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह और पालन तथा दुष्ट पुरुषोंके निग्रहके अवसरोंका ठीक-ठीक ज्ञान था। धनकी आयके उपायोंको वे अच्छी तरह जानते थे (अर्थात् फूलोंको नष्ट न करके उनसे रस लेनेवाले भ्रमरोंकी भाँति वे प्रजाओंको कष्ट दिये विना ही उनसे न्यायोचित धनका उपार्जन करनेमें कुशल थे) तथा शास्त्रवर्णित व्यय कर्मका भी उन्हें ठीक-ठीक ज्ञान था॥ २६॥

१. वाल्मीकिरामायणके उत्तरकाण्डमें श्रीरामदरबारके विविध प्रसङ्ग द्रष्टव्य हैं, जहाँ विश्वामित्र आदि ऋषियोंसे श्रीरामने वार्ताएँ सुनी हैं।

२. रघुबर! रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीबपर, करत कृपा अधिकाई॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहु नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप, कियो सकल सँग भाई॥ (विनय-पत्रिका १६५)

३. कृष्णावतारमें प्रभुने यही उपदेश अर्जुनको भी दिया था—'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।' 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।' 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥' (गीता २।३१, ३७; ३।३५)

छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहिं पावँर आना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥
(रा०च०मा० १।२८४।१—४)

भगवान् विप्रगणों एवं गुरुजनोंका अत्यधिक समादर करते हैं। वे इनकी सेवामें सदैव तत्पर रहते हैं तथा कथमपि इनकी अवज्ञा न हो, इसके लिये सचेष्ट भी रहते हैं। महर्षि विश्वामित्रकी जो सेवा श्रीरामने की तथा उनकी मर्यादाका जैसा ध्यान रखा, वह अनुकरणीय है—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
× × ×
कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥
(रा०च०मा० १।२२६।३; २२५।६)

साधु पुरुषोंके समान ही श्रीराममें भी दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव है।[1] वे प्रजासे एक समान प्रेम करते हैं, तथापि गरीबोंपर और दीन-दु:खियोंपर उनकी विशेष कृपा रहती है।[2]

श्रीरामका भ्रातृप्रेम अद्वितीय है। स्वयं भरतने श्रीरामके भ्रातृस्नेहका अनुभव सुनाया है कि श्रीराम खेलमें भी मुझे दु:खी नहीं देख सकते थे। उन्होंने कभी भी मेरा साथ नहीं छोड़ा और न कभी मानभङ्ग ही किया। खेलमें जब मैं हार भी जाता था, तब वे मुझे ही जिता देते थे—

मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥
(रा०च०मा० २।२६०।६—८)

श्रीरामकी पितृपरायणता अद्भुत है। उन्हें पितृपरवशता अच्छी लगती है। वे पिताकी आज्ञासे आगमें कूदने, विषभक्षण करने एवं समुद्रमें गिरनेको भी तत्पर रहते हैं। वे अपने पिताको अपना गुरु और परम हितैषी मानते हैं। श्रीरामका मानना है कि इस संसारमें पिताकी आज्ञाका पालन करनेसे बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है—

वनगमननिवृत्तिः पार्थिवस्यैव ताव-
न्मम पितृपरवत्ता बालभावः स एव॥
(प्रतिमानाटक अङ्क १, श्लोक १४)

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥
न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥
(वा०रा० २।१८।२८-२९; १९।२२)

पितृभक्त श्रीराम पिताकी आज्ञासे वनको प्रस्थान कर देते हैं। उनके मनमें हर्ष या विषादका किञ्चिदपि विकार नहीं है। वस्तुतः श्रीरामके अवतारका उद्देश्य ही श्रुतिसम्मत सदाचारोंको भक्तोंके सम्मुख प्रस्तुत करना है, तभी तो वे व्यापक ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी प्राकृत मनुष्यों-जैसे चरित करते हैं—

ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
(रा०च०मा० १।२०५; ७।७२ क)

श्रीराम अपनी सदाचारपरायणताके कारण प्रजामें दशरथके समान ही बहुमान्य हैं। वे प्रजाजनोंके प्राणके समान है। प्रजाको श्रीराम प्राणोंसे भी अधिक प्रिय लगते हैं—

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः॥
(वा०रा० २।१।१९)

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥
(रा०च०मा० १।२०४)

श्रीरामका वनगमन वस्तुतः श्रुतिवाक्योंके प्रामाण्यकी सिद्धि दर्शानेके लिये है। श्रुतियाँ कहती हैं कि सत्यसन्धके वचन कभी मिथ्या नहीं होते। राजा दशरथ सत्यसन्ध हैं।

---

१. 'साधवः क्षीणदोषाच्च' (कालिकापुराण अ० ८६)।
साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय। सार-सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय॥ (कबीर)
२. समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥ (रा०च०मा० ४।३।८)

सत्यका ही अवलम्ब लेना उनकी कुल-परम्परा रही है। राजा दशरथ और श्रीराम दोनोंने अपनी इस कुल-परम्पराका उद्धरण दिया है—

श्रीराम—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
(रा०च०मा० १। २३१। ५)

दशरथ—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥
(रा०च०मा० २। २८। ४)

सत्यसन्ध दशरथने श्रीरामको राज्य देनेका सङ्कल्प किया।[1] गुरु वसिष्ठने राजा दशरथकी प्रशंसा करते हुए कहा कि हे राजन्! फल तो तुम्हारी अभिलाषाओंका अनुगमन करनेवाले हैं।[2] गुरु वसिष्ठजीने राज्याभिषेकका तत्काल मुहूर्त भी घोषित कर दिया।[3] राज्याभिषेककी तैयारी हो ही रही थी कि तभी श्रीरामके वनगमनका प्रसङ्ग आ गया। राज्य भी भरतको देनेकी बात आ गयी। अब प्रश्न यह उठा कि क्या सत्यसन्ध दशरथका सङ्कल्प झूठा हो जायगा? क्या ऋषि वसिष्ठजीकी वाणी मिथ्या पड़ जायगी? क्या श्रुतिवाक्योंका प्रामाण्य नहीं रह जायगा? इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये श्रीराम वनमें प्रस्थान करते हैं। श्रीरामको श्रुतिवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध करना है। उन्हें सत्यसन्ध पिताके वाक्योंपर विश्वास है। उन्हें शब्दप्रमाण (शास्त्रप्रमाण)-पर विश्वास है। वे जानते हैं कि प्रकृति सत्यसन्धके वाक्योंकी कभी प्रतिगामी नहीं होती। राम वनमें सीता और लक्ष्मणको भी ले गये; क्योंकि श्रीराम जानते हैं कि वनमें हम तीनों (राम, सीता तथा लक्ष्मण)-का वियोग कथमपि सम्भव नहीं है। अतः वनगमनके समय उनकी मुखमुद्रा हर्ष-विषादसे मुक्त है। श्रीरामके राज्याभिषेककी घोषणाके पश्चात् वनगमन ही नहीं, अपितु सीताहरण, लक्ष्मणशक्ति, नागपाश-बन्धन आदि अन्य अनेक व्यवधान भी आये, किंतु वे सभी येन-केन-प्रकारेण टल गये, सफल नहीं हुए तथा वनवासकी अवधि बीतनेपर श्रीराम लङ्का-विजयकी अक्षय कीर्तिश्री लेकर हनुमदादि मित्रवर्गसे सम्पुष्ट होकर अयोध्या लौटे। श्रुतिवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध हुआ, शास्त्रोंकी प्रामाणिकता सिद्ध हुई और सत्यकी रक्षा हुई।

शास्त्रोंकी इस प्रामाणिकताको स्थायी रूपसे देखकर न केवल अयोध्याकी प्रजा, अपितु त्रैलोक्यके समस्त नर-नारियोंके हृदय उल्लसित हुए तथा श्रीरामकी त्रिवर्गसिद्धि देखकर शास्त्रोक्त सदाचारोंमें उनकी आस्था पुनः दृढ़ हो गयी। इस प्रकार श्रीरामने सुसंस्कृत एवं सदाचारमय जीवन-दर्शनकी मर्यादा स्थापित की, जिसका अनुकरण करनेसे मानव-जीवनके परम उद्देश्य—जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना—सहज सुलभ हो जाता है।

यह बिनती, रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥
(विनय-पत्रिका १०३)

---

१. नृप जुबराजु राम कहुँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥ (रा०च०मा० २। २। ८)

२. राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाषु तुम्हार॥ (रा०च०मा० २। ३)

३. 'बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।' (रा०च०मा० २। ४)

नाम-साधनाका संस्कार

(डॉ० श्रीअजितजी कुलकर्णी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

पारमार्थिक या आध्यात्मिक साधनामें नाम-साधनाका स्थान महत्त्वपूर्ण है। भगवान्‌की अनुभूतिके लिये मनुष्यको श्रवण, मनन, निदिध्यासनकी आवश्यकता है। जब साधक भगवान्‌का नाम लेता रहता है तो उसका भी एक संस्कार उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है। भगवान्‌के चरित्रका जो लीलानुवाद, गुणानुवाद या नाम-सङ्कीर्तन होता है, इससे साधकके जीवनमें अभ्युदय होता है और इसी संस्कारसे उसका भगवान्‌में प्रेम होने लगता है और वह उस ओर आकृष्ट हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के अवतार और उनकी लीला-कथाओंका गुणानुवाद हुआ है। भगवान्‌की लीलाओंमें संस्कारका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संदर्भमें यहाँ दो कथाएँ प्रस्तुत हैं—

देवी रुक्मिणीका विवाह—भीष्मक विदर्भ देशके राजा थे। उनके रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली—ये पाँच पुत्र और एक कन्या थी, जिसका नाम था—रुक्मिणी। वह साक्षात् लक्ष्मीजीकी ही स्वरूप थी।

श्रीकृष्णसे द्वेषके कारण रुक्मीने रुक्मिणीका विवाह शिशुपालसे तय कर दिया था। लेकिन देवर्षि नारद और इतर लोगोंसे रुक्मिणीने जब भगवान् श्रीकृष्णके पराक्रम, सौन्दर्य एवं गुणोंका वर्णन सुना; उसी समय उसने मन-ही-मन श्रीकृष्णसे विवाह करनेका निश्चय कर लिया था। इसलिये देवी रुक्मिणीने पत्र लिखकर एक शीलवान् ब्राह्मणके हाथ भगवान् श्रीकृष्णके यहाँ भेज दिया। यह पत्र

साधकोंके लिये एक दिव्य संदेश है। इससे रुक्मिणीपर भगवान्‌के गुणानुवादका जो संस्कार पड़ा था, उसीका प्रभाव प्रतीत होता है—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥

(श्रीमद्भा० १०।५२।३७)

ब्राह्मण बोले कि रुक्मिणीजीने कहा है—हे त्रिभुवनसुन्दर! आपके गुणोंका हमने श्रवण किया है। जो आपके गुणानुवादका श्रवण करते हैं, उनके कर्णरन्ध्रोंसे हृदयमें प्रविष्ट होकर आप गुणश्रवण करनेवालोंके एक-एक अङ्गके ताप तथा जन्म-जन्मकी जलन बुझा देते हैं और आपके रूप-सौन्दर्यका, (-के विषयमें) जो नेत्रवाले जीवोंके नेत्रोंके लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके फल एवं स्वार्थ-परमार्थ—सब कुछ हैं, श्रवण करके हे प्यारे अच्युत! मेरा चित्त लज्जा—शर्म सब कुछ छोड़कर आपमें ही प्रवेश कर रहा है।

अत्यन्त प्रेमरसपूर्ण शब्दोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे रुक्मिणीने प्रार्थना की है। बहुत मननशील और चिन्तनशील विचार उस पत्रमें रुक्मिणीजीने लिखे हैं। यह सब भगवद्‌गुणानुवादका ही संस्कार है और इसी संस्कारके दृढ़ हो जानेसे रुक्मिणी भगवान्‌की ओर आकृष्ट हुई। पत्रके प्रत्येक शब्द सारगर्भित हैं, एक शब्द भी अनावश्यक नहीं। इसका विचारपूर्वक अध्ययन होना चाहिये और इससे भगवत्प्रेमकी शिक्षा लेनी चाहिये।

ब्राह्मणपत्नियोंपर कृपानुग्रह—ब्राह्मणपत्नियोंपर अनुग्रह करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो लीला की, उसी कथाको राजा परीक्षित्‌को बताते हुए श्रीशुकदेवजीने कहा—एक बार जब ग्वाल-बाल यमुना-तटपर हरे-भरे उपवनमें गौएँ चरा रहे थे, उसी समय कुछ भूखे ग्वालोंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'श्यामसुन्दर! आपने बड़े-बड़े दुष्टोंका संहार किया है, उन्हीं दुष्टोंके समान यह भूख हमें सता रही

है, अतः इसे बुझानेका कोई उपाय कीजिये।' ग्वालोंकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने उनसे कहा—'मेरे प्यारे मित्रो! यहाँसे थोड़ी दूरपर वेदवादी ब्राह्मण आङ्गिरस नामक यज्ञ कर रहे हैं, तुमलोग वहाँ जाकर हमारा नाम लेकर भोजन-सामग्री माँग लाओ।' सब गोपाल वहाँ पहुँचे और श्रीकृष्णकी अन्नपानकी बात कह डाली, परंतु ऋषियोंने सभी गोपालोंको विमुख कर दिया। ब्राह्मणोंको याज्ञिकत्वका एवं ब्राह्मणत्वका अभिमान था। वे यह नहीं जानते थे कि देश, काल, द्रव्य आदि सब-के-सब भगवत्स्वरूप ही हैं। सभी गोपाल वापस आ गये। उन्होंने भगवान्‌को बता दिया। यह सुनकर श्रीकृष्ण हँसने लगे। भगवान्‌ने कहा—प्रिय ग्वालबालो! फिर जाओ और उन ऋषियोंकी जो पत्नियाँ भोजनगृहमें काम कर रही हैं, उनसे भोजन माँगो, वे तुम्हें खूब भोजन देंगी।

अबकी बार गोप पत्नीशालामें गये। उन्होंने गोपालोंकी बात सुनी तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके हाथमें जो पदार्थ आये, वह सब लेकर वे श्रीकृष्ण-बलरामकी सेवामें आ गयीं। उन्हें बहुत आनन्द आ रहा था; क्योंकि आजतक सगुण रूपमें उनका दर्शन नहीं हो पाया था। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य—इन चारों प्रकारके गुणवाले भोजन वे लायी थीं। श्रीकृष्णने कहा—आप सब कुछ छोड़कर मेरे

पास आयीं है, लेकिन वहाँ यज्ञकर्म पूरा होना है, इसलिये वापस जाओ। ब्राह्मणपत्नियोंने कहा—भगवन्! इस प्रकारकी कठोर वाणी मत बोलिये। जो आपकी शरणमें आता है, उसकी पुनः वापसी नहीं होती। सभीने उनके चरण पकड़ लिये।

ब्राह्मण प्रतिभासम्पन्न थे, जब उन्हें ज्ञान हुआ कि उन्होंने भगवान्‌का अनादर किया है तो उन्हें बड़ा पछतावा हुआ, वे स्वयंको धिक्कारने लगे। ब्राह्मणपत्नियोंने गोपियोंसे जो श्रीकृष्णचरित्रका गुणानुवाद सुना, लीलाएँ सुनीं, उससे उनमें एक अलौकिक संस्कार प्रतिष्ठित हुआ और उन्हें भगवत्प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त हो गयी—

श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।१८)

भाव यह है कि ब्राह्मणियाँ बहुत दिनोंसे भगवान्‌की मनोहर लीलाएँ सुनती थीं। उनका मन उनमें लग चुका था। वे सदा इस बातके लिये उत्सुक रहतीं कि किसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँ। श्रीकृष्णके आनेकी बात सुनते ही वे उतावली हो गयीं।

भगवान्‌के गुणानुवादसे हृदय, अन्तःकरण प्रसन्न होता है और भगवत्प्रीति उदित होती है। भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये भगवन्नाम एक अमोघ साधन है। नाम-संकीर्तन अमोघ संस्कार है।

भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा है—

नारायणाच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्तयेद् भूमिं याति मल्लयतां स हि॥

जो प्राणी नारायण, अच्युत, अनन्त और वासुदेव आदि नामोंका सदा कीर्तन करता है, वह मुझमें लीन होनेवाले भक्तोंकी भूमिको प्राप्त हो जाता है।

भगवन्नाम-संकीर्तनका श्रवणकर भगवान् भक्तके कर्णछिद्रसे हृदयदेशमें आते हैं और हृदयमें जो अशुद्धियाँ हैं, उनको वे स्वयं दूर कर देते हैं। कलियुगमें नाम-संकीर्तनकी महिमा ही ऐसी है कि भगवान् आकर हृदयमें प्रकट हो जाते हैं। ऐसा है नाम-संकीर्तनका संस्कार। इसीलिये भगवान् शङ्कर कहते हैं—

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥

(रा०च०मा० १।११३।२)

शुभ संस्कारोंसे भगवान्‌के दर्शन सुलभ हो जाते हैं

(पं० श्रीविष्णुदत्त रामचन्द्रजी दुबे)

मानव-शरीर अन्य सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है तथा वह जीवको भगवान्‌की विशेष कृपासे जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरनेके लिये ही मिलता है। ऐसे शरीरको पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्मसमूहोंका ईश्वर-पूजाके लिये समर्पण नहीं करते और कामोपभोगको ही जीवनका परम ध्येय मानकर विषयोंकी आसक्ति और कामनावश केवल विषयोंकी प्राप्ति और उसके यथेच्छ उपभोगमें ही लगे रहते हैं, अपना पतन करनेवाले हैं। ऐसे लोग अपने जीवनको कर्मबन्धनमें और अधिक जकड़ रहे हैं। मनुष्य-शरीरकी शोभा विषय-भोग नहीं है, अपितु यह शरीरसम्पदा तप, ज्ञान, भक्ति और धर्मके लिये मिली है। शास्त्रप्रेरित कर्म ही धर्म है। धर्म एवं शुभ कर्महीन जीवन पशुजीवन है।

साधकको शरीर और भोगोंकी अनित्यता एवं अपने आत्माकी नित्यतापर विचार करके इन अनित्य भोगोंसे सुखकी आशाका त्याग करके सदा अपने साथ रहनेवाले नित्यसुखरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका अभिलाषी बनना चाहिये। हमारी हिन्दू संस्कृतिमें दो चीजें प्रधान हैं—पहला ईश्वर और दूसरा धर्म। धर्म ही जीवनका रक्षक है, धर्म ही मनुष्यको पवित्र करता है। संसारमें मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म यही है कि वह भगवन्नाम-जपादिके द्वारा भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करे।

हममेंसे अधिकांश लोगोंने भगवान्‌को भुला दिया, जगत्‌को भगवान्‌से रहित मान लिया, फलतः ईश्वरमें, धर्ममें, पुनर्जन्ममें श्रद्धा-विश्वास न होनेसे महान् दुःख, अशान्तिकी सृष्टि हो गयी। साथ ही वर्णाश्रम-व्यवस्थाके बिगड़ जानेके कारण आज हमारा पतन हो रहा है, यह बड़े दुःखकी बात है। इसके मूलमें कुसंस्कारोंकी वासना ही मुख्य हेतु है।

भारतीय संस्कृति एवं सनातनधर्ममें आचार-विचारको सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया है। मनुष्य-जीवनकी सफलताके लिये आचारका आश्रय आवश्यक है। इससे अन्तःकरणकी पवित्रताके साथ-साथ लौकिक एवं पारलौकिक लाभ भी प्राप्त होता है। आचारके दो भेद माने गये हैं—पहला सदाचार तथा दूसरा शौचाचार। सदाचरणोंका व्यवहार कल्याणका श्रेयस्कर मार्ग है।

चित्तमें जैसे संस्कार होते हैं, उसी हिसाबसे क्रिया होती है। ये संस्कार दो प्रकारके होते हैं—(१) द्रव्य-संस्कार और (२) भाव-संस्कार। खान-पानके द्वारा जो संस्कार उत्पन्न होकर चित्तको प्रभावित करते हैं, वे द्रव्य-संस्कार हैं और इन्द्रियोंके तथा मनके अनुभवद्वारा चित्तमें जो संस्कार-भावनाएँ जाग्रत् होती हैं, वे भाव-संस्कार हैं। कल्याणकामीको चाहिये कि खान-पानके पदार्थोंपर विशेष ध्यान रखे। खान-पानके पदार्थ सात्त्विक, धर्मसे प्राप्त तथा भगवान्‌को निवेदित किये होने चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य पूर्वजन्मोंके किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप इस जन्ममें विवश होकर अपना-अपना कर्म करता रहता है। पूर्वजन्मार्जित संस्कार उस कर्मप्रवृत्तिका हेतु हैं। यदि पूर्वजन्मके कर्म अच्छे हैं तो उत्तम जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। भारतीय संस्कृतिके अनुसार 'सूक्ष्म-संस्कार' मरणोपरान्त भी जीवात्माके साथ संलग्न रहते हैं।

मनुष्य जब शरीरका त्याग करता है, तब इस जन्मकी विद्या, कर्म, क्रिया तथा प्रज्ञा आत्माके साथ जाती हैं और उसी ज्ञान और कर्मके अनुसार ही उसका जन्म होता है, यानी वैसे संस्कार जन्मके साथ प्रकट होते हैं। निषिद्ध कर्माचरणसे अन्धकारमय दुःखप्रद नरकादि लोक और नीच पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं। पवित्र वैध कर्मके फलस्वरूप उत्तम लोक तथा मानव-योनिकी प्राप्ति होती है।

जब भगवान् विष्णुने वाराहावतार धारण करके हिरण्याक्षको मार डाला, तब उसके सहोदर भ्राता हिरण्यकशिपुने विष्णुके वधकी प्रतिज्ञा की। तपहेतु वह महेन्द्राचलपर गया और वहाँ उसने घोर तपस्या की।

इधर इन्द्रने दैत्योंपर चढ़ाई कर दी। दैत्यगण रसातलमें चले गये। इन्द्रने हिरण्यकशिपुकी गर्भवती पत्नी कयाधूको बन्दी बना लिया। देवर्षि नारदजीके कहनेसे इन्द्रने कयाधूको छोड़ दिया, तब नारदजी कयाधूको अपने आश्रमपर ले आये। नारदजी कयाधूको अपने आश्रममें नित्य भगवद्भक्ति और

भगवत्तत्त्वका उपदेश देते रहते थे; क्योंकि वे जानते थे कि इसके गर्भमें होनहार परम भागवत बालक है। गर्भस्थ प्रह्लादजी नारदजीके उपदेशोंको बड़े ध्यानसे सुनते थे।

जब हिरण्यकशिपु घोर तपस्या करके महलमें लौट आया, तब कयाधू भी राजमहलमें लौट आयी। कयाधूके गर्भसे भागवतरत्न प्रह्लादजीका जन्म हुआ। हिरण्यकशिपुका वह भक्तपुत्र जन्मसे ही वैष्णव हुआ। प्रह्लादजीकी माँ राक्षसकुलकी थी, परंतु गर्भकालमें देवर्षि नारदके आश्रममें भगवत्कथा सुननेसे उसके गर्भसे परम भक्त प्रह्लादजीका जन्म हुआ। प्राणीके ऊपर जन्म-जन्मान्तरोंकी छाप पड़ी होती है। ये संस्कार वासनाओंके रूपमें अज्ञातरूपसे विद्यमान रहते हैं।

पुराणोंकी कथाके अनुसार प्रह्लादजी पूर्वजन्ममें शिवशर्माके पुत्र सोमशर्मा नामक ब्राह्मण थे। वे सदा भगवान्के ध्यानमें लीन रहते थे। एक समय कुछ दैत्योंने इनके तपमें विघ्न डालते हुए भयानक गर्जना की और संयोगकी बात है कि तत्क्षण इन (सोमशर्मा)-की मृत्यु हो गयी। अन्तिम समयमें दैत्योंके शब्द कानमें पड़नेसे उनके प्राण दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूमें प्रविष्ट हो गये, पर पूर्वजन्मके संस्कारोंके प्रभावसे वहाँ भी उन्हें नारदजीके भक्तिसम्बन्धी दिव्य उपदेश सुननेको मिले। उन्हें उनके पूर्वजन्मकी पूर्ण स्मृति थी।

इस जन्ममें (वर्तमान जन्ममें) प्रह्लादजीने दृढ़ निष्ठा एवं विश्वाससे भगवान्की अनपायिनी भक्तिमें अपना मन लगाया। पूर्वजन्मके एवं गर्भावस्थाके शुभ संस्कारों तथा वर्तमान जन्मकी भगवान्की अनपायिनी भक्तिके प्रभावसे प्रह्लादजीको भगवान् नरसिंहजीके साक्षात् दर्शन सुलभ हुए एवं उनके कृपाप्रसादकी—दिव्य वरोंकी प्राप्ति हुई।

शास्त्रोंके कथन '**हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्**' के अनुसार भगवान् नरसिंहने दर्शन देनेसे पूर्व अपने अनन्य साधुभक्त प्रह्लादजीकी नानाविध मृत्युतुल्य यातनाओंसे समय-समयपर प्राणोंकी रक्षा की। भगवान्में अपना मन लगा देनेसे उनको किसी प्रकारकी भी पीड़ा नहीं हुई। भगवदाश्रय ग्रहण करनेवाले भक्तका अशुभ ही नहीं होता। ऐसे शुभ संस्कार बन सकें, इसके लिये सतत सचेष्ट तथा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

~~o~~

भगवन्नाम-जपके सुसंस्कार

[रोचक वृत्तान्त]

(डॉ० श्रीविश्वामित्रजी)

जो व्यक्ति स्वेच्छासे एवं अन्यकी प्रेरणासे हाथ, पैर, मन तथा वाणीसे इष्टानिष्ट क्रिया करता है, उसे कर्ता कहा जाता है। कर्ता जिन साधनोंसे कर्म करता है, वे करण कहलाते हैं। वे करण यदि बाहरी हैं तो उन्हें बाह्य करण और यदि भीतरी हैं तो उन्हें अन्तःकरण कहा जाता है। कर्ता अपने करणोंद्वारा जो शुभाशुभ क्रियाएँ करता है, उन्हें कर्म कहा जाता है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसके मनपर उन कर्मोंका सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है, जिन्हें संस्कार कहा जाता है। शुभ कर्मोंके शुभ संस्कार और अशुभ कर्मोंके अशुभ संस्कार चित्तपर अङ्कित हो जाते हैं। ये ही संस्कार समय पाकर आगामी कर्मोंके प्रेरक एवं कर्मफलके कारण बन जाया करते हैं; जैसे—चलचित्रमें जो रूप, रंग, आकार, दृश्य, स्वर-गीत, वाणी-वचन और जो नाद-वादन भरा गया हो—अङ्कित किया हुआ हो, समयपर वही यथातथ्य अभिव्यक्त हो जाता है, इसी प्रकार जिन भावोंसे जो कर्म किये जाते हैं, वैसे ही उनके फल प्रकट हुआ करते हैं। अपने किये कर्मोंका दायित्व कर्तापर ही है। प्रत्येक कर्तामें क्रिया करनेकी स्वतन्त्रता विद्यमान है। किया हुआ कर्म अपना फल दिये बिना रह नहीं सकता—यह सिद्धान्त अटल है। शुभ कर्मका फल शुभ और अशुभ कर्मका फल अशुभ होता है। इन संदर्भोंके कुछ रोचक वृत्तान्त यहाँ प्रस्तुत हैं—

[१]

कुछ घटित जीवन-दृष्टान्तोंसे यह भी प्रतीत होता है कि राम नाम-जपद्वारा व्यक्ति संस्कारित होकर अपने दुर्बल प्रारब्धको भी बदल देता है अर्थात् कुसंस्कारी व्यक्ति भी भगवन्नामजपके दिव्य संस्कारोंद्वारा निन्दनीय न रहकर वन्दनीय बन जाता है। उसके विचार, आचरण एवं स्वभावमें उल्लेखनीय परिवर्तन प्रत्यक्ष दिखायी देने लगता है। एक दृष्टान्तद्वारा इसे दिखाया जा रहा है—

एक बारकी बात है, सम्राट् अकबर एवं बीरबलने मार्गमें किसी ब्राह्मणको भीख माँगते देखा। राजाने व्यङ्ग्यात्मक सम्बोधनद्वारा बीरबलसे पूछा—यह क्या है? बीरबलने तत्काल उत्तर दिया—'महाराज! भूला हुआ है।' तो इस पण्डितको रास्तेपर लाओ, राजाने तत्क्षण कहा। बीरबलने कहा—आ जायगा राजन्! समय लगेगा। कृपया तीन माहकी अवधि दीजिये। राजाने स्वीकृति दे दी। शामको बीरबल ब्राह्मणके घर पहुँचे, विद्वान् होकर भीख माँगनेका कारण पूछा और कहा—ब्राह्मणदेवता! कलसे प्रातः आप चार बजे जग जायँ और मेरे लिये दो घण्टे राम-राम जप करें, शामको एक स्वर्णमुद्रा रोज आपके घर पहुँचा दी जायगी। ब्राह्मणको पहले तो यह सुनकर आश्चर्य हुआ, किंतु मन-ही-मन सोचा कि ऐसा करनेमें क्या हर्ज है, जप करना स्वीकार कर लिया। पिछले जन्मके कुलके संस्कार शुभ थे। अतः चार बजे उठने तथा जप करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। फलतः स्वर्णमुद्राएँ एकत्रित हुईं और वे धनवान् हो गये। अभ्यास करते-करते राम-नामके दिव्य संस्कारोंने दबे सुसंस्कारोंको भी उभारा। अब वे सोचने लगे—यदि बीरबलके लिये जपनेसे राम-नामने धनाढ्य बना दिया है तो स्वयंके लिये भी क्यूँ न जपूँ? पुनः चार घण्टे रोज जप होने लगा। अब तो मकान भी बन गया और परिवार सुखी तथा हर सुविधासे सम्पन्न हो गया। फिर धीरे-धीरे उन्हें नाम मीठा लगने लगा और कामनाएँ कम होने लगीं। अतः उन्होंने बीरबलसे निवेदन किया—'अब केवल अपने लिये ही जप करूँगा, आप कृपा करके स्वर्णमुद्रा न भेजें। राम-नामकी उपासनाने मेरा विवेक एवं वैराग्य जाग्रत् कर दिया, प्रभुभक्तिकी लगन लग गयी।'

ब्राह्मणदेवताने अवसर पाकर पत्नीसे कहा—देवि! ईश्वरकृपासे घरमें सब कुछ है और प्रचुर मात्रामें है, परिवारका जीवन-यापन निर्विघ्न हो सकता है; अतः आप अनुमति दें तो मैं एकान्तमें रहकर जप-साधना करूँ। पत्नी साध्वी थी, उसने सहर्ष स्वीकृति दे दी। अब ब्राह्मणदेवता सतत रामनामोपासनासे राम-रंगमें रँग गये। साधना फलने-फूलने लगी। लोग दर्शनार्थ पधारने लगे। प्रसिद्धिकी बात राजातक भी पहुँची। वे बीरबलसहित महात्माके दर्शन करने पधारे। लौटते समय अकबरने कहा—महात्मन्! मैं भारतका बादशाह अकबर, आपसे प्रार्थना करता हूँ—यदि आपको किसी भी पदार्थ—सामग्रीकी आवश्यकता हो तो निःसंकोच संदेश भिजवाइयेगा, तत्काल आपकी सेवामें पहुँच जायगी। ब्राह्मणदेवता मुसकराये, बोले—राजन्! आपके पास ऐसा कुछ नहीं, जिसकी मुझे जरूरत हो। हाँ, यदि आपको कुछ चाहिये तो माँगनेमें संकोच नहीं करना चाहिये। बीरबलने कहा—राजन्! आपने पहचाना इन्हें, ये वे ही ब्राह्मण हैं, जो तीन माह पूर्व भीख माँग रहे थे। राम-नामके जपने एक भिखारीको सच्चा दाता बना दिया, वास्तविक धनका धनी बना दिया। राम-नामके सुसंस्कारोंके प्रतापने इनके लोक-परलोक दोनों सुधार दिये। राजन्! आपने कहा था 'इसे सुधारो' तो मैंने पहले स्वर्णमुद्राका प्रलोभन देकर इनसे राम-नामका जप करवाया और जब इन्हें रामके नाममें रस आने लगा तो इन्होंने स्वर्णमुद्रा लेना बंद कर दिया और भगवत्प्रेमके वशीभूत हो जप करने लगे और आज इनका नाम-जपका संस्कार दृढ़ हो गया है। यह सुनकर अकबरको बड़ा आश्चर्य हुआ।

[२]

सुसंस्कारोंका सञ्चय, कुसंस्कारोंके प्रभावको दबा देता है, मंद कर देता है और कालान्तरमें नष्ट भी कर देता है। इस संदर्भमें एक दृष्टान्त यहाँ दिया जा रहा है—

किसी राजदरबारमें एक कर्मचारीकी पत्नी महारानीकी निजी दासी थी। दोनोंमें अति घनिष्ठ सम्बन्ध तथा पूर्ण अपनापन था। दासी इतनी विश्वसनीय थी कि महारानी कभी उससे कुछ न छिपातीं और दासी भी अपनी गुह्यतम बातें उन्हें निर्भयतापूर्वक बतला देती। ऐसे ही बहुत समय व्यतीत हो गया। दासीके पतिने एक दिन जब राजकुमारीको देखा तो उसे प्राप्त करनेकी तीव्र लालसा उसके मनमें बैठ गयी और कामनापूर्तिके अनेक दुर्विचारोंने उसे घेर लिया। उसकी पतिव्रता पत्नीको पतिकी मनःस्थितिका पता चला तो उसे बहुत दुःख हुआ और वह उदास रहने लगी। इधर महारानीको लगा कि उसकी दासी उससे कुछ छिपा रही है।

एक दिन महारानीने उससे उदासीका कारण पूछा। बार-बार पूछनेपर दासीने डरते-डरते सब कु

निश्चय हो गया था कि हम दोनों पति-पत्नीको नौकरीसे छुट्टी ही नहीं, कड़ा दण्ड भी मिलेगा, किंतु भक्तिमयी रानी अति बुद्धिमान् थी। उसने सोच-विचारकर कहा—तू घबरा मत, मैं राजकुमारीको प्रस्तुत करनेको तैयार हूँ, पर एक शर्त है—नगरकी बाह्य सीमापर हमारा जो बगीचा है, तुम्हारा पति उसमें रहे। हर समय राम-राम जपे, जो भेजूँ वह खाये, छः माह बाद मैं राजकुमारीका हाथ उसके हाथमें दे दूँगी। दासीने आकर सभी बातें अपने पतिको बतायीं तो वह मान गया। उसने बगीचेके लिये प्रस्थान किया। राजकुमारीको पानेके लिये वह कुछ भी करनेको तैयार था। उसने राम-रामका जप शुरू कर दिया। महलसे सात्त्विक भोजन, दूध, फल निरन्तर जाता रहा। कुछ दिन तो उसका मन राम-नाममें लगा नहीं; क्योंकि उसका तो ध्यान राजकुमारीमें लगा था, किंतु उसे यह मालूम था कि बिना नाम जपे राजकुमारीका मिलना असम्भव है। अतः वह विवश होकर नाम-जप करता रहा। फल यह हुआ कि भक्तिमें आनन्द आने लगा, वह जितना अधिक नाम जपता, उतना अधिक उसे मधुर लगने लगता। अविराम नाम-जपसे उसके मन-बुद्धिमें बसे कुसंस्कारोंकी धूल धुल गयी। दुर्विचार सद्विचारोंमें बदल गये। वह संत-स्वभावका हो गया, उसका मन पवित्र हो गया था। छः माह पूरे हुए, महारानी राजकुमारीसहित बगीचेमें पधारीं। दासीके पतिका अन्तःकरण निर्मल हो गया था, उसकी आसक्ति समाप्त हो गयी थी, वह हड़बड़ाकर उठ बैठा, उसने दोनोंके चरणोंपर मस्तक रखा और कहने लगा—महारानीजी! इस देवीका विवाह किसी राजकुमारके साथ करें, राम-नामने मेरी कुदृष्टि बदल दी और मेरा मातृभाव जगा दिया। नाम-जपके शुभ संस्कारोंने मेरे वासनामय संस्कारोंको दग्ध कर दिया है, आप मुझे क्षमा करें। आपने मेरी आँखें खोल दीं।

इस प्रकार उपर्युक्त दृष्टान्तोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवन्नाम-जपके सुसंस्कार हमारे कुसंस्कारोंको अभिभूत करके हमें प्रलोभनोंके प्रति आकर्षणसे बचाते हैं। एक बारका बचाव हमें बलिष्ठ बनाता है और बार-बारका बचाव हमें फिर कभी प्रलोभनोंमें फँसने नहीं देता और फिर धीरे-धीरे कुसंस्कारोंके बीज ही नष्ट हो जाते हैं। व्यक्तिको चाहिये कि ऐसे कुसंस्कारोंको पुनर्जीवित होनेका अवसर ही न दे।

[३]

पावन राम-नामके संस्कार भी पावन होते हैं, जो भीतरी अपवित्रताका उन्मूलन करके उपासकको भी पावन बना देते हैं और पवित्र तथा ईमानदार जीवन व्यतीत करनेके लिये अडिग रहनेका बल देते हैं। एक ऐसी ही घटना यहाँ प्रस्तुत है—

होशंगाबादमें करेंसी नोटोंका कागज बनता है, किंतु अधिकांश कागज विदेशसे ही आता है, जिसकी जाँच यहाँ होती है। एक राम-नामके उपासक कागजके परीक्षण-अधिकारीके पदपर नियुक्त थे। उनका निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। निरीक्षण करनेपर एक पूरे लॉटमें कमी पायी गयी। अस्तु, साधकने उसे स्वीकार न किया। उच्च अधिकारियोंने समझाया, झंझटमें न पड़ो, जैसा है वैसा ही पास कर दो। साधक न माना। विदेशी अधिकारियोंने दबाव भी डाला एवं लालच भी दिया, किंतु साधकपर राम-नाम-जपके शुभ संस्कार प्रभावी थे, वह न भयभीत हुआ और न प्रलोभनमें ही फँसा, फलतः पूरा लॉट अस्वीकार हो गया। कार्यालयसे घर लौटकर साधकने अपने पिताजीसे चर्चा की। पिताजीने कहा—इतने बड़े-बड़े ऑफीसर कह रहे थे तो उनका कहना मान लेना चाहिये था। साधकने निवेदन किया—नहीं पिताजी! राम-नामके उपासकमें गलतको गलत कहनेका साहस न हो, ईमानदारीपर अडिग रहनेका बल न हो, तो फिर किसमें होगा? दूसरा व्यक्ति तो बेईमानीके कुसंस्कारोंसे प्रेरित हो सकता है, परंतु उपासक तो परम शुचिताके संस्कारोंसे सम्पन्न रहता है और वह कभी सन्मार्गसे च्युत नहीं हो सकता। राम-नाम ईमानदारी सिखाता है, अतः साधक न स्वयं और न ही किसीके कहनेपर गलत काम करता है। इस शुभ संस्कार और राम-नामके आश्रयका फल यह हुआ कि उन्हें सच्चाईके कारण बीस अधिकारियोंका अधिक्रमण करके पदोन्नति मिली, वेतनमें वृद्धि हुई और अन्य कई पुरस्कार भी मिले। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि सुसंस्कारोंके फल लोक एवं परलोक दोनोंमें मिलते हैं। साथ ही राम-नामके दिव्य संस्कार जापकको दिव्य बना देते हैं और उसे दिव्यता वितरित करनेयोग्य भी बना देते हैं।

गृहस्थधर्मके संस्कारसेवनसे भगवत्प्राप्ति

(डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति)

संस्कारका आशय—मनमें रहनेवाली भावना और उस भावनाके अनुसार किये जानेवाले कार्यों एवं कर्मोंको 'संस्कार' कहते हैं। यदि आपकी भावना सही एवं पवित्र है और आप दूसरोंके हितके उद्देश्यसे कर्म करते हैं; तो आपके संस्कार अच्छे हैं। यदि आपकी भावना गलत एवं अपवित्र है और आप अपने सुख, स्वार्थके उद्देश्यसे कार्य करते हैं; तो आपके संस्कार खराब हैं।

गृहस्थधर्म और संस्कार—हमारे ऋषि-महर्षियों एवं शास्त्रोंने गृहस्थधर्ममें पालन किये जानेवाले विशेष संस्कारोंका वर्णन किया है। गृहस्थ होनेके नाते आपको उन संस्कारोंका पालन करना चाहिये। यदि आप उन संस्कारोंका सेवन करेंगे तो आपका गृहस्थ-जीवन सुखमय, सरस, मधुर एवं सुन्दर बन जायगा और साथ-साथ आपको परम शान्ति, जीवन्मुक्ति, भगवद्भक्ति तथा भगवान् भी मिल जायँगे। यदि आप उन संस्कारोंका पालन नहीं करेंगे तो सब प्रकारकी बाह्य सुख-सुविधाएँ होनेके बाद भी आपका गृहस्थ-जीवन अत्यन्त दुःखमय बना रहेगा, आप जीवनपर्यन्त अशान्त रहेंगे और मरनेके बाद भी आपकी सद्गति नहीं होगी।

गृहस्थधर्मके संस्कार

गृहस्थधर्मके संस्कारोंको दो भागोंमें विभाजित किया गया है—

(क) बाह्य या सहयोगी संस्कार—ये वे संस्कार हैं, जिनका सेवन करनेसे आपके घरका वातावरण सुन्दर बनेगा, घरमें शुद्धता तथा पवित्रता रहेगी, स्वस्थ एवं सुन्दर परम्पराओंका विकास होगा, बालकों और परिवारजनोंमें अच्छे संस्कार विकसित होंगे। ये सहयोगी संस्कार इस प्रकार हैं—

१-प्रातःजागरण—प्रातःकाल साढ़े तीन बजेसे सूर्योदयके लगभग चालीस मिनट पहलेतक अमृतवर्षा होती है। इस वर्षामें पानी नहीं बरसता है। इसमें प्रकृतिकी ओरसे ऐसे हजारों तत्त्व बरसते हैं, जिनके सेवनसे शरीर सदैव नीरोग रहता है और मन शान्त एवं प्रसन्न रहता है। इस वर्षाका लाभ केवल उन्हीं भाई-बहनोंको मिलता है, जो प्रातःकाल जल्दी उठ जाते हैं। इस दृष्टिसे प्रातःजागरणका संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

२-उषा-पान—प्रातःकाल उठनेके बाद लगभग एक-सवा लीटर जल पीना चाहिये। इसे उषा-पान कहते हैं। खाली पेट जलपान शरीरमें अमृतका कार्य करता है। इससे तन स्वस्थ एवं मन प्रसन्न रहता है। उषा-पानकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये।

३-अभिवादन—प्रातः उठते ही आप जैसे ही अपने पति-पत्नी, बच्चों, माता, पिता, भाई, बहन आदि परिवारजनोंसे मिलें तो आपको 'जय श्रीकृष्ण' या 'जय श्रीराम' अथवा अन्य माङ्गलिक शब्द बोलकर उनका अभिवादन करना चाहिये। अभिवादनमें छोटे-बड़ेका विशेष नियम नहीं है। आप पिता, पति, दादा, दादी आदिको झुककर प्रणाम करें तथा अपने छोटे-छोटे बालकों एवं पौत्र-पौत्रियोंको अपनी ओरसे 'जय श्रीकृष्ण' बोलकर उनका अभिवादन कर सकते हैं। अभिवादनसे मन आनन्दित रहता है।

४-भगवान्के दर्शन तथा वन्दन—आपके घरमें उपयुक्त और पवित्र स्थानपर भगवान्का मन्दिर या पूजास्थल अवश्य होना चाहिये। मन्दिरकी नित्यप्रति सफाई करनी चाहिये। स्नान करनेके बाद परिवारके प्रत्येक सदस्यको भगवान्के दर्शन करके उनकी वन्दना करनी चाहिये। अपने छोटे-छोटे बच्चोंको भी बचपनसे ही भगवान्के दर्शन करवाने चाहिये। परिवारके सभी बड़े सदस्योंको भगवान्के दर्शन करके कुछ समयके लिये मन्दिरमें बैठकर भगवान्का भजन, भगवान्के नामका जप, सद्ग्रन्थोंका पाठ आदि अवश्य करना चाहिये। भगवान्के दर्शन और वन्दनके संस्कारसे भगवत्कृपासे अलौकिक शक्तियोंका विकास होता है।

५-प्रणाम—भगवान्के दर्शन तथा वन्दनके बाद अपने परिवारके सभी बड़े सदस्यों—माता, पिता, सास, ससुर, दादा, दादी, बड़े भाई आदिके चरणोंमें प्रणाम करनेका संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ..
इस संस्कारसे अनेक ...

भगवान् श्रीरामके जीवनमें यह संस्कार बड़ा सजीव था। श्रीरामचरितमानसमें इसका स्पष्ट वर्णन है—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
(रा०च०मा० १।२०५।७)

इसका आशय है—श्रीरघुनाथजी प्रातःकाल उठकर माता-पिता और गुरुको मस्तक नवाते थे।

६-आज्ञापालन—जहाँतक सम्भव हो, अपने माता, पिता, पति आदि बड़े सदस्योंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि आप किसी विशेष कारणवश उनकी आज्ञाका पालन न कर सकें तो अपनी बात स्पष्ट करते हुए विनम्रतापूर्वक क्षमा माँगनी चाहिये। आज्ञापालनसे परिवारकी शान्ति तथा एकता सुरक्षित रहती है।

७-मर्यादापालन एवं शिष्टाचारसंस्कार—रहन-सहन, वेश-भूषा, परस्पर बातचीत और विचारविनिमयमें शास्त्र, कुल एवं परिवारकी मर्यादाओं तथा शिष्टाचारके नियमोंका पालन करना चाहिये। पारिवारिक और सामाजिक मामलोंमें अपनी राय विनम्रतापूर्वक देनी चाहिये।

(ख) मूल संस्कार—ये वे संस्कार हैं, जिनका पालन करनेसे आप गृहस्थ-जीवनमें शान्ति एवं प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए परम शान्ति, जीवन्मुक्ति एवं भगवद्भक्ति प्राप्त करके अपने मानवजीवनको सफल बना पायेंगे। महत्त्वपूर्ण मूल संस्कार इस प्रकार हैं—

१-मालिक भगवान् हैं—आप अपने मनमें यह भावना रखें—इस जगत्के मालिक भगवान् हैं। मेरे पास इस जगत्की तीन चीजें हैं—शरीर, निकट परिवारजन—पति-पत्नी, संतान, माता, पिता, भाई, बहन आदि और निजी सामान—सम्पत्ति। इन तीनों चीजोंके मालिक भी भगवान् हैं। इस भावनासे आपको हर समय परमात्माकी स्मृति बनी रहेगी और आप इन तीनों चीजोंकी ममतासे मुक्त भी रहेंगे।

२-भगवान्‌के मेहमानों और स्वरूपोंको प्रणाम—अपने परिवारके सभी छोटे-बड़े सदस्योंको भगवान्‌के साक्षात् स्वरूप या भगवान्‌के मेहमान मानकर प्रातः उठनेके बाद, रात्रिमें सोनेके पहले एकान्तमें बैठकर इस प्रकार प्रणाम करें—हे भगवान्! आप स्वयं मेरे पिता बनकर पधारे हैं, आपके इस रूपको मेरा प्रणाम। आरम्भमें प्रातः एवं रात्रिमें, बादमें दिनमें अनेक बार प्रणाम करें।

३-दुःख नहीं देना, अपमान न करना—भगवान्‌के किसी भी स्वरूप या मेहमानको तन, मन, वचन, कर्म और व्यवहारसे दुःख न पहुँचायें, उनका अपमान न करें। यदि आप इस भूलको करेंगे, तो आपका गृहस्थजीवन दुःखमय बन जायगा, आप गृहस्थीमें फँस जायँगे। यदि आप अपनी ही भूल, स्वभाव एवं अभिमानवश किसीको दुःख दे दें या अपमान कर दें, तो उससे तत्काल क्षमा माँग लें, उस भूलको दुबारा न करनेकी प्रतिज्ञा कर लें।

४-सद्भाव और सहयोग—गृहस्थीमें आप अपने साथ रहनेवाले सभी स्वजनोंके प्रति सद्भावना रखें अर्थात् मनमें यही सोचें कि भगवान्‌के ये मेहमान किस प्रकार खुश एवं प्रसन्न रहें, इनका कल्याण कैसे हो। स्वजनोंको यथाशक्ति क्रियात्मक सहयोग दें। सहयोगका न अभिमान करें न एहसान जतायें।

५-क्रोध न करें, क्षमा कर दें, प्रेम दें—यदि आपके स्वजन आपको दुःख दें, आपके साथ प्रतिकूल व्यवहार करें तो आप उनपर क्रोध न करें, उनको क्षमा कर दें, उनको प्रेम देते रहें। आपमें उनपर क्रोध न करने, उनको क्षमा करने तथा उन्हें प्रेम देनेकी शक्ति तब आयेगी, जब आप इस सच्ची बातको मान लेंगे कि मुझे किसी भी स्वजनने दुःख नहीं दिया, न दे रहा है और न भविष्यमें देगा। मेरे दुःखका मूल कारण मेरी अपनी भूल है और उस भूलका नाम है—पराधीनता या कामना।

६-भगवान्‌के कार्य—प्रातःकाल उठनेसे लेकर रात्रिमें सोनेतक आप अपने शरीर, परिवार, सम्पत्तिके जितने भी कार्य करें, उन कार्योंको भगवान्‌के कार्य मानकर पूरी सावधानीसे करें, उन कार्योंमें अपना पूरा समय, शक्ति, बल, बुद्धि, योग्यता एवं अनुभव लगायें, लेशमात्र भी लापरवाही न करें।

७-शरीरकी सेवा—शरीरको भगवान्‌का मेहमान समझकर इसकी सेवा करें। स्थूल शरीरको श्रमी, संयमी, सदाचारी, स्वावलम्बी रखें, इसे 'मैं, मेरा, मेरे लिये' कभी न मानें। सूक्ष्म शरीरको मोह, ममता, कामना, राग, द्वेष, दीनता और अभिमानसे मुक्त करके निर्मल बनाये रखें, कारण शरीरको कर्तापनके अभिमानसे मुक्त करके सर्वथा अहंकारशून्य बनाकर इसके अस्तित्वको मिटा दें।

८-सँभाल—प्रभुप्रदत्त निजी सामान तथा सम्पत्तिको भगवान्‌की धरोहर मानकर यथाशक्ति सँभालें और उसका सदुपयोग करें। सदुपयोगका अर्थ है—अपने शरीर, स्वजनों एवं समाजके हितमें उसका उपयोग करना।

९-लौटा दें—जब भी भगवान् अपनी दी हुई किसी भी वस्तु, शरीर अथवा परिवारजनको वापस लें; तो आप उनकी धरोहर उनको प्रसन्नतापूर्वक लौटा दें, लौटानेमें आप लेशमात्र भी दुःखी और चिन्तित न हों।

१०-कुछ न चाहें—शरीर, स्वजन, सामान—सम्पत्तिके प्रति अपने कर्तव्यका पालन उपर्युक्त विधिसे कर दें, बदलेमें इनसे कभी कुछ न चाहें अर्थात् ऐसा कभी न सोचें कि परिवारजन मेरी इच्छाके अनुसार ही रहें, चलें और करें, शरीर वैसा ही और तबतक बना रहे जैसा और जबतक मैं चाहूँ, सम्पत्ति मेरी इच्छाके अनुसार बनी तथा बढ़ती रहे। याद रखें, चाह करना आपके वशकी बात है, लेकिन चाहको पूरी करना आपके वशकी बात नहीं है। यदि आपकी चाह पूरी नहीं हुई तो आप भयंकर दुःख, चिन्ता, तनाव एवं क्रोधमें फँस जायँगे।

११-भगवान्‌को अधिकार देकर निश्चिन्त हो जाना—भगवान्‌को अधिकार देनेका अर्थ है—भगवान्‌से निवेदन कर देना कि हे भगवान्! शरीर, स्वजन, सामान—सम्पत्तिके प्रति मैं अपना कर्तव्य साङ्गोपाङ्ग विधिसे पूरा कर दूँगा, बदलेमें किसीसे कोई चाह नहीं रखूँगा। आप इन तीनों चीजोंको अपनी इच्छाके अनुसार तबतक वहीं और वैसे ही रखें; जबतक, जहाँ, जैसे रखनेमें आपकी प्रसन्नता हो। आप इन्हें जहाँ, जबतक, जैसे रखेंगे, मैं उसीमें पूर्ण सन्तुष्ट, शान्त और प्रसन्न रहूँगा—ऐसा निवेदन करके जीवनमें निश्चिन्त, निर्भय तथा प्रसन्न रहना चाहिये।

गृहस्थजीवनके इन संस्कारोंके सेवनसे तन स्वस्थ रहेगा, मन प्रसन्न रहेगा, परिवारमें शान्ति रहेगी, परस्पर प्रेम बना रहेगा, बालक अच्छे बनेंगे, व्यापार विकसित होगा, आप परिवारके मोहसे मुक्त रहेंगे, परिवारजनोंके साथ आपका भगवत्प्रेमका सम्बन्ध सजीव बनेगा, आप गृहस्थजीवनमें प्रसन्नतासे रहेंगे। इन सबके साथ-साथ आपको अपने अनमोल मानव-जीवनका लक्ष्य—परम शान्ति, जीवन्मुक्ति, भगवद्भक्ति, भगवत्-मिलन, भगवद्दर्शन भी मिल जायगा और आपका मानवजीवन पूर्ण सफल हो जायगा।

~~~o~~~

पूर्वजन्मका संस्कार

(डॉ० पुष्पा मिश्रा, एम०ए० (द्वय), पी-एच०डी०)

'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥'

(योगदर्शन ३।१८)

भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनके विभूतिपादके अन्तर्गत इस सूत्रद्वारा स्पष्ट किया है कि संस्कारके साक्षात् होनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। संयम (धारणा, ध्यान एवं समाधि)-की परिपक्वताकी अवस्थामें पूर्व-जन्मका ज्ञान होता है। विज्ञानभिक्षुके अनुसार संस्कारोंके साक्षात्कारसे आनेवाले जन्मोंका भी ज्ञान होता है। दूसरोंके संस्कारोंका साक्षात् करनेसे दूसरोंके पूर्वजन्मका भी ज्ञान सम्भव है।

वस्तुतः संस्कार चित्तका धर्म है। इसे ही प्रारब्ध, भवितव्यता, दैव और कर्मविपाक भी कहते हैं। संस्कारका अर्थ पूर्वजन्मके कृत्योंकी वासना है—

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥'

(योगदर्शन २।१३)

इसका तात्पर्य है—जबतक क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश)-रूपी जड़ विद्यमान रहती है, तबतक कर्मोंका संस्कार (कर्माशय), विपाक (परिणाम)-स्वरूप बार-बार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म होना, निश्चित आयुतक उस योनिमें जीवित रहना तथा फिर मृत्यु-दुःखको भोगना—ये तीन भोगावस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

आचार्य सुश्रुतका कथन है कि दुःखके संयोगको व्याधि कहते हैं, जो चार प्रकारकी हैं—आगन्तुक, कायिक, मानसिक तथा स्वाभाविक।

तद् दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते॥ ते चतुर्विधाः—आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति॥

(सु०सं० सूत्रस्थान १।२३-२४)

आचार्य शार्ङ्गधर इन चारके अतिरिक्त कर्मदोष (कर्मज)-को व्याधि कहते हैं—
~~~

स्वाभाविकागन्तुककायिकान्तरा
रोगा भवेयु: किल कर्मदोषजा:।
तच्छेदनार्थं दुरितापहारिण:
श्रेयोमयान्योगवरान्नियोजयेत् ॥

(शा०सं० १।१।५)

स्वाभाविक (भूख, प्यास, बुढ़ापा, मृत्यु आदि), आगन्तुक (आघात या साँप-बिच्छूके काटनेसे उत्पन्न रोग), कायिक (शरीरकी धातुओंके दूषित होनेसे प्राप्त रोग) एवं मानसिक (पागलपन, मूर्च्छा आदि)—ये कर्म तथा दोषसे पैदा होते हैं। 'कर्मजरोग' पूर्वजन्मके किये गये पापकर्मोंके फलस्वरूप होते हैं। कोई रोग आहार-विहारके अयोग, अतियोग और मिथ्यायोगमें दोषोंके कुपित होनेसे होते हैं तथा कोई-कोई रोग दोनों कारणोंसे होते हैं।

गरुडपुराण-सारोद्धार ((१।१९))-के अनुसार—

सुकृतं दुष्कृतं वाऽपि भुक्त्वा पूर्वं यथार्जितम्।
कर्मयोगात्तदा तस्य कश्चिद् व्याधिः प्रजायते॥

पूर्वजन्ममें या वर्तमानमें अच्छे और बुरे कर्म भोग्यरूप होकर ही व्याधिके रूपमें उत्पन्न होते हैं।

श्रुतिमें पुनर्जन्मका विशद वर्णन आया है। मृत्यूपरान्त जीवात्मा मनमें स्थित हुई इन्द्रियोंके सहित पुनर्जन्मको प्राप्त होता है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजा: पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानै:॥ (प्रश्नोपनिषद् ३।९)

जिसके शरीरसे उदानवायु निकल जाती है, उसका शरीर गरम नहीं रहता। शरीरकी गरमी शान्त होते ही उसमें रहनेवाला जीवात्मा मनमें विलीन हुई इन्द्रियोंको साथ लेकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। यही 'पुनर्जन्म' कहलाता है।

'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च' (वेदान्त-दर्शन ४।२।१)-के अनुसार मृत्युके समय वाणी मनमें स्थित हो जाती है। यह प्रत्यक्ष देखने और शास्त्रप्रमाणोंसे भी सिद्ध है।

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मन: प्राणे प्राणस्तेजसि तेज: परस्यां देवतायाम्॥

(छान्दोग्योपनिषद् ६।८।६)

एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते समय वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें तथा तेज परदेवतामें स्थित हो जाता है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिन:।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

(कठोपनिषद् २।२।७)

अपने शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार अन्तकालीन वासनाके अनुसार मरनेके बाद कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं। पुण्य-पाप समान होनेपर मानवयोनि प्राप्त होती है। पाप अधिक और पुण्य कम होनेपर पशु-पक्षीयोनि तथा अत्यधिक पापी स्थावरभावको प्राप्त होते हैं।

श्रुति एवं अन्य आगमप्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि मृत्युके बाद आत्मा कारण-शरीर (मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त)-के साथ उस जन्मके कर्मविपाक (परिणाम)-को साथ लेकर ही दूसरे शरीरमें स्थित होता है। पाँच क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश)-में अभिनिवेश (मृत्युका भय) पूर्वजन्मके संस्कारके रूपमें इस जन्ममें विद्यमान रहता है, इसी कारण जन्म लेनेके उपरान्त सभी जीव मृत्युसे डरने लगते हैं। पूर्वजन्मके संस्कार स्मरणमें रहनेके कारण जन्मसे ही किसी-किसीको पिछले जन्मकी घटनाएँ याद रहती हैं।

'तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।'

(योगदर्शन ४।१०)

पूर्वजन्ममें भी मृत्युभयकी व्याप्ति होनेसे जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा अनादिसिद्ध हो जाती है।

महर्षि वसिष्ठजीने इस प्रसंगको इस प्रकार कहा है—

प्राणस्याऽऽभ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याऽऽभ्यन्तरे जगत्।
विद्यते विविधाकारं बीजस्यान्तरिव द्रुम:॥

(यो०वा०, नि०उ० १८।५)

हे रामजी! मृत पुरुषोंका जो प्राण निकलता है, उसके भीतर चित्त स्थित होता है। चित्तके भीतर जगत् ऐसे व्याप्त है, जैसे—बीजके भीतर वृक्ष।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता (१५।८)-में कहते हैं—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर:।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

जीव अपनी देहात्मबुद्धिको एक शरीरसे दूसरेमें उसी तरह ले जाता है, जिस प्रकार सुगन्धको वायु एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ले जाती है।

वासनाएँ सैकड़ों जन्म पूर्वकी होती हैं। इनमें देश-कालका भी अन्तर होता है, फिर भी जन्मके समय विभिन्न देश और कालोंमें चित्तके भीतर बनी हुई वासनाएँ एक साथ प्रकट होती हैं—

'ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।'

(योगदर्शन ४।८)

कोई कर्म किसी जन्ममें किया गया और कोई कर्म किसी दूसरे जन्ममें। यह कर्मोंमें जन्मका प्रभाव है। उसी प्रकार कर्मोंमें देश और कालका भी प्रभाव है। जन्म, देश तथा कालका प्रभाव होते हुए भी जिस कर्मका फल प्राप्त होनेवाला है, उसके अनुरूप भोग-वासना उत्पन्न होती है। स्मृति और संस्कारमें अन्तर नहीं होता है—

'जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।' (योगदर्शन ४।९)

वासनाएँ अनादि और अनन्त हैं, फिर भी ये हेतुफल और आश्रयके अधीन रहती हैं। हेतुफल एवं आश्रयकी उपस्थितिमें वासनाओंकी उत्पत्ति होती है। इनके अभावमें वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। विवेक-ख्यातिके द्वारा ही पञ्च क्लेशोंका नाश होता है और इसके उपरान्त ही वासनाओंका नाश होता है—

'हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥'

(योगदर्शन ४।११)

यह सिद्ध है कि अभावका कभी भाव नहीं होता और भावका कभी अभाव नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्णका गीता (२।१६)-में उपदेश है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

पूर्वजन्मके संस्कार दो प्रकारके होते हैं, १-स्थायी; जिसका परिणाम भोगना ही पड़ता है तथा २-अस्थायी; जिसको दान-पुण्य, यज्ञ, तप, भगवन्नाम आदि उपायोंद्वारा मिटाया जा सकता है। दोनों ही प्रकारके संस्कारोंका कुपरिणाम भगवान्की निष्काम भक्तिसे मिटाया जा सकता है।

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

(श्रीमद्भा० १२।१३।२३)

जिन भगवान्का नाम-सङ्कीर्तन सभी पापोंका नाश करनेवाला है और प्रणाम दुःखनाशक है, उन परमेश्वरको मैं नमन करता हूँ।

आख्यान—

अच्छे संस्कारोंसे सत्यकामको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ

(श्रीआनन्दीलालजी यादव, एम०ए०, एल-एल० बी०)

अच्छे संस्कारोंका मानव-जीवनमें विशेष महत्त्व होता है। संस्कार आध्यात्मिक उपचारकी प्रक्रियास्वरूप होते हैं, जिससे व्यक्तिके तन-मनके कषाय दूर होते हैं और मनुष्यका इहलोक तथा परलोक सुधरता है। अच्छे संस्कारयुक्त मनुष्यमें सदैव सद्गुणोंका विकास होता है और जीवन उत्कृष्ट बनता है।

प्राचीन कालमें जगह-जगह ऋषि-मुनियोंके गुरुकुल स्थापित थे, जहाँ विभिन्न क्षेत्रोंसे आये हुए शिक्षार्थी गुरुकुलोंमें निवास करते हुए विद्या ग्रहण किया करते थे।

जबाला नामकी एक ब्राह्मणी थी। उसके पुत्रका नाम था—सत्यकाम। एक दिन सत्यकामने गुरुकुलमें रहकर अध्ययन करनेकी इच्छाको अपनी माँसे कहा—'माता! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुकी सेवामें रहना चाहता हूँ। मैं अपना नाम तो जानता हूँ; परंतु गोत्र नहीं जानता। गुरु मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे। मुझे मेरा गोत्र बता दो।'

जबालाने कहा, 'बेटा! मैं घरपर अतिथि-सेवामें व्यस्त रहती थी। इस व्यस्तताके कारण मैं तुम्हारे स्वर्गवासी पितासे तुम्हारा गोत्र नहीं पूछ सकी। गुरु पूछें तो कह देना—मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' जबालाने अपने पुत्रकी विद्याग्रहण करनेकी जिज्ञासा देखकर उसे गुरुकुलमें जानेकी आज्ञा दे दी। बालक सत्यकाम पूर्ण तैयारीके साथ शिक्षा प्राप्त करनेके लिये गुरुकुलकी ओर बड़े उत्साहके साथ चल दिया।

हारिद्रुमत गौतम ऋषिके आश्रममें पहुँचकर सत्यकामने ऋषिको प्रणाम करके उनसे निवेदन किया, 'भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए आपके पास रहकर आपकी

सेवा करना चाहता हूँ, मुझे शिष्यरूपमें स्वीकार कीजिये।' गौतम ऋषि बालकके विनम्र भावसे प्रसन्न हो गये। उन्होंने बहुत ही स्नेहसे पूछा, 'सौम्य! तुम्हारा नाम और गोत्र क्या है?'

सत्यकाम जबाल

सत्यकामने कहा—'भगवन्! मेरी माता घर आये अतिथियोंकी सेवामें व्यस्त रहनेके कारणवश मेरे परलोकवासी पितासे गोत्र नहीं पूछ सकीं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

बालक सत्यकामका उत्तर सुनकर ऋषिने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! तुम निश्चितरूपसे ब्राह्मण हो। ब्राह्मण ही सीधी-सच्ची बात कह सकता है। आओ, मैं तुम्हारा उपनयन-संस्कार कर देता हूँ।' उन्होंने समिधा मँगवाकर उसका उपनयन-संस्कार कर दिया।

गौतम ऋषिने सत्यकामको आश्रमकी चार सौ दुबली-पतली गायोंको सौंपते हुए कहा, 'पुत्र! इन गायोंको वनमें चराने ले जाओ। जब इन गायोंकी संख्या एक हजार हो जाय, तब इन्हें आश्रममें वापस ले आना।' सत्यकामने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की और कहा—'भगवन्! इन गायोंकी संख्या एक हजार होनेपर ही मैं आश्रममें वापस लौटूँगा।' वह गुरुको प्रणाम करके चार सौ गायोंको हाँककर वनमें चरानेके लिये ले गया।

सत्यकाम गायोंको उन स्थानोंपर रखता था, जहाँ चारे और पानीकी सुविधा मिलती थी। वह उनकी सुरक्षाका भी ध्यान रखता था। उसने तन-मनसे गोसेवा की, जिसका परिणाम यह निकला कि दुबली-पतली गौएँ हृष्ट-पुष्ट हो गयीं और गोधनकी वंशवृद्धि हुई।

एक दिन एक वृषभने सत्यकामके पास आकर मानव-वाणीमें कहा—'सत्यकाम! अब हमारी संख्या एक हजार हो गयी है। हमें गुरुके आश्रममें ले चलो, मैं तुम्हें ब्रह्मके एक पादका उपदेश देता हूँ।' सत्यकामने कहा, 'भगवन्! मुझे उपदेश दीजिये।' तब उस वृषभने उसे 'प्रकाशवान्' नामक ब्रह्मके एक पादका उपदेश दिया और कहा कि ब्रह्मके दूसरे पादका उपदेश तुझे अग्निदेव करेंगे।' सत्यकामने प्राप्त हुए ज्ञानका मनन किया।

दूसरे दिन प्रातःकालीन वेलामें सत्यकाम गायोंको हाँककर गुरुके आश्रमकी ओर चल दिया। उसने संध्या होनेपर एक सुविधाजनक स्थानपर पड़ाव डाल दिया। उसने गायोंके चारे-पानीकी व्यवस्था की तथा अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। सहसा अग्निदेवने उससे कहा—'सत्यकाम!' उसने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' अग्निदेवने कहा—'सौम्य! मैं तुम्हें ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश देता हूँ।' स्वयं अग्निदेवने उसे 'अनन्तवान्' नामक ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश दिया और कहा कि ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश तुम्हें एक हंस देगा। सत्यकामने प्राप्त ज्ञानका रातमें चिन्तन किया।

सुबह होते ही सत्यकाम गायोंको लेकर आश्रमकी तरफ आगे बढ़ा। दिनभर यात्रा करनेके बाद उसने शामको एक स्थानपर पड़ाव डाला; गायोंके चारे-पानीकी व्यवस्था की तथा अग्नि प्रज्वलित करके पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। उसी समय एक हंसने वहाँ आकर उससे कहा—'सत्यकाम!' वह बोला—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'मैं तुम्हें ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश देता हूँ।' वह बोला—'भगवन्! कृपा करके उपदेश दीजिये।' हंसने उसे 'ज्योतिष्मान्' नामक ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश देकर कहा कि एक मद्गु (जलमुर्ग) तुम्हें ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश देगा। इसके बाद हंस उड़कर चला गया। उसने उपदेशका मनन किया।

सुबह होनेपर सत्यकाम पुनः गायोंको लेकर आश्रमकी

ओर आगे बढ़ा तथा संध्याके समय एक स्थानपर गायोंको ठहराकर उनके चारे-पानीकी व्यवस्था करके उसने अग्नि प्रज्वलित की और पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। तभी एक जलपक्षीने उसे सम्बोधित किया—'सत्यकाम!' वह बोला, 'भगवन्! क्या आज्ञा है?' जलमुर्ग बोला—'मैं तुम्हें ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश दूँगा।' सत्यकामने कहा, 'उपदेश दीजिये, भगवन्!' जलमुर्गने उसे 'आयतनवान्' नामक ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश दिया और वह वहाँसे चला गया। सत्यकामने उपदेशका रातमें मनन किया।

सत्यकामको वृषभरूप वायुदेव, अग्निदेव, हंसरूप सूर्यदेव तथा जलपक्षीरूप प्राणदेवतासे क्रमशः प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् तथा आयतनवान् नामक ब्रह्मके चार पादोंका ज्ञान प्राप्त हुआ। यह उसके द्वारा की गयी गो-सेवा तथा गुरुकी आज्ञाका पालन करनेका फल था। वह ब्रह्मज्ञानी हो गया। उसके मुखमण्डलपर ब्रह्मतेज दिखायी दे रहा था। प्रातःकाल वह गायोंको लेकर आश्रमकी तरफ चल पड़ा।

अपने गुरु गौतम ऋषिके आश्रमपर पहुँचकर उसने ऋषिको प्रणाम करके कहा—'गायोंकी संख्या एक हजार हो गयी है। आपके आज्ञानुसार मैं इन्हें वापस आश्रममें ले आया हूँ।' गौतम ऋषिने हृष्ट-पुष्ट गो-धनको देखकर एवं सत्यकामके मुखमण्डलपर दृष्टिपात करके कहा—'वत्स सत्यकाम! तू ब्रह्मज्ञानीके समान दिखायी दे रहा है। तुझे किसने उपदेश दिया है?'

सत्यकामने कहा, 'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे ज्ञान प्राप्त हुआ है।' उसने सारी घटना अपने गुरुको सुनाकर निवेदन किया—'भगवन्! गुरुके द्वारा प्रदान की गयी विद्या ही श्रेष्ठ होती है। अतः आप मुझे विद्या प्रदान करें।' गौतम ऋषि बोले—'वत्स! तुमने ब्रह्मत्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, अब तुझे कुछ भी जानना शेष नहीं रहा।'

सत्यकामको बाल्यावस्थासे ही अच्छे संस्कारोंसे सँजोया गया था। 'अतिथिदेवो भव' को वह घरपर प्रत्यक्ष देखता था। उसमें सेवा-भाव, सत्य बोलना, विनम्रता, सदाचार, सादगी तथा आज्ञापालन-जैसे सद्गुण थे। वह विद्याग्रहण करनेको तत्पर था। गौतम ऋषिके सांनिध्यमें उसे गुरुसेवा तथा गोसेवाका अवसर मिला, जिसके फलसे वह ब्रह्मज्ञानी बना। उसका जीवनवृत्त शिक्षार्थियोंके लिये प्रेरणाका स्रोत है। सभी व्यक्तियोंमें अच्छे संस्कार हों, तभी मानव सांसारिक और आध्यात्मिक जीवनमें सफल हो सकता है। आगे चलकर सत्यकाम ही 'जाबाल' ऋषिके नामसे प्रसिद्ध हुए।

~~~o~~~

निष्कामसेवाके संस्कारोंसे प्रभुप्रेमकी प्राप्ति

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)

निष्कामभावसे प्राणिमात्रकी सेवा करना ही वास्तविक भजन है। यही सच्चा धर्म है। ऐसी निष्कामसेवासे प्रभुप्रेमकी प्राप्ति अवश्य होती है।

जिस धर्ममें दूसरोंको दुःख देने, दूसरोंकी हिंसा करनेकी बात कही गयी है, वह वास्तवमें धर्म है ही नहीं। दूसरोंको सुख-शान्ति देनेसे ही हमें सुख-शान्ति मिलेगी। दूसरोंको दुःख देनेसे हमें दुःखकी ही प्राप्ति होगी, लाखों प्रयत्न करनेपर भी हम दुःखसे बच नहीं सकते। पुण्य बने तो करो, परंतु पाप तो कभी मत करो। हो सके तो दूसरोंको देना सीखो, परंतु लेनेकी भावना कभी मत रखो। दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्न होना चाहिये। दुःखी देखकर उनकी सहायता करनी चाहिये, परंतु कभी भी किसीको दुःखी देखकर प्रसन्न नहीं होना चाहिये। जैसी भावना वैसी प्राप्ति। प्राणिमात्रका भला हो, सभी सुखी हों, किसीको दुःख न हो—ऐसी भावना नित्यप्रति बार-बार करनी चाहिये। ऐसी भावनासे हमारे विकार नष्ट होते हैं, तिरस्कार और द्वेष शान्त हो जाते हैं तथा सुसंस्कार मनमें बैठ जाते हैं। हम जैसी भावना करें, वैसा आचरण भी करें—इससे भावना शीघ्र फलवती होती है। भावना अभ्यास है और आचरण उसका फल है। जिसके विचार, वाणी और आचरणमें एकता है उसे भय, दुःख, चिन्ता और क्रोध होते ही नहीं हैं। इसलिये जो मनुष्य प्राणिमात्रका हित चाहता है, किसीका भी सुख देखकर जिसके अन्तःकरणमें प्रसन्नता
~~~

होती है, दुःखी देखकर जिसका अन्तःकरण द्रवित हो जाता है और अपने सामर्थ्यानुसार भेदभावसे रहित होकर वह उसकी सहायता करता है, किंतु बदलेमें स्वयं कामनारहित रहता है—ऐसे मनुष्यसे सभी प्रेम करते हैं, आवश्यकता पड़नेपर उसकी सेवा करते हैं, जड़-चेतन सभी उसके अनुकूल हो जाते हैं।

जो आचरण हमें अच्छा न लगे वह दूसरोंके साथ न करें। परोपकारसे पुण्य होता है, सुख मिलता है और परपीड़ासे महान् दुःखकी प्राप्ति होती है। पाप दुःख है और पुण्य सुख है। निष्कामभावनासे जो परोपकार करता है, वह सदैव सुखी रहता है।

जिसके अन्तःकरणमें दया है, जिसका हृदय दयासे परिपूर्ण है, उसे चारों दिशाओंसे सुख प्राप्त होता है, परंतु जो दूसरोंको दुःखी देखकर प्रसन्न होता है, वह अवश्य ही दुःखी होता है।

दूसरेको दुःखी देखकर सहायता करें, दया करें, यदि कुछ भी न बने तो उसका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करें कि उसका भला हो। हम जैसा करेंगे वैसा मिलेगा, करना हमारे हाथमें है, फल कब और कितना देना है—यह ईश्वरके हाथमें है। भगवान्ने तुम्हें अवसर दिया है तो जागो, उठो और सेवामें जुट जाओ, फिर ऐसा अवसर बार-बार नहीं आयेगा। ईश्वरका भजन करना चाहिये और जो भी भगवान्ने हमें दिया है, उसमेंसे नित्यप्रति दान देते रहना चाहिये।

बुद्धि हो तो भूलेको रास्ता दिखाओ, दुःखीके प्रति दया रखकर उसकी सहायता करो। मन तथा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्की ओर लगाना चाहिये। कुटुम्बपोषण और विषयभोग तो पशु-पक्षी भी करते हैं, फिर इन्हीं कार्योंमें अपनी आयु नष्ट क्यों की जाय? काल आयेगा तो सभी वस्तुएँ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा; उस समय कुटुम्बी सहायता नहीं करेंगे। तुम्हारे साथ तुम्हारे पाप-पुण्य ही जायँगे। इसलिये नित्यप्रति पुण्यकर्म और भगवद्भजन करते रहना चाहिये, ये ही तुम्हारे काम आयेंगे। यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि सच्चा धन धर्म और भगवान्का भजन ही है।

संसारमें जीता-जागता परमेश्वर कहाँ है? तो वे हैं माता-पिता और परोपकारी। इनको जो दुःखी करता है, इनका जो तिरस्कार करता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता, उलटे दुःख ही पायेगा। इनकी सेवा करनेवाला सदैव सुखी रहता है। परमेश्वरपरायण, साधु, वृद्ध, बालक, गरीब, दुःखी, भूखे और रोगी—ये सभी ईश्वरके रूप हैं। जाति-पाँति और योग्यता देखे बिना इनकी सेवा करनी चाहिये। इनकी सेवा करनेसे जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी शान्ति अन्य किसी क्रियासे नहीं हो सकती। निःस्वार्थ सेवा करनेमें जो आनन्द है, वह स्वर्गमें भी नहीं है, फिर इस लोकमें तो हो ही कैसे सकता है? परंतु उस सेवामें प्रत्युपकार, कीर्ति, आशीर्वाद अथवा पुण्य आदि किसी भी प्रकारकी इच्छा अन्तमें नहीं होनी चाहिये। यदि इच्छा होगी तो उसका तुम्हें वैसा फल मिल जायगा, परंतु उसमें विघ्न आयेंगे, जिनकी सहायता की है उनमें राग होगा। परंतु कोई इच्छा न रहनेपर काममें अप्रत्याशित सरलता और सफलता मिलेगी—भगवान् मिलेंगे। अच्छे काम करते हुए यदि विघ्न आते हैं तो समझना चाहिये कि हमारे हृदयके किसी कोनेमें सूक्ष्म इच्छा अवश्य दबी पड़ी है।

कर्म किये बिना शरीर रह नहीं सकता, इसलिये मनुष्य दान, पुण्य, जप, तप, तीर्थसेवन, देवताओंकी आराधना, यज्ञ आदि सामर्थ्यानुसार करे, परंतु उन सब क्रियाओंका फल भगवत्प्रेम ही चाहे—

'सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।'

(रा०च०मा० २।१२९)

विचारवान् और अविचारीमें इतना ही अन्तर है कि विचारवान् परिणामी सुखको देखता है और अविचारी तात्कालिक सुखको महत्त्व देता है। तात्कालिक सुख क्षणिक होता है, जबकि परिणामी सुख असीम होता है। जिस वस्तु और क्रियासे परिणाममें सुख हो, उसका सेवन करना चाहिये और जिनसे परिणाममें दुःख हो, उनका त्याग करना चाहिये।

उपासक कटुवचनोंका प्रयोग और क्रोध कभी न करे। परपीड़ा न दे, किसीका तिरस्कार न करे। भगवान्

सबके अन्तःकरणमें रहते हैं, प्राणिमात्रका हृदय उनका मन्दिर है। हमारे मर्मभेदी वचनोंसे भगवान्‌का मन्दिर डोलने लगता है, उसमें दरारें पड़ जाती हैं। दूसरोंको दुःख देनेसे हम कभी सुखी नहीं हो सकते। एक बात और ध्यानमें रखनी चाहिये कि सबका स्वभाव अलग-अलग है, अतः जिससे भी व्यवहार पड़े, उसके स्वभावका ध्यान रखते हुए, उसे किसी प्रकारका दुःख न हो—ऐसा व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार आपको और उसको दोनोंको सुख मिलेगा। सुख, शान्ति और आनन्दकी सभीको इच्छा रहती है। अतः हमारे द्वारा किसीको दुःख न पहुँचे और हम किसीके व्यवहारसे दुःखी न हों तो सुख सदैव हमारे साथ रहेगा। इसके लिये कुछ सूत्र बताते हैं—

१-दूसरोंका कोई हक न ले, २-दूसरेको दुःख हो, ऐसा कुछ न करे, ३-परनिन्दा न करे, न सुने, ४-प्रतिदिन किसी-न-किसी स्वरूपमें दूसरेको सुख पहुँचे, ऐसा कार्य अवश्य करे, किंतु प्रत्युपकारकी आशा न रखे तथा ५-कभी किसीको ठगे नहीं। हम ठगे जायँगे, इसका भय न रखकर, दूसरा हमारे द्वारा न ठगा जाय—इसका भय रखे।

—इन नियमोंका पालन करनेवाला सबको प्रिय लगता है। सब उसपर विश्वास करते हैं और सभी उसका प्रिय चाहते हैं।

दुःख पापाधीन है, सुख पुण्याधीन है। दूसरोंको सुख पहुँचाना ही पुण्य है और दूसरोंको दुःख देना ही पाप है। भगवान्‌की भक्ति करना सबसे बड़ा पुण्य है और भगवान्‌से विमुखता ही सबसे बड़ा पाप है।

पूर्वजन्ममें अथवा इस जन्ममें किये हुए कर्मोंका फल भोगना ही पड़ेगा। भोग किये बिना कर्मफल समाप्त नहीं होते। इसलिये धैर्यके साथ यत्नपूर्वक उन्हें सहन करना चाहिये। दुःखके पश्चात् सुख और सुखके पश्चात् दुःख आयेगा ही। अतः दुःखमें धैर्य और शान्तिके साथ यह विचार रखना चाहिये कि यह कहाँ चिरकालतक रहनेवाला है, दुःखके बाद सुख तो आयेगा ही। यही बात सुखमें भी स्मरण रखनी चाहिये कि किसीका सुख चिरकालतक नहीं रहता। इस प्रकार सुख-दुःखका प्रभाव मनपर न पड़ने दे। शरीरसे सदैव क्रियाशील रहे और मनको शान्तिपूर्वक भगवच्चिन्तनमें लगाये।

बहुत धन कमायेंगे और अपने इच्छानुसार खर्च करेंगे—ऐसी भावना नहीं रखनी चाहिये। वास्तवमें हम क्या कमाते हैं? केवल श्रम और चिन्ता ही न! धन कमानेमें श्रम तो करना ही पड़ता है, साथ ही धन खर्च करते समय भी मन सदा विक्षेपयुक्त रहता है। कारण—चिन्ता लक्ष्मीकी सहेली है और क्लेश तो लक्ष्मीके साथ माथेकी बिन्दीकी तरह चिपका रहता है। जहाँ लक्ष्मी जाती हैं वहाँ चिन्ता और क्लेश भी अवश्य जाते हैं। जीवको शान्ति और आनन्दकी भूख है, परंतु लक्ष्मीको कमाते और खर्च करते समय तो श्रम, चिन्ता और विक्षेप ही होते हैं। लक्ष्मीमें शान्ति और आनन्द नहीं है। शान्ति और आनन्द तो निष्काम सेवामें है, आत्मामें है—परमात्मामें है। यदि अपने पूर्व-पुण्योंके प्रतापसे लक्ष्मी मिली हो तो उससे भगवान्‌की आराधना करनी चाहिये, सत्संग करना चाहिये। लक्ष्मीका उपयोग भगवान्‌के लिये और भगवान्‌के भक्तोंके लिये करते रहना चाहिये।

मनुष्य जैसा करेगा, उसके प्रति सारा जगत् वैसा ही करेगा। वह सत्य बोलेगा तो सारा संसार उसके साथ सत्य-वर्ताव करेगा। वह दूसरोंको सुखी करनेमें यथाशक्ति प्रयत्न करेगा तो उसे सुखी करनेके लिये सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करेगा। वह दया करेगा तो सारा संसार उसके प्रति दया रखेगा। इसमें दो शर्तें हैं—एक तो जिन गुणोंका आचरण वह करे, वे निष्काम और भगवदर्पण होने चाहिये। दूसरी, उनका बार-बार आचरण करते हुए अपना स्वभाव गुणमय हो जाना चाहिये; क्योंकि कोई भी सकाम पुण्यकर्म सम्पत्ति और यश देते हैं, जबकि निष्काम कर्म भगवान्‌की प्राप्ति कराते हैं। अतः सच्चे अन्तःकरणसे निष्कामभावपूर्वक यथाशक्ति सबकी सेवा करनी चाहिये।

[ ]

नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।'

मानवमें पहलेसे विद्यमान दुर्गुणोंको निकालकर उनके स्थानपर सद्गुणोंका आधान कर देनेका नाम 'संस्कार' है। महर्षि चरककी यह उक्ति संस्कारको पूरी तरह परिभाषित करती है। वास्तवमें संस्कार मानव-जीवनको परिष्कृत करनेवाली एक आध्यात्मिक विधा है। संस्कारोंसे सम्पन्न होनेपर ही मानव सुसंस्कृत, चरित्रवान्, सदाचारी तथा प्रभुपरायण हो सकता है। कुसंस्कारजन्य चारित्रिक पतन ही मनुष्यको विनाशकी ओर ले जाता है, किंतु संस्कारयुक्त होनेपर मानवका ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय सहज ही सिद्ध हो जाता है। प्राकृतिक पदार्थ भी जब बिना सुसंस्कृत किये प्रयोगके योग्य नहीं बन पाते तो फिर मानवके लिये संस्कारोंकी कितनी आवश्यकता है, यह स्पष्ट ही है। जबतक बीज एवं गर्भसम्बन्धी दोषोंका आहरण नहीं कर लिया जाता, तबतक व्यक्ति आर्षेय नहीं बन पाता और तब वह हव्य-कव्य देनेका अधिकारी भी नहीं बन पाता। मानव-जीवनको पवित्र, चमत्कारपूर्ण एवं उत्कृष्ट बनानेके लिये संस्कारोंकी मुख्य आवश्यकता है।

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'कल्याण' का विशेषाङ्क **'संस्कार-अङ्क'** प्रकाशित किया जा रहा है। भारतीय संस्कृतिमें संस्कारोंका विशेष महत्त्व होनेके कारण सर्वसाधारणमें संस्कारोंके सम्बन्धमें जाननेकी उत्सुकता होना स्वाभाविक है। पिछले कई वर्षोंसे सुविज्ञजनोंका यह आग्रह था कि संस्कारसे सम्बन्धित सामग्री 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित की जाय। यद्यपि यह कार्य इतना सरल नहीं था, फिर भी भगवत्प्रेरणासे यह विचार आया कि **'संस्कार-अङ्क'**-के द्वारा सुधी पाठकजनोंकी जिज्ञासाको यथासाध्य पूर्ण करनेका प्रयास किया जाय। अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुकी असीम अनुकम्पासे इस वर्ष यह अवसर प्राप्त हुआ।

वास्तवमें संस्कारोंसे शारीरिक एवं मानसिक मलों—दोषों—पापोंका आहरण होता है और आध्यात्मिक पूर्णताकी योग्यता प्राप्त होती है। संस्कार सदाचरण और शास्त्रीय आचारके घटक हैं। संस्कार, सद्विचार और सदाचारकी सुसम्पन्नतासे मानव-जीवनके अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। संस्कार ही सद्विचार और सदाचारके नियामक हैं। एक सुसंस्कृत व्यक्ति ही अपने कर्तव्यकर्मोंको यथाविधि करनेमें समर्थ हो सकता है। संस्कारोंसे व्यक्तिको शास्त्रीय आचार-विचार और व्यवहारकी प्रबल सत्प्रेरणा प्राप्त होती है और वह भगवन्मार्गका अनुगामी बन जाता है। संस्कारोंसे शुचिता, पवित्रता, सदाशयता तथा सात्त्विक गुणोंकी सहज ही प्रतिष्ठा हो जाती है और उसका जीवन अत्यन्त मर्यादित एवं आचारनिष्ठ हो जाता है। भारतीय संस्कृति सदासे ही संस्कार और सदाचारसे अनुप्राणित रही है। अच्छे संस्कार पड़े रहनेपर सत्कर्म बनते हैं और बुरे संस्कारोंसे सम्पृक्त रहनेपर असत्कर्म ही बनते हैं। असत्कर्म न बन पड़ें और प्राप्त जीवनके प्रत्येक क्षणका हम सदुपयोग कर सकें, इसके लिये संस्कारोंका ज्ञान और संस्कार-परम्पराका अविच्छिन्न रूपसे परिपालन परमावश्यक है।

वर्तमानमें व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्वकी जो स्थिति है, सर्वत्र जैसी विभीषिका व्याप्त है; वह किसीसे छिपी नहीं। मानव आज कितनी तीव्र गतिसे पतनकी ओर जा रहा है और कितना दिग्भ्रान्त है, यह सभीकी अनुभूतिमें है। असदाचार, अनैतिक जीवन, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, मर्यादाहीनता, उच्छृङ्खलता, नास्तिकता, शास्त्रविरुद्ध आचरणके पालन तथा हितकारी एवं कल्याणकारी नियमोंके उल्लंघनमें गौरवानुभूति और इसमें बुद्धिमत्ताका बोध आदि-आदि—यह सब कुसंस्कारोंसे प्रवृत्त होनेके कारण ही है। शास्त्रीय संस्कारोंके पालनको असभ्य और असंस्कृत सिद्ध करनेकी प्रवृत्ति भी बहुत

व्यापक रूपसे प्रचलनमें है—यह भारी विडम्बना है। संस्कार और संस्कारोंके वैज्ञानिक तत्त्व आज अज्ञात और लुप्त-से हो गये हैं, जो हैं भी उनका भी रूप विकृत हो गया है। साथ ही उनका प्रचलन भी दिनोदिन कम होता जा रहा है, यहाँतक कि संस्कारोंके नाम भी संज्ञानमें नहीं रह गये हैं—यह महान् भयकी सूचना है। संस्कार ही हमारी अविच्छिन्न सांस्कृतिक परम्पराके प्राण हैं, अतः हमें संस्कारोंका सविशेष अनुशीलन कर उन्हें पुनः व्यावहारिक रूप देना चाहिये। उनकी रक्षा, सुरक्षा एवं संरक्षाके दायित्वका निर्वाह करना चाहिये।

शास्त्रोंमें जन्मके पूर्वसे लेकर मृत्युपर्यन्त तथा मृत्युके अनन्तर भी जीवकी सद्गति हो सके—इसके लिये संस्कारोंका विधान किया गया है, ताकि व्यक्तिका अन्तःकरण निर्मल बन सके। उससे सत्कर्म बनें और वह इस मानव-जीवनकी प्राप्तिको सफल बना सके। ये संस्कार कौन-कौन-से हैं तथा उनकी विधि क्या है और किस प्रकार ये भगवत्प्राप्तिमें सहयोगी बनते हैं, इसका अतिसूक्ष्म एवं वैज्ञानिक वर्णन शास्त्रोंमें विस्तारसे हुआ है। संस्कारोंके स्वरूपका ठीक-ठीक परिज्ञान हो सके तथा हम उनकी उपयोगिता और महिमाको समझकर उन्हें अपने जीवनमें उतार सकें तथा दूसरोंको भी इस ओर प्रवृत्त कर सकें—इसके लिये संस्कारोंके सूक्ष्म रहस्यसे परिचित होना परमावश्यक है।

इन्हीं सब दृष्टियोंसे इस वर्ष 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें **'संस्कार-अङ्क'** सुधी पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है, *जिसमें मुख्यरूपसे संस्कारका स्वरूप,* उनकी महिमा तथा उपयोगिता, उनके सम्पन्न करनेकी विधि, संस्कारोंके मुख्य भेद, प्रमुख संस्कारोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन, विविध धर्म तथा संस्कृतियोंमें संस्कारोंका स्वरूप तथा उनका महत्त्व, संस्कारवान् महापुरुषोंके चरित्र, संस्कारसम्पन्नतासे लाभ तथा कुसंस्कारोंका परिणाम और उससे होनेवाला विनाशकारी पतन, जन्मसे पूर्वके संस्कार, गर्भकालीन संस्कार, जन्मके अनन्तर बालकोंके संस्कार, शैक्षणिक एवं नैतिक संस्कार, स्त्रियोंके लिये विशिष्ट संस्कार, द्विजेतरोंके लिये संस्कार, उपनयन एवं विवाहादि संस्कार, अन्त्येष्टि-संस्कारका स्वरूप तथा लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदयमें संस्कार-परिपालनकी उपयोगिता और संस्कारसम्पन्नतासे भगवत्प्राप्तिमें प्रवृत्ति तथा आत्मोद्धारके साधनके रूपमें संस्कारोंकी मर्यादा आदि तात्त्विक विषयों एवं उससे सम्बद्ध आख्यानोंको संकलित कर सरल एवं समग्ररूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया, जिससे सर्वसाधारण अपनी भारतीय सनातन संस्कृतिके प्राणभूत कल्याणकारी बातोंसे परिचित होकर उन्हें अपने जीवनमें आत्मसात् कर सकें।

इस वर्ष **'संस्कार-अङ्क'** के लिये लेखक महानुभावोंने उत्साहपूर्वक जो योगदान प्रदान किया है, वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। भगवत्कृपासे इतने लेख और सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि सबको इस अङ्कमें समाहित करना सम्भव नहीं था, फिर भी विषयकी सर्वाङ्गीणताको ध्यानमें रखते हुए अधिकतम सामग्रियोंका समायोजन करनेका विशेष प्रयास किया गया है। सामग्रीकी अधिकताके कारण फरवरी मासका 'कल्याण' परिशिष्टाङ्कके रूपमें प्रकाशित करनेका विचार है।

लेखक महानुभावोंके हम अत्यधिक कृतज्ञ हैं, जिन्होंने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर संस्कार-सम्बन्धी सामग्री तैयार कर यहाँ प्रेषित की है। हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीको इस 'विशेषाङ्क' में स्थान न दे सके, इसका हमें खेद है। इसमें हमारी विवशता ही कारण है। इनमेंसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख आनेके कारण न छप सके तथा कुछ अच्छे लेख विलम्बसे आये, जिनमें कुछ लेखोंको स्थानाभावके कारण संक्षिप्त करना पड़ा और कुछ नहीं दिये जा सके। यद्यपि इनमेंसे कुछ सामग्रीको आगेके साधारण अङ्कोंमें देनेका प्रयास अवश्य करेंगे, परंतु विशेष कारणोंसे कुछ लेख प्रकाशित न हो सकेंगे तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमें रखकर हमें अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्रहृदय संत-महात्माओंके श्रीचरणोंमें प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किञ्चित् भी योगदान किया है। सद्विचारोंके प्रचार-प्रसारमें वे ही निमित्त हैं; क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्चविचारयुक्त भावनाओंसे 'कल्याण'को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है, त्रुटियों एवं व्यवहार-दोषके लिये उन सबसे क्षमा-प्रार्थी हैं।
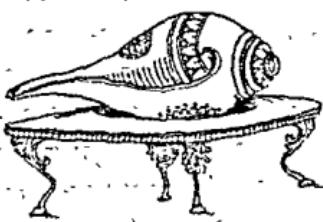
'संस्कार-अङ्क'के सम्पादनमें जिन संतों एवं विद्वान् लेखकोंसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानस-पटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मैं वाराणसीके समादरणीय पं० श्रीलालबिहारीजी शास्त्री तथा प्रयागके पं० श्रीरामकृष्णजी-शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने अपने लेख एवं प्रेरणाप्रद परामर्श प्रदान कर निष्काम भावसे अपनी सेवाएँ परमात्मप्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित की हैं। 'गोधन'के सम्पादक तथा विशिष्ट पत्रकार श्रीशिवकुमारजी गोयलके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते हैं, जो निरन्तर अपने पूज्य पिता भक्त श्रीरामशरणदासजी, पिलखुआके संग्रहालयसे अनेक दुर्लभ सामग्रियाँ हमें उपलब्ध कराते हैं, साथ ही कई विशिष्ट महानुभावोंसे भी सामग्री एकत्र कर भेजनेका कष्ट करते हैं।

मैं अपने कनिष्ठ भ्राता प्रेमप्रकाश लक्कड़के प्रति भी आभारी हूँ, जिन्होंने इस अङ्कके सम्पादनमें अपना अमूल्य समय देकर पूर्ण सहयोग प्रदान किया। इसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन, चित्रनिर्माण तथा मुद्रण आदिमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहृदयता मिली, वे सभी हमारे अपने हैं; उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें 'कल्याण'का कार्य भगवान्का कार्य है, अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं, हम तो केवल निमित्तमात्र हैं। इस बार 'संस्कार-अङ्क'के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत जगन्नियन्ता प्रभु तथा शास्त्रबोधित शुभ संस्कारोंका चिन्तन-मनन और सत्सङ्गका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है कि इस 'विशेषाङ्क'के पठन-पाठनसे हमारे सहृदय प्रेमी पाठकोंको भी यह सौभाग्य-लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे पुनः क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारण करुणावरुणालय परमात्मप्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमें तथा जगत्के सम्पूर्ण जीवोंको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे हम सब ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्दिष्ट शुभ संस्कारोंकी ओर प्रवृत्त होकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुर-प्रकाशन

[जनवरीसे नवम्बर २००५ तकके नवीन प्रकाशन*]

कोड		मूल्य
■1592	आरोग्य-अङ्क (परिवर्धित संस्करण)	१२०
■1610	देवीपुराण[महाभागवत]-शक्तिपीठाङ्क	८०
■1589	श्रीहरिवंशपुराण—केवल हिन्दी	१५०
■1629	स्तोत्ररत्नावली-सजिल्द	२८
■1590	गीता-प्रबोधनी, पॉकेट साइज (वि० सं०)	२०
■1595	साधकमें साधुता	२०
■1627	रुद्राष्टाध्यायी-सानुवाद	१८
■1624	पौराणिक कथाएँ	१०
▲1598	सत्संगके फूल	९
▲1597	चिन्ता शोक कैसे मिटे ?	८
■1583	सुन्दरकाण्ड(मूल) मोटा (आड़ी) रंगीन	६
■1623	ललितासहस्रनामस्तोत्र	६
▲1631	भगवान् कैसे मिलें ?	६
■1599	श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम् (नामावलिसहितम्)	५
■1600	श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम् (")	५
■1601	श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम् (")	५
▲1633	एक संतकी वसीयत	२
■1612	सच्ची और पक्की बात (सौ पन्नोंके पैकेटमें)	१
■1611	मैं भगवान्‌का अंश हूँ (सौ पन्नोंके पैकेटमें)	१
■1505	भीष्मस्तवराज	३
■1615	श्रीरामचरितमानस मूल मझला अजिल्द	३०
▲1653	मनुष्य जीवनका उद्देश्य	६
■1647	देवीभागवतकी प्रमुख कथाएँ	१५
■1646	महाभारतके प्रमुख पात्र	१५
■1602	श्रीमद्भगवद्गीता श्लोकार्थसहित विशिष्ट संस्करण	८
■0557	मत्स्यमहापुराण [सचित्र, हिन्दी-अनुवादसहित]	१५०
■1131	कूर्मपुराण [सचित्र, हिन्दी-अनुवादसहित]	८०
■1549	वाल्मीकिरामायण-सुन्दरकाण्ड-सटीक	५०
■1555	श्रीमद्भगवद्गीता-माहात्म्यसहित (विशिष्ट संस्करण) मोटे एवं अच्छे क्वालिटीके कागजपर)	३५
■1591	आरती-संग्रह, मोटा टाइप	१०
■1566	गीता-पॉकेट साइज, सजिल्द	१०
▲1587	जीवन-सुधारकी बातें	८
■1588	माघमास-माहात्म्य	५

कोड		मूल्य
■1556	श्रीमद्भगवद्गीता श्लोकार्थसहित, लघु आकार	५
	English	
■1159 / 1160	Śrimad Bhāgavata Mahāpurāṇa Only English Translation Set of 2 Volumes	१५०
■1617	Śrī Rāmacaritamānasa A Romanized Edition with English Translation	८०
■1584	Śrimad Bhagavadgitā (With English Translation & Transliteration)	१०
	बांगला	
■1603	ईशादि नौ उपनिषद्	४५
■1604	पातञ्जलयोगदर्शन	११
▲1651	हे! महाजीवन हे! महामरण	२
■1652	नवग्रह पत्रिका	१०
■1574	संक्षिप्त महाभारत-खण्ड-१	१२०
■1513	उपयोगी कहानियाँ	८
▲1579	साधनार मनोभूमि	६
▲1580	अध्यात्म साधनाय कर्महीनता नय	६
▲1581	गीतार सारात्सार	६
	गुजराती	
■1608	श्रीमद्भागवत-सुधासागर	१८०
■1634	दुर्गासप्तशती-सटीक, सजिल्द	२४
■1620	क्या करें ? क्या न करें ?	१८
■1636	श्रीमद्भगवद्गीता-मूल मोटा टाइप	७
	मराठी	
■1607	रुक्मिणी-स्वयंवर	१२
▲1613	भगवान्‌के स्वभावका रहस्य	९
▲1171	गीता पढ़नेके लाभ	२
▲1642	प्रेमदर्शन	९
▲1641	साधनकी आवश्यकता	८
■1508	अध्यात्मरामायण	७०
▲1578	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१२
	पंजाबी	
▲1616	गृहस्थमें कैसे रहें ?	७

कोड		मूल्य
	नेपाली	
■1609	श्रीरामचरितमानस-सटीक, मोटा टाइप	१४०
▲1621	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१२
	तेलुगु	
■1622	श्रीमद्वाल्मीकिरामायण श्लोकतात्पर्यसहित [भाग-२]	१३०
■964	राजा राम (चित्रकथा)	१५
■963	रामलला (")	१५
■968	श्रीमद्भागवतके प्रमुख पात्र (")	१५
■967	रामायणके प्रमुख पात्र (")	१५
■959	कन्हैया (")	१०
■960	गोपाल (")	१०
■961	मोहन (")	१०
■911	विष्णुसहस्रनाम-मूल (लघु आकार)	१
■962	श्रीकृष्ण पत्रिका	१०
■973	शिवस्तोत्रावली	३
■972	सुमति श्रीकृष्ण दाशरथिशतक मुलु	५
■1639	बालरामायणम् लघुआकार	१
■1024	श्रीनारायण कवचमु तात्पर्यसहितमु	३
■1573	श्रीमद्भागवतमहापुराण मूलमात्रम्	१२०
■908	श्रीमन्नारायणीयम् (मूल)	१५
▲1572	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
■1571	श्रीमद्भगवद्गीता-लघु आकार	२
	तमिल	
■1606	श्रीमन्नारायणीयम्-सटीक	६०
■1605	भागवत एकादश स्कन्ध-सटीक	५५
■1427	गीता-साधक-संजीवनी (भाग-२)	७५
	कन्नड़	
▲1625	नारीशिक्षा	८
▲1626	अमृत-बिन्दु	६
■1559	वाल्मीकिरामायण-सुन्दरकाण्ड (सटीक)	५५
	ओड़िआ	
■1644	गीता दैनन्दिनी पुस्तकाकार विशिष्ट संस्करण	४५
▲1614	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
▲1635	प्रेरक कहानियाँ	४

☞ भारतमें डाक खर्च, पैकिंग तथा फारवर्डिंगकी देय राशिः—२ रुपया-प्रत्येक १० रु० या उसके अंशके मूल्यकी पुस्तकोंपर —रजिस्ट्री / वी० पी० पी० के लिये २० रु० प्रति पैकेट अतिरिक्त। [पैकेटका अधिकतम वजन ५ किलो (अनुमानित पुस्तक मूल्य रु० २५०)]

☞ रंगीन चित्रोंपर २० रु० प्रति पैकेट स्पेशल पैकिंग चार्ज अतिरिक्त।

☞ रु० ५००/-से अधिककी पुस्तकोंपर ५% पैकिंग, हैण्डलिंग तथा वास्तविक डाकव्यय देय होगा।

☞ पुस्तकोंके मूल्य एवं डाक दरमें परिवर्तन होनेपर परिवर्तित मूल्य / डाकदर देय होगा।

☞ पुस्तक-विक्रेताओंके नियमोंकी पुस्तिका अलग है। विदेशोंमें निर्यातके अलग नियम हैं।

☞ रु० १५०० से अधिककी पुस्तकें एक साथ लेनेपर १५% छूट (▲चिह्न वाली पुस्तकोंपर ३०%) छूट देय। (पैकिंग, रेल भाड़ा आदि अतिरिक्त)।

सम्पर्क करें—

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर।

* शेष प्रकाशन विवरण अगले पृष्ठसे

कोड — मूल्य

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-तत्त्व-विवेचनी—(टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका) २५१५ प्रश्न और उत्तररूपमें विवेचनात्मक हिन्दी-टीका, सचित्र, सजिल्द आकर्षक

■ 1 बृहदाकार १२०

■ 2 „ ग्रन्थाकार विशिष्ट संस्करण ७० [बँगला, तमिल, ओडिआ, कन्नड, अंग्रेजी, तेलुगु, गुजराती, मराठीमें भी]

■ 3 „ साधारण संस्करण ४५

गीता-साधक-संजीवनी—(टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझनेहेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल, सुबोध भाषामें हिन्दी-टीका, सचित्र, सजिल्द

■ 5 बृहदाकार, परिशिष्टसहित १८०

■ 6 „ ग्रन्थाकार, परिशिष्टसहित १०० [मराठी, तमिल (दो खण्डोंमें), गुजराती, अंग्रेजी (दो खण्डोंमें), कन्नड (दो खण्डोंमें), बँगला, ओडिआमें भी]

गीता-दर्पण—(स्वामी रामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, गीता-व्याकरण और छन्द-सम्बन्धी गूढ़ विवेचन

■ 8 सचित्र, सजिल्द [मराठी, बँगला, गुजराती, ओडिआमें भी] ४०

■1562 गीता-प्रबोधनी—पुस्तकाकार ३०

■ 784 ज्ञानेश्वरी गूढार्थ-दीपिका (मराठी) १३०

■ 748 „ मूल, गुटका (मराठी) २५

■ 859 „ मूल, मझला (मराठी) ३५

■ 10 गीता-शांकर-भाष्य— ६०

■ 581 गीता-रामानुज-भाष्य— ४०

■ 11 गीता-चिन्तन—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीता-विषयक लेखों, विचारों, पत्रों आदिका संग्रह) ३५

गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका, टिप्पणी प्रधान

■ 17 श्लोकसहित, सचित्र, सजिल्द [गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड, तेलुगु, तमिलमें भी] २५

■ 16 गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें (मराठीमें भी) २५

■1555 गीता-माहात्म्य, डीलक्स ३५

■ 18 „ भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान विषय, मोटा टाइप [ओडिआ, गुजराती, मराठीमें भी] १३

■ 502 गीता— „ „ (सचित्र) २०
[तेलुगु, ओडिआ, गुजराती, कन्नड, तमिलमें भी]

■ 19 गीता—केवल भाषा (तेलुगु, उर्दू, तमिलमें भी) ७

■ 750 „ —भाषा पाकेट साइज (हिन्दी) ४

■ 20 „ —भाषा-टीका, पॉकेट साइज (हिन्दी) ५
[अंग्रेजी, मराठी, बँगला, असमिया, ओडिआ, गुजराती, कन्नड, तेलुगुमें भी]

■1566 गीता—भाषा-टीका, पॉकेट साइज, सजिल्द [गुजराती, बँगला, अंग्रेजी भी] १०

■ 21 श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें) [ओडिआमें भी] १९

■ 22 गीता—मूल, मोटे अक्षरोंवाली [तेलुगु, गुजरातीमें भी] ७

■ 23 गीता—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित ३ [कन्नड, तेलुगु, तमिल, मलयालम, ओडिआमें भी]

■1556 गीताश्लोकार्थसहित—लघु आकार ५

■ 700 गीता—मूल, लघु आकार (ओडिआ, बंगला, तेलुगुमें भी) २

■1392 गीता ताबीजी—(सजिल्द) (बंगला, तेलुगुमें भी) ४

■ 566 गीता—गायीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता (१०० प्रति एक साथ) २५

▲ 289 गीता-निबन्धावली

▲ 297 गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोगका स्वरूप १

▲ 388 गीता-माधुर्य-सरल प्रश्नोत्तर-शैलीमें (हिन्दी) [तमिल, मराठी, गुजराती, उर्दू, तेलुगु, बँगला, असमिया, कन्नड, ओडिआ, अंग्रेजी, संस्कृतमें भी] ८

■1242 पाण्डव गीता एवं हंसगीता ३

■1431 गीता-दैनन्दिनी (२००६) पुस्तकाकार, विशिष्ट संस्करण (बँगला, ओडिआमें भी) ४५

■ 503 गीता-दैनन्दिनी (२००६) ३० रोमन, पुस्तकाकार, प्लास्टिक जिल्द

■ 506 गीता-दैनन्दिनी (२००६)— २० पॉकेट साइज, डीलक्स

▲ 464 गीता-ज्ञान-प्रवेशिका-स्वामी रामसुखदास १५

■ 508 गीता-सुधा-तरंगिणी १०

रामायण

■1389 श्रीरामचरितमानस-बृहदाकार (राजसंस्करण) ३५०

■ 80 श्रीरामचरितमानस-बृहदाकार २५०

■1095 „ ग्रन्थाकार (राजसंस्करण) (गुजरातीमें भी) १९०

■ 81 „ „ सचित्र, सटीक, मोटा टाइप, १३० [ओडिआ, बँगला, तेलुगु, मराठी, गुजराती, कन्नड, अंग्रेजीमें भी]

■1402 „ „ सटीक, ग्रंथाकार (सामान्य) १००

■ 82 „ मझला साइज, सटीक सजिल्द ६५ [गुजराती, अंग्रेजी भी]

■1563 „ मझला—सटीक विशिष्ट संस्करण ७५

■1318 „ रोमन एवं अंग्रेजी अनुवादसहित २००

■ 456 „ अंग्रेजी अनुवादसहित १२०

■ 786 „ मझला „ „ ७०

■1436 „ मूलपाठ बृहदाकार १४०

■ 83 „ मूलपाठ, ग्रंथाकार [गुजराती, ओडिआ भी] ६५

■ 84 श्रीरामचरितमानस—मूल, मझला साइज [गुजराती भी] ४०

■ 85 „ मूल, गुटका [गुजराती भी] २५

■1544 „ मूल गुटका (विशिष्ट संस्करण) ३०

■ 790 „ केवल भाषा ८०

[श्रीरामचरितमानस अलग-अलग काण्ड (सटीक)]

■ 94 श्रीरामचरितमानस-बालकाण्ड १८

■ 95 „ अयोध्याकाण्ड १८

■1349 „ सुन्दरकाण्ड सटीक मोटा टाइप (लाल अक्षरोंमें) (श्रीहनुमानचालीसासहित) १५

■ 98 „ सुन्दरकाण्ड [कन्नड, तेलुगु, बँगला भी] ५

■ 101 „ लंकाकाण्ड ९

■ 102 „ उत्तरकाण्ड १०

■ 141 „ अरण्य, किष्किन्धा एवं सुन्दरकाण्ड ९

■ 830 „ सुन्दरकाण्ड-मूल, ग्रन्थाकार, मोटा (रंगीन) १२

■ 99 श्रीरामचरितमानस-सुन्दरकाण्ड-मूल, गुटका [गुजराती भी] ३

■ 100 „ सुन्दरकाण्ड-मूल, मोटा टाइप [गुजराती, ओडिआ भी] ५

■1378 „ सुन्दरकाण्ड-मूल-मोटा टाइप (लाल रंगमें) ६

■ 858 „ सुन्दरकाण्ड-मूल, लघु आकार [गुजराती भी] २

■1376 मानस-गूढार्थ-चन्द्रिका (श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक, टीकाकार-प० प० प्रज्ञानानन्द सरस्वती (सातों खण्ड) ७६०
(अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)

■ 86 मानसपीयूष-(श्रीरामचरितमानसका सुप्रसिद्ध तिलक, टीकाकार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड) १२२५
(अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)

■1291 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण-कथा-सुधा-सागर ८५

■ 75, 76 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक, दो खण्डोंमें सेट २२०

■1337, 1338 „ „ भाषा (मोटा टाइप) दो खण्डोंमें सेट २४०

■ 77 „ „ केवल भाषा १४०

■ 583 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(मूलमात्रम्) १००

■ 78 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण-सुन्दरकाण्ड, मूलमात्रम् १५

■1549 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड—सटीक ५०

■ 452, 453 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (अंग्रेजी अनुवादसहित दो खण्डोंमें सेट) ३००

■1002 सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क ६५

■ 74 अध्यात्मरामायण—सटीक [तमिल, तेलुगु, कन्नड, मराठी भी] ६०

■ 223 मूल रामायण [गुजराती भी] २

■1654 लवकुश चरित्र २०

▲ 401 मानसमें नाम-वन्दना ८

■ 103 मानस-रहस्य ३५

■ 104 मानस-शंका-समाधान ११

अन्य तुलसीकृत साहित्य

■ 105 विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित २५

■ 106 गीतावली— „ „ „ २५

■ 107 दोहावली— „ „ „ १२

■ 108 कवितावली— „ „ „ १२

■ 109 रामाज्ञाप्रश्न— „ „ „ ७

■ 110 श्रीकृष्णगीतावली— „ „ „ ५

■ 111 जानकीमंगल— „ „ „ ४

■ 112 हनुमानबाहुक— „ „ „ ३

■ 113 पार्वतीमंगल— „ „ „ ३

■ 114 वैराग्य-संदीपनी एवं बरवै रामायण ३

सूर-साहित्य

■ 555 श्रीकृष्णमाधुरी २०

■ 61 सूर-विनय-पत्रिका २०

■ 62 श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी २०

■ 735 सूर-रामचरितावली १८

■ 547 विरह-पदावली १५

■ 864 अनुराग-पदावली— २०

पुराण, उपनिषद् आदि

■ 25 श्रीमद्भागवत-सुधासागर—भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द १३०

■1490 „ (विशिष्ट संस्करण) १८०

■ 25 श्रीशुकसुधासागर—बृहदाकार, बड़े टाइपमें २८०

■1535, 1536 श्रीमद्भागवत-महापुराण—सटीक दो खण्डोंमें सेट (विशिष्ट संस्करण) ३००

■ 26, 27 श्रीमद्भागवत-महापुराण—सटीक दो खण्डोंमें सेट (गुजराती भी) २२०

■ 564,565 श्रीमद्भागवत-महापुराण—अंग्रेजी सेट २५०

■ 29 „ मूल मोटा टाइप (तेलुगु भी) ९०

■ 124 श्रीमद्भागवत-महापुराण—मूल मझला ५५

■1092 भागवतस्तुति-संग्रह

■ 571 श्रीकृष्णलीला चित्रण (राजसंस्करण) १००

■ 30 श्रीप्रेम-सुधासागर—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धका भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द ६०

■ 31 भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र, सजिल्द [तमिल भी] २६

■ 728 महाभारत—हिन्दी टीकासहित, सजिल्द, सचित्र [छ खण्डोंमें] सेट १२००
(अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)

■ 38 महाभारत-खिलभाग हरिवंशपुराण—सटीक १८०

■ 637 जैमिनीय अश्वमेध पर्व ५०

■ 39, 511 संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा, सचित्र, सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें) २२०

■ 44 संक्षिप्त पद्मपुराण—सचित्र, सजिल्द १४०

■1468 सं० शिवपुराण (विशिष्ट संस्करण) १४०

■ 789 सं० शिवपुराण—मोटा टाइप [गुजराती भी] ११०

■1133 सं० देवीभागवत—मोटा टाइप [गुजराती भी] १३०

■ 48 श्रीविष्णुपुराण—सटीक, सचित्र, सजिल्द ८०

■1364 श्रीविष्णुपुराण—(केवल हिन्दी) ५५

■1183 सं० नारदपुराण १००

■ 279 सं० स्कन्दपुराणाङ्क—सचित्र, सजिल्द १५०

■ 539 सं० मार्कण्डेयपुराण ५५

■1111 सं० ब्रह्मपुराण ७०

■1113 नरसिंहपुराणम्—सटीक ६०

■1189 सं० गरुडपुराण ९०

■1362 अग्निपुराण (मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद) १२०

■1361 सं० श्रीवराहपुराण ६०

■ 584 सं० भविष्यपुराण ९०

■1131 कूर्मपुराण—सटीक ८०

■ 631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण ११०

■1432 वामन पुराण—सटीक ७५

■ 557 मत्स्यमहापुराण—सटीक १५०

■ 517 गर्गसंहिता—भगवान् कृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन, सचित्र, सजिल्द ८०

■ 47 पातञ्जलयोग-प्रदीप— १००

■ 135 पातञ्जलयोगदर्शन— १०

■ 582 छान्दोग्योपनिषद्—सानुवाद शांकरभाष्य ७०

■ 577 बृहदारण्यकोपनिषद्— „ १००

■1421 ईशादि नौ उपनिषद्—एक ही जिल्दमें „ १००

■ 66 ईशादि नौ उपनिषद्—अन्वय हिन्दी व्याख्या ३५

कोड	मूल्य
■ 67 ईशावास्योपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्य [तेलुगु, कन्नड भी]	४
■ 68 केनोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्य	१०
■ 578 कठोपनिषद्— " "	१२
■ 69 माण्डूक्योपनिषद्— " "	२०
■ 513 मुण्डकोपनिषद्— " "	८
■ 70 प्रश्नोपनिषद्— " "	१०
■ 71 तैत्तिरीयोपनिषद्— " "	१६
■ 72 ऐतरेयोपनिषद्— " "	७
■ 73 श्वेताश्वतरोपनिषद्— " "	२०
■ 65 वेदान्त-दर्शन—हिन्दी व्याख्यासहित, सजिल्द	३५
■ 639 श्रीनारायणीयम्—सानुवाद [तेलुगु भी]	३५

भक्त-चरित्र

कोड	मूल्य
■ 40 भक्तचरिताङ्क—सचित्र, सजिल्द	१२०
■ 51 श्रीतुकाराम-चरित-जीवनी और उपदेश	३५
■ 121 एकनाथ-चरित्र	१५
■ 53 भागवतरत्न प्रह्लाद	१५
■ 123 चैतन्य-चरितावली-सम्पूर्ण एक साथ	१००
■ 751 देवर्षि नारद	१२
■ 167 भक्त भारती	
■ 168 भक्त नरसिंह मेहता [मराठी, गुजराती भी]	१२
■ 1564 महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेव	८
■ 169 भक्त बालक-गोविन्द, मोहन आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड, मराठी भी]	५
■ 170 भक्त नारी—मीरा, शबरी आदिकी गाथा	५
■ 171 भक्त पञ्चरत्न—रघुनाथ, दामोदर आदिकी (तेलुगु भी)	६
■ 172 आदर्श भक्त—शिबि, रन्तिदेव आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड, गुजराती भी]	६
■ 173 भक्त सप्तरत्न-दामा, रघु आदिकी भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड भी]	६
■ 174 भक्त चन्द्रिका-सखू, विट्ठल आदि छ. भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड, तेलुगु, मराठी, ओडिआ भी]	५
■ 175 भक्त-कुसुम-जगन्नाथ आदि छ भक्तगाथा	५
■ 176 [illegible]	
■ 177 [illegible]	
■ 178 भक्त सरोज—गङ्गाधरदास, श्रीधर आदि (गुजराती भी)	७
■ 179 भक्त सुमन—नामदेव, राँका-बाँका आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 180 भक्तसौरभ—व्यासदास, प्रयागदास आदि	७
■ 181 भक्त सुधाकर—रामचन्द्र, लाखा आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 182 भक्त महिलारत्न-रानी रत्नावती, हरदेवी आदि [गुजराती भी]	६
■ 183 भक्त दिवाकर—सुव्रत, वैश्वानर आदि भक्तगाथा	६
■ 184 भक्तरत्नाकर—माधवदास, विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा	६
■ 185 भक्तराज हनुमान्-हनुमान्जीका जीवनचरित्र [मराठी, ओडिआ, तमिल, तेलुगु, कन्नड, गुजराती भी]	५
■ 186 सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र [ओडिआ भी]	४
■ 187 प्रेमी भक्त उद्धव [तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओडिआ भी]	४
■ 188 महात्मा विदुर [गुजराती, तमिल, ओडिआ भी]	४

कोड	मूल्य
■ 136 विदुरनीति	१०
■ 138 भीष्मपितामह [तेलुगु भी]	९
■ 189 भक्तराज ध्रुव [तेलुगु भी]	४

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

कोड	मूल्य
■ 683 तत्त्वचिन्तामणि—(सभी खण्ड एक साथ)	८०
■ 814 साधन-कल्पतरु (१३ महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका संग्रह)	७०
▲ 527 प्रेमयोगका तत्त्व—[अंग्रेजी भी]	१५
▲ 242 महत्त्वपूर्ण शिक्षा—[तेलुगु भी]	१५
▲ 528 ज्ञानयोगका तत्त्व [अंग्रेजी भी]	१०
▲ 266 कर्मयोगका तत्त्व—(भाग-१) (गुजराती भी)	९
▲ 267 " " (भाग-२)	९
▲ 303 प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय [तमिल, गुजराती भी]	८
▲ 298 भगवान्‌के स्वभावका रहस्य [तमिल, गुजराती भी]	९
▲ 243 परम साधन—भाग-१	९
▲ 244 " " —भाग-२	८
▲ 245 आत्मोद्धारके साधन—भाग-१	१०
▲ 335 अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति—(आत्मोद्धारके साधन भाग-२) [गुजराती भी]	९
▲ 579 अमूल्य समयका सदुपयोग [तेलुगु, गुजराती, मराठी, कन्नड, ओडिआ भी]	७
▲ 246 मनुष्यका परम कर्तव्य—भाग-१	९
▲ 247 " " भाग-२	९
▲ 611 इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति [गुजराती भी]	८
▲ 588 अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति "	९
▲ 1296 कर्णवासका सत्संग [तमिल भी]	७
▲ 1015 भगवत्प्राप्तिमें भावकी प्रधानता [गुजराती भी]	७
▲ 248 कल्याणप्राप्तिके उपाय-(त०चि०म०भा०१) [बँगला भी]	१३
▲ 249 शीघ्र कल्याणके सोपान-भाग-२, खण्ड-१ [गुजराती भी]	८
[illegible]-भाग-२ (खण्ड-२)	१२
▲ [illegible] १)	९
▲ [illegible]	
▲ [illegible] भाग ४, [illegible]	९
▲ 251 अमूल्य वचन-तत्त्वचिन्तामणि—भाग-४, (खण्ड-१)	१०
▲ 252 भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा-" (खण्ड-२)	१०
▲ 254 व्यवहारमें परमार्थकी कला-त०चि०भाग-५, (खण्ड-१) [गुजराती भी]	८
▲ 255 श्रद्धा-विश्वास और प्रेम- " भाग-५, (खण्ड-२) [गुजराती भी]	१०
▲ 258 तत्त्वचिन्तामणि- " भाग-६, (खण्ड-१)	९
▲ 257 परमानन्दकी खेती-" भाग-६, (खण्ड-२)	९
▲ 260 समता अमृत और विषमता विष-भाग-७, (खण्ड-१)	१०
▲ 259 भक्ति-भक्त-भगवान्-भाग-७, (खण्ड-२)	१०
▲ 256 आत्मोद्धारके सरल उपाय	८
▲ 261 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान [मराठी, कन्नड, तेलुगु, तमिल, गुजराती, ओडिआ, अंग्रेजी भी]	३

कोड	मूल्य
▲ 262 रामायणके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, ओडिआ, तमिल, मराठी भी]	७
▲ 263 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, तमिल, मराठी भी]	५
▲ 264 मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-१	९
▲ 265 मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-२	७
▲ 268 परमशान्तिका मार्ग—भाग-१ (गुजराती भी)	९
▲ 269 " " भाग-२	९
▲ 543 परमार्थ-सूत्र-संग्रह [ओडिआ भी]	८
▲ 1530 आनन्द कैसे मिले?	६
▲ 769 साधन नवनीत [गुजराती, ओडिआ, कन्नड भी]	८
▲ 599 हमारा आश्चर्य	८
▲ 681 रहस्यमय प्रवचन	८
▲ 1021 आध्यात्मिक प्रवचन [गुजराती भी]	८
▲ 1324 अमृत वचन [बँगला भी]	८
▲ 1409 भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उपाय	६
▲ 1433 साधना पथ	८
▲ 1483 भगवत्पथ दर्शन	८
▲ 1493 नेत्रोंमें भगवान्‌को बसा लें	६
▲ 1435 आत्मकल्याणके विविध उपाय	६
▲ 1529 सम्पूर्ण दु:खोंका अभाव कैसे हो?	६
▲ 1561 दु:खोंका नाश कैसे हो?	८
▲ 1587 जीवन-सुधारकी बातें	८
▲ 1022 निष्काम श्रद्धा और प्रेम [ओडिआ भी]	८
▲ 292 नवधा भक्ति [तेलुगु, मराठी, कन्नड भी]	५
▲ 273 नल-दमयन्ती [मराठी, तमिल, कन्नड, गुजराती, ओडिआ, तेलुगु भी]	३
▲ 274 महत्त्वपूर्ण चेतावनी	५
▲ 277 उद्धार कैसे हो?—५१ पत्रोंका संग्रह [गुजराती, ओडिआ, मराठी भी]	५
▲ 278 सच्ची सलाह—८० पत्रोंका संग्रह	८
▲ 280 साधनोपयोगी पत्र—७२ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 281 शिक्षाप्रद पत्र—७० पत्रोंका संग्रह	७
▲ 282 पारमार्थिक पत्र—११ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 284 अध्यात्मविषयक पत्र—५४ पत्रोंका संग्रह	४
▲ 283 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ—[अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, मराठी, तेलुगु, ओडिआ भी]	५
▲ 680 उपदेशप्रद कहानियाँ [अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड, तेलुगु भी]	८
▲ 891 प्रेममें विलक्षण एकता [मराठी भी]	८
▲ 958 मेरा अनुभव [गुजराती, मराठी भी]	८
▲ 1120 सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें	८
▲ 1283 सत्संगकी मार्मिक बातें	७
▲ 1150 साधनकी आवश्यकता—[मराठी भी]	७
▲ 320 वास्तविक त्याग	५
▲ 285 आदर्श भ्रातृप्रेम [ओडिआ भी]	५
▲ 286 बालशिक्षा [तेलुगु, कन्नड, ओडिआ, गुजराती भी]	३
▲ 287 बालकोंके कर्तव्य [ओडिआ भी]	४
▲ 272 स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा [कन्नड, गुजराती भी]	८
▲ 290 आदर्श नारी सुशीला [बँगला, तेलुगु, तमिल, ओडिआ, गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 291 आदर्श देवियाँ [ओडिआ भी]	४
▲ 330 नारीधर्म	

कोड	मूल्य
▲ 293 सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय [गुजराती भी]	२
▲ 294 संत-महिमा [गुजराती, ओडिआ भी]	१.५०
▲ 295 सत्संगकी कुछ सार बातें [बँगला, तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओडिआ, मराठी, अंग्रेजी भी]	२
▲ 301 भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म	१.५०
▲ 310 सावित्री और सत्यवान् [गुजराती, तमिल, तेलुगु, ओडिआ, कन्नड, मराठी भी]	२
▲ 299 श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश—ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप [तेलुगु व अंग्रेजी भी]	३
▲ 304 गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति—गजलगीतासहित [गुजराती, असमिया, तमिल, मराठी भी]	२
▲ 309 भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय—(कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ) [ओडिआ भी]	३
▲ 311 परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य [ओडिआ भी]	२
▲ 306 धर्म क्या है? भगवान् क्या हैं?	२
[गुजराती, ओडिआ व अंग्रेजी भी]	
▲ 307 भगवान्‌की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत-कण) [ओडिआ, कन्नड, गुजराती भी]	२
▲ 316 ईश्वर साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति	२
▲ 314 व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य [गुजराती, मराठी भी]	२
▲ 623 धर्मके नामपर पाप (गुजराती भी)	२
▲ 315 चेतावनी और सामयिक चेतावनी [गुजराती भी]	१.५०
▲ 318 ईश्वर दयालु और न्यायकारी है और अवतारका सिद्धान्त [गुजराती, तेलुगु भी]	२
▲ 270 भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द एवं महात्मा किसे कहते हैं? (तेलुगु भी)	२
▲ 271 भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?	२
▲ 302 ध्यान और मानसिक पूजा [गुजराती भी]	२
▲ 326 प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोकनाशके उपाय [ओडिआ, गुजराती, अंग्रेजी भी]	१.५०

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड	मूल्य
■ 820 भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार) सभी खण्ड एक साथ	७०
■ 050 पदरत्नाकर	५०
■ 049 श्रीराधा-माधव-चिन्तन	४०
▲ 058 अमृत-कण	१६
▲ 332 ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	२०
▲ 333 सुख-शान्तिका मार्ग	१५
▲ 343 मधुर	११
▲ 056 मानव-जीवनका लक्ष्य	१२
▲ 331 सुखी बननेके उपाय	१०
▲ 334 व्यवहार और परमार्थ	१२
▲ 514 दु:खमें भगवत्कृपा	१०
▲ 3[illegible]5 सत्संग-सुधा	१०
▲ 342 [illegible]	१०

कोड	मूल्य
▲347 तुलसीदल	१०
▲339 सत्संगके बिखरे मोती—	१०
▲349 भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति	१२
▲350 साधकोंका सहारा—	१५
▲351 भगवच्चर्चा—(भाग-५)	१५
▲352 पूर्ण समर्पण	१५
▲353 लोक-परलोक-सुधार—(भाग-१)	८
▲354 आनन्दका स्वरूप	८.५०
▲355 महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर—	१२
▲356 शान्ति कैसे मिले ?	१३
▲357 दुःख क्यों होते हैं ?	१२
▲348 नैवेद्य	१०
▲337 दाम्पत्य-जीवनका आदर्श [गुजराती, तेलुगु भी]	७
▲336 नारीशिक्षा [गुजराती भी]	८
▲340 श्रीरामचिन्तन	९
▲338 श्रीभगवन्नाम-चिन्तन	१०
▲345 भवरोगकी रामबाण दवा [ओड़िआ भी]	७
▲346 सुखी बनो	७
▲341 प्रेमदर्शन [तेलुगु, मराठी भी]	९
▲358 कल्याण-कुंज—(क० कुं० भाग-१)	६
▲359 भगवान्‌की पूजाके पुष्प (" भाग-२)	७
▲360 भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (" भाग-३)	८
▲361 मानव-कल्याणके साधन—(" भाग-४)	१२
▲362 दिव्य सुखकी सरिता—(" भाग-५) [गुजराती भी]	६
▲363 सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ—(क० कुं० भाग-६)	६
▲364 परमार्थकी मन्दाकिनी—(क० कुं० भाग-७)	५
▲366 मानव-धर्म—	५
▲526 महाभाव-कल्लोलिनी	६
▲367 दैनिक कल्याण-सूत्र—	४
▲368 प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष [ओड़िआ भी]	५
▲369 गोपीप्रेम [अंग्रेजी भी]	३
▲370 श्रीभगवन्नाम [ओड़िआ भी]	३
▲373 कल्याणकारी आचरण	३
▲374 साधन-पथ—सचित्र [गुजराती, तमिल भी]	४
▲375 वर्तमान शिक्षा	३
▲376 स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	३
▲377 मनको वश करनेके कुछ उपाय [गुजराती भी]	१
▲378 आनन्दकी लहरें [बँगला, ओड़िआ, गुजराती, अंग्रेजी भी]	२
▲379 गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य	३
▲380 ब्रह्मचर्य [ओड़िआ भी]	३
▲381 दीनदुखियोंके प्रति कर्तव्य—	१
▲382 सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन	२
▲344 उपनिषदोंके चौदह रत्न—	६
▲371 राधा-माधव-रससुधा-(षोडशगीत) सटीक	३
▲384 विवाहमें दहेज—	१
▲809 दिव्य संदेश एवं मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बनें ?	१

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके [illegible]

[illegible]

कोड	मूल्य
▲400 कल्याण-पथ	८
▲401 मानसमें नाम-वन्दना	८
▲605 जित देखूँ तित तू [गुजराती, मराठी भी]	७
▲406 भगवत्प्राप्ति सहज है [अंग्रेजी भी]	७
▲535 सुन्दर समाजका निर्माण	८
▲1447 मानवमात्रके कल्याणके लिये (मराठी, ओड़िआ, बँगला, गुजराती, अंग्रेजी भी)	१०
▲1485 ज्ञानके दीप जले	१२
▲1175 प्रश्नोत्तर मणिमाला [बँगला, ओड़िआ भी]	८
▲1247 मेरे तो गिरधर गोपाल	६
▲403 जीवनका कर्तव्य [गुजराती भी]	८
▲436 कल्याणकारी प्रवचन [गुजराती, अंग्रेजी, बँगला, ओड़िआ भी]	६
▲405 नित्ययोगकी प्राप्ति [ओड़िआ भी]	६
▲1093 आदर्श कहानियाँ [ओड़िआ, बँगला भी]	७
▲407 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता [कन्नड, मराठी भी]	६
▲408 भगवान्‌से अपनापन [गुजराती, ओड़िआ भी]	५
▲861 सत्संग-मुक्ताहार [गुजराती, ओड़िआ भी]	४
▲860 मुक्तिमें सबका अधिकार [गुजराती भी]	१
▲409 वास्तविक सुख [तमिल, ओड़िआ भी]	५
▲1308 प्रेरक कहानियाँ [बँगला, ओड़िआ भी]	६
▲1408 सब साधनोंका सार [बँगला भी]	४
▲411 साधन और साध्य [मराठी, बँगला, गुजराती भी]	५
▲412 तात्त्विक प्रवचन [मराठी, ओड़िआ, बँगला, गुजराती भी]	५
▲414 तत्त्वज्ञान कैसे हो ? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार [बँगला, गुजराती भी]	६
▲410 जीवनोपयोगी प्रवचन [अंग्रेजी भी]	६
▲822 अमृत-बिन्दु [बँगला, तमिल, ओड़िआ, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, कन्नड भी]	६
▲821 किसान और गाय [तेलुगु भी]	२
▲416 जीवनका सत्य [गुजराती, अंग्रेजी भी]	५
▲417 भगवन्नाम [मराठी, अंग्रेजी भी]	४
▲418 साधकोंके प्रति [बँगला, मराठी भी]	४
▲419 सत्संगकी विलक्षणता [गुजराती भी]	४
▲545 जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग [गुजराती भी]	४
▲420 मातृशक्तिका घोर अपमान [तमिल, बँगला, मराठी, गुजराती, ओड़िआ भी]	३
▲421 जिन खोजा तिन पाइयाँ [बँगला भी]	५
▲422 कर्मरहस्य [बँगला, तमिल कन्नड, ओड़िआ भी]	४
▲424 वासुदेवः सर्वम् [मराठी, अंग्रेजी भी]	४
▲425 अच्छे बनो [अंग्रेजी भी]	४
▲426 सत्संगका प्रसाद [गुजराती भी]	४
▲1019 सत्यकी खोज [गुजराती, अंग्रेजी भी]	५
▲1479 साधनके दो प्रधान सूत्र [ओड़िआ, बँगला भी]	४
▲1035 सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	१
▲1360 तू-ही-तू	२
▲ [illegible]	२
▲ [illegible]	१
▲ [illegible] कैसे छूटे ?	३
▲1176 शिखा (चोटी) धारणकी [illegible]	

कोड	मूल्य
आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे हैं विचार करें [बँगला भी]	२
▲1255 कल्याणके तीन सुगम मार्ग [बँगला, मराठी भी]	१.५०
▲431 स्वाधीन कैसे बनें ? [अंग्रेजी भी]	२
▲702 यह विकास है या विनाश जरा सोचिये	२
▲589 भगवान् और उनकी भक्ति [गुजराती, ओड़िआ भी]	५
▲617 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम [तमिल, बँगला, तेलुगु, ओड़िआ, कन्नड, गुजराती, मराठी भी]	३
▲427 गृहस्थमें कैसे रहें ? [बँगला, मराठी, कन्नड, ओड़िआ, अंग्रेजी, तमिल, तेलुगु, गुजराती, असमिया भी]	६
▲432 एकै साधे सब सधै [गुजराती, तमिल, तेलुगु भी]	४
▲433 सहज साधना [गुजराती, बँगला, ओड़िआ, मराठी, अंग्रेजी भी]	४
▲434 शरणागति [तमिल, ओड़िआ, तेलुगु, कन्नड भी]	४
▲435 आवश्यक शिक्षा (सन्तानका कर्तव्य एवं आहारशुद्धि) [गुजराती, ओड़िआ, अंग्रेजी, मराठी भी]	५
■1012 महापुरुष—(१०० पन्नोंका पैकेटमें) [गुजराती भी]	१
■1037 हे मेरे नाथ मैं आपको भूलूँ नहीं (१०० पन्नोंका पैकेटमें)	१
▲1072 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ? [गुजराती, ओड़िआ भी]	४
▲515 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन [गुजराती, अंग्रेजी, तमिल, तेलुगु भी]	१
▲770 अमरताकी ओर [गुजराती भी]	५
▲438 दुर्गतिसे बचो [गुजराती, बँगला (गुरुतत्त्व-सहित), मराठी भी]	२
▲439 महापापसे बचो [बँगला, तेलुगु, कन्नड, गुजराती, तमिल भी]	२
▲440 सच्चा गुरु कौन ? [ओड़िआ भी]	२
▲444 नित्य-स्तुति और प्रार्थना [कन्नड, तेलुगु भी]	२
▲729 सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण [गुजराती भी]	२
▲445 हम ईश्वरको क्यों मानें ? [बँगला भी]	२
▲745 भगवत्तत्त्व [गुजराती भी]	२
▲632 सब जग ईश्वररूप है [ओड़िआ, गुजराती भी]	५
▲447 मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा [ओड़िआ, बँगला, तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती भी]	२

नित्यपाठ साधन-भजन एवं कर्मकाण्ड-हेतु

कोड	मूल्य
■592 नित्यकर्म-पूजाप्रकाश [गुजराती भी]	३५
■1593 अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश	३५
■1417 शिवस्तोत्ररत्नाकर	२०
■610 व्रतपरिचय	२६
■1162 एकादशी-व्रतका माहात्म्य—मोटा टाइप	१३
■1136 वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य	२०
■1588 माघमासका माहात्म्य	[illegible]
■1367 [illegible]	
■052 स्तोत्ररत्नावली—[illegible]	
■1567 दुर्गासप्तशती [illegible]	
■117 [illegible]	
■876 दुर्गासप्तशती—मूल गुटका	७
■1346 " सानुवाद मोटा टाइप	२०
■118 " सानुवाद [गुजराती, बँगला, ओड़िआ भी]	१८
■489 " " सजिल्द	२४
■866 " केवल हिन्दी	१२
■1161 " " मोटा टाइप, सजिल्द	३०
■1281 " सटीक (राजसंस्करण)	३०
■819 श्रीविष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य	१५
■206 " " सटीक,	४
■226 " " मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, गुजराती भी]	२
■509 सूक्ति-सुधाकर—सूक्ति-संग्रह	१५
■207 रामस्तवराज—(सटीक)	३
■211 आदित्यहृदयस्तोत्रम्—हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवादसहित [ओड़िआ भी]	२
■224 श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र-भक्त बिल्वमंगलरचित [तेलुगु, ओड़िआ भी]	४
■231 रामरक्षास्तोत्रम्—(" " ")	२
■715 महामन्त्रराजस्तोत्रम्	४
■704 श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■705 श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्	३
■706 श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■707 श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■708 श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्	३
■709 श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■710 श्रीगङ्गासहस्रनामस्तोत्रम्	३
■711 श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■712 श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■713 श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्	३
■810 श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■495 दत्तात्रेय-वज्रकवच—सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]	३
■229 श्रीनारायणकवच एवं अमोघ शिवकवच [ओड़िआ भी]	३
■563 शिवमहिम्नस्तोत्र—[तेलुगु भी]	३
■054 भजन-संग्रह—पाँचों भाग एक साथ	३५
■140 श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली	१६
■142 चेतावनी-पद-संग्रह—(दोनों भाग)	१६
■144 भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	७
■1355 सचित्र-स्तुति-संग्रह	५
■1344 सचित्र-आरती-संग्रह	१०
■1591 आरती संग्रह—मोटा टाइप	१०
■153 आरती-संग्रह—१०२ आरतियोंका संग्रह	५
■807 सचित्र आरतियाँ [गुजराती भी]	१०
▲385 नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र सानुवाद [बँगला, तमिल भी]	२
■208 सीतारामभजन	३
■221 हरेरामभजन—दो माला (गुटका)	३
■222 हरेरामभजन—१४ माला	१०
■576 विनय-पत्रिकाके पैंतीस पद	२
■225 गजेन्द्रमोक्ष-सानुवाद, हिन्दी पद्य, भाषानुवाद [तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ भी]	२
■699 गङ्गालहरी	२
■232 श्रीरामगीता	३
■383 भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी—	१.५०
हिन्दी भावार्थसहित	४
(सचित्र)	९

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन

कोड		मूल्य
	संस्कृत	
▲ 679	गीतामाधुर्य	६
	बँगला	
■1577	श्रीमद्भागवत पुराण सटीक, भाग-1	१२५
■ 954	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार	१३०
■1574	संक्षिप्त महाभारत-भाग-1	१२१
■ 763	गीता-साधक-संजीवनी—परिशिष्टसहित	११०
■1118	गीता-तत्त्व-विवेचनी-	७०
■ 556	गीता-दर्पण—	४०
■1489	गीता-दैनन्दिनी—२००६	४५
■ 013	गीता-पदच्छेद—	२५
■1444	गीता-ताबीजी-सजिल्द	४
■1455	गीता-लघु आकार	२
■1322	दुर्गासप्तशती-सटीक	१८
■1460	विवेक चूड़ामणि	१०
■1075	ॐ नम शिवाय (चित्रकथा)	१५
■1043	नवदुर्गा (")	१०
■1439	दशमहाविद्या (")	१०
■1292	दशावतार (")	१०
■1096	कन्हैया (")	१०
■1097	गोपाल (")	१०
■1098	मोहन (")	१०
■1123	श्रीकृष्ण (")	१०
■1395	बालचित्रमय चैतन्यलीला	७
■1393	गीता भाषा टीका (पॉकेट साइज) सजि.	१०
■1454	स्तोत्ररत्नावली	१६
■ 496	गीता भाषा टीका (पॉकेट साइज)	६
▲1581	गीतार सारात्सार	६
■1496	परलोक पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ	१०
▲ 275	कल्याण प्राप्तिके उपाय	१३
▲1305	प्रश्नोत्तर मणिमाला	८
▲ 395	गीतामाधुर्य	५
▲1102	अमृत-बिन्दु	६
■1356	सुन्दरकाण्ड—सटीक	५
▲ 816	कल्याणकारी प्रवचन	४
▲ 276	तत्त्वचिन्तामणि—(भाग-१)	५
▲1306	कर्तव्य साधनासे भगवत्प्राप्ति	४
▲1119	ईश्वर और धर्म क्यों?	५
▲1456	भगवत्प्राप्तिका पथ व पाथेय	७
▲1580	अध्यात्मसाधनाय कर्मईनत्व	६
▲1452	आदर्श कहानियाँ	६
▲1453	प्रेरक कहानियाँ	४
■1513	मूल्यवान कहानियाँ	८
▲1469	सब साधनोंका सार	४
▲1478	मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये	१०
▲1359	जिन खोजा तिन पाइया	५
▲1115	तत्त्वज्ञान कैसे हो?	५
▲1303	साधकोंके प्रति	४
▲1358	कर्म रहस्य	४
▲1122	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 625	देशकी वर्तमान दशा...	३
▲ 428	गृहस्थमें कैसे रहें ?	४
▲ 903	सहज साधना	३
▲1368	साधना	३
▲1415	अमृतवाणी	७
▲ 312	आदर्श नारी सुशीला	३
▲1541	साधनके दो प्रधान सूत्र	४
▲ 955	सात्त्विक प्रवचन	४
■1103	मूल रामायण एवं रामरक्षास्तोत्र	३
▲ 449	दुर्गतिसे बचो गुरुतत्त्व	३
▲ 956	साधन और साध्य	३
▲1579	साधनारमनोभूमि	६
▲ 330	नारद एवं शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र	२
▲ 762	गर्भपात उचित या अनुचित	२
▲ 848	आनन्दकी लहरें	२
■ 626	हनुमानचालीसा	२
▲1319	कल्याणके तीन सुगम मार्ग	२
▲1293	शिक्षा धारणकी——	२
▲ 450	हम ईश्वरको क्यों मानें?	२
▲ 849	मातृशक्तिका घोर अपमान	१
▲ 451	महापापसे बचो	२
▲ 469	मूर्तिपूजा	१
▲ 298	सत्संगकी सार बातें	१
▲ 443	संतानका कर्तव्य	१
▲1140	भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष	१.५०
	मराठी	
■1314	श्रीरामचरितमानस सटीक, मोटा टाईप	१३०
■ 784	ज्ञानेश्वरी गूढार्थ-दीपिका	१३०
■ 853	एकनाथी भागवत—मूल	१००
■ 7	गीता-साधक संजीवनी टीका	१००
■1304	गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■1474	श्रीमकरन्दवाणी (भाग-१)	६०
■1475	श्रीमकरन्दवाणी (भाग-२)	१५०
■1071	श्रीनामदेवांची गाथा	६०
■ 859	ज्ञानेश्वरी—मूल मझला	४०
■ 15	गीता-माहात्म्यसहित	३५
■ 504	गीता-दर्पण	३५
■ 748	ज्ञानेश्वरी—मूल गुटका	२५
■ 14	गीता-पदच्छेद	३०
■1398	गीता श्लोकार्थसहित (पॉकेट साइज)	१०
■1257	गीता-श्लोकार्थसहित	७
■1168	भक्त नरसिंह मेहता	९
▲ 429	गृहस्थमें कैसे रहें?	८
▲1387	प्रेममें विलक्षण एकता	८
■ 857	अष्टविनायक	६
▲ 391	गीतामाधुर्य	७
▲1099	अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲1335	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲1155	उद्धार कैसे हो?	४
▲1074	आध्यात्मिक पत्रावली	६
▲1275	नवधा भक्ति	५
▲1356	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲1340	अमृत बिन्दु	६
▲1382	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
▲1210	जिन देखूँ तिन तू	७
▲1330	मेरा अनुभव	८
■1277	भक्त बालक	५
■1073	भक्त चन्द्रिका	५
■1353	भक्तराज हनुमान्	५
▲ 886	साधकोंके प्रति	५
▲ 885	सात्त्विक प्रवचन	४
■1333	भगवान् श्रीकृष्ण	५
■1332	दत्तात्रेय-वज्रकवच	३
■ 855	हरिपाठ	३
■1169	चोखी कहानियाँ	४
▲1395	मन-स्पन्दन	३
▲1384	सती-सावित्री-कथा	२
▲ 880	साधन और साध्य	४
▲1006	वासुदेव सर्वम्	४
▲1276	आदर्श नारी सुशीला	३
▲1334	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 899	देशकी वर्तमान दशा—	३
▲1339	कल्याणके तीन सुगम मार्ग और सत्यकी शरणसे मुक्ति	४
▲1428	आवश्यक शिक्षा	४
▲1341	सहज साधना	४
▲ 802	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 882	मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲ 883	मूर्तिपूजा	२
▲ 884	सन्तानका कर्तव्य	२
▲1279	सत्संगकी कुछ सार बातें	२
▲ 901	नाम-जपकी महिमा	२
▲ 900	दुर्गतिसे बचो	२
▲ 902	आहार-शुद्धि	
▲1170	हमारा कर्तव्य	२
▲ 891	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	६
▲ 898	भगवन्नाम	४
▲1578	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१२
	गुजराती	
■1533	श्रीरामचरितमानस—बड़ी, सटीक, डीलक्स	१९०
■ 799	" ग्रन्थाकार	१३०
■1430	" मूल, मोटा	६०
■1552	भागवत-सटीक खण्ड-१	१२०
■1553	" " खण्ड-२	१२०
■1326	सं० देवीभागवत	१३०
■1286	संक्षिप्त शिवपुराण	११०
■ 467	गीता-साधक-संजीवनी	१४०
■1313	गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 785	श्रीरामचरितमानस—मझला, सटीक	६०
■ 468	गीता-दर्पण	४५
■ 878	श्रीरामचरितमानस—मूल मझला	४०
■ 879	" —मूल गुटका	२५
■1365	नित्यकर्म-पूजाप्रकाश	३५
■1565	गीता-मोटे अक्षरमें सजिल्द	२२
■ 12	गीता-पदच्छेद	२५
■1315	गीता—सटीक, मोटा टाइप	१५
■1366	दुर्गासप्तशती—सटीक	१८
■1227	सचित्र आरतियाँ	१०
■1034	गीता छोटी—सजिल्द	१०
■1225	मोहन— (चित्रकथा)	१०
■1224	कन्हैया—(")	१०
■1228	नवदुर्गा—(")	१०
■ 936	गीता छोटी—सटीक	७
■ 945	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
■1085	भगवान् राम—	४
■ 950	सुन्दरकाण्ड—मूल गुटका	३
■1199	सुन्दरकाण्ड—मूल लघु आकार	२
■1226	अष्ट विनायक	१०
■ 613	भक्त नरसिंह मेहता	१२
▲1518	भगवान्‌के स्वभावका रहस्य	९
▲1486	मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये	१०
▲1164	शीघ्र कल्याणके सोपान	१०
▲1146	श्रद्धा, विश्वास और प्रेम	१०
▲1144	अमृतमयी वाणीकी कथा	८
▲1062	नारीशिक्षा	८
▲1129	अभावको भी भगवत्प्राप्ति	६
■1400	पिताकी सीख	८
■1425	वीर बालिकाएँ	५
■1423	गुरु, माता-पिताके भक्त बालक	६
■1424	दयालु और परोपकारी बालक बालिकाएँ	५
■1422	वीर बालक	६
▲1128	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श	७
▲1061	साधन नवनीत	७
▲1520	कर्मयोगका तत्त्व-भाग-१	९
▲1264	मेरा अनुभव	८
▲1046	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा	७
■1143	भक्त सुमन	७
■1142	भक्त सरोज	७
▲1211	जीवनका कर्तव्य	८
▲ 404	कल्याणकारी प्रवचन	७
▲ 877	अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	७
▲ 818	उपदेशप्रद कहानियाँ	८
▲1265	आध्यात्मिक प्रवचन	७
▲1536	भगवत्प्राप्तिका मार्ग (भाग-१)	८
▲1504	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	१०
▲1503	भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता	८
▲1325	सब जग ईश्वररूप है	५
▲1052	इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति	६
■ 934	उपयोगी कहानियाँ	७
■1076	आदर्श भक्त	६
■1084	भक्त सप्तरत्न	६
■ 875	भक्त सुधाकर	६
▲1067	दिव्य सुखकी सरिता	६
▲ 933	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	८
▲1295	जित देखूँ तित तू	७
▲ 943	गृहस्थमें कैसे रहें?	६
▲1260	तत्त्वज्ञान कैसे हो?	६
▲1263	साधन और साध्य	५
▲1294	भगवान् और उनकी भक्ति	५
▲ 932	अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲ 392	गीतामाधुर्य-	७
■1082	भक्त सप्तक	५
■1087	प्रेमी भक्त	५
▲1077	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
▲ 940	अमृत-बिन्दु	५
▲ 931	उद्धार कैसे हो?	५
▲ 894	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 413	सात्त्विक प्रवचन	५
■ 892	भक्त चन्द्रिका	४
■ 895	भगवान् श्रीकृष्ण	५
▲1126	साधन-पथ	४
▲ 946	सत्संगका प्रसाद	४
▲ 942	जीवनका सत्य	५
▲1145	अपरनाकी ओर	४
▲1066	भगवान्‌से अपनापन	४
■ 606	रामभक्त हनुमान्	४
▲1036	कल्याणकारी प्रवचन-भाग-२	४
▲1287	सत्यकी खोज	४
▲1088	एकै साधे सब सधै	४
■1397	चोखी कहानियाँ	५
▲ 859	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲1141	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 939	मातृ-शक्तिका घोर अपमान	३
■ 893	प्रेमी भक्त उद्धव	६

कोड	मूल्य
▲1047 आदर्श नारी सुशीला	४
▲1059 नल-दमयन्ती	४
▲1045 बालशिक्षा	४
▲1063 सत्संगकी विलक्षणता	३
▲1064 जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग	४
▲1165 सहज साधना	४
▲1151 सत्संगमुक्ताहार	४
■1401 बालप्रश्नोत्तरी	३
■ 935 संक्षिप्त रामायण	२
▲ 893 सती सावित्री	२
▲ 941 देशकी वर्तमान दशा ···	२
▲1177 आवश्यक शिक्षा	३
▲ 804 गर्भपात उचित या अनुचित	२
▲1049 आनन्दकी लहरें	२
■ 947 महात्मा विदुर	३
■ 937 विष्णुसहस्रनाम	२
▲1058 मनको वश करनेके उपाय एवं कल्याणकारी आचरण	२
▲1050 सच्चा सुख	२
▲1060 त्यागसे भगवत्प्राप्ति और गीता पढ़नेके लाभ	२
■ 828 हनुमानचालीसा	२
▲ 844 सत्संगकी कुछ सार बातें	२
▲1055 हमारा कर्तव्य एवं व्यापार सुधारकी आवश्यकता	१.५०
▲1048 संत-महिमा	२
▲1310 धर्मके नामपर पाप	२
▲1179 दुर्गतिसे बचो	१.५०
▲1178 सार-संग्रह, सत्संगके अमृत कण	२
▲1152 मुक्तिमें सबका अधिकार	१.५०
▲1207 मूर्तिपूजा-नाम जपकी महिमा	१.५०
▲1167 भगवत्तत्त्व	१.५०
▲1206 धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	२
▲1500 सच्चा गायत्रीका महत्त्व	२
▲1051 भगवान्की दया	१.५०
■1198 हनुमानचालीसा—लघु आकार	१
■1229 पंचामृत	१
▲1054 प्रेमका सच्चा स्वरूप और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
▲ 938 सर्वोच्चपदप्राप्तिके साधन	१
▲1056 चेतावनी एवं सामयिक...	१
▲1053 अवतारका सिद्धान्त और ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी	१.५०
▲1127 ध्यान और मानसिक पूजा	१.५०
▲1148 महापापसे बचो	२
▲1153 अलौकिक प्रेम	१.५०
तमिल	
■1426 साधक संजीवनी (भाग-१)	७५
■1427 साधक संजीवनी (भाग-२)	७५
■ 800 गीता-तत्त्व-विवेचनी	८०
■1534 वा० रा० सुन्दरकाण्ड	७०
■1256 अध्यात्मरामायण	६०
■ 823 गीता-पदच्छेद	४०
■ 743 गीता मूलम्	१५
▲ 389 गीतामाधुर्य	९
■ 365 गोसेवाके चमत्कार	१०
■1154 गीता महात्म्यकी कहानियाँ	१०
▲1007 अल्पाहारी भी भगवत्प्राप्ति	८
▲ 553 गृहस्थमें कैसे रहें ?	९

कोड	मूल्य
▲ 850 संतवाणी— (भाग १)	७
▲ 952 संतवाणी— („ २)	७
▲ 953 „ („ ३)	७
▲1353 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	९
▲1354 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	८
■ 795 गीता भाषा	६
■ 646 चोखी कहानियाँ	७
■ 608 भक्तराज हनुमान्	७
■1246 भक्तचरित्रम्	७
▲ 643 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	५
▲ 550 नाम-जपकी महिमा	१.५०
▲1289 साधन पथ	५
▲1480 भगवान्के स्वभावका रहस्य	७
▲1481 प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	७
▲1482 भक्तियोगका तत्त्व	७
■ 793 गीता मूल-विष्णुसहस्रनाम	६
▲1117 देशकी वर्तमान दशा...	५
▲1110 अमृत बिन्दु	६
▲ 655 एकै साधे सब सधै	५
▲1243 वास्तविक सुख	६
■ 741 महात्मा विदुर	५
▲ 536 गीता पढ़नेके लाभ, सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 591 महापापसे बचो, संतानका कर्तव्य	३
▲ 609 सावित्री और सत्यवान्	३
▲ 644 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 568 शरणागति	३
▲ 805 मातृशक्तिका घोर अपमान	२
▲ 607 सबका कल्याण कैसे हो ?	२
■ 794 विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 127 उपयोगी कहानियाँ	८
■ 600 हनुमानचालीसा	३
▲ 466 सत्संगकी सार बातें	२
▲ 499 नारद-भक्ति-सूत्र	१.५०
■ 601 भगवान् श्रीकृष्ण	७
■ 642 प्रेमी भक्त उद्धव	८
■ 647 कन्हैया (चित्रकथा)	१५
■ 648 श्रीकृष्ण—(„ „)	१५
■ 649 गोपाल— („ „)	१५
■ 650 मोहन— („ „)	१५
■1042 पञ्चामृत	२
▲ 742 गर्भपात उचित या...	२.५०
▲ 423 कर्मरहस्य	४
▲ 569 मूर्तिपूजा	१.५०
▲ 551 आहारशुद्धि	२
▲ 645 नल-दमयन्ती	६
▲ 606 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	२
▲ 792 आवश्यक चेतावनी	२
कन्नड़	
■1112 गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■1369 / 1370 गीता-साधक-संजीवनी (दो खण्डोंमें सेट)	१४०
■1558 अध्यात्मरामायण	७०
■1560 रामचरितमानस-सटीक	११०
■1559 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड	५५
■ 726 गीता-पदच्छेद	३०
■ 718 गीता-तात्पर्यके साथ	१५
■1372 गीता-माहात्म्य	९
■1375 ॐ नमः शिवाय	१५

कोड	मूल्य
■1357 नवदुर्गा	१०
▲1109 उपदेशप्रद कहानियाँ	९
▲ 945 साधन नवनीत	१०
■ 724 उपयोगी कहानियाँ	८
▲1499 नवधाभक्ति	५
▲1498 भगवत्कृपा	४
▲ 833 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	९
▲ 834 स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	९
■1107 भगवान् श्रीकृष्ण	६
■1288 गीता श्लोकार्थ	६
▲ 716 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
■ 832 सुन्दरकाण्ड (सटीक)	८
■ 840 आदर्श भक्त	७
■ 841 भक्त सप्तरत्न	८
■ 843 दुर्गासप्तशती—मूल	१०
▲ 390 गीतामाधुर्य	७
▲ 720 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	७
▲1374 अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 128 गृहस्थमें कैसे रहें ?	५
■ 661 गीता-मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	५
■ 721 भक्त बालक	६
■ 951 भक्त चन्द्रिका	५
■ 835 श्रीरामभक्त हनुमान्	६
■ 837 विष्णुसहस्रनाम—सटीक	५
■ 842 ललितासहस्रनामस्तोत्र	४
■1373 गजेन्द्रमोक्ष	२
■1106 ईशावास्योपनिषद्	३
▲ 717 सावित्री-सत्यवान् और आदर्श नारी सुशीला	४
▲ 723 नाम-जपकी महिमा और आहार शुद्धि	३
▲ 725 भगवान्की दया एवं···	३
▲ 722 सत्यकी शरणसे मुक्ति, गीता पढ़नेके लाभ	३
▲ 325 कर्मरहस्य	४
▲ 597 महापापसे बचो	१.५०
▲ 719 बालशिक्षा	३
▲ 839 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲1371 शरणागति	४
▲ 836 नल-दमयन्ती	३
■ 737 विष्णुसहस्रनाम एवं सहस्रनामावली	३
▲ 838 गर्भपात उचित या अनुचित	२
■ 736 शिवस्तुति, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	२
■1105 श्रीवाल्मीकि रामायणम्-संक्षिप्त	२
■ 738 हनुमत्-स्तोत्रावली	२
▲ 593 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	
▲ 598 वास्तविक सुख	४
▲ 831 देशकी वर्तमान दशा तथा···	३
असमिया	
■ 714 गीता भाष्य-टीका—पॉकेट साइज	७
■1222 श्रीमद्भागवत-माहात्म्य	७
■ 825 नवदुर्गा—	५
▲ 674 गीतामाधुर्य—	६
▲1487 गृहस्थमें कैसे रहें ?	७
■1323 श्रीहनुमान चालीसा	२
■1515 शिवचालीसा	२
▲ 703 गीता पढ़नेके लाभ	१

कोड	मूल्य
ओड़िआ	
■1551 संतजगन्नाथदासकृत भागवत	१४०
■1121 गीता-साधक-संजीवनी	११०
■1100 गीता-तत्त्व-विवेचनी	७५
■1463 रामचरितमानस-सटीक, मोटा टाइप	१३०
■1218 „ मूल, मोटा टाइप	७०
■1473 साधन सुधा सिन्धु	९०
■1298 गीता दर्पण	४०
■ 815 गीताश्लोकार्थसहित (सजिल्द)	३०
■1219 गीता पञ्चरत्न	१५
■1009 जय हनुमान् (चित्रकथा)	१५
■1250 ॐ नमः शिवाय („)	१५
■1010 अष्टविनायक („)	१०
■1248 मोहन („)	१०
■1249 कन्हैया („)	१०
■ 863 नवदुर्गा („)	१०
■1494 बालचित्रमय चैतन्यलीला	७
■1157 गीता-सटीक, मोटे अक्षर	१२
■1465 गीता-कवर अर्जुनके चित्र सहित	१५
▲1511 मानवमात्रके कल्याणके लिये	१०
■1476 दुर्गा सप्तशती-सटीक	१८
▲1251 भगवानकी रामबाण दवा	९
▲1270 नित्ययोगकी प्राप्ति	६
▲1268 वास्तविक सुख	५
▲1209 प्रश्नोत्तर मणिमाला	८
▲1464 अमृत बिन्दु	६
▲1274 परमार्थ सूत्र संग्रह	८
▲1254 साधन नवनीत	९
■1008 गीता—पॉकेट साइज	७
▲ 754 गीतामाधुर्य	६
▲1208 आदर्श कहानियाँ	६
▲1139 कल्याणकारी प्रवचन	६
■1342 बच्चोंके जीवनमें शिक्षा	७
▲1205 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲1506 अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲1272 निष्काम श्रद्धा और प्रेम	८
■1204 सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
▲1299 भगवान् और उनकी भक्ति	५
■ 854 भक्तराज हनुमान्	५
▲1004 तात्त्विक प्रवचन	५
▲1138 भगवान्से अपनापन	५
▲1187 आदर्श भातृप्रेम	४
▲ 430 गृहस्थमें कैसे रहें ?	५
▲1321 सब जग ईश्वररूप है	५
▲1269 आवश्यक शिक्षा	५
▲ 865 प्रार्थना	३
▲ 796 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲1130 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?	३
■1154 गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■1200 सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	३
▲1174 आदर्श नारी सुशीला	३
▲1507 उद्धार कैसे हो	५
■ 541 गीता-मूल विष्णुसहस्रनाम-सहित	३
▲1003 सत्संगमुक्ताहार	४
▲1512 साधनके दो प्रधान सूत्र	४
▲ 817 कर्मरहस्य	३
▲1078 भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	३
▲1079 बालशिक्षा	६

कोड	मूल्य
▲1163 बालकोंके कर्तव्य	४
▲1252 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲757 शरणागति	३
▲1186 श्रीभगवन्नाम	३
▲1267 सहज साधना	३
▲1005 मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲1203 नल-दमयन्ती	३
▲1253 परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य	३
▲1220 सावित्री और सत्यवान्	२
▲826 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
■856 हनुमानचालीसा	२
▲798 गुरुतत्त्व	१.५०
▲797 सन्तानका कर्तव्य-	१.५०
■1036 गीता—मूल, लघु आकार	२
■1509 रामरक्षास्तोत्र	२
■1070 आदित्यहृदयस्तोत्र	१.५०
■1068 गजेन्द्रमोक्ष	१.५०
■1069 नारायणकवच	१.५०
▲1089 दर्द क्यों? ध्यान(क्या)?	१.५०
▲1039 भगवान्‌की दया एवं भगवत्कृपा	१.५०
▲1090 प्रेमका सच्चा स्वरूप	१.५०
▲1091 हमारा कर्तव्य	१.५०
▲1040 सत्संगकी कुछ सार बातें	१.५०
▲1011 आनन्दकी लहरें	१.५०
▲852 मूर्तिपूजा-नामजपकी महिमा	१.५०
▲1038 संत-महिमा	१.५०
▲1041 ब्रह्मचर्य एवं मनको वश करनेके कुछ उपाय	२
▲1221 आदर्श देवियाँ	३
■1201 महात्मा विदुर	३
■1202 प्रेमी भक्त उद्धव	
■1173 भक्त चन्द्रिका	५
— उर्दू —	
■1446 गीता उर्दू	८

कोड	मूल्य
▲393 गीतामाधुर्य	८
▲590 मनकी खटपट कैसे मिटे	०.८०
— तेलुगु —	
■1573 श्रीमद्भागवत-मूल मोटा टाइप	१२०
■1352 रामचरितमानस-सटीक, ग्रन्थाकार	१२०
■1419 रामचरितमानस-केवल भाषा	७०
■1557 वाल्मीकिरामायण-भाग१	११०
■1429 श्रीमद्वाल्मीकिरामायण सुन्दरकाण्ड (तात्पर्यसहित)	७५
■1477 " " (सामान्य)	५५
■1172 गीता-साधक-संजीवनी	८०
■845 अध्यात्मरामायण	७५
■772 गीता-पदच्छेद-अन्वयसहित	२५
■914 स्तोत्ररत्नावली	२०
■1569 हनुमत्स्तोत्रावली	३
■1466 वाल्मीकि रामायण-सुन्दरकाण्ड, मूल, पुस्तकाकार	३०
■924 " सुन्दरकाण्ड-मूल गुटका	१८
■1532 " वचनम्	३०
■1026 पंच सूक्तमुलु-कवचमु	५
■887 जय हनुमान् पत्रिका	१५
■771 गीता तात्पर्यसहित	१५
■910 विवेकचूडामणि	१५
▲904 नारद भक्तिसूत्र मुलु (प्रेमदर्शन-)	१२
■909 दुर्गासप्तशती—मूलम्	१२
■1029 भजन-संकीर्तनावली	१२
■1301 नवदुर्गा पत्रिका	१०
■1309 गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ	१०
■1390 गीता तात्पर्य-पॉकेट साइज, मोटा टाइप	१०
■691 श्रीभीष्मपितामह	१०
▲1028 गीतामाधुर्य	१०
▲915 उपदेशप्रद कहानियाँ	९
▲1572 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
▲905 आदर्श दाम्पत्य-जीवनमु	८
■1526 गीता-मूल मोटे अक्षर, पॉकेट साइज	८
■1570 गीता-ताबीजी	४

कोड	मूल्य
■1031 गीता—छोटी, पॉकेट साइज	६
■1571 गीता-लघु आकार	२
■929 महाभक्तुलु	७
■919 मंचि कथलु (उपयोगी कहानियाँ)	७
■1502 श्रीरामरक्षाकवचम् एवं हनुमान चालीसा (लघु आकार)	१
▲766 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
▲768 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	८
▲733 गृहस्थमें कैसे रहें?	६
■908 नारायणीयम्—मूलम्	१५
■682 भक्त पञ्चरत्न	६
■687 आदर्श भक्त	६
■767 भक्तराज हनुमान्	६
■917 भक्त चन्द्रिका	७
■918 भक्त सप्तरत्न	८
■641 भगवान् श्रीकृष्ण	६
■663 गीता भाषा	६
■662 गीता-मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	४
■753 सुन्दरकाण्ड—सटीक	५
■695 भक्त बालक	५
■692 चोखी कहानियाँ	५
▲920 परमार्थ-पत्रावली	५
■930 दत्तात्रेय वज्र कवच	३
■846 ईशावास्योपनिषद्	३
■686 प्रेमीभक्त उद्धव	४
■1023 श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्-सटीक	३
■1025 स्तोत्रकदम्बम्	३
■674 गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■675 सं० रामायणम्, रामरक्षास्तोत्रम्	३
▲906 भगवुडे आत्मेयुदु	३
■801 ललितासहस्रनाम	४
■688 भक्तराज ध्रुव	३
■670 विष्णुसहस्रनाम-मूल	२
■1527 विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् भाषाटीकासहित	४
■1531 गीता-विष्णुसहस्रनाम, मोटा टाइप	८

कोड	मूल्य
■732 नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	२
■912 रामरक्षास्तोत्र, सटीक	२
■677 गजेन्द्रमोक्षम्	२
▲913 भगवत्प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट साधनमु-नाम स्मरणार्थे	१.५०
▲923 भगवान् दयालु न्यायमूर्ति	२
▲760 महत्त्वपूर्ण शिक्षा	५
▲761 एकै साधे सब सधै	५
▲922 सर्वोत्तम साधन	५
▲759 शरणागति एवं मुकुन्दमाला	३
▲752 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲734 आहारशुद्धि, मूर्तिपूजा	२
▲664 सावित्री-सत्यवान्	३
▲665 आदर्श नारी सुशीला	३
▲921 नवधा भक्ति	४
▲666 अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲672 सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
▲671 नामजपकी महिमा	१
▲678 सत्संगकी कुछ सार बातें	१
▲731 महापापसे बचो	२
▲925 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	१.५०
▲1547 किसान और गाय	२
▲758 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲916 नल-दमयन्ती	५
▲689 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	४
▲690 बालशिक्षा	४
▲907 प्रेमभक्ति-प्रकाशिका	१.५०
▲673 भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द	१.५०
▲926 सन्तानका कर्तव्य	२
— मलयालम —	
■739 गीता-विष्णुसहस्रनाम, मूल	४
■740 विष्णुसहस्रनाम—मूल	१.५०

Our English Publications

Code	Price
■1318 Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text, Transliteration & English Translation)	200
■456 Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text and English Translation)	120
■786 " " " Medium	70
■452 / 453 Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	300
■564 / 565 Śrīmad Bhāgavata (With Sanskrit Text and English Translation) Set	250
■1080 / 1081 Śrīmad Bhagavadgītā Sādhaka-Sañjīvanī (By Swami Ramsukhdas) (English Commentary) Set of 2 Volumes	100
■457 Śrīmad Bhagavadgītā Tattva-Vivecanī (By Jayadayal Goyandka) Detailed Commentary	70
■455 Bhagavadgītā (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	5
■534 " " (Bound)	10
■824 Songs from Bhartṛhari	2
■1223 Bhagavadgītā (Roman Gītā) (With Sanskrit Text, Transla[illegible]	
▲ [illegible]	
■494 The Immanence of God (By Madan Mohan Malaviya)	
■1528 Hanumāna Cālīsā (Roman) (Pocket Size)	3
■1491 Mohana (Picture Story)	10
■1492 Rāma Lalā (Picture Story)	15
■1445 Virtuous Children	13
■1545 Brave and Honest Children	13
— By Jayadayal Goyandka —	
▲477 Gems of Truth [Vol. I]	8
▲478 " [Vol. II]	8
▲479 Sure Steps to God-Realization	12
▲481 Way to Divine Bliss	5
▲482 What is Dharma? What is God?	1
▲480 Instructive Eleven Stories	4
▲1285 Moral Stories	10
▲1284 Some Ideal Characters of Rāmāyaṇa	8
▲1245 Some Exemplary Characters of the Mahābhārata	7
▲694 Dialogue with the Lord During Meditation	2
▲1125 Five Divine Abodes	3
▲520 Secret of Jñānayoga	12
▲ [illegible] ...yoga	9
▲ [illegible] ...yoga	12
▲ [illegible] ...yoga	13
▲658 " " Gītā	6
▲1013 Gems of Satsaṅga	1
▲1501 Real Love	4
— By Hanuman Prasad Poddar —	
▲484 Look Beyond the Veil	8
▲622 How to Attain Eternal Happiness?	8
▲483 Turn to God	8
▲485 Path to Divinity	7
▲847 Gopis' Love for Śrī Kṛṣṇa	4
▲620 The Divine Name and Its Practice	3
▲486 Wavelets of Bliss & the Divine Message	
— By Swami Ramsukhdas —	
▲1470 For Salvation of Mankind	12
▲619 Ease in God-Realization	4
▲471 Benedictory Discourses	6
▲473 Art of Living	5
▲487 Gītā Mādhurya	7
▲1101 The Drops of Nectar (Amṛta Bindu)	5
▲472 How to Lead A Household Life	4
▲570 Let Us Know the Truth	4
▲638 Sahaja Sādhanā	5
▲634 God is Everything	4
▲621 Invaluable Advice	3
▲474 Be Good	9
▲497 Truthfulness of Life	2
▲669 The Divine Name	2
▲476 How to be Self Reliant	
▲552 Way to Attain the Supreme Bliss	1
▲562 Ancient Idealism for Modernday Living	1
— Special Editions —	
■1411 Gītā Roman (Sanskrit text, Transliteration & English Translation) Book Size	20
■1407 The Drops of Nectar (By Swami Ramsukhdas)	10
■1406 Gītā Mādhurya (By Swami Ramsukhdas)	15
■1438 Discovery of Truth and Immortality (By Swami Ramsukhdas)	15
■1413 All is God (By Swami Ramsukhdas)	10
■1414 The Story of Mīrā Bāī (Bankey Behari)	13